॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन–वेदव्यासेन विरचितम्

वेदान्तसूत्रम्

द्वितीयः अध्यायः

गौड़ीयवेदान्ताचार्य

श्रीश्रीमद्बलदेव–विद्याभूषण–कृत

श्रीगोविन्दभाष्येण सूक्ष्मा टीकया च समेतम्

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा

सम्पादित
तत्कृत 'गोविन्दतोषणीवृत्ति' सहित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

अवतरणिका भाष्य, भाष्यानुवाद, अवतरणिका-भाष्यकी टीका, टीकानुवाद, सूत्र, सूत्रार्थ, सूत्रानुवाद, मूल-गोविन्दभाष्य, भाष्यानुवाद, मूलभाष्यकी सूक्ष्मा-टीका और टीकानुवाद एवं सम्पादक-कृत गोविन्दतोषणीवृत्ति नामक अनुव्याख्या सहित प्रकाशित

प्रथम संस्करण—

श्रीगौरपूर्णिमा,
५ मार्च, २०१५

प्राप्तिस्थान

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
☎ ०९७६०९५२४३५

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
☎ ०८०५७६७७३९९

श्रीरमणविहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
☎ ०९७१७३२११४२

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
राधाकु
☎ ०९६२७४२६३४३

जयश्री दामोदर गौड़ीय मठ
चक्रतीर्थ रोड, जगन्नाथपुरी,
उड़ीसा
☎ ०६७५२-२२७३१७

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
☎ ०९७३४८२५३६२

श्रीराधामाधव गौड़ीय मठ
२९३, सैक्टर-१४
फरीदाबाद, हरियाणा
☎ ०९९११२८३८६९

खण्डेलवाल एण्ड सन्स
अठखम्भा बाजार,
वृन्दावन (उ॰प्र॰)
☎ ०५६५-२४४३१०१

Please visit us at www.purebhakti.com

समर्पण

श्रीरूपानुग-भक्तिविनोद-धाराकी जीवन्त प्रतिमूर्त्ति, अतिगूढ़ तत्त्वविज्ञान एवं प्रयोजनीय तत्त्व—प्रेमधर्मके निर्वाहक, भागवत-प्राणधन परकीया-रसके अभिव्यञ्जक, निज हृत्-सम्पुटमें 'रसो वै सः' के धारणकर्त्ता, गौड़ीय-दर्शन-रस-सिद्धान्तके रत्नाकर-स्वरूप, श्रीमन्चैतन्यमहाप्रभुकी विचारधाराके आनुगत्यमें अचिन्त्य-भेदाभेद-सिद्धान्तके व्याख्याता, भक्तिसिद्धान्त-सुधाकी अक्षय-सरिताओंमें साधकोंको सतत अवगाहन करानेवाले हे शुद्धभागवत-प्रवर ! मुकु
जन सुशीतलकारी ! रूपानुगवर्य ! परिव्राजकाचार्यवर्य ! परमाराध्यतम श्रील गुरुदेव नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज ! आपके श्रीकरकमलोंमें भक्तिपूर्ण हृदयसे आपकी ही अन्तःप्रेरणाका साकार-स्वरूप यह ग्रन्थ-अर्घ्य समर्पित है।

—प्रकाशन-मण्डली

प्रकाशन–मण्डली

अनुवादक

श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवाल ‘साहित्याचार्य’
एम॰ए॰ (संस्कृत) पी–एच॰डी॰

टाइप
श्रीपाद भक्तिवेदान्त सागर महाराज
श्रीमान् सुबलसखा दास

ले–आउट
श्रीयुक्ता शान्ति दासी

आभार
श्रीमान् माधवप्रिय दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् अमलकृष्ण दास ब्रह्मचारी
श्रीयुक्ता विजयलक्ष्मी दासी

प्रूफ–संशोधन
श्रीपाद भक्तिवेदान्त माधव महाराज
श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवाल
श्रीमान् सुबलसखा दास

प्रच्छद–चित्र
श्रीयुक्ता श्यामारानी दासी

प्रच्छद–प्रस्तुति
श्रीमान् कृष्णकारुण्य दास ब्रह्मचारी

इनका सहयोग भी सराहनीय है—
श्रीमती सपना खण्डेलवाल, चारु मयंक खण्डेलवाल, राधिका खण्डेलवाल, मेघा खण्डेलवाल

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें श्रॉफ परिवार श्रीमन्महाप्रभुके अनुग्रहका पात्र हुआ है—
श्रीशंकर लालजी श्रॉफ, श्रीमती विमला देवी श्रॉफ, श्रीसंजीव श्रॉफ, श्रीमती दीपिका श्रॉफ, श्रीराहुल श्रॉफ, श्रीमती कविशा श्रॉफ, श्रीअमेय श्रॉफ

प्रशस्तिपत्रम्

श्रीवेदव्यास-प्रशस्तिः

पाराशर्यमुनिः पुराणनिचयं वेदार्थसारान्वितं
स्त्रीशूद्रप्रतिबोधनाय च विदां वेदान्तशास्त्रं मुदे।
श्रीगीतावचसां विधाय विवृतिं ज्ञानप्रदीप प्रभा-
लोकैर्लोकमतिं समुज्ज्वलरुचिं लोके कृतार्थां दधौ॥

श्रीपराशरमुनिके पुत्र श्रीवेदव्यासजीने स्त्री, शूद्र इत्यादिके बोधके लिए वेदोंके सार अर्थसे युक्त पुराणसमूह और विद्वानोंके आनन्दके लिए श्रीगीताके वचनोंके भाष्यस्वरूप श्रीवेदान्तशास्त्रकी रचनाके द्वारा जगत्‌में ज्ञानरूपी प्रदीपकी प्रभासे मनुष्योंकी मतिको समुज्ज्वल कान्तिसे युक्त करके उन्हें कृतार्थ कर दिया है।

श्रीवेदव्यास-प्रणतिः

वेदं प्रमथ्य जलधिं मतिमन्दरेण
कृष्णावतार! भवता किल भारताख्या।
येनोदहारि जनतापहरा सुधा वै
तं सर्ववैदिक गुरुं मुनिमानताः स्मः॥

हे कृष्णके अवतार श्रीवेदव्यासजी! आपने बुद्धिरूपी मन्दराचलसे वेदरूपी सागरका मन्थन करके जगत्-जीवोंके तापको हर लेनेवाली महाभारत नामक सुधाका संग्रह किया है। समस्त वेदोंको जाननेवाले ऐसे गुरुस्वरूप, हे मुनिवर! आपको हम नमस्कार करते हैं।

वेदान्तसूत्र-महिमा

वेदान्तसूत्रमहिमा किमु वर्णनीयो
युक्त्या निरीश्वरमतानि निरस्य सम्यक्।
संस्थाप्य सेश्वरमतं श्रुतिभिः कृता य-
ल्लोका हरेर्भजनतः सुखमुक्तिभाजः॥

जिसने युक्तियोंके द्वारा निरीश्वरवादी मतोंको सुचारु रूपसे निरस्त कर दिया है एवं श्रुतियोंके आश्रयसे सेश्वरमतकी स्थापना की है तथा जिसके फलस्वरूप लोग भगवान् श्रीहरिका भजन करते हुए सुखपूर्वक मुक्तिके भागीदार हुए हैं, अहो! ऐसे वेदान्तसूत्रकी महिमाका किस प्रकारसे वर्णन किया जा सकता है।

श्रीबलदेव-वन्दना

नमामि पादौ बलदेवदेव!
तव प्रपन्नोऽहमतीव दीनः।
कृपाकरैर्भेदमतिं तमो मे
निरस्य विद्योतय शुद्धबुद्धिम्॥

हे देव श्रीबलदेव प्रभु! आपके श्रीचरणयुगलमें मेरा बार-बार नमस्कार है। मैं अत्यधिक दीनतापूर्वक आपके शरणागत होता हूँ। आप अपनी कृपारूपी किरणोंसे मेरे भेदबुद्धि (विश्व परमात्मासे भिन्न है) स्वरूप अज्ञान-अन्धकारको विदूरितकर मुझमें शुद्धबुद्धिका प्रकाश करें।

आचार्य श्रीबलदेव-प्रशस्तिः

जय जय बलदेव! श्रीमदाचार्यपाद!
व्रजपतिरतिगौरं सम्प्रदायस्य धर्मम्।
गुरुमवितुमहो ते स्वप्नदृष्टस्य विष्णोः
प्रियललितनिदेशान् नाम गोविन्दभाष्यम्॥

हे श्रीमद् आचार्यपाद! हे श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु! आपकी जय हो, जय हो। आपने व्रजपति श्रीकृष्णकी रतिसे विभावित गौड़ीय-सम्प्रदायके धर्मको गौरवान्वित किया है। अहो! गुरुवर्गके विचारोंकी रक्षाके लिए आपने स्वप्नमें दृष्ट भगवान् विष्णु (श्रीगोविन्ददेव) के प्रिय-मनोहर आदेशोंसे 'श्रीगोविन्द' नामक भाष्यकी रचना की है।

श्रीगोविन्दभाष्य-महिमा

विद्धाद्वैतान्धकार प्रलय दिनकर! त्वत्कृताचिन्त्यभेदा-
भेदाख्योवाद एषोऽम्बुजरुचिरधुना यद् रसं वैष्णवालिः।

श्रीमद्गौराङ्गदेवानुमतमनुगतं प्रेमनिस्यन्दि पायं
पायं श्रीमच्छुकास्याद् विगलितममृतं लीयते तत्र नित्यम्॥

हे गोविन्दभाष्य! आप अद्वैत-अन्धकाररूप प्रलयको नाश कर देनेवाले सूर्यस्वरूप हैं। इस समय आपके द्वारा अचिन्त्यभेदाभेदवाद नामक कमल-मकरन्द-रस विकसित हुआ है। इस भेदाभेदवादके परिप्रेक्ष्यमें श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके मतानुयायी रसिक वैष्णवगण इस प्रेम-स्रोतके रसका पान करते-करते श्रील शुकदेवके मुखसे निःसृत श्रीमद्भागवतामृतमें सर्वदा लीन रहते हैं।

सूक्ष्मा-टीका-प्रशस्तिः

सूक्ष्माभिधाना बुध! तस्य टीका
सूक्ष्मार्थबोधाय कृता त्वया वै।
उच्चित्य पौराणवचः श्रुतीश्च
भूयस्तदीयाङ्घ्रियुगं स्मरामः॥

हे विद्वत्वर (श्रीबलदेव प्रभु)! श्रुतियों (उपनिषदों) एवं पौराणिक वचनोंका चयन करके आपके द्वारा रचित सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अर्थका बोध करानेवाली यह सूक्ष्मा नामक टीका धन्य है। हम आपके चरणयुगलका पुनः-पुनः स्मरण करते हैं।

सूक्ष्मा-टीका-महिमा

संक्षिप्त-सारमय-भाषितपूर्णमूर्त्तिः
सूक्ष्माभिधेयमनुभाष्य म शेषा टीका ।
दीपं विनान्धतमसे न यथार्थदृष्टि-
रेनामृते स्फु

संक्षिप्त एवं सारमय भाषासे युक्त गोविन्दभाष्यरूप पूर्णमूर्त्तिको सूक्ष्मा नामक अनुभाष्यने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अशेष अर्थों द्वारा सम्यक् रूपसे प्रकाशित कर दिया है। (गोविन्दभाष्यके पश्चात् लिखे जानेके कारण इसे अनुभाष्य कहा गया है) जिस प्रकार गाढ़ अन्धकारमें दीपकके बिना यथार्थ दृष्टिशक्ति नहीं होती, उसी प्रकार इस अमृतस्वरूप सूक्ष्मा-टीकाके बिना गोविन्दभाष्यके गूढ़ विषय कभी भी हृदयमें

स्फु

प्रकाशित करनेके लिए दीपकके समान है।

वैष्णव-प्रशस्तिः

धन्या वैष्णवमण्डली व्रजपतिप्रेम्णा यया रक्ष्यते
गोविन्दप्रियपुस्तकावलिरहो काले महासङ्कटे।
धन्यास्तत्परिशीलका अपि धनैः प्राणैश्च ये सेवका
योगक्षेमकरस्तनोतु भगवांस्तेषां हरिर्मङ्गलम्॥

अहो! वैष्णवमण्डली धन्य है! व्रजपति श्रीकृष्णके प्रेमवशतः जिसके द्वारा महासङ्कटकालमें गोविन्दप्रिय ग्रन्थावलीकी रक्षा की जाती है। इन ग्रन्थोंका अनुशीलन एवं अध्ययन करनेवाले धन्य हैं और जो धन एवं प्राणसे इन ग्रन्थावलीकी सेवा करते हैं, वे भी धन्य हैं। भगवान् श्रीहरि उन सबका योगक्षेम वहन करते हुए उनका मङ्गल विधान करें।



प्रशस्ति–पत्र

श्रीबलदेव विद्याभूषण द्वारा 'ब्रह्मसूत्र' पर लिखित 'गोविन्दभाष्य' और 'सूक्ष्मा–टीका' आदि को श्रील भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज कृत 'गोविन्दतोषणीवृत्ति' सहित हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित करके गौड़ीय वेदान्त प्रकाशनने समस्त साधक एवं विबुद्ध समुदायको मानो अनूठा प्रभु–प्रसाद प्रदान किया है। वेदान्तकी समुज्ज्वल परम्परामें श्रीचैतन्य महाप्रभुके द्वारा प्रकटित अचिन्त्य–भेदाभेद–दर्शनका अपना महनीय स्थान है। वैदिक तत्त्व–चिन्तनके गम्भीर अध्येताओंके लिए विषयके सर्वाङ्गीण अध्ययन हेतु इस दर्शनमें अवगाहन अनिवार्य है।

गहन–भक्ति एवं तदान्तर्गत ज्ञान और दर्शनके उपदेशको हृदयङ्गम करानेके लिए वैष्णव अग्रगणीय श्रील भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजने अपनी प्रिय शिष्या डा॰ मधु खण्डेलवालमें शक्ति–सञ्चार करके उनके द्वारा इस ग्रन्थ–रत्नका सुगम एवं भाववाही हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कराके सचमुच छात्रों, अन्वेषकों और तुलनात्मक अध्ययनके क्षेत्रमें कार्यरत विद्वानोंके लिए अनुपम सम्पतिका सन्धान दिया है। मूल संस्कृत ग्रन्थ, भाष्य एवं टीकाके प्रत्येक शब्दके यथायथ अर्थको सुनिश्चित रूपसे उपस्थापित करनेके उनके भगीरथ कार्यका परिचय होनेसे, मैं यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि गोविन्दभाष्यके चारों अध्यायोंका ग्रन्थ–सम्पुट किसी भी विश्वविद्यालय, शोध–संस्थान अथवा विद्याधामके ग्रन्थागारकी ग्रन्थ–सम्पदाको समृद्ध करनेमें अवश्य उपादेय सिद्ध होगा।

मैं गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन, तत्सम्बद्ध भक्तगण और ग्रन्थकी अनुवादक डा॰ मधु खण्डेलवालका इस उत्तम ज्ञानोपहारके प्रकाशनके लिए हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और आशा करता हूँ कि उनके द्वारा इसी प्रकारसे कई ग्रन्थ–रत्न प्रकाशित होकर हमारी राष्ट्र ज्ञान–धरोहरका सम्वर्धन–विवर्धन करेंगे। मुझे विश्वास है कि

गोविन्दभाष्य–भावित यह ग्रन्थ विपुलमात्रामें प्रचार–प्रसार पाकर देश–विदेशमें कार्यरत सभी भगवदीय–ज्ञानामृतके सुधी अधिकारियोंके लिए उत्तम कृपा–प्रसाद सिद्ध होगा।

दिनांक–१० जनवरी, २०१५

गिरिश बी॰ जानी
अतिरिक्त निदेशक
अनुस्नातक एवं शोध विभाग
भारतीय विद्या भवन, मुम्बई–७

श्रीराधामदनमोहनौ जयतः! जय गौर!

प्रशस्ति–पत्र

कलाकार एवं विद्वान् किसी देश और उसकी संस्कृतिके नेत्र होते हैं। उनमें भी जिसने समग्र दृष्टिको अपनाया और दूसरोंको वह प्रकाश दिया, युग उसका सभी ओरसे स्वस्तिवाचन एवं अभिनन्दन करता है। भारत एक भूखण्डमात्र ही नहीं, एक दृष्टि भी है, जिसने अचिन्त्य–भेदाभेदका दर्शन किया एवं अनेक घाटियोंको पारकर ज्ञानरूप वेदको सर्वोत्तम निर्दोष प्रमाण माना। जिस प्रकार फलकी उत्कृष्टतासे वृक्षकी मूल्यवत्ता आँकी जाती है, उसी प्रकार निगम कल्पतरुके रसमय फल श्रीमद्भागवतके कारण, जो स्वयं सुस्वादु एवं अनर्घ है, वैदिक साहित्य और भी स्पृहणीय, कमनीय एवं वन्दनीय हो गया है। जिस प्रकार श्रीमद्भागवत भक्त्यैकतात्पर्यरूप कैवल्यैक प्रयोजन है, उसी प्रकार वैदिक साहित्यके शीर्ष उपनिषद एवं उनके सार–संग्रहरूप ५५० वेदान्तसूत्रों (ब्रह्मसूत्रों) का भी भक्त्यैक तात्पर्य है। यदि इन सूत्रोंकी किसी अन्य प्रकारसे व्याख्या की जाय, तो वह सूत्रकारके प्रति अपराध एवं सूत्रोंके प्रति अन्याय होगा। सर्वावतारी, मधुराधिपति, लीलाविहारी स्वयं–भगवान् श्रीकृष्णके ही अभिन्न स्वरूप चैतन्यदेव श्रीगौरहरिने स्वयं अपने अनेकशः सम्वादों एवं शक्ति–सञ्चारित परिकरोंके माध्यमसे ब्रह्मसूत्रोंके वास्तविक तत्त्व एवं तात्पर्यका व्याख्यान किया।

इसे ही आधार बनाकर वेदान्ताचार्य श्रीश्रीलबलदेव विद्याभूषण प्रभुने 'गोविन्दभाष्य' की रचना की। 'गोविन्दभाष्य' यह नामकरण श्रीगोविन्ददेवकी कृपा एवं लेखकके वेशाश्रयी नाम—दोनोंकी ओर सङ्केत करता है। इस ग्रन्थपर उनकी सूक्ष्मा–टीका उनके अपने ही भाष्यका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशद विवेचन करती है और औपनिषद सिद्धान्तोंके बलपर अवैदिक एवं अशास्त्रीय मत–मतान्तरोंको भूमिसात् करती है, जब कि अवतरणिका भाष्य एवं उसकी टीका व्याससूत्रोंके

पूर्वपक्ष एवं पूर्वमतको तर्क सहित प्रस्तुत करती है, इसीसे दुरुह सूत्र बोधगम्य एवं हृत्-प्रिय बन जाते हैं। श्रीलबलदेव विद्याभूषणकी इस कृतिमें दार्शनिक गम्भीरता, प्रामाणिकता एवं कथ्यकी जितनी स्पष्ट दृष्टि तर्ककी भूमिकापर प्राप्त है, वह वेदान्तसूत्रोंकी भाष्य-परम्परामें उन्हें विशिष्टतम स्थान प्रदान करती है। श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने श्रीलबलदेव विद्याभूषणकी आचार-विचार-भजन पद्धति एवं तर्क-युक्ति-प्रमाण तथा सिद्धान्तकी सुस्थिर-सुदृढ़ पृष्ठभूमिको स्वीकार करके ही श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी स्थापना की। अपने गुरुपादपद्मके मनोऽभीष्टको पूर्ण करनेके उद्देश्यसे श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजने गौड़ीय वेदान्त प्रकाशनकी स्थापना करके उसके अन्तर्गत इस वेदान्तसूत्रको विद्वत् मनोग्राही एवं पाठकोंसे मैत्री स्थापित करनेवाली बोधगम्य टीकाके साथ प्रकाशित करनेका सङ्कल्प लिया। इस कार्यकी जितनी प्रशंसा की जाय, न्यून ही होगी। यह संस्था प्रणम्य है।

आज श्रीगोविन्दभाष्यके कई-एक प्रकाशन अनुवाद सहित उपलब्ध हैं, परन्तु अपनी समस्त टीकाओं एवं वृत्तिके साथ प्रकाशित होनेसे इस प्रकाशनका अपना ही वैशिष्ट्य है। इस अनुवादकी प्रस्तुतिमें नित्यलीलाप्रविष्ट महापुरुष-द्वय श्रीश्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराज एवं श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजका अक्लान्त परिश्रम एवं निर्देशन स्मरणीय एवं उल्लेखनीय है। ये दोनों ही महापुरुष आचार्य कोटिके ज्योतिष्मान् विभूति रहे हैं।

इस टीकाका अनुवाद सामान्य पाठकोंके साथ मैत्रीभाव स्थापनपूर्वक होनेके कारण यह प्रस्तुति केवल विद्वत्-जन-सम्वेद्य बनकर ही नहीं रह जाती, अपितु यह सर्वोपयोगी ही है। इस प्रस्तुतिको 'अनुवाद' मात्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न्याय-शैलीमें लिखी गयी इस दार्शनिक भाष्यकृतिके मूल-विचारोंकी प्रामाणिकताकी सम्पूर्ण रक्षा की गयी है। इसमें तरङ्गित विचार-रसको बड़े शिल्प एवं प्रतिभासे प्रस्तुत किया गया है, अतः यह ग्रन्थ अति सम्प्रेषणीय कलाकृति बन गया है। बँगलामें तो यह ग्रन्थ उपलब्ध था, किन्तु हिन्दी-भाषामें इसका अभाव था।

गौड़ीय–सिद्धान्त–प्रहरी, वेदान्त–रस–मूर्त्ति श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजकी प्रेरणा एवं निर्देशनसे इस ग्रन्थको राष्ट्र
प्रस्तुत एवं अनुवादित किया गया है, जिसका सम्पादन उन्होंने स्वयं अक्लान्त परिश्रमके साथ किया है। यह ग्रन्थ–कलेवर उनकी ही अन्तःप्रेरणाका साकाररूप है।

श्रीमद्भागवत, गौड़ीय–भक्ति–काव्य–साहित्य एवं रसदर्शनके मर्मज्ञ, परम–रसिक, श्रीव्रजमण्डल–गौड़मण्डल–क्षेत्रमण्डलकी यथार्थ महिमाको जगत्‌में परिपूर्ण रूपसे प्रकाशित करनेवाले, 'युगाचार्य' उपाधिसे विभूषित श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजने सदैव सम्प्रदाय एवं विद्या–रसिक जनोंकी अद्भुत सेवा की है। अपने गुरुदेवके मनोऽभीष्टको पूर्ण करनेके लिए उन्हींकी आज्ञासे उनकी अन्यतम शिष्या डा॰ मधु खण्डेलवाल द्वारा इस अनुपम ग्रन्थका अनुवाद अत्यन्त सरहानीय है। वेदान्तसूत्रोंके मूल–सूत्र, उनपर गोविन्दभाष्य, अवतरणिका भाष्य एवं टीका तथा सूक्ष्मा–मूल–टीका, अनुवाद एवं फिर सिद्धान्तकणा नामक अनुव्याख्याकी गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकार मूल–सूत्रार्थ, भाष्य, टीका एवं अनुव्याख्या—इन चार कोटियोंके अनुवाद द्वारा विषयको पूर्णतः सर्वग्राह्य बनानेका विशद प्रशस्त प्रयास प्रथम बार किया गया है। इससे ज्ञान एवं दर्शनके क्षेत्रमें बहुत बड़ी सेवा एवं अपेक्षाकी पूर्त्ति हुई है। अनुवादकी भाषा अति प्राञ्जल, प्रसादमयी एवं रसमयी है। कठिन दार्शनिक विषयोंका स्थूणाखनन न्यायसे ऐसा सुस्पष्ट व्याख्यान हुआ है कि विषय सहज बोधगम्य हो जाता है। डा॰ खण्डेलवालकी सैद्धान्तिक दार्शनिक प्रज्ञा एवं परिश्रम निस्सन्देह अभिनन्दनीय हैं, साथ ही प्रकाशन मण्डलीका अथक श्रम इस प्रकाशनमें प्रत्यक्ष हो रहा है। मैं आशा करता हूँ कि बुद्धिजीवी एवं अध्येता विद्वत्–समाज, शोधार्थी एवं भक्ति–साधक सभीके लिए यह ग्रन्थ पठनीय, संग्रहणीय एवं अनुशीलनीय है। यह ग्रन्थ–रत्न अध्ययन–अध्यापनके परम उपयोगी रूपमें प्रशंसा अर्जित करेगा—ऐसी अपेक्षा है। प्रभु श्रीराधामदनमोहनदेवजुके श्रीचरणोंमें प्रार्थना है कि वे अपनी कृपा–दृष्टि डा॰ मधु खण्डेलवाल पर बरसावें, जिससे कि

वे श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग एवं गौर–परिकरोंकी कृपापात्री बनें एवं ऐसी ही सारस्वत यात्रामें निरन्तर अग्रसर होती रहें। सुज्ञेषु किमधिकम्।

दि॰ १४/१/२०१५
(मकर संक्रान्ति वि॰सं॰ २०६१)

विदुषां भागवतानां वंशवद
(डा॰) अच्युतलाल भट्ट
भागवतभूषण, भक्तिविशारद,
एम॰ए॰ (हिन्दी, संस्कृत)
पी–एच॰डी॰
श्रीधामवृन्दावन (जिला मथुरा),
उत्तर प्रदेश (भारत)

विषयानुक्रमणिका



सांकेतिक चिह्नोंकी सूची

अ॰—अन्त्यलीला
आ॰—आदिलीला
ऐ॰—ऐतरेयोपनिषद
ऋ॰—ऋग्वेद
कठ॰—कठोपनिषद
कू॰पु॰—कूर्मपुराण
कौ॰ब्रा॰—कौषीतकीब्राह्मण
गो॰ता॰—गोपालतापनी-उपनिषद
चै॰च॰—चैतन्यचरितामृत
छा॰—छान्दोग्योपनिषद
तै॰—तैत्तिरीयोपनिषद
तै॰ब्रा॰—तैत्तिरीयब्राह्मण
न्या॰सू॰—न्यायसूत्र
पा॰सू॰—पाणिनिसूत्र
पु॰सू॰—पुरुषसूक्त
पू॰—पूर्व
प्र॰उ॰—प्रश्नोपनिषद
बृ॰आ॰—बृहदारण्यकोपनिषद
ब्र॰सं॰—ब्रह्मसंहिता
ब्र॰सू॰—ब्रह्मसूत्र
भा॰प॰—भाषा-परिच्छेद
म॰—मध्यलीला
म॰भा॰—महाभारत
मु॰—मुण्डकोपनिषद
लघु सि॰कौ॰—लघु सिद्धान्तकौमुदी
वि॰पु॰—विष्णुपुराण
वा॰पु॰—वामनपुराण
वे॰सू॰—वेदान्तसूत्र
वै॰द॰—वैशेषिक-दर्शन
श्रीमद्भा॰—श्रीमद्भागवत
शत॰ब्रा॰—शतपथब्राह्मण
श्वे॰—श्वेताश्वतरोपनिषद
सां॰का॰—सांख्यकारिका
सां॰सू॰—सांख्यसूत्र
सु॰उ॰—सुबालोपनिषद

निवेदन

श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायके अमित प्रभावशाली आचार्य-भास्कर श्रीश्रीलभक्तिविनोद-गौरकिशोर-सरस्वती ठाकु
श्रीगौरसुन्दरकी परम्परामें दशमाधस्तन एवं श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति और उसके अधीन समग्र भारतव्यापी शाखा गौड़ीय मठोंके संस्थापक आचार्यकेशरी ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके परम प्रियतम पार्षद हमारे परमाराध्यातम श्रील गुरुदेव ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे आज श्रीगौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा विरचित 'गोविन्दभाष्य' एवं 'सूक्ष्मा-टीका' के सहित महर्षि श्रीवेदव्यासकृत 'वेदान्तसूत्र' ग्रन्थके द्वितीय अध्यायको राष्ट्र
हुए हम प्रचुर आन्तरिक आनन्दका अनुभव कर रहे हैं।

श्रील गुरुदेवने अपने गुरुदपाद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके मनोऽभीष्टको पूर्ण करनेके उद्देश्यसे उनके ही सतीर्थ नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराज द्वारा बँगला भाषामें सम्पादित ग्रन्थके आधारपर ही हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करवाया एवं अक्लान्त भावसे अनुवाद कार्यका संशोधन एवं सम्पादन किया। इस ग्रन्थपर कार्य करते समय यद्यपि श्रील गुरुदेव इस जगत्‌में जन-साधारणके सम्मुख अस्वस्थ-लीलाका प्रदर्शन कर रहे थे, किन्तु वृद्धावस्था एवं अस्वस्थताके बीच भी अथक परिश्रमकर वे दिवा-रात्रि इसके सम्पादनमें रत रहते थे। वे प्रत्येक कार्यको इतनी तन्मयता एवं रुचिके साथ करते कि सब हतप्रभ रह जाते थे। जो भी उन्हें सम्पादन कार्य करते देखता या फिर उनके परिश्रमके विषयमें सुनता, वह विस्मित हुए बिना नहीं रह पाता था।

श्रील गुरुदेवने वेदान्तके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवत और श्रीगोविन्दभाष्यके अनुसरणपूर्वक नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराज द्वारा बँगला भाषामें लिखित 'सिद्धान्तकणा' नामक अनुव्याख्याके आधारपर प्रणीत 'गोविन्दतोषणी' नामक 'वृत्ति' सहित हिन्दी भाषामें वेदान्तसूत्रका सम्पादन करके न केवल गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायका गौरव वर्द्धित किया है, अपितु सभी विद्वतजनों एवं परमार्थ तत्त्वानुशीलन अभिलाषी सुधीजनोंका असीम उपकार और आनन्द विधान किया है। इस 'गोविन्दतोषणीवृत्ति' में वेदान्तके दुरुह एवं जटिल विषयोंको अत्यन्त सरलभाषामें परिस्फु

यद्यपि श्रीमद्भागवतको ही गौड़ीयजन वेदान्तके अकृत्रिम भाष्यके रूपमें जानते हैं, तथापि श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा श्रीगोविन्ददेवजीके आदेशसे विरचित श्रीगोविन्दभाष्य और सूक्ष्मा-टीका भी गौड़ीय-जगत्की एक अमूल्य सम्पद् है। अतः गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषणके द्वारा विरचित गोविन्दभाष्यसे समन्वित वेदान्तसूत्रके आत्मप्रकाशित होनेसे यह ग्रन्थरत्न विद्वतजनोंके निकट परमादृत होगा—इसमें सन्देह नहीं है।

श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास प्रणीत वेदान्तसूत्र ब्रह्मतत्त्व निर्णायक परम प्रामाणिक ग्रन्थ है। वेदके चरम और परम सिद्धान्त इस ग्रन्थमें निबद्ध हैं।

श्रील गुरुदेवने इस ग्रन्थरत्नके विषयमें अनुवादिका श्रीमती मधु खण्डेलवालसे कहा था—"मैं विश्व-ब्रह्माण्डमें इस प्रकारका ग्रन्थ नहीं देखता हूँ। इस ग्रन्थसे जीवोंका बहुत कल्याण होगा।"

श्रील गुरुदेवने स्वरचित अपने गुरुपादपद्मकी जीवनी 'आचार्य केशरी—श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी' में लिखा है—"मेरे परमाराध्यतम श्रीगुरुपादपद्मका आन्तरिक भाव, जिसे वे अपने भाषणोंमें प्रायः उल्लेख किया करते थे, यह था कि पारमार्थिक जीवनके निर्माणके लिए महाजनोंकी निर्मल शिक्षाका अवलम्बन करना परम आवश्यक है। श्रीवेदव्यासजीने जीवोंके सर्वोत्तम कल्याणके लिए ब्रह्मसूत्रकी रचना की है। ब्रह्मसूत्रका दूसरा नाम भक्तिसूत्र भी है।

"वेदोंके सारभागका नाम उपनिषद है। इन उपनिषदोंकी संख्या ११०० से भी अधिक है। इन उपनिषदोंका प्रतिपाद्य विषय निखिल अप्राकृत सद्गुणोंके आलय सर्वशक्तिमान, आनन्दमय परब्रह्मकी आराधना अर्थात् भक्ति है। जीव इस आराधनाके द्वारा ही जन्म, मृत्यु और त्रितापमय क्लेशसे सदाके लिए निवृत्त होकर परमानन्द पूर्णब्रह्म श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवाकी प्राप्ति कर सकता है। उपनिषदोंमें कहीं-कहीं आपात्-विरोधी मन्त्र या वाक्य दृष्टिगोचर होनेपर भी ये सभी एकतात्पर्यपर हैं, उनमें यथार्थतः परस्पर कोई भेद नहीं है। सर्वज्ञ श्रीवेदव्यासने इन उपनिषदोंके अत्यन्त दुर्गम एवं निगूढ़ सिद्धान्तोंको हृदयङ्गम करानेके लिए ५५० सूत्रोंकी रचना की है, जिन्हें ब्रह्मसूत्र, वेदान्तसूत्र या शारीरकसूत्र भी कहते हैं।

"हमारे भारतीय आचार्योंने वेदान्तसूत्रोंका अपने-अपने भावोंके अनुरूप भाष्य लिखकर अपने-अपने मतकी पुष्टिका प्रयास किया है। सर्वज्ञ श्रीवेदव्यासने उसी समय जान लिया था कि भविष्यमें विभिन्न आचार्यगण अपने मतानुसार मेरे सूत्रोंकी टीका-व्याख्या आदि करेंगे। इसीलिए उन्होंने स्वयं ही उसका भाष्य लिखा, जो श्रीमद्भागवतके नामसे प्रसिद्ध है। उन्होंने स्वरचित पुराणोंमें इसे स्पष्ट रूपसे लिखा है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिवृंहितः॥

(गरुड़पुराण)

अर्थात् श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका अर्थ, महाभारतका तात्पर्य-निर्णय, गायत्रीका भाष्य और समस्त वेदोंके तात्पर्यका सम्वर्द्धन है।

और भी,

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥

(श्रीमद्भा॰ १२/१३/१५)

अर्थात् समस्त वेदोंके सारको ही श्रीमद्भागवत कहा जाता है। जो इस रससुधाका पान करके तृप्तिका अनुभव करता है, वह अन्य किसी पुराण-शास्त्रमें नहीं रम सकता।

“श्रीवेदव्यासने वेदान्तसूत्रमें *‘आनन्दमयोऽभ्यासात्’*, *‘अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्’*, *‘अनावृत्ति शब्दात् अनावृत्ति शब्दात्’* इत्यादि सूत्रों द्वारा स्पष्ट रूपसे भगवद्भक्तिका ही प्रतिपादन किया है। साथ ही वेदान्त-भाष्य श्रीमद्भागवतमें भी उन्होंने *‘स वै पुसां परो धर्मो यतो* ***भक्ति****रधोक्षजे।’* *‘मयि* ***भक्ति****र्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते’*, *‘यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे।* ***भक्ति****रुत्पद्यते’*, *‘****भक्त्या****हमेकया ग्राह्यः’* आदि श्लोकोंके द्वारा भी उक्त भक्तिका ही प्रतिपादन किया है। वेदान्तविद्-चूड़ामणि श्रील जीव गोस्वामी तथा गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने शास्त्रीय प्रमाणों तथा अकाट्य युक्तियोंसे भक्तिको ही वेदान्तसूत्रका प्रतिपाद्य विषय प्रमाणित किया है। अतः भक्ति ही वेदान्तसूत्रका सिद्धान्ततः प्रतिपाद्य विषय है।

“कु

वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय प्रमाणित करनेकी कष्ट-कल्पना करते हैं। किन्तु यह विशेष रूपसे लक्ष्य करनेकी बात है कि वेदान्तसूत्रके ५५० सूत्रोंमें कहीं भी ‘ज्ञान’ या ‘मुक्ति’ शब्दका उल्लेख नहीं है। आचार्य शङ्कर *‘वैष्णवाणां यथा शम्भो’*—इस उक्तिके अनुसार परम वैष्णव हैं। उन्होंने किसी विशेष कारणसे कपोल-कल्पित शास्त्रविरुद्ध केवलाद्वैतवाद या मायावादका प्रचार किया। अतः जीवोंके कल्याणके लिए विश्वमें सर्वत्र इस गूढ़ रहस्यका प्रचार करनेके लिए मैंने इस समितिका नाम ‘श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति’ रखा है।”

श्रील गुरुदेवके ज्येष्ठ सतीर्थ नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने वेदान्तभाष्यके पीठकस्वरूप ‘सिद्धान्तरत्नम्’ ग्रन्थके स्वलिखित ‘सम्पादकीय निवेदन’ में वर्णन किया है कि श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने गौड़ीय वेदान्त और गौड़ीय-वेदान्ताचार्य केशरी श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके प्रति विशेष गौरव-प्रदर्शन करनेके लिए ही अपने प्रतिष्ठित मिशनका नाम ‘श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति’ रखा है। इस विषयमें उन्होंने लिखा है—“‘ब्रह्म’ शब्द ‘शब्दब्रह्म’ को लक्ष्य करता है। यह शब्दब्रह्म ही श्रीमन्महाप्रभुका प्रचारित श्रीनाम-ब्रह्म है। जो इस नाम-ब्रह्मका

अनुसन्धान नहीं करते अथवा नामतत्त्वको नहीं जानते, उनका विशुद्ध-नाम-भजन नहीं हो सकता। इसीलिए मैं श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी स्थापना करके श्रीमन्महाप्रभुके नाम-प्रेम-धर्मको ही वेदान्तके प्रतिपाद्य विषयके रूपमें कहकर सर्वत्र प्रचारित कर रहा हूँ।"

श्रील भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने और भी लिखा है—"श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके साथ श्रीगौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुका अच्छेद्य सम्बन्ध है। श्रीबलदेवके आचार-विचार और भजन-पद्धतिको श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिने सम्पूर्ण रूपसे अङ्गीकार किया है, क्योंकि श्रील बलदेव प्रभु रूपानुग वैष्णव हैं।

"श्रील गुरुपादपद्मने अपने अभीष्टदेव ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादकी उक्ति 'जब तक पृथ्वीपर शङ्करदर्शन प्रचलित रहेगा, तब तक शुद्धभक्ति (के प्रचार) में बाधा उत्पन्न होती रहेगी' सुनकर श्रीशङ्करके अद्वैतवाद या मायावादको समूल उखाड़ फैंकनेके उद्देश्यसे विभिन्न भाष्यकारोंके वेदान्तदर्शनके १०-१२ भाष्य संग्रहकर उनकी चर्चा करके ऐसा सिद्धान्त स्थापन किया कि आचार्य शङ्करके ब्रह्मसूत्रका मौलिक सिद्धान्त वेदान्तदर्शनसे सम्पूर्णतः विरुद्ध है। ब्रह्म निराकार, निर्विशेष और निर्गुण स्वरूप नहीं हैं। वेदान्त-दर्शनके किसी भी सूत्रमें उक्त तीनों शब्दोंका उल्लेख नहीं है। 'ज्ञान' शब्द ब्रह्मसूत्रमें कहीं भी दृष्ट नहीं हुआ है। इसलिए 'ब्रह्मवाद' को कभी भी 'ज्ञानवाद' कहकर स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रीवेदव्यास, शाण्डिल्यऋषि और नारदऋषिने भी व्याससूत्रको भक्तिग्रन्थ कहकर निर्देश किया है।

"श्रीगुरुपादपद्मने और भी लिखा है कि श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुकी चर्चा करते ही सर्वप्रथम उनके द्वारा कृत वेदान्तभाष्य— श्रीगोविन्दभाष्यकी बात स्मृति पटलपर जाग्रत होती है। उनके भाष्यने ही उन्हें चारों सम्प्रदायोंमें सञ्जीवित करके रखा हैं। उन्होंने गोविन्दभाष्यकी 'सूक्ष्मा' नामक एक टीकाकी भी रचना की है।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु गौड़ीय-सम्प्रदायके एक नक्षत्र विशेष हैं। षड्-गोस्वामियोंके उपरान्त उन्होंने सम्प्रदायका जैसा उपकार किया है, वैसा अन्य किसीने नहीं किया। इससे ऐसा बोध होता

है कि वे श्रीमन्महाप्रभुके नित्य पार्षदोंमेंसे एक हैं। श्रीगौरशक्ति श्रील भक्तिविनोद ठाकु
गलता-पहाड़ीपर गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायकी विजय पताकाको लहराकर गौड़ीय-सम्प्रदायके मध्व-सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त होनेकी वैशिष्ट्य सहित घोषणा की है एवं वे स्वयं रूपानुग गौड़ीय-वैष्णव हैं—उन्होंने इसे भी प्रमाणित किया है। इसका कारण है कि वे श्रीमन्महाप्रभुके अनुगत श्यामानन्द परिवारके अन्तर्गत हैं, श्यामानन्द प्रभुने श्रील जीव गोस्वामीका आनुगत्य स्वीकार किया है तथा श्रील जीव गोस्वामीके एकान्त भावसे रूपानुग वैष्णव होनेके कारण श्रीबलदेव प्रभु भी रूपानुग वैष्णव हैं। उनके एक साथ पाञ्चरात्रिक और भागवत-परम्परामें अवस्थान करनेपर भी उन्होंने भागवत-परम्परामें भजन-निष्ठाके माधुर्य और उसकी श्रेष्ठताको स्थापित किया है।"

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने सिद्धान्तरत्नम् ग्रन्थके स्वलिखित 'सम्पादकीय निवेदन' में श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी संक्षिप्त जीवनी एवं उनकी ग्रन्थावलीके सम्बन्धमें लिखा है—

"श्रीगौड़ीय-वैष्णव-वेदान्ताचार्य महामहोपाध्याय पण्डितकु
श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी अतिमर्त्य जीवनी और उनके दार्शनिक विचार-वैशिष्ट्यके सम्बन्धमें मेरे गुरुपादपद्म श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज द्वारा लिखित 'गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव', श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद द्वारा प्रदत्त 'भाष्यकार-विवरण' एवं श्रील भक्तिविनोद ठाकु
श्रील बलदेव विद्याभूषण'—इन प्रबन्धोंकी चर्चा करनेसे ही श्रील बलदेव प्रभुका सम्पूर्ण एवं सुन्दर परिचय पाया जाता है। उक्त तीन प्रबन्धोंको निम्नलिखित कु
(१) श्रील बलदेवका आविर्भाव काल, (२) जाति, धर्म, जन्मभूमि और विद्याभ्यास, (३) दैव-वर्णाश्रम धर्ममें प्रतिष्ठा, (४) द्वितीय बार गुरुकरण, (५) श्रीनवद्वीप-दर्शन और श्रीवृन्दावनमें वास, (६) श्रीनारायणकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी श्रेष्ठता स्थापन करनेके लिए जयपुर यात्रा, (७) श्रीगोविन्दभाष्यकी रचना, (८) गलता-गद्दीमें सत्सम्प्रदायकी

प्रतिष्ठा, (९) गौड़ीय-वैष्णवोंकी श्रेष्ठताकी स्थापना, (१०) जय लाभ और 'विद्याभूषण' उपाधिकी प्राप्ति, (११) गौड़ीय-वैष्णवोंकी अभिनव रूपसे मध्व-सम्प्रदायमें स्थिति, (१२) श्रीरूपानुगत्य, (१३) श्रीवृन्दावन स्थित श्रीश्यामसुन्दर मन्दिरमें अन्तिम जीवन यापन, (१४) काल निर्णय और गुरु-परम्परा, (१५) शिष्य-परम्परा, (१६) पाञ्चरात्रिक परम्परा और भागवत-परम्परा, (१७) ब्रह्माजीके अवतार श्रीगोपीनाथ मिश्र ही बलदेवके रूपमें अवतीर्ण और (१८) स्वरचित ग्रन्थ परिचय।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके आविर्भाव-कालका ठीक रूपसे निर्णय नहीं होनेपर भी, वे वर्त्तमान समयसे लगभग दौ-सौ से अधिक वर्ष पूर्व आविर्भूत हुए थे। वे उत्कल-प्रदेशके अन्तर्गत बालेश्वर जिलेमें रेमुणाके निकटवर्ती एक गाँवमें प्रकट हुए थे। शौक्र-वैश्यकु
आयुमें ही विद्या अध्ययन समाप्तकर वे तीर्थ-भ्रमणपर निकल पड़े। तत्पश्चात् चिलका-ह्रदके आस-पास व्याकरण-अलङ्कारादिका अध्ययन करके उन्होंने श्रीमाध्व-सम्प्रदायमें प्रवेश किया। वेदान्त-विशारद श्रीबलदेव थोड़े समयमें ही दिग्विजयी पण्डित हो गये।

"ब्राह्मणकु
के रूपमें विख्यात हुए। ब्राह्मण-ब्रुवोंने वैष्णवाचार्य श्रील बलदेवके द्वारा 'विद्याभूषण' उपाधि ग्रहण करने और उनके वेदादि अध्ययनके प्रति कटाक्षपात किया, तथापि इन्होंने गीता-भागवतादिमें स्थापित वृत्तिपर (न कि जन्मपर) आधारित ब्राह्मणता या श्रौत-पन्थाकी ही श्रेष्ठता स्थापन की है।

"यद्यपि श्रील बलदेव कान्यकु
प्रथम बार विचार-प्रार्थी हुए थे, किन्तु षड्-सन्दर्भादिमें उनके अगाध पाण्डित्य एवं उनकी भक्ति और प्रेमको देखकर उनके प्रति श्रद्धायुक्त हुए तथा उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। श्रीबलदेवने अपना मध्व-सम्प्रदाय आनुगत्य सुरक्षित रखकर श्रीचैतन्यदेवको स्वयं-भगवान् जानकर श्रीमाध्व-गौड़ीय-सम्प्रदायमें प्रवेश किया। तत्पश्चात् वे गुरु-कृष्णके कृपाबलसे भगवत्प्रेममें मत्त होकर श्रीक्षेत्रसे श्रीनवद्वीपधाममें

जाकर वहाँके दर्शन करनेके उपरान्त श्रीवृन्दावनमें वास करने लगे। श्रीवृन्दावनमें इन्होंने श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकु
भक्ति-शास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की।

"उस समय वर्त्तमान राजस्थानके अन्तर्गत जयपुरमें एक विवाद आरम्भ हुआ। जयपुरके राजा गौड़ीय-सम्प्रदायके अनुगत रहकर श्रीनारायणसे पहले श्रीगोविन्दजीकी पूजा कराते थे। कु
सम्प्रदायके महान्त-वैष्णवों द्वारा इस पूजा-पद्धतिमें परिवर्तनकी चेष्टा करनेपर सदाचारी राजाने शास्त्र-विचारके लिए वृन्दावनसे वैष्णव-पण्डितोंको आह्वान किया। उस समय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकु
वेद-वेदान्तमें विशेष पारदर्शी जानकर जयपुर भेजा। जब श्रीबलदेव राजसभामें उपस्थित हुए और वहाँके 'श्री' सम्प्रदायी वैष्णवोंके महान्तसे मिले, तब उन महान्तने श्रीबलदेवसे पूछा कि वे किस सम्प्रदायके अन्तर्गत हैं। श्रीबलदेव द्वारा स्वयंको मध्व-शिष्य (सम्प्रदाय) और मध्वभाष्यके अनुगत बतलानेपर उन्होंने पुनः पूछा—'मध्वाचार्यके भाष्यमें केवल कृष्ण ही प्रतिष्ठित हैं, उसमें श्रीराधाकी प्रतिष्ठा नहीं है। श्रीगोविन्दजी क्या श्रीराधाको छोड़कर पूजा स्वीकार करेंगे?' तब श्रीबलदेवने यह जानकर कि यहाँ मध्वभाष्यके द्वारा विचार करनेसे चलेगा नहीं, कु
वेदान्तसूत्रभाष्य, गीताभाष्य, सहस्रनामभाष्य और उपनिषद्भाष्य लिख डाला तथा गलता-पहाड़ीपर विचारसभामें 'श्री' वैष्णवोंको परास्तकर उस विद्वत्-सभा द्वारा 'विद्याभूषण' उपाधि प्राप्त की।

"उस विचार-सभामें 'श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित पथ ही सर्वोतम और सर्वश्रेष्ठ है'—इसे शास्त्रयुक्ति द्वारा स्थापनकर श्रीबलदेवने 'गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय श्रीव्यास द्वारा उक्त चार सम्प्रदायोंमें अन्यतम ब्रह्म-माध्व-सम्प्रदायके अन्तर्गत है', ऐसी घोषणा की। इससे पहले भी गौड़ीय-सम्प्रदाय माध्व-सम्प्रदायकी शाखाके रूपमें विवेचित होता था, क्योंकि श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा मध्व-सम्प्रदायी श्रील ईश्वरपुरीपादको आचार्यके रूपमें स्वीकार करनेके कारण उनकी माध्व-सम्प्रदायभुक्ति पहलेसे ही प्रमाणित है।

“इसके बाद श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीधाम वृन्दावनमें स्थित श्रीश्यामसुन्दर मन्दिरमें अन्तिम जीवन व्यतीत किया एवं अन्यान्य ग्रन्थोंकी भी इसी समय रचना की।

“श्रील विद्याभूषण प्रभुके परमगुरु श्रीमुरारि, मुरारिके गुरु रसिकानन्द एवं उनके गुरु श्रीश्यामानन्द हैं। श्रीश्यामानन्दके गुरु गौरीदास पण्डित हैं, इन गौरीदास पण्डितके प्रति श्रीमन् नित्यानन्द प्रभुने कृपा की थी। श्रीश्यामानन्द प्रभुने परवर्ती कालमें श्रीजीव गोस्वामीका शिष्यत्व स्वीकार किया था। आचार्य श्रील बलदेव प्रभुके शिष्य उद्धवदास तथा उनके शिष्य श्रीमधुसूदन दास हैं। वैष्णव सार्वभौम श्रील जगन्नाथदास बाबाजी महाराज इन मधुसूदन दासके शिष्य हैं। श्रील जगन्नाथ दास बाबाजी महाराजसे श्रील भक्तिविनोद ठाकु
महाराज, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद, हमारे गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज पाञ्चरात्रिक और भागवत-परम्परामें हैं।

“कथित है कि श्रीचैतन्य-पार्षद श्रीगोपीनाथ मिश्र जिन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्यके साथ श्रीमन्महाप्रभुके श्रीमुख-निसृत सूत्रभाष्यको श्रवण किया था, वे ही बादमें ब्रह्म-सम्प्रदायके भाष्यकर्त्ता श्रील बलदेव विद्याभूषणके रूपमें आविर्भूत हुए। आचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण रचित ग्रन्थ तालिका इस प्रकार हैः (१) श्रीगोविन्दभाष्य, (२) सूक्ष्मा-टीका, (३) सिद्धान्तरत्नम् अथवा भाष्यपीठकम् (४) सिद्धान्तरत्नम्-टीका (५) साहित्य-कौमुदी, (६) व्याकरण-कौमुदी, (७) तत्त्वसन्दर्भ-टीका, (८) इशोपनिषद भाष्य, (९) सिद्धान्त-दर्पणम्, (१०) काव्य-कौस्तुभ, (११) गोपालतापनी-भाष्य, (१२) साहित्य कौमुदी टीका (कृष्णानन्दिनी), (१३) छन्दकौस्तुभ-भाष्य, (१४) लघुभागवतामृत-टीका, (१५) ‘चन्द्रालोक’ ग्रन्थकी टीका, (१६) नाटक-चन्द्रिका-टीका, (१७) श्रीमद्भागवत-टीका (वैष्णवानन्दिनी), (१८) वेदान्त-स्यमन्तक, (१९) प्रमेय-रत्नावली, (२०) गीताभूषण-भाष्य, (२१) विष्णुसहस्रनाम-भाष्य (नामार्थसुधा), (२२) संक्षेप-भागवतामृत-टिप्पणी (सारङ्ग-रङ्गदा), (२३) स्तव-माला-विभूषण-भाष्य, (२४) पदकौस्तुभ, (२५) श्रीश्यामानन्दशतक-टीका।

"श्रील जीव गोस्वामी और श्रील बलदेव प्रभुका मत एक ही है, किञ्चितमात्र भी भिन्न नहीं है। तत्त्व और उपासनाके विषयमें दोनोंने एक ही प्रकारका सिद्धान्त किया है। श्रील बलदेव प्रभुने श्रीमन्महाप्रभुका 'अचिन्त्य-भेदाभेद-सिद्धान्त' ही स्वीकार किया है। श्रील भक्तिविनोद ठाकु

कि 'ब्रह्म-सम्प्रदाय नामक एक सम्प्रदाय सृष्टिके समयसे चला आ रहा है। जो समस्त लोग ब्रह्म-सम्प्रदायको स्वीकार नहीं करते, वे भगवदुक्त पाषण्डमतके प्रचारक हैं। श्रीकृष्णचैतन्य-सम्प्रदाय स्वीकार करके भी जो भीतरमें गुरु-परम्पराकी सिद्ध-प्रणालीको स्वीकार नहीं करते, वे कलिके गुप्तचर हैं, इसमें सन्देह ही क्या है?'

"श्रील जीव गोस्वामीने आप्त-वाक्योंके प्रमाणसे स्थिर किया है कि श्रीब्रह्म-सम्प्रदाय ही श्रीकृष्णचैतन्य-दासजनोंकी गुरु-प्रणाली है। श्रीकवि कर्णपूर गोस्वामीने इसीके अनुसार दृढ़तापूर्वक स्वकृत 'गौरगणोद्देश-दीपिका' में गुरु-परम्पराका क्रम लिखा है। वेदान्तसूत्र भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी उसी प्रणालीको स्थिर रखा है। जो इस प्रणालीको अस्वीकार करते हैं, वे निःसन्देह श्रीकृष्णचैतन्य चरणानुचरगणोंके प्रधान शत्रु हैं।

"भगवान्‌के अवतार महर्षि कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यास द्वारा उत्तर-मीमांसा अर्थात् ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शन रचित हुआ है। वेदान्त-भाष्योंमें मधुररस-प्रकाशक गोविन्दभाष्य ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि स्वयं अभिधेयाधिदेव श्रीगोविन्ददेवजीने श्रीबलदेव प्रभुको इस भाष्यकी रचना करनेकी आज्ञा प्रदानकर स्वयं इसका उपदेश दिया है। श्रीगोविन्ददेवजीके नामके अनुसार ही यह 'गोविन्दभाष्य' के नामसे जाना जाता है। श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने स्वयं इसकी 'सूक्ष्मा' नामक टीकाकी रचना की है।

"ब्रह्मसूत्र चार अध्यायोंमें विभक्त है। प्रत्येक अध्यायमें चार पाद हैं। इस ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायमें समस्त वेदोंका ब्रह्ममें समन्वय है। द्वितीय अध्यायमें समस्त शास्त्रोंके साथ विरोधका परिहार है। तृतीयमें ब्रह्मप्राप्तिका साधन है। चतुर्थमें ब्रह्मप्राप्ति ही पुरुषार्थके रूपमें उक्त हुई है।

"निष्काम धर्म, निर्मल चित्त, सत्प्रसङ्गलुब्ध, श्रद्धालु, शम-दमादि सम्पन्न जीव ही इस शास्त्रके अधिकारी हैं। यह शास्त्र स्वयं वाचक है और ब्रह्म इसका वाच्य है, अतः परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। शास्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय निरन्तर विशुद्धानन्त-गुणगण अचिन्त्यानन्त शक्ति-सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। अशेष दोषोंका विनाश करके उनका साक्षात्कार करना ही इस वेदान्त-दर्शनका प्रयोजन है। इस शास्त्रमें विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और सङ्गति—ये पाँच न्यायावयव हैं। अधिकरण अर्थात् अध्यायके अंशविशेषका नाम ही न्याय है। विचार योग्य वाक्यका नाम विषय है। एक धर्मीके परस्पर विरोधी नाना प्रकारके अर्थोंके विचारका नाम संशय है। प्रतिकूल अर्थोंका नाम पूर्वपक्ष है। प्रामाणिक रूपसे उदित अर्थोंका नाम सिद्धान्त है। पूर्व-पर दोनों अर्थोंका नाम सङ्गति है।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने स्वयं कहा है—'जिन उदार पुरुषने विद्यारूप भूषणको प्रदानकर मेरी ख्याति विस्तार की है, जिनके स्वप्नादेशसे वेदान्तसूत्रका 'गोविन्दभाष्य' प्रकाशित हुआ है, वे राधाबन्धु त्रिभङ्गभङ्गिम श्रीगोविन्ददेवजी जययुक्त हों।'

"मेरे अभीष्टदेव श्रील गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने भी श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी निम्नलिखित श्लोकसे वन्दना की है—

श्रीमध्व-सम्प्रदाय श्री-चैतन्य कु
वेदान्ताचार्य-शार्द्दूलो बलदेवो महामतिः॥

श्रीमाध्व-सम्प्रदायकी 'श्री'—श्रीचैतन्यदेवके कु
सम्प्रदायके रक्षक वेदान्ताचार्य-सिंह महामति श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु जययुक्त हों।

"गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके श्रीरूपानुगत्यमें सन्देह पोषणकारीजनोंके सम्बन्धमें श्रील गुरुपादपद्मने लिखा है कि जो श्रीबलदेवको रूपानुग स्वीकार करनेमें कु
ही भ्रान्त और वैष्णव विरोधी हैं।"

हम पाठकोंसे अनुरोध करते है कि वे वेदान्तसूत्रके इस द्वितीय अध्यायके अध्ययनसे पूर्व बँगला भाषासे अनुवादित 'भूमिका' का मनोनिवेशपूर्वक पाठ करें, जिससे उन्हें इस द्वितीय अध्यायकी विषयवस्तुमें प्रवेश करनेमें एक सहज दिशा प्राप्त हो सकेगी—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। इस हिन्दी संस्करणमें सूत्रोंके सभी शब्दोंके अर्थ, सभी सूत्रोंका अनुवाद और गोविन्दतोषणीवृत्तिमें विभिन्न शास्त्रोंसे उद्धृत श्लोकों एवं वैष्णवाचार्योंकी टीकाओंसे उद्धृत अंशोंको अनुवाद सहित दिया गया है, जिससे इस ग्रन्थकी विषय-वस्तु हिन्दी-भाषी पाठकोंके लिए सहज बोधगम्य होगी। जिन्होंने इस ग्रन्थका प्रथम अध्याय मनोयोग सहित पाठ किया है, वे निश्चय ही उपलब्धि करेंगे कि ग्रन्थकी विषयवस्तु इस प्रकारसे सुसज्जित की गयी है, जो सूत्रार्थ समझनेके लिए अति सुगम है। भाष्य और टीका-पाठमें जो किञ्चित् जटिलता रह गयी थी, उसे गोविन्दतोषणीवृत्तिमें यथासाध्य सहज-सरल बोधगम्य करनेकी चेष्टा की गयी है। इस प्रकार सहृदय सुधी पाठकवर्ग सहज ही इस संस्करणका वैशिष्ट्य उपलब्धि कर पायेंगे। चार अध्यायोंमें विभाजित वेदान्तसूत्रके प्रथम एवं द्वितीय अध्याय प्रकाशित हो गये हैं। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गकी कृपासे बाकी दो अध्याय भी शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

इस विशाल ग्रन्थमें भ्रम-प्रमादवशतः कु
जाना अस्वाभाविक नहीं है। सुधी पाठकजन उनका संशोधनपूर्वक पाठकर हमारी इस चेष्टाको कृतार्थ करें—यही विनम्र निवेदन है। इति।

श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी आविर्भाव-तिथि
७ फरवरी, २०१५

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
प्रकाशन-मण्डली

॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

भूमिका

ॐ अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

नमो ॐ विष्णुपादाय कृष्णप्रेष्ठाय भूतले।
श्रीमते भक्तिसिद्धान्त–सरस्वतीति नामिन॥

श्रीवार्षभानवीदेवीदयिताय कृपाब्धये।
कृष्णसम्बन्धविज्ञान–दायिने प्रभवे नमः॥

माधुर्योज्ज्वलप्रमाढ्य–श्रीरूपानुगभक्तिद ।
श्रीगौरकरुणाशक्ति–विग्रहाय नमोऽस्तु ते॥

नमस्ते गौरवाणी श्रीमूर्त्तये दीनतारिणे।
रूपानुग–विरुद्धापसिद्धान्त–ध्वान्तहारिणे ॥

नमो ॐ विष्णुपादाय गौरप्रेष्ठ–प्रियाय च।
श्रीमद्भक्तिविवेकभारती–गोस्वामिने नमः॥

नमो गौरकिशोराय साक्षाद्वैराग्यमूर्त्तये।
विप्रलम्भरसाम्भोधे! पादाम्बुजाय ते नमः॥

नमो भक्तिविनोदाय सच्चिदानन्दनामिने।
गौरशक्तिस्वरूपाय रूपानुगवराय ते॥

गौराविर्भावभूमेस्त्वं निर्देष्टा सज्जनप्रियः।
वैष्णवसार्वभौम–श्रीजगन्नाथाय ते नमः॥

जयति विद्याभूषणो बलदेवपूर्वो हरिरतिः सूरिः।
येन गोविन्दभाष्यं गोविन्दादेशात् प्रतेने॥

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः॥

श्रीगुरु, वैष्णव आर प्रभु-भगवान्।
तिनेर शरणे हय विघ्न-विनाशन॥

सेइ आशाबन्धे मुइ करिनु स्मरण।
अनायासे हय येन वाञ्छित पूरण॥

परम करुणार्णव श्रीगुरु-वैष्णवकी अहैतुकी कृपासे इस क्षुद्रातिक्षुद्र द्वारा सङ्कल्पित वेदान्तसूत्रका द्वितीय अध्याय आत्मप्रकाश प्राप्त कर रहा है, इसका दर्शन करके मैं स्वयंको कृतार्थ अनुभव कर रहा हूँ। आशा करता हूँ कि अवशिष्टांश भी अति शीघ्र आत्म-प्रकाश प्राप्त करके मुझ जैसे अधमको सफल मनोरथ करते हुए श्रीगुरु-वैष्णवका कृपाभाजन होनेका सौभाग्य प्रदान करेगा। इस दुरूह ग्रन्थके सम्पादनके सम्पूर्ण अयोग्य होनेपर भी श्रीगुरुवैष्णवकी अहैतुकी प्रेरणा एवं करुणासे हृदयमें यह सङ्कल्प उदित हुआ और इसी करुणाको एकमात्र सम्बल मानकर इस कार्यमें आत्म-नियोग करनेमें समर्थ हुआ हूँ।

इस ग्रन्थके प्रथम अध्यायकी एक भूमिका लिखनेका यत्न किया था और प्रत्येक अध्यायके लिए ही एक भूमिका लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ। आशा है, पूजनीय कृपालु वैष्णव-वर्ग और सहृदय पाठक-वृन्द मुझ-जैसे अधम द्वारा लिखित भूमिकाको पढ़कर आनन्दकी प्राप्ति करेंगे। यदि यह सम्भव हुआ, तो इस अधमका प्रयास सार्थकता-मण्डित होगा।

'वेदान्तसूत्रम्' के प्रथम अध्यायकी भूमिकामें ग्रन्थका प्रारम्भिक परिचय दिया गया था और सुप्रतिष्ठित भाष्यकारका नाम, उनके संक्षिप्त मत एवं सिद्धान्तका भी उल्लेख किया गया था। इस प्रकार गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभुवरका साम्प्रदायिक परिचय एवं उनके श्रीगोविन्दभाष्य एवं सूक्ष्मा-टीका-रचनाका कु
वर्णित हुआ था। तत्पश्चात् प्रथम अध्यायके प्रत्येक अधिकरणका संक्षेपमें विवरण करके भूमिका समाप्त की गयी थी।

हम पहलेसे ही जानते हैं कि समग्र वेदान्तके चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्यायके चार-चार पाद हैं। इनमेंसे प्रथम एवं द्वितीय अध्यायमें सम्बन्ध-तत्त्व-ज्ञानके विषयमें वर्णन है—यह सब वर्णन पुनः

श्रुति-समन्वय एवं श्रुति अविरोध आख्यायमें आख्यात (कहा गया) है। तात्पर्य यह है कि प्रथम अध्यायमें सूत्रकार श्रीमद् वेदव्यासने समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य जो कि एकमात्र परब्रह्म श्रीहरिमें समन्वित है, इसीका प्रदर्शन किया है। इस विषयमें *'तत्तु समन्वयात्'* सूत्र आलोच्य है; पुनः द्वितीय अध्यायमें आपाततः परस्पर किसी-किसी श्रुतिका विरोध देखे जानेपर भी अविरुद्ध अर्थात् समग्र श्रुति अविरुद्ध रूपसे जिन परब्रह्ममें समन्वित है, उसका निरूपण हुआ है। इस अध्यायमें यह भी देखा जाता है कि कितने ही निरीश्वर एवं वेद विरोधी मतोंने विभिन्न आकार-प्रकारोंमें उत्थित होकर मानव-मेधाको ग्रसित करते हुए उसे विभिन्न दिशाओंमें विभ्रान्त कर दिया है एवं वेदान्त-प्रतिपाद्य प्रकृत (वास्तव) सत् सिद्धान्तको ग्रहण करनेसे पराङ्मुख (विमुख) कर दिया है। परम कृपालु श्रीमद् वेदव्यासने इन समस्त वेद-विरुद्ध मतवादोंका निराकरण किया एवं वेद-सम्मत सत्-सिद्धान्तोंकी स्थापना करके वेदान्तकी शिक्षाके प्रति जीवोंको आकृष्ट किया। जो सारग्राही एवं भाग्यवान् हैं, वे वेदान्तके सिद्धान्तमें आकृष्ट होकर फिर अवैदिक तथा असत् मतोंमें आस्था नहीं रख पायेंगे। इतना ही नहीं, दूरसे ही उसका परिवर्जन करेंगे।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ ९/१) में हम देख सकते हैं—

नानामतग्राहग्रस्तान् दाक्षिणात्यजनद्विपान्।
कृपारिणा विमुच्यैतान् गौरश्चक्रे स वैष्णवान्॥

इस श्लोकके अमृत-प्रवाह भाष्यमें श्रीलभक्तिविनोद ठाकु कहते हैं—बौद्ध-जैन-मायावाद आदि बहुत प्रकारके मतरूप कु (मगरमच्छों) द्वारा ग्रसित दक्षिणवामी गजेन्द्ररूप (हाथीरूप) मनुष्योंका श्रीगौरचन्द्रने कृपा-चक्र द्वारा उद्धार करके उन्हें वैष्णव कर दिया है।

और भी,

तार्किक मीमांसक यत मायावादीगण।
सांख्य पातञ्जल स्मृति पुराण आगम॥

निज निज शास्त्रोद्गाहे सबाइ प्रचण्ड।
सर्वमत दूषि प्रभु करे खण्ड-खण्ड॥

सर्वत्र स्थापये प्रभु वैष्णवसिद्धान्ते।
प्रभुर सिद्धान्त केह न पारे खण्डिते॥
(चै॰च॰म॰ ९/४२-४४)

अर्थात् तार्किक (गौतमीय, नैयायिक एवं कणादि वैशेषिक) मीमांसक (जैमिनीमत-स्थापक), मायावादी (शाङ्करीयमत स्थापक-अद्वैतवादी), सांख्य (कपिलमत), पातञ्जल (योगशास्त्र), स्मृति (मनु, अत्रि इत्यादि विंशति धर्मशास्त्रीय संहिता), पुराण (अष्टादश महापुराण एवं अष्टादश उपपुराण), आगम (तन्त्रशास्त्र)—लोग अपनी-अपनी युक्तियोंसे शास्त्र प्रमाण देकर प्रभुके साथ तर्क करते थे, किन्तु महाप्रभु सभी मतोंमें दोष दिखाकर उनका खण्डन करते थे। सभी स्थानोंपर श्रीमन् गौराङ्गदेव वैष्णव-सिद्धान्तोंकी स्थापना करते थे, कोई भी मतानुयायी उनके सिद्धान्तका खण्डन नहीं कर पाता था।

इस स्थलपर भी वेदान्तसूत्रकार भगवदवतार श्रीमद् कृष्ण-द्वैपायन व्यासदेवने जितने भी कु

वेदान्त-सिद्धान्तके द्वारा निरस्त करके, समस्त शास्त्रोंका जो एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है, उसकी स्थापना की है। गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभुपाद द्वारा प्रणीत श्रीगोविन्दभाष्य एवं उसकी सूक्ष्मा-टीका सहित वेदान्तसूत्रोंकी जो धीर एवं स्थिर रूपसे आलोचना करेंगे, वे अवश्य ही वेदान्त-प्रतिपाद्य एवं श्रीमन्महाप्रभु द्वारा स्थापित अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्तमें पारदर्शी हो सकेंगे। अब हम वेद-विरुद्ध कु

बात यह है कि इस जगत्में रहते हुए प्राणीमात्र दुःखकी अनुभूति करता है, जब कि दुःख प्राप्त हो—यह कोई नहीं चाहता। दुःखोंको दूर करनेकी स्वाभाविक प्रेरणा सभीमें देखी जाती है, इसी प्रेरणासे समस्त कर्म एवं ज्ञानकी चेष्टाओंका उदय होता है। दुःख दूर हो एवं सुख प्राप्त हो जाय—इसीलिए कर्मका अवलम्बन किया जाता है। जिन कार्योंसे सुख-प्राप्तिकी आशा नहीं हो सकती, उन कार्योंमें किसीकी प्रवृत्ति अथवा चेष्टा देखी भी नहीं जाती। इस प्रकारसे दुःख-परिहार एवं सुख-प्राप्तिकी लालसाको लेकर प्राणियोंमें नाना-विध

कर्मोंके प्रति चेष्टा-प्रचेष्टाएँ देखी जाती हैं। इसी क्रममें मनुष्य ज्ञानका आश्रय लेते हैं। ज्ञानकी प्रचेष्टाके मूलमें भी नाना मतोंकी अथवा नाना पथोंकी सृष्टि होती है। इस विषयमें जड़-इन्द्रियसे उत्पन्न ज्ञानके आश्रय जिन मतोंकी उत्पत्ति हुई है, वे सभी मत प्रायः अवैदिक हैं, अवैदिक ही क्यों, वेद-विरुद्ध भी हैं। मात्र भारतवर्षमें ही नहीं, पृथ्वीके विभिन्न स्थानोंमें, विभिन्न आकारोंमें विभिन्न नामोंसे दार्शनिकोंके द्वारा इन मतोंका प्रचार हुआ है। इनमेंसे कु
अनादि कालसे ही प्रचारित हैं और कु
हैं। आधुनिक मतवादोंकी आलोचनासे निवृत्त होकर जो कु
मत हैं, उन सबका भगवदवतार श्रीवेदव्यासजीने अपने वेदान्त-ग्रन्थमें निराकरण कर दिया है। इन्हीं कु
वर्णन करते हैं, इन मतोंका वेदान्तसूत्रमें किस प्रकारसे निराकरण हुआ—यह इस द्वितीय अध्यायमें देखा जा सकता है। भाष्यकार श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभुने सूत्रकारके सूत्रोंकी व्याख्या करते हुए जिस प्रकारसे अकाट्य युक्ति एवं शास्त्र-प्रमाणके साथ उन मत-मतान्तरोंका खण्डन किया है, उसकी आलोचनामें सुधी-मानवोंको (धीमानोंको) प्रवृत्त करनेके लिए ही इस भूमिकामें समस्त अवैदिक, वेद-विरुद्ध नास्तिक मतोंका संक्षिप्त-विवरण दिया जा रहा है। इनका खण्डन एवं निरस्तीकरण ग्रन्थमें यथास्थान द्रष्टव्य है।

सर्वप्रथम चार्वाक्-मतका उल्लेख करते हैं। 'चारु' अर्थात् आपाततः मनोरम हैं 'वाक्'—जिसके वाक्य (जो पृषोदरादिके समान उकार लोपसे सिद्ध है), उस व्यक्ति विशेषके मतवादको ही चार्वाक्-मत कहा जाता है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' ग्रन्थमें पाया जाता है कि बृहस्पति इस चार्वाक्-मतके प्रवर्त्तक हैं, पद्मपुराणमें उल्लेख है—बृहस्पतिने शुक्राचार्यके तपस्या-कालमें असुरोंकी वञ्चनाके लिए शुक्राचार्यका रूप धारण करके इस मतका प्रचार किया था। चार्वाक् उनके शिष्य हैं—इस मतको माननेवाले नास्तिक शिरोमणि चार्वाक्को परकालका नहीं मानते और प्रत्यक्षके अतिरिक्त कोई और प्रमाण स्वीकार भी नहीं करते—इसीलिए इनके द्वारा ईश्वर अस्वीकृत हैं, अतः ईश्वर

द्वारा मुक्ति-प्रदत्व भी इन्हें स्वीकार नहीं है। चार्वाक् मत सभीको आपाततः मनोरम लगता है, इस कारण इस मतका खण्डन करना बहुतोंके लिए दुःसाध्य है। इस मतमें कहा जाता है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कु

अर्थात् जितने दिन जिओ, उतने दिन सुखपूर्वक भोग करो। मृत्युके लिए कु
है, जिसे मृत्यु न देखे, सभीको मरना होगा। मृत्युके पश्चात् पुनः सुख-दुःखादि भोगकी कोई सम्भावना नहीं है। देहके एकबार भस्मीभूत होनेपर भी किसी भी प्रकारसे इसका पुनरागमन नहीं हो सकता।

इसी मतका और एक नाम है—'लोकायत' अर्थात् लोकमें अथवा जन-समाजमें जो आयत अर्थात् सहज ही विस्तृत (व्यापक-फैला हुआ) है।

इस मतका मन्तव्य है कि पृथ्वी आदि अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, एवं वायु—ये चार भूत ही तत्त्वस्वरूप हैं। कारण है कि आकाश प्रत्यक्ष है नहीं, अनुमान द्वारा सिद्ध होता है, अतः आकाशको तत्त्वके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता। इन चार भूतोंसे ही देह उत्पन्न होती है—सुरायाः प्रकृति भूतो वृक्ष विशेष निर्यासः—प्रकृतिभूत वृक्ष-विशेषके निर्यास एवं किण्व (मधु, शर्करा) इत्यादिमें सम्मिलित वस्तुओंकी सहायतासे सुरामें जिस प्रकार मादक शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार देहाकारमें परिणत इसी भूत-चतुष्टयसे स्वभावतः चैतन्यका उदय होता है। इन भूतोंके नष्ट होनेपर चैतन्यका भी नाश हो जाता है। अतः जाना जाता है कि चैतन्यविशिष्ट (चैतन्यसे युक्त) देह ही आत्मा है, इसके अतिरिक्त आत्माको स्वीकार करनेका कोई प्रमाण नहीं है। अतएव जिस किसी प्रकारसे जड़-जगत्का भोग करना ही उचित है। स्त्रीसङ्ग जनित सुख ही पुरुषार्थ है। यद्यपि स्त्रीके संसर्गमें दुःख होता है, तो भी उस दुःखका परिहार करके केवल सुखका उसी प्रकार भोग किया जा सकता है, जिस प्रकार मछलीके अस्थि-काँटोंका परिहार करके उसके सार भागको ग्रहण

किया जा सकता है तथा तिनका आदिका परित्याग करके धान्य ग्रहण किया जा सकता है। अतः दुःखके भयसे सुखका परित्याग करना उचित नहीं है।

इस मतमें कण्टकादि-वेध दुःख ही नरक है, लोकप्रसिद्ध राजा ही परमेश्वर है, अन्य किसी परमेश्वरका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्थूल-देहका नाश ही मुक्ति है। प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। वेद धूर्त्तोंकी जीविकाके लिए प्रलापमात्र है।

ये और भी कहते हैं—जगत्का समुदाय आकस्मिक है, इसका कोई कारण नहीं है। यदि आकस्मिक सृष्टि स्वीकार नहीं करते हो, तो जगत्का वैचित्र्य स्वभावतः ही स्वीकार करना होगा, जैसे अग्निमें उष्णता, जलमें शैत्य और वायुमें अनुष्णता एवं अशैत्य स्पर्श स्वाभाविक होते हैं।

बृहस्पतिके वाक्यमें और भी देखा जाता है—स्वर्ग नहीं है, मोक्ष भी नहीं है, आत्मा भी नहीं है, पारलौकिक कु
वर्णाश्रमादि भेदमें भी किसी क्रियाका फल (परिणाम) नहीं है।

अग्निहोत्रादि यज्ञ, तीन प्रकारके वेद, त्रिदण्ड-धारण, अङ्गमें भस्म-लेपन, यह सब बुद्धि एवं पौरुषहीन व्यक्तियोंकी जीविका विधाता द्वारा निर्मित है। यज्ञमें पशुका वध करनेसे यदि पशुका स्वर्ग गमन होता है, तो पिताकी भी यज्ञमें बलि दिये जानेपर पिताका भी स्वर्ग-गमन हो सकता है। मृत व्यक्तिके उद्देश्यसे श्राद्ध करनेपर यदि उस मृतकी तृप्ति होती है, तो कहीं जानेवालेके लिए पाथेय (मार्गका भोजन) देनेका कोई प्रयोजन नहीं है, व्यर्थ है। घरमें भोजन बनाकर उस मृत व्यक्तिके उद्देश्यसे निवेदन करनेपर पथमें स्थित व्यक्तिकी भी भोजन-सिद्धि हो सकती है; स्वर्गस्थ पिताके उद्देश्यसे यदि यहाँ दान करनेसे पिताकी तृप्ति होती है, तो आप लोग प्रासाद (महल) के ऊपर ही पिताके स्थानकी कल्पना करके दान क्यों नहीं दे देते। अतः इन पूर्वोक्त कारणोंसे जाना जा सकता है कि जो भी धर्म, अधर्म परलोक है, सब मिथ्या है। इस समय जो कु
शारीरिक पुष्टि होती हो, वही भोजन करना चाहिये, ऋण करके भी घृतका पान करना चाहिये। देहके जल जानेपर फिर यहाँ आना

नहीं होगा। धूर्त्त ब्राह्मणोंने अपनी-अपनी जीविकाके निमित्त नाना प्रकारके क्रिया-काण्डका विधान किया है। वेदके मतकी कल्पना भण्ड (भाँड़), धूर्त्त (ठग) और राक्षसों द्वारा की गयी है। चार्वाक्‌ने जिस प्रकारके मतका प्रचार किया है, उस मतका अवलम्बन करनेवाले व्यक्ति उसे ही श्रेष्ठ मानते हैं। आधुनिक कालमें भी जो इस प्रकारके मतका पोषण करते हैं, वे नास्तिक हैं—इस विषयमें सन्देह क्या है? पृथ्वीके विभिन्न स्थानोंपर इस मतका प्रचार हुआ है और इससे लोग नास्तिक बने हैं। परमकृपालु श्रीमद्‌व्यासदेवने जीवोंके कल्याणके लिए वेदान्तसूत्रके द्वारा इस मतका निराकरण किया है, यह वहीं देखना चाहिये।

वेदान्तसूत्रकार भगवदवतार श्रीमद् व्यासदेवने बौद्धमतको भी निरस्त कर दिया है। गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभुने इन समस्त सूत्रोंकी व्याख्यामें स्वरचित श्रीगोविन्दभाष्य और उसकी सूक्ष्मा-टीकामें युक्ति एवं प्रमाणके साथ पूर्वोक्त मतवादका निराकरण किया है—मनीषी व्यक्तियोंको इस सबका प्रणिधान (प्रतिज्ञा) के साथ आलोचना करनी चाहिये। आजकल बहुत-से मनीषी व्यक्ति बौद्ध-मतको युगोपयोगी मानते हैं। अनेक व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो श्रीशङ्कर द्वारा खण्डित किये गये बौद्ध-मतको श्रीशङ्करके मतके अनुरूप स्थापित करनेका और आस्तिक्यवादमें परिणत करनेका प्रयास करते हैं। इस विषयपर अधिक आलोचनासे निवृत्त होकर बौद्ध-मतके सम्बन्धमें संक्षिप्त रूपसे वर्णन कर रहा हूँ।

श्रीसायनमाधव द्वारा रचित सर्वदर्शनसंग्रह ग्रन्थमें देखा जाता है कि बौद्ध पण्डित चार-प्रकारकी भावनासे परमपुरुषार्थका वर्णन करते हैं। जो माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक नामसे प्रसिद्ध हैं। माध्यमिक मतमें सर्वशून्यत्व (सब कु
ही अपने आपमें स्थित है), योगाचार-मतमें बाह्यशून्यत्व (बुद्धि ही आकारके साथ है, बाह्य पदार्थ शून्य है, बुद्धिमें ही बाह्यार्थ चले आते हैं—भेदभाव नहीं), सौत्रान्तिक मतमें बाह्यार्थानुमेयत्व (बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहणीय नहीं, अनुमेय है) एवं वैभाषिक-मतमें बाह्य पदार्थ प्रत्यक्षवादमें अवस्थित है (अर्थ ज्ञानसे युक्त प्रत्यक्षगम्य है)।

इसका विशेष विवरण वेदान्तसूत्र ग्रन्थमें यथास्थान विवृत है। यद्यपि बुद्ध एक ही बोधयिता (समझानेवाले) थे, किन्तु समझनेवाले पात्रोंके बुद्धि-भेदके कारण चार शिष्य-सम्प्रदाय बन गये। उदाहरणार्थ 'सूर्य अस्त हो गया' कहनेसे जार (उपपति), चोर, श्रोत्रिय ब्राह्मण (अनूचान, वेदपाठी) अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार इष्ट-साधनका समय मान लेते हैं और क्रमशः अभिसरण (प्रेयसी-मिलनके लिए सङ्केत-स्थलपर गमन), परधन-हरण और सदाचरण—इस प्रकार अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी प्रकार बुद्धके एक होनेपर भी बोद्धव्य विषयको चार प्रकारसे जानना होगा। बौद्ध-मतके भावना-चतुष्टयमें उपदिष्ट विषयमें समस्त पदार्थ ही क्षणिक, दुःखमय, स्वलक्षणाक्रान्त (समस्तका लक्षण अपने आपमें हैं) तथा समस्त ही आंशिक एवं सार्वथिक (सर्वथा) शून्य है—सब कु

सभीके लिए संसार दुःखकर है, यही सर्वसम्मत विचार है; अन्यथा संसार निवृत्तिके लिए उस विषयमें समुत्सकोंकी उपाय-अवलम्बनमें अनुपपत्ति होती है।

इस बौद्ध-मतमें पञ्च-स्कन्ध (पाँच प्रकारके अमूर्त्त तत्त्व) का विचार सन्निहित है; यथा—रूप-स्कन्ध, विज्ञान-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध और संस्कार-स्कन्ध। जिसके द्वारा विषयको ग्रहण किया जाता है, इसलिए सविषयक इन्द्रियोंको रूप-स्कन्ध कहते हैं, इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—जिससे विषयका निरूपण होता है, वह है इन्द्रिय और जो निरूपित होता है, वह है विषय। विज्ञान-स्कन्ध आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान इत्यादिका प्रवाह है—केवल यही स्कन्ध चित्त है, अन्य चैत या चित्तके विकार हैं। पूर्वोक्त स्थान-द्वय (दोनों स्कन्धोंसे उत्पन्न) सुख-दुःखादि प्रत्ययों (प्रतीतियों) का प्रवाह (परम्परा) वेदना-स्कन्ध है और गौ इत्यादि शब्दोंका उल्लेख करनेवाले सविज्ञान (ज्ञान) का प्रवाह संज्ञा-स्कन्ध है। अन्ततः वेदना-स्कन्धपर आधारित राग-द्वेषादि क्लेश, उपक्लेश (आत्म-कष्ट) मद-मानादि एवं धर्म-अधर्मको संस्कार-स्कन्ध कहते हैं।

संसार दुःखमय, दुःखायतन और दुःखका साधन है—इस भावनासे अनुप्राणित होकर संसार-निवृत्तिके उपाय-स्वरूप तत्त्वज्ञानके साधनमें

यत्न करना चाहिये। बुद्ध मुनिके मतमें सारे ही तत्त्व संसार-दुःखके निरोधके मार्ग हैं। तत्त्व-ज्ञान होनेपर मुक्ति होती है। किसी-किसीके मतमें बौद्ध सम्प्रदायमें कथित बारह आयतनोंकी पूजा ही परम-मङ्गलकर है। अन्यान्य देवी-देवताओंकी पूजाका कोई फल नहीं है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय (चर्म, चक्षु, कर्ण, रसना एवं नासिका), पाँच कर्मेन्द्रिय (हस्त, पाद, वाक्, पायु, उपस्थ) तथा मन और बुद्धि—इन बारहको द्वादश आयतन कहा जाता है। इन इन्द्रियोंको सन्तुष्ट (तृप्त) करना मनुष्यका कर्त्तव्य है—ऐसा बौद्ध पण्डित मानते हैं।

'विवेक विलास' ग्रन्थमें बौद्ध-मतकी इस प्रकार अवधारणा है कि सुगत ही बौद्धोंके परम देवता हैं। विश्व क्षणभङ्गुर अर्थात् अनित्य है। इनके मतमें दुःख, आयतन, समुदय एवं मार्ग—ये ही तत्त्व-चतुष्टय हैं। संसारियोंका दुःख स्कन्ध है, यह पाँच प्रकारका है—रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार—यह पहले भी बताया जा चुका है। ज्ञानकी पाँच इन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच विषय, मन एवं धर्मका आयतन (निवास-स्थान अर्थात् बुद्धि) ये बारह आयतन हैं। ज्ञानको समुदय-तत्त्व कहा जाता है (जिससे रागादि समूह मनुष्यके हृदयमें उत्पन्न होता है, आत्माके अपने स्वभावके नामसे जो विद्यमान है, वही समुदय है), सभी प्रकारके संस्कार क्षणिक हैं, इस प्रकारकी जो स्थिर वासना है—इसे ही मार्ग समझें। यह मार्ग ही मोक्ष है अर्थात् जो ज्ञानको दृढ़ कर सकता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है। इस बौद्ध-मतमें निर्वाण ही मोक्ष है।

इस मतमें दो प्रमाण कहे जाते हैं—प्रत्यक्ष एवं अनुमान। जब कि वैभाषिकगण चातुः प्रस्थानिक हैं, चार प्रकारके प्रमाण स्वीकार करते हैं। जो योगाचारमें रत हैं, वे आकारके साथ बुद्धिको स्वीकार करते हैं, जो मध्यम (माध्यमिक) हैं, वे सचेतन सूक्ष्म पदार्थमात्रको स्वीकार करते हैं अर्थात् ज्ञानमात्रको ही अपनेमें स्थित मानते हैं। चारों प्रकारके बौद्ध मानते हैं कि ज्ञान-प्रवाह (ज्ञान-परम्परा) रूप वासनाका उच्छेद होनेपर मुक्ति होती है।

बौद्ध भिक्षुकगण चर्म, कमण्डल धारण करते हैं। ये मस्तकका मुण्डन करते हैं। चीर वस्त्र पहनकर पूर्वाह्नमें (एक बार) भोजन करते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ ९/४७-५०) में देखा जाता है—

बौद्धाचार्य महापण्डित विजन वनेते।
प्रभुर आगे उद्ग्राह करि लागेला बलिते॥

यद्यपि असम्भाष्य बौद्ध अयुक्त देखिते।
तथापि बलिला प्रभु गर्व खण्डाइते॥

तर्क प्रधान बौद्धशास्त्र नव मते।
तर्कइ खण्डिल प्रभु, ना पारे स्थापिते॥

बौद्धाचार्य 'नव प्रश्न' सब उठाइल।
दृढ़ युक्ति-तर्के प्रभु खण्ड-खण्ड कैल॥

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुके पाण्डित्यको सुनकर पाखण्डी बौद्धाचार्य महापण्डित (जनशून्य स्थानपर महापण्डित) अपने शिष्योंको साथ लेकर प्रभुके पास आये और वह पाखण्डी (वेद, स्मृति, दर्शन, पुराण और आगम इत्यादि शास्त्र-बहिर्भूत मतवादी) अपने नवीन मतानुसार शास्त्र-संस्थापनके लिए तर्क करने लगा। यद्यपि बौद्ध वेद-विरुद्ध भक्ति-बहिर्मुख होनेके कारण सम्भाषण योग्य नहीं हैं, न ही देखने योग्य हैं, तथापि श्रीमन्महाप्रभुने उसका गर्व खण्डन करनेके लिए उसके साथ सम्भाषण करने लगे। बौद्ध-शास्त्रका नवीन मत शास्त्र-सम्मत नहीं, तर्क-प्रधान था। महाप्रभुने तर्कसे ही उसके मतका खण्डन किया, इसके बाद फिर वह अपने मतको स्थापित न कर सका। बौद्धाचार्यने नये-नये तर्क प्रस्तुत किये और नये-नये प्रश्न उठाये, किन्तु श्रीमन्महाप्रभुने अपनी सुदृढ़ युक्तियोंसे उन सबका खण्डन कर दिया।

बौद्ध-मतमें 'हीनायन' और 'महायन'—ये दो प्रकारके पन्थ हैं। इस पन्थपर चलनेवालोंके प्रस्थान-स्वरूप नौ सिद्धान्त हैं—(१) विश्व अनादि है, अतएव ईश्वर रहित है, (२) जगत् असत्य है, (३) अहं तत्त्व है, (४) जन्म-जन्मान्तर और परलोक वास्तव हैं, (५) बुद्ध ही तत्त्व प्राप्तिके उपाय हैं, (६) निर्वाण ही परम तत्त्व है, (७) बौद्ध दर्शन ही दर्शन है, (८) वेद मानव-रचित है, (९) दयादि सद्-धर्माचरण ही बौद्ध जीवन है।

गौतम बुद्धका स्वरचित कोई ग्रन्थ नहीं है। परवर्ती-कालमें उनके शिष्य-प्रशिष्योंने बुद्धके उपदेशोंको पालि भाषामें लिपिबद्ध कर दिया, जो सूत्रपिटक, विनय-पिटक और अभिधर्मपिटक नामसे तीन भागोंमें विभक्त है। इन समस्त ग्रन्थोंका आश्रय करके 'हीनयान' बौद्धमत उत्पन्न हुआ है। परवर्तीकालमें बौद्ध-ग्रन्थोंसे संस्कृत भाषामें रचित महायान मत प्रचलित हुआ। इस महायानिक बौद्ध-दर्शनके साथ शाङ्कर-सम्प्रदायके मायावादका ऐक्य है।

इस स्थलपर और एक विषय विचारणीय है कि जो बुद्ध विष्णुके अवतार कहे जाते हैं, वे गौतम बुद्ध अथवा शाक्यसिंह बुद्ध नहीं हैं। श्रील जयदेव गोस्वामी प्रभुने दशावतार स्तोत्रमें जिनके विषयमें लिखा है, वे भगवदवतार बुद्ध हैं। जब कि शाक्यसिंह बुद्ध एक अतिशय ज्ञानी व्यक्ति-विशेष हैं। ये ऐतिहासिक बुद्ध हैं। साधारणतः लोग बुद्ध कहनेपर एकको ही समझते हैं। स्वल्प शब्दोंमें समझ सकते हैं कि दोनों एक व्यक्ति नहीं हैं—यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

श्रीमद्भागवतमें भगवदवतार श्रीबुद्धदेवके विषयमें देखा जाता है—

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥

(श्रीमद्भा॰ १/३/२४)

इस श्लोकमें बुद्धके जन्मस्थान कीकट अर्थात् गया-प्रदेशके विषयमें बतलाया गया है। वे अजिन अर्थात् अञ्जनसुत हैं। पूज्यपाद श्रीधरस्वामीने इस श्लोककी टीकामें कहा है—*'बुद्धावतारमाह तत इति। अञ्जनस्य सुतः। अजिन सुत इति पाठे अजिनोऽपि स एव। कीकटेषु मध्ये गयाप्रदेशे।'* इस विषयमें विष्णुपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण और स्कन्दपुराणमें भी थोड़ा-बहुत वर्णन पाया जाता है। अमरकोष (एक सुप्राचीन ग्रन्थ, जिसके रचयिता मायावादी (शून्यवादी) बौद्ध अमरसिंह हैं—ध्यान रहे कि अमरसिंहका आविर्भाव काल आचार्य शङ्करके आविर्भावसे न्यूनाधिक १५० वर्ष पहले होनेका अनुमान किया जाता है) के प्रथम अध्यायमें एवं बौद्ध-साहित्य ललित-विस्तार ग्रन्थ (१२/३३) में उल्लेख है कि पूर्व बुद्धके स्थानपर गौतम बुद्धने तपस्या की थी।

दूसरे बुद्धके पिताका नाम शुद्धोदन और माताका नाम मायादेवी है, जन्मस्थान कपिलवास्तु नगर है। ये गौतम नामसे प्रसिद्ध हैं। परवर्ती-कालमें बोधिसत्ताकी प्राप्तिके बाद वे बुद्ध नामसे परिचित हुए। किसी भी प्रकारसे भगवदवतार बुद्धके साथ मनुष्य बुद्धको एक नहीं किया जा सकता। नृसिंहपुराण (३६/२९) में भी है—*'कलौ प्राप्ते—यथा बुद्धो भवेन्नारायणः प्रभुः।'*

कलिके परमायु-विचारसे भी इनका आविर्भाव काल ५००० वर्ष पूर्व कहना होगा।

इनकी जन्म-तिथिके सम्बन्धमें निर्णय-सिन्धु द्वितीय परिच्छेदमें कहा गया है—ज्येष्ठ शुक्ल द्वितीयायां बुद्ध-जन्म भविष्यति अर्थात् ज्येष्ठमासके शुक्ल पक्षकी द्वितीया तिथिमें बुद्धदेवका जन्म होगा।

शाक्यसिंह बुद्धका जन्म ईसासे प्रायः ५०० वर्ष (मैक्समूलरके मतसे ४७७) पूर्व हुआ था। अतः किसी भी मतसे दोनों बुद्धोंको एक नहीं कहा जा सकता। यहाँ इस विषयमें और अधिक कहना मैं निष्प्रयोजन समझता हूँ।

इस समय यहाँ और एक पूर्वपक्ष हो सकता है कि जो भगवान् बुद्ध हैं, वे किस प्रकारसे श्रुति-कथित यज्ञविधियोंकी निन्दा कर सकते हैं? इसके उत्तरमें वक्तव्य यह है कि श्रीमद्भागवतके पूर्वोक्त श्लोकमें कहा गया है—*'सुरद्विषाम् संमोहाय'* अर्थात् देव-विद्वेषी अधार्मिक तामसिक लोगोंके सम्मोहनके लिए ही श्रीभगवान् बुद्धकी इस प्रकारकी असुर-मोहन लीला है। इस प्रसङ्गमें प्रस्तुत ग्रन्थमें आलोच्य विषय यथा स्थानपर द्रष्टव्य है। श्रीमद्भागवत (१०/४०/२२) में है—*'नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्य-दानव-मोहिने।'*

बौद्ध-मतके समान जैन-मतका खण्डन भी वेदान्तके इस द्वितीय अध्यायमें पाया जाता है—चार्वाक्-दर्शनमें जिस प्रकार भोगवादकी स्थापनाके लिए नाना प्रकारसे तर्क विद्या, अथवा हेतुवादका आश्रय लिया जाता है, जैन-दर्शनमें ठीक इसके विपरीत शुद्ध-वैराग्य एवं नीतिवादके द्वारा स्थविरत्वरूप मुक्तिवादकी स्थापनाके लिए नाना प्रकारके हेतुवादको ग्रहण किया जाता है। बहुत लोग सोचते हैं कि जैनधर्म और बौद्धधर्म समसामयिक हैं।

श्रीसायनमाधव कृत 'सर्वदर्शनसंग्रह' ग्रन्थमें आर्हत दर्शनके उपक्रममें कहा गया है कि मुक्तकच्छ (धोतीके अगले भागके कच्छ अर्थात् छोरको खुला रखनेवाले) बौद्धोंके मतको सहन नहीं कर पानेवाले वस्त्रहीन जैन (माधवाचार्य बौद्धों एवं जैनोंके लिए व्यङ्ग करते हैं कि बौद्धलोग कच्छ नहीं बाँधते और जैन उनके भी चाचा है कि वे वस्त्र ही नहीं पहनते) शिष्यगण आत्माके स्थायित्वको स्वीकार करके उसकी स्थापनाके लिए क्षणिकत्व-पक्षका खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि यदि आत्माका स्वरूप स्थायी नहीं होता, तो लौकिक एवं पारलौकिक दोनोंकी फल-प्राप्तिके साधनों (व्रत, उपवास, दान, पुष्पादि) का सम्पादन व्यर्थ होता है। यह सम्भव नहीं हो सकता कि एक व्यक्ति कार्य करे और अन्य व्यक्ति उसका फल भोगे। मैं, जिसने पहले कार्य किया था, वही मैं इस समय उसका फल भोग रहा हूँ। इस प्रकार स्पष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाणसे ज्ञात होता है कि पूर्व (पहले) और अपर (बादमें) कालमें होनेवाला कार्य अथवा भाव स्थायी (अक्षणिक) है, क्षणिक नहीं है।

जो धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-रूप पुरुषार्थ-चतुष्टयके अभिलाषी हैं, उन्हें बुद्ध-मत (बुद्ध-पद्धति) को स्वीकार नहीं करना चाहिये, उन्हें आर्हत अर्थात् जैन मतका अनुसरण करना चाहिये। हेमचन्द्र सूरि इत्यादि व्यक्तियोंने अपने 'आप्तनिश्चयालङ्कार' ग्रन्थमें इस आर्हत मतको निःशङ्क रूपसे स्वीकार किया है। वे कहते हैं—आर्हत देव सर्वज्ञ हैं, उन्होंने रागादिको जीत लिया है। वे तीनों लोकोंमें पूज्य हैं, यथार्थ स्थितार्थवादी हैं (अर्थात् वस्तुएँ जैसी है, उन्हें वैसी ही कहते हैं)। वे साक्षात् परमेश्वर हैं। अर्हतके प्रवचन-संग्रह-स्वरूप 'परमागमसागर' नामक ग्रन्थमें देखा जाता है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र—ये तीन साक्षात् मोक्षके मार्ग हैं। इस दर्शनमें दूसरा रूप भी देखा जाता है—'जिन' ने जिन तत्त्वोंका निर्देश किया है, उन तत्त्वोंमें सम्यक् रूपेण रुचि होना श्रद्धान (दर्शन) है। श्रद्धान दो उपायोंसे समुद्भूत (उत्पन्न) होता है—निसर्ग (स्वभाव) से या गुरुके अधिगम (शिक्षा) से। इनमें दूसरोंके उपदेशकी अपेक्षा न रखनेवाले आत्मस्वरूप (स्वभाव) को निसर्ग कहा जाता है और व्याख्यान

आदिके रूपमें दूसरोंके उपदेशसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानका नाम अधिगम है; जिस स्वभाव द्वारा जीवआदि पदार्थ अवस्थित हैं, वही स्वभाव कहा जाता है। जीवादि मोह (भ्रम) तथा संशयरहित होनेपर जो अधिगम (बोध) प्राप्त होता है, उसका नाम सम्यग् ज्ञान है।

संक्षेपमें जीव एवं अजीव नामके दो प्रकारके तत्त्व हैं। उनमें बोधात्मक (ज्ञानके रूपमें) जीव है और अबोधात्मक (अज्ञानके रूपमें) अजीव है।

कोई-कोई कहते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर एवं मोक्ष—ये सात तत्त्व हैं।

जैनगण सर्वत्र सप्तभङ्गी न्यायकी अवतारणा करते हैं यथा—'स्यादस्ति' अर्थात् किसी प्रकारसे है 'स्यान्नास्ति' अर्थात् किसी प्रकार नहीं है, 'स्यादस्ति च नास्ति च' अर्थात् किसी प्रकार है और नहीं है 'स्यादस्ति चावक्तव्यः' अर्थात् किसी प्रकार है, किन्तु वर्णन नहीं किया जा सकता 'स्यादवक्तव्यः' किसी प्रकार अवर्णनीय है 'स्यादस्ति चावक्तव्यः' अर्थात् किसी प्रकार है किन्तु वर्णन नहीं किया जा सकता, 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः'—अर्थात् किसी प्रकार नहीं है और वर्णन भी नहीं किया जा सकता 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः' अर्थात् किसी प्रकार है और नहीं भी है इसका वर्णन नहीं किया जाता।

जिन देव ही गुरु हैं और सम्यक् तत्त्वज्ञानके उपदेष्टा हैं, वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं अपवर्गके प्रकाशक हैं। 'स्याद्वाद' के सिद्धान्तमें दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष एवं अनुमान। समुदाय वस्तु ही नित्यानित्यात्मक है (सभी वस्तुएँ ही नित्य एवं अनित्यके रूपमें है—अनुमान) तत्त्व नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जर एवं मुक्ति।

आत्मा अनन्त-चतुष्क (ज्ञान, दर्शन, वीर्य एवं सुख) प्राप्त करके आठ प्रकारके कर्मोंके (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र एवं अन्तराय—इन अष्टविध कर्मोंके कारण व्यक्ति बन्धनमें पड़ता है) क्षयके बाद मुक्ति प्राप्त करता है। जिनके मतमें यह निर्व्यावृत्ति है अर्थात् इस प्रकार मुक्ति प्राप्त होनेपर फिरसे संसारमें आना नहीं पड़ता।

जैन साधु भिक्षाके द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं, मस्तक मुँडा लेते हैं (अर्थात् अपने केशोंको उखाड़ फेंकते हैं), श्वेतवस्त्र धारण करते हैं क्षमाशील होते हैं तथा सर्वथा निर्लिप्त अर्थात् आसक्ति रहित होते हैं।

एक दूसरे प्रकारके भी जैन साधु हैं, वे भी मुण्डित मस्तक (केश उखाड़े हुए), मोरके पंखका झाड़न हाथमें लिये हुए, हाथोंको ही पात्र माननेवाले (करपात्री) एवं दिगम्बर हैं, वे दाताके घरमें भी भोजन नहीं करते।

जैन ईश्वर एवं वेदको नहीं मानते। उनका मानना है कि सर्वग (सर्वव्यापी), नित्य, स्ववश (स्वतन्त्र), बुद्धिमान, जगत्-कर्त्ता, पुरुष-विशेष अथवा ईश्वर कहकर कु
तीर्थङ्करगण ही सर्वज्ञ हैं। श्रीविष्णुपुराणमें पाया जाता है कि भगवान् श्रीविष्णुकी देहसे मायामोह नामक व्यक्तिने उत्पन्न होकर-असुरोंको अर्हत (जैन) धर्म और पश्चात् दूसरे असुरोंको अहिंसापर (बौद्ध) धर्मकी शिक्षा दी थी।

कोई-कोई कहते हैं कि भगवदवतार श्रीऋषभदेवके मतानुयायिनोंने जैन अथवा अर्हत धर्मका प्रचार किया था—अतः इसकी प्रामाणिकता है। इसके उत्तरमें कहा जाता है कि श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीऋषभदेव श्रीविष्णुके अंशावतार हैं, इनके एक सौ पुत्रोंमें भरत ज्येष्ठ हैं। उनके परवर्ती नौ जन नौ भूखण्डके अधिपति थे, इसके अतिरिक्त नौ जन महाभागवत कवि, हवि, अन्तरीक्ष इत्यादि नवयोगीन्द्र नामसे प्रसिद्ध थे। श्रीऋषभदेवकी परमहंस लीलाका धर्म न जाननेके कारण कोङ्क, वेङ्कट एवं कु
प्रवर्त्तन करने लगे। श्रीमद्भागवत (५/६/९) में पाया जाता है, *'यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्कट-कु*
उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकु
पाखण्डमसमञ्जसं निज-मनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते।'

अर्थात् हे राजन्! ऋषभदेवजीके आश्रमातीत पारमहंस्य लीलाको सुनकर कोङ्क, वेङ्कट और कु
ग्रहण करेगा और लोगोंके पूर्वसञ्चित पापफलसे कलियुगमें अधर्म

प्रबल होनेपर वह मन्दमति राजा अर्हत विमूढ़ होकर निर्भयतापूर्वक स्वधर्मका परित्याग करके अपनी बुद्धिसे अनुचित एवं वेदविरुद्ध जैनादि पाखण्डधर्मरूप अपमार्ग (कु
हो तो श्रीमद्भागवतके पञ्चम-स्कन्धका छठा अध्याय आलोच्य है। ऋषभदेवकी सम्पूर्ण गाथा जाननेके लिए भागवतके पञ्चम-स्कन्धके तीसरेसे छठे अध्याय तक देखे जाने चाहिये।

वेदान्तके द्वितीय अध्यायमें सूत्रकारने जैनसखा मायावादीके मतको भी निरस्त किया है। इस मतके सम्बन्धमें भी किञ्चित् आलोचना प्रयोजनीय है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ॰ ७/२९-३०) में है—

मायावादी, कर्मनिष्ठ, कु
निन्दक, पाषण्डी, यत पड़ुया अधम॥

सेइ सब महादक्ष धाञा पलाइल।
सेइ वन्या ता-सबारे छुँइते नारिल॥

अर्थात् मायावादी, कर्मानिष्ठ, कु
जितने अधम विद्यार्थी थे, वे सब महानिपुण (व्यंग्य) भाग गये। प्रभुकी बाढ़ उन सबको छूनेमें असमर्थ रह गयी।

इस स्थलपर हमारे श्रीश्रील प्रभुपादने अपने अनुभाष्यमें मायावादी शब्दके लिए उल्लेख किया है कि मायातीत भगवत्तामें, भगवत्-धाममें, भगवत्-भक्तिमें और भक्तमें माया विद्यमान है—इस प्रकारके भ्रान्तविश्वासी व्यक्ति ही मायावादी है।

श्रीलभक्तिविनोदठाकु
मायावादी-प्रकाशानन्द आदि संन्यासिगण समस्त सद्विषयोंके बारेमें 'माया' का नाम लेकर वाद उठाते रहते हैं। 'ब्रह्म' को 'मायाके अतीत' कहकर 'ईश्वर' को 'माया-सङ्गी' बताते हैं एवं ईश्वरके अवतार-देहोंको 'मायिक' कहते हैं। उनका कहना है कि जीवोंके गठन (बनावट) में मायाका कार्य है अर्थात् जीवोंमें सर्वप्रकारकी अहं बुद्धि मायाके द्वारा निर्मित है। अतः जीवके मुक्त होनेपर 'शुद्धजीव' नामक और कोई अवस्था नहीं है—वे इस प्रकारका सिद्धान्त करते

हैं, अर्थात् मुक्त हो जानेपर जीवका ब्रह्मके साथ अभेद हो जाता है—इस प्रकारकी शिक्षा देते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमहाप्रभुने श्रीसार्वभौमसे कहा था—

'मायाधीश' 'मायावश'—ईश्वरे-जीवे भेद।
हेन जीवे ईश्वर-सह कहत अभेद॥

गीता शास्त्रे जीवरूप 'शक्ति' करि माने।
हेन जीवे भेद कर ईश्वरेर सने॥

× × ×

वेद ना मानिया बौद्ध हय त नास्तिक।
वेदाश्रये नास्तिक्य—वाद बौद्धके अधिक॥

जीवेर निस्तार लागि सूत्र कैल व्यास।
मायावादी भाष्य सुनिले हय-सर्वनाश॥

(चै॰च॰म॰ ६/१६२-१६३)

हमारे परमाराध्यतम श्रीलप्रभुपादने अपने भाष्यमें कहा है—वेदाश्रयी नास्तिक्यवाद—केवलाद्वैतवाद; वेदका त्याग करके शाक्यसिंहने वैदिक कर्मानुष्ठानके हाथसे परित्राण पाया और नैष्कर्म्यकी स्थापना की (ये लोग शून्यवादी होकर रहते हैं—वैदिक कर्मादिका अनुष्ठान नहीं करते) इनके मतमें परलोकमें सच्चिदानन्दसे रहित विग्रह विराजमान है। और ये जो मायावादी, वेदको मुखमें ग्रहण करके अथवा उन्हें मानकर निज भोगपरायण अज्ञान वाच्य वैदिक कर्मके अनुष्ठान-फलस्वरूप कर्मके हाथसे परित्राण प्राप्त कर लिया ऐसा मानते हैं और नैष्कर्म्यकी स्थापना करते हैं (ये मायावादी वेदका आश्रय करके नास्तिक हैं, वैदिक कर्म-त्यागके कारण शून्यवादी हैं—बौद्ध शाक्यसिंह वेद-विधिको नहीं मानते, उसे वैदिक आर्यगण नास्तिक कहकर उसकी निन्दा करते हैं, किन्तु मायावादी वेदको आश्रय करके जिस नास्तिक्यवादका प्रकाश करते हैं, वह बौद्धवादकी अपेक्षा और भी निन्दनीय है क्योंकि स्पष्ट शत्रुकी अपेक्षा मित्र रूपमें समागत प्रच्छन्न शत्रु अति भयङ्कर है।) इनके मतमें परलोकमें सच्चिदानन्द विग्रह निर्बोध (बोध ज्ञान शून्य) अर्थात् निर्विशेष केवल चिन्मात्र रूपमें विराजमान है।

अज्ञान-स्थित मुमुक्षु (मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले) ज्ञानवादी सच्चिदानन्द ज्ञानको 'खण्ड ज्ञान' अथवा अज्ञानका प्रतिफलन—इस रूपमें विवेचना करके उस सम्बन्धमें किसी सम्वित् (ज्ञान) वृत्तिके अनुशीलनको अपने अज्ञानके प्रकार भेदमात्र रूपमें मानकर (अर्थात् ब्रह्म अज्ञानाच्छादित होकर ईश्वर हो गया है और उसकी लीला निज-भोगतात्पर्यमय है—ऐसा मानकर) भगवत्-सेवासे निरस्त हो जाते हैं। इसीलिए शुद्ध सच्चिदानन्दकी अनुभूति अज्ञान विग्रह (अज्ञान-मूर्त्ति) ज्ञानवादियोंका अधिगम्य विषय नहीं है क्योंकि उनके सिद्धान्तमें निःशक्तिक ब्रह्म जड़मय है अर्थात् 'ज्ञान', 'ज्ञेय' और 'ज्ञाता'—इस अवस्था-त्रयसे रहित है और जड़ाभिमान ग्रस्त होनेके कारण उनके लिए सच्चिदानन्द चिन्मय ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता धर्म-विशिष्ट भी नहीं है। वस्तुतः उनकी यह उक्ति अज्ञानावस्था-विशेषमात्र है। इस प्रकार मायावादियोंकी प्रकृत-वस्तु-ज्ञानमें (यथार्थ-वस्तु-ज्ञानमें) अनस्तित्व-बुद्धि है, उनकी उस वस्तुमें कोई आस्था ही नहीं है।

श्रील भक्तिविनोद ठाकु

व्यासजीके वेदान्तसूत्रमें शुद्ध भक्तिवाद है। मायावादी कृत वेदान्तसूत्रके भाष्यमें परब्रह्मका चिन्मय विग्रह अस्वीकृत है, यह शुद्ध भक्तितत्त्वके अत्यन्त विरुद्ध है। अतः मायावादीका भाष्य सुननेपर जीवका सर्वनाश होता है, क्योंकि ब्रह्मके साथ अभेद-वाञ्छा (मैं ब्रह्म ही हूँ) रूप दुराशा द्वारा प्रदत्त अभिमानसे शुद्धभक्ति नष्ट होती है और वास्तवमें ईश्वरको मानना नहीं होता है।

श्रीशङ्कराचार्य द्वारा प्रवर्त्तित मतवाद ही केवलाद्वैतवाद, विवर्त्तवाद, मायावाद, अनिर्वाच्यवाद और निर्विशेषवाद इत्यादि विभिन्न नामोंसे प्रचलित है।

मायावादियोंके मतमें निर्विशेष ब्रह्म मायाके आश्रयमें जीव और जगत्-रूपमें प्रकाशित होता है। मायामय ब्रह्म अथवा ईश्वर ही जगत्-सृष्टिका निमित्त कारण है और निर्गुण ब्रह्म जगत्का उपादान कारण है। वे कहते हैं कि दो सूतोंको लपेटकर जिस प्रकारसे रस्सी निर्मित होती है, उसी प्रकार माया और ब्रह्म दो सूतोंके समान मिलित होकर जगत्की सृष्टि करते हैं अर्थात् मायासे मिलित होकर ब्रह्म ही जगत्का कारण है।

ब्रह्मसूत्रके शाङ्कर-भाष्य अथवा मायावाद भाष्यको ही अधिकांश व्यक्ति गतानुगतिक धारणा (अन्धानुकरण) के वशीभूत होकर वेदान्त-मत कहकर विवेचना करते हैं किन्तु श्रीशङ्करके मायावाद भाष्यमें कु

श्रौत-सिद्धान्त नहीं है। श्रीशङ्करने मूलतः बौद्ध-मतका ही आश्रय करके ब्रह्मसूत्रके भाष्यकी रचना की है। इसी बातका श्रीमन्महाप्रभुने अपने पार्षदोंमें तार-स्वरसे प्रचार किया था। तत्त्वानुसन्धानके इच्छुक व्यक्ति श्रीमहाप्रभुकी लीलामें श्रीप्रकाशानन्द एवं श्रीसार्वभौम उद्धार प्रसङ्गकी आलोचना करके सविशेष जान सकते हैं। श्रीलजीवगोस्वामीपाद द्वारा रचित 'सर्वसंवादिनी' और 'षट्सन्दर्भ' की समालोचनाके द्वारा भी इस विषयको जाना जा सकता है। इतना ही नहीं, आधुनिक अनेक गवेषकों ने भी उपलब्धिकी है कि श्रीशङ्करका मायावाद भाष्य अत्यन्त कष्ट-कल्पना करके ही स्थापित हुआ है और उसमें श्रुति-विरोध ही परिलक्षित हो रहा है।

केवल श्रीमन्मध्वाचार्य, श्रीचैतन्यदेव, श्रीसनातन, श्रीरूप, श्रीजीव प्रमुख गोस्वामीवृन्दने ही मायावादको 'प्रच्छन्न बौद्धवाद' नहीं कहा अपितु वेदान्त-भाष्यकार भास्कराचार्य जो कि वैष्णव-धर्मके प्रचारक नहीं थे, उन्होंने भी अपने भाष्यमें—शाङ्कर-मतको एकाधिक बार प्रच्छन्न अथवा प्रकाश्य महायानिक 'बौद्धवाद' कहा है। उन्होंने अपने भाष्यमें एक स्थानपर कहा है, *'तथाच वाक्यं परिणामस्तु स्याद् दध्यादि वदिति विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिक-बौद्ध-गाथायितं मायावादं वर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति।'* (ब्रह्मसूत्रभाष्यम् श्रीभास्कराचार्य विरचितं सं॰ १९१५ में चौखम्भा संस्कृत बुकडिपो द्वारा प्रकाशित ८५में)

अर्थात् (मायावादी शङ्कर) घृणित मूलहीन (साररहित) महायानिक बौद्ध गाथाओंको ही (अपने मतके रूपमें) मायावादके नामसे प्रचारकर लोगोंको विशेष रूपसे मोहित कर रहे हैं। अन्यत्र भी कहा है—

'ये तु बौद्धमतावलम्बिनो मायावादिनस्तेऽपि अनेन न्यायेन सूत्रकारेणैव निरस्ता वेदितव्याः।' (वही पृष्ठ १२४) मात्र भास्कराचार्यने ही नहीं, भिन्न मतावलम्बी वेदान्त और सांख्य-योगी भाष्यकार विज्ञानभिक्षुने भी सांख्य-प्रवचन भाष्यकी भूमिकामें पद्मपुराणके वाक्योंको उद्धृत करके शाङ्कर मतवादको 'प्रच्छन्न बौद्धवाद' कहा है—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव व।
मयैव कथितं देवि, कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥

अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयल्लोक गर्हितम्।
कर्म स्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते।
सर्वकर्म परिभ्रंशान्नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते॥

परात्म जीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते।
ब्रह्मणोऽस्य परं रूपं निगुर्णं दर्शितं मया॥

सर्वस्य जगतोऽप्यस्य नाशनार्थं कलौयुगे।
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्।
मयैव कथितं देवि। जगतां नाशकारणात्॥

(सांख्यदर्शनम्–विज्ञान–भिक्षु–विरचित भाष्य–श्रीजीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य कर्त्तृक १२९६ वें सालमें प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, भूमिका ५–६ पृष्ठ।)

अब इसके बाद वेदान्तके द्वितीय अध्यायमें सूत्रकारने जिस निरीश्वर सांख्य–मतका खण्डन किया था, उसकी भी किञ्चित् आलोचनामें प्रवृत्त हो रहा हूँ। सांख्य–दर्शन षड्–दर्शनमेंसे एक है। इसके प्रणेता–श्रीकपिल ऋषि हैं। इसमें छह अध्याय हैं। यह भी सूत्राकारमें गुम्फित है। प्रथम अध्यायमें १६४ सूत्र, दूसरे अध्यायमें ४७ सूत्र, तृतीय अध्यायमें ८२ सूत्र और चौथे अध्यायमें ३७ सूत्र, पाँचवें अध्यायमें १२९ सूत्र और छठे अध्यायमें ७० सूत्र हैं। प्रथम सूत्रमें पाया जाता है—*'अथ त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः'*— इसका तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकारके दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् उपशमन होनेपर फिर कभी भी किसी प्रकारके दुःखसे अभिभूत हुआ नहीं जा सकता, वही अत्यन्त पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति है। उसके परवर्ती सूत्रमें कहा गया है कि शास्त्र–विहित उपायके अतिरिक्त किसी दुष्ट (दूषित) उपायसे इस पुरुषार्थकी अर्थात् मुक्ति–प्राप्तिकी सम्भावना नहीं है।

इस स्थलपर देखा जा सकता है कि बौद्ध– एवं जैन–दर्शनके समान सांख्य–दर्शनमें भी दुःख एक प्रधान सत्यके रूपमें स्वीकार

किया गया है और वह दुःख आध्यात्मिकादि भेदसे तीन प्रकारका है। तत्त्वज्ञान प्राप्तिसे इस दुःखकी निवृत्ति हो सकती है। इनके मतमें कु
एकादश इन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्र और पञ्च महाभूत—ये चौबीस तत्त्व और पुरुष—कु
भी अवस्था भेदसे भिन्न-भिन्न अधिष्ठानके कारण प्रकृतिस्थ पुरुष असंख्य पुरुष हैं। प्रकृति पुरुषके अविवेकके कारण अर्थात् पुरुष प्रकृतिसे भिन्न, निर्लेप एवं अकर्त्ता है इस प्रकारसे ज्ञानके उदय न होने तक जीवको तीन प्रकारका दुःख भोग करना होता है। पुनः जब प्रकृति-पुरुषका विवेक हो जाता है अर्थात् प्रकृति ही कर्त्री है, पुरुष साक्षीमात्र निष्क्रिय है; पुरुषका कर्त्तृत्व अध्यासमात्र है—इस प्रकार ज्ञानका उदय होता है, तब अनादि अविद्याकी निवृत्ति होनेपर पुरुषके प्रति प्रकृतिका अधिकार-त्याग होता है। इसी समय जीवके त्रिविध दुःखका ध्वंस होता है। इसीको आनन्द-प्राप्ति अथवा मोक्ष कहा जाता है।

इनके मतमें जड़-प्रकृति चेतन पुरुषके संस्पर्शमें सक्रिय होती है। पुरुषका प्रकृतिका भोग करनेके लिए और प्रकृतिका पुरुषके कैवल्य-साधनके निमित्त परस्पर मिलन होता है। अन्धेके कन्धेपर चढ़कर पङ्गु अन्धेको चलाता है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुषके संयोगसे सृष्टि-कार्य होता है। इस स्थलपर प्रकृति दृष्टि-शक्तिसे रहित है और पुरुष क्रिया-शक्तिसे रहित है। पुरुष जिस समय यह जान लेता है कि प्रकृति उसे वशीभूत करना चाहती है, उसी समय अर्थात् इस प्रकारसे ज्ञान होनेपर प्रकृति लज्जित होकर खिसक जाती है। पुरुष इसी समय मुक्त हो जाता है।

इस सांख्य-मतमें कहा गया है कि ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाणका अभाव है। उनकी युक्ति है कि ईश्वर यदि मुक्त है तो उसमें सृष्टिकी वासना नहीं रह सकती। और यदि बद्ध हैं तो उसे ईश्वर कहा नहीं जा सकता। इसलिए उनके मतमें कोई ईश्वर नहीं है, और न ही हो सकता है। वे कहते हैं—वेदमें जो ईश्वरके विषयमें उल्लेख प्राप्त होता है, वह मुक्त आत्मा-विशेषकी प्रशंसामात्र है। ये लोग

ईश्वरको नहीं मानते, किन्तु वेदको मानते हैं। इसी कारण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीन प्रकारके प्रमाणको स्वीकार करते हैं।

इस स्थलपर और एक विषय विचारणीय है कि यह पच्चीस तत्त्ववादी निरीश्वर कपिल अग्नि-वशंज ऋषि-विशेष हैं। श्रीमद्भागवतमें जो छब्बीस तत्त्व प्रतिपादक सांख्य-सिद्धान्त पाया जाता है, उसके प्रवर्त्तक भगवदवतार देवहूति-नन्दन श्रीकपिलदेव हैं। भगवदवतार कपिलदेव सत्ययुगमें आविर्भूत हुए थे और ब्रह्मा इत्यादि देवगण, भृगु इत्यादि ऋषिवर्ग तथा आसुरि नामक ब्राह्मणने भी अपनी माताको सर्ववेदार्थसमन्वित सांख्यतत्त्वका उपदेश किया था। निरीश्वर सांख्य-दर्शन प्रणेता नास्तिक्यवाद प्रचारक अग्निवंशज कपिल त्रेतायुगमें उद्भूत हुए थे। इन्होंने ही सगर राजाके वंशको ध्वंस किया था। वर्त्तमान कालमें इनके द्वारा रचित सांख्य-दर्शन ही षड-दर्शनमेंसे एक माना जाता है। इसी सांख्य-मतका खण्डन वेदान्तके दूसरे अध्यायमें पाया जाता है। यह यथास्थान देखना चाहिये।

पतञ्जलि ऋषि प्रणीत पातञ्जल-दर्शनका खण्डन भी ब्रह्मसूत्रकार श्रीवेदव्यासने इसी द्वितीय अध्यायमें किया है। यथास्थान यह देखा जा सकता है। यह दर्शन भी सूत्राकारमें निबद्ध है। यह ग्रन्थ चार पादोंसे समन्वित है। प्रथम समाधिपादमें ५१ सूत्र हैं, द्वितीय साधनपादमें ५५ सूत्र हैं, तृतीय विभूतिपादमें ५६ हैं और चतुर्थ कैवल्यपादमें ३३ सूत्र वर्त्तमान हैं।

प्रथम पादमें योगका स्वरूप, उद्देश्य, लक्षण, उपाय एवं प्रकार भेदका वर्णन है, द्वितीय पादमें क्रियायोग, क्लेश, कर्मफल, कर्मफलका दुःखत्व, हेयत्व-हेतु, हान और हानोपायका वर्णन है, तृतीय पादमें भोगका अङ्ग, परिणाम, अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्ति और चतुर्थपादमें कैवल्य अथवा मुक्तिका वर्णन मिलता है। सबसे पहला सूत्र है *'अथ योगानुशासनम्।'* इसलिए यह योग-शास्त्र सहजतापूर्वक समझ लिया जाता है। दूसरा सूत्र है—*'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'*

पातञ्जल मतानुसार प्रकृति-पुरुषके विवेकाभ्यास द्वारा विषयसे वैराग्य उत्पन्न होते हैं। वैराग्यकी पञ्चता होनेपर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त

होती है इसके बाद असम्प्रज्ञात समाधि उत्पन्न होती है। इसकी प्राप्ति होनेपर दुःखका परिहार और सुखकी प्राप्ति होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचोंको यम कहा जाता है। नियम कहनेसे शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान (फलकी कामना न करते हुए, कृत कर्मोंको परमगुरु ईश्वरको सौंप देना) जाना जाता है। योगाभ्यास-कालमें जो आसनादि की रचना करते हुए अङ्ग-संस्थान होता है, उसे आसन कहते हैं। रेचक, पूरक और कु
विषयसे इन्द्रियोंके वियोजन (विमुखता) रूप कार्यका नाम प्रत्याहार है, चित्तके स्थिरीकरणका नाम 'धारणा' है, जिसमें ध्येय विषयपर निरवच्छिन्न प्रत्ययधारा (चित्तकी वृत्तिके प्रवाहमें कोई दूसरी वृत्ति बीचमें न आये) होती है, उसे ध्यान कहते हैं और जिसमें ध्येय-विषयमें ध्यान और ध्याता एकाकार हो जायें, किसी अन्य विषयकी स्फूर्ति न रहे, ऐसे चित्तके द्वारा जो समाधि है, उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। पाँच प्रकारकी चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर जो समाधि होती है, उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। योगाभ्यासके फलस्वरूप साधकको कितनी ही अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, इसीको विभूति अथवा सिद्धि कहा जाता है।

इस पातञ्जल योगदर्शनमें कपिलका तत्त्व-समुदय स्वीकृत है। अधिक क्या, पुरुषविशेष ईश्वरकी बात भी स्वीकृत है लेकिन उनके ईश्वर जीव और जगत्के कारण नहीं हैं। सृष्टि-विषयमें उनका कोई कर्त्तृत्व भी नहीं है। सांख्यकी प्रकृति ही मूलकर्त्री है और सांख्यकी मुक्ति ही पतञ्जलिकी भी अभिप्रेत है।

ईश्वरके सम्बन्धमें पतञ्जलिका मत है—ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आशयके द्वारा अनभिभूत अथवा अस्पृष्ट पुरुषविशेष (जीवविशेष) है।

ईश्वरके सम्बन्धमें इनका सूत्र है—*'क्लेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्ठः पुरुषविशेष ईश्वरः।'*

इस मतमें समाधिके दो भेद हैं—सबीज और निर्बीज। सबीज समाधि—सम्प्रज्ञात है और निर्बीज समाधि—असम्प्रज्ञात है। पुरुष

धर्ममेघ नामक अपूर्व समाधिमें मग्न हो जाता है। तब उसे प्रकृति एवं प्राकृतिक गुणोंके सम्बन्धमें विशेष ज्ञानकी प्राप्ति होती है, इस अवस्थामें उससे प्राकृतिक प्रलोभन प्रलोभित नहीं कर पाते।

प्रकृतिके साथ पुरुषका निःसम्बन्ध (सम्बन्ध न रहना) ही कैवल्य है। यही पुरुषका स्वरूप लक्षण है। प्रकृतिमें पुरुषकी विवेक-प्रसूत (विवेकसे उत्पन्न) उदासीनताके कारण उस पुरुषका पुरुषार्थ त्याग होता है। ऐसा होनेपर उस प्रकृतिके सर्वपरिणामकी परिसमाप्ति होती है। पुरुषके सङ्ग उसका जो अयोग संघटित होता है, उसे ही कैवल्य कहा जाता है। पतञ्जलि ऋषिके मतमें राजयोग ही प्रशस्त है। राजयोगका चरम लक्ष्य कैवल्य है। बुद्धि-सत्ताके साथ सम्बन्धरहित होकर केवल चितिशक्ति रूपमें (आत्मामें) अवस्थानको स्वरूप प्रतिष्ठा अथवा कैवल्य कहा जाता है। सांख्यके समान इसकी भी कैवल्यावस्थामें अत्यन्त दुःख-निवृत्ति होती है—ऐसा विचार करते हैं। सांख्य-मतके साथ मूलतः इसका मेल होनेके कारण सांख्य-मतके निरस्त होनेपर इसका भी निराकरण हो जाता है।

अक्षपाद गौतम द्वारा प्रणीत दर्शन-शास्त्रका नाम न्यायदर्शन है। ब्रह्मसूत्रकार श्रीमद्व्यासदेवने वेदान्तके इस मतको भी निरस्त कर दिया है। अतः इस मतके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् आलोचना हो रही है।

श्रीसायणमाधवने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में कहा है कि इस मतमें षोडश-पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे दुःखोंका आत्यन्तिक (स्थायी रूपसे) निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्त होता है। यह समान-तन्त्र (वैशेषिक-दर्शनके समान ही सिद्धान्तोंवाले न्याय दर्शन) में कहा है। इसके सूत्रकार अक्षपाद कहते हैं—*'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञान निःश्रेयसाधिगमः।'* (न्या॰सू॰ १/१/१)

अर्थात् सोलह प्रकारके तत्त्वज्ञानसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। सोलह पदार्थ ये हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान। यह न्याय-शास्त्रका आदिम (प्रथम) सूत्र है। गौतमीय न्याय-शास्त्र पाँच अध्यायोंमें विभक्त है, इसके प्रत्येक अध्यायमें दो-दो आह्निक (दिन भरका पाठ) है।

प्रथम अध्यायके प्रथम आह्निकमें गौतमऋषिने प्रमाणादि नौ पदार्थोंके लक्षणोंपर विचार करके द्वितीय आह्निकमें वाद आदि सात पदार्थोंके लक्षणोंका निरूपण किया है। द्वितीय अध्यायके प्रथम आह्निकमें संशयकी परीक्षा करके और प्रमाण-चतुष्ट्यको अप्रामाणिक माननेवालोंकी शङ्काका निराकरण, तथा इसी अध्यायके द्वितीय आह्निकमें (अन्य प्रमाणों जैसे) अर्थापत्तादिके अनुमानका (इन्हीं चार प्रमाणोंमें) अन्तर्भाव किया है। तृतीय अध्यायके प्रथम आह्निकमें आत्मा, शरीर और इन्द्रियार्थकी परीक्षा और दूसरे आह्निकमें बुद्धि और मनकी परीक्षा हुई है। चतुर्थाध्यायके प्रथम आह्निकमें प्रवृत्ति-दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म)—फल, दुःख एवं अपवर्गकी परीक्षा और इसके दूसरे आह्निकमें दोषनिमित्तकत्व (दोषके निमित्तस्वरूप) तत्त्वोंका निरूपण) और अवयवादि निरूपण (अवयवीका अवयवोंसे भेद, परमाणुओंका निरवयव होना) है। पञ्चम अध्यायके प्रथम आह्निकमें जातिभेद निरूपण और इसके द्वितीय आह्निकमें निग्रह स्थानभेदका निरूपण किया गया है।

मेय सिद्धि (प्रमेय सिद्धि) मानके (प्रमाणके) अधीन होती है (प्रमाणका विचार करनेपर ही प्रमेयका विचार होता है)—इस न्यायके अनुसार पहले प्रमाणका उद्देश किया गया है। उद्देश (नाम ग्रहण) के बाद लक्षणका विचार करना चाहिये, इसलिए प्रथम उल्लिखित प्रमाणका ही लक्षण पहले कहा गया है। प्रमाण वह है जो साधनों (यथार्थ अनुभवके आश्रय अर्थात् आत्मा) से व्यतिरिक्त (पृथक्) न हो और प्रमा (यथार्थ अनुभवके द्वारा) व्याप्त भी हो। अर्थात् साधनाश्रयका व्यतिरिक्तत्व होनेपर ही प्रमाण प्रमेय-व्याप्त होता है। इस प्रकार प्रति तन्त्र-सिद्धान्त (केवल एक तन्त्र या शास्त्रमें प्रचलित सिद्धान्त) से जो परमेश्वरकी प्रामाणिकता सिद्ध की जाती है, उसका सङ्कलन होता है। न्याय पारावारदर्शी (न्याय-मार्गरूपी समुद्रके पार तक देखनेवाले) विश्व भरमें विख्यात कीर्त्तिवाले उदयन आचार्यने न्याय कु

मितिः सम्यक् परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते॥

अर्थात् सम्यक् (यथार्थ) रूपमें ज्ञान प्राप्त कर लेना (परिच्छित्तिः) मिति (यथार्थ ज्ञान) है। उससे (प्रमासे) युक्त प्रमाता (यथार्थवक्ता) होता है। उस प्रमासे युक्त होना ही प्रमाता बनना है। उस (मिति या प्रमा) से सम्बन्धाभाव (अयोग) न रहना (व्यवच्छेद) अर्थात् मितिसे आवश्यक सम्बन्ध रखना ही गौतमके अनुसार प्रामाण्य (प्रामाणिकता) है। प्रमाण चार प्रकारके हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

प्रमेयके बारह प्रकार हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। संशय तीन प्रकारका है—साधारण धर्म, असाधारण धर्म और विप्रतिपत्ति। प्रयोजनके दो प्रकार हैं—दृष्ट प्रयोजन और अदृष्ट प्रयोजन। दृष्टान्त भी साधर्म्य और वैधर्म्य भेदसे दो प्रकारका है।

सिद्धान्तके चार प्रकार हैं—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम।

अवयवके पाँच प्रकार हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

तर्कके ग्यारह प्रकार हैं—व्याघात, आत्माश्रय, इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय चक्रकाश्रय, अनवस्था, प्रतिबन्धीकी कल्पना, कल्पना लाघव, कल्पनागौरव, उपसर्ग, अपवाद और वैजात्य।

निर्णयके चार प्रकार हैं—साक्षात्कृति (प्रत्यक्ष), अनुमिति, उपमिति और शाब्द।

वाद एक प्रकारकी कथा-विशेषका नाम है जिसका फल है 'तत्त्वका निर्णय हो जाना।' *'उभयसाधनवती विजिगीषु कथा जल्पः।'* अर्थात् विजयकी इच्छासे की जानेवाली कथा, जिसमें दोनों पक्षोंकी सिद्धि हो सकती है, जल्प कहलाती है। वितण्डासे पृथक् करनेके लिए 'उभयसाधनवती' का प्रयोग हुआ है।

जिस कथामें अपने पक्षकी ही स्थापना नहीं की जाय, वह वितण्डा है। वादी और प्रतिवादी पक्ष और प्रतिपक्ष दोनोंको ही, यह ग्रहण कर लें, यही वितण्डा कथा है। वितण्डा एक प्रकारका वार्त्तालाप है जिसमें दो दलवाले एक ही विषयके पक्ष और विपक्षमें बोलते हैं। कथाके ही वाद, जल्प और वितण्डा—ये तीन भेद है।

जो असाधक है अर्थात् लक्ष्यको सिद्ध न कर सके फिर भी हेतुत्वमें उसका अभिमत हो अर्थात् हेतुके रूपमें रखा गया हो—वही हेत्वाभास (दुष्ट हेतु) है। यह पाँच प्रकारका है यथा—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरण (सत्प्रतिपक्ष), समसाध्य (असिद्ध) और समातीतकाल (बाधित)। छलके तीन प्रकार हैं—अभिधानतात्पर्य, उपचार-व्यत्यय और वृत्तिभेद।

स्वव्याघातक उत्तर अर्थात् अपने आपका विनाश करनेवाले उत्तरको जाति कहते हैं। जातिके चौबीस भेद हैं—सभी भेदोंमें समका प्रयोग बतलाता है कि जातियोंमें साधर्म्य आदिकी समानताका प्रदर्शन किया जाता है—किसीमें वैधर्म्यकी तुलना होती है, किसीमें उत्कर्षकी तो किसीमें नित्यकी ही। ये भेद हैं—साधर्म्य (सम), वैधर्म्य, उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्य, अवर्ण्य, विकल्प, साध्य, प्राप्ति, अप्राप्ति, प्रसङ्ग, प्रतिदृष्टान्त, अनुत्पत्ति, संशय, प्रकरण, हेतु, अर्थापत्ति, अविशेष, उपपत्ति, उपलब्धि, अनुपलब्धि, नित्य, अनित्य तथा कार्यसम।

निग्रह स्थान (पराजय प्राप्त करनेके जो भी कारण हैं, उन्हें निग्रह स्थान कहते हैं) के बाईस प्रकार हैं—प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अनुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुभोग, अपसिद्धान्त तथा हेत्वाभास।

इस विषयमें विस्तारपूर्वक आलोचना न्याय-शास्त्रमें देखनी चाहिये।

न्याय-दर्शनके प्रणेता गौतमके मतमें पूर्वोक्त प्रमाणादि सोलह पदार्थोंके उद्देश्य, लक्षण एवं परीक्षा द्वारा पूर्वोक्त बारह प्रकारके ज्ञानकी प्राप्तिके बाद श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्मा-द्वय (ईश्वर एवं जीव) का साक्षात्कार होता है। परमात्मा और जीवात्माके साक्षात्कारके बाद वासनाके (संस्कारके) साथ मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति होती है। मिथ्याज्ञान (देहादिको आत्मा मान लेना) के विनाश होनेपर उससे पूर्व-पूर्व वस्तु (कार्य) का क्रमपूर्वक नाश होता है। सबसे अन्तमें दुःखके आत्यन्तिक नाशसे अपवर्गकी प्राप्ति होती है। इनके मतमें दुःखके स्थान उन्नीस प्रकारके हैं। इसके अतिरिक्त सुख भी

दुःखका परिणाम है। इस प्रकार यह सुख भी दुःखके समान है। और दुःख निजस्वरूपमें तो है ही! अतः इस इक्कीस प्रकारके दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही मुक्ति है।

न्यायके मतमें आत्मा सर्वव्यापी है इसका स्वाधीन कोई गुण नहीं है, तब मनके साथ सम्मिलनसे मनके द्वारा विषयका संस्पर्श, ज्ञान, इच्छा, कृति, द्वेष, सुख-दुःख इत्यादि विविध गुण आत्मासे उत्पन्न होते हैं। इस मतमें जगत्के कर्त्तृत्व रूपमें ईश्वर स्वीकृत है। ईश्वरकी जगत्-सृष्टिका उपकरण है—परमाणुसमूह। इस परमाणुवादका वेदान्तमें यथास्थान निराकरण हुआ है। यह वहीं द्रष्टव्य है। वैशेषिक दर्शनका भी यही मत है।

न्याय-शास्त्रका और एक नाम है—आन्वीक्षिकी विद्या। कौटिल्यके अर्थ-शास्त्रमें इस विद्याको समस्त शास्त्रोंका प्रदीप भी बतलाया है।

श्रीशङ्कर-मत खण्डनके लिए श्रीमध्व-सम्प्रदायमें बहुत-से न्याय-ग्रन्थ प्रचारित हैं। गोविन्दभाष्यके प्रणेता श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभु भी माध्व-न्यायमें विशेष पारदर्शी थे।

प्राचीन न्यायके अतिरिक्त नव्य-न्याय (प्रमाणोंके विश्लेषण तथा बुद्धिवाद पर अधिक जोर, सूक्ष्मताके लिए नए प्रकारके शब्दोंका प्रयोग यथा अवच्छेदक (व्याप्त करनेवाला) अनच्छिन्न (व्याप्त), प्रकारतानिरूपित (विशेषणके द्वारा विशिष्ट) निष्ठता (अभेद-सम्बन्ध) आदिका प्रयोग—ऐसी भाषाका बेधड़क व्यवहार, न्यायकी इस धाराको पुरानी धारासे पृथक् करनेके लिए नव्य-न्याय कहा गया) भी प्रवर्त्तित होकर विभिन्न-नैयायिकोंके द्वारा क्रमपूर्वक समृद्धिको प्राप्त हुआ। बङ्ग-देशमें गङ्गेश उपाध्याय (११७५ ई०), सार्वभौम भट्टाचार्य और रघुनाथ शिरोमणिक इत्यादि अनेकको नव्यन्यायका प्रथम प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। श्रीसार्वभौम प्राचीन एवं नव्य दोनों ही न्याय-शास्त्रमें पारङ्गत थे।

परवर्त्तीकालमें श्रीश्रीमहाप्रभुकी कृपासे उद्धार प्राप्त करके श्रीवासुदेव सार्वभौमने कहा था—

सार्वभौम कहे, आमि तार्किक कु
तोमार प्रसादे, मोर ए सम्पत्-सिद्धि॥

महाप्रभु बिना केह नाहि दयामय।
काकेर गरुड़ करे, ऐछे कोन हय॥

तार्किक श्रृगाल सङ्गे भेउ भेउ करि।
सेइ मुखे एवे सदा कहि 'कृष्ण' 'हरि'॥

काहा बहिर्मुख तार्किक शिष्यगण सङ्गे।
काहा एइ सङ्ग सुधा समुद्र तरङ्गे॥

(चै०च०म० १२/१८१-१८४)

श्रीसार्वभौमने कहा—मैं पहले कु
मुझे यह भक्ति सम्पत् प्राप्त हुई है। महाप्रभुके बिना कोई अन्य दयामय नहीं है। पहले तो मैं कु
साथ भेंउ-भेंउ किया करता था। अब प्रभु-कृपासे इसी मुखसे सदा 'कृष्ण-कृष्ण', 'हरि-हरि' बोला करता हूँ। कहाँ मैं कृष्ण-बहिर्मुख, कु
सङ्गरूपी सुधा-वारिधिकी तरङ्गोंमें निमग्न हो रहा हूँ।

प्रसिद्ध नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि महाशय भी इन्हीं सार्वभौमके छात्र थे। कोइ-कोई कहते हैं कि सार्वभौमकी चतुष्पाठीमें श्रीनिमाइ पण्डितके साथ रघुनाथ शिरोमणि और रघुनन्दन भट्टाचार्य एक साथ अध्ययन करते थे, जब कि यह बात सम्पूर्ण रूपसे सार रहित है।

अब वैशेषिक दर्शनकी यत्किञ्चित आलोचनामें प्रवृत्त हो रहा हूँ। वैशेषिक दर्शनके प्रणेता उलूकके पुत्र औलूक्य अथवा कणाद ऋषि हैं। ये तण्डुल-कणका भक्षण किया करते थे, इसलिए इनका नाम कणाद हुआ। इनके द्वारा प्रणीत दर्शनका दूसरा नाम औलूक्य-दर्शन है। कणाद-प्रणीत दर्शन-शास्त्र दस-अध्यायोंमें परिपूर्ण है। प्रत्येक अध्यायमें दो-दो आह्निक हैं।

सर्वदर्शन संग्रह गन्थमें देखा जाता है कि—दो आह्निकसे युक्त प्रथम अध्यायमें सभी पदार्थोंका वर्णन है जो समवेत अर्थात् समवाय-सम्बन्धसे युक्त है। इस आह्निकमें जाति-निरूपण (द्रव्य, गुण एवं कर्म, जिनकी जाति सामान्य है) और द्वितीय आह्निकमें जाति (सामान्य) एवं विशेष—दोनोंका निरूपण है, दो आह्निकसे युक्त द्वितीय अध्यायमें द्रव्य निरूपण है—इनमें प्रथम आह्निकमें भूतों (क्षिति, जल,

अग्नि, वायु, आकाश) के विशेष लक्षण और द्वितीय आह्निकमें दिशा एवं कालका प्रतिपादन हुआ है। दो आह्निकसे युक्त तृतीय अध्यायमें आत्मा और अन्तःकरणका लक्षण है—इनमें प्रथम आह्निकमें आत्माका और द्वितीय आह्निकमें अन्तःकरणका लक्षण निरूपित है। द्रव्य नौ हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन (अन्तःकरण)। आह्निक-द्वय-युक्त चतुर्थ अध्यायमें शरीरके उपयोगी तत्त्वों (जैसे परमाणु कारणता आदि) का विवेचन है। इसमें प्रथम आह्निकमें शरीरके उपयोगी तत्त्वोंका विवेचन और दूसरे आह्निकमें शरीरका विवेचन किया गया है। दो आह्निकोंवाले पञ्चम अध्यायमें कर्मका प्रतिपादन हुआ है। इसमें प्रथम अध्यायमें शरीर सम्बन्धित कर्मका चिन्तन एवं द्वितीय अध्यायमें मानसिक कर्मका चिन्तन (विचार) किया गया है। आह्निक-द्वय-युक्त छठे अध्यायमें श्रौत-धर्म (श्रुतियोंमें प्रतिपादित धर्म) का निरूपण है। इसमें प्रथम आह्निकमें दान और प्रतिग्रह (दान लेना)—इन दो धर्मोंपर विवेक है और द्वितीय आह्निकमें चारों आश्रमोंके लिए उचित धर्मका निरूपण है। सप्तम अध्यायमें गुणों और समवायका प्रतिपादन है। इसमें प्रथम आह्निकमें बुद्धि-निरपेक्ष गुण (रूप, रस, गन्ध आदि) का प्रतिपादन है और दूसरे आह्निकमें बुद्धि सापेक्ष (द्वित्व, परत्व) गुणोंका एव समवायका प्रतिपादन है इसी प्रकारके विभाजनवाले अष्टम अध्यायमें निर्विकल्पक, सविकल्पक और प्रत्यक्ष प्रमाणका चिन्तन है। नवम अध्यायमें बुद्धिके विशेष (भेद) का वर्णन है और दशम अध्यायमें अनुमानके भेदोंका प्रतिपादन किया गया है।

इस शास्त्र (न्याय-वैशेषिक) की प्रवृत्ति (प्रतिपादन) तीन प्रकारसे होती है—उद्देश (गणना), लक्षण और परीक्षा (लक्षणोंका आरोपण)। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—ये छह भाव पदार्थ हैं और अभाव पदार्थ इनसे भिन्न है। कणादके मतमें अभाव चार प्रकारके हैं—प्रागभाव, ध्वंस-अभाव, अन्योऽन्य-अभाव और अत्यन्त-अभाव।

इस मतमें प्रत्यक्ष, अनुमान और किञ्चित् वेद-प्रामाण्य भी स्वीकृत है। आत्मा विभु है एवं देह-इन्द्रियादिसे पृथक् है और

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, अदृष्ट अर्थात् धर्म और अधर्म तथा भावना नामका संस्कार—ये नौ प्रकार गुणका आश्रय हैं। छह पदार्थों (द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्य, विशेष और समवाय) के साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा पूर्वोक्त आत्माका तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। बादमें उपासनाके द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार होनेपर प्रागभावके साथ समस्त वृत्तिका ध्वंस होता है। इस प्रकार वृत्ति-नाश होना ही आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति अथवा मुक्ति है। इस वैशेषिक (औलक्य) दर्शनमें आत्माके व्यक्तित्वमें बहुत्व मानते हैं। इनके मतमें अदृष्ट-कृत-कर्मोंकी सञ्चित शक्ति है। ईश्वरके सृष्टि-कर्त्तृत्व विषयमें किसी प्रकारकी कोई आलोचना वैशेषिक दर्शनमें नहीं है। तो भी वेद-कर्त्ता ईश्वरके अस्तित्व-विषयमें कु

कणादके वैशेषिक मत और गौतमके न्यायमतको आरम्भवाद अथवा परमाणु कारणवाद भी कहा जाता है। वेदान्तसूत्रके सूत्रकार श्रीमद्वेदव्यासने इस मतका जिस प्रकारसे निराकरण किया है, उसे इस द्वितीय अध्यायमें यथास्थान देखना चाहिये।

अब हम संक्षेपमें पूर्वमीमांसा अथवा मीमांसा-दर्शनकी किञ्चित् आलोचना करते हैं, यह दर्शन जैमिनि ऋषि द्वारा प्रणीत है। इसीलिए, इस दर्शनको जैमिनि-दर्शन भी कहा जाता है यह पूर्वमीमांसा ग्रन्थ बारह अध्यायोंसे सम्वलित है। इसके प्रत्येक अध्यायमें कई-कई पाद हैं। सर्वदर्शनसंग्रहकार श्रीसायणमाधवके मतमें विधि, अर्थवाद मन्त्र, स्मृति और नामधेयके अर्थमें जो शब्दराशि है, उसीकी प्रामाणिकता बतायी है।

दूसरे अध्यायमें कर्मभेद, उपोद्घात, प्रमाण, अपवाद तथा प्रयोगोंमें भेदरूप अर्थ—इन विषयोंका प्रतिपादन है।

तृतीय अध्यायमें श्रुति, लिङ्ग, वाक्य आदि और उनका पारस्परिक विरोध, प्रतिपत्ति, कर्म (उपयुक्त द्रव्योंका विनियोग करना) अनारभ्याधीत (अर्थात् सामान्य रूपसे विहित कर्मोंका वर्णन) बहुत-से प्रधान कर्मोंके उपकारक (सहायक) प्रयाजादि यागाद्यङ्ग (यजमानके कर्म) का चिन्तन हुआ है।

चतुर्थ अध्यायमें प्रधान कर्मोंकी प्रयोजकता, अप्रधान कर्मोंकी प्रयोजकता, पर्ण अर्थात् पलाशकी बनी हुई जुहू आदिके फल, राजसूय-यागके अन्तर्गत होनेवाले जघन्य अङ्ग जैसे अक्ष-द्यूत आदिका विचार हुआ है।

पञ्चम अध्यायमें श्रुति आदिका क्रम, उसकी विशेष वृद्धि, अवृद्धि तथा श्रुति आदिकी प्रबलता एवं दुर्बलताका विचार किया गया है।

षष्ठ अध्यायमें अधिकारी व्यक्ति, उनके धर्म, यज्ञमें प्रयुक्त होनेके लिए विहित द्रव्योंके (न मिलनेपर) स्थानमें दिये गये द्रव्य, द्रव्योंका लोप, प्रायश्चित कर्म, सत्रकर्म, देयवस्तु तथा विभिन्न अग्नियोंमें होमका विचार है।

सप्त अध्यायमें वैदिक वाक्योंके प्रत्यक्ष आदेशसे अतिदेश—किसी यज्ञके कर्मोंका दूसरे यज्ञमें स्थानान्तरण, नामोंके कारण स्थानान्तरण तथा लिङ्गके कारण स्थानान्तरणका चिन्तन है।

अष्टम अध्यायमें स्पष्ट लिङ्गोंके द्वारा किये गये अतिदेश, अस्पष्ट लिङ्गोंके द्वारा किये अतिदेश या स्थानान्तरण, प्रबल लिङ्गोंसे किये गये स्थानान्तरणोंके अपवाद प्रदर्शित हैं।

नवम अध्यायमें ऊहके विचारका आरम्भ सामोंका ऊह, मन्त्रोंका ऊह तथा ग्रहके प्रसङ्गमें आगत प्रश्नोंपर विचार किया गया है।

दशम अध्यायमें बाध (निषेध) के कारण-स्वरूप द्वारों (कारणों) के लोपका विस्तृत वर्णन, बाध-कारण और कार्यका एकत्व, बाधका प्रसङ्ग उठनेपर ग्रहादिका विचार साम-प्रकीर्ण तथा अन्तमें बाध करनेवाले नञर्थका विचार है।

एकादश अध्यायमें तन्त्रका उपोद्घात, तन्त्र और अवाप, तन्त्रके प्रपञ्चन (विस्तार) और अवापके प्रपञ्चनपर विचार हुआ है।

द्वादश अध्यायमें तन्त्रका निर्णय, समुच्चय, और विकल्प-विचारका वर्णन हुआ है।

उनमें *'अथातो धर्मजिज्ञासा'* (अब इसलिए धर्मकी जिज्ञासा आरम्भ होती है) इत्यादि वाक्यका प्रथम सूत्रमें विन्यास हुआ है। जिसका उद्देश्य पूर्वमीमांसाके आरम्भका उपपादन (सिद्धि) है। (वेदोंमें प्रतिपादित याग आदिको धर्म कहते हैं।) परीक्षकगण निर्णय करते

हैं कि अधिकरणमें पाँच अवयव (अङ्ग) होते हैं—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और सङ्गति।

आचार्यने इस स्थलपर पाँच अवयवोंपर आधारित विचारके ऊपर अपना मत स्थापित किया है, उसे मूल ग्रन्थमें देखना चाहिये।

मीमांसा शब्दका अर्थ है—विचार अथवा सिद्धान्त। इस ग्रन्थमें वेदके पूर्व भागमें अवस्थित याग-यज्ञकी आलोचनारूप धर्म आलोचित हुआ है, इसी कारण इसे पूर्व-मीमांसा कहते हैं। वेदके उत्तर भागमें स्थित विचार या सिद्धान्त वेदान्तसूत्रमें देखा जाता है, इसी कारण वेदान्तको उत्तर-मीमांसा कहा जाता है।

पूर्व-मीमांसा-दर्शनकार जैमिनि ऋषिके मतमें ईश्वर-अर्चनरूप वैदिककर्म अर्थात् पुण्य-अदृष्ट द्वारा दूरदृष्टका क्षय होकर स्वर्गादिकी प्राप्ति और सुखकी प्राप्ति होती है। जैमिनिके मतमें वेद अपौरुषेय अर्थात् अनादि एवं नित्य हैं किन्तु ईश्वरकी स्वीकृतिका इस दर्शनमें अभाव है। जगत् अनादि है, इसलिए सृष्टिकर्त्ताकी अपेक्षा नहीं है। कर्म अपना फल स्वयं ही प्रदान करते हैं। अतः कर्मफल दाताके रूपमें ईश्वरको स्वीकार करनेका कोई प्रयोजन नहीं है।

इस मतमें आत्मा बहुत है और वह असृष्ट एवं अमर है। अपने-अपने कर्मानुसार देह-प्राप्ति और स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। 'यज्ञादि कर्म आचरण करनेके बाद' 'अपूर्व' संज्ञा (नाम) प्राप्त करता है। यह 'अपूर्व' ही यथासमयपर कर्मानुष्ठानकारीको फल प्रदान करता है। इस मतमें यज्ञादि कर्म ही पुरुषार्थ-प्राप्तिका एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। स्वर्ग-प्राप्ति ही इनके मतमें परम पुरुषार्थ है। इन्द्रादि देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञादि किये जाते हैं। देवता मन्त्रात्मक हैं। ये मन्त्र यज्ञ-कर्मके अङ्ग-विशेष हैं। द्रव्यादि जिस प्रकार यज्ञकी फलोत्पत्ति-विषयमें कारण हैं, मन्त्रात्मक देवता भी उसी प्रकार कर्मके अङ्ग हैं। मूल रूपसे यह दर्शन भी निरीश्वर है। इनका पुरुषार्थ विचार स्वर्ग-पर्यन्त है। मन्त्रात्मक देवता कर्मके अङ्ग हैं और कर्म भी द्रव्यमय है। इस यज्ञके फलस्वरूप जो स्वर्गकी प्राप्ति है, वह भी चिरस्थायी नहीं है।

श्रीमद्भगवदवतार श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने जगद्गुरुके रूपमें अवतीर्ण होकर इन सभी निरीश्वर मतोंको निराकरण करके वेदान्तमतकी स्थापना की है। वेदान्तसूत्र ग्रन्थके आविर्भावके कारण निर्णय प्रसङ्गमें गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुवरने अपने भाष्यकी अवतरणिकाकी रचना की है और उस अवतरणिका भाष्यकी अपनी टीकामें इन समस्त मतवादोंके निरसनकी कथाका संक्षेप रूपसे वर्णन किया है, वह इस गन्थके पूर्व अध्यायमें अर्थात् वेदान्तसूत्रके प्रथम अध्यायमें पहले ही उल्लिखित हुआ है। इसे वहाँ देखा जा सकता है। मङ्गलाचरणके बाद ब्रह्मसूत्र-आविर्भाव प्रसङ्गमें अवतरणिकाका उल्लेख है।

इस संसारमें दुःख-परिहार एवं सुख-प्राप्तिके लिए ही लोगोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है। परन्तु दुःख-क्षय (हानि) एवं सुख-प्राप्ति पुनः किसी उपायके बिना सिद्ध भी नहीं हो सकती। इस उपायके सम्बन्धमें पूर्वोक्त ऋषियोंने अपने-अपने दर्शन ग्रन्थमें नाना मत व्यक्त किये हैं। ईश्वर एवं परलोकमें विश्वास न करनेवाले चार्वाक्, बौद्ध, जैन अथवा आर्हत-दर्शनमें जितने भी मत व्यक्त हुए हैं, कपिलादि ऋषियोंने उन्हें असङ्गत जानकर खण्डन किया है और अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार पुनः भिन्न-भिन्न उपायोंका वर्णन किया है किन्तु विचार-स्थलपर देखा जाता है कि समस्त उपायोंके द्वारा भी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति अथवा वास्तव-सुखकी प्राप्ति हो नहीं सकती। इन सब लोगोंके द्वारा दिग्दर्शित मुक्ति अथवा मुक्ति-प्राप्तिके उपाय यथायथ नहीं हैं। सर्वदर्शन शिरोमणिरूप वेदान्त अथवा उत्तर-मीमांसा-दर्शनके आविर्भावमें इसीको विशेष रूपसे प्रमाणित किया गया है, भगवान् श्रीबादरायण इस वेदान्त-दर्शनके रचयिता हैं।

परमेश्वर-सम्बन्धसे रहित होकर पूर्वोक्त ऋषियोंने अपनी बुद्धिकी परिचालनाके द्वारा मत निबद्ध कर लिये, किन्तु इन मतोंमें जीवके आत्यन्तिक कल्याण अथवा निःश्रेयस प्राप्तिका कोई सन्धान पाया नहीं जाता। इसीलिए स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णके शक्त्यावेशावतार भगवान् श्रीव्यासदेवने सुसम्बन्ध रूपमें जिस ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्त-दर्शनको प्रकट किया है, वह वेदके समान अभ्रान्त सत्य है। यह समस्त

दर्शनोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट और सभीके लिए समादृत है। वेदका अन्तिम भाग अर्थात् उपनिषद-संवलित इस ग्रन्थको वेदान्त-दर्शन अथवा उत्तर-मीमांसा भी कहा जाता है। इस ग्रन्थमें मूलतः ब्रह्म-वस्तुका निरूपण हुआ है, इस कारण इसे ब्रह्म-मीमांसा अथवा ब्रह्मसूत्र भी कहा जाता है। अन्यान्य दर्शनोंके समान यह दर्शन भी सूत्राकारमें गुम्फित है। समस्त सूत्रोंका तात्पर्य अवबोध हो, भाष्यका यही प्रयोजन है। इस वेदान्त-शास्त्रके अनेक भाष्य देखे जाते हैं—इनमें श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीविष्णुस्वामी और श्रीनिम्बार्क इत्यादि सात्वत सम्प्रदायोंके आचार्योंके भाष्य वैष्णव-समाजमें सुविख्यात एवं समादृत हैं। स्वयं ब्रह्मसूत्रकार श्रीव्यासदेवने भक्ति-समाधि-योगमें प्राप्त, स्वतः सिद्ध-सूत्र-भाष्य श्रीमद्भागवतको जगत्में प्रकाशित किया है। कलियुग पावनावतारी श्रीकृष्णचैतन्यदेवने श्रीमद्भागवतको ही वेदान्तका अकृत्रिम भाष्य बतलाया है। उनके अनुगत गोस्वामीवृन्द, इतना ही नहीं, स्वयं श्रीव्यासदेवने भी विभिन्न स्थानोंपर श्रीमद्भागवतको वेदान्तका अकृत्रिम भाष्य कहकर स्थापित किया है।

परवर्त्तीकालमें गौड़ीय-वैष्णवाचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुवरने जयपुरकी विचार-सभामें 'गोविन्दभाष्य' नामक एक गौड़ीय-भाष्यको उपस्थापित करके विरुद्ध पण्डित-मण्डलीको पराजित करते हुए गौड़ीय-गौरवका सम्वर्द्धन किया है। श्रीवृन्दावनाधिदेव श्रीगोविन्दके कृपादेशसे इस भाष्यकी रचना हुई है, इसलिए इसका नाम गोविन्दभाष्य रखा गया है, तबसे ही यह गोविन्दभाष्य वेदान्तके गौड़ीय-भाष्यके रूपमें प्रसिद्ध और प्रचलित है। इस विषयपर वेदान्तसूत्रके प्रथम अध्यायकी भूमिका देखनी चाहिये।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें द्रष्टव्य है—

येई ग्रन्थकर्त्ता चाहे, स्व-मत स्थापिते।
शास्त्रेर सहज अर्थ नहे ताहा हइते॥

'मीमांसक' कहे—ईश्वर हय कर्मेर अङ्ग।
सांख्य कहे—जगतेर प्रकृति कारण॥

'न्याय' कहे 'परमाणु' हइते विश्व हय।
'मायावादी' निर्विशेष-ब्रह्मे' हेतु कय॥

'पातञ्जल' कहे—ईश्वर हय स्वरूप-आख्यान।
'वेदमते' कहे ताँरे स्वयं-भगवान्॥

छयेर छय मत व्यास कैला आवर्त्तन।
सेइ सब सूत्र लञा 'वेदान्त' वर्णन॥

'वेदान्त'—मते, ब्रह्म 'साकार' निरूपण।
निर्गुण व्यतिरेके तिँहो हय 'त' सगुण॥

परम कारण ईश्वरे केह नाहि माने।
स्व-स्व मत स्थाये परमतेर खण्डने॥

ताते हय दर्शन हैते तत्त्व नाहि जानि।
'महाजन' जेई कहे, सेई सत्य मानि॥

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः सः पन्थाः॥

(चै॰च॰म॰ २५/४८-५५)

इस प्रसङ्गमें सच्चिदानन्द श्रीलभक्तिविनोदठाकु
भाष्यमें कहा है—

(१) जैमिनी आदि मीमांसकगणोंने वेदका मूल तात्पर्य जो भक्ति है, उसका त्याग करके ईश्वरको कर्मका अङ्ग कह डाला है। (२) कपिलादि निरीश्वर सांख्यकारोंने प्रकृत (वास्तविक) वेदार्थका त्याग करते हुए प्रकृतिको ही जगत्का कारण कहकर निर्दिष्ट किया है। (३) गौतम तथा कणादादिने न्याय एवं वैशेषिक-शास्त्रमें परमाणुको ही विश्वका कारण बतला दिया है। (४) इसी प्रकारसे अष्टावक्रादि मायावादियोंने निर्विशेष ब्रह्मको ही जगत्का कारण कहकर दिखलाया है। (५) पतञ्जलि इत्यादि राजयोगीने अपने योग-शास्त्रमें उक्त कल्पनामय ईश्वरको 'अरूप-तत्त्व' के रूपमें स्थापित किया है। इन सभी मतवादपरायण आचार्यगणोंने वेद-सिद्ध स्वयं-भगवान्का परित्याग करके खण्ड-रूपसे (खण्ड-प्रतीतिमय) एक-एक 'मत' की स्थापना की है। षड-दर्शनके छहों मतकी उत्तम रूपसे आलोचना करते हुए उन-उन मतोंका खण्डन करके श्रीव्यासदेवने भागवत्-प्रतिपादक समस्त वेद-सूत्रोंका आश्रय करके वेदान्तसूत्रका निर्माण किया है। वेदान्तमतमें

ब्रह्म-सच्चिदानन्द-स्वरूप साकार है। निर्विशेष-वादीगण ब्रह्मको 'निर्गुण' एवं किसी विशेष स्थलपर भगवान्को सगुण (त्रिगुणमय) कहकर प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः तत्त्ववस्तु केवल निर्गुण अथवा गुणातीत नहीं है, बल्कि वे अनन्त चिद्गुण-राशिका आधार 'सगुण' विग्रह है। मतवादीगणोंके मतमें ईश्वरको (विष्णुको) परम कारण नहीं माना जाता है अर्थात् कोई भी सर्वेश्वर समस्त कारणोंके कारण विष्णुको नहीं मानते (फिर भी दूसरेके मतका खण्डन करते हुए अपने-अपने मतवादको स्थापित करनेका प्रयास करते हैं)। अतः महाजन जो कहते हैं, उसे ही सत्य मानना चाहिये।

तर्क अप्रतिष्ठित है, उसके द्वारा तत्त्वका निर्धारण नहीं किया जा सकता। श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा कोई ऋषि नहीं, जिसका मत भिन्न न हो। धर्मका तत्त्व अति रहस्यमय है। अतः महाजन अर्थात् पूर्वाचार्यगणोंने जिस पथका अवलम्बन किया है, उसी पथपर विचरण करना चाहिये।

हमारे परमाराध्यतम श्रीलप्रभुपादने अपने अनुभाष्यमें कहा है—

मायावादीगण श्रीशङ्करपादके शारीरकभाष्यके उद्दिष्ट शास्त्रको 'वेदान्त' कहते हैं अर्थात् वेदान्त कहनेसे शाङ्करमतावलम्बी अपने आचार्य द्वारा कृत केवलाद्वैतमूलक-भाष्य-तात्पर्य-विशिष्ट उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रको लक्ष्य करते हैं। सदानन्दयोगीन्द्रकृत 'वेदान्तसारमें' कहा गया है—*'वेदान्तो नाम उपनिषत्-प्रमाणम्, तदुपकारीणि शारीरक सूत्रादीनि च।'* वस्तुतः वेदान्त कहनेसे केवलाद्वैतवाद नहीं जाना जाता। श्रीवैष्णवाचार्य-चतुष्ट्य सभी वेदान्ताचार्य हैं, परन्तु वे शङ्करमतावलम्बी मायावादी नहीं हैं। भेद-दर्शनसे रहित होकर केवलाद्वैत-विचार मूलमें जो अहंग्रहोपासना है, उस प्रकारके मायावाद-पन्थी शुद्धाद्वैत, शुद्धद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और अचिन्त्य भेदाभेद स्वीकार नहीं करते, बल्कि केवलाद्वैत विचारको ही निर्दोष वेदान्त-मत कहकर विश्वास करते हैं। कृष्णमें प्राकृत देह और मनके द्वारा जो अनित्यसेवा अनुष्ठित होती है, उससे मायावादियोंकी सन्तुष्टि होती है अर्थात् वे कृष्णभक्तिको कर्मानुष्ठान-विशेष रूपमें जानते हैं इसीलिए उसीको 'अभक्ति' कहकर उन्हें सन्तोष होता है।

देखा जाता है कि दुःख परिहार एवं सुख-प्राप्तिके उपाय सम्बन्धमें पूर्वोक्त ऋषि अपनी-अपनी मनीषा द्वारा किसी भी उपायका उद्भावना क्यों न कर लें, इनमेंसे किसी भी उपायसे निःश्रेयस अर्थात् वास्तव कल्याणका पथ अथवा उपाय निश्चित नहीं किया जा सकता। मात्र श्रीभगवान्‌के शक्त्यावेशावतार श्रीव्यासदेवने 'वेदान्त' की रचना करके जीवके वास्तव कल्याणका पथ उन्मुक्त किया है और उन्होंने ही श्रीमद्भागवत-रचनाके द्वारा वेदान्तसूत्रका प्रकृत अर्थ परिस्फु
है। वेदान्तवेद्य स्वयं-भगवान् श्रीचैतन्यदेवने अवतीर्ण होकर वेदान्त तथा श्रीमद्भागवतका तात्पर्य स्वयं आचरण करके प्रचार करते हुए वास्तविक मङ्गल-प्राप्तिका एक राजकीय-वर्त्म (मार्ग) स्थापित किया है। श्रीमन्महाप्रभुके अनुग पार्षदवृन्द अद्यावधि (आज भी) उस पथका सन्धान जीवोंके द्वार-द्वारपर प्रकाश करके जीवहितैषणाका अपूर्व आदर्श स्थापन कर रहे हैं। सौभाग्यवान व्यक्ति उस पथका सन्धान प्राप्त करके नाना पथों, नाना मतोंसे विभ्रान्त नहीं होंगे।

श्रीसनातन गोस्वामी प्रभुके *'के आमि, केन मोरे जारे पापत्रय'*—इस प्रश्न-क्रममें महाप्रभुने जो कहा है, उसीमें ब्रह्म-जिज्ञासाका फल-जीवकी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति एवं वास्तव सुख-प्राप्तिका प्रकृत उपदेश निहित है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें द्रष्टव्य है—

जीवेर 'स्वरूप' हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर 'तटस्थाशक्ति', भेदाभेद प्रकाश॥

सूर्यांशु-किरण येन अग्निज्वालाचय।
स्वाभाविक कृष्णेर तिन प्रकार 'शक्ति' हय॥

कृष्णेर स्वाभाविक तिन शक्तिर परिणति।
चिच्छक्ति, जीवशक्ति आर मायाशक्ति॥

कृष्ण भूलि सेई जीव-अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।
दण्ड्यजने राजा येन नदीते चुबाय॥

साधु–शास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय।
सेइ जीव निस्तारे, माया ताहारे छाड़य॥

मायामुग्ध जीवेर नाहि कृष्णस्मृति ज्ञान।
जीवेर कृपाय कैला कृष्ण वेद–पुराण॥

शास्त्र–गुरु आत्मरूपे आपनारे जानान।
कृष्ण मोर प्रभु–त्राता जीवेर हय ज्ञान॥

वेदशास्त्र कहे 'सम्बन्ध', 'अभिधेय', 'प्रयोजन'।
'कृष्ण' प्राप्य–सम्बन्ध, 'भक्ति प्राप्त्येर' साधन॥

अभिधेय नाम–'भक्ति' 'प्रेम'—प्रयोजन।
पुरुषार्थ–शिरोमणि प्रेम–महाधन॥

कृष्ण–माधुर्य सेवा प्राप्त्येर कारण।
कृष्णसेवा करे कृष्णरस आस्वादन॥

इहाते दृष्टान्त यैछे दरिद्रेर घरे।
'सर्वज्ञ' आसि दुःख देखि पूछये ताहारे॥

तुमि केन एत दुःखी तोमार आछे पितृधन।
तोमारे ना कहिल अन्यत्र छाड़िल जीवन॥

सर्वज्ञेर वाक्ये करे धनेर उद्देशे।
ऐछे वेद–पुराण जीवे 'कृष्ण' उपदेशे॥

सर्वज्ञेर वाक्ये मूलधन अनुबन्ध।
सर्वशास्त्रे उपदेशे, 'श्रीकृष्ण' सम्बन्ध॥

बापेर धन आछे, जाने, धन नाहि पाय।
सर्वज्ञ कहे तार प्राप्तिर उपाय॥

'एई स्थाने आछे धन' बलि दक्षिणे खुदिबे।
भीमरुल बरुली उठिबे, धन ना पाइबे॥

'पश्चिमे खुदिबे', ताहा यक्ष एक हय।
से विघ्न करिबे—धने हात ना पड़य॥

‘उत्तरे’ खुदिले आछे, कृष्ण ‘अजगरे’।
धन नाहि पावे खुदिते गिलिबे सबारे॥

‘पूर्वदिके’ ताते माटी अल्प खुदिते।
धनेर क्षारि पड़िबेक तोमार हातेते॥

ऐछे शास्त्र कहे—कर्म, ज्ञान, योग त्यजि।
‘भक्त्ये’ कृष्ण वश हय भक्त्ये ताँरे भजि॥

अतएव ‘भक्ति’—कृष्ण प्राप्तिर उपाय।
‘अभिधेय’ बलि तारे सर्वशास्त्रे गाय॥

धन पाइले यैछे सुखभोग फल पाय।
सुखभोग हैते दुःख आपनि पलाय॥

तैछे भक्ति-फले कृष्ण प्रेम उपजय।
प्रेमे कृष्णास्वाद हैले भव नाश हय॥

दारिद्रय-नाश भवक्षय, प्रेमेर ‘फल’ नय।
प्रेमसुख भोग-मुख्य प्रयोजन हय॥

वेदशास्त्र कहे सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन।
कृष्ण, कृष्ण भक्ति, प्रेम—तिन महाजन॥

(चै॰च॰म॰ बीसवाँ परिच्छेद)

अब गन्थ-विस्तारके भयसे और अधिक अग्रसर न होकर श्रीगौरसुन्दरकी कृपासे अभिषिक्त होनेपर किस प्रकारका फल प्राप्त होता है, उसका एक जाज्वल्यमान प्रमाण उल्लेख करके क्षान्त (धैर्यशील/क्षमाशील) हो रहा हूँ। श्रीगौरसुन्दरने श्रीवासुदेव सार्वभौमका उद्धार करनेपर उस समयके वे लोग, जिन्होंने समस्त दर्शन-शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया था और अद्वितीय नैयायिक एवं वैदान्तिक रूपमें जिनका परिचय था, उन लोगोंने श्रीसार्वभौमके श्रीमन्महाप्रभुके कृपाप्राप्त होनेके बाद जो कहा था, पद्यावलीमें उद्धृत उसमेंसे एक वाणीको यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

ज्ञातं काणभुजं मतं परिचितैवान्वीक्षिकी शिक्षिता,
मीमांसा विदितैव सांख्यसरणिर्योगे वितीर्णा मतिः।

वेदान्ताः परिशीलिताः सरभसं किं तु स्फु
धारा काचन नन्दसूनुमुरली मच्चित्तमाकर्षति॥
(श्रीपद्यावली धृत ९९ श्रीसार्वभौम-वाक्य)

अर्थात् मैंने कणादका मत जान लिया है, आन्वीक्षिकी विद्याके साथ परिचित हूँ, मीमांसक-शास्त्रको भी अधिगत किया है, सांख्य-सरणि अर्थात् सांख्य-मत भी मेरे द्वारा विदित है, पतञ्जलिके योग-शास्त्रमें भी मेरी मतिने विस्तार पाया है, वेदान्त-शास्त्रका भी मैंने अनुशीलन कर लिया है किन्तु श्रीनन्दनन्दनकी कोई मुरली-माधुरी-धारा वेगपूर्वक मेरे चित्तका आकर्षण कर रही है।

इस प्रसङ्गमें श्रीलजीवपाद द्वारा श्रीपरमात्म-सन्दर्भमें उद्धृत श्रीनृसिंह-पुराणमें वर्णित श्रीयमराजके वाक्यको उद्धृत न करूँ तो क्षान्त नहीं हो सकूँगा—

'विषधर-कणभक्ष-शङ्करोक्ती-दशबल-पञ्चशिखाक्षपादवादान्। महदपि सुविचार्य लोकतन्त्रं, भगवदुपास्तिमृते न सिद्धिरस्ति।'

अर्थात् विषधर (योगदर्शनकार शेषावतार पतञ्जलि), कणभुक् (वैशेषिक मत-प्रवर्त्तक) और शङ्करोक्तीः अर्थात् रूद्रोक्त प्राचीन मायावादकी उक्तियाँ दशबल अर्थात् बौद्धमत, पञ्चशिख अर्थात् सांख्य-मत अक्षपाद अर्थात् न्याय-दर्शन प्रणेता गौतम, लोकतन्त्र अर्थात् पूर्वमीमांसा-शास्त्र अथवा लोकायत चार्वाक्-मत, इन सबका उत्तम रूपमें सुष्ठु विचार करके निश्चय किया है कि श्रीभगवत्-उपासनाके बिना सिद्धि-प्राप्तिका अर्थात् पुरुषार्थ-प्राप्तिका अन्य कोई पथ नहीं है।

वेदान्तसूत्रके इस द्वितीय अध्यायमें और भी अनेक मतवादोंका निराकरण हुआ है, जिन्हें ग्रन्थमें उन-उन स्थानोंपर देखना चाहिये।

हम पहलेसे ही जानते हैं कि वेदान्तसूत्रके चार अध्याय हैं। इनमेंसे प्रथम अध्याय पहलेसे ही प्रकाशित है। अब दूसरा अध्याय प्रकाशित हो रहा है। वेदान्तका प्रथम और द्वितीय अध्याय सम्बन्ध-तत्त्वात्मक है। इनमें प्रथम अध्यायमें जो समस्त श्रुतियाँ परब्रह्म श्रीहरिमें समन्वित हैं, उनका दिग्दर्शन हुआ है और द्वितीय अध्यायमें ऊपर-ऊपर-से जिन श्रुतियोंका परस्पर विरोध प्रतीत होता है, उन सबकी मीमांसा

हुई है और वेदविरुद्ध सभी मतवादोंका निरसन हुआ है। इस कारण इस अध्यायको 'अविरुद्ध' नामक संज्ञासे संज्ञित किया गया है।

वेदान्तका प्रत्येक अध्याय पुनः चार पादोंसे समन्वित है। अतः दूसरे अध्यायमें भी चार पाद हैं। पूर्वखण्डमें हमने वेदान्तके प्रथम अध्यायके पाद-चतुष्ट्यका अधिकरण-विवरण संक्षेप रूपसे प्रदान करनेका प्रयास किया था। अब इस द्वितीय अध्यायके चारों पादोंका अधिकरण-विवरण संक्षेपमें प्रदान किया जा रहा है।

वेदान्तके द्वितीय अध्यायके प्रथम पादमें पन्द्रह अधिकरण और सैंतीस सूत्र हैं। इनमें प्रथम 'स्मृत्यनवकाशाधिकरण' में निरीश्वर सांख्य-मतका खण्डन देखा जाता है—मनु आदि स्मृति-शास्त्र ब्रह्मकी ही एकमात्र जगत्-कारणताका संस्थापन कर रहे हैं। इतना ही नहीं, विष्णुपुराणमें पराशर ऋषिने भी इसी प्रकारसे बतलाया है। श्रुति और तदनुकूल स्मृति तारस्वरसे श्रीभगवान्को ही जगत्का सृष्टिकर्त्ता कहकर प्रकाश कर रही है, किन्तु अग्नि-वंशज कपिलने श्रुति-विरुद्ध स्वकपोल-कल्पित सांख्य-मतके द्वारा जड़ा-प्रकृतिके जगत् कारणतावादको स्थापित करनेका प्रयास किया है। श्रुति-अनुसारिणी मनु आदि स्मृतिके साथ विरोधके कारण निरीश्वर सांख्य-शास्त्र प्रणेता कपिलका वेद-विरुद्ध मत अग्राह्य है।

दूसरे 'योग प्रत्युक्ताधिकरण' में पतञ्जलिके वेदान्त-विरुद्ध योग-स्मृतिका खण्डन देखा जाता है। यद्यपि यह स्मृति यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूप अष्टाङ्ग-समन्वित है और इस योग-स्मृतिमें सेश्वरवादकी कथा रहनेपर भी कु कपिलोक्तिरूप शैवाल द्वारा आवृत्त होनेके कारण, प्रधानको स्वतन्त्र रूपमें सृष्टिकारणताका समर्थन और वैदिक सिद्धान्तानुयायी परमेश्वरके अनिरूपणत्वके कारण उक्त मत भी उपेक्षणीय है।

तीसरे 'न विलक्षणत्वाधिकरण' में पाया जाता है कि सांख्य-स्मृति और योग-स्मृति भ्रम, प्रमाद, वञ्चनेच्छा और इन्द्रियकी अपटुतायुक्त कपिल और पातञ्जलि इत्यादि जीव-विशेष द्वारा रचित हैं, किन्तु वेदशास्त्र अपौरुषेय, नित्य और भ्रमादि दोषोंसे रहित है, अतः उनका वैशिष्ट्य विलक्षण है। मनु आदि स्मृति वेदानुसारिणी होनेके कारण उनका प्रामाण्य स्वीकार्य है।

चौथे 'अभिमानि-व्यपदेशाधिकरण' में पाया जाता है कि तेज, जल और प्राणादिके अभिमानी चेतनमें देवता रूपमें परब्रह्म ही विश्वैककारण-कारण होनेके कारण वेदका कहीं भी अप्रामाण्य नहीं है।

पाँचवें 'दृश्यते त्वित्यधिकरण' में दिग्दर्शित हुआ है कि ब्रह्म एवं जगत्-दोनोंमें विरूपता रहनेपर भी ब्रह्म ही जगत्के कारण हैं, यह सुनिश्चित है। वैरूप्य-विशिष्ट दोनों वस्तुओंका उपादान और उपादेय भाव देखा जाता है। गुणोंकी जिस प्रकार विजातीय द्रव्यसे उत्पत्ति है, उसी प्रकार मधुसे क्षुद्र कीटकी उत्पत्ति, कल्पद्रुमसे हस्ती-अश्वकी उत्पत्ति और चिन्तामणिसे स्वर्णकी उत्पत्ति देखी जाती है।

छठे 'असदिति चेदित्यधिकरण' में निरूपण हुआ है कि शक्तिमान उपादान ब्रह्मसे उपादेय जगत्की उत्पत्तिमें शक्तिमानकी शक्तिकी परिणति ही प्रकाशित होती है, द्रव्यान्तर नहीं।

सातवें 'एतेन शिष्टत्यधिकरण' में वेदविरोधी गौतम और कणादिकी स्मृतिका खण्डन है। वेद-विरोधी कपिल और पतञ्जलिके मत-खण्डनके द्वारा न्याय और वैशेषिक मतका भी निराकरण हुआ है। खण्डनका हेतु है—वेद-विरुद्धता जो दोनों ही पक्षोंमें समान है।

आठवें 'तदनन्यत्वारम्भणाधिकरण में' बताया गया है कि जगत्के उपादान जीवशक्ति और प्रकृति-शक्ति-युक्त ब्रह्मसे उपादेय जगत् अभिन्न है। ब्रह्म ही चिज्जड़ात्मक समग्र जगत्के उपादान हैं, इसलिए ब्रह्मसे जगत् भिन्न नहीं है, हृदयमें इस प्रकारसे निश्चय करके उपादानभूत ब्रह्मको जाननेपर समस्त जगत्को जाना जा सकता है। जिस प्रकार मृत्-पिण्डको जाननेपर उस उपादानसे उत्पन्न घटादि पदार्थोंको भी जाना जा सकता है, उसी प्रकारसे।

परवर्त्तीकालीन उपादेयकी अभिव्यक्तिके पूर्व भी उपादान कारणमें तादात्म्य रूपसे अवस्थितिके कारण उपादानसे उपादेय अभिन्न है। स्थूल एवं सूक्ष्म भेदसे जगत्की दो अवस्थाएँ हैं, वे ही सत् और असत् शब्दोंके द्वारा बोध्य हैं। इसलिए जगत्को जो असत् कहा जाता है, उसका अर्थ है कि जगत् सूक्ष्म अवस्थामें था। उसमें शून्यवाद स्थापित नहीं था। इसका कारण है कि सूक्ष्मावस्थामें भी

जगत्‌की सत्ता रहती है। पटका दृष्टान्त और वट-बीजादिका दृष्टान्त जगत्‌की अभिव्यक्तिके पक्षमें ग्रहणीय है।

नवें 'इतरव्यपदेशाधिकरण' में जीवका कर्त्तृत्ववाद खण्डित हुआ है। जीव-कर्त्तृत्व-स्वीकार करनेपर हिताकरण दोषकी प्रसक्ति होती है अर्थात् आत्महितका अकरण, अहितका करण और भ्रम इत्यादि दोषके कारण जीवको जगत्-कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। कारण स्पष्ट है कि कोई स्वाधीन बुद्धिमान व्यक्ति अपने बन्धनके लिए अपनी कारागारका स्वयं निर्माण नहीं करेगा जीवसे परमेश्वर सर्वांशमें उत्कृष्ट हैं और प्रभूत शक्तिशाली हैं। इसके अतिरिक्त जीवका स्वातन्त्र्य ईश्वरके अधीन है।

दसवें 'उपसंहार-दर्शनाधिकरण' में देखा जाता है कि जीवमें दृश्यमान कार्य-समाप्ति दुग्धके समान होती है। जिस प्रकार गायोंमें दृश्यमान दुग्धमें गायकी स्वाधीन चेष्टा नहीं है, वह प्राणसे ही उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जीवमें दृश्यमान कार्यके उपसंहार भी जीवकी स्वाधीन चेष्टा नहीं है, वह ईश्वरसे ही होती है। अतः जीवका कर्त्तृत्व ईश्वराधीन है और यह ईश्वरकी इच्छासे ही संघटित होता है। जिस प्रकार इन्द्रादि देवता अप्रत्यक्ष रहकर भी वर्षणादि कार्य करते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर अप्रत्यक्ष रूपसे जगत्-सृष्ट्यादि करते हैं तो इसमें आश्चर्यकी बात क्या है?

ग्यारहवें 'कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण' में देखा जाता है कि श्रुति-मतमें जीवका स्वरूप ब्रह्मका अंश-अणुपरिमाण है, इसीलिए जीव-कर्त्तृत्ववाद पक्ष मन्द अर्थात् हेय है। यद्यपि किसी स्थलपर जीवसे वस्तु-उत्पत्तिका प्रसङ्ग सुना जाता है किन्तु वह ब्रह्मपर है, जीवपर नहीं। श्रुति-प्रतिपाद्य ब्रह्म वस्तु अलौकिक और अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न है। अतः ब्रह्मकर्त्तृत्ववाद ही उपादेय है एवं वही प्रमाणसिद्ध है, इसलिए ग्राह्य है।

बारहवें 'सर्वोपेताधिकरण' में ब्रह्मका जगत्-कर्त्तृत्व-स्थापन दिखायी देता है। कारण है कि परमेश्वर सर्वशक्ति समन्वित हैं और उनमें स्वभाव-सिद्ध अविचिन्त्य-शक्ति वर्त्तमान है—अतः उनका ही जगत्-कर्त्तृत्व सङ्गत अर्थात् युक्तियुक्त है। परमेश्वरके प्राकृत चरणादि

निषिद्ध होनेपर भी अप्राकृत स्वरूपानुबन्धी इन्द्रियादि हैं और उन्हींके द्वारा उनके लिए कर्त्तृत्वादि कु

तेरहवें 'न प्रयोजनवत्त्वाधिकरण' में ब्रह्मके द्वारा जगत्-सृष्टि आदि मात्र लीला है—इस रूपमें जानी जाती है। परमेश्वरके पूर्णकाम होनेपर भी उनका यह जगत्-सृजन केवल लोकवत् लीला है। सुखोन्मत्त व्यक्तिकी जिस प्रकार 'सुखोद्रेक' के वशीभूत होकर फलाकांक्षाके बिना ही नृत्यादि क्रीड़ा देखी जाती है, उसी प्रकार परमेश्वरकी भी लीलार्थ सृष्टि आदिमें प्रवृत्ति है। अतएव उनकी यह लीला भी स्वरूपानन्द-स्वभावसिद्ध है।

चौदहवें 'वैषम्यनैर्घृण्येनेत्यधिकरण' में देखा जाता है कि विचित्र जगत्-सृष्टि आदिमें ब्रह्मकी विषमता और निर्दयता नहीं है। सृष्टिकर्त्ता श्रीहरि जीवकी कर्मानुसार सृष्टि करते हैं। जिस प्रकार राजा भृत्यादिको उसकी सेवानुसार फल देता है परन्तु उसमें नृपतित्वका अभाव देखा नहीं जाता, उसी प्रकार ईश्वर जीवको कर्मानुसार फल दान करते हैं पर उनमें अनीश्वरत्व अथवा कर्माधीनत्व प्रकाशित नहीं होता। कर्म और क्षेत्रज्ञ जीव ब्रह्मके समान अनादि हैं इसलिए पूर्व-पूर्व जन्मोंमें अर्जित कर्मानुसार बाद-बादके जन्मोंके कर्ममें ईश्वर जीवको प्रवृत्त करते हैं, अतः उनमें कोई दोष नहीं है। और यह जो देखा जाता है कि भगवान् भक्तवत्सल हैं, वे अपने भक्तोंमें पक्षपातरूप वैषम्य प्रदर्शन करते हैं, वह भी उनका दोष नहीं है, बल्कि यह उनकी भक्तवत्सलता गुण रूपमें ही प्रशंसित है। श्रीभगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी वृत्तिभूत भक्ति-सापेक्षत्वके कारण भक्तका रक्षा-कार्य साधित होता है।

पन्द्रहवें 'सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण' में देखा जाता है कि अ(व)चिन्त्य-स्वरूप सर्वेश्वर श्रीहरिमें विरुद्ध अथवा अविरुद्ध सभी धर्मोंका समावेश उपपन्न (प्रमाणित) एवं सिद्ध है। इसलिए शुद्ध-चरित विज्ञगणोंके भक्त-पक्षपातको भी श्रीभगवान्‌के गुणोंमें ग्रहण करना चाहिये और श्रद्धा करनी चाहिये।

अब इस अध्यायके द्वितीय पादके अधिकरण-विवरणका संक्षेप रूपसे वर्णन किया जाता है। पूर्वपादमें स्मृति-तर्क-विरोधका परिहार करते हुए प्रस्तुत पादमें पर-पक्षका दोष प्रदर्शित हो रहा है।

पहले 'रचनानुपपत्तेरित्यधिकरण' में देखा जाता है कि यह जो जड़-प्रधान है, वह विचित्र जगत्‌के उपादान अथवा निमित्त कारण रूपमें प्रमाणित नहीं होता। इसका कारण यह है कि किसी चेतन पदार्थ द्वारा अधिष्ठित न होनेके कारण विचित्र जगत्-रचना जड़-प्रधानके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती। दृष्टान्त रूपमें कहा जा सकता है कि जिस प्रकार चेतन शिल्पीके बिना केवल स्वयं ईंट आदिसे प्रासाद निर्मित नहीं होता। इस अधिकरणमें विभिन्न युक्तियों एवं दृष्टान्तोंके द्वारा जड़के कर्त्तृत्ववादका खण्डन हुआ है।

दूसरे 'महद्दीर्घवदधिकरण' में न्याय और वैशेषिक मतके द्वारा सिद्धान्तित 'आरम्भवाद' का खण्डन हुआ है। अवयवशून्य परमाणुसे सावयव द्व्यणुकादिकी उत्पत्ति असम्भव है। ह्रस्व द्व्यणुक और परमाणुसे महत् एवं दीर्घ त्र्यणुककी उत्पत्ति असमञ्जस है, सभी तार्किक गणोंका मत असमञ्जस (मूर्खतापूर्ण) एवं युक्ति-विरुद्ध रूपमें अश्रद्धेय है, यही प्रमाणित हुआ है।

तीसरे 'समुदाय इत्यधिकरण' में बौद्धमतका खण्डन है। परमाणु हेतुक बाह्य समुदय और विज्ञानादि स्कन्ध चतुष्टय हेतुक आभ्यन्तर समुदय—इन दोनोंके स्वीकार करनेपर भी उनके द्वारा जगदात्मक समुदायकी सिद्धि नहीं होती। इसका कारण है कि समुदायी वस्तुके अचेतनत्वके कारण और समुदय-योजक चेतनत्व क्षणिकत्व और स्थायी संघातकर्त्ताके अभावके कारण यह सब असिद्ध है। और यदि स्वतः-प्रवृत्तिसे उत्पत्ति स्वीकार की जाय, उसमें भी निरन्तर जगत्-समुदायकी उत्पत्ति रूपमें दोष आ पड़ता है, इसलिए वैभाषिकादिकी इस प्रकारसे कल्पना भी युक्तियुक्त नहीं है और भूत-भौतिक और चित्तचैत-समुदायद्वयके द्वारा जगदात्मक समुदायकी असिद्धिके कारण यह मत भ्रान्त है।

चौथे 'नाभाव उपलब्ध्यधिकरण' में पाया जाता है कि बौद्ध मतावलम्बी वैभाषिक और सौत्रान्तिकोंका मत निरस्त होनेके बाद विज्ञानमात्रवादी योगाचार मत भी खण्डित हुआ है। बाह्य पदार्थका अभाव कहा नहीं जा सकता क्योंकि उपलब्धि होती है। अतः प्रत्यक्षसिद्धके अपलापकारीका मत अप्रमाणित है। क्षणिकत्ववादीके

मतमें वासनाके आश्रयमें कोई स्थिर पदार्थ नहीं है, अतः सभी पदार्थोंके क्षणिक कहनेपर त्रिकालमें स्थिर वासनाश्रय चेतन पदार्थ न होनेके कारण देश, काल एवं निमित्त—सापेक्ष वासना, ध्यान और स्मरणादि व्यवहार सम्भव नहीं होता, आश्रयके अभावमें वासना सिद्ध नहीं होती और वासनाके अभावमें ज्ञान-वैचित्र्य भी असम्भव होता है, अतएव विज्ञानमात्रवाद तुच्छ एवं हेय है।

पाँचवें 'सर्वथानुपपत्त्यधिकरण' में देखा जाता है कि सर्वशून्यवादियोंका मत समस्त प्रकारसे अयौक्तिक है। वे कहते हैं—शून्य ही तत्त्व है और शून्यताका ज्ञान ही मोक्ष है—इस मतका सर्वतोभावसे खण्डन हुआ है। शून्यको सत्स्वरूप, असत्स्वरूप अथवा सदसत्स्वरूप जो भी कहा जाय, इसमें किसी प्रकारसे उनका अभिमत सिद्ध हो नहीं सकता क्योंकि उसमें कोई युक्ति तो हो, युक्ति ही नहीं है। इस प्रकारसे बौद्धमत निराकरणके द्वारा इस बौद्ध-सदृश (दृष्टि-सृष्टिवादी) मायावादीका मत भी निरस्त हुआ है। कारण यह है कि मायावादीके मतमें वस्तुका क्षणिकत्व अनुसरण करके दृष्टि-सृष्टिका वर्णन किया गया है तथा शून्यवादका अवलम्बन करके विवर्त्तवादका निरूपण किया गया है, उनका यह सब मायावाद और विवर्त्तवाद पृथक् रूपसे निरस्त नहीं किया गया।

छठे 'नैकस्मिन्नसम्भवाधिकरण' में जैन मतावलम्बियोंके दोषोंका प्रदर्शन हुआ है। जैनोक्त पदार्थ सप्तभङ्गी न्यायके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि किसी एक वस्तुमें एककालीन एक साथ विरुद्ध धर्मोंका उसी प्रकार समावेश हो नहीं सकता जिस प्रकार एक वस्तुमें एक ही समय शैत्य एवं उष्णता—दोनों एक साथ रह नहीं सकते। पुनः अनिश्चित सत्त्व अथवा असत्त्व पक्षमें भी स्वर्ग, नरक और मुक्तिके परस्पर संमिश्रणके कारण स्वर्गके उद्देशमें, अथवा नरकके निवृत्ति रूपमें अथवा मुक्तिके निमित्त किसी साधनका विधान सार्थक नहीं होता। यह भी है कि उनके मतमें सप्तभङ्गी न्यायके आश्रयमें दोनों पक्षके उपन्यासके द्वारा पदार्थोंकी सत्ता और असत्ता धर्मविशिष्ट होनेके कारण यह अनिश्चित ही होता है। अतएव उर्णनाभके सूत्रके

समान यह सप्तभङ्गी न्याय स्वयंसे ही विच्छिन्न हो पड़ता है, उसकी परीक्षा की भी आवश्यकता देखी नहीं जाती।

सातवें 'पत्युरसामञ्जस्याधिकरण' में पाशुपत, शैव, गाणपत्य और सौरादि मत खण्डित हुए हैं। पशुपति, गणपति अथवा दिनपति इत्यादिका सिद्धान्त सङ्गत नहीं है क्योंकि वह सामञ्जस्य हीन है अर्थात् ये सभी सिद्धान्त वेद-विरुद्ध हैं। वेदमें एकमात्र श्रीनारायणका ही जगत्-कर्त्तृत्व स्वीकृत हुआ है और अन्याय देवताओंके कार्य भी विष्णुकी अधीनतामें निष्पन्न होते हैं। श्रीविष्णु द्वारा आदिष्ट वर्णाश्रमधर्म, ज्ञान और भक्ति ही मुक्तिके उपाय रूपमें निर्णीत हुए हैं। इन सभी मतोंमें सम्बन्ध और अधिष्ठानके प्रमाणका अभाव देखा जाता है।

आठवें 'उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण' में शाक्त-मतका खण्डन हुआ है। चेतन द्वारा अनधिष्ठित होनेपर शक्तिका जगत्-कर्त्तृत्व असम्भव है। शक्तिवादमें भी वेद-विरुद्धता रहनेके कारण अनुमानके द्वारा शक्तिके कर्त्तृत्वकी कल्पना करनी होती है क्योंकि श्रुति तो परमेश्वरके ही जगत्-कर्त्तृत्वका स्थापन करती है। लौकिक दृष्टान्तमें भी यह युक्ति-विरुद्ध है, पुरुषके संसर्गके बिना किसी भी स्त्रीसे सन्तान उत्पन्न होती देखी नहीं जाती।

वेदान्तके द्वितीय अध्यायके तीसरे पादमें कु
और उन्नीस सूत्र हैं।

इस पादमें परमेश्वरसे चौबीस तत्त्वोंकी उत्पत्ति और लय, जीवकी उत्पत्तिका अभाव, ज्ञानवपु जीवका ज्ञानाश्रयत्व, जीवका परमाणु-परिमाणत्व, ज्ञानके द्वारा व्यापित्व, कर्त्तृत्व, ब्रह्मांशत्व, मत्स्यादि अवतारोंका साक्षात् ईश्वरत्व, शुभाशुभ अदृष्टवश जीवकी विचित्रता इत्यादि विषय, इनके विरोधी वाक्योंका। खण्डन मुख्य रूपसे प्रमाणित किया गया है।

पहले 'वियदधिकरण' में पूर्वपक्षीके मतमें आकाशकी उत्पत्ति नहीं है—यह निश्चित होनेपर इसके उत्तरमें सूत्रकारने तैत्तिरीयश्रुति द्वारा ब्रह्मसे आकाशकी उत्पत्ति प्रमाणित की है। दूसरे 'मातरिश्वव्याख्यानाधिकरण'

में आकशकी उत्पत्तिके कथनके द्वारा वायुकी उत्पत्ति भी ब्रह्मसे ही बतलायी गयी है।

तीसरे 'असम्भवाधिकरण' में प्राप्त है कि ब्रह्मतत्त्व किसीसे उत्पन्न नहीं है। ब्रह्मकी उत्पत्ति असम्भव है। कारण यह है कि उनकी उत्पत्तिके विषयमें कोई युक्ति भी नहीं है और शास्त्र-प्रमाण भी नहीं है।

चौथे 'तेजोऽधिकरण' में वर्णित हुआ है कि वायुसे अग्निकी उत्पत्ति होती है, यह श्रुति द्वारा प्रतिपन्न (प्रमाणित) है।

पाँचवें 'अधिकरण' में देखा जाता है कि अग्निसे जलके उल्लेखका कथन भी श्रुतिमें है।

छठे 'पृथिव्यधिकरण' में वर्णन हुआ है कि अन्न-शब्दसे इस स्थलपर पृथ्वी ही ग्रहणीय है, क्योंकि तैत्तिरीयश्रुतिमें अग्निसे जलकी उत्पत्तिका कथन श्रुतिमें है।

सातवें 'तदभिध्यानाधिकरण' में परमेश्वर श्रीहरिका अभिध्यान अर्थात् सङ्कल्परूप लिङ्ग प्रमाणसे परमेश्वर ही चौबीस तत्त्वोंके साक्षात् दृष्टा हैं—यह अवगत होता है।

आठवें 'विपयर्याधिकरण' में विपर्यय रूपमें दृष्ट-क्रमसे और सर्वेश्वरसे सबकी उत्पत्ति युक्तियुक्त है अन्यथा शब्दका अभिप्राय भङ्ग होता है।

नवें 'अन्तरा विज्ञानाधिकरण' में प्राप्त है कि चराचर-वाचक समस्त शब्द मुख्यवृत्तिमें ईश्वर वाचक होते हैं।

दसवें 'चराचर व्यपाश्रयाधिकरण' में प्राप्त है कि चराचर-वाचक समस्त शब्द मुख्यवृत्तिसे ईश्वर वाचक हैं।

ग्यारहवें 'आत्माधिकरण' में देखा जाता है कि जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता। कारण है कि श्रुति एवं स्मृति-प्रमाणसे जीवका नित्यत्व ही प्रमाणित होता है।

बारहवें 'ज्ञाधिकरण' में प्राप्त होता है कि जीवात्मा ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञाता है।

तेरहवें 'उत्क्रान्त्यधिकरण' में वर्णन है कि जीवका स्वरूप परमाणु-परिमाण है, विभु नहीं क्योंकि उसकी उत्क्रान्ति, गति और आगति क्रिया है।

चौदहवें 'कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वाधिकरण' में पाया जाता है कि जीव ही कर्त्ता है; प्रकृतिका गुण कर्त्ता नहीं है। इसका कारण है कि जीवका कर्त्तृत्व स्वीकार करनेमें शास्त्रार्थकी सङ्गति सिद्ध होती है, गुणका कर्त्तृत्व कहनेपर असङ्गति प्रकाश पाती है। गुणसमूह जड़ है, वह फल-हेतुत्व ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, मुक्त जीवका भी कर्त्तृत्व सिद्ध है।

पन्द्रहवें 'तक्षाधिकरण' में दिखायी देता है कि जीव प्राणादि द्वारा कर्त्ता है एवं प्राणादिके ग्रहणमें भी निज शक्ति द्वारा कर्त्ता है, सूत्रधर (बढ़ई) जिस प्रकार काष्ठ छेदनमें वाश्यादि (वसूलादि) के द्वारा कर्त्ता भी है और वसूलादि धारणमें भी अपनी शक्ति द्वारा कर्त्ता है।

सोलहवें 'परायत्ताधिकरण' में है कि जीवका कर्त्तृत्व परमेश्वरके अधीन होता है। इसका कारण है कि परमेश्वर जीव-हृदयमें अन्तर्यामी रूपमें प्रवेश करते हुए उन्हें कर्ममें नियोजित करते हैं। पुनः उस जीव-कृत धर्माधर्म लक्षण-प्रयत्नकी अपेक्षा करके ही उसे प्रवृत्त किया जाता है। परमेश्वर मेघके समान निमित्तमात्र होकर जीवको धर्माधर्म-समुत्थित विषम फल प्रदान करते हैं।

सत्रहवें 'अंशाधिकरण' में वर्णन हुआ है कि जीव परमेश्वरका अंश है। सूर्यकी किरण जिस प्रकार सूर्यकी अंश हैं, उसी प्रकार। अतएव जीव ब्रह्मसे भिन्न होकर भी परमेश्वर-सम्बन्धापेक्षी है।

अठारहवें 'स्वांशाधिकरण' में प्राप्त होता है कि स्वांश-मत्स्यादि अवतार जीववत् नहीं हैं। मत्स्यादि अवतारगण स्वांशतत्त्व एवं अंशीके साथ अभिन्न हैं और जीवगण विभिन्नांश हैं। तेजका अंश रवि जिस प्रकार तेजः शब्दसे शब्दित खद्योतके समान हो नहीं सकता और जलांशभूत सुधा और मद्यादि जिस प्रकार जल शब्दसे शब्दित होनेपर भी परस्पर सम हो नहीं सकते, उसी प्रकार मत्स्यादि अवतार भी जीवके समान नहीं हो सकते।

उन्नीसवें 'अदृष्टोनियमाधिकरण' में पाया जाता है कि स्वरूपतः जीवोंका साम्य रहनेपर भी उनके अदृष्टोंके अनियमके कारण अर्थात् अदृष्टोंकी विभिन्नताके कारण जीव-समुदय परस्पर विभिन्न है और अदृष्ट भी अनादि है।

अब द्वितीय अध्यायके चतुर्थपादका भी अधिकरण–वितरण संक्षिप्त रूपसे वर्णित हो रहा है। इस अध्यायमें प्राण विषयक श्रुति–विरोधका परिहार किया गया है।

पहले 'प्राणोत्पत्त्यधिकरण' में देखा जाता है कि परमेश्वरसे जिस प्रकार आकाशादि भूतसे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार प्राण और इन्द्रियाँ भी उनसे उत्पन्न होती हैं।

दूसरे 'सप्तगत्यधिकरण' में वर्णित है कि प्राण सात हैं क्योंकि जीवके साथ सप्त प्राणोंकी भी सञ्चाररूप गति सुनी जाती है। हस्तादिको भी प्राणके रूपमें मानना होगा क्योंकि वे भी जीवके भोगकी सहायता करते हैं।

कर्ण, चक्षु, नासिका, रसना और त्वक्—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और मन—ये सात जीवकी मुख्य इन्द्रिय हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रिय भी जीवकी ईषद्–उपकारक रूपमें है, इनकी इन्द्रिय संज्ञा गौणी जाननी होगी। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और उभयात्मक मन—ये एकादश प्राण हैं।

तीसरे 'प्राणानुत्वाधिकरण' में देखा जाता है कि यह ग्यारह प्राण ही अणु–परिमाण हैं। इसका कारण है श्रुतिमें इनके उत्क्रमणका वर्णन है।

चौथे, 'प्राण श्रैष्ठत्यधिकरण' में प्रतिपादन है कि श्रेष्ठ अर्थात् मुख्य प्राण भी आकाशादि भूतोंके समान सर्वेश्वरसे उत्पन्न है।

पाँचवें 'न वायुक्रियाधिकरण' में वर्णन है कि श्रेष्ठ अर्थात् मुख्य प्राण साधारण वायु भी नहीं है और स्पन्दन क्रियास्वरूप भी नहीं है। यह प्राण जीवका उपकरण अर्थात् प्रधान सहायक है।

छठे 'क्रियाऽभावाधिकरण' में जाना जाता है कि प्राण अकरण अर्थात् क्रियाहीन रूपमें चक्षुः आदिके समान उपकरण रूपमें गृहीत हो नहीं सकते, ऐसा नहीं है क्योंकि प्राण चक्षुः आदिके समान क्रिया न करनेपर भी ये शरीर और इन्द्रियोंके धारणादि रूप महोपकारत्व–साधन हैं, यही उनका प्रधान कर्म है। इसलिए प्राण ही जीवका मुख्य उपकरण है। राजकर्मचारीगण जिस प्रकार राजाका

कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व सम्पादन करते हैं, चक्षुः आदि इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार जीवका कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व सम्पादन करती हैं। प्राण राजमन्त्रीके समान समस्त विषय साधन करते हैं।

सातवें 'मनोवत् पञ्चवृत्त्यधिकरण' में देखा जाता है कि एक मन जिस प्रकार काम, सङ्कल्प, विकल्प इत्यादि वृत्ति भेदसे विभिन्न संज्ञाओंसे संज्ञित होता है, उसी प्रकार एक ही प्राण हृदयादि पञ्च स्थानोंपर पञ्च प्रकारोंसे रहकर विभिन्न कार्य साधते हैं, विभिन्न संज्ञा बहु-वृत्तिरूप धर्म ही प्राणके साथ मनका दृष्टान्त है।

आठवें 'श्रेष्ठानुत्वाधिकरण' में वर्णन है कि श्रेष्ठ प्राण भी अणु-परिमाण है क्योंकि उसकी उत्क्रान्ति आदि हैं।

नवें 'ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरण' में देखा जाता है कि ज्योतिर्मय ब्रह्म ही प्राणादिका मुख्य प्रवर्त्तक है।

दसवें 'इन्द्रियाधिकरण' में अवगत होता है कि प्राण शब्दके द्वारा शब्दित उसे मुख्य प्राणके अतिरिक्त अन्य प्राणमात्रसे इन्द्रियको जानना होगा।

ग्यारहवें 'संज्ञामूर्त्तिक्लप्त्यधिकरण' में देखा जाता है कि त्रिवृत्कर्त्ता परमेश्वर ही नाम एवं रूपादिके कर्त्ता हैं, वह सब जीवका कार्य नहीं है। मूर्त्ति शब्दित देहके विचारमें भी देखा जाता है कि देहके अन्तर्गत मांसादि पार्थिव हैं, रक्त और अस्थि आदि यथाक्रमसे जलीय और तैजस हैं।

श्रील भक्तिविनोद ठाकु

केशव! तुया जगत विचित्र।
करमविपाके, भववन भ्रमई,
देखलुँ रङ्ग बहु चित्र॥

तुया पद विस्मृति, आ-मर यन्त्रणा,
क्लेश-दहने दहि याइ।
कपिल, पतञ्जलि, गौतम, कणभोजी,
जैमिनि, बौद्ध आओये धाइ॥

तब कइ निज–मते भुक्ति–मुक्ति याचत,
पातइ नानाविध फाँद।
सो सबु–वञ्चक, तुया भक्ति बहिर्मुख,
घटाओये विषम परमाद॥

वैमुख–वञ्चने, भट सो सबु,
निरमिल विविध पसार।
दण्डवत् दूरत, भकतिविनोद भेल,
भकतचरण करि सार॥

अर्थात् हे केशव! आपका यह संसार कैसा विचित्र है! अपने कर्मके परिणामस्वरूप भ्रमण करते–करते मैंने बहुत–सी विचित्र वस्तुओंको देखा है। आपके चरणोंकी विस्मृति होनेके कारण मरण–सदृश दुःख पाकर मैं क्लेश–दहन (कष्टोंकी आग) में जल रहा हूँ। कपिल, पतञ्जलि, गौतम, कणभोजी (कणाद), जैमिनि और बुद्ध सब अपने–अपने मतमें भुक्ति–मुक्तिकी याचना करते हैं एवं नाना प्रकारके बन्धनोंमें बाँधते हैं। ये सब वञ्चक (ठग) हैं, आपकी भक्तिसे बहिर्मुख हैं तथा भयङ्कर प्रमाद फैला रहे हैं। ये सब तथाकथित भट (विद्वान्) ईश्वर–विमुखतारूप वञ्चना करते हुए विविध प्रकारके प्रपञ्चका निर्माण कर रहे हैं। हे प्रभो! भक्तिविनोद भक्तोंके चरणोंको सार मानकर उन भक्ति–बहिर्मुख वञ्चकोंको दूरसे ही दण्डवत् करता है।

श्रील ठाकु

अखण्ड–अद्वय–ज्ञान सब तत्त्वसार।
सेई तत्त्वे दण्ड परणाम बार बार॥

सेई तत्त्व कभु दुइ राधाकृष्ण रूपे।
कभु एक परात्पर चैतन्यस्वरूपे॥

तत्त्व वस्तु एक सदा अद्वितीय भाय।
वस्तु वस्तुशक्ति माझे किछु भेद नाइ॥

भेद नाइ वटे किछु सदा भेद ताय।
'भेदाभेद अविचिन्त्य' सर्वे वेदे गाय॥

वस्तुशक्ति चित्–स्वरूप भावेते सन्धिनी।
क्रियाते ह्लादिनी ताई त्रिभाव धारिणी॥

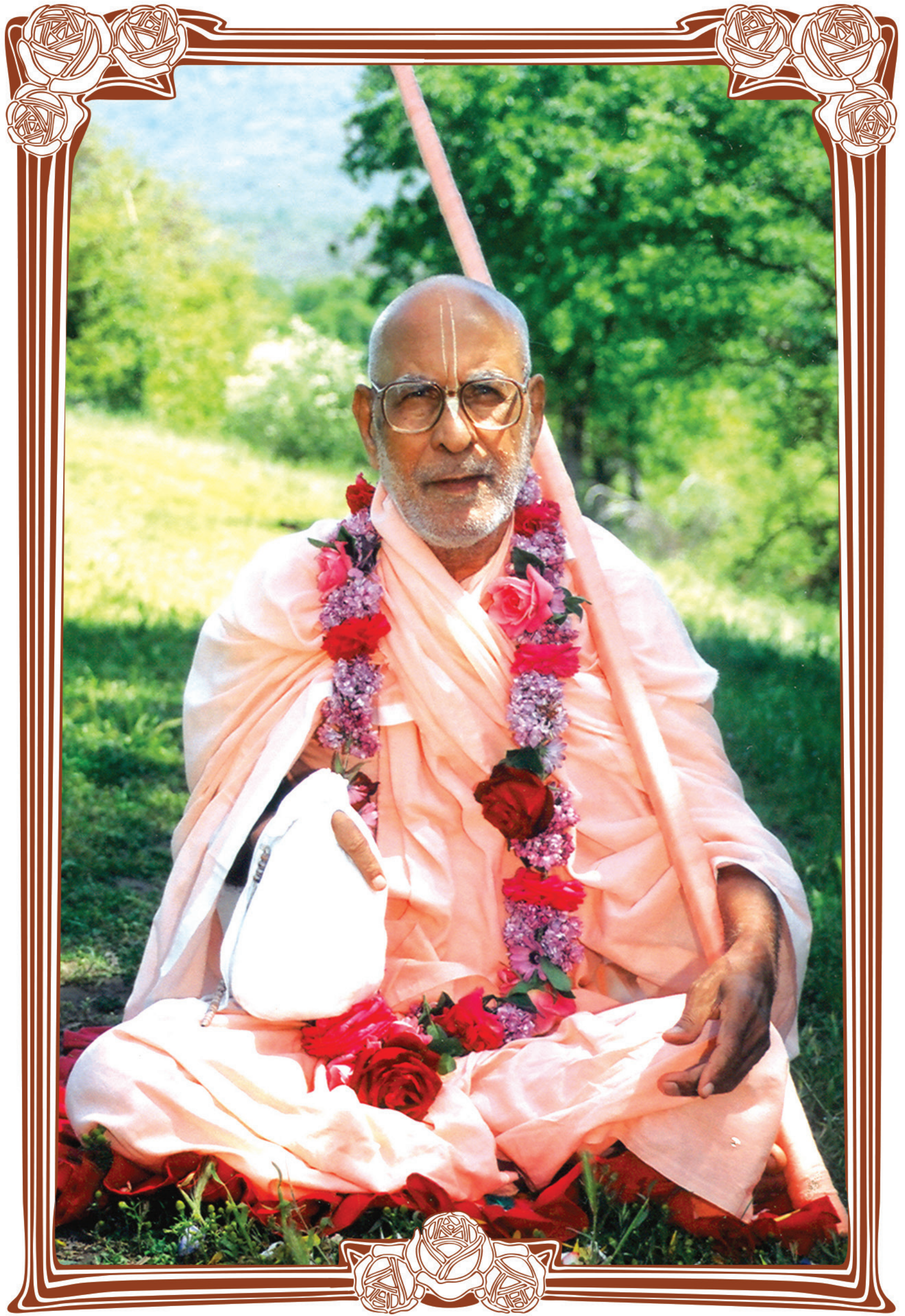
वस्तुशक्तिद्वारे वस्तु देय परिचय।
वस्तुशक्ति क्रियायोगे सर्व सिद्ध हय॥

अर्थात् अखण्ड अद्वयज्ञान सर्वतत्त्वसारको बार–बार दण्डवत्–प्रणाम है। वह तत्त्व कभी दोनों राधाकृष्णरूपमें तो कभी एक परात्पर चैतन्यस्वरूपमें प्रकाशित हैं। तत्त्ववस्तु सदैव एक और अद्वितीय हैं, वस्तु और वस्तुकी शक्तिमें कु
तो नहीं है, पर सदैव भेद है। समस्त वेदोंमें 'भेदाभेद अविचिन्त्य (चिन्तासे परे)' कहा गया है। वस्तुशक्ति चित्, स्वरूप भावसे सन्धिनी और क्रियासे ह्लादिनी—इस प्रकार त्रिभावधारिणी है। वस्तुशक्तिके द्वारसे वस्तु परिचित होती है। वस्तुशक्ति क्रियासे युक्त होनेपर सर्वसिद्धि होती है।

अलमति विस्तरेण।

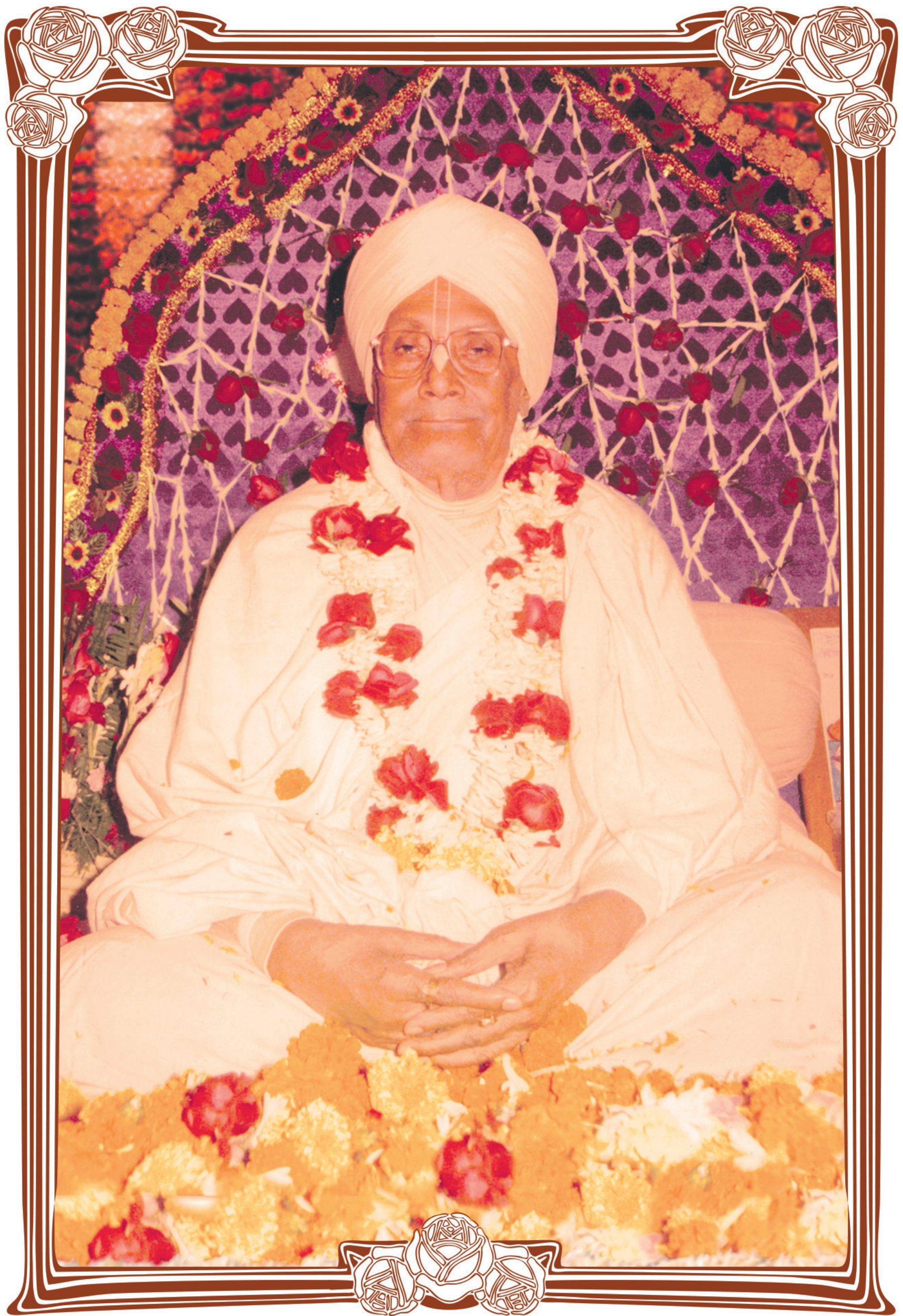
श्रीगुरु–वैष्णव–चरणरेणु–सेवाप्रार्थी

श्रीभक्ति श्रीरूप सिद्धान्ती



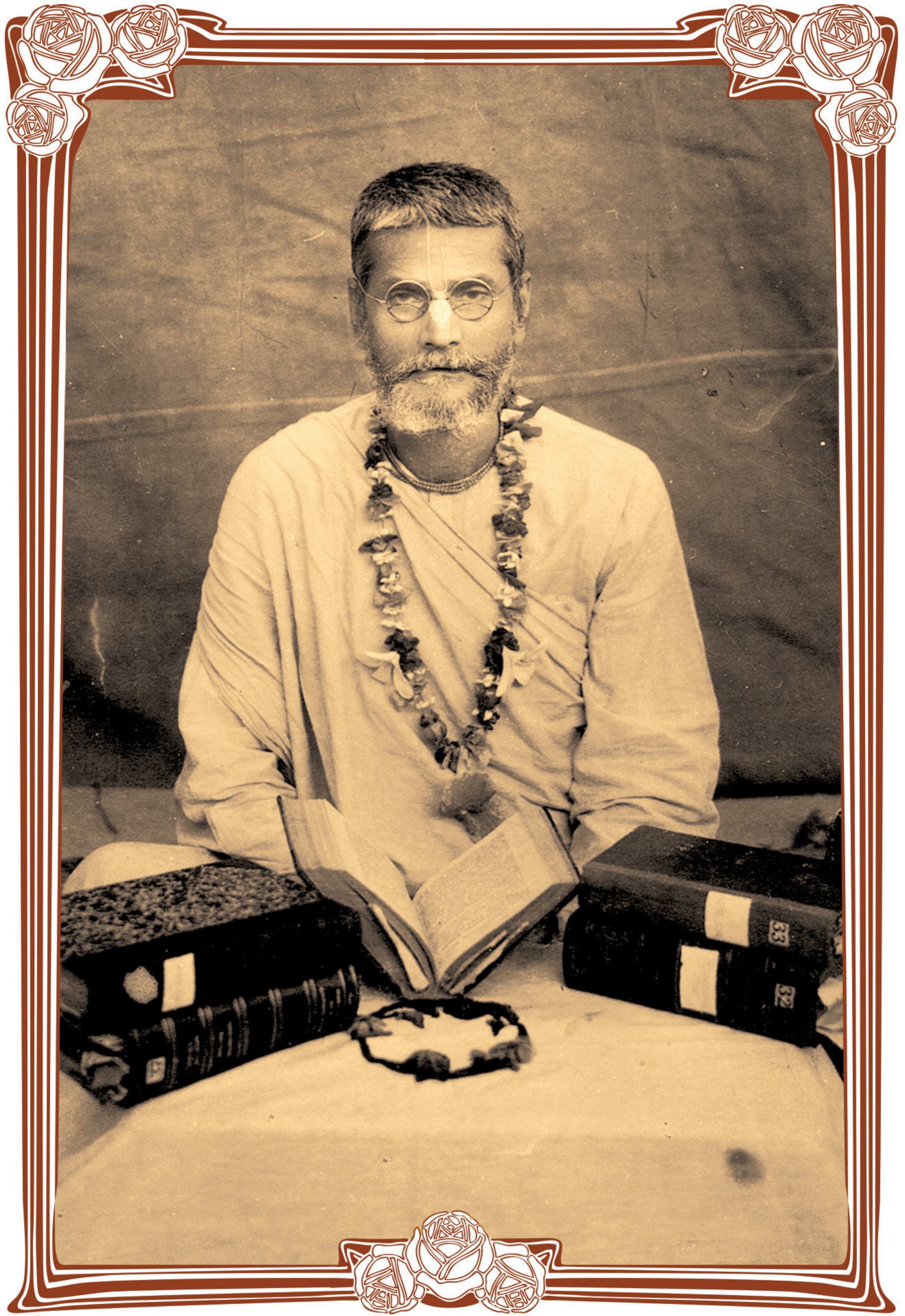
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

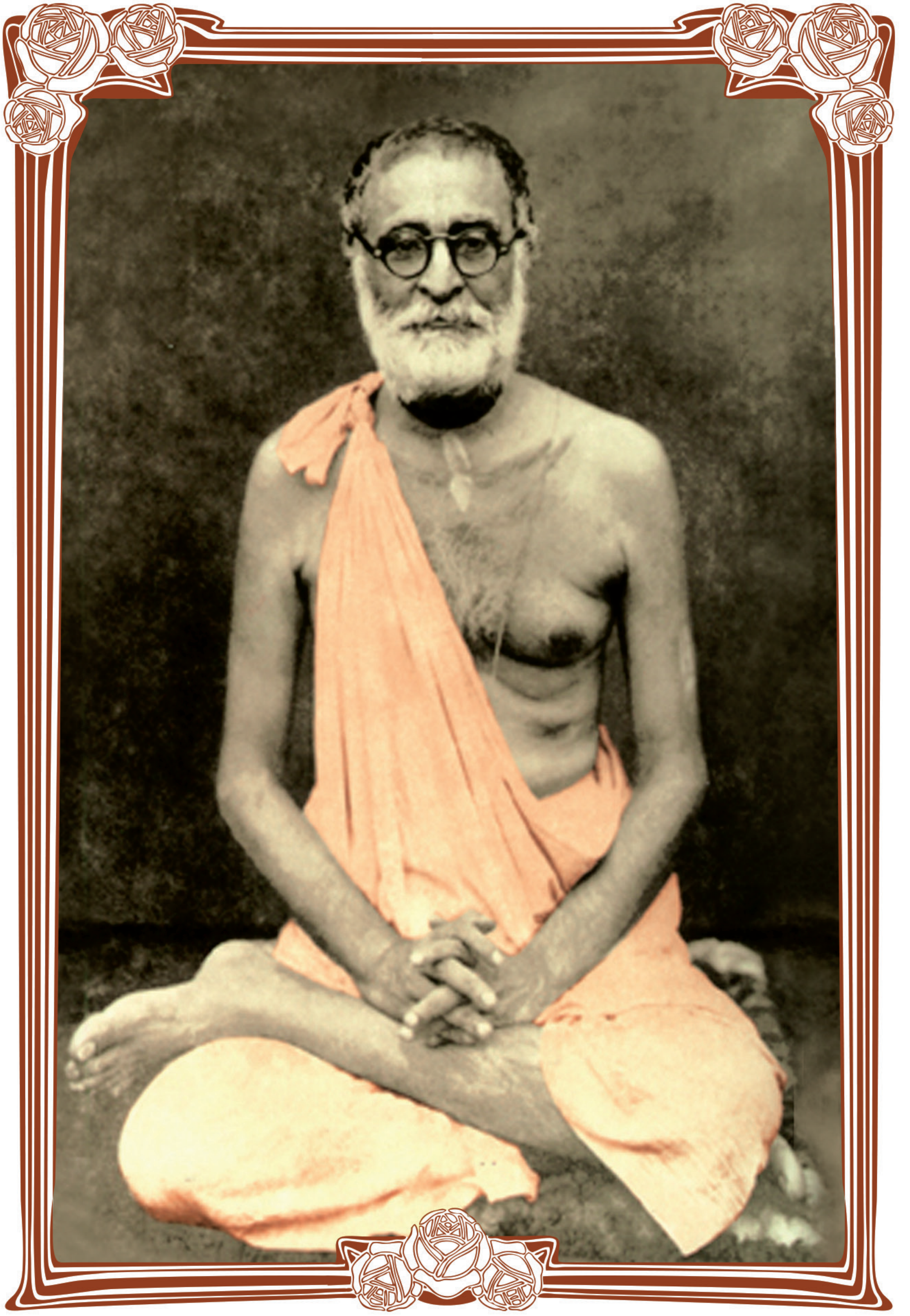


नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज



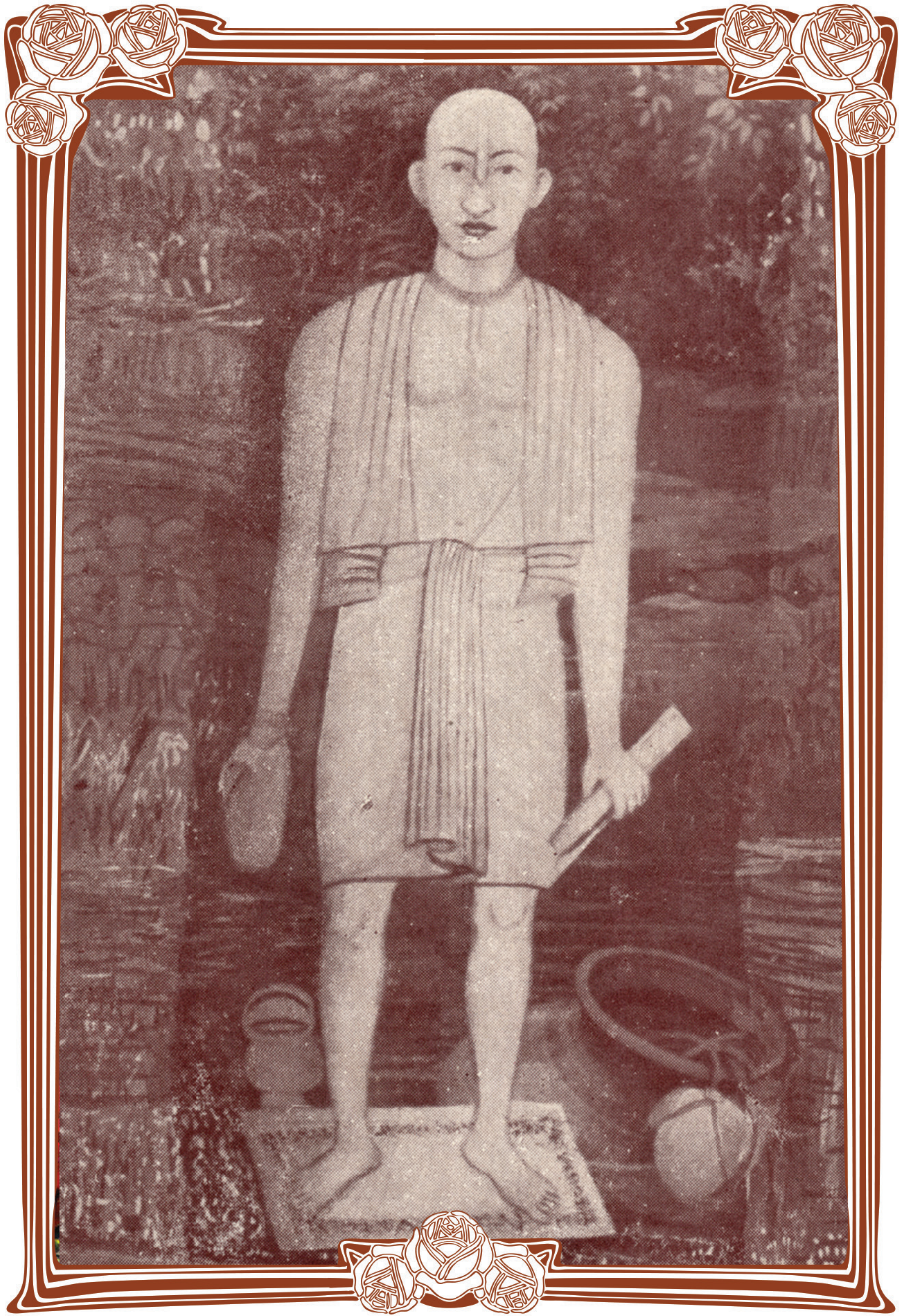
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज



नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपाद

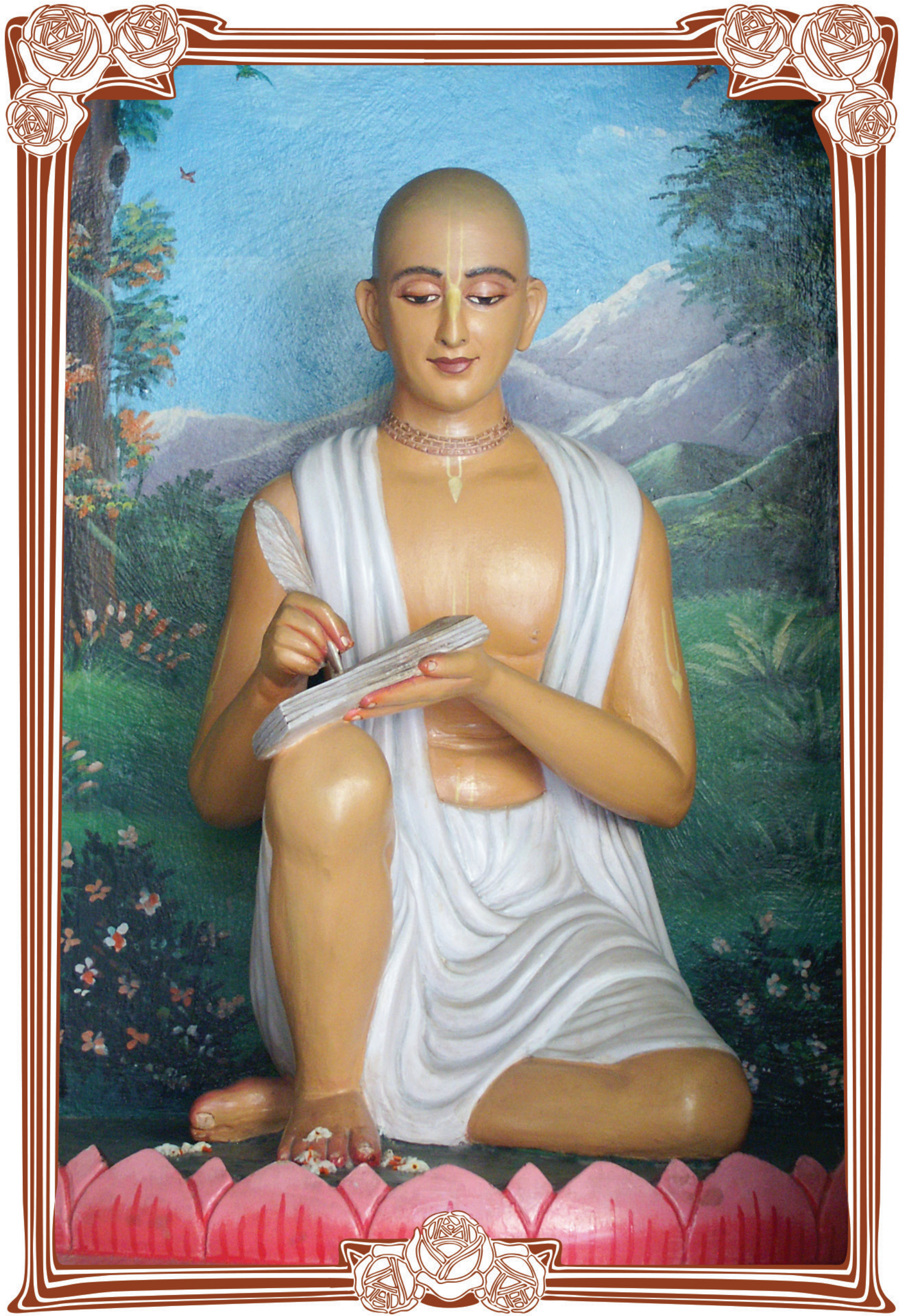


सच्चिदानन्द
श्रील भक्तिविनोद ठाकुर



श्रीगौड़ीय-वेदान्ताचार्य

श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु



श्रीचैतन्य मनोऽभीष्ट संस्थापक

श्रील रूप गोस्वामी प्रभु



जयपुरमें विराजमान श्रीश्रीराधागोविन्ददेवजी

॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीश्रीमद्भागवदवतार महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास
द्वारा विरचित

वेदान्तसूत्रम्

[गौड़ीय–वेदान्ताचार्य श्रीश्रीमद्‌बलदेव विद्याभूषण–कृत
श्रीगोविन्दभाष्य सहित]

सम्बन्धतत्त्वात्मक

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

(अविरुद्धाध्याय)

मङ्गलाचरणम्

गोविन्दभाष्यम्—

दुर्युक्तिकद्रोणजबाणविक्षतं परीक्षितं यः स्फु
सुदर्शनेन श्रुतमौलिमव्यथं व्यधात् स कृष्णः प्रभुरस्तु मे गतिः ॥ १ ॥

वे देवकीनन्दन सर्वेश्वर भगवान् मेरी गति अर्थात् प्राप्य वस्तुके प्रापक—अभीष्ट प्रदाता हों, जिन्होंने सुदर्शन नामक चक्रसे अभिमन्यु–पुत्र परीक्षित्‌को व्यथाशून्य कर दिया था। किस प्रकारके उनको? जो दुष्ट

भावसे (वध करनेकी इच्छासे) बाण-योजनाकारी (बाण चलानेवाले) द्रोण-पुत्र अश्वत्थामाके बाणसे विक्षत अर्थात् दग्ध-प्राण-देह हो गये थे, ऐसे उत्तराके गर्भमें स्थित धार्मिक परीक्षित्को।

इसी रूपकपर आश्रित और एक अर्थ है—जो प्रकृत (वास्तव तत्त्व) के साथ सम्पर्कयुक्त है। इस रूपककी व्याख्या इस प्रकारसे है—जो श्रीकृष्ण अर्थात् तन्नामक (उनके ही नामवाले) अर्थात् महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन हैं, जो प्रभु हैं, अर्थात् समस्त विरोधी मतोंका खण्डन करनेमें समर्थ हैं—वे मेरी (श्रीमन् बलदेव विद्याभूषणकी) शरण हों। वे महर्षि किस प्रकारके हैं? जिन्होंने सुदर्शन अर्थात् उत्तम दर्शनशास्त्र अर्थात् चार अध्यायोंमें सम्पूर्ण वेदान्तसूत्र द्वारा श्रुतिप्रमाणक वेदान्तशास्त्रको निर्दोष कर दिया है अर्थात् प्रतिवादी-प्रदत्त दोषोंके लेशमात्र भी सम्पर्कसे जिसे शून्य कर दिया है। यह वेदान्तसूत्र तर्कमें अक्षम सांख्य इत्यादि चार दर्शन (सांख्य, पातञ्जल, न्याय, पूर्वमीमांसा) रूपी द्रोणों—काकों द्वारा उद्भावित (चलाये गये) वाक्य-वाणोंसे विक्षत अर्थात् विप्रतिपन्न (मिथ्या विचार रखनेवाला) हो रहा था, किन्तु जिन्होंने इसे परीक्षित-युक्ति-तर्क ज्ञानसे मीमांसित और उत्तर समन्वित अर्थात् सिद्धान्त-प्रतिपादक कर दिया है, वे ही मेरे शरण्य हों॥ १ ॥

मङ्गलाचरण टीका—अथाविरुद्धाख्यं द्वितीयाध्यायं व्याख्यातुकामो मङ्गलमाचरति दुर्युक्तिकेति। स कृष्णो देवकीसुतो भगवान् प्रभुः सर्वेश्वरो मे गतिः प्राप्यप्रापकश्चास्तु भवतात्। कीदृशः स इत्याह यः सुदर्शनेन तन्नाम्ना चक्रेण परीक्षितमाभिमन्यवमव्यथं व्यथाशून्यं व्यधात् कृतवान्। कीदृशमित्याह दुर्युक्तिकेति। दुर्युक्तिको दुष्टयोजनीकृद्योद्रोणजोऽश्वत्थामा तस्य बाणेन ब्रह्मास्त्रेण विक्षतं दग्धप्रायम्। गर्भस्थे ब्रह्मास्त्रप्रयोगो दुर्योजनीय उच्यतेऽन्यायत्वात्। एतदेव स्फु
सैवाश्रयो यस्य तं तद्गर्भस्थमित्यर्थः। भगवदनुग्रहे हेतुं व्यञ्जयन् विशिनष्टि श्रुतीति। श्रुतयो वेदा मौलौ यस्य तं तद्भक्तं भगवद्धर्मविशिष्टं इत्यर्थः। भूताया भाविन्या वेदनिष्ठाया भणितिरियं बोध्या। पक्षे स कृष्णो बादरायणो व्यासः। प्रभुर्निखिल-
कु
श्रुतिमौलिं वेदान्तमव्यथं व्यधात्। परोक्तदोषगन्धास्पृष्टं कृतवानित्यर्थः। सुदर्शनत्वं तस्य परतत्त्वनिर्णायकत्वात् बोध्यम्। कीदृशं? श्रुतिमौलिमित्याह। दुर्युक्तिकेति। दुर्युक्तिकाश्चत्वारो ये कपिलादयस्त एव द्रोणाः काकविशेषास्तेभ्यो जातेन बाणेन वाक्समूहेन तत्प्रणीतेनसूत्रवृन्देनेत्यर्थः। विक्षतमन्यार्थोद्भावनेनानित्यत्वनिरूपणेन च

व्याकु
उत्तराश्रयं सिद्धान्तप्रतिपादकम्। हरिरेव वेदान्तार्थः न त्वन्यदिति सिद्धान्तोत्तरमुच्यते। तथाच कपिलादिस्मृतिभिस्तदीयतर्कैश्च वेदान्तदर्शने सम्भावितो विरोधोऽत्र निरसनीय इति तद्व्यञ्जकमिदं पद्यम्॥ १॥

मङ्गलाचरण टीकानुवाद—इसके बाद अविरुद्ध संज्ञक (नामक) दूसरे अध्यायकी व्याख्या करनेकी अभिलाषासे मङ्गलाचरण कर रहे हैं—*दुर्युक्तिकेत्यादि* श्लोक द्वारा। सः—वे देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण, प्रभुः—सर्वेश्वर, मेरी गति अर्थात् शरण और प्राप्य वस्तु (अभीष्ट) के दाता हों। वे भगवान् कैसे हैं? इसका वर्णन करते हैं—'यः' अर्थात् जिन्होंने सुदर्शन नामक चक्र द्वारा परीक्षितं—पाण्डुवंशधर अभिमन्यु-पुत्रको 'अव्यथम्' व्यथा-मुक्त 'व्यधात्'—कर दिया था। वे परीक्षित् किस प्रकारके थे? *'दुर्युक्तिकेत्यादि'*—श्लोकसे इसे स्पष्ट कर रहे हैं—जो दुष्ट भावसे बाण योजित करनेवाले द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा द्वारा बाण (ब्रह्मास्त्र) से प्रायः दग्धप्राण हो गये थे। बाणको दुर्युक्तिक कहनेका कारण है—गर्भस्थित बालकके ऊपर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करना अनुचित है। इस कथनको स्फु
विशेषणका प्रयोग हुआ है—'उत्तराश्रयम्'—जो माता उत्तराको आश्रय करके विराजमान थे अर्थात् उनके गर्भमें स्थित थे—ऐसे उनपर भगवान्ने जो अनुग्रह किया था, उसका हेतु विशेषण द्वारा व्यक्त कर रहे हैं—'श्रुतिमौलिम्' जिन परीक्षित्के मस्तकपर श्रुति अर्थात् वेद-शास्त्र नित्य विराजमान रहते हैं अर्थात् उनके भक्त भगवद्धर्म विशिष्ट होते हैं। इस उक्तिके द्वारा परीक्षित्की भूत और भविष्यत् वेद-निष्ठाको जानना चाहिये।

दूसरा अर्थ इस प्रकार है—प्रसिद्ध बादरायण श्रीकृष्णद्वैपायन जो प्रभु हैं, अर्थात् सम्पूर्ण कु
(रक्षक) हों। 'यः' जिन्होंने 'सुदर्शनेन' अर्थात चार अध्यायोंमें विभक्त स्वरचित वेदान्तदर्शन द्वारा 'श्रुतिमौलिम्' श्रुतिप्रमाणक वेदान्तको 'अव्यथम्'—प्रतिवादी प्रदर्शित दोषके लेशमात्र भी सम्पर्कसे शून्य कर दिया है। इस दर्शनको सुदर्शन (उत्तम दर्शन) क्यों कहा है? यह परमतत्त्व (परमेश्वर तत्त्व) के निर्णायकत्वके कारण कहा गया

है, यह जानना चाहिये। यह वेदान्त-शास्त्र है किस प्रकारका? इसे यह दुर्युक्तिकेत्यादि विशेषण द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। 'दुर्युक्तिक' से तात्पर्य है—जो चार दर्शन हैं—उनकी युक्तियाँ दोषपूर्ण अर्थात् विचार-क्षमतासे रहित हैं, जिस प्रकार सांख्य, पातञ्जल, न्याय एवं पूर्वमीमांसा। ये चारों दर्शन द्रोण अर्थात् काकस्वरूप हैं—इनके द्वारा उत्पन्न वाक्य-वाणोंसे तत्प्रणीत (श्रीवेदव्यास द्वारा रचित) सूत्र-वृन्द विक्षत था अर्थात् विपरीतार्थ उद्भावन (उत्पत्ति) एवं अनित्यत्व निरूपण द्वारा विप्रतिपन्न था। इसमें अर्थात् वेदान्तमें परीक्षित—निर्णीत हुआ है, अर्थात् परमेश्वर सर्वश्रेष्ठ एवं नित्य (निर्विकार नित्य, सत्) रूपमें निर्धारित हुए हैं। 'उत्तराश्रयम्' का अर्थ है—उत्तर अथवा सिद्धान्त—इसके आश्रयके प्रतिपादक (उत्तरमीमांसा नामक दर्शन) श्रीहरि ही वेदान्तके वाच्य अर्थ हैं, इसके अतिरिक्त और कु इसीलिए वेदान्तको सिद्धान्तोत्तर कहा जाता है। बात यह है कि कपिलादि स्मृतियाँ और उनके तर्कजाल द्वारा सम्भावित वेदान्त-दर्शनके विरोधका परिहार ही इस अध्यायका विषय है और उक्त श्लोक इसी तात्पर्यका व्यञ्जक है॥ १॥

अवतरणिका भाष्यम्—प्रथमेऽध्याये निरस्तनिखिलदोषोऽचिन्त्यानन्तशक्तिरपरिमितगुणगणः सर्वात्मापि सर्वविलक्षणो जगन्निमित्तोपादानभूतः सर्वेश्वरो वेदान्तवेद्यः समन्वयनिरूपणेनोक्तः। द्वितीये तु स्वपक्षे स्मृतितर्कविरोधपरिहारः प्रधानादिवादानां युक्त्याभासमयत्वं सृष्ट्यादिप्रक्रियायाः प्रतिवेदान्तइमैकविध्यं चेत्ययमर्थनिचयो निरूप्यते। तत्रादौ श्रुतिविरोधो निरस्यते। तत्र संशयः—सर्वकारणभूते ब्रह्मणि दर्शितः समन्वयः सांख्यस्मृत्या बाध्यते न वेति। तत्र सति सांख्यस्मृतिनिर्विषयतापत्तेर्बाध्यः स्यात्। स्मृतिः खलु कर्मकाण्डोदितान्यग्निहोत्रादिकर्माणि यथावत् स्वीकु *'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्'* (श्वे॰ ५/२) इत्यादिश्रुताप्तभावेन परमर्षिणा कपिलेन मोक्षेप्सुना ज्ञानकाण्डार्थोपबृंहणाप्रणीता *'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः'* (सां॰सू॰ १/१)। *'न दृष्टार्थसिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनाद्'* (सां॰सू॰ १/२) इत्यादिभिस्तत्र ह्यचेतनं प्रधानमेव स्वतन्त्रं जगत्कारणमित्यादि निरूप्यते—*'विमुक्तमोक्षार्थम्, स्वार्थं वा प्रधानस्य'* (सां॰सू॰ २/१) *'अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य'* (सां॰सू॰ ३/५१) इत्यादिभिः। सा च ब्रह्मकारणतापरिग्रहे निर्विषया स्यात्। कृत्स्नायास्तस्यास्तत्त्वप्रतिपत्तिमात्रविषयत्वात्। अतः परमाप्तकपिलस्मृत्यविरोधेन वेदान्ता व्याख्येयाः। न चैवं मन्वादीस्मृतीनां निर्विषयता। तासां धर्मप्रतिपादनद्वारा कर्मकाण्डोपबृंहणे सति सविषयत्वादित्येवं प्राप्ते ब्रूते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रथम अध्यायमें वेदान्त-वाक्योंका जिस प्रकारसे ब्रह्ममें समन्वय किया गया था, उससे प्रतिपादित होता है कि जो समस्त राग-द्वेषादि दोषोंके सम्पर्कसे शून्य, अचिन्तनीय, अनन्तशक्तिमान, अपरिमित गुणोंके आधार, सर्वात्मा होकर भी सर्वविलक्षण, जगत्के निमित्त एवं उपादान कारण, सर्वेश्वर श्रीहरि हैं, वे ही वेदान्तवेद्य हैं।

अब इस द्वितीयाध्यायमें अपने सिद्धान्तपक्षमें जो विरुद्ध स्मृति-वाक्य एवं तर्क उपस्थित हुए हैं, उनका निराकरण (खण्डन), प्रधानादिके जगत्-कर्त्तृत्वादिवादमें युक्तियोंके द्वारा दोषोंका प्रतिपादन और सृष्टि इत्यादि प्रक्रिया-विषयमें समस्त वेदान्त-वाक्योंका एकरूप उक्ति-सम्पादन—इन समस्त विषयोंका निरूपण हुआ है। इनमें सर्वप्रथम श्रुतिका विरोध प्रदर्शित कर रहे हैं। इस विषयमें संशय यह है कि समस्त जगत्के कारणभूत परमेश्वरमें जिन वेदान्त-वाक्योंका तात्पर्य दिखाया गया है, क्या वह सांख्य-शास्त्र द्वारा बाधित है अथवा नहीं है। यहाँ पूर्वपक्षका कहना है कि इस समन्वयको स्वीकृत करनेसे तो सांख्य-दर्शन निर्विषय (व्यर्थ) हो जायेगा। जीवोंकी मुक्तिके इच्छुक परम दयालु महर्षि कपिलके इस सांख्य-दर्शनमें कर्मकाण्डमें वर्णित अग्निहोत्रादि कर्मोंको यथायथ रूपसे जीवके करणीय (कर्त्तव्य) के रूपमें स्वीकार किया है और इन्हीं कपिलको श्रुतिने *'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्'* (श्वे॰ ५/२)—'कपिल ऋषिने जन्म-ग्रहण किया'—यह कहकर उन्हें प्रमाण पुरुष महर्षि (आप्त ऋषि) नामसे संज्ञित (नामित) किया है। उन्होंने ज्ञानकाण्डके प्रतिपाद्य विषयको निरङ्कुश करके उसे उत्कृष्ट करनेके लिए (अर्थात् सम्यक् रूपसे विस्तार करनेके लिए) इस शास्त्रकी रचना की है। अब कपिलके अभ्युपगमवाद (दोषमूलक मतवाद) बोधक सूत्रका वर्णन कर रहे हैं—*'अथ त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः'* (सां॰सू॰ १/१)—जीवके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन प्रकारके दुखोंका आत्यन्तिक रूपसे अर्थात् पुनरावृत्तिहीन और दुःखके लेशमात्र भी सम्पर्क-शून्यभावके ध्वंसका नाम परमपुरुषार्थ अथवा मुक्ति है। इसके बाद आक्षेप हुआ कि जब लौकिक उपायोंसे इन दुःखोंकी निवृत्ति हो सकती है, तब दुःखोंके दूर होनेके उपायोंकी जिज्ञासा निष्फल (व्यर्थ) है। इसके समाधानके

लिए कहते हैं *'न दृष्टार्थसिद्धिनिवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात्'* (सां॰सू॰ १/२) अर्थात् लौकिक उपायोंके द्वारा ऐकान्तिक रूपसे दुःखोंकी निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि दुःखोंके एक बार निवृत्त होनेपर भी दुःख पुनः उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। अतएव तत्त्वज्ञान आवश्यक है। इसी तत्त्वके निरूपणके लिए प्रधानादिके स्वरूपका निरूपण किया गया है, यथा अचेतन प्रकृति (प्रधान) ही स्वाधीन रूपसे (ईश्वरकी अनुप्रेरणाके बिना ही) जगत्का कारण है। इसी प्रकार *'विमुक्तमोक्षार्थम्'*—आत्मा स्वभावतः ही मुक्त है। देहादिके अभिमानवश जो बन्धन होता है, उसीकी मुक्तिके लिए प्रकृतिका जगत्-कर्त्तृत्व है। अथवा *'स्वार्थं वा प्रधानस्य'* (सां॰सू॰ २/१)—प्रकृति स्वयंके प्रयोजनके लिए ही जगत्की सृष्टि करती है। *'क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य'*—प्रकृतिका कार्य दुग्धके समान है। तात्पर्य यह है कि गायका दूध बछड़ेकी पुष्टिके लिए जिस प्रकार स्वतः ही क्षरित होता है, उसी प्रकार आत्माकी मुक्तिके लिए प्रकृति स्वयं ही चेष्टारत रहती है। इस प्रकार इन सूत्रोंके द्वारा प्रकृतिकी जगत्-कारणताका प्रतिपादन हुआ है। तब यदि सिद्धान्तके तौरपर ब्रह्मको जगत्का कारण मानते हैं, तो यह सांख्य-स्मृति व्यर्थ हो जाती है, जब कि समस्त सांख्य-स्मृतिका विषय केवल परतत्त्वका निरूपण करना है। अतएव परम प्रमाण पुरुष कपिलके दर्शनके साथ विरोध न हो, इस प्रकारसे वेदान्तकी व्याख्या करनी चाहिये। यदि कहो, प्रधानको कारण कहनेपर *'आसीदिदम् तमोभूतम्'* इत्यादि मनुवाक्य (१/५-९) में उक्त कारणतावादकी अनुपपत्ति (तर्करहित युक्ति) होती है, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि मनु इत्यादि स्मृतियोंका उद्देश्य अन्य प्रकारका है। कर्मकाण्डोक्त धर्मोंको पुष्ट करना ही उनका (मन्वादिका) उद्देश्य है, तत्त्व निरूपण नहीं। अतएव उनका भी विषय है—इस प्रकार पूर्वपक्षकी युक्तिके विपक्षमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—द्वितीयाध्यायार्थान् वक्ष्यंस्तेषूपयोगात् प्रथमाध्यायार्था-ननुस्मारयति प्रथमे इत्यादिना। धीप्रवेशाय द्वितीयाध्यायार्थान् समासेन तावद्दर्शयति द्वितीयेत्वित्यादिना। चिन्तिते समन्वये विरोधपरिहाराय अयमध्यायः प्रवर्त्तते। इत्यनयोर्विषयविषयिभावः सम्बन्धः। निर्विषयस्य विरोधस्य परिहारायोगात्

तद्विषयसमन्वयः पूर्वचिन्तितो विषयभूतो विरोधस्तु अधुना परिहर्त्तव्य इत्यनयोः पौर्वोत्तर्यं युक्तम्। श्रौतसमन्वये विरोधपरिहारत्वादस्य पादस्य श्रुत्यध्यायसङ्गतिः। पूर्वपक्षे विरोधः फलम्। सिद्धान्ते त्वविरोधस्तत्। अस्याधिकरणस्यादिमत्वात्। अवानतरसङ्गतिस्तु नापेक्ष्यते। सप्तत्रिंशत्सूत्रकं पञ्चदशाधिकरणकं प्रथमं पादं व्याख्यातुमारभते तत्रादाविति। श्रुतीति। सांख्यादिशास्त्रैः कृतो विरोध इत्यर्थः। तत्रेति। तस्मिन् समन्वये स्वीकृते सतीत्यर्थः। निर्विषयता व्यर्थता। ऋषेर्वैदिकत्वं दर्शयति—स्मृतिः खल्विति। कपिलाभ्युपगमं तत्सूत्रं दर्शयति अथेत्यादि। अथशब्दोऽधिकारार्थो मङ्गलार्थश्च। दुःखत्रयविनाशोपायभूतः तत्त्वविमर्शः आशास्त्रपूर्त्तेरधिकृतो वेदितव्यः। मङ्गलरूपश्च स दुःखविनाशकत्वात्। तत्र दुःखत्रयमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकरूपम्। तत्राद्यं द्विविधिं शारीरमानसभेदात्। वातपित्तादिवैषम्यहेतुकं शारीरम्। कामक्रोधादिहेतुकं मानसम्। तदिदमान्तरोपायसाध्य-त्वादाध्यात्मिकम्। आधिभौतिकं मनुष्यपश्वादिहेतुकम्। आधिदैविकन्तु यक्षराक्षसग्रहाद्या-वेशहेतुकम्। तदेतद्द्वयं बाह्योपायसाध्यम्। तस्य तु त्रयस्यात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। निवृत्तेरात्यन्तिकत्वं तु निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादात्। पुरुषार्थस्यात्यन्तत्वं तस्य ध्वंसाभावरूपत्वेन नित्यत्वादिति। ननु दुःखत्रयनिवृत्तौ दृष्टोपाया बहवः सन्ति। शारीरदुःखनिवृत्तौ सद्वैद्यैरुपदिष्टा महौषधयः। मानसदुःखनिवृत्तौ वरान्नतरुणीप्रभृतयः। आधिभौतिकदुःखनिवृत्तौ नीतिशास्त्राभ्यासदुर्गाश्रयणादयः। आधिदैविकदुःखनिवृत्तौ च मणिमन्त्रादयः सन्तीत्येवं दृष्टोपायेभ्यो दुःखनिवृत्तिसिद्धौ शास्त्रसाध्यबहुजन्म-सम्पाद्यचित्तनिरोधादौ कथं सुधिया प्रवर्त्तितव्यमिति चेत्तत्राह न दृष्टेति। न वयं दुःखनिवृत्तिमात्रं पुरुषार्थं ब्रूमः। किन्तु तदुत्पत्तिनिवृत्तिसहकृतमेव। औषधादिना तद्दुःखं नावश्यं निवर्त्तते कथञ्चिन्निवृत्तेऽपि पुनरन्येन भाव्यमिति नैकान्तिकी तन्निवृत्तिः। शास्त्रीयोपायास्तु तदत्यन्तोच्छेदकत्वादवश्याश्रयणीया इति भावः। विमुक्तेति। स्वभावविमुक्त आत्मा तस्याभिमानिकमोक्षार्थं प्रधानस्य जगत्कर्त्तृत्वम्। स्वार्थं वेति। पुरुषं ब्रह्मात्मानं विवेकेन दर्शितवान् तां प्रत्युदास्तामेवेति निजौदासीन्यार्थं वेत्यर्थः। अचेतनत्वेऽपीति। अचेतनं यथा क्षीरं वत्सविवृद्धये प्रवर्त्तते तथा प्रधानं पुरुषविमोक्षायेत्यर्थः। एतेन सूत्रद्वयेन जडस्य प्रधानस्य स्वतःकर्त्तृत्वम् उक्तम्। सा चेति सांख्यस्मृतिः। निर्विषया व्यर्था।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—'प्रथमे अध्याये' इत्यादि ग्रन्थ (वाक्य) द्वारा द्वितीय अध्यायके वक्तव्य अर्थको बतानेसे पहले उसमें उपयोगी अथवा सम्बन्ध (सम्बन्धित) प्रथमाध्यायके विषयोंका स्मरण कराते है और 'द्वितीये तु' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा बुद्धिके प्रवेशके लिए अर्थात बोधकी सुविधाके लिए वक्तव्य विषय (विषय-वस्तु) को संक्षेपमें कहते है। विचार द्वारा सिद्धान्तित विगत (प्रथम) समन्वय

अध्यायमें जिस विरोधका वर्णन था, उसीके परिहारके लिए इस द्वितीय अध्यायका आरम्भ है। अतएव प्रथम और द्वितीय अध्यायमें उन दोनोंका परस्पर विषय-विषयी भाव-सम्बन्ध है। विषय न रहे तो विरोधका परिहार भी न होगा। अतएव विषय है—पूर्व अध्यायमें विचारित ब्रह्म विषयक समन्वय और इस अध्यायमें विषय है विरोधका परिहार है। (तात्पर्य यह है कि विरोधका परिहार अथवा समाधान होना चाहिये।) इस प्रकार इन दोनों अध्यायोंमें पूर्वापर सम्बन्ध युक्तियुक्त है। श्रौत समन्वयमें विरोधके परिहारके कारण द्वितीय अध्यायके प्रथम पादकी श्रुति और अध्यायकी सङ्गति हुई है। पूर्वपक्षमें 'विरोध' फल है और सिद्धान्तपक्षमें 'विरोधाभाव' फल है। यह विरोधाधिकरण सबसे पहले है, इसलिए 'अवास्तव-सङ्गति' अपेक्षित नहीं है। इस प्रथम पादमें सैंतीस सूत्र हैं और पन्द्रह अधिकरण हैं। इन्हींकी व्याख्या करनेके लिए मानस (हृदय) में 'तत्रादौ' कहकर प्रारम्भ करते हैं—*'तत्रादौ श्रुतिविरोधौ निरस्यते'*—प्रारम्भमें श्रुतियोंका परस्पर विरोध अर्थात् असामञ्जस्य खण्डित हुआ है। 'तत्र संशयः' इस विषयमें सबसे पहले श्रुति विरोध अर्थात् सांख्यादि शास्त्रों द्वारा उत्पन्न किये गये विरोधका निराकरण किया गया है। 'तत्र संशयः' में 'तत्र' शब्दका अर्थ है—उन वेदान्त-वाक्योंकी ब्रह्ममें सङ्गति स्वीकार करनेपर सांख्य-शास्त्रकी निर्विषयता (निष्प्रमाणता) अर्थात् व्यर्थता हो जाती है। कपिल मुनिका वैदिकत्व (वेदप्रसिद्धत्व) दिखा रहे हैं—*'स्मृति खलु'* इत्यादि। *'अथ त्रिविधेत्यादि'* के द्वारा कपिल द्वारा स्वीकृत सांख्यसूत्रका प्रदर्शन है। सूत्रस्थ 'अथ' शब्दका अर्थ है—अधिकार अर्थात् अत्यन्त पुरुषार्थ अधिकृत हुआ है। मङ्गल भी इसका प्रयोजन है, क्योंकि आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखोंके विनाशके उपायस्वरूप तत्त्व विचारको इस शास्त्रकी समाप्ति तक अधिकृत हुआ जानें और यह मङ्गलभूत भी है, क्योंकि यह दुःखका विनाशकारी है। सूत्रके अन्तर्गत दुःखत्रयसे तात्पर्य है—आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक। इनमें प्रथम (आध्यात्मिक दुःख) शारीरिक एवं मानसिक भेदसे दो प्रकारका है। वात, पित्त आदिके वैषम्यसे होनेवाले दुःख शारीरिक हैं, काम, क्रोध जनित दुःख मानसिक हैं, ये दोनों प्रकारके दुःख

आन्तर उपायोंसे निवृत्त हो जाते हैं, इसलिए उन्हें आध्यात्मिक कहा है। आधिभौतिक दुःख मनुष्य, पशु इत्यादिसे उत्पन्न होते हैं और आधिदैविक दुःख यक्ष, राक्षस और ग्रह इत्यादिके आवेशसे उत्पन्न होते हैं—इन दोनोंकी निवृत्ति बाह्य उपायोंसे हो सकती है। इस प्रकार इन तीनों प्रकारके दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिका नाम अत्यन्तपुरुषार्थ है। आत्यन्तिक निवृत्ति शब्दका अर्थ है—निवृत्त दुःखोंका पुनः उदय न होना। अत्यन्त पुरुषार्थ कहनेसे यह जाना जाता है कि दुःख-ध्वंस-स्वरूप-दुःख-निवृत्ति—यह नित्यवस्तु है, इसीलिए यह अत्यन्त पुरुषार्थ कही जाती है। प्रश्न यह है कि तीनों ही प्रकारके दुःखोंकी निवृत्ति विषयमें बहुतसे उपाय देखे जाते हैं, जिस प्रकार शारीरिक दुःखोंकी निवृत्ति सद्वैद्य द्वारा निर्धारित महौषधि इत्यादि उपायोंसे हो सकती है, मानसिक दुःखोंकी निवृत्ति सुस्वादु अन्न, युवती रमणी इत्यादिसे हो सकती है और आधिभौतिक दुःखोंकी निवृत्ति नीति-शास्त्रके अभ्यास, दुर्ग-आश्रयादि उपकरणोंसे की जा सकती है। आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्तिके लिए मणिमन्त्रादिका प्रयोग देखा जाता है, इस प्रकार लौकिक उपायोंसे दुःखोंकी निवृत्ति सम्भव होनेपर सुधीजन (विद्वान् व्यक्ति) किसलिए बहुजन्मोंमें सम्पादनीय (सम्पन्न होनेवाले) शास्त्रसाध्य चित्त-निरोधादिमें प्रवृत्त होंगे? ऐसा यदि कहते हो, तो शास्त्रकारोंका कहना है कि *'न दृष्टार्थ सिद्धिर्निवृत्ते'* (सांख्य-शास्त्र १/२) अर्थात् हम दुःखकी निवृत्ति मात्रको (पुरुषकाम्य मुक्ति) पुरुष द्वारा वाञ्छित मोक्ष नहीं कहते, किन्तु उसकी उत्पत्तिकी ही निवृत्ति हो, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। इसके अतिरिक्त शारीरिक दुःखोकी निवृत्ति औषधिसे नहीं होती, यह निश्चित है, क्योंकि एक रोगके ठीक होनेपर अन्य रोग हो सकते हैं। अतएव दुःखकी ऐकान्तिक निवृत्तिका कोई लौकिक उपाय है ही नहीं, हाँ शास्त्रोक्त उपाय अवश्य ही दुःखोंका आत्यन्तिक उच्छेद (जड़ समेत नष्ट) कर देते हैं, इसलिए उनका आश्रय करना चाहिये—यह सारार्थ है। *'विमुक्त मोक्षार्थम्'* आत्मा स्वाभावतः ही मुक्त है, केवल देहादिपर अभिमानके कारण जो बन्धन है, उसकी मुक्तिके लिए प्रकृतिका जगत्-सृष्टित्व है अथवा *'स्वार्थम् वेति'* इस विवेकके द्वारा ब्रह्म (जीवात्मा) ने आत्मस्वरूप

ब्रह्मको दिखाया है, इस प्रकारसे अपने औदासीन्यकी रक्षाके लिए वे प्रकृति विषयमें उदासीन ही रहे, यह कारण भी हो सकता है। *'अचेतनेत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य'* (सां॰सू॰ ३/५९) जिस प्रकार दूध स्वयं अचेतन जड़ होकर भी बछड़ेकी वृद्धिके लिए माताके स्तनसे स्वतः ही प्रवृत्त होता है। उसी प्रकार पुरूषकी मुक्तिके लिए प्रधान स्वतः ही इन दोनों सूत्रों (विमुक्त मोक्षार्थम्, स्वार्थ वा प्रधानस्य) द्वारा जड़ प्रधानका स्वतः (पुरुष-प्रेरणाकी अपेक्षाके बिना) जगत्-कर्त्तृत्व सांख्य-मतमें कहा गया है। इस प्रकार 'सा च'—यह सांख्य-स्मृति निर्विषया—व्यर्थ हो जाती है।

१—स्मृत्यनवकाशाधिकरणम्

सूत्र—स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष-प्रसङ्गात्॥ १ ॥

सूत्रार्थ—'चेत्'—यदि कहो, 'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति'—सांख्य-स्मृतिका विषयाभाव (निर्विषय) रूप दोष आ पड़ता है, 'न' यह कहना ठीक नहीं है, क्यों? 'अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्'—ऐसा माननेसे तो मनु इत्यादि स्मृति-शास्त्र, जो वेदान्तानुसारी और एकमात्र परमेश्वरके ही जगत्-कारणत्वके बोधक हैं, उनके विषयका क्या होगा—इस प्रकार महान् दोषकी आपत्ति उठ सकती है॥ १॥

सूत्रानुवाद—सांख्य-स्मृतिकी बात मानते हैं, तो 'मनु आदि अन्यान्य श्रुतिमूलक स्मृतियाँ जो ब्रह्मको ही एकमात्र कारण मानती हैं' का निरवकाशत्व हो जायेगा और वे बाधित होंगी॥ १॥

गोविन्दभाष्य—अवकाशस्यभावोऽनवकाशः निर्विषयतेत्यर्थः। समन्वयानुरोधेन वेदान्तेषु व्याख्यातेषु सांख्यस्मृतेनिर्विषयतादोषापत्तिरतः श्रुतविपरीतार्थतया ते व्याख्येया इति चेन्न। कु
वेदान्तानुसारिणीनां ब्रह्मैककारणतापराणां निर्विषयता महान् दोषः प्रसज्येत। तासु हि सर्वेश्वरो जगदुत्पत्त्यादिहेतुः प्रतिपाद्यते न तु कापिलोक्तप्रकारान्तरत्वसङ्गतिः। तत्र श्रीमन्मनुः (१/५-९)। *'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्। महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ सोऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एष स्वयमुद्बभौ॥ सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव*

ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥' इत्यादि। श्रीपराशरश्च। (वि॰पु॰ १/१/३१) *'विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्। स्थितिसंयमकर्त्तासौ जगतोऽस्य जगच्च सः॥ यथोर्णनाभोहृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः। तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं जनार्दनः॥'* इत्यादि। एवमन्येऽपि। न चासां स्मृतीनां कर्मकाण्डार्थोपबृंहणेन सावकाशता। ब्रह्मज्ञानोदयार्थं चित्तशुद्धिमुद्दिश्य धर्मान् विदधतीनां तासां ज्ञानकाण्डार्थोपबृंहण एव वृत्तेः। चित्तशोधकता चैषां दृश्यते। *'तमेतं वेदानुवचनेन'* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इत्यादि श्रुतौ। यत्तु तेषां वृष्टिपुत्रस्वर्गादिफलकत्वं क्वापि क्वापि वीक्ष्यतेऽनुभाव्यते च तदपि शास्त्रविश्रम्भोत्पादनेन तत्रैव च विश्रान्तम्, *'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'* (कठ॰ १/२/१) इत्यादेः *'नारायणपरावेदा'* (श्रीमद्भा॰ २/५/१५) इत्यादेश्च। न च सांख्यस्मृत्या वेदान्तार्थोपबृंहणं शक्यं कर्त्तुं श्रुतिविरुद्धार्थप्रतिपादनात्। श्रुतिसंवादार्थस्पष्टीकरणं ह्युपबृंहणम्। न च तस्यामिदमन्ति। तस्माच्छ्र

न तद्व्यर्थतादोषाद् विभीमः। न चाप्तत्व-व्यपाश्रयकल्पनया तत्स्मृतिपक्षपातो युक्तः। तत्त्वेन व्याख्यातानां बहूनां स्मृतिषु विभिन्नार्थासु पक्षपाते सति वास्तवार्थानवस्थितिप्रसङ्गात्। स्मृत्योर्विप्रतिपत्तौ सत्यां श्रुतिव्यपाश्रयादन्यो निर्णयहेतुर्न भवेदतः श्रुत्यनुसारिण्येवादरणीयेति। स्मृतिबलेनाक्षेप्तृन् स्मृतिबलेनैव निराकरिष्याम इत्यन्यस्मृत्यनवकाशात् दोषोपन्यासः। यत्तु *'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्त्ति'* (श्वे॰ ५/२) इति श्वेताश्वतरश्रुतेराप्तत्वं तस्येति तन्न। तस्या अन्यपरत्वात् श्रुत्यर्थवैपरीत्यवक्तृतया तदभावाच्च। मनोराप्तत्वं तु तैत्तिरीयाः पठन्ति—*'यद्वै किञ्चन मनुरवदत्तद्भेषजम्'* (तै॰ २/२/१०/२) इति। श्रीपराशरो हि पुलस्त्यवशिष्ठप्रसादादेव देवतापारमार्थ्यधियं प्रापेति स्मर्यते। वेदविरुद्ध-स्मृतिप्रवर्त्तकः कपिलो ह्यग्निवंशजो जीवविशेष एव मायया विमोहिता न तु कर्दमोद्भूतो वासुदेवः। *'कपिलो वासुदेवाख्यः सांख्यं तत्त्वं जगाद ह। ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथैव च॥ तथैवासुरये सर्वं वेदार्थैरुपबृंहितम्। सर्ववेदविरुद्धञ्च कपिलोऽन्यो जगाद ह॥' 'सांख्यमासुरयेऽन्यस्मै कु* इति स्मरणात्। (पाद्मे) तस्माद्वेदविरुद्धतयानाप्तायाः सांख्यस्मृतेर्व्यर्थता न दोषः॥ १॥

निरीश्वर सांख्य-मतका खण्डन

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'अनवकाश' शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अवकाश (विषय) का अभाव—यही अनवकाश अर्थात् निर्विषयता है। वेदान्त-वाक्योंके ब्रह्ममें तात्पर्य (समन्वय) के अनुरोधसे ब्रह्मपरत्व कहे जानेपर सांख्य-दर्शन विषयहीन हो जाता है। अर्थात् प्रकृतिके कारणताबोधक वाक्योंका भी यदि ब्रह्मपरत्व कहा जाय, तब

सांख्य-दर्शनका विषय कु
ब्रह्मपरक नहीं है, उनका विपरीत अर्थमें तात्पर्य निकालकर व्याख्या करना उचित है, यह यदि कहते हो तो ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे तो अन्य स्मृतियों अर्थात् मनु इत्यादिके वाक्योंका स्थान ही नहीं रहेगा और फिर ये मन्वादि वाक्य तो वेदान्तानुगत (वेदान्तका अनुकरण करनेवाले) हैं, एकमात्र ब्रह्मकी ही जगत्-कारणताके प्रकाशक हैं, यदि वे निर्विषय होते हैं तो बड़ा भारी दोष होता है। मनु इत्यादि स्मृतियोंमें परमेश्वरको ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं लयके कारण रूपमें प्रतिपादन किया है, जब कि कपिल-वर्णित प्रकृति-कारणतावाद उसमें सङ्गत नहीं होता। इस सन्दर्भमें श्रीमन्मनु कहते हैं—*'आसीदिदं इति'* (१/५-९)—प्रलयकालमें यह परिदृश्यमान विश्व-प्रपञ्च अन्धकारमें विलीन, अज्ञात एवं लक्षणहीन था। यह तमोमय किस प्रकारसे था? यह अप्रतर्क्य, अनिर्वाच्य, अविज्ञेय (विज्ञानके अयोग्य) था, ऐसा लगता था मानो समस्त वस्तुएँ निद्रित हों। इसके बाद स्वप्रकाश अर्थात् नित्य षडैश्वर्यपूर्ण, पूर्व सिद्ध चिच्छक्ति और वीर्यसम्पन्न परमेश्वर श्रीहरि तमोनुद अर्थात् प्रकृतिके प्रेरक होकर आविर्भूत हुए। उन्होंने उस समय स्वयं अव्यक्त रहकर इन पञ्च महाभूतादिको व्यक्त किया। श्रीहरि इन्द्रियातीत, अज्ञेय, सूक्ष्म (इसलिए अव्यक्त), नित्य पुरुष (सनातन), सर्वभूतमय हैं (उनमें जड़-चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्व विराजमान है)। वे तमःशक्ति समन्वित एवं तर्कके अगोचर हैं। वे स्वयं ही कार्यरूपमें व्यक्त हुए हैं। उन्होंने 'बहुत होनेके लिए' सङ्कल्प किया और विविध प्रकारके जीवोंकी सृष्टिके अभिप्रायसे अपने शरीरसे अर्थात् उस तमसे पहले जलकी सृष्टि की। अनन्तर उसमें समस्त वस्तुओंके उपादान-कारण-स्वरूप बीज अर्थात् शक्तिका आधान किया। यही बीज सहस्र सूर्यके समान तेजोमय, सुवर्णमय ब्रह्माण्डमें परिणत हो गया। इसी अण्डसे सर्वलोक पितामह स्वयम्भू ब्रह्माने जन्म-ग्रहण किया। विष्णुपुराण (१/१/३१) में महर्षि पराशरने कहा है—*'विष्णोः सकाशदुद्भूतम्'*—यह जगत् श्रीहरिसे ही उत्पन्न हुआ है और उन्हींके आश्रयमें अवस्थित है। श्रीहरि ही इसके पालक एवं प्रलयके कर्त्ता हैं। जगत् भी वे ही अर्थात्

उनका बहिरङ्गशक्ति विशेष है। जिस प्रकार ऊर्णनाभ (मकड़ा) अपने हृदयमें स्थित ऊर्णासूत्रोंको मुखसे बाहर निकालता है और उनसे जालका विस्तार करके उसमें विहार करता है और बादमें उन्हीं ऊर्णासूत्रोंको अपनेमें ग्रस लेता है, ठीक इसी प्रकार भगवान् जनार्दन अपनी तमःशक्तिसे अपनेमें अवस्थित जगत्‌को अभिव्यक्त करके उसमें लीला करते हैं और फिर उसका विनाश कर देते हैं, इत्यादि इन स्मृति-वाक्य एवं अन्यान्य श्रुतियोंका क्या उपाय होगा? यदि कहा जाय कि सभी सांख्यादि स्मृति-वाक्य कर्मकाण्ड प्रतिपादित याग-यज्ञादि विषयोंको पुष्ट करनेके कारण चरितार्थ अथवा सार्थक (सविषय) हैं, तो यह कहते भी नहीं बनता, क्योंकि ब्रह्मज्ञानोदयके अनुकूल जिस चित्तशुद्धिकी अपेक्षा है, उसीके उद्देश्यसे ही समस्त स्मृतियाँ धर्म विधान करती हैं। अतएव ज्ञानकाण्डके पुष्टिवर्धनके लिए ही उनकी प्रवृति है। ये सभी स्मृतियाँ किस प्रकार चित्तशोधनमें प्रवृत्त होती हैं, वह भी दिखा रहे हैं—यथा—*'तमेतं वेदानुवचनेन'* (बृ॰आ॰ ४/४/२२)—उन परमेश्वरको वेद-व्याख्या द्वारा जानो इत्यादि श्रुतियोंमें चित्तशुद्धि जनक कार्योंको श्रीहरिके ज्ञानका सोपान कहा है। तब जो किसी-किसी श्रुतिमें वृष्टि, पुत्र, स्वर्गादि फलोंकी बात कही गयी है, यथा—*'कारीर्या वृष्टिकामो यजेत'*—वृष्टिकी इच्छा होनेपर कारीरी यज्ञ करे, *'पुत्रेष्ट्या पुत्रकामो यजेत'*—पुत्रकी अभिलाषासे पुत्रेष्टि याग करे, *'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'*—स्वर्ग-प्राप्तिकी कामनावाला जीवन पर्यन्त अग्निहोत्री बनकर रहे—इन सब वाक्योंमें धर्मके फल वृष्टि, पुत्र इत्यादि सुने जाते हैं और वेद अथवा श्रीहरि उन-उन फलोंको यजमानको प्राप्त करा देते हैं। तब कर्मकाण्ड केवल चित्तशोधनके लिए है, यह किस प्रकारसे कहा जाय? इस प्रश्नके समाधानके लिए कहते हैं—यह शास्त्रपर विश्वास उत्पन्न करानेके लिए अर्थात् उन शास्त्र प्रतिपादित परमेश्वर वाचक श्रुतियोंकी दृढ़ता स्थापन करानेके अभिप्रायसे है। श्रुति और स्मृति भी वही कह रही हैं। श्रुति है, यथा *'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्तीति'* (कठ॰ १/२/१५)—समस्त वेद उन ज्ञेय वस्तु श्रीहरिका पुनः-पुनः निर्देश करते हैं। भागवतीय स्मृति-वाक्य है, यथा *'नारायणपरा वेदाः'* (श्रीमद्भा॰

२/५/१५) समस्त वेदोंका तात्पर्य श्रीनारायणमें ही है। सांख्य-स्मृतिके द्वारा वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्मको उपबृंहण अथवा सुस्पष्ट करना सम्भव नहीं है, क्योंकि उसमें अनेक श्रुतिविरुद्ध वचनोंका उल्लेख किया है। उपबृंहण शब्दका अर्थ है—श्रुति प्रतिपादित विषयको युक्ति एवं तर्क द्वारा स्पष्ट करना अर्थात् विरुद्धवादका निराकरण करके प्रतिपाद्य विषयकी स्थापना करना। सांख्य-स्मृतिमें तो वेदके अर्थका उपबृंहण (स्पष्टीकरण अथवा समन्वय) नहीं है, इसलिए यह (सांख्य-स्मृति) श्रुति-विरुद्ध, स्वकपोलकल्पित है और इसी कारण अनाप्त, अश्रद्धेय एवं अप्रामाणिक है। अतः इसके निर्विषय अथवा व्यर्थ हो जानेके दोषभयसे हम भयभीत नहीं होते। पुनः सांख्य-शास्त्रका आप्तत्व भङ्ग हो जायेगाय इस आशङ्कासे उसके प्रति पक्षपात करना युक्तियुक्त है, यह भी माना नहीं जा सकता। जब पक्षपात करना ही है तो आप्तत्व रूपमें (प्रमाण अथवा श्रद्धेय-वचनत्व रूपमें) वर्णित गौतमादि बहुत-से मुनियोंके स्मृतिवाक्य जो भिन्न-भिन्न तत्त्व प्रकाशित करते हैं, उन सबके प्रति भी पक्षपात रखना चाहिये, फलस्वरूप वास्तव तत्त्वका निर्धारण (निर्णय) न होगा और अनिर्धारण दोष बना रहेगा। यदि यह कहते हो कि कोई स्मृति ब्रह्म प्रतिपादक है और कोई दूसरे तत्त्वकी प्रतिपादक है, तब दोनों स्मृतियोंकी विप्रतिपत्तिका अर्थात् पारस्परिक विरोधका परिहार किस प्रकार होगा? इसका उत्तर है—स्मृतियोंका परस्पर विरोध उपस्थित होनेपर श्रुतिका आश्रय ग्रहण करनेके अतिरिक्त अन्य कोई भी तत्त्व निर्णयका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि निराधारता होती है, यही मीमांसा है। अतएव श्रुति-अनुसारिणी स्मृति ही आदरणीय है, श्रद्धेय है (श्रुति-विरुद्ध स्मृति प्रमाण नहीं मानी जाती)। प्रतिवादी जिन स्मृति-वाक्योंको प्रामाण्य मानकर आक्षेप अर्थात् प्रतिवाद करते हैं, उनका निराकरण स्मृति-वाक्योंसे ही किया जायेगा। इसी अभिप्रायसे सूत्रकार 'अन्य स्मृतिकी व्यर्थता' रूप आपत्तिको उठाकर दोषका उपन्यास (विचार) करते हैं। (जो स्मृतियाँ वेदानुगामिनी हैं, वे समस्त स्मृतियाँ प्रामाणिक हैं।) तब जो श्वेताश्वतरोपनिषद (५/२) में *'ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति'*—कपिल ऋषि उत्पन्न हुए हैं, परमेश्वर सृष्टिकालमें इन ऋषिको

ज्ञान द्वारा समृद्ध करते हैं, इत्यादि वाक्योंमें जो कपिलका आप्तत्व अर्थात् प्रामाण्यका प्रतिपादन किया गया है, उसका क्या होगा? इसका उत्तर है कि ऐसा नहीं है। इस श्रुति-वाक्यका अर्थ अन्य प्रकारसे है। यथा 'यः'—जो परमात्मा, 'अग्रे'—सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न 'ऋषिम्'—ब्रह्माको, स्थितिकालमें 'प्रसूतम्'—प्रसूत (उत्पन्न) उन्हें 'ज्ञानैः' त्रैकालिक ज्ञान द्वारा पुष्ट करते हैं, उन परमेश्वरका हम ध्यान करते हैं। कपिलने श्रुति-प्रतिपादित अर्थका विपरीत अर्थ किया है। अतः उनका आप्तत्व अर्थात् उनके वचनोंके प्रति श्रद्धेयता नहीं है, जब कि मनुके आप्तत्वके सम्बन्धमें तैत्तिरीय-श्रुतिविद्गण घोषणा करते हैं—*'यद् वै किञ्चन मनुरवदत् तदभेषजम्'*—मनुने जो कु

प्रकार श्रीपराशर मुनिका भी आप्तत्व प्रमाणित है। पराशर मुनिने पुलस्त्य एवं वशिष्ठ मुनिके अनुग्रहसे परमार्थ तत्त्वज्ञानको प्राप्त किया था—यह स्मृतिवचन है। वेदविरुद्ध स्मृतिके प्रचारक कपिल अग्निवंशमें उत्पन्न जीव-विशेष हैं, मायासे उनका चित्त विमूढ़ था, वे कर्दम मुनिसे उत्पन्न वासुदेवके अंशावतार नहीं हैं। कहा गया है कि वासुदेव नामक कपिलने ब्रह्मादि देवताओं, भृगु आदि मुनियों और इसी प्रकारसे आसुरि नामक मुनिको भी वेदार्थ द्वारा स्पष्टीकृत अर्थात् सुस्पष्ट वेदार्थपूर्ण समस्त सांख्यतत्त्वका उपदेश दिया था और वेदार्थसे विरुद्ध कु

कपिलने किसी दूसरे आसुरिके लिए वर्णन किया था। अतएव दोनों कपिल एक नहीं हैं। इस प्रकार वेदविरुद्धताके कारण अप्रमाणीभूत इस सांख्य-स्मृतिकी व्यर्थता अथवा निरवकाशता अथवा निर्विषयताको स्वीकार करना किञ्चित् मात्र भी दोष नहीं है॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—स्मृत्यनवकाशेति। अन्यस्मृत्यनवकाशेति। अवकाशः स्थानमर्थ इति यावत्। अतः श्रुतिविपरीतेति। न च जगत्कारणे सिद्धे वस्तुनि विकल्पो युक्तः। तस्मात् प्रधानानुगुण्येन वेदान्ता व्याख्यातव्याः संप्रतीतिभावः। मैवम्। कु अन्यस्मृतीत्यादेः। आसीदिति। इदं जगत् पूर्वं तमोभूतं तमसि विलीनमासीत्। कीदृक् तम इत्याह अप्रतर्क्यमिति। अतस्तमसः स्वयम्भूर्नित्यः भगवान् षडैश्वर्यपूर्णो हरिः वृत्तौजाः पूर्वसिद्धचिच्छक्तिवीर्यः तमोनुदः प्रकृतिप्रेरकः सर्वभूतमयः निगीर्ण-

निखिलचिदचित्प्रपञ्चतमःशक्तिकः अचिन्त्यस्तर्कागोचरः। तादृशत्वे श्रुत्येकगम्य इत्यर्थः। स्वयं स्वशक्त्येकसहायः। इति अभिधाय बहु स्यामिति संकल्पात्। स्वात् शरीरात् सिसृक्षुरिति जगत्सृष्टेर्लीलानित्यत्वं व्यञ्जितम्। शरीरात्तादृशात्तमसः। विष्णोरिति श्रीवैष्णवे। तया ऊर्णया। अत्र तमःशक्तिमतश्चेतनाद्विष्णोरेव प्रपञ्चजन्मादि-स्मृतिरतश्चेतन एव तद्धेतुः। तथा च स्मृत्योर्विरोधे श्रुत्यनुगता स्मृतिः प्रमाणम्। आसामिति मन्वादिस्मृतीनाम्। चित्तशुद्धिमिति। कषायशक्तिःकर्माणीत्यादि स्मृतेः। एषां धर्माणाम्। तेषां धर्माणां वृष्ट्यादिफलं यच्छ यते यच्च फलं दत्त्वा तथैवानुभाव्यते वेदेन हरिणा वा तत् खलु तद्विश्वासार्थमेव बोध्यम्। सांख्यस्मृतेर्वेदानुसारित्वं दूषयति न चेति। तस्यां सांख्यस्मृतौ। स्वकपोलकल्पिता स्वधीवैभवरचिता। न चेति। तत्त्वेनाप्तत्वेन। बहूनां गौतमादीनाम्। नन्वेवं माभूत् मन्वादिस्मृतिपक्षपातोऽपीति चेत्तत्राह स्मृत्योश्चेति। आक्षेप्तॄन् प्रतिवादिनः। निराकरिष्याम इति शास्त्रकृतामनुसन्धिवचनम्। यत्त्विति। यस्तावदग्रे सर्गादौ जायमानमृषिं ब्रह्माणं स्थितिकाले प्रसूतं ज्ञानैस्त्रैकालिकैर्विभर्त्ति पुष्णाति तमीश्वरं पश्येदित्यर्थः। ऋषिं कीदृशं कपिलं कनकप्रभम्। तदभावाच्चेति आप्तत्वविरहादित्यर्थः। मनोरिति। मनुर्मनीषेति स्मृत्या तु भगवद्बुद्धित्वं तस्योक्तम्। श्रीपराशरो हीति। परान् बाह्यकु
सः। देवतेति। भगवद्विषयकवास्तवज्ञानयाथात्म्यमित्यर्थः। स्मर्यते श्रीवैष्णवे। *'कपिलो वासुदेवाख्य'* इति पाद्मे। तस्मादिति। उक्तश्रुतेश्चतुर्मुखपरत्वात् सांख्यप्रवक्तु कपिलस्य वेदविरोधित्वे स्मृतिलाभाच्च तत्स्मृतिरनाप्तैवेत्यर्थः॥ १ ॥

सूक्ष्मा-सार— *'स्मृत्यनवकाशदोषेत्यादि'* सूत्रस्थ *'अन्यस्मृत्यनव-काशदोषप्रसङ्गात् इति'* पदमें 'अवकाश' शब्दका अर्थ है—स्थान अथवा विषय पर्यन्त और उसका अभाव है 'अनवकाश' अर्थात् निकर्वषयता। अतः *'श्रुतिविपरीतार्थतया'*—जगत् कारण यदि सिद्ध वस्तु है, तब उसमें विकल्प करना युक्तियुक्त नहीं है—इसलिए इस समय प्रधानके आनुकूल्यमें ही वेदान्त-वाक्योंकी व्याख्या की जाय; यही अभिप्राय है। पर यह कहना ठीक नहीं है, क्यों? इसलिए कि ऐसा करनेसे अन्य स्मृतिके व्यर्थ हो जानेका दोष आ जाता है। मनुस्मृतिमें वाक्य है—*'आसीदिदं ... तमोभूतम्'* इत्यादि—यहाँ 'इदम्' का अर्थ है—यह परिदृश्यमान जगत्, *'पूर्वं तमोभूतम्'*—सृष्टिके पहले तममें (अन्धकारमें) विलीन था। किस प्रकारका तम—जो *'अप्रतर्क्यम्'*—तर्कके अगोचर है। 'ततः' का अर्थ है—तदनन्तर, स्वयम्भू—नित्यपुरुष भगवान् षडैश्वर्यपूर्ण श्रीहरि, वृत्तौजाः—पूर्वसिद्ध चिच्छक्तिरूप वीर्यशाली, तमोनुदः—प्रकृतिके

प्रेरक और सर्वभूतमय हैं। वे निखिल चित् और जड़ात्मक विश्वको ग्रसित करते हैं—ऐसी तमःशक्तिसे सम्पन्न, अचिन्त्य—तर्कके अगोचर ऐसे होनेपर भी जो एकमात्र श्रुति द्वारा बोध्य हैं—यह तात्पर्य है। स्वयं अर्थात् मात्र निज शक्तिको ही सहायक बनाकर *'अभिध्याय'*—मैं बहुत हो जाऊँ, यह सङ्कल्प लेकर, अपने शरीरसे सृष्टि करनेके अभिप्रायसे—यह कथन उनकी जगत्-सृष्टिकी लीलाके नित्यत्वको सूचित करनेके लिए है। निज शरीरका यहाँ अर्थ है जो अप्रतर्क्य, अलक्षण है, उस तमः शक्तिसे। *'विष्णोः सकाशादुद्भूतम्'* इत्यादि श्लोक श्रीविष्णुपुराणमें कहा गया है। सूत्रस्थ 'तया' पदका अर्थ है—ऊर्णासूत्रोंके द्वारा। इस श्लोकमें कहा गया है—तमःशक्ति (मायाशक्ति) से सम्पन्न चेतन विष्णुसे ही (जड़-प्रकृति अथवा प्रधानसे नहीं) विश्व-प्रपञ्चकी सृष्टि, स्थिति इत्यादि है। अतएव चेतन वस्तु ही जगत्की सृष्टि आदिका कारण है। इस प्रकार दोनों स्मृतियोंका यदि परस्पर असामञ्जस्य होता है, तो इसपर श्रुतिकी अनुसारिणी स्मृति ही प्रमाण होगी। *'आसाम् स्मृतीनाम्'*—इन मनु आदि स्मृतियोंकी कर्मकाण्ड वृद्धिके द्वारा सावकाशता अथवा सार्थकता कही नहीं जा सकती। क्योंकि इनका वर्णन *'चित्तशुद्धिमुद्दिश्येत्यादि'*—चित्त-शुद्धिके अभिप्रायसे किया गया है। *'कषायशक्तिः कर्माणि'*—ये स्मृति-वाक्य चित्तशुद्धिकी शक्तिको प्रमाण सहित कह रहे हैं कि अग्निहोत्रादि कर्मोंमें चित्तशुद्धिकी शक्ति विद्यमान है। *'चित्तशोधकता चैषां दृश्यते'* में 'एषाम्' का अर्थ धर्मपूर्ण कार्योंका। *'यत्तू तेषाम्'* इत्यादिमें 'तेषाम्' अर्थात् धर्मकर्मोंका, जो वृष्टि, इत्यादि फल शास्त्रमें सुने जाते हैं और जिस फलको प्रदान करके वेद अथवा श्रीहरि यजमानको उसका भोग कराते हैं, यह शास्त्रमें यजमानके विश्वासोत्पादनके लिए जानना चाहिये। सांख्य-स्मृति वेदानुगत नहीं है, इसे *'न चेत्यादि'* वाक्य द्वारा दोषमय बता रहे हैं। 'न च' *'तस्यामिदमस्ति'* में 'तस्याम्' से तात्पर्य है—इस सांख्य-स्मृतिमें श्रुतिके विरुद्धार्थका प्रतिपादन है। यह स्वकपोलकल्पित अर्थात् अपनी बुद्धिकी शक्तिके अधारपर रचित है। *'न चाप्तत्वव्यपाश्रयादि इत्यादि तत्त्वेन व्याख्यातानामिति'* में 'तत्त्वेन' का अर्थ है आप्तत्वरूपमें, श्रद्धेयवचनत्वरूपमें अथवा प्रमाणत्वरूपमें।

'व्याख्यातानाम्' तात्पर्य है—प्रसिद्ध गौतमादि बहुत-से मुनियोंका। प्रश्न है—अच्छा, ठीक है, मनु आदि स्मृतिके ऊपर भी पक्षपात अथवा श्रद्धा न हो तो, ऐसा यदि कहते हो तो इसपर कह रहे हैं—*'स्मृत्याश्च विप्रतिपत्तौ'*—दो स्मृतियोंकी भिन्न-भिन्न उक्तियोंके द्वारा विरोध होनेपर *'स्मृतिबलेनाक्षेप्तृन्'*—स्मृति-वाक्यकी सहायतासे ही प्रतिवादियोंको *'निराकरिष्यामः'*—निरस्त करेंगे—यह कहकर सूत्रकारने अन्य स्मृतिकी निर्विषयतापत्ति दिखाकर दोषका उपन्यास (विचार) किया है। यह वाक्य शास्त्रकारोंके अभिप्रायका सूचक है। *यत्तू 'ऋषिप्रसूतं कपिलम्'* इत्यादि वाक्यका सिद्धान्त सम्मत अर्थ है—जो इस सृष्टिके आदिमें उत्पन्न ऋषि ब्रह्माको (स्थितिकालमें प्रसूत उन्हें) ज्ञानैश्वर्यादि द्वारा *'विभर्त्ति'*—पुष्ट करते हैं, उन परमेश्वरके दर्शन करें। वे ऋषि कैसे हैं? उत्तर है वे कपिल हैं—सुवर्णके समान ज्यातिर्मय *'वैपरीत्यवक्तृतया तदभावाच्च'*—श्रुति-विरुद्ध होनेके कारण उनका आप्तत्व नहीं है, इसलिए। *'मनोराप्तत्वं तु'* इत्यादि—मनुर्मनीषा—इस स्मृति द्वारा भगवान्में उनकी बुद्धिका निवेश कहा गया है। अतः उनका आप्तत्व है। श्रीपराशरः—'पराशर' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जो परको अर्थात् बाह्य कु *'आश्रृणोति'*—प्रमाण एवं शत-शत तर्कों द्वारा निरस्त करते हैं, वे पराशर हैं। *'देवतापारमर्थ्यधियम्'*—अर्थात् भगवत्-विषयक जो परमार्थत्वका बोध है, उसे यथार्थमें प्राप्त किया है। यह 'स्मर्याते' अर्थात् श्रीविष्णुपुराणसे जाना जाता है। *'कपिलो वासुदेवाख्याः'* इत्यादि वचन पद्मपुराणमें उक्त है। *'तस्माद् वेदविरुद्धतया'* इति, *'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्'* इत्यादि श्रुतियाँ चतुर्मुख ब्रह्माके तात्पर्यकी बोधक हैं—इस कारणसे अप्रमाणित हैं और सांख्य-शास्त्र-रचयिता कपिलकी जो वेद-विरुद्धता है—इस विषयमें स्मृति-वाक्य जब भी रहा है, तब उसकी स्मृति (दर्शन) अप्रमाणित ही रही है, यह अर्थ है॥ १॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत अविरुद्ध नामके इस द्वितीय अध्यायकी व्याख्याका सङ्कल्प करके भाष्यकार श्रीमद्‌बलदेव विद्याभूषण प्रभुने अपने मङ्गलाचरणमें कहा है—वे सर्वेश्वर, प्रभु, भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्ण मेरी अभीष्ट वस्तुके प्रदाता हों। जब अश्वत्थामाने गर्भ स्थित धार्मिक परीक्षित्‌को योजित ब्रह्मास्त्रके द्वारा अन्यायपूर्वक विक्षत कर

दिया था, तब उस अवस्थामें उन्होंने सुदर्शनचक्रसे उनकी रक्षा की थी, ऐसे प्रभु श्रीकृष्ण मेरी गति हों। परीक्षित् समस्त वेद-शास्त्रोंको शिरोधार्य करनेवाले, श्रीभगवान्के ऐकान्तिक भक्त एवं भगवत्-धर्म विशिष्ट थे।

मङ्गलाचरणके द्वितीय अर्थमें भाष्यकारका मन्तव्य इस प्रकार पाया जाता है कि सुप्रख्यात श्रीकृष्णद्वैपायनप्रभु—जो समस्त कु
करनेवाले हैं, वे मेरे रक्षक हों। जिन्होंने स्वरचित वेदान्तसूत्ररूप सुदर्शन द्वारा श्रद्धानुगत वेदान्तको प्रतिवादियों द्वारा प्रदर्शित दोषोंके सम्पर्कसे शून्य कर दिया है तथा सभी दोषपूर्ण युक्तितर्कोंका निराकरण करके परमतत्त्वके निर्णयके साथ उत्तर अर्थात् सिद्धान्त-वाक्य रूपमें श्रीहरि ही इस वेदान्तके एकमात्र वाच्य अर्थ हैं, अन्य कोई नहीं—इसका स्थापन किया है, वे मेरे शरण्य हों।

वेदान्तके प्रथम अध्यायमें वेदान्तके सभी वाक्योंका ही ब्रह्ममें समन्वय निरूपण करते हुए वर्णन किया गया था। अब द्वितीय अध्यायमें स्वपक्षमें स्मृति, तर्क इत्यादिके विरोधके परिहारके लिए प्रधानके जगत्-कर्त्तृत्वका निरूपण करनेवाले वादोंके दोषका प्रतिपादन करते हुए सृष्टि आदि विषयमें समस्त वेदान्त-वाक्य ही एक तात्पर्यपर हैं—यह वर्णन हुआ है। पहले श्रुतिविरोधको उत्थापित करते (उठाते) हुए कहते हैं कि यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि समस्त जगत्के कारणरूपमें परमेश्वरका ही वेदान्त-वाक्यमें समन्वय है तो इसमें संशय यह है कि अगर यह समन्वय स्वीकार किया जाता है तो महर्षि कपिल द्वारा प्रणीत सांख्य-शास्त्र व्यर्थ हो जाता है। जब कि कपिल ऋषिको शास्त्र-प्रामाणिक पुरुष रूपमें स्वीकार किया गया है। कपिल द्वारा प्रधानके जगत्-कारणतावादके सम्बन्धमें विस्तारपूर्वक उल्लेख भाष्य एवं टीकामें देखना चाहिये। पूर्वपक्षवादी यदि कहें कि आप्तपुरुष कपिलके सिद्धान्तके साथ वेदान्तका विरोध घटित न हो, इस रूपसे वेदान्तकी व्याख्या करना उचित है। प्रधानका कारणतावाद स्वीकार करनेपर मनु आदि स्मृति-शास्त्रोंमें ब्रह्मका जो कारणतावाद वर्णित है, उसकी उपपत्ति (प्रमाण, युक्ति) न हो, ऐसा भी नहीं है—यह सब पूर्वपक्ष है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह

रहे हैं कि यदि कहो सांख्य-स्मृतिका अनवकाश अर्थात् विषयशून्यता दोष है अथवा उसकी सार्थकता नहीं है, इसलिए वेदान्तके अर्थकी अन्य रूपमें व्याख्या करना उचित है, तो इसका निराकरण यह है कि नहीं, यह सम्भव नहीं है। ऐसा करनेसे तो वेदान्तमें ही अनवकाश (निर्विषयता) दोष आ पड़ेगा।

इस स्थलपर यह विचारणीय है कि एक ओर जिस प्रकार सांख्य-स्मृति प्रकृतिके कारणतावादका स्थापन करती है, तो दूसरी ओर मनु आदि स्मृतियाँ एकमात्र ब्रह्मकी ही जगत्-कारणताका संस्थापन करती हैं। पुनः श्रीमन्मनुने *'आसीदिदं तमोभूतम्'* श्लोकमें जिस प्रकार कहा है, विष्णुपुराणमें पराशर ऋषिने भी उसी प्रकार कहा है—*'विष्णोः सकाशादुद्भूतम्।'* अब यदि कोई कहे कि सभी स्मृतियाँ कर्मकाण्डमें प्रतिपादित यागयज्ञके विषयमें ही कह रही हैं, पर ऐसा तो है नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञानके उदयके अनुकूल चित्तशुद्धिके उद्देश्यसे ही सभी स्मृतियाँ धर्मका विधान करती हैं। अतः ज्ञानकाण्डका पुष्टि साधन ही इन स्मृतियोंका विषय है। यदि कहो, जब ये सभी स्मृतियाँ स्पष्ट रूपसे ही कर्मकाण्डका प्रतिपादन कर रही हैं तो उन्हें चित्तशोधक क्यों कहा जाये? इसके उत्तरमें वक्तव्य यह है कि सभी शास्त्रोंके प्रति विश्वाससे उत्पन्न कराके अन्तमें उन शास्त्रोंमें प्रतिपादित समस्त फलप्रदाता परमेश्वर और उनके तत्त्वके प्रतिपादक श्रुति-वाक्योंके प्रति दृढ़ता स्थापनके अभिप्रायसे ही श्रुति-स्मृति इस प्रकार कह रही हैं। द्रष्टव्य है—*'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'*—यह श्रुति है। स्मृति भी है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—*'नारायणपरा वेदाः।'* लेकिन जो सांख्य-स्मृति है, वह बहुत कु
स्वकपोलकल्पित सिद्धान्त श्रद्धास्पद नहीं हो सकते। दूसरी बात यह है कि सांख्यकारका आप्तत्व स्वीकार करनेपर गौतमादि बहुत-से मुनियोंके वाक्य श्रद्धाके अपात्र हो जाते हैं। दो श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेपर जो स्मृति-श्रुतिकी अनुसारिणी है, वही आदरणीया है। तब जो श्वेताश्वतरश्रुति कह रही है *'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्'*—इसका अर्थ अन्य प्रकारसे है। इस स्थलपर ऋषि शब्दसे ब्रह्माजीको ही लक्ष्य किया गया है। कपिलने श्रुतिके विरुद्ध मत प्रकाशित किया

है, इसलिए उनका आप्तत्व स्वीकार्य नहीं है। अतः उनके वचन भी श्रद्धाके विषय नहीं हैं। मनुका और पराशरका आप्तत्व प्रमाणित है, और भी एक बात है—एक कपिल हुए हैं, जो अग्निवंशमें उत्पन्न मायाबद्ध जीवविशेष हैं, जिन्होंने वेद-विरुद्ध मतका प्रचार किया था और जो कार्दमेय (कर्दम ऋषिके पुत्र) कपिल हैं, वे भगवदवतार श्रीवासुदेवके अंश हैं। उन्होंने जिस सांख्य-शास्त्रका उपदेश किया है, वह श्रीमद्भागवतमें उल्लिखित है। वही वास्तव सांख्य-शास्त्र है। पद्मपुराणमें भी कहा है—*'कपिलो वासुदेवाख्यः।'* इस प्रकार वासुदेवांश भगवदवतार कपिल ही आप्तपुरुष हैं और श्रुतिवर्णित ऋषि ब्रह्माजी हैं। इसलिए निरीश्वर सांख्य-शास्त्रके प्रणेता कपिलका मत सर्वथा अग्राह्य है, स्वीकार्य नहीं है।

आचार्य शङ्करने इस सन्दर्भमें अपने भाष्यमें जो कहा है, उसका सार इस प्रकार है—ऋषि प्रणीत ग्रन्थका नाम ही स्मृति अथवा तन्त्र है। कपिलकी स्मृतिको मानने गये तो मनु, व्यास इत्यादि महाजनोंकी स्मृति अमान्य हो जायेगी। दो स्मृतियोंके परस्पर विरोधी होनेपर जो स्मृति-श्रुतिकी अनुसारिणी है, उसीको ग्रहण करना उचित है और जो वेदविरोधी है, उसका परित्याग करना चाहिये।

जैमिनिने स्वरचित मीमांसा-दर्शनमें भी इसी प्रकारका मत व्यक्त किया है कि एक स्मृतिके साथ अन्य स्मृतिका विरोध होनेपर उस श्रुतिविरोधी स्मृतिका त्याग करना होगा, और यदि वह विरोधी न होकर अनुकूल होती है तो उसे प्रमाण रूपमें स्वीकार करना पड़ेगा।

मुनि-वाक्यमें पाया जाता है—

श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भगवदाराधनविधिम्।
यथा मातुर्वाणी स्मृतिरपि तथा वक्ति भगिनी॥

पुराणाद्या ये वा सहजनिवहास्ते तदनुगा।
अतः सत्यं ज्ञातं मुरहर! भवानेव शरणम्॥

(चै०च०म० २२/६)

अर्थात् मुनिगण कहते हैं—मातास्वरूपा श्रुति (वेद एवं उपनिषद) से जब हम जिज्ञासा करते हैं तो हे भगवन्! वे आपकी आराधना-विधि अर्थात् भक्तिका उपदेश करती हैं। श्रुति माता जो कु

भगिनी–स्मृति (श्रीमद्भगवद्गीता) भी वही बात कहती है। पुराणादि (पुराण एवं नारदपञ्चरात्रादि शास्त्र) जो सहोदरगण हैं, वे भी माता एवं भगिनीके अनुगत हैं अर्थात् वे भी कृष्णभक्तिका उपदेश करते हैं। अतः हे मुरारे! आप ही हमारे एकमात्र आश्रय हैं। यही सत्य बात है।

श्रीमद्भागवत (१/२/२८–२९) में द्रष्टव्य है—

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥

वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥

स एवेदं ससर्ज्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रुपया चासौ गुणमरूयांऽगुणो विभुः॥

अर्थात् चारों वेदोंका तात्पर्य श्रीवासुदेवमें ही है, वेदोक्त समस्त यज्ञ यज्ञेश्वर श्रीविष्णुपरक ही हैं, योग–शास्त्र भी योगेश्वरेश्वर श्रीविष्णुके तात्पर्यसे युक्त हैं और योग–शास्त्रोंमें कहे गये अनुष्ठान भी श्रीविष्णुभक्तिमें पर्यवसित होते हैं। इसी प्रकार ज्ञान–शास्त्र भी भगवान् श्रीवासुदेवको लक्ष्य करते हैं, ज्ञान–वैराग्य भी हरिभक्तिके उद्देश्यसे ही हैं। दान–व्रतादि विषयक धर्म–शास्त्र भी हरिभक्तिमें पर्यवसित होते हैं। स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिरूप अनित्य सुखका परित्याग करके हरि–भक्तिरूप नित्यानन्द ही जीवनका लक्ष्य होना चाहिये। ऐसे भगवान् स्वयं निर्गुण हैं किन्तु उनकी बहिरङ्गाशक्ति त्रिगुणमयी है। वे भगवान् सृष्टिके प्रारम्भमें कारणोदकशायी प्रथम पुरुषके रूपमें प्रथमतः कार्य–कारण–रूपवाली अपनी मायाशक्तिके प्रति ईक्षणकर इस विश्वकी सृष्टि करते हैं।

बृहदारण्यकश्रुतिके प्रथम अध्यायमें सृष्टि–तत्त्वके विषयमें कहा गया है कि सृष्टिसे पूर्व कु

और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। *'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्'* (बृ॰आ॰ १/२/१) पहले यहाँ कु *'आपो वा अर्कस्तद्यदपाम्'* (बृ॰आ॰ १/२/२) आप् (जल) ही अर्क है उस जलका ...।

'सोऽकामयत' (बृ॰आ॰ १/२/४) उसने कामना की। *'स ऐक्षत'* (बृ॰आ॰ १/२/५) उसने विचार किया—इत्यादि श्रुतियाँ भी इस प्रसङ्गमें द्रष्टव्य हैं। श्रीपराशर, मनु इत्यादि स्मृतिकारोंने भी यही निर्णय किया है कि विष्णुसे ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता हैय यह मूलभाष्यमें देखना चाहिये। श्रीमन् व्यासदेवने भी श्रीभागवतमें इस सिद्धान्तको स्थिर किया है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें देखा जाता है—

यद्यपि सांख्य माने 'प्रधान' कारण।
जड़ हइते कभु नहे जगत् सृजन॥
निज सृष्टिशक्ति प्रभु सञ्चारि प्रधाने।
ईश्वरेर शक्त्ये तबे हयत निर्माणे॥

(चै॰च॰आ॰ ६/१८-१९)

अर्थात् यद्यपि सांख्य-मतमें संसारका कारण गुणमायाको माना गया है, परन्तु गुणमाया जड़ है। अतः जड़ होनेसे गुणमायाके द्वारा वैचित्र्यमयी सृष्टिकी रचना नहीं हो सकती। महाविष्णु अपनी सृष्टि करनेकी शक्तिका गुण मायामें सञ्चार करते हैं। तभी वह उन ईश्वरकी शक्तिसे सृष्टि-रचनामें समर्थ होती है।

अतः विभिन्न श्रुति-स्मृति प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि जगत्की एकमात्र सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके कर्त्ता श्रीविष्णु ही हैं। कपिलका वेदविरुद्ध स्वकपोलकल्पित प्रकृति-कारणतावाद अङ्गीकार किये जाने योग्य नहीं है। अतः उनका अनाप्तत्व स्वीकार करनेमें कोई दोष नहीं है।

श्रीमद्जीवगोस्वामीपादने अपनी सर्वसंवादिनीके अन्तर्गत तत्त्वसन्दर्भमें भी लिखा है—

"'यत्र तु वाक्यान्तरेणैव विरोधः स्यात्तत्र बलाबलत्वं विवेचनीयम्, तच्च शास्त्रगतं वचनगतञ्चः, पूर्वम् यथा'—

'श्रुति-स्मृति-विरोधे तु श्रुतिरेव बलीयसी' इत्यादि। उत्तरञ्च (वचनगतञ्च) यथा—श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् (मीमांसा-दर्शन ३/३/१४) इत्यादि, निरुक्तानि चैतानि—

श्रुतिश्च शब्दः क्षमता च लिङ्गम्।
वाक्यं पदान्येव तु संहतानि॥
सा प्रक्रिया यत् करणं सकाङ्क्षं।
स्थाने क्रमो योगबलं समाख्या॥

तच्च विरोधित्वं परोक्षवादादिनिबन्धनं चिन्तयित्वेतरवाक्यस्य बल-वद्वाक्यानुगतोऽर्थश्चिन्तनीयः।

इदं प्रतिपाद्यस्याचिन्त्यत्वे एव युक्तिदूरत्वं व्याख्यातं (म॰भा॰ भीष्मपर्व ५/१२ स्कान्दे च) 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इत्यादि दर्शनेन; चिन्त्यत्वे तु युक्तिरप्यवकाशं लभते, चेल्लभतां न तत्रास्माकमाग्रह इति सर्वथा वेदस्यैव प्रामाण्यम्। तदुक्तं (ब्र॰सू॰ २/२/३८) शङ्कर-शारीरकेऽपि—

आगम बलेन ब्रह्मवादी कारणवादी स्वरूपं निरूपयति नावश्यं तस्य (अनुमानस्य) यथादृष्टं सर्वमभ्युपगतं मन्तव्यमिति नियमोऽस्ति। (ब्रह्मसूत्रं शङ्करभाष्यम् २/२/३८)

तदेवं वेदो नामालौकिकः शब्दस्तस्य परमं प्रतिपाद्यं यत्तदलौकि-कत्वादचिन्त्यमेव भविष्यति। तस्मिंस्त्वन्वेष्टव्ये तदुपक्रमादिभिः सर्वेषामप्युपरि यदुपपद्यते तदेवोपास्यमिति।

अथैवं प्रमाणनिर्णये स्थितेऽपि पुनराशङ्क्योत्तरपक्षं दर्शयति, 'तत्र च वेदशब्दस्य' इति (१२)। 'सम्प्रति कलौ, अप्रचरद्रूपत्वेन दुर्मेधस्त्वेन च दुष्पारत्वात्।'

उपसंहरति—तदेव वदत्वं सिद्धम् इति (१६)। अतएव स्मृत्यन-वकाशदोष—प्रसङ्गात् इत्यनेन न्यायेनाप्यन्यत्र स्मृतिवत् स्मृत्यन्तर-विरोध-दृष्टत्वञ्च नात्रापतति।"

इस प्रसङ्गमें श्रीश्रील प्रभुपादने श्रीचैतन्यचरितामृतकी आदिलीलाके छठे परिच्छेदके सृष्टितत्त्व विषयके निरूपणमें इस ब्रह्मसूत्रको उद्धृत करते हुए अपने अनुभाष्यमें जो लिखा है, वह द्रष्टव्य है।

श्रीमद्भागवतमें श्रुति-स्तवमें भी पाया जाता है—

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।

त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे॥
(श्रीमद्भा० १०/८७/२५)

इस श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामिपाद कहते हैं—

इतोऽपि ज्ञानं न सुकरम्, उपदिशतामपि भ्रमबाहुल्यादित्याह—'जनिमसत' इति। जगतो जनिमुत्पत्तिम् ये वैशेषिकादयो वदन्ति। असत् एव ब्रह्मत्वस्योत्पत्तिं ये च पातञ्जलादयः। सत् एवैकविंशतिप्रकारस्य दुःखस्य मृतिं नाशं मोक्षं वदन्ति ये नैयायिकाः। उत अपि ये च सांख्यादयः आत्मनि भिदां भेदञ्च। ये च मीमांसका विपणम् (कर्मफलव्यवहारम्)। ऋतं (सत्यं) स्मरन्ति (वदन्ति)। ते सर्वे आरुपितैः आरोपितैः भ्रमैरेवोपदिशन्ति न तत्त्वदृष्ट्या। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति', 'अनीशया शोचति मुह्यमानः', 'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः', 'एकमेवाद्वितीयम्' एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवदित्यादि श्रुतिविरोधात्।

अर्थात् यह स्तुति द्वादश श्रुत्यभिमानी देवताओं द्वारा की गयी है। उपदेष्टा आचार्यगणोंमें भ्रम बाहुल्यकी विद्यमानताके कारण-स्वरूप-अवबोधात्मक ज्ञान सुप्राप्य नहीं है। वैशेषिकगण परिदृश्यमान जगत्‌की उत्पत्ति मानते हैं। उनका कहना है—परमाणु आदि असत् पदार्थसे सत्‌की उत्पत्ति है, यहाँ श्रुति-विरोध इस प्रकार है—*'सत् एव सौम्य इदम् अग्र आसीत्'* अर्थात् हे सौम्य! श्वेतकेतो! नामरूपात्मक विकृत जगत् सृष्टिके पूर्वमें मात्र निर्विशेष, निरञ्जन, नित्य, निरवयव, वेदान्तोपपाद्य ब्रह्म ही थे। पातञ्जलगण असत्‌से ही ब्रह्मत्वकी उत्पत्तिको स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं असत्‌से ही जनिम्—उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार ताम्र इत्यादि धातुएँ सुवर्ण न होनेपर भी रसायन प्रक्रिया द्वारा सुवर्ण हो सकती हैं, उसी प्रकार जीव ब्रह्म न होनेपर भी भक्तियोगके प्रभावसे ब्रह्म हो सकता है। जब कि श्रीभगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं—*'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'*—असत्‌की उत्पत्ति नहीं होती है और सत्‌का नाश भी नहीं होता है। नैयायिकगण इक्कीस तत्त्व-षडेन्द्रिय (चक्षु, कर्ण, नासिका,

त्वचा, जिह्वा एवं मन), उनके विषय—रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श, रस एवं सङ्कल्प, षड् ऊर्मि—बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु एवं शरीर, वैषयिक सुख और दुःखकी मृत्ति (नाश) को मुक्ति (मोक्ष) मानते हैं। इस सन्दर्भमें श्रुति-विरोध इस प्रकार है—*'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'*—आप्तकाम (जिसकी किसी प्रकारकी अभिलाषा नहीं है) और जो आत्माको अद्वयज्ञान-तत्त्वके रूपमें देखता है, वह देहवान् होनेपर भी अमृतत्वकी प्राप्ति कर लेता है और शरीरके विनष्ट होनेपर ब्रह्मकी प्राप्ति कर लेता है। सांख्यवादी इत्यादि आत्मामें भेद स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि आत्मा अनेकविध है। उनके मतमें श्रुति-विरोध इस प्रकार है—*'एकमेवाद्वितीयम्'*—एक ही स्वजातीय, चेतन, वस्तु-अन्तर रहित एवं विजातीय द्रव्यान्तररहित है। इसी प्रकार *'नेह नानास्ति किञ्चन'*—इस जगत्में अनेक कु

(कर्मफल व्यवहार) को सत्य मानते हैं। उनके मतमें यज्ञादिके फल स्वर्गादि अविनश्य एवं परम पुरुषार्थ हैं। इस स्थलपर श्रुतिविरोध इस प्रकारसे है—*'तद्यथा इह कर्मचितः लोकः क्षीयते एवं अमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।'* अर्थात् कर्मोचित लोकका जिस प्रकार क्षय होता है, उस प्रकार पुण्यार्जित लोक भी विनष्ट हो जाता है। *'अनीशया शोचति मुह्यमानः'* देहाभिमानी पुरुष मायासे मुग्ध होकर इसी प्रकार शोक (चिन्ता) करता रहता है। इसी प्रकार *'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः'*—ये लोग अविवेकी हैं, परन्तु अपनेको बुद्धिमान मानकर ज्वर, रोगादि अनर्थोंसे पीड़ित होकर भ्रमण करते हैं और अन्ध पुरुषके पथ-प्रदर्शक अन्धके समान ही मूढ़ व्यक्तियोंसे उपदिष्ट होते हैं। उनके सभी उपदेश आरोपित और भ्रमित होते हैं। वे परमात्मामें भेदकी कल्पना करते हैं और व्यवहारको सत्य मानते हैं। तत्त्वदृष्टिके द्वारा उपलब्धि करके वे कु

वस्तुतः अज्ञान नहीं है, वे (आत्मा) ज्ञानघनमें सदा प्रतिष्ठित हैं। एक ही परमेश्वर समस्त भूतोंमें अवस्थित हैं। एक उपाधि होनेके कारण वे एक रूपमें प्रतिभात होते हैं। और अनेक उपाधि होनेपर अनेक प्रकारसे प्रतिभात होते हैं। जिस प्रकार मीलों-मीलों तक

फैले हुए जलाशयमें प्रतिबिम्बित चन्द्र एक ही रूपमें दिखायी देता है, जब कि घट, शराबमें प्रतिबिम्बित चन्द्र अनेक-अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है।

सूत्र—इतरेषाञ्चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—'इतरेषाम् च' सांख्य-दर्शनमें उक्त अन्य सभी तत्त्वोंकी चर्चा 'अनुपलब्धेः'—वेदमें प्राप्त नहीं होती, इसलिए इस सांख्य-स्मृतिका आप्तत्व नहीं है ॥ २ ॥

सूत्रानुवाद—वेदवेत्तागण एवं स्वार्जित योगके बलपर अतीन्द्रिय अर्थका साक्षात्कार करनेवाले मनु आदि अन्य स्मृतिकार सांख्य-दर्शनमें उक्त वेदकी प्रधानपरकताकी उपलब्धि नहीं करते। अतः सांख्य-स्मृतिका आप्तत्व स्वीकार्य नहीं है ॥ २ ॥

गोविन्दभाष्य—इतरेषाञ्च सांख्यस्मृत्युक्तानामर्थानां वेदेऽनुपलम्भात्तस्या नाप्तत्वम्। ते च विभवश्चिन्मात्राः पुरुषास्तेषां बन्धमोक्षौ प्रकृतिरेव करोति। तौ पुनः प्राकृतावेव। सर्वेश्वरः पुरुषविशेषो नास्ति। कालस्तत्त्वं न भवति। प्राणादयः पञ्च करणवृत्तिरूपा भवन्तीत्येवमादयस्तस्यामेव द्रष्टव्याः ॥ २ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सांख्य-स्मृतिमें वर्णित अन्यान्य पदार्थोंका वेदमें अदर्शन (उपलब्धि प्राप्त न होने) के कारण सांख्य-स्मृतिका प्रामाण्य नहीं है। वेदविरुद्ध सभी पदार्थ-(विषय) यथा—पुरुष (जीवात्मा) विभु-विश्वव्यापक, बहु और चिन्मात्रस्वरूप हैं, उनका बन्धन और मोक्ष प्रकृति ही करती है। यह बन्धन एवं मोक्ष प्रकृतिका ही है, पुरुषका नहीं, सर्वेश्वरके रूपमें कोई पुरुष विशेष नहीं है। काल कहकर कोई तत्त्व भी नहीं है, प्राण इत्यादि पञ्चवायु इन्द्रियोंकी वृत्तिविशेष हैं, इत्यादि सांख्य-स्मृतिमें ही देखे जाते हैं, अन्यत्र नहीं ॥ २ ॥

सूक्ष्मा-टीका—इतरेषामिति। एतत्तूपरिष्टाद्विस्फु
तौ न तु पुंस इत्यर्थः ॥ २ ॥

सूक्ष्मा-सार— *'इतरेषामित्यादि'* सूत्रमें निर्दिष्ट विषयोंको बादमें परिस्फु *'प्राकृतौ'* अर्थात् प्रकृतिका—देहादिका ही बन्धन एवं मोक्ष है, आत्माका नहीं ॥ २ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस दूसरे सूत्रमें कह रहे हैं कि सांख्य-स्मृतिमें वर्णित अन्य विषय भी वेदमें प्राप्त नहीं होते। अतएव सांख्य-मत (प्रधानको जगत्‌का कारण मानना आदि) स्वीकार्य नहीं है। इस प्रसङ्गमें श्रीपाद रामानुजाचार्यके भाष्यको संक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—मनु इत्यादि अन्य स्मृति-ग्रन्थ-प्रणेताओंके ग्रन्थोंमें भी कपिल-वर्णित तत्त्व प्राप्त नहीं होते। मनुने योगके प्रभावसे ब्रह्मका दर्शन किया था और जगत्‌के समस्त तत्त्वको जाना था। मनुके सम्बन्धमें वेदमें कहा गया है—*'यद् वै किञ्चन मनुरवदत् तद् भेषजम्'* (तै॰ २/२/१०/२) अर्थात् मनुने जो कु
(औषध) रूप है, किन्तु कपिलने जिन तत्त्वोंका उल्लेख किया है, उनकी उपलब्धि मनु नहीं करते हैं। इसलिए कपिलको भ्रान्त ही कहा जायेगा। कपिलके सांख्य-मतके साथ विरोध है, वेदान्तके अर्थके परित्यागका कोई कारण नहीं है।

श्रीलप्रभुपादने अनुभाष्यमें लिखा है—उक्त सांख्य-स्मृतिमें कितने ही विषयोंको विशेष रूपसे कहा गया है, जिन्हें वेदमें कहीं भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस कारण इस सांख्य-स्मृतिको 'अनाप्त' कहा जाता है। इन विषयोंको भाष्यमें देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें श्लोक है—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कु
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

(श्रीमद्भा॰ ६/३/२०)

इस श्लोकमें देवहूतिनन्दन कपिल एवं स्वायम्भुवमनुको विशुद्ध भागवत धर्मके तत्त्ववेत्तारूपमें निर्णय किया है।

भगवदवतार वासुदेव नामसे कथित कपिल द्वारा प्रचारित सांख्य-शास्त्र जिस प्रकार श्रुति सम्मत है, उसी प्रकार स्वायम्भुव मनुका विचार भी वेदानुग है। यह पहले ही कहा गया है कि वेदानुग स्मृति ही ग्राह्य है। वेदविरुद्ध सांख्य-मत स्वीकार करनेपर मनु इत्यादि महाजनोंकी स्मृति अग्राह्य हो जाती है।

स्वायम्भुवमनु कहते हैं—

येन चेतयते विश्वं, विश्वं चेतयते न यम्।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः॥
(श्रीमद्भा॰ ८/१/९)

इस श्लोककी टीकामें श्रीलचक्रवर्त्तीपादने कहा है कि श्लोकस्थ 'येन' पदका अर्थ है, जिनके द्वारा। *'चेतयते विश्वम्'* (देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणादिरूप) इस विश्वको चेतनायुक्त किया जाता है। 'विश्वम्' (जो स्वयं चैतन्यस्वरूप हैं) अर्थात् विश्व उन्हें चैतन्ययुक्त नहीं करता। *'अस्मिन् शयाने'*—इस विश्वके निद्रामग्न, सुषुप्त अर्थात् प्रलयगत होनेपर जो जागते रहते हैं। जिनके योगनिद्रागत होनेपर भी यह विश्व जाग्रत नहीं हो सकता। इस प्रकार यह उपक्रम स्पष्ट कर देता है कि विश्वके रहनेवाले लोग उन्हें जान नहीं सकते। वे श्रीहरि हैं।

श्रीमद्भागवतमें श्रीमन्मनुके वचनसे और भी प्राप्त होता है—

ईहते भगवानीशो न हि तत्र विषज्जते।
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनु तम्॥
(श्रीमद्भा॰ ८/१/१५)

अर्थात् आत्मलाभसे परिपूर्ण सर्वशक्तिमान परमेश्वर सृष्टि आदि कार्य सम्पादन करते हैं, किन्तु उसमें आसक्त नहीं होते। जो उनका अनुसरण करते हैं, वे भी बद्ध नहीं होते।

इसके बादके श्लोकमें कहा गया है—

तमीहमानं निरहंकृतं बुधं निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम्।
नृञ्छिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनम्॥
(श्रीमद्भा॰ ८/१/१६)

इस श्लोककी टीकामें श्रीलचक्रवर्त्तीपादने लिखा है—'प्रभुम्'—नाम विशेषका उल्लेख न रहनेपर भी नामसे ही जो प्रभु हैं अर्थात् जो विश्वको चैतन्यमय करते हैं—इत्यादि उपक्रम (प्रस्तावना) के कारण उन भगवान् चैतन्य 'प्रभु' (भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु) की 'प्रपद्ये' हम शरण ग्रहण करते हैं। वे चैतन्य प्रभु कैसे हैं? वही कह रहे हैं—*'तम् ईहमानः'*—वे प्रसिद्ध परमेश्वर हैं, स्वयंका ही आस्वादन करनेकी अभिलाषा करते हैं। जिस प्रकार अन्य भक्तगण उनकी कामना

करते हैं, उसी प्रकार वे स्वयं भी अपनी कामना करते हैं, क्योंकि वे आत्माराम हैं। *'निरहंकृतम्'*—जो सर्वेश्वर रूपमें भी अहङ्कारशून्य हैं। *'अनन्यचोदितम्'*—किसी दूसरेके द्वारा परिचालित नहीं हैं, स्वयंके द्वारा ही उपदिष्ट हैं, *'निजवर्त्मसंस्थितम्'*—वे निजवर्त्म अर्थात् अपनी प्राप्तिके साधनमें संस्थित—स्थित रहकर जो चिरकालके व्यवधानसे विलुप्तप्रायः हो गया था, ऐसी अपनी चर्या अर्थात् आचरणके द्वारा मानवोंको शिक्षा देते हैं। *'अखिलधर्मभावनम्'*— अखिलका तात्पर्य है 'अन्यून' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ धर्म जो शक्तियोग है, उसकी जो भावना करता है अर्थात् उसमें प्रवृत्त होता है, उसे प्रभुकी शरण प्राप्त होती है॥ २॥

अवतरणिका भाष्य—ननु सांख्यस्मृत्या वेदान्ता व्याख्यातुं न युक्ताः। तस्या वेदान्तविरुद्धत्वात्। योगस्मृत्या तु व्याख्येयास्ते। वेदान्तार्थानाश्रियत्य तस्या वर्णितत्वात्। योगः खलु श्रौतः। *'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।'* (कठ० २/३/११) *'विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम्'* (कठ० २/३/८) इत्यादिषु कठादिश्रुतिषु योगविषयकबहुलिङ्गलाभात्। *'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्'* (श्वे० २/८) इत्यादिष्वासनादियोगाङ्गाभिधानाच्च। तेन योगेन जगद्दुःस्थं परिजिहीर्षुराप्ततमो भगवान् पतञ्जलिः स्मृतिं निवबन्ध। *'अथ योगानुशासनम्, योगश्चित्तवृत्तिनिरोध'* (योगसूत्र १/१/१-२) इत्यादिभिः। समन्वयाविरोधेन वेदान्तेषु व्याख्यातेष्वेषा स्मृतिरनवकाशा स्याद् योगप्रतिपत्तिमात्रविषयत्वात्। मन्वादिस्मृतीनां तु धर्मावेदनया सावकाशता भवेत्। तस्माद्योगस्मृत्यैव न तूक्तसमन्वयानुगत्या ते व्याख्येया इत्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि सांख्य-स्मृति अनुसार वेदान्तकी व्याख्या करना उचित नहीं है, क्योंकि यह स्मृति वेदान्त-विरुद्ध है, परन्तु पातञ्जल योग-स्मृति द्वारा तो वेदान्तकी व्याख्या की जा सकती है। कारण यह है कि वेदान्त प्रतिपादित अर्थोंका आश्रय करके ही इन स्मृतियोंका वर्णन हुआ है और योग-शास्त्र श्रौत-श्रुतिके अनुगत भी हैं, जैसे कि कठादि श्रुतिमें योग-विषयक वर्णन है यथा—*'तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्'* (कठ० २/३/११)—स्थिर इन्द्रिय-धारणाको योगविद् योगके रूपमें मानते हैं। *'विद्यामेतां योगविधिं च कृतस्नमिति'* (कठ० २/३/८)—'नचिकेताने मुझसे ब्रह्मविद्या एवं समग्र योगके प्रकारकी शिक्षा प्राप्त करके ब्रह्मत्वको प्राप्त किया था, इत्यादि श्रुति कथित योग विषयक बहुत-से धर्म

इस स्मृतिमें प्राप्त होते हैं। साथ ही *'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्'* (श्वे॰ २/८)—उरस्, ग्रीवा तथा शिर—इन शरीरके ऊर्ध्व भागोंको सम रखकर' इत्यादि योगके आसनादि अङ्गकी बातें श्रुतियोंमें कही गयी हैं। इस प्रकार इस योग द्वारा दुःखी जगत्का उद्धार करनेके भावसे भगवान् पतञ्जलिने अति प्रामाणिक योग-शास्त्रकी रचना की है। *'अथ योगानुशासनम्'* (योगसूत्र १/१/१) इस उपक्रम सूत्रसे शास्त्र समाप्ति तक योगानुशासन अधिकृत हुआ है। यह योग-शास्त्र मङ्गलफलको निष्पन्न करनेवाला है। तदनन्तर *'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'* कहकर योगके लक्षण कहे गये हैं। समन्वयके अविरोधसे वेदकी व्याख्या होनेपर यह पातञ्जल-दर्शन निर्विषय (व्यर्थ) हो जायेगा क्योंकि इसमें मात्र योगका ही प्रतिपादन हुआ है जब कि मनु आदि स्मृतिमें धर्मके उपबृंहण (विशदीकरण) द्वारा सार्थकता अथवा सविषयता है। अतएव योग-स्मृतिके अनुगत रूपमें ही वेदान्त-वाक्य व्याख्याके योग्य हैं ब्रह्ममें समन्वयानुसार नहीं। पूर्वपक्षवादीके इस आक्षेपके समाधानमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—योगस्मृतिं निराकर्त्तुमवतारयति नन्विति। अतिदेशत्वान्नेह पृथक् सङ्गतिः। तामिति। इन्द्रियाणामैकाग्र्यलक्षणां धारणां योगज्ञा योगमिति मन्यन्ते। यथोक्तमैकाग्र्यमेव परं तप इति वक्तु इति भावः। विद्यामिति। एतां ब्रह्मविद्यां योगप्रकारञ्च मे मत्तो यमान्ननचिकेता लब्धो ब्रह्मप्राप्तोऽभूदिति शेषः। त्रिरुन्नतमिति व्याख्यास्यते। तेन योगेनेति। इह तत्शब्देन योगपरामर्शसिद्धौ योगशब्देनैव तत्परामर्शः प्राचां रीतेरनुवादः। एवमन्यत्र च बोध्यम्। अथेत्यस्यार्थः। अथशब्दोऽधिकारार्थो मङ्गलार्थश्च। योगो युक्तिः समाधिरित्यर्थः। अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलैरित्यनुशासनम्। तद्योगानुशासनमाशास्त्रपूर्त्तेरधिकृतं बोध्यमिति। को योग इत्यपेक्षायामाह योगश्चित्तेति। अस्यार्थः। चित्तस्य निर्मलसत्त्वपरिणतिरूपस्य या वृत्तयोऽङ्गानि भावपरिणति-रूपास्तासां निरोधो बहिर्मुखपरिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रति-लोमपरिगत्या स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायत इति। समन्वयेति। एषा स्मृतिः पातञ्जली। धर्मावेदनयेति। कर्मकाण्डार्थोपबृंहणेनेत्यर्थः। एवं प्राप्ते तन्निरासायाह एतेनेति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—'ननु' इत्यादि आक्षेप द्वारा योग-दर्शनके खण्डनके लिए अवतारणा करते हैं। अग्रिम सूत्र सांख्य-दर्शनका अतिदेश (साम्य अथवा एक धर्मका दूसरेमें आरोपण)

वाक्य है, इसलिए इसमें पृथक्‌से सङ्गति विचारणीय नहीं है। *'तां योगमिति मन्यन्ते'*—उस स्थिर इन्द्रिय धारणाको योगविद् योगके रूपमें मानते हैं क्योंकि योग शब्दकी व्युत्पत्तिसे इससे अवगत हुआ जा सकता है, यथा 'योजनात्'—इन्द्रियोंकी 'एक प्रवणता' अथवा 'युक्तता' यही योग नामसे कहा जाता है। कहा भी गया है कि इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तपस्या है। यह कहनेके लिए 'योगमिति' में इति शब्दका प्रयोग है। कठोपनिषदमें वर्णित बहुत-सी श्रुतियोंमें योगके सम्बन्धमें बहुत-से ज्ञापक (योगको सूचित करनेवाले) विषय पाये जाते हैं, यथा *'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्'* (२/३/१८) यह ब्रह्मविद्या एवं समग्र योगके प्रकार मुझसे अर्थात् यमसे नचिकेताने प्राप्त किये हैं अर्थात् ब्रह्म प्राप्त हुआ है—*'ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूत'*—यहाँ 'अभूत' क्रिया पद पूरणीय है। *'त्रिरून्नतं स्थाप्य समं शरीरम्'*—श्रुतिके इस अंशकी बादमें व्याख्या की जायेगी। *'तेने योगेन'*—इति यहाँ 'तेन' पदमें 'तद्' शब्द द्वारा योगका बोध होनेपर पुनश्च 'योगेन' का प्रयोग योग शब्दके द्वारा योगका बोधन कराना प्राचीन रीतिके अनुसार है; यह अनुवाद (उक्तिका पुनरुल्लेख) मात्र है। इस प्रकार अन्य स्थलपर भी जानना चाहिये। (*अथ योगानुशासनम्*) इस सूत्रका अर्थ इस प्रकारसे है—'अथ' शब्दके अधिकार एवं मङ्गल इत्यादि अर्थ होते हैं योगका अनुशासन योग-युक्ति अथवा समाधि अर्थमें होता है। अनुशासनका अर्थ है—व्याख्यान ग्रन्थ, जिसके (योगके) द्वारा अनुष्ठित अर्थात् व्याख्यात है। लक्षण, विभाग, उपाय और फल द्वारा इस योगानुशासन पदका अर्थ है—शास्त्रकी समाप्ति तक इसे योगानुशासन द्वारा अधिकृत जानें। (*अथ अनुशासनम्*)—इस उपक्रम (आरम्भ) सूत्रसे निश्चित होता है कि इस दर्शनमें योगका ही प्राधान्य है। योग किसके बलपर है? इस आङ्क्षासे कहते हैं—*'योगाश्चित्तवृत्तिनिरोध :'*—चित्त शब्दका अर्थ है—रज एवं तम्‌से अस्पृष्ट निर्मल सत्त्वगुणकी परिणति—उसकी (इस चित्तकी) जो वृत्तियाँ अर्थात् अङ्ग (अंश) भाव परिणतिस्वरूप हैं, उनके निरोधके बलपर। योग—बहिर्मुखी परिणतिसे विच्छेद करते हुए अन्तर्मुखी वृत्तिकी ओर विपरीत क्रमसे परिणति द्वारा निज कारणमें जो लय है—वह योग है। *'समन्वयाविरोधेने'*

इत्यादि वाक्यमें 'एषा' का अर्थ है—यह पातञ्जल स्मृति। *'धर्मा वेदनया'* से तात्पर्य है कर्मकाण्ड प्रतिपाद्य विषयके स्फु
'एवं प्राप्ते'—जो पूर्वपक्षीका सिद्धान्त प्राप्त हो रहा है, उसका खण्डन करनेके लिए कह रहे हैं—

२—योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्

सूत्र—एतेन योगः प्रत्युक्तः॥ ३॥

सूत्रार्थ—एतेन—सांख्य-स्मृतिके प्रत्याख्यान (भर्त्सनपूर्वक निराकरण) द्वारा 'योगः'—योग-स्मृतिका भी 'प्रत्युक्तः' निराकरण हो गया है, क्योंकि योगस्मृतिके मतमें भी सांख्य-स्मृतिके समान वेदान्तविरुद्धता है॥ ३॥

सूत्रानुवाद—इस सांख्य-स्मृतिके प्रत्याख्यानसे ही प्रधानादि विषयक योग-स्मृतिका भी प्रत्याख्यान हो जाता है॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—एतेन सांख्यस्मृति-प्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता बोध्या। तस्याश्च तद्वद्वेदान्तविरुद्धत्वात्। तादृश्या योगस्मृत्या तेषु व्याख्यातेषु वेदानुसारि-मन्वादिस्मृतेर्निर्विषयता स्यादतस्तया ते न व्याख्येया इत्यर्थः। न च वेदान्ताविरुद्धा सा वक्तु
सर्वे विभवः। योगादेव दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिः, इत्यादि तद्विरुद्धार्थप्रतिपादनात्। प्रत्यक्षादिप्रमाणं, चित्तवृत्तिरित्यादीनां तदुक्तार्थानां तेष्वनुपलम्भाच्च। तत्र ते ह्यर्थास्तस्यामेवान्वेष्टव्याः। तस्माद्वेदान्त-विरुद्धाया योगस्मृतेर्वैयर्थ्याद्दोषान्न वित्रासः। अन्यच्च प्राग्वत्। यत्तु वेदान्तवेद्यमीश्वरजीवोपायोपेययाथात्म्यं तदुपर्युपरि व्यक्तीभविष्य-द्वीक्ष्यम्। एवं सति त्रिरुन्नतम् (श्वे॰ २/८) इसात्यादावासनादियोगाङ्गविधानं *'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्'* (श्वे॰ ६/६३) इत्यादौ च सांख्यादिशब्दाभ्यां ज्ञानं ध्यानञ्च यत् दृष्टं तत् किल वैदिकादन्यदेव ग्राह्यम्। न हि प्रकृतिपुरुषान्य- ताप्रत्ययेन ज्ञानेन तदुक्तेन योगवर्त्मना वा मोक्षो भवेत्। *'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'* (श्वे॰ ३/८) *'विज्ञाय प्रज्ञां कु* (बृ॰आ॰ ४/४/२९) *'एतद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवति'* (गो॰ता॰ ६) इत्यादि श्रुतिभ्यः। किञ्च योऽंशोऽनयोरविरुद्धस्तत्र नो न विद्वेषः। किन्तु विरुद्धोऽंशः परिहीयते। यद्यप्येष परेशनिष्ठः। *'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'* (पा॰सू॰ १/२३) *'क्लेशकर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'* (पा॰सू॰ १/२४) इत्यादि सूत्रप्रणयनात्। तथापि मोहादेवं जजल्पेति वदन्ति। गौतमादयोऽपि विमोहिता विरुद्धानि मतानि दधुः। तानि च प्रत्याख्यास्यति। विज्ञानां विमोहः

क्वचित् सार्वज्ञाभिमानकु
बोध्यः। ईश्वराद्यभ्युपगमेन शङ्काधिक्यात्तन्निरासार्थोऽधिकरणातिदेशः। हिरण्यगर्भकृतापि योगस्मृतिरनेनैव निराकृता बोध्या॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सांख्य-स्मृतिके प्रत्याख्यान द्वारा योग-स्मृति भी प्रत्याख्यात हो गयी है, यह जानना चाहिये। यह योग-स्मृति भी सांख्य-स्मृतिके समान वेदान्तविरुद्ध है। वेदान्तविरुद्ध योग-स्मृति द्वारा वेदान्तकी व्याख्या होनेपर वेदानुसारिणी मनु इत्यादि स्मृतियाँ व्यर्थ हो जाती हैं, इसलिए इस योग-स्मृतिके अनुसार वेदान्तकी व्याख्या नहीं की जानी चाहिये, यह तात्पर्य है। इसके अतिरिक्त यह योग-स्मृति वेदान्तकी अविरोधिनी भी नहीं है, यह भी नहीं कहा जाता, क्योंकि इसमें भी प्रधानको ही स्वतन्त्र कारण माना गया है, ईश्वर और जीव दोनोंको ही चिन्मात्र कहा है और दोनोंको विभु कहकर निरूपण किया है। सभी विभु हैं। योगसे दुःख-निवृत्तिरूप मुक्ति होती है, इत्यादि योग-शास्त्रकी सभी युक्तियाँ वेदान्तके विरोधी विषयका प्रतिपादन करनेवाली हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम—ये प्रमाण एवं चित्तवृत्ति इत्यादि योग-शास्त्रमें कहे गये पदार्थ वेदान्तमें उपलब्ध नहीं होते। जो सब विषय पातञ्जल-दर्शनमें वर्णित हुए हैं, उन सबका सांख्य-दर्शनमें अनुसन्धान किया जा सकता है, अतएव दोनोंका ऐक्य है। अतः वेदान्तविरुद्ध योग-स्मृतिके भी व्यर्थता (निर्विषयता) रूप दोषसे हमें भय नहीं है। और भी जो कु

सांख्य-दर्शनके समान ही हैं। जो वेदान्त द्वारा ज्ञेय (वेदान्तवेद्य) ईश्वर, जीव, उपाय और उपेयका यथार्थ स्वरूप है, बादमें प्रसङ्गानुसार व्यक्त होगा। इस प्रकारकी अवस्थामें *'त्रिरुन्नतम् स्थाप्य समं शरीरम्'* इत्यादि श्रुतिमें जो आसन, प्राणायाम इत्यादि योगाङ्गका विधान है। सांख्य और योग-शास्त्रसे ज्ञातव्य मुक्तिके उपाय इत्यादि वाक्योंमें जो सांख्य एवं योग शब्दोंके प्रयोगके द्वारा ज्ञान एवं उपायकी बातें वर्णित हैं, उन्हें वेदोक्त ज्ञान और ध्यानसे अन्य (अलग) प्रकारका जानना चाहिये। सांख्यादि शास्त्रोंमें उक्त प्रकृति एवं पुरुषके भेद-ज्ञानरूप ज्ञान द्वारा अथवा पतञ्जलि वर्णित योगमार्ग द्वारा मुक्ति नहीं होती।

श्रुतियाँ तो अन्य ही प्रकारसे मुक्तिका उपाय बता रही हैं यथा *'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति'* (श्वे॰ ३/८) परमेश्वरको जाननेसे ही संसारका अतिक्रमण किया जा सकता है, ब्रह्मज्ञानके बिना अर्थात् ब्रह्मके ज्ञानके बिना मुक्तिका दूसरा पथ नहीं है, उन्हें ही जानकर ध्यान एवं मनन करें। जो परब्रह्मका ध्यान, कीर्त्तन और भजन करता है, वह अमृतत्वकी प्राप्ति करता है। और एक बात है—सांख्य एवं योग-शास्त्रमें जो-जो अंश वेदान्तके विरुद्ध हैं, जैसे प्रकृतिसे क्रमपूर्वक महदादिकी उत्पत्तिका नाम सर्ग है, विपरीत क्रमसे लयका नाम प्रतिसर्ग है, प्राकृत अंशके असम्पर्कका नाम पुरुषकी विशुद्धि है, यम नियमादि योगाङ्गोंका यथाक्रमसे अनुष्ठान ईश्वरकी उपासना रूप फलको उत्पन्न कराता है, इत्यादि उक्तियोंसे हमारा कोई आक्रोश नहीं हैं, किन्तु जो विरुद्ध अंश है वह सर्वथा परित्यज्य है।

यद्यपि पतञ्जलि ईश्वरको मानते हुए-से देखे जाते हैं क्योंकि सूत्रमें ही है यथा—*'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'* ईश्वरमें भक्तिविशेषसे समाधि होती है और समाधिका फल मुक्ति भी सिद्ध होती है। पुनः ईश्वरके लक्षण भी वे बता रहे हैं, यथा—*'क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'* जो अविद्यादि पञ्चक्लेश हैं, विहित और निषिद्ध कर्मसमूह हैं, विपाक अर्थात् कर्मके परिणामवश उत्कृष्ट-नीचादि जाति, आयु, भोग, आशय, कर्मकी वासना (संस्कार) हैं, इन सबके द्वारा जो किसी भी कालमें संस्पृष्ट नहीं है, वह पुरुषविशेष ही ईश्वर पदवाच्य है—इत्यादि सूत्रोंकी रचनाके कारण आपाततः (ऊपर-ऊपर-से) ईश्वरवादी दिखायी देनेपर भी मोहके कारण इस प्रकारकी बातें कही गयी हैं, यह पण्डितोंका कहना है। गौतम (न्याय-दर्शन प्रणयिता) कणाद (वैशेषिक-दर्शन प्रणेता) इत्यादिने भी ईश्वरकी मायासे मोहित होकर वेदान्तविरुद्ध मतवादका प्रचार किया है, सूत्रकारने बादमें उन सबका भी निराकरण किया है। इन सभी विज्ञ दर्शनकारियों (दार्शनिकों) की विभ्रान्ति किसी क्षेत्रमें तो स्वयंके ऊपर सर्वज्ञताभिमानसे वर्द्धित है, जिसका कारण श्रीहरिकी माया है और कभी इसी भगवदिच्छासे अर्थान्तर-विषयक (अन्य किसी विषयके प्रयोजनसे सम्बन्धित) है, यह जानना चाहिये। योग-दर्शनमें

ईश्वरादिको स्वीकार किया है, इसलिए और भी वेदान्त–वाक्योंमें ब्रह्म–समन्वय विषयमें सन्देहाधिक्य हो सकता है, उसीके निराकरणके लिए इस सूत्र द्वारा सांख्य–दर्शनका अतिदेश अर्थात् साम्य दिखाया है। हिरण्यगर्भ रचित योग–स्मृति भी इसीके साथ इस अधिकरणके द्वारा निराकृत हो गयी है, यह लेना चाहिये॥ ३॥

सूक्ष्मा–टीका—एवं प्राप्ते तन्निरासायाह एतेनेति। योगस्मृतिरपीति। यम–नियमाद्यष्टाङ्गयोगप्रमाणभूतापीति भावः। अस्याः सेश्वरत्वेऽपि कु
जालजम्बालविलिप्तत्वेन प्रधानस्वातन्त्र्याद्युक्तेर्वैदिकसिद्धान्तानुगत्या परेशानिरूपणा–च्चोपेक्ष्यासाविति तन्निरासायातिदेशोऽयम्। किञ्च प्रत्यक्षादीति। पतञ्जलिना कपिलमनु–स्मृत्य चित्तस्य पञ्चवृत्तयः कथिताः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय इति। तासु प्रमाणरूपायाश्चित्तवृत्तेर्लक्षणमुक्तम्। प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानीति। न ह्येते चित्तवृत्तित्वेन वेदेषूपलभ्यन्ते। चक्षुरादीन्द्रियपञ्चकं खलु मनोवज्जीवस्य करणं तेषूपलभ्यते। अनुमानमपि ज्ञानमेव तस्य तैरभ्युपगम्यते। आगमश्च शब्द एव नभोगुणः। वेदलक्षणः शब्दस्तु भगवन्निःश्वसितमेव। तस्या वा एतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद इत्यादि श्रुतेः। विपर्ययस्मृती च ज्ञानविशेषावेव न तु चित्तवृत्ती। चित्तं खलु ज्ञानं व्यनक्ति इति श्रौतः पन्थाः। किञ्च ज्ञानमात्रत्वं पुंसोऽभ्युपगतम्। द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य इति तत्सूत्रात्। दृशिमात्रश्चिन्मात्रः द्रष्टा पुरुषः मात्रशब्देन धर्मधर्मिभावनिरासः। स शुद्धोऽपि परिणामाभावेन स्वप्रतिष्ठोऽपि प्रत्ययानुपश्यः विषयोपरक्ते बुद्धितत्त्वे सन्निधिमात्रेण द्रष्टृत्वं भजतीत्यर्थः। तच्चैतदवैदिकं वेदे धर्मित्वेन तस्य निरूपणादिति। अन्यच्च प्राग्वदिति। न चाप्तत्वव्यपाश्रयेत्यादि–पूर्वाधिकरणोक्तमत्रापि बोध्यमित्यर्थः। यत्त्विति। ईश्वरयाथात्म्यं वेदान्तेषु दृष्टम् अविचिन्त्यात्मशक्तिर्नित्यानन्दचिद्विग्रहो मध्यम एव विभ ुर्नित्याधिष्ठानपार्षदभ्राजमानो नित्यासंख्येयकल्याणगुणः स्वानुरूपया श्रिया विशिष्टः स्वायत्तप्रधानक्षेत्रज्ञानुप्रवेशनियमनकृत् स्वसङ्कल्पेनैव स्वविलक्षणजगद्रूपः स्वयमविकारी भजनानन्दहेतुरीश्वर इत्येतत्। जीवयाथात्म्यञ्च ज्ञानरूपो ज्ञानादिगुणकः परमाणुर्जीवोहरिवैमुख्याद्बद्धः तत्सामुख्यात्तु मोक्षञ्चाप्नोतीत्येतत्। उपाययाथात्म्यञ्च तत्त्वज्ञानपूर्वकं हर्युपासनमेव मोचकमित्येतत्। उपेययाथात्म्यञ्च दुःखात्यन्तनिवृत्तिपूर्वकमानन्दब्रह्मसन्दर्शनमित्येतदिति। तदुक्तेन तत्स्मृत्युक्तेन। किञ्चेति। तत्त्वानां क्रमेण सर्गो व्युत्क्रमेण प्रतिसर्गः। प्राकृतांशस्यास्पर्शः पुंसां विशुद्धिः। यमनियमादियोगाङ्गक्रम ईशोपास्तिफलहेतुरित्यादि योऽंशस्तत्र तत्राविरुद्धः सोऽस्माभिः स्वीक्रियते। विरुद्धोऽंशस्त्यज्यते। स च स्फु
यद्यपीति। एष पतञ्जलिः। ईश्वरेति। ईश्वरस्य प्रणिधानात्तस्मिन् भक्तिविशेषात् समाधिस्तत्फलञ्च सिध्यतीति सुगमोपायोऽयमित्यर्थः। ईश्वरः किंस्वरूप इत्याह

क्लेशेति। क्लिश्यन्त्याभिरित्यविद्यादयः क्लेशाः कर्माणि विहितप्रतिषिद्धव्यामिश्राणि विपच्यन्त इति विपाका जात्यायुर्भोगाः कर्मफलानि आफलविपाकात् चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनाख्याः संस्कारास्तैस्त्रिषु कालेषु अपरामृष्टोऽसंसृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इत्यर्थः। अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः। ईश्वर ईशनशीलः। सङ्कल्पमात्रेणैव निखिलोद्धरणक्षम इत्यर्थः। गौतमादयोऽपीत्यादिना कणभुक्प्रभृतेर्ग्रहणम्। विज्ञानामित्यादि। क्वचिन्मायादिशास्त्रे। हरेर्माययेति। ये हि विज्ञम्मन्याः श्रुतौ प्रतीतानर्थानन्यथा कल्पयन्तः स्वकपोलकल्पितान् सिद्धान्तान् प्रकाशयन्ति ते हि किल हरेर्मायया विमूढाः सन्तस्तथा जल्पन्तीति श्रुतिस्तान्निन्दति। काठके पठ्यते—*'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। दंद्रम्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा'* इति। अस्यार्थः। अविद्यायामन्तरे अज्ञानगर्भे वर्त्तमानाः स्थिताः स्वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डितम्मन्यमानाः सर्वशास्त्रनिपुणा वयमित्यभिमानिनः दंद्रम्यमानाः अतिकु *'न*

तं विदाथ य इमा जजान अन्यद्युष्माकमन्तरं वभूव। नीहारेण प्रावृता जल्पाश्चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति' इति। अस्यार्थः। हे जल्पास्तार्किकाः हे उक्थशासः कर्मठाः यूयं तं न विदाथ न जानीथ। तं कम् इत्यपेक्ष्याह—यो हरिरिमाः प्रजाः जजान उत्पादयामास। कु

वभूव। केन तद्वैपरीत्यमभूत्तत्राह नीहारेणेति। तमसाऽज्ञानेनेत्यर्थः। अतो भवन्तोऽपि असुतृपश्चरन्ति प्रवर्त्तन्त इति। क्वचित्त्विति पातञ्जलादिशास्त्रे। तस्येच्छयेति। तेनाशेषाधिकारिणां हरेरिच्छया विमोहः सूचितः। स च क्वचित्तत्त्वसिद्धान्त-परिष्कारकः क्वचित्तल्लीलापोषकश्च बोध्यः। ननु ब्रह्मणा कृतया योगस्मृत्या वेदान्ता व्याख्येयाः सन्तु स खलु सर्ववेदविद्वन्द्य इति चेत्तत्राह हिरण्येति। सोऽपि तदिच्छया विमोहितस्तथा जजल्पेति भावः॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार— *'योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता'* इति—यद्यपि यह स्मृति यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूप अष्टाङ्गसे समन्वित है, तथापि अभिप्राय यह है कि यह योग-स्मृति सेश्वर वाद होनेपर भी कु

है, स्वातन्त्र्य रूपसे प्रधानकी सृष्टि कारणताका समर्थन और वैदिक सिद्धान्तके अनुसार परमेश्वरका निरूपण न होनेके कारण यह उपेक्षणीय है। इस अभिप्रायसे सांख्य-शास्त्रके समान ही इसे प्रत्याख्यान रूपमें अतिदेश किया है। और एक बात है, प्रत्यक्षादि इत्यादि—पतञ्जलिने सांख्य-स्मृतिका अनुसरण करते हुए चित्तकी पाँच वृत्तियाँ कही हैं, यथा—प्रमाण, विपर्यास, विकल्प, निन्दा और स्मृति। उनमें प्रमाणरूपा

चित्तवृत्तिका लक्षण कह रहे हैं—*'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि'*—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये प्रमाण हैं (प्रमाज्ञानके कारण हैं किन्तु वेदमें प्रत्यक्षादिको चित्तवृत्ति रूपसे नहीं जाना जाता है। वहाँ तो देखा जाता है—चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्—ये पाँचों इन्द्रियाँ मनके समान ही जीवके ज्ञानकी कारण (साधन) हैं। अनुमान भी ज्ञान विशेष है, इसे वे प्रमाणके रूपमें स्वीकार करते हैं, और आगम—यह शब्द ही है जो आकाशका गुण है किन्तु वेदात्मक शब्द भगवान्‌के निःश्वास हैं। श्रुति है—*'तस्य वा एतस्य निःश्वसितभेतद्'*—सामवेद—उन परमेश्वरके निःश्वास रूप ये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इत्यादि हैं। विपर्यय (सन्देह, भ्रम) और स्मृति—ये ज्ञानविशेष हैं, चित्तकी वृत्तियाँ नहीं क्योंकि श्रुति-सिद्धान्तमें है कि चित्त (अन्तःकरण) केवल ज्ञानको प्रकाशित करता है। और भी एक बात है—पुरुष (आत्मा) ज्ञानमात्र स्वरूप है, इसे वे स्वीकार करते हैं, यथा उनका सूत्र है—*'दृष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः'*—द्रष्टा अर्थात् पुरुष, दृशिमात्र—केवल चिन्मात्र है, यहाँ मात्र शब्दके द्वारा धर्म-धर्मी भावका निराकरण हुआ है। वह पुरुष शुद्ध, परिणामहीन, निर्विकार है, इसलिए स्वप्रतिष्ठ अर्थात् स्वरूपमें स्थित होनेपर भी *'प्रत्ययानुपश्यः'*—शब्दादि विषयाकारमें परिणत बुद्धितत्त्वमें वह सन्निधिमात्रसे द्रष्टृत्वको प्राप्त होता है। यह वर्णन भी वैदिक नहीं है, क्योंकि वेदने धर्मी रूपमें आत्माका निर्देश किया है, धर्मस्वरूपमें नहीं। *'अन्यश्च प्राग्वत्'* और अन्य जो कु

समान अर्थात् अनाप्तत्व परिहारादि पूर्वाधिकरणमें उक्त है, उसे यहाँ भी जानना चाहिये। *'यत्तुवेदान्तवेद्यमीश्वर-जीवोपायोपेययाथात्म्यम्'*—'याथात्म्यम्' से अर्थ है—ईश्वरका यथायथ स्वरूप—वेदान्तमें देखा जाता है कि वेदान्त प्रतिपाद्य यह याथात्म्य चार प्रकारका है, यथा ईश्वर याथात्म्य, जीव याथात्म्य, उपाय याथात्म्य और उपेय याथात्म्य। इनमें ईश्वर याथात्म्यका वेदान्तमें इस प्रकारसे वर्णन है—जो अचिन्तनीय आत्मशक्तिसम्पन्न नित्यानन्द चित्-विग्रह हैं, वे मध्यम परिमाणविशिष्ट होनेपर भी विभु, नित्याधिष्ठानसम्पन्न पार्षदगणोंके मध्यमें विराजमान, नित्य असंख्य कल्याणगुणधारी, स्वयंकी अनुरूप श्रीसे युक्त, अपने अधीन स्थित प्रकृति, क्षेत्रज्ञमें प्रवेश और नियन्त्रण करनेवाले,

अपने सङ्कल्पमात्रसे ही अपनेसे भिन्न जगदाकारमें परिणत होकर स्वयं निर्विकार रहनेवाले भक्तोंके भजनान्ददाता ईश्वर हैं—यह सब ईश्वरका यथार्थ स्वरूप है। जीव-याथात्म्यका वर्णन इस प्रकार है। यथा—जीव ज्ञान-स्वरूप है अर्थात् ज्ञान इत्यादि विशेष गुणसे सम्पन्न, परमाणु परिमाणवाला तथा श्रीहरिकी विमुखताके कारण बद्ध है। पुनः ईश्वरका सामुख्य होनेपर मुक्ति प्राप्त होती है—यह तत्त्व है; उपाय याथात्म्य—यथा—तत्त्वज्ञानपूर्वक श्रीहरिकी उपासना—जो मुक्तिका उपाय है, यही उपाय याथात्म्य है। उपेय याथात्म्य—दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिपूर्वक आनन्दमय ब्रह्मका साक्षात्कार—यह उपेय-स्वरूप है। *'तदुक्तेन योगवर्त्मना'*—पातञ्जलि-स्मृतिमें वर्णित योगमार्ग द्वारा। *'किञ्च योऽशोऽनयोरित्यादि'*—सर्ग अर्थात् तत्त्वोंकी महदादि क्रमसे उत्पत्ति, प्रतिसर्ग अर्थात् प्रलय यथा—विपरीत क्रमसे (शेषकार्यका पूर्ववर्ती कारणमें क्रमपूर्वक लय) कार्यका कारणमें लय। प्राकृत अंशसे सम्बन्ध न रहना ही पुरुषकी विशुद्धि है। यम-नियमादि योगाङ्गोंका क्रमिक अनुष्ठान, ईश्वरकी उपासनारूप फलके कारण-इत्यादि जो-जो अंश वेदान्तके साथ अविरुद्ध रूपमें जहाँ-जहाँ वर्णित है, उन सबको हम स्वीकार करते हैं किन्तु जो विरुद्ध अंश है उसका हम त्याग करते हैं, यह स्पष्ट ही है। *'यद्यपि एषः'* में 'एषः' से तात्पर्य है ये पतञ्जलि। ईश्वर प्रणिधानाद्वा—इस सूत्रमें तात्पर्य है ईश्वरके प्रणिधान अर्थात् उनकी भक्ति-विशेषसे समाधि होती है और उससे मुक्ति सिद्ध होती है, अतएव यह उपाय अति सुगम है। अब ईश्वरका स्वरूप क्या है? यह *'क्लेशकर्मेति'* सूत्र द्वारा बता रहे हैं। जिससे जीवको कष्ट मिलता है उसको क्लेश कहा जाता है। क्लेश पाँच प्रकारके हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश तथा कर्मेति अर्थात् विहित, निषिद्ध और मिश्रित कर्म। विपाक शब्दका अर्थ है—जो कर्मफल रूपमें परिणत होता है, वह कर्मफल है यथा जाति, आयु और भोग। फलका परिणाम जब तक नहीं होता तब तक वह चित्त-भूमिमें (विलीन) रहता है, इस प्रकारके आशयका नाम वासना अथवा संस्कार है। इस अविद्यादिसे भूत, भविष्यत् वर्त्तमान तीनोंकालोंमें ही असंस्पृष्ट अथवा अनाक्रान्त रहनेवाले पुरुष विशेष ही ईश्वर है। अन्यान्य आत्माओंसे उनकी

विलक्षणता है, इसलिए उन्हें विशेष कहा गया है। ईश्वर शब्दका अर्थ नियन्ता अथवा प्रभु है। वे सङ्कल्पमात्रसे ही सभीका उद्धार करनेमें समर्थ हैं। गौतमादयः—इस आदि पदसे कणादिको भी ग्रहण किया गया है, यह जानना चाहिये *'विज्ञानामित्यादि'* का अर्थ है कहीं मायादि शास्त्रमें, हरेर्माया श्रीहरिकी मायाके द्वारा ही। अभिप्राय यह है जो स्वयंको विज्ञ मानकर श्रुतिमें बोधित अर्थोंकी अन्य किसी और रूपमें कल्पना करके स्वकपोलकल्पित सिद्धान्तको प्रकाशित करते हैं, वे हरिकी मायासे विमोहित होकर ऐसी-ऐसी जल्पनाएँ करते हैं। श्रुतिने ऐसे व्यक्तियोंकी निन्दा की है। काठकोपनिषदमें पढ़ा जाता है—*'अविद्यायामन्तरे यथान्धाः।'* इसका अर्थ है—अज्ञानगर्त (अज्ञानके गड्ढे) में स्थित हैं और इसपर भी अपनेको प्रज्ञावान पण्डित मानते हैं अर्थात् 'हम सारे शास्त्रोंको जानते हैं' इस अभिमानके वशीभूत होकर केवल दम्भ करते हैं, अनेक प्रकारके अति कु
अन्धेके द्वारा चालित अन्धेके समान वे मूर्ख अज्ञानगर्तमें गिर जाते हैं। अन्य अंश स्पष्ट ही है, व्याख्यासे प्रयोजन नहीं है माध्यन्दिन शाखाध्यायीगण पाठ करते हैं, *'न तम विदाय ... उक्थशासश्चरन्ति।'* इसका अर्थ है—जल्पाः—अहे तार्किको हे उक्थशासः—हे कर्मियो! तुमलोग उन परमेश्वरको नहीं जानते हो। वे कौन हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते है—श्रीहरि, जिन्होंने समस्त प्रजाजनोंको उत्पन्न किया है। हम उन्हें क्यों नहीं जान पाते, इसका कारण कह रहे हैं—*'अन्यद् युष्माकमन्तरम्'* तुमलोगोंका चित्त विपरीत हो गया है। किस कारण विपरीत हो गया है? इसका उत्तर है—*'नीहारेण प्रावृता जल्पाश्चासुतृपः'* नीहार अर्थात् अज्ञानके द्वारा आवृत्त हो गया है, अतएव तुमलोग भी असुतृपः—प्राणके तर्पणकारी होकर प्रवृत्त हो। *'क्वचित्तस्यैच्छयैव'* क्वचित् अर्थात् पातञ्जल-दर्शनमें। तस्यैच्छया—उन हरिकी इच्छासे सभी अधिकारियोंकी विमूढ़ता है, यह सूचित होता है। यह विमोहन किसी स्थलपर तत्त्व-सिद्धान्तका परिष्कारक है और कहीं लीलाका पोषक है—यह जानना होगा। प्रश्न है—ब्रह्मा द्वारा प्रणीत योग-स्मृतिके अनुसार वेदान्त-वाक्यकी व्याख्या क्यों न की जाय। क्योंकि वे तो समस्त वेदज्ञोंके पूजनीय हैं, अतएव अति आप्त है, प्रमाण पुरुष

हैं। इसके उत्तरमें कहते हैं—*'हिरण्यगर्भकृतापि'* इत्यादि हिरण्यगर्भ भी श्रीहरिकी इच्छासे विमोहित होकर इसी प्रकार जल्पना करते हैं, यह अभिप्राय है॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि इस प्रकार पूर्वपक्ष करे कि अच्छा, सांख्य-स्मृतिको वेदविरुद्ध कहकर तदनुसार वेदान्तकी व्याख्या न की जाय, किन्तु पतञ्जलिका योग-शास्त्र तो श्रुतिके अनुगत है, क्योंकि कठादि विभिन्न श्रुतियोंमें बहुलक्षण एवं प्रमाणादि द्वारा इसका समर्थन पाया जाता है, यथा—*'तां योगमिति मन्यन्ते'* (कठ॰ २/३/११) (उस इन्द्रिय धारणाको ही योग कहते हैं), *'विद्यामेतां योगविधिञ्च'* (कठ॰ २/३/१८) (विद्या और इस सम्पूर्ण योगविधिको), *'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्'* (श्वे॰ २/८) (सिर, ग्रीवा और वक्षस्थल—इन तीनोंको ऊँचे रखते हुए शरीरको सीधा रखकर); *'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्'* (श्वे॰ १३) (सांख्ययोग द्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देवको जानकर) इत्यादि। अतएव पूर्वोक्त समन्वयका परिहार करके भगवान् पतञ्जलि ऋषि द्वारा रचित योग-स्मृतिके अनुगत रूपमें वेदान्तकी व्याख्या हो, इस प्रकारके पूर्वपक्षीय आक्षेपकी मीमांसा करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं—सांख्य-स्मृतिके प्रत्याख्यानके द्वारा योग-स्मृति भी प्रत्याख्यात हो गयी है, यह जानना होगा। क्योंकि सांख्य-स्मृतिके समान योग-स्मृति भी वेदविरुद्ध है। इस वेदविरुद्ध योग-स्मृतिके द्वारा वेदान्तकी व्याख्या होनेपर वेदानुग मन्वादि स्मृतियाँ सम्पूर्ण रूपेण व्यर्थ हो जाती हैं, इस कारण योग-स्मृति द्वारा वेदान्तकी व्याख्या हो नहीं सकती। योग-स्मृति जो कि सांख्य-स्मृतिके समान ही वेदविरुद्ध है, उसका भाष्यकारने अपने भाष्य और टीकामें विस्तृत रूपसे वर्णन किया है। मूल बात यह है कि सांख्यके समान योग-स्मृतिमें भी प्रधानको स्वतन्त्र कहकर उसके जगत्-कारणतावादका स्थापन किया है। वे और भी कहते हैं—जैसे ईश्वर और जीव सम्बन्धमें दोनों ही चिन्मात्र और विभु हैं, योगसे ही मुक्ति प्राप्त होती है, इत्यादि ऐसे बहुत-से विषयोंका इसमें प्रतिपादन है। वेदान्तमें जिस प्रकारसे ईश्वर, जीव, उपाय और उपेयका यथार्थ स्वरूपसे प्रतिपादन है, योग-स्मृतिमें उस प्रकारका वर्णन नहीं है, साथ ही आसनादि योगाङ्ग-विधान और

मुक्तिके उपाय रूपमें सांख्य एवं योग-शास्त्रमें वर्णित ज्ञान और ध्यान वेदविहित नहीं है, वह वर्णन अन्य प्रकारका है।

श्रुतियाँ हैं *'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'* (श्वे॰ ३/८) उसे ही जानकर पुरुष मृत्युको प्राप्त करता है, *'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कु ब्राह्मणः'* (बृ॰आ॰ ४/४/२१) बुद्धिमान ब्राह्मणको उसे ही जानकर उसीमें प्रज्ञा करनी चाहिये, इत्यादि श्रुतियोंमें वर्णित मोक्षका उपाय पातञ्जल-मतसे पृथक् है, इसलिए दोनों स्मृतियोंमें जो अंश अविरुद्ध है, उसे स्वीकार किया जाता है। किन्तु वेदविरुद्ध अंशका अवश्य ही परिहार करना होगा। इन्हींके समान गौतम कणादिने भी ईश्वरकी मायासे मोहित वेदान्त-विरुद्ध मतवादका प्रचार किया है, जिसका सूत्रकार बादमें खण्डन करेंगे इन्होंने स्वयंको सर्वज्ञ अभिमान करके श्रुतिके अर्थान्तर (दूसरे-दूसरे अर्थों) की कल्पना करके स्वकपोलकल्पित मतवादका ईश्वर-मायासे विमोहित रूपमें ही प्रचार किया है। इस विषयमें कठोपनिषदमें श्रुति है—*'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः'* (मु॰ १/२/८ और कठ॰ १/२/५) अर्थात् वे अविद्याके भीतर रहनेवाले, अपने आप बड़े बुद्धिमान बने हुए और अपनेको पण्डित माननेवाले मूढ़ पुरुष इसी प्रकार *'अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यान्ति बालाः'* (मु॰ १/२/९) बहुधा अविद्यामें ही रहनेवाले वे मूर्ख लोग 'हम कृतार्थ हो गये हैं' इस प्रकार अभिमान किया करते हैं। बादमें 'योग-दर्शनमें ईश्वर स्वीकृत है' कहनेसे ब्रह्म-समन्वय विषयमें अधिक आशङ्का उठ सकती है, यह विचार करके उसके निराकरणके लिए इस सूत्रको सांख्य-दर्शनका अतिदेश अर्थात् साम्य दिखाया है। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ विरचित योग-दर्शनका भी यहाँ निराकरण हो गया है।

आचार्य श्रीशङ्करने कहा है, वेदान्त-वाक्यसे अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता, जैसा कि तैत्तिरीयकमें कहा है, *'न अवेदविद् मनुते तं वृहन्तम्।'* (तै॰ब्रा॰ ३/१२/९/७) अर्थात् मोक्षप्रद—तत्त्वज्ञान केवल वेद-वेदान्तसे होता है, अन्य शास्त्रसे नहीं। आचार्य श्रीरामानुजने भी कहा है—योग-दर्शनमें ईश्वर स्वीकृत होनेपर भी उसमें वेदविरुद्ध अनेक सिद्धान्त हैं, इसलिए उसे सम्पूर्ण रूपसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

कृच्छ्र
षाड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरषन्ति।
तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रि
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/२२/३९-४०)

अर्थात् भक्तगण श्रीभगवान्के पादपद्मके पत्र सदृश अङ्गुलियोंकी कान्तिको भक्तिपूर्वक स्मरण करते हुए जिस प्रकार कर्मवासनामय हृदय-ग्रन्थिका अनायास ही छेदन कर डालते हैं, भक्तिरहित निर्विशेष योगीगण इन्द्रियोंको संयत करके भी उस प्रकारसे छेदन करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। अतएव इन्द्रिय-निग्रहादिकी चेष्टाका परित्याग करके वासुदेवका भजन करना चाहिये।

इन्द्रियादि-घड़ियाल-मगरोंसे भरे हुए इस संसार-समुद्रको जो योगादिके द्वारा पार करनेकी वासना करते हैं, पर इस भवसमुद्र-तारनेमें नौकाकी भाँति भगवदाश्रय नहीं करते, उन्हें अत्यन्त क्लेश भोगना पड़ता है। अतएव हे राजन्! आप भी उन भजनीय भगवान्के पादपद्मोंको नौका बनाकर व्यसनोंसे भरे हुए इस सुदुस्तर भवसमुद्रसे पार हों।

श्रीमद्भागवत (१०/५१/६०) में और भी—

युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः।
अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम्॥

अर्थात् हे राजन्! जिनमें भक्तिका प्रवेश नहीं है, ऐसे योगियों एवं ज्ञानियोंका मन प्राणायामादिका अनुष्ठान करनेसे भी कभी वासनारहित नहीं होता। देखा जाता है कि वे कभी-न-कभी भौतिक विषयोंकी ओर भटकने ही लगते हैं।

अन्तरायान् वदन्त्येताम् युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षेपणहेतवः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१५/३३)

अर्थात् जो साधक उत्तम भक्तियोगके आचरणसे मेरे स्वरूपभूत प्रेम-सम्पत्ति प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, उनके लिए पहले कही गयी सिद्धियाँ वृथा और विघ्न स्वरूप हैं; क्योंकि इनके कारण व्यर्थ ही उनके समयका दुरुपयोग होता है।

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकु

(श्रीमद्भा॰ १/६/३६)

अर्थात् निरन्तर काम-लोभादि रूप शत्रुओंके वशीभूत अशान्त मन भगवान् श्रीमुकु
अनुभव करता है, यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग-मार्गका अवलम्बन करनेसे वह वैसा शान्त नहीं हो पाता।

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्ज्जिता॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/२०)

अर्थात् हे उद्धव! मेरी दिनों-दिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी भक्ति जिस प्रकार मुझे वशीभूत करती है, योग, सांख्य, धर्म, वेद-पाठ, तपस्या अथवा दान-क्रिया आदि मुझे उतना वशीभूत करनेमें समर्थ नहीं हैं।

श्रीमन्महाप्रभुने भी कहा है—

ज्ञान-कर्म-योग-धर्म नहे कृष्ण वश।
कृष्णवश हेतु एक प्रेमभक्ति रस॥

(चै॰च॰आ॰ १७/७५)

अर्थात् ज्ञान, कर्म, योगादि साधनोंसे श्रीकृष्ण वशीभूत नहीं होते हैं, केवलमात्र प्रेमभक्तिरस ही श्रीकृष्णको वशमें कर सकता है।

इसी प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतमें श्रीयमराजके वचन भी आलोच्य हैं—

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम्।
त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः॥

(श्रीमद्भा० ६/३/२५)

अर्थात् (नाम-सङ्कीर्त्तनसे ही यदि मुक्ति सुलभ है, तो विद्वज्जन कर्म-योग आदिका उपदेश क्यों करते हैं, इसके उत्तरमें कहते हैं)—भागवत-धर्मके तत्त्वको जाननेवाले बारह महाजनोंके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य, जैमिनि आदि अन्यान्य धर्म-शास्त्र-प्रणेताओंकी बुद्धि प्रायः दैवीमायासे अतिशय विमोहित हो जाती है, अतः वे नाम-सङ्कीर्त्तनरूपी परम भागवत-धर्मको जान नहीं सकते। उनका चित्त ऋक्, यजुः और साम—इस वेदत्रयीके अर्थवादरूपी मनोहर वाणियोंमें जड़ीभूत रहता है। वे द्रव्य-संग्रह, अनुष्ठान एवं मन्त्र आदि द्वारा विस्तृत, अतिकष्ट साध्य दर्शपौर्णमासी आदि तुच्छ एवं अनित्य फलप्रद कर्मयज्ञोंमें ही लगे रहते हैं। अत्यन्त सरल, सभी वर्ण तथा आश्रमोंके व्यक्तियोंको सुलभ्य, परमार्थ फलप्रदाता जो नाम-सङ्कीर्त्तन है—उसकी महिमाको नहीं जानते।

श्रीचैतन्यभागवतमें—

मुग्ध सब अध्यापक कृष्णेर मायाय।
छाड़िया कृष्णेर भक्ति अन्य पथे याय॥

अर्थात् श्रीकृष्णकी मायासे सब अध्यापक मुग्ध हैं, वे लोग कृष्णभक्तिका त्यागकर अन्य मार्गमें चले जाते हैं।

श्रीभक्तिविनोद ठाकु

मन योगी हते तोमार वासना,
योगशास्त्र अध्ययन, नियम-यम-साधन,
प्राणायाम, आसन-रचना॥ १ ॥

प्रत्याहार, ध्यान, वृत्ति समाधिते हले व्रती,
फल किबा हइबे बल ना।

देह, मन शुष्क करि, रहिबे कु
ब्रह्मात्मता करिबे भावना॥ २॥

अष्टादश सिद्धि पाबे परमार्थ भुले याबे,
ऐश्वर्यादि करिबे कामना।
स्थूल जड़ परिहरि, सूक्ष्मेते प्रवेश करि,
पुनराय भुगिबे यातना॥ ३॥

आत्मा नित्य शुद्धधन, हरिदास अकिञ्चन,
योगे तार कि फल घटना।
कर भक्तियोगाश्रय, ना थाकिबे कोन भय,
सहज अमृत सम्भावना॥ ४॥

विनोदेर ए मिनति, छाड़ि अन्य योगगति,
कर राधाकृष्ण-आराधना॥ ५॥

(कल्याणकल्पतरु गीत ७)

अर्थात् हे मन! यदि तुम्हें योगी बननेकी अभिलाषा है और तुम उन शास्त्रोंका पठन-पाठन करना चाहते हो, जिनमें गहन योगकी विधियाँ हैं तथा यम, नियम, प्राणायाम, आसन, प्रत्याहार, ध्यान, धृति, समाधि जैसी विधियोंका पालन करके अपनी इन्द्रियोंका संयम करना चाहते हो, तो यह बताओ! तुम्हें अपनी इन्द्रियोंको इन्द्रिय-विषयोंसे परे करनेमें, ध्यान करनेमें, आत्मसंयममें तथा स्वयंको समाधिमें निमग्न करनेका प्रण लेनेमें—इन सबसे क्या लाभ प्राप्त होगा? इन व्यायामोंके द्वारा तुम अपने मन तथा देहको शुष्क बना लोगे तथा ब्रह्ममें समाहित हो जानेकी कल्पना करते रहोगे और यदि तुम अठारह प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त करनेमें सफल हो भी गये, तो निश्चित रूपसे आध्यात्मिक जीवनको भूलकर अधिकाधिक भौतिक ऐश्वर्यकी अभिलाषा करोगे। यदि स्थूल पदार्थकी आसक्ति त्यागकर सूक्ष्म धरातलपर परिभ्रमण करते रहे, तो भी तुम्हें पुनः भौतिक दुःखोंको भोगना पड़ेगा। आत्मा शास्वत, विशुद्ध, भगवान् हरिका दास तथा जड़-पदार्थके कल्मषसे विहीन है। योग-प्रक्रिया द्वारा आत्माको क्या लाभ प्राप्त हो सकता है? भक्तियोगका आश्रय ग्रहण करो,

तत्पश्चात् तुम्हें भयका कारण भी नहीं रहेगा। तुम सरलतापूर्वक अमृतत्वकी प्राप्ति करोगे। श्रीलभक्तिविनोदठाकु
निवेदन सुनो। अन्य योगविधियोंका त्यागकर केवल श्रीश्रीराधाकृष्णकी आराधना करो॥ ३॥

अवतरणिका भाष्य—तदेवं सांख्यादिस्मृत्योर्वेदविरुद्धत्वेनानाप्तत्वे निर्णीते वेदेऽपि तद्विरोधिनः केचित्सांख्यादयः संशयीरन्। तत्परिहारायेदमारभ्यते। तत्रैवं संशयः। वेदोऽप्यनाप्तो न वेति। तत्र *'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः'* इत्यादि श्रुत्युक्ते कारीर्यादिकर्मण्यनुष्ठितेऽपि फलानुपलब्धेरनाप्त इति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अतएव इस प्रकारसे सांख्य एवं योग-शास्त्रकी वेदविरुद्धताका अप्रमाणत्व निश्चित हो जानेके बाद वेदविरोधी कोई-कोई सांख्यवादी वेदमें भी संशय कर सकते हैं, उनके ही निराकरणके लिए यह प्रकरण आरम्भ हुआ है। इस विषयमें संशय इस प्रकार है—वेद अनाप्त हैं या आप्त? इसमें पूर्वपक्षी कहते हैं—*'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः'* वृष्टिकी इच्छा करनेवाले व्यक्ति कारीरी यज्ञ करें—इस श्रुतिके अनुसार कारीरी यज्ञका अनुष्ठान होनेपर कदाचित् फल न मिले तो वेदको अप्रामाणिक कहा जायेगा, इसके प्रतिपक्षमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—सांख्ययोगस्मृत्योर्वेदविरुद्धार्थप्रतिपाद-नादनाप्तत्व-मुक्तं प्राक्। तद्वत् उक्तफलानुपलम्भाद्वेदस्यापि तदस्तु इति दृष्टान्तसङ्गत्यारभ्यते तदेवमित्यादि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—सांख्य एवं पातञ्जल-दर्शनमें वेदविरुद्ध अर्थके प्रतिपादनके कारण वे अप्रमाणिक हैं, यह पहले भी कहा गया है, इस प्रकार वेदोक्त क्रियाओं (अनुष्ठानों) का फल प्राप्त न होनेसे वेद भी अप्रामाणिक हो सकते हैं, इस प्रकारकी दृष्टान्त-सङ्गतिके कारण *'तदेवमित्यादि'* ग्रन्थ (वाक्य) से यह अधिकरण आरम्भ हुआ है।

३—न विलक्षणत्वाधिकरणम्

सूत्र—न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात्॥ ४॥

सूत्रार्थ—'अस्य'-वेदका 'न' सांख्य, योगादि श्रुतियोंके समान अप्रमाण्य नहीं है, कैसे? 'विलक्षणात्' वैशिष्ट्य है, दोनोंमें पार्थक्य है यथा सांख्यादि स्मृतियाँ जीव विशेष अर्थात् कपिल पतञ्जलि द्वारा रचित हैं और जीव भ्रमादि चार दोषोंसे आक्रान्त है, किन्तु वेद ऐसे नहीं हैं, वे अपौरुषेय हैं, वेद नित्य हैं—इसका प्रमाण क्या है? उत्तर है—'तथात्वञ्च शब्दात्' तथात्वञ्च—वेदकी नित्यता, शब्दात्—श्रुति, स्मृति शब्दोंसे अवगत होती है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—सांख्यादि स्मृतियोंकी तरह वेद अप्रामाणिक नहीं है, क्योंकि वह सांख्यादि-स्मृतिसे पूर्णतः विलक्षण है॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—नास्य वेदस्य सांख्यादिस्मृतिवेदप्रामाण्यम्। कु जीवक्लृप्तत्वेन भ्रमादिदोषचतुष्टयविशिष्टायाः सांख्यादिस्मृतेः सकाशाद्वेदस्य नित्यतया भ्रमादिकर्त्तृदोषशून्यस्य वैशेष्यात्। तथात्वं नित्यत्वञ्चास्य शब्दादवगम्यते। *'वाचा विरूप नित्यया'* (ऋ० ८/७५/६७) इत्यादि श्रुतेः। *'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भूवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः'* इति स्मृतेश्च। मन्वादिस्मृतीनान्तु वेदमूलकत्वादेव प्रामाण्यम्। पूर्वं युक्त्या नित्यत्वमुक्तमिह तु श्रुत्येति विशेषः। ननु *'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत'* (पु०सू०) इति पुरुषसूक्ते जन्मश्रवणाज्जातस्य च विनाशावश्यम्भावादनित्यत्वम्। मैवम्। जनिशब्देन तत्राविर्भावोक्तेः। अत उक्तम्—*'स्वयम्भूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा। शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्त्तारोऽस्य न कारकाः'* इति। न च फलादर्शनादप्रामाण्यम्। अधिकारिणां सर्वत्र फलदर्शनात्। यत्तु क्वचित्तददर्शनं तत् किल कर्त्तुरयोग्यतयोपपद्येत। सांख्यादिस्मृतीनां तु वेदविरोधादेवाप्रामाण्यम्॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सांख्य-पातञ्जल इत्यादि स्मृतियोंके समान वेदोंकी अप्रामाणिकता नहीं है, किस कारणसे? विलक्षणत्वात्—विलक्षणताके कारण। कैसी विलक्षणता? कहते हैं—*'जीवक्लृप्तत्वेन इति'* कपिलादि जीवविशेष द्वारा रचित होनेके कारण सांख्यादि स्मृतियाँ भ्रम इत्यादि चार दोषोंसे युक्त हैं, इनसे वेदका वैशिष्ट्य है। वेद नित्य है, इसलिए वे भ्रम इत्यादि दोषोंसे रहित हैं। वेदका नित्यत्व शब्दसे जाना जा सकता है। यथा श्रुति है—*'वाचा विरूप नित्यया'* (ऋ० ८/७५/६७) हे विरूप! विविध रूपसम्पन्न अर्थात् विश्वरूप! परमेश्वर! आप वेदरूप वाक्य द्वारा अपनी स्तुति कराते

हैं। स्मृतिवाक्य भी है, यथा—*‘अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा … प्रवृत्तयः’*—स्वयम्भू ब्रह्माने जिन वाक्योंको प्रकाशित किया है, उनकी उत्पत्ति अथवा विनाश नहीं है। सृष्टिके प्रारम्भसे ही वेद नामकी नित्य वाणीसे समस्त शास्त्रोंकी प्रवृत्ति है। मनु इत्यादि स्मृति-वाक्योंकी प्रामाणिकता वेदमूलकत्वके कारण है। यद्यपि पहले भी *‘अतएव च नित्यत्वम्’*—इत्यादि सूत्रमें वेदके नित्यत्वका वर्णन हुआ है, तथापि वहाँ युक्ति द्वारा प्रतिपादित था और यहाँ श्रुति द्वारा प्रतिपादन हो रहा है, यही वैशिष्ट्य है। अतः इस स्थलपर पुनरुक्ति नहीं कही जायेगी। आक्षेप है कि पुरुषसूक्त मन्त्रसे वेदकी उत्पत्ति सुनी जाती है, यथा—*‘तस्माद् यज्ञात् … तस्मादजायत’* (पु॰सू॰ १०) उन यज्ञ पुरुषसे समस्त आहुतियोंको साधित करनेवाले ऋक्-मन्त्र और गेय (गाने योग्य) साम-मन्त्र उत्पन्न हुए हैं, गायत्री इत्यादि छन्द भी उनसे निकले हैं, यजुर्वेद भी उनसे उत्पन्न हुआ है—इस प्रकार वेदका जन्म सुना जाता है और जो जन्मता है, उसका नाश भी अवश्यम्भावी है, तो इस आपत्तिके उत्तरमें कहते हैं, नहीं, ऐसा नहीं है। यहाँ ‘जन’ धातुका अर्थ उत्पत्ति नहीं है, बल्कि ‘आविर्भाव’ है। इस अभिप्रायसे स्मृतिमें कहा गया है—*‘स्वयम्भूरेष भगवान्…न कारकः’* अर्थात् ये वेद स्वयंप्रकाश अर्थात् नित्य हैं, ये भगवान् हैं, सम्पूर्ण रूपसे शक्तिशाली हैं, इसका पहले भी वर्णन किया है। शिवसे ऋषि पर्यन्त सभी इसके स्मरणकर्त्ता हैं, इसका उत्पत्तिकर्त्ता कोई नहीं है। यदि कहो इन सभी श्रुतियोंमें किसी भी फलकी कथा सुनी नहीं जाती, अतएव इन्हें अप्रामाणिक मानना चाहिये तो यह भी मत कहो, अधिकारी बोधक श्रुति-वाक्योंमें सर्वत्र ही फल-प्राप्तिसे अवगत हुआ जा सकता है। यद्यपि किसी-किसी स्थलपर जैसे कि कारीरी इत्यादि यज्ञोंके अनुष्ठित होनेपर भी फल देखा नहीं जाता, इसलिए अप्रामाणिकता ही है तो ऐसा भी नहीं है, उसमें कर्त्ताकी अनुपयुक्तताके कारण सङ्गति की जा सकती है, किन्तु सांख्यादि स्मृतियोंकी तो वेदविरुद्धताके कारण अप्रामाणिक ही है॥४॥

सूक्ष्मा-टीका—नेति। भ्रमादीति। भ्रमः प्रमादो विप्रलिप्सा करणापाटवञ्चेति चत्वारो दोषा जीवेषु सन्ति। तेषु विप्रलिप्सा स्वप्रतीतविपरीतप्रत्यायनम्।

वाचेति। *'हे विरूप, हे विश्वरूप, हे परेश, नित्यया वेदलक्षणया वाचा स्तुतिं प्रेरय'* इति मन्त्रपदार्थः। मन्वादीति। पूर्वमिति। अतएव च नित्यत्वमित्यस्मिन् सूत्रे इति बोध्यम्। नन्विति। तस्मादयज्ञरूपात् पुरुषात्। छन्दांसि गायत्र्यादीनि। अनित्यत्वमिति। वेदस्येति ज्ञेयम्। स्वयम्भूरिति। एष भगवान् वेदः स्वयम्भूर्नित्य इत्यर्थः। यत्त्विति। कृतायामपि कारीर्यां क्वचिद्वृष्टिर्न भवतीति यद्दृष्टं तत् खलु कर्त्तुर्यजमानस्य वैगुण्यादेवेत्यर्थः॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार—इस नेति सूत्रानुसार—*'भ्रमादिदोषचतुष्टय शून्येति'*—भाष्य है जिसमें कहा है भ्रम, प्रमाद, प्रतारणेच्छा और इन्द्रियोंकी अपटुता—ये चार दोष जीवोंमें रहते हैं। इन दोषोंमें विप्रलिप्साका अर्थ है, जो स्वयं जानते हुए भी दूसरोंको उल्टा अर्थ दिखाता है *'वाच्य विरूप नित्यया'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है, हे विरूप! हे विश्वरूप! हे परेश! हे परमेश्वर! अपने नित्य (वेद) वाक्यों द्वारा आप हमसे अपनी स्तुति करा लेते हैं। यही मन्त्रोक्त पदोंका अर्थ है। *'मन्वादि स्मृतिनान्तु वेदमूलकत्वादेव प्रामाण्यम्।'* पूर्व युक्त्या पूर्वम्—त्यां में पूर्वम्से तात्पर्य है पहले भी *'अतएव च नित्यत्वम्'* इत्यादि सूत्रमें भी इसी अर्थको जानना होगा। *'ननुतस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः'* इत्यादि—इसका अर्थ है—तस्मात् यज्ञात्—'उन यज्ञपुरुष परमेश्वरसे।' छन्दांसि-गायत्री इत्यादि सातों छन्द। *'विनाशावश्यम्भवादनित्यत्वम्'*—वेदका अनित्यत्व है, यह जानना चाहिये। *'स्वयम्भूरेष भगवान्'* इत्यादि भगवान् वेद स्वयम्भू हैं, स्वयं उत्पन्न हैं अर्थात् नित्य हैं *'यत्तु क्वचित्तददर्शनम्'*—कारीरी यज्ञ अनुष्ठित होनेपर भी किसी-किसी स्थानपर वृष्टिका फल देखा नहीं जाता—यह जो बोध हो रहा है—वह यजमानकी त्रुटिवश है, यह अभिप्राय है॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सांख्य-स्मृति और पतञ्जलि-स्मृतिको वेदविरुद्ध कहकर निराकरण हो गया है। अब वेदविरुद्ध कोई-कोई सांख्यवादी इसी प्रकार वेदका भी अनाप्तत्व निर्दिष्ट करनेके लिए यदि संशय उत्पन्न करते हैं कि 'वृष्टिकी इच्छा रखनेवाले कारीरी यज्ञ करें' तो इस वेद विधानके अनुसार इस यज्ञको करके भी जब कोई उस फलको प्राप्त नहीं करता, तब वेदको किस प्रकारसे आप्त कहा जाय? इस प्रकार पूर्वपक्षके समाधानके लिए सूत्रकार कहते हैं कि

नहीं, सांख्यादि स्मृतिके समान वेदकी अप्रामाणिकता नहीं कही जा सकती, क्योंकि सांख्यादि स्मृतियाँ भ्रम, प्रमाद, करणापाटव, विप्रलिप्सा इत्यादि चार दोषोंसे युक्त कपिलादि जीवविशेषके द्वारा रचित हैं। जब कि वेद अपौरुषेय हैं, अतः वे नित्य एवं दोष-निर्मुक्त हैं। मन्वादि स्मृतियाँ भी वेदमूलक होनेसे प्रामाणिक हैं। युक्ति एवं श्रुति प्रमाणोंसे वेदका नित्यत्व स्थिर हुआ है। कोई यदि इस प्रकार पूर्वपक्ष करता है कि वेद जब यज्ञपुरुषसे उत्पन्न हुआ है—यह जाना जा सकता है, तब उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है, इस प्रकार उसे अनित्य ही कहा जाय, तो इसके उत्तरमें भाष्यकार कहते हैं कि देखो, इस स्थलपर जन्म शब्दका अर्थ 'आविर्भाव' है। शिवादि ऋषि पर्यन्त सभी वेदके स्मरणकर्त्ता हैं। वेद स्वयम्भू है। इसका कोई कारक अर्थात् कर्त्ता नहीं है। यदि कहो किसी-किसी श्रुतिमें फलका उल्लेख न होनेसे उसकी अप्रामाणिकता ही सिद्ध होती है तो यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि भाष्यकारका कहना है कि अधिकारी बोधक (अधिकारी भेदसे) श्रुतियाँ सर्वत्र ही मन्त्र-साधकको अपना दर्शन कराती हैं और यदि कहो अनुष्ठान करके भी जब फल नहीं देखा जाता, तब वहाँ विचार करना होगा कि अनुष्ठानकर्त्ताके वैगुण्यदोषके कारण ही ऐसा होता है। अतएव वेद अपौरुषेय, नित्य, स्वयम्भू और परम प्रमाण हैं। वेदानुसारी स्मृतियाँ भी प्रमाण हैं, किन्तु सांख्यादि स्मृतियाँ वेदविरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक हैं।

वेदके अपौरुषेयत्वके सम्बन्धमें श्रुति कहती है—*'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतम् यदृग्वेद इति।'* अर्थात् ये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन महापुरुषके निःश्वास-स्वरूप हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः सक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१/४०)

अर्थात् यमदूतोंने कहा—वेदोंमें जिसे कर्त्तव्यके रूपमें बतलाया गया है, वही धर्म है और इसके विपरीत जो निषिद्ध है, उसे करना

अधर्म है। हमने सुना है कि वेद ही साक्षात्–प्रमाण हैं, क्योंकि वे भगवान् नारायणके स्वाभाविक निःश्वासरूप हैं।

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२१/३६)

अर्थात् उद्धव! शब्दब्रह्म या वेद स्वरूपतः और अर्थतः दुर्ज्ञेय हैं, प्राणमय, मनोमय और इन्द्रियोंके स्वरूप, अनन्त, अपार गम्भीर तथा समुद्रके समान दुर्विगाह्य हैं अर्थात् अथाह हैं (इसीसे जैमिनि इत्यादि बड़े–बड़े विद्वान भी उसके यथार्थ तात्पर्यको ठीक–ठीक निर्णय नहीं कर पाते)।

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्णने कहा–

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्त कृद्वेदविदेव चाहम्।
(श्रीगीता १५/१५)

अर्थात् सभी वेदोमें मैं ही एकमात्र जाननेयोग्य हूँ। मैं ही वेदान्तकर्त्ता और वेदज्ञ हूँ।

श्रीमन्महाप्रभुके वचन हैं—

स्वतः प्रमाण वेद—प्रमाण शिरोमणि।
लक्षणा करिले स्वतः प्रमाणता हय हानि॥
(चै॰च॰आ॰ ७/१३२)

वेद स्वतः ही अपना प्रमाण है। वेदोंका प्रमाण समस्त प्रमाणोंसे सर्वश्रेष्ठ होता है। लक्षणावृत्तिके द्वारा वेदकी स्वतः प्रमाणताकी हानि होती है।

और भी—

प्रभु कहे, वेदान्त सूत्र—ईश्वर वचन।
व्यास रूपे कैल ताहा श्रीनारायण॥

भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव।
ईश्वरेर वाक्ये नाहि दोष एइ सब॥
(चै॰च॰आ॰ ७/१०६–१०)

श्रीमन्महाप्रभुने कहा—वेदान्तसूत्र ईश्वरके वाक्य हैं, जो श्रीनारायणने श्रीव्यासदेवके प्रति कहे हैं। भ्रम (भ्रान्ति), प्रमाद (अनवधानता), विप्रलिप्सा (वञ्चना करनेकी इच्छा) तथा करणापाटव (इन्द्रियोंकी असमर्थता)—ये दोष ईश्वरके वाक्योंमें नहीं होता॥ ४॥

अवतरणिका भाष्य—स्यादेतत् *'तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां, ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम'* इति छान्दोग्ये (६/२/३/४)। *'ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः को नो विशिष्ट'* इति बृहदारण्यके (६/१/७) च बाधितार्थकं वाक्यं वीक्ष्यते तादृशञ्चैव *'बन्ध्यासुतो भाति'* इतिवत् अप्रमाणमेव। एवमेकदेशाप्रामाण्येनान्य-स्याप्यप्रामाण्याज्जगत्कारणत्वं ब्रह्मणः श्रूयमाणं नेति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—शङ्का है कि—छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषदोंमें जो श्रुतियाँ देखी जाती हैं, उनमें जलादिके कर्त्तृत्व (कर्त्तापन) का बोध होनेसे परमेश्वरका कर्त्तृत्व बाधित होता है, यथा *'तत्तेज ऐक्षत ... बहु स्यामः'* इति (छा॰ ६/२/३/४) उस तेजने ईक्षण किया (देखा), मैं बहुत हो जाऊँ, यह छान्दोग्यश्रुति है—इस प्रकार बाधित अर्थ देखे जाते हैं जल एवं तेज आदिमें जड़त्व है, इसलिए उनका ईक्षणत्व और कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है, पुनः *'ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः को न विशिष्टः इति'* (छा॰ ६/१/७)—प्राणवायुसमूह भी 'मैं ही श्रेय (सबके कल्याण) का कारण हूँ' यह विवाद करते हुए ब्रह्माजीके निकट गये और उनसे जिज्ञासा करने लगे 'हममें कौन श्रेष्ठ है' इसी प्रकारके कर्त्तृत्व बोधक वाक्य बृहदारण्यकमें भी दिखायी देते हैं, जिनसे परमेश्वरके कर्त्तृत्वमें बाधा उपस्थित होती है परन्तु प्राण इत्यादि जड़ है, इनमें कर्त्तृत्वकी सम्भावना नहीं है। वस्तुतः तेज इत्यादिका कर्त्तृत्व बोधक वाक्य बन्ध्यापुत्र सुशोभित हो रहा है—वाक्यके समान अप्रामाणिक है। अतएव जब वेदका कोई भी एक अंश अप्रामाणिक है, तो वेदके अन्यांश भी अप्रमाणिक हो सकते हैं। वेदके अप्रामाणिक होनेसे वेदोक्त ब्रह्मका जगत् कर्त्तृत्व श्रुत होनेपर भी प्रमाणित नहीं होगा—पूर्वपक्षी यदि यह कहते हैं, तो इसका उत्तर है—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्यादिति। तेजोऽपामीक्षितृत्वं सङ्कल्पश्चेत्ये-तदर्थकं वाक्यं वागादेर्विवादित्वबोधकञ्च यद्वाक्यं तद्बाधितार्थकं जडेषु तेषु तदसम्भवात् इत्याशयः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अग्नि एवं जल इत्यादिका ईक्षण-कर्त्तृत्व और जगत्-सृष्टिका सङ्कल्प—इन अर्थोंका बोध करानेवाले जो छान्दोग्य श्रुति-वाक्य हैं और जो वाक् इत्यादिके विवाद कर्त्तृत्वका बोध करानेवाले बृहदारण्योक्त वाक्य हैं—ये सभी अर्थोंकी असङ्गतिको प्रकाशित कर रहे हैं क्योंकि जड़ अग्नि इत्यादि और वाक् इत्यादि द्वारा ईक्षण और विवादादि करना असम्भव है, यही तात्पर्य है।

४—अभिमानि-व्यपदेशाधिकरणम्

सूत्र—अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्॥ ५॥

सूत्रार्थ—'तु'—नहीं, वेद अप्रामाणिक हैं, यह शङ्का हो नहीं सकती, तो फिर तेज इत्यादिके ईक्षण और सङ्कल्पबोधक वाक्योंका उपाय क्या? इसका उत्तर है—'अभिमानिव्यपदेशः'—तेज इत्यादि जड़-पदार्थोंके उद्देश्यसे इन ईक्षणादिका उल्लेख नहीं है, बल्कि इन तेज इत्यादिके ऊपर आत्माभिमानी चेतन देवताओंके उद्देश्यसे वर्णन हुआ है। यह कैसे पता चला? उत्तर है—'विशेष' अर्थात् तेज, प्राण इत्यादिके विशेषण रूपमें देवता शब्दका प्रयोग है और 'अनुगतिभ्याम्' अर्थात् अग्नि इत्यादिका वाक् इत्यादि रूपमें मुखादिके मध्यमें प्रवेश क्रिया द्वारा उन-उन देवताओंके ईक्षण, सङ्कल्प और विवादादिका उल्लेख है॥ ५॥

सूत्रानुवाद—कथित श्रुतियाँ तेजादि और वागादि इन्द्रियोंमें साक्षात् चेतनत्वका अभिधान नहीं करतीं, अपितु उनके अधिष्ठाता देवताओंमें चैतन्यत्वको ध्वनित करती हैं। यह बात 'विशेष' शब्दोंके प्रयोगसे तथा उन पदार्थोंमें देवताओंके प्रवेशके वर्णनसे सिद्ध होती है॥ ५॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्काच्छेदाय। तत्तेजः (छा॰ ६/२/३) इत्यादिव्यपदेशः तेज-आद्यभिमानिनीनां चेतनानां देवतानामेव न त्वचेतनानां तदादीनाम्। कु

विशेषेति। *'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता'* (छा॰ ६/३/२) इति—तेजोऽवन्नानां सर्वा ह वै देवता अहं श्रेयसे विवदमानास्ते देवाः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वेति (कौ॰ब्रा॰ २/१४) प्राणानाञ्च तत्र तत्र देवताशब्देन विशेषणात्। *'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्'* (ऐ॰ १/२/४) इत्याद्यैतरेयके वागाद्यभिमानि-तयाग्न्यादीनामनुप्रवेशश्रवणाच्च। स्मृतिश्च—*'पृथिव्याद्यभिमानिन्यो देवताः प्रथितौजसः। अचिन्त्याः शक्तयस्तासां दृश्यन्ते मुनिभिश्च ता'* इति। एवं *'ग्रावाणः प्लवन्त'* इत्यत्रापि कर्मविशेषाङ्गभूतानां ग्राब्णां वीर्यवर्द्धनार्था स्तुतिरियम्। सा च श्रीरामकृतसेतु-बन्धादौ यथावदेवेति न क्वाप्यनाप्तत्वं वेदस्य तेन तदुक्तं ब्रह्मणो विश्वैककारणत्वं सुस्थिरम्॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वोक्त 'तु' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निरासके लिए है। *'तत्तेज ऐक्षत'* (उस तेजने देखा) इत्यादि श्रुतियोंमें जो कहा गया है, वह तेज इत्यादिके अभिमानी चेतन देवताओंके सम्बन्धसे कहा गया है, इनसे भिन्न अचेतन (जड़) तेज इत्यादिके सम्बन्धमें नहीं। किस कारणसे? वही कह रहे हैं—*'विशेषानुगतिभ्याम्।' 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता'* इति—हे महाशय! मैं (प्राण) और तेज इत्यादि देवताओंमें कौन श्रेष्ठ है? इस श्रुतिमें तेज इत्यादिको देवता कहकर विशेषित किया गया है। पुनः *'तेजोऽवन्नानां सर्वा ह वै देवता ... विदित्वा'* इति (कौ॰ब्रा. २/१४) अग्नि, जल, पृथ्वी इत्यादि सभीके अभिमानी देवता 'मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकारसे श्रेयत्वसे सम्बन्धित विवाद करते रहे (देवताओंके विवादकी बात है, जड़ इन्द्रियोंकी नहीं)। अन्तमें, उन देवताओंने प्राणोपासनामें ही निःश्रेयस अर्थात् निश्चित श्रेय अर्थात् मुक्ति है, यह जाना—कौषातकियोंने इस उक्तिके द्वारा प्राण इत्यादिको छान्दोग्योपनिषदमें और बृहदारण्यकोपनिषदमें देवता शब्दसे विशेषित किया है। और भी, देखा जाता है, *'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्'* (ऐ॰ १/२/४) अग्निने वाक् रूप धारणकरके मुखमें प्रवेश किया, आदित्य (सूर्य) ने चक्षु होकर दोनों नेत्रोंमें प्रवेश किया इत्यादि ऐतरेय उपनिषदमें वाक् इत्यादिके अभिमानी रूपसे अग्नि इत्यादि देवताओंका मुखादिमें प्रवेश पढ़ा जाता है। स्मृतिवाक्य भी है—*'पृथिव्याद्यभिमानिन्यो ... मुनिभिश्च ताः'* (भविष्ये) इति—पृथिवी इत्यादिके अधिष्ठातृदेवता बड़े शक्तिसम्पन्न हैं—यह विख्यात है, मुनिगण उनकी इस सब अचिन्त्यशक्तिको देखते

हैं। इसी प्रकार *'ग्रावाणः प्लवन्तः'*—'पत्थर तैरते हैं'—इस कथनमें भी याग (यज्ञ) विशेषके अङ्ग 'शिलासमूह' की स्तुति की गयी है। यह स्तुति उनकी (शिलाओंकी) शक्ति-वृद्धिके लिए है। शिलाओंकी इस वीर्यवत्ताकी प्रशंसा श्रीरामायणमें श्रीरामकृत सेतुबन्धन इत्यादिमें यथायथ भावसे लक्षित हुई है। अतएव सिद्ध है कि वेदका कहीं भी अप्रामाण्य नहीं है। इस कारणसे श्रुतिमें उक्त एकमात्र परमेश्वरका ही विश्वकर्त्तृत्व अव्याहत (अबाधित) रूपसे जानना चाहिये॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—अभिमानीति। अहं श्रेयसे स्वस्वश्रैष्ठ्याय। ब्रह्मेति प्रजापतिः। तदादीनां तेज-आदीनाम्। तत्र तत्रेति छान्दोग्ये बृहदारण्यके चेति क्रमाद्बोधाम्। एतदर्थमेव द्वयोः प्रागुल्लेखः। पृथिव्यादीति भविष्यपुराणे। ग्रावाणः शिलाः॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—*'अभिमानी व्यपदेशः'* इत्यादि सूत्रमें 'अहं श्रेयसे' अर्थात् अपने-अपने श्रेष्ठत्वके लिए। ब्रह्म अर्थात् प्रजापति। तदादीनाम्—तेज इत्यादिका, तत्र-तत्र—प्रथम 'तत्र' पदका अर्थ है छान्दोग्यश्रुति और द्वितीय 'तत्र' पदका अर्थ है बृहदारण्यकमें। यह यथाक्रमसे जानना चाहिये। इस निमित्तसे ही दोनोंका पहले भी उल्लेख हुआ है। *'पृथिव्याद्यभिमानिन्यो'* इत्यादि श्लोक भविष्यपुराणमें है। 'ग्रावाणः' का अर्थ है—प्रस्तर शिलाएँ॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब और एक वेदविरोधी पूर्वपक्ष उठा रहे हैं कि पूर्वोक्त युक्ति और श्रुतिका प्रमाण न होनेसे वेदका प्रामाण्य स्वीकार किया गया। किन्तु छान्दोग्योपनिषदमें *'तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति* (छा॰ ६/२/३) 'उस तेजने देखा—मैं बहुत होऊँगा'—यह सङ्कल्प किया और बृहदारण्यकके *'ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना'* (६/१/७) इत्यादि ईश्वरके जगत्-कर्त्तृत्वको बाधित करनेवाले अर्थ-वाक्योंके द्वारा तेज, प्राण इत्यादि जड़-पदार्थोंसे सृष्टि होना बन्ध्या-पुत्रकी भाँति सर्वतोभावसे अप्रमाणित माना गया। अतः वेदके एकदेशके प्रामाण्य और अन्य अंशोंके अप्रामाण्यवश श्रूयमाण ब्रह्मका जगत्-कारणत्व प्रमाण नहीं हो सकता—इस प्रकार पूर्वपक्षका समाधान करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि नहीं, इससे अप्रामाणिकता नहीं होती, क्योंकि तेज, प्राण इत्यादिमें चेतन

देवताओंके अभिमानका व्यपदेश (वर्णन) है। यह वर्णन अचेतन जड़के उद्देश्यसे नहीं है। इसका कारण यह है कि विशेषण और अनुगतिका उल्लेख देखा जाता है। सूत्रस्थ विशेष्य शब्द विशेषण अर्थमें प्रयुक्त है, देवता शब्दसे विशेष्य—पृथ्वी, तेज जल इत्यादि विशेषित किये गये हैं। अनुगति शब्दका अर्थ है—'मध्यमें प्रवेश करना।' वागदि इन्द्रियोंके अभिमानी अग्नि आदि देवताओंके अनुप्रवेशका वेद-पुराणादिमें उल्लेख है।

इस प्रसङ्गमें भाष्यकारने *'तेजोऽभिमानी देवता'* का अग्नि आदिके मुखमें प्रवेशका और श्रीरामलीलामें सेतु-बन्धनादिमें पाषाणके भासमान अर्थात् तैरनेका वर्णन श्रुति, स्मृति एवं पुराणके द्वारा प्रमाणित किया है, इसे भाष्यमें देखना चाहिये।

अतः वेदका अप्रामाण्य कहीं भी नहीं देखा जाता और ब्रह्म ही इस विश्वके एकमात्र कारण हैं—यह भी सुष्ठु रूपसे स्थिर हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत्॥
ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम्।
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/५०-५१)

अर्थात् महत्-तत्त्व, अहङ्कार एवं पञ्चभूत—ये सात तत्त्व जब परस्पर मिलित न हो सके, तब जगत्के आदिकारण ईश्वर काल, कर्म एवं गुणोंसे युक्त होकर उनके भीतर प्रविष्ट हो गये। तदनन्तर भगवान्के प्रवेशके कारण ये समस्त पदार्थ क्षुब्ध होकर आपसमें मिल गये। तब उनमेंसे एक अचेतन अण्ड उत्पन्न हुआ। उस अण्डसे ही विराट् पुरुष प्रादुर्भूत हुए।

हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात्।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम्॥

निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत्।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोऽतो घ्राण एतयोः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२६/५३-५४)

उस कारणमय जलमें स्थित उस हिरण्यमय पुरुषने तेजोमय अण्डसे उठकर पुनः अण्डमें ही प्रवेश किया और फिर उसमें कई प्रकारके छिद्र किये। सबसे पहले उसमें मुख उत्पन्न हुआ। उसके बाद वाक्-इन्द्रिय उत्पन्न हुई। तदनन्दर वाक्के साथ उसका अधिष्ठाता अग्नि और उसके बाद नाकके दो छिद्र और उन छिद्रोंसे प्राणवायुसे युक्त घ्राणेन्द्रियकी उत्पत्ति हुई।

और भी,

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्॥
(श्रीमद्भा॰ १/२/३२)

अर्थात् वे विश्वात्मा लीलामय श्रीहरि विविध व्यूहोंका विस्तार करके प्राण, सूक्ष्मविषय, इन्द्रिय और मनरूप त्रिगुणमय भावोंके द्वारा अपने द्वारा बनाये हुए देव-नर-तिर्यक् आदि प्राणियोंमें अन्तः-प्रविष्ट होकर उन-उन अनुरूप विषयोंका उपभोग करते-कराते हैं।

श्रीमद्भागवत (३/५/३८) में महदादि अभिमानी देवताओंकी स्तुतिमें भी देखा जाता है—

एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः।
नानात्वात् स्वक्रियानीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम्॥

अर्थात् ये महदादि अभिमानी सभी विष्णुके अंश हैं। विकृति विक्षेप और चेतनता इत्यादि सभी गुण उनमें विराजित हैं। पारस्परिक सम्बन्धके अभावके कारण ये ब्रह्माण्डकी रचना करनेमें असमर्थ हैं। इस कारण हाथ जोड़कर परमेश्वरकी स्तुति करते हुए कहते हैं।

इसी प्रसङ्गमें गीताका *'अग्निज्योतिरहः'* (८/२४) श्लोक भी आलोच्य है। इस श्लोककी टीकामें श्रीलचक्रवर्त्तीपाद कहते हैं—*'अग्निज्योतिःशब्दाभ्यां तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति'* इति (छा॰ ५/१०) श्रुत्युक्त्वा अर्चिरभिमानिनी देवतोपलक्ष्यते।

अर्थात् छान्दोग्योपनिषदमें कथित है—वे अर्चिके (किरणके) अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। अतः 'अग्नि' तथा 'ज्योतिः' शब्दोंसे अर्चिके अभिमानी देवताका बोध होता है॥५॥

अवतरणिका भाष्य—पुनरपि ब्रह्मोपादानताक्षेपाय तर्कमाश्रयन् सांख्यः प्रवर्त्तते। यद्यप्ययमात्मयाथात्म्यनिर्णये त्यक्तस्तर्कः श्रुतिविरोधात् *'न कु*
(सां॰सू॰ ६/३४) इत्युक्तेः। तथापि परं प्रति दौष्यप्रकाशनमेतत्। तत्रैवं संशयः। जगद्ब्रह्मोपादानकं स्यान्न वेति। किं प्राप्तं ब्रह्मोपादानकं नेति वैरूप्यात्। सर्वज्ञसर्वेश्वरविशुद्धसुखरूपतया ब्रह्माभिमतम्। अज्ञानीश्वरमलिनदुःखितया प्रत्यक्षादि-भिरवगतं जगत्। अतस्तयोर्वैरूप्यं निर्विवादम्। उपादेयं खलु उपादानस्वरूपं दृष्टम्। यथा मृत्सुवर्णतन्त्वाद्युपादेयं घटमुकु
तत्स्वरूपमुपादानं किञ्चिदन्वेषणीयम्। तच्च प्रधानमेव। सुखदुःखमोहात्मकं जगत् प्रति तादृशस्य तस्यैव योग्यत्वात्। यच्चोपादेयसारूप्यसाधनाय तथाभूतेऽप्युपादाने ब्रह्मणि चिज्जडात्मिकातिसूक्ष्मा शक्तिद्वयी प्रागप्यस्तीत्युच्यते। तेनापि वैरूप्यं दुष्परिहरं सूक्ष्मात् सूक्ष्मशक्तिकादुपादानात् स्थूलतरोपादेयोदयनिरूपणात्। एवमन्यच्च वैरूप्यं विभावनीयम्। एवं ब्रह्मवैरूप्यात्तदुपादानकं जगन्नेति तर्कश्च शास्त्रस्यावश्यापेक्ष्यः तदनुगुहीतस्यैव क्वचिद्विषयेऽर्थनिश्चयहेतुत्वादिति पूर्वपक्षः। तमिमं निरस्यति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—ब्रह्मके जगत्-उपादान्-कारणताके प्रतिवादके लिए सांख्यवादी पुनः तर्क लेकर प्रवृत्त हो रहे हैं—यद्यपि ये सांख्यवादी कपिलादि आत्माकी यथार्थता अथवा प्रामाण्य-निश्चयमें तर्कहीन है, क्योंकि उन्होंने स्वयं ही इस सूत्रकी रचना की है—*'श्रुति विरोधान्न कु* (सां॰सू॰ ६/३४)—कु
अधमको आत्मलाभ नहीं हो सकता। इस प्रकार कु
साथ विरोध घटित होता है। यदि वे ऐसा कहते हैं तो फिर उन्होंने तर्कका आश्रय किया क्यों—केवल दूसरोंका दोष प्रकाशित करनेके उद्देश्यसे ही उनके द्वारा तर्क स्वीकार किया गया है। यहाँ संशय यह है—जगत् ब्रह्मोपादानक है कि नहीं अर्थात् ब्रह्म जगत्के उपादान कारण हैं कि नहीं, तुम क्या कहना चाहते हो? पूर्वपक्षी कहते हैं—जगत् ब्रह्मोपादानक है—यह हो नहीं सकता क्योंकि उसमें कार्य-कारणका वैरूप्य-विभिन्नरूपता घटित होती है। बात यह है कि उपादान-कारण जिस प्रकार होता है, उपादेय कार्य भी उसी प्रकारका होता है तो जगत् को भी ब्रह्मके समान होना चाहिये। वेदान्तिकगणका अभिमत

है—ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, विशुद्ध और आनन्द-स्वरूप हैं किन्तु कार्य जगत् इसके विपरीत है क्योंकि जगत् अज्ञानमय, अनीश्वर, मलिन (राग-द्वेष-युक्त) और दुःखमय है—यह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है। अतः जगत् और ब्रह्ममें जो वैरूप्य (विलक्षणता) है, उसमें कोई विवाद नहीं है। उपादेय अर्थात् समवेत कार्य उपादान सरूप ही होंगे, जिस प्रकार मृत्तिका, सुवर्ण, तन्तु इत्यादिके कार्य मुकु
सुवर्ण-सरूप हैं, घटादि मृत्तिका सरूप हैं और पटादि तन्तु-सरूप हैं इत्यादि। अतएव ब्रह्मके साथ वैरूप्यके कारण जगत् ब्रह्मका उपादेय नहीं हो सकता। इसलिए इस उपादेयके समान रूपवाले किसी एक उपादान-कारणका अन्वेषण करना होगा। सो यह उपादान तो एक प्रधान ही हो सकता है क्योंकि जगत् सुख, दुःख, मोह इत्यादिसे पूर्ण है, प्रधान भी वैसा ही है—अतएव योग्य उपादान-कारण प्रधान है अर्थात् सुख-दुःख, मोहात्मक प्रधान ही समान उपादान हो सकता है। तुमलोग जो इस आपत्तिके परिहारके लिए उपादेय जगत्के साथ समान रूपमय साधनके लिए असमानरूप उपादान ब्रह्ममें दो शक्तियाँ—एक चित्-स्वरूपा दूसरी जड़ात्मिका—जो कि अति सूक्ष्म अर्थात् दुर्ज्ञेय है—(यह पहले भी कहा गया है) ऐसा यदि कहते हो तो इससे भी यहाँ उपादान-उपादेयका वैरूप्य दूर नहीं होगा। इस प्रकार सूक्ष्म शक्तिसे सम्पन्न सूक्ष्म उपादान (ब्रह्म) से स्थूलरूप उपादेयकी (कार्यकी-जगत्की) उत्पत्ति निरूपित हुई। इसी प्रकारसे और भी वैरूप्य हैं, जो स्वयं ही उद्भावित हो सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्मके साथ वैरूप्यके कारण जगत् ब्रह्मोपादानक नहीं है। इस सम्बन्धमें तर्क और शास्त्र अवश्य ही ग्रहणीय हैं। इसका कारण यह है कि तर्कानुग्रहीत विषय ही किसी-किसी स्थानपर पदार्थ-निश्चय (निर्णय) के हेतु होते हैं, यह पूर्वपक्षका मत है सूत्रकार इसका निराकरण करते हुए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—सांख्यादिस्मृत्या निर्मूलया विरोधः समन्वये माभूत् प्रत्यक्षमूलेनानुमानेन तत्र सोऽस्त्विति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह पुनरपीत्यादि। यद्यपि सापेक्षेण तर्केण निरपेक्षश्रुतिसमन्वयो न शक्यो विरोब्धुं तथापि दृष्टार्थानुसारेणार्थसम्पर्कत्वात् बलवता तर्केण परोक्षार्थबोधनस्वभावे श्रुतिशब्दे

विरोधः शक्यः कर्त्तुमिति। तर्काश्रयेण प्रतिवादिनः प्रवृत्तिः। तर्कागम्ये ग्रहचेष्टादौ शब्दस्यैव साधकतमत्वदर्शनादतिसूक्ष्मे कारणे वस्तुनि तस्यैव तत्त्वमिति वादिनः प्रतिपत्तिर्बोध्या। यद्यपीति। अयं कपिलः। तथाच प्रकृतिपुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति वाचाटत्वादेव तदीयभणितिरिति भावः। श्रुतीत्यादि तत्सूत्रम्। *'कु*
आत्मा खलु श्रुत्येकगम्यो *'नावेदविन्मनुते तं वृहन्तम्'* इत्यादि श्रुतेः। तथापीति। तथाच वञ्चकः स इति भावः। तर्कंदर्शयति जगदिति। जगत् प्रधानोपादानकं तत्सारूप्यात्। ब्रह्मोपादानकं न तद्वैरूप्यात्। तेनेति। अतिसूक्ष्म-शक्तिद्वयाङ्गीकारेणापीत्यर्थः। तर्कश्चेति। तदनुगृहीतस्य तर्कपोषितस्य। क्वचिद्विषय इति। अतएव मन्तव्य इत्युक्तम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आशङ्का है कि सांख्यादि स्मृति वेद-विरुद्ध होनेके कारणसे निर्मूल हैं, उनके साथ वेदान्त-वाक्यके समन्वयमें विरोध न हो किन्तु प्रत्यक्ष मूलक अनुमान द्वारा समन्वयमें तो विरोध हो—इस आक्षेप सङ्गतिको लेकर भाष्यकार कहते हैं—*'पुनरपि'* इत्यादि। यद्यपि सापेक्ष तर्क द्वारा निरपेक्ष श्रुतिके समन्वयमें विरोध नहीं किया जा सकता तो भी दृष्टार्थके अनुसार तर्क अर्थका बोध कराता ही है, इसलिये प्रबल तर्क (युक्तिवाक्य) द्वारा परोक्षार्थ बोधक श्रुति-शास्त्रमें स्वभावतः विरोध किया जा सकता है, इस प्रकार प्रतिवादी तर्कका आश्रय लेकर प्रवृत्त हो रहे हैं। वादीका अभिमत है कि ग्रहगणोंकी चेष्टा इत्यादिमें तर्कका कोई भी अधिकार नहीं है, वहाँ शब्द ही करण (साधन) देखा जाता है, अतएव यहाँ भी अतिसूक्ष्म कारण वस्तु स्वभाव परमेश्वरमें करणत्वका अधिकार श्रुतिका ही है। *'यद्यप्ययमात्मदाथात्म्यनिर्णये' इत्यादि*—'अयम्' अर्थात् सांख्यशास्त्र प्रवर्त्तक कपिलका अभिप्राय है कि प्रकृतिके साथ पुरुषका सम्बन्ध नित्य रूपसे अनुमेय है—यह उक्ति वाचालता की ही परिचायक है। उनका जो सूत्र है, उसे ही कह रहे हैं—*'श्रुति विरोधात्र कु* कु
अधम प्रतिवादी आत्मलाभ नहीं कर सकता अर्थात् स्थिर अथवा स्थित नहीं रह सकता क्योंकि उसके तर्कके साथ श्रुतिका विरोध घटता है। आत्मा एकमात्र श्रुति द्वारा बोध्य है, अवेदज्ञ (श्रुतिको न जाननेवाला) व्यक्ति उन बृहत्तम ब्रह्मको जान नहीं सकता, क्योंकि

श्रुति इस प्रकारकी है। इस प्रकार श्रुति हेतु है *'परं प्रति दौष्य'* इत्यादि—इसका अभिप्राय है—ये वक्ता वञ्चक हैं अर्थात् वाक्-जालसे लोकको प्रतारित (वञ्चित) कर रहे हैं। सांख्यवादी तर्क दिखाते हैं—इस अनुमानमें तर्क इस प्रकार है—*'जगत् यदि ब्रह्मोपादानकं स्यात् तर्हि तदेकरूपं स्यात् यथा घटः जगत् प्रधानोपादानकं तत्सारूप्यात्, जगत् न ब्रह्मोपादानकं तद्वैरूप्यात्'*—अर्थात् जगत् यदि ब्रह्मका उपादेय होता, तो ब्रह्मके साथ एकरूप होता, जो जिसके साथ एकरूप है, वह उसका कार्य है। जिस प्रकार मृत्तिकाके साथ घट एकरूप है, अतएव घट मृत्तिकाका कार्य है। इसके विपक्षमें—*'यन्नैवं तन्नैवं यथा जलादिकम्'*—जो एकरूप नहीं है, वह उसका कार्य नहीं है, जिस प्रकार जल मृत्तिकाके समानरूप नहीं है, इसलिए वह मृत्तिकाका कार्य नहीं है, इसी प्रकार यहाँ जगत् प्रधानका उपादेय-कार्य है। जगत् प्रधानके समानरूप है जिस प्रकार सुख-दुःख-मोह स्वभ है, जगत् भी वैसा ही है। इसलिए प्रधान उसका उपादान है किन्तु ब्रह्म जगत्का उपादान नहीं है। ब्रह्मकी जगत्के साथ विसदृशता है। *'तेनापि वैरूप्यं दुष्परिहरम्'* इति में 'तेन' अर्थात् अति सूक्ष्म दोनों शक्तियोंके द्वारा भी। *'ब्रह्मवैरूप्यात् जगत् तदनुपादानकं नेति' 'तर्कश्च इति तदनुग्रहीतस्यैवेति'*—तर्क द्वारा पोषित (दृढीकृत) शास्त्रका ही। *'क्वचित् विषये इति'* अर्थात् किसी-किसी विषयपर। अतएव वही विचार करना होगा, यही कहते हैं।

५—दृश्यतेत्वित्यधिकरणम्

सूत्र—दृश्यते तु॥ ६॥

सूत्रार्थ—'तु'—किन्तु अर्थात् यह आशङ्का मत करिये, क्योंकि 'दृश्यते'—देखा जाता है अर्थात् दो विरूप वस्तुओंका भी उपादान-उपादेय भाव देखा जाता है। यथा मधुसे कृमि (कीड़े) की उत्पत्ति इत्यादि॥ ६॥

सूत्रानुवाद—विलक्षणताके कारण जगत्का उपादान-कारण ब्रह्म नहीं हो सकता, यह कथन असङ्गत है, क्योंकि कार्य और कारणमें विभिन्नता भी देखी जाती है॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्देन शङ्का निरस्यते। पूर्वतो नेत्यनुवर्त्तते। यदुक्तं ब्रह्म-वैरूप्यात्तदुपादानकं जगन्नेति तन्न विरूपाणामप्युपादानोपादेयभावस्य दृष्टत्वात्। यथा गुणानामुत्पत्तिर्विजातीयाद्‌द्रव्यात् यथा कृमीणां माक्षिकात् यथा करितुरगादीनां कल्पद्रुमात् यथा च सुवर्णादीनां चिन्तामणेरिति, इत्थमभिप्रत्येव दृष्टान्तितमाथर्वणिकैः (मु॰ १/१/७)—*'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्'* इति॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्दके द्वारा पूर्वोक्त आशङ्काका निराकरण हुआ है। पूर्वसूत्रसे 'न'—यह निषेधार्थक 'नञ्' पद इस सूत्रमें अनुवृत्त हुआ है—इस प्रकार अर्थ स्थिर हुआ—तुमने जो कहा कि ब्रह्मके साथ विरूपताके कारण जगत् ब्रह्मोपादानक नहीं हो सकता, तो यह कथन युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि दो पदार्थोंमें विरूपता रहनेपर भी उपादान-उपादेय भाव देखा जाता है। जैसे गुण-समुदायकी उत्पत्ति उसके विजातीय द्रव्योंसे होती है। विजातीय उपादानसे उपादेयकी उत्पत्तिके विषयमें दृष्टान्त यह है कि मधुसे कृमियोंकी उत्पत्ति, कल्पवृक्षसे हाथी, घोड़ोंकी उत्पत्ति और चिन्तामणिसे सुवर्णादिकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारके दार्ष्टान्तिक अभिप्रायको लेकर अथर्वविद्गण दृष्टान्त दिखाते हैं—जिस प्रकार ऊर्णनाभ (मकड़ा) सूत्रकी सृष्टि करता है और फिर उसे निगल जाता है, जिस प्रकार पृथ्वीसे ब्रीहि, यव और शस्यादि उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार सजीव देहसे केश, लोमादि उत्पन्न होते हैं, ठीक उसी प्रकार अक्षर पुरुष-परमेश्वरसे विश्व उत्पन्न होता है॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—दृश्यते इति। विरूपाणां विधर्मणामपि। यथोर्णेति। सृजते तन्तून् गृह्णते निगिरति। सतो जीवतः। पुरुषाद्देहात्। अक्षरात् परब्रह्मणः॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार— *'दृश्यते तु'* यह सूत्र है। *'विरूपाणामपि उपादानोपादेयभावस्य दृष्ट्वादिति'* अर्थात् परस्पर दो विरोधी धर्मोंसे सम्पन्न (युक्त) का भी। *'यथोर्णनाभिरित्यादि सृजते'* अर्थात् ऊर्णनाभि तन्तु उत्पन्न करता है और गृह्णते अर्थात् फिर उस तन्तुको निगल जाता है। यथा सतः पुरुषात्में—सतः अर्थात् जीवित देहसे। 'अक्षरात्'—परब्रह्मसे॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ब्रह्म जगत्‌के उपादान-कारण हैं, इस विषयमें आक्षेपके लिए सांख्यवादी तर्कका आश्रय लेकर पुनः वही पूर्वपक्ष आरम्भ कर रहे हैं। उनका संशय है—ब्रह्म और जगत् दोनोंमें जब विरूपता है अर्थात् ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, विशुद्ध और सुखस्वरूप हैं एवं जगत् अज्ञानाच्छन्न, अनीश्वर, मलिन और दुःखमय है, तब उपादान और उपादेयमें इस प्रकार विरूपताके कारण ब्रह्मको जगत्‌का उपादान-कारण नहीं कहा जा सकता। उपादान और उपादेय एक ही सरूप होने चाहिये, जिस प्रकार मृत्तिकादि उपादानका उपादेय घटादि हैं। इसलिए जगत्‌के समान प्रधान भी सुख-दुःख मोहात्मक है—इसलिए प्रधानको ही जगत्‌का उपादान कहना सङ्गत है। ब्रह्मकी चित् और अचित् दोनों शक्तियोंको स्वीकार करनेपर भी यह विरूपता दूरीभूत नहीं की जा सकती। अतएव जगत्‌का उपादान कारण ब्रह्म है—यह निश्चय नहीं किया जा सकता। सांख्यवादियोंके इस पूर्वपक्षको निरस्त करनेके लिए ही सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि वैरूप्यके कारण ब्रह्म जगत्‌का उपादान-कारण नहीं हो सकता—यह मत सङ्गत नहीं है, क्योंकि विरूपताविशिष्ट दो वस्तुओंका भी उपादान और उपादेय भाव दिखायी देता है। जिस प्रकार गुणोंकी उत्पत्ति विजातीय द्रव्योंसे होती है, यथा मधुसे क्षुद्रकीटोंकी उत्पत्ति होती है, कल्पद्रुमसे हाथी, अश्वकी उत्पत्ति होती है और चिन्तामणिसे सुवर्णकी उत्पत्ति होती है आदि-आदि। और भी जिस प्रकार उर्णनाभि (मकड़ी) सूत्रका सृजन करती है और फिर उसे निगल जाती है, जिस प्रकार पृथ्वीसे ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जीवके जीवित शरीरसे केश, लोमादि उत्पन्न होते देखे जाते हैं, उसी प्रकार अक्षरस्वरूप ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा भवन्ति भूपा न भवन्त्यनुक्रमात्।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वमू रजस्तमःसत्त्वमिति प्रवाहः॥
(श्रीमद्भा० ४/३१/१७)

इस श्लोकको टीकामें श्रीलचक्रवर्त्तीपाद कहते हैं—

ननु गुणमयस्य विश्वस्य गुणातीतो हरिः कथं कारणं न हि मृण्मयस्य घटस्य मृदतीतं वस्तूपादानकारणं भवितुमर्हति उपादानत्वे च हरेः कथं वा निर्विकारत्वमित्याह—'यथा अभ्रतमः प्रकाशा नभसि दृश्यमानाः' इत्यादि। ... श्रीनारदस्य मते भगवतो गुणमयजगदुपादानत्वं निर्विकारत्वञ्च सिद्धमतएवात्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि हरसि पासीति देवैर्वक्ष्यते—'यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदिवाविकृतात्' इति श्रुतिभिश्च (१०/८७/१५), 'नमो नमस्तेऽखिलकारणाय निष्कारणायाद्भुतकारणाय' इति गजेन्द्रेण च कारणस्य तदेवाद्भुतत्वं यदुपादानत्वेऽपि निर्विकारत्वं विवर्त्ताङ्गीकारे युक्तिसद्भावादद्भुतत्वं न स्यात्। व्याख्यातं तत्रैव स्वामिभिश्च—'कारणत्वे च मृदादिवत् विकारं वारयति—अद्भुतकारणाय' इति॥

अर्थात् देखो, गुणमय विश्वसे गुणातीत हरि किस प्रकार कारण हो सकते हैं, जिस प्रकार मृण्मय घटके प्रति मृत्तिकासे भिन्न अन्य कोई वस्तु उपादान-कारण नहीं हो सकती। पुनः विश्वके प्रति श्रीहरिका उपादानत्व होनेपर उनका निर्विकारत्व किस प्रकारसे सम्भव है। हे नृपतियो! जिस प्रकार आकाशसे कभी मेघ, कभी अन्धकार और कभी प्रकाश क्रमशः प्रकट होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार परब्रह्ममें रज, तम और सत्त्वरूप शक्तियाँ क्रमशः प्रकाशित होती हैं और उन्हींमें लीन हो जाती हैं। ... इस प्रकारसे देवर्षि श्रीनारदके मतमें श्रीभगवान्‌में गुणमय जगत्‌का उपादानत्व और निर्विकारत्व सिद्ध हुआ है। इसलिए देवतागण कहते हैं—*'आत्मनैव अविक्रियमाणेन सगुणमगुणः'* (६/९/३३)—अर्थात् हे राजन्! आपका विहारयोग (क्रीड़ोपाय) हमारे लिए दुर्बोध जैसा प्रतीत हो रहा है। क्योंकि न तो आपका आश्रय है और न ही शरीर है और आप स्वयं अगुण हैं, तथापि अपनी आत्माके द्वारा इस सगुण विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं लय करते हैं और किसी भी प्रकारसे आपकी आत्मामें विकार मात्र भी नहीं होता। दशम-स्कन्धमें श्रुतियाँ स्तुति करती हैं—*'यत उदयास्तमयौ विकृतेः'* (श्रीमद्भा॰ १०/८७/१५) अर्थात् जिस प्रकार घटादि कार्यकी मृत्तिकासे उत्पत्ति और मृत्तिकामें ही लय होता है, इसी प्रकार आप जो अविकृत हैं—आपसे ही इस विश्वकी उत्पत्ति एवं प्रलय होता है। अष्टम-स्कन्धमें श्रीगजेन्द्रने भी कहा

है—*'नमो नमस्तेऽखिलकारणाय'* (श्रीमद्भा० ८/३/१५) अर्थात् कारणका यही अद्भुतत्व है, जिसमें उपादानत्व होनेपर भी निर्विकारत्व है और विवर्त्त अङ्गीकार करनेपर युक्ति सद्भावके कारण अद्भुतत्व रहता नहीं। श्रीधर स्वामीपादने भी इस प्रकार व्याख्या की है—*'कारणत्वे च'* इत्यादि, अर्थात् श्रीभगवान् इस विश्व प्रपञ्चके उपादान-कारण होनेपर भी उनमें मृत्तिकादिके समान विकार नहीं है, इसलिए कहा है—*'अद्भुतकारणाय'*—आपका यह कारणत्व अति विचित्र है, अतएव आपको नमस्कार है, इत्यादि।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

कृष्णशक्त्या प्रकृति हय गौण कारण।
अग्निशक्त्ये लौह यैछे करये जारण॥

अतएव कृष्ण-मूल जगत कारण।
प्रकृति कारण, यैछे अजागलस्तन॥

माया अंशे कहि तारे निमित्त कारण।
सेइ नहे, याते कर्त्ता-हेतु नारायण॥

घटैव निमित्त हेतु यैछे कु
तैछे जगतेर कर्त्ता पुरुषावतार॥

(चै०च०आ० ५)

अर्थात् श्रीकृष्णकी शक्तिको पाकर प्रकृति जगत्का गौण उपादान-कारण उसी प्रकार होती है, जैसे अग्निकी शक्तिसे लोहेमें जलानेकी शक्ति आ जाती है। अतएव श्रीकृष्ण ही जगत्के मुख्य कारण हैं। प्रकृति बकरीके गलेमें रहनेवाले स्तनके समान अर्थात् दिखावामात्र ही जगत्का कारण है। कु
जगत्का निमित्त कारण कहते हैं, परन्तु ऐसा भी नहीं है, वास्तवमें श्रीनारायण ही जगत्के निमित्त कारण हैं। घटादिका निमित्त कारण अर्थात् बनानेवाला जैसे कु
प्रकार पुरुषावतार श्रीनारायण हैं।

श्रीगीतामें पाया जाता है—*'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।'* (श्रीगीता ९/१०)॥६॥

अवतरणिका भाष्य—ननूपादानात् विलक्षणं चेदुपादेयं तर्ह्युपादाने ब्रह्मणि जगदुत्पत्तेः प्रागसदित्यापद्येत। पूर्वमैक्यावधारणादसच्चोत्पद्यते। न चैतदिष्टं ते सत्कार्यवादिन इति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि यदि उपादेयको उपादानसे विसदृश (विलक्षण) कहते हो, तो उपादानरूप ब्रह्ममें उपादेय जगत् असत् हो पड़ेगा अर्थात् सृष्टिके पहले जगत् असत् हो पड़े तो इसमें क्षति क्या है? *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'*—इस श्रुतिमें एकमात्र ब्रह्मकी ही सत्ता निर्धारित हुई है। ब्रह्मके साथ इन समस्त वस्तुओंका ऐक्य निर्धारित होनेसे असत् भी उनसे उत्पन्न हुआ माना जायेगा, तो हे सत्कार्यवादी! यह तुम्हारा अभिप्रेत नहीं है। यदि ऐसा कहते हैं, तो इसपर कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। ऐक्यावधारणादेकस्यैव ब्रह्मणः पूर्वसत्त्वादसदेव जगत्तस्मादुत्पद्येतेत्यर्थः। न चेति। सत्कार्यवादिनस्ते वेदान्तिनोऽपि एतदसत्कार्यत्वं नेष्टमित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* इस श्रुतिके द्वारा कहा गया—सदेव—एक ब्रह्म ही सत्-रूप था यह कहनेपर असत् जगत्‌की उत्पत्तिमें आपत्ति होती है। *'न चेत्यादि'*—वेदान्ती तुम सत्कार्यवादी हो तथा असत्कार्यवाद तुम्हारा अभिप्रेत नहीं है और वही अर्थात् असत्कार्यवाद हो पड़ता है—यह पूर्वपक्षवालोंका आशय है।

६—असदिति चेदित्यधिकरणम्

सूत्र—असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्॥ ७॥

सूत्रार्थ—'दृश्यते तु'—इस पूर्व सूत्र द्वारा कार्य-कारणकी समान-रूपता नियममात्रसे प्रतिषिद्ध हुई थी, इसके अतिरिक्त दोनोंका ऐक्य निषिद्ध नहीं हुआ था। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—'असीदितिचेन्न' यदि कहो कि जगत् असत् हो पड़ता है, तो ऐसा नहीं है, किस कारणसे? उत्तर है—'प्रतिषेधमात्रत्वात्'—पूर्वसूत्रमें सारूप्यका भङ्गमात्र दिखाया है, ऐक्यका निषेध नहीं किया गया। अतः ब्रह्मसे जगत् भिन्न है—यह विचार मत करना॥ ७॥

सूत्रानुवाद—यदि कहा जाय, परब्रह्ममें इस कार्यरूप जगत्का अस्तित्व नहीं है तथा इस जगत्की उत्पत्ति जड़से ही है, तो ऐसी बात नहीं है, पूर्व सूत्रमें केवल कार्य और कारणकी समानताके नियमका ही प्रतिषेध किया गया है, कारणसे कार्य भिन्न है—यह नहीं कहा गया है॥७॥

गोविन्दभाष्य—नैष दोषः। कु
विवक्षितम्। न तूपादानादुपादेयस्य द्रव्यान्तरत्वमपि। ब्रह्मैव स्वविलक्षणविश्वाकारेण परिणमत इत्यङ्गीकारात्। अयं भावः—यस्य सारूप्यस्याभावात् ब्रह्मोपादानतामाक्षिपसि तत् किं कृत्स्नस्य ब्रह्मधर्मस्यानुवर्त्तनमभिप्रैष्युत यस्य कस्यचिदिति। नाद्यः उपादानोपादेयभावानुपपत्तेः। न हि घटादिषु मृत्पिण्डोपादेयेषु पिण्डत्वाद्यनुवृत्तिरस्ति। द्वितीये तु नानिष्टापत्तिः सत्तादिलक्षणस्य ब्रह्मधर्मस्य प्रपञ्चेऽप्यनुवृत्तेः। ननु येन केनचिद्धर्मेण सारूप्यं न शक्यं मन्तुं सर्वस्य सर्वसारूप्येण सर्वस्मात् सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्मात् येन धर्मेणोपादानभूतं वस्तु वस्त्वन्तरात् व्यावर्त्तते तस्य धर्मस्योपादेयेऽनुवृत्तिः सारूप्यं यथा तन्त्वादितः सुवर्णं येन स्वभावेन व्यावर्त्तते तस्य कङ्कणादिके तदुपादेयेऽनुवृत्तिर्दृष्टा तथैतद् द्रष्टव्यमिति चेन्मैवम्। माक्षिकादिभ्यः कृम्यादीना-मुत्पत्तावस्य नियमस्य व्यभिचारात्। न च स्वर्णकङ्कणयोः सर्वथा सारूप्यमस्ति अवस्थाभेदात्। तथा च स्वर्णचिन्तामण्योरिव वैरूप्येऽपि कङ्कणस्वर्णयोरिव द्रव्यैक्यसत्त्वान्नासत् कार्यमिति॥७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—तुम जो दोष दिखा रहे हो कि ब्रह्म और जगत्में वैरूप्य है, तो यह दोष है नहीं, किस कारणसे? *'प्रतिषेधमात्रत्वात्'*—यह इस कारणसे कि पूर्वसूत्रमें कार्य-कारणके सारूप्य-नियमका प्रतिवादमात्र ही विवक्षित था अर्थात् सारूप्यके प्रतिषेधके लिए कहा गया था। उसके अतिरिक्त उपादानसे उपादेय अन्य (पृथक्) द्रव्य है—यह कहना अभिप्रेत न था, ब्रह्म स्वयं अपने स्वरूपसे अत्यन्त विलक्षण (कार्य) विश्वके आकारमें परिणत होते हैं—यह अङ्गीकार किया गया है। अभिप्राय यह है कि समानरूपताका (सारूप्य) अभाव कहकर तुमने (सांख्यवादीने) जगत्की ब्रह्मोपादानताका प्रतिवाद किया है, वह क्या समग्र ब्रह्म धर्मके उपादेय जगत्में अनुवृत्ति (जस-का-तस) के अभिप्रायसे है या फिर किसी एक ब्रह्मधर्मकी अनुवृत्तिको लेकर है। यदि प्रथमपक्ष कहते हो अर्थात्

उपादानके समस्त धर्म उपादेयमें आयेंगे, यह मानते हो तो किसी क्षेत्रमें उपादान और उपादेय सङ्गत भी नहीं होते। मृत्-पिण्डके कार्य घटमें पिण्डत्वादि धर्मकी अनुवृत्ति नहीं है और द्वितीय पक्ष मानते हो अर्थात् जिस किसी भी एक धर्मकी अनुवृत्ति मानते हो, तो भी इससे हमारे किसी भी सिद्धान्तकी हानि नहीं है, इष्टापत्ति ही है, अनिष्टापत्ति नहीं। किस प्रकारसे? सत्त्वादिलक्षणरूप ब्रह्मधर्मकी कार्यभूत जगत्में अनुवृत्ति (जैसे-का-तैसा) ही हेतु है। आपत्ति यह है—सत्तारूप किसी एक धर्मके अनुवर्त्तन द्वारा द्वारा समान-रूपता हो सकती है, यह नहीं कहा जा सकता, उसमें समस्त वस्तुओंके सर्वत्वरूप (सम्पूर्ण धर्म) सारूप्यको लेकर समस्त वस्तुसे समस्त वस्तुकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग उठता है, इसलिए कहना होगा कि जिस धर्म द्वारा उपादान वस्तुकी अन्य वस्तुसे व्यावृत्ति (पृथक्ता) हुई है, उस धर्मकी ही उपादेय वस्तुमें अनुवृत्तिका नाम सारूप्य है। जिस प्रकारसे तन्तु इत्यादिसे सुवर्ण जो कि भासुरत्व (दीप्ति समुज्ज्वलत्व) धर्म द्वारा पृथक् है, यही धर्म सुवर्णके कार्य कटक, कु
अनुवृत्त (वही-का-वही) है—यह देखा जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी प्रधानमें भी यह नियम देखना होगा—यह यदि कहते हो, तो कह नहीं सकोगे, क्योंकि सर्वत्र इस नियमका प्रयोग हो—ऐसा स्थिर नहीं है। इसके अतिरिक्त मधु इत्यादिसे कृमि इत्यादिकी उत्पत्तिमें इस नियमका व्यतिक्रम (व्यभिचार) देखा जाता है। सुवर्ण और कङ्कणमें समस्त प्रकारका सारूप्य नहीं है, क्योंकि दोनोंकी आकृति अवस्थाएँ विभिन्न हैं। अतएव स्वर्ण और चिन्तामणिके समान कार्य-कारणका वैरूप्य रहनेपर भी कङ्कण एवं सुवर्णके समान एकद्रव्यता (द्रव्यमें एकता) रहती है अर्थात् ब्रह्म और जगत्के सत्ता धर्मके ऐक्यके कारण कार्य जगत्को असत् नहीं कहा जा सकता॥७॥

सूक्ष्मा-टीका—असदिति। न त्विति। उपादानच्छक्तिमतो ब्रह्मणः सकाशात्। उपादेयस्य जगतः। द्रव्यान्तरत्वं भिन्नत्वम्। अयमिति। सारूप्यस्य साधर्म्यस्य। तत् किमिति। तत् सारूप्यं किं निखिलब्रह्मधर्मानुवर्त्तनं यत्किञ्चिद् ब्रह्मधर्मानुवर्त्तनं वेत्यर्थः। व्यावर्त्तते भिन्नं प्रतीयते। येन स्वभावेनेति भासुरत्वेन गुरुत्वेन च धर्मेणेत्यर्थः॥७॥

सूक्ष्मा-सार— *'असदिति'* सूत्र है, *'न तूपादानदुपादेयस्य'* इत्यादि भाष्य है—सूक्ष्म शक्तिमान उपादान ब्रह्मसे उपादेय जगत्‌का द्रव्यान्तरत्व-भेद नहीं है। *'अयं भावः'* इत्यादिमें—सारूप्यस्य—अर्थात् साधर्म्यका। *'तत् किम् कृत्स्नस्य ब्रह्मधर्मस्येत्यादि'*—तत्—यह सारूप्य क्या सम्पूर्ण ब्रह्मकी अनुवृत्ति लेकर है अथवा कु

'वस्त्वन्तरात् व्यावर्त्तते' अन्य वस्तुसे भिन्न रूपमें प्रतीत होता है *'येन स्वभावेन व्यावर्त्तते'* में 'येन स्वभावेन' अर्थात् भासुरत्व स्वभाव द्वारा और गुरुत्व स्वभाव द्वारा॥ ७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यहाँ सांख्यवादी पुनः एक पूर्वपक्ष उठा रहे हैं कि उपादान और उपादेयमें विसदृशता होनेसे सृष्टिके पहले ही जगत् असत् हो पड़ता है—पूर्वपक्षकी इस आपत्तिके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—यदि कहो, जगत् असत् हो पड़ता है, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि इसके पूर्वके सूत्रमें सारूप्यका प्रतिषेधमात्र किया गया है, उपादान और उपादेयका द्रव्यान्तरत्व अर्थात् भिन्नता नहीं बतायी गयी है। ब्रह्म स्वयंसे विलक्षण विश्वाकारमें परिणत होते हैं। सर्वसारूप्यके अभावमें ब्रह्मकी उपादानताको अस्वीकार नहीं किया जाता! सर्वांशमें ब्रह्मधर्मकी अनुवृत्ति न होनेसे कु

सकता है। सत्त्वादि लक्षण—ब्रह्मधर्मकी अनुवृत्ति प्रपञ्चमें दिखायी देती है।

श्रीमद्भागवत (३/९/१) में श्रीब्रह्माजीके वचन हैं—

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम्।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि यन्न शुद्धं
मायागुणव्यतिकराद् यदुरुर्विभासि॥

अर्थात् ब्रह्माजीने कहा, हे भगवन्! बहुत समय तक उपासना करके आज आपको जान सका हूँ। अहो! देहधारी जीवोंका कैसा मन्द भाग्य है? वे आपके तत्त्वको नहीं जान सकते। आप ही एकमात्र जानने योग्य पुरुष हैं, क्योंकि आपके बिना किसी वस्तुका पृथक् अस्तित्व नहीं है, जो जिस रूपमें प्रतिभात होता है, वह भी

शुद्ध सत्य नहीं है। आप जो जगत् रूपमें बहुरूप होकर प्रकाशित होते हैं—वह भी आपकी बहिरङ्गा प्रधानरूपा मायाके गुणोंके परिणामसे ही प्रतिभात होता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभुके वाक्य हैं—

अविचिन्त्य-शक्तियुक्त श्रीभगवान्।
इच्छाय जगत् रूपे पाय परिणाम॥

तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अविकारी।
प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥

नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हइते।
तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥

प्राकृत वस्तुते यदि अचिन्त्य शक्ति हय।
ईश्वरेर अचिन्त्य शक्ति इथे कि विस्मय॥

(चै॰च॰आ॰ ७/१२४-१२७)

श्रीभगवान् अचिन्त्यशक्ति हैं अर्थात् उनकी शक्ति चिन्तन या तर्क या युक्तिका विषय नहीं है—वे अपनी इच्छासे जगत् रूपमें परिणत होते हैं तथापि वे अपनी उस अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे अविकारी रहते हैं। इसमें प्राकृत चिन्तामणि दृष्टान्त है अर्थात् चिन्तामणि जैसे याचना करनेवालेके सामने उसकी अभीष्ट अनेक वस्तुओंके रूपको धारण करनेपर भी विकाररहित रहती है, उसी प्रकार भगवान् भी जगत्के अनेक पदार्थोंका रूप धारण करते हुए भी स्वयं विकाररहित रहते हैं। चिन्तामणिसे अनेक रत्न उत्पन्न होते हैं, तथापि उस चिन्तामणिका स्वरूप अविकारी रहता है। जब एक प्राकृत वस्तु-चिन्तामणिमें ही अचिन्त्यशक्ति रहती है, तब यदि (चिन्मय) ईश्वरमें अचिन्त्यशक्ति कही जाय तथा वे उससे अविकारी रहते हुए जगत् रूपमें परिणत हों, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—*'आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्ति'* (३/३३/३), अर्थात् आप समस्त जीवोंके प्रभु तथा सहस्रों अचिन्त्यशक्तियोंसे सम्पन्न हैं।

इस प्रसङ्गमें श्रीलजीवगोस्वामीपादके परमात्मसन्दर्भकी ५८ संख्याकी व्याख्या द्रष्टव्य है—चिन्तामणि इत्यादि वस्तुओंमें निजी शक्ति है, यह देखा जाता है, इसी प्रकार परमवास्तववस्तु ब्रह्ममें निजी शक्ति है। जिस प्रकार त्रिदोषघ्नी हरितकी परस्पर विरुद्ध गुण धारण करती है, उसी प्रकार ब्रह्म निरवयव होनेपर भी परस्पर विरोधी गुण धारिणी अपनी स्वरूपभूत शक्तिके द्वारा सावयवत्वको अङ्गीकार करते हैं। ब्रह्मके अचिन्त्य-शक्तित्वमें शब्द ही प्रमाण है॥ ७॥

अवतरणिका भाष्य—युक्त्यन्तरेण पुनराक्षिपति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—सांख्यवादी अन्य युक्तिके द्वारा पुनः आक्षेप करते हैं—

सूत्र—अपीतौ तद्वत् प्रसङ्गादसमञ्जसम्॥ ८॥

सूत्रार्थ—'अपीतौ' अर्थात् प्रलयकालमें, 'तद्वत्' इस प्रकारसे अर्थात् कार्यके समान कारणकी अशुद्धि इत्यादि स्वीकार की जाती है, तो उसमें 'प्रसङ्गात् असमञ्जसम्'—असङ्गति होती है, क्योंकि उपनिषद वाक्यसमूहमें सर्वज्ञ, निर्दोषत्वादि गुण-विशिष्ट ब्रह्म जगत्के उपादान कारण हैं, इत्यादि जो कहा गया है, वे सब उपनिषद-वाक्य विरुद्ध होते हैं—यह पूर्वपक्षीका आक्षेप है॥ ८॥

सूत्रानुवाद—जगत्को ब्रह्मोपादानक माननेपर प्रलय दशामें कार्यकी तरह ब्रह्ममें भी अपुरुषार्थत्वादि धर्मोंका प्रसङ्ग आ जायेगा और फिर वेदान्त-वाक्योंमें असामञ्जस्य आ जायेगा॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—अस्य चिज्जडात्मकस्य नानाविधापुमर्थविकारास्पदस्य जगतः सूक्ष्मशक्तिकं ब्रह्म चेदुपादानं तदाऽपीतौ प्रलये तस्य तद्वत्प्रसङ्गः। षष्ठ्यन्तादिवार्थे वतिः तत्र तस्येवेति सूत्रात्। उपादेयवदपुमर्थविकारप्राप्तिः स्यात् तदानीं तेन सह तस्यैक्यात्। अतोऽसमञ्जसमिदमुपनिषद्वाक्यवृन्दं यत् सार्वज्ञ्यनिरवद्यत्वादिगुणकमुपादानं ब्रह्मेति गदति॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आक्षेपकारी वादीगण पुनः एक और अन्य (दूसरी) युक्ति द्वारा ब्रह्मके जगदुपादानत्वका प्रतिवाद कर रहे हैं। यदि सूक्ष्म शक्तिसे सम्पन्न ब्रह्मको चित् और जड़-वस्तुमय (चित्-जड़ात्मक)

मुक्तिके प्रतिबन्धक प्रतिकूल नाना प्रकारके अपुरुषार्थ विकारोंका आश्रय उपादान कहा जाता है, तो ऐसा होनेपर 'अपीतौ'—प्रलयकालमें उन ब्रह्मके उपादेय जगत्‌के समान उन ब्रह्ममें भी जगत्‌के संसर्गसे अपुरुषार्थ विकार योग हो जायेगा। *'तत्र तस्येव'* (पा॰सू॰ ५/१/११६—सप्तमी समर्थ तथा षष्ठी समर्थ प्रतिपादकों से 'इव' के अर्थमें 'वति' प्रत्यय होता है)। सूत्रके अनुसार *'तद्‌वत्'* पदमें तस्य-इव अर्थात् उसके समान—इस अर्थमें षष्ठी विभक्त्यन्तके उत्तरमें वत् (वति) प्रत्यय है। इसका कारण यह है कि ब्रह्मके साथ इस जगत्‌का उस समय (प्रलयमें) अभेद (ऐक्य) रहता है—क्योंकि इस कथनसे उपनिषद-वाक्य असंलग्न (सामञ्जस्यहीन) हो जायेंगे। क्योंकि उपनिषद-वाक्य ब्रह्मको सर्वज्ञत्व एवं निरवद्यत्वादि (निर्दोषादि) गुणोंसे सम्पन्न उपादान कहते हैं। जगत्‌के सम्पर्कसे ब्रह्मके ये सब गुण दूषित हो जायेंगे॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—अपीताविति। तद्वदिति। कार्यवत् कारणस्याप्यशुद्धादिप्राप्तेरित्यर्थः। यथा व्यञ्जने लीयमानं हिङ्गादि स्वगन्धेन तद्दुषयेदेवं ब्रह्मणि लीयमानं जगत् स्वगतेन जाड्यादिना तद्दूषयिष्यतीत्याक्षेपः सूत्रार्थः। तदानीं प्रलये। तेन ब्रह्मणा सह तस्य जगत ऐक्यादभेदात्॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार—*'अपीतावित्यादि'* सूत्रके अन्तर्गत 'तद्वत्' शब्दका अर्थ है—कार्यजगत्‌के समान कारण-ब्रह्ममें भी अशुद्धि, अनित्यता और असर्वज्ञताकी आशङ्का होती है। इस विषयमें दृष्टान्त है कि जिस प्रकार व्यञ्जनमें प्रदत्त हींग इत्यादि व्यञ्जनमें मिलकर अपनी गन्ध द्वारा व्यञ्जनकी गन्धको दूषित करती है, उसी प्रकार प्रलयकालमें दूषित यह जगत् ब्रह्ममें लीन होनेसे स्वगत जड़ता इत्यादि धर्मोंके द्वारा ब्रह्मको भी दूषित करेगा—यह आक्षेप ही सूत्रका अर्थ है। *'तदानीम्'* भाष्योक्त 'तदानीम्' शब्दका अर्थ है—इस प्रलयमें—*'तेन सह'*—उन ब्रह्मके साथ 'तस्य' जगत्‌के 'ऐक्यात्' का अर्थ है अभेदके कारण॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षवादी पुनः और एक युक्ति उठाकर ब्रह्मके जगदुपादानत्वका प्रतिवाद कर रहे हैं। चिज्जड़ात्मक मुक्तिके प्रतिकूल नानाविध विकारोंके आस्पद जगत्‌के यदि ब्रह्म उपादान होते, तो प्रलयकालमें जगत् ब्रह्ममें लीन होता। इस तरह ब्रह्ममें

जगत्के जाड्यादि दोष संक्रमित हो सकते हैं, जगत् विकार-दोष ब्रह्ममें आकर उपस्थित हो सकता हैं, ऐसा होनेसे उपनिषद-वाक्य जो ब्रह्मको सर्वज्ञता एवं निरवद्यत्वादि गुण-विशिष्ट कहते हैं, उनका भी असामञ्जस्य हो सकता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते
ह्यकर्त्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः ।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे
सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुनि॥

(श्रीमद्भा॰ ५/१८/५)

अर्थात् आप निरावरण और अकर्त्ता होनेपर भी वेदमें विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और ध्वंसरूप कार्य आपके हैं, ऐसा स्वीकृत है, इसमें आश्चर्य कु
अचिन्त्यशक्तिके बलसे सब कु
सबकी आत्मा हैं, फिर भी सबसे पृथक् हैं—यह आपकी अचिन्त्य-शक्तिका ही परिचय है॥८॥

अवतरणिका भाष्य—परिहरति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद सूत्रकार इस प्रकारके आक्षेपका परिहार करते हैं—

सूत्र—न तु दृष्टान्तभावात्॥९॥

सूत्रार्थ—'न तु'—नहीं, ऐसा नहीं है, कु
किसलिए? उत्तर है—दृष्टान्तभावात्—इस विषयमें दृष्टान्त है अर्थात् उपादेय जगत्के सम्पर्कसे भी उपादान ब्रह्ममें निर्दोषत्व रहता है। इस विषयमें दृष्टान्त यह है—जिस प्रकार एक विचित्र (रङ्ग-बिरङ्गे) वस्त्रमें नीले-पीले इत्यादि वर्ण अपने-अपने स्थानमें रहते हैं, समस्त वस्त्रमें छिटकते (बिखरते) नहीं अथवा जिस प्रकार एक देहधारी प्राणीमें बाल्य इत्यादि देहधर्म एवं काणत्व (कानापन), खञ्जत्व (लङ्गड़ापन) इत्यादि इन्द्रिय-धर्म देहमें और इन्द्रियोंमें ही रहते हैं, आत्मामें नहीं

रहते, उसी प्रकार अपुरुषार्थ और विकार इत्यादि शक्तिधर्म शक्तिमें ही रहते हैं, शुद्ध ब्रह्ममें नहीं॥ ९॥

सूत्रानुवाद—इस प्रकारके असमञ्जसकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तुके अवस्थाभेदसे गुण एवं दोषकी व्यवस्था होती है, ऐसे दृष्टान्त विद्यमान हैं॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दादाक्षेपसम्भावनापि निरस्ता। नैव किञ्चिदसमञ्जसम्। कु
यथैकस्मिंश्चित्रान्वरे नीलपीतादयो गुणाः स्वस्वप्रदेशेष्वेव दृष्टा न तु ते व्यतिकीर्यन्ते। तथा चैकस्मिन् देहिनि बाल्यादयो देहधर्मा देहे काणत्वादयः करणधर्माश्च करणगणे विज्ञायन्ते न त्वात्मनि। एवपुमर्थविकारा ब्रह्मशक्तिधर्माः शक्तिगताः स्युर्न तु ब्रह्मणि शुद्धे प्रसज्येरन्निति॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द आक्षेपकी सम्भावनाके भी निरासके लिए है अर्थात् उक्त प्रकारसे आक्षेपकी सम्भावना भी दूर हो गयी है। 'न' शब्दका अर्थ है—इसमें कोई भी असामञ्जस्य नहीं है, किसलिए? उपादेय जगत्‌का संसर्ग होनेपर भी उपादान-कारण ब्रह्मके स्वगत, शुद्धत्वादि गुण बने रहते हैं, इस विषयमें दृष्टान्त है कि जिस प्रकार एक रङ्गीन कपड़ेमें नीले-पीले इत्यादि रङ्ग भिन्न-भिन्न स्थानोंपर प्रयुक्त होनेपर भी उन-उन स्थानोंमें रहते हैं, बिखरते नहीं हैं अथवा जिस प्रकार एक देहधारी प्राणीमें बाल्य-यौवनादि देह-धर्म उसकी देहमें ही रहते हैं और कानापन, बहरापन इत्यादि इन्द्रिय धर्म इन्द्रियोंमें ही रहते हैं, देही आत्मामें लिप्त नहीं होते, इसी प्रकार अपुरुषार्थ एवं विकार इत्यादि जो सब ब्रह्मशक्तिके धर्म हैं, वे सब शक्तिमें ही रहेंगे, शुद्ध ब्रह्ममें वे प्रसक्त (प्रासङ्गिक) नहीं होंगे अर्थात् शुद्ध ब्रह्ममें उनके होनेका प्रसङ्ग ही नहीं उठता॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—नेति। नैवेति। किञ्चिदपि वाक्यं नासङ्गतमित्यर्थः। न तु ते व्यतिकीर्यन्ते मिथो मिश्रिता न भवन्तीत्यर्थः। प्रसज्येरन् प्राप्ताः स्युः॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार—'न तु' अर्थात् नहीं कोई भी वाक्य असङ्गत नहीं है। 'न तु व्यतिकीर्यन्ते' का अर्थ है—परस्पर मिश्रित नहीं होते। 'न प्रसज्जेन्' प्रसक्त (व्याप्त/घटित) नहीं होते॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार सांख्यवादियोंके पूर्वोक्त आक्षेपकी सम्भावनाके भी परिहारके लिए कहते हैं कि नहीं, कोई असामञ्जस्य नहीं है, क्योंकि इस विषयमें दृष्टान्त है। जिस प्रकार किसी रङ्ग-बिरङ्गी वस्तुमें नील-पीतादि गुण अपने-अपने स्थानोंमें ही रहते हैं, एक दूसरेसे मिलते नहीं, जिस प्रकार देहके बाल्यादि देहधर्म और काणत्व, खञ्जत्वादि इन्द्रिय धर्म आत्मामें प्रकाशित नहीं होते, उसी प्रकार अपुरुषार्थ विकार ब्रह्मके शक्तिगत हैं, शुद्धस्वरूप ब्रह्ममें प्रसक्त नहीं होते। आचार्य शङ्करने एक युक्ति बतलायी है कि मिट्टीसे घटादि बनते हैं। घट जब ध्वंस होनेपर मिट्टीके साथ मिल जाता है, तब घटके समस्त गुण अर्थात् वर्तुलाकारत्व, क्षुद्रत्वादि गुण मिट्टीमें संक्रमित नहीं होते।

श्रीमद्भागवतमें श्रीप्रह्लाद महाराजके वचन हैं—

न्यसेदमात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये
शेषेऽऽत्मना निजसुखानुभवो निरीहः।
योगेन मिलित दृगात्मनिपीतनिद्र-
स्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे॥

(श्रीमद्भा॰ ७/९/३२)

अर्थात् हे जगदीश्वर! आप इस जगत्को स्वयं अपनेमें ही न्यस्त करके (समेटकर) योगके द्वारा नेत्रोंको बन्द कर लेते हो, स्वरूपके प्रकाशके कारण विनष्ट-निद्र होकर (निद्राको विलीन करके) तुरीयभावमें अवस्थित रहते हो और आत्मसुखका अनुभव करके निष्क्रिय अवस्थामें प्रलय-समुद्रमें सोये रहते हो, किन्तु तम और सत्त्वादि गुणसे युक्त नहीं होते हो॥ ९॥

अवतरणिका भाष्य—न केवलं निर्द्दोषतया ब्रह्मोपादानता स्वीकृता। प्रधानोपादानताया दुष्टत्वादपीत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—केवल ब्रह्मको उपादान-कारण कहनेपर दोषका अभाव है ऐसा नहीं है प्रधानको उपादान-कारण कहनेमें भी दोष है, यही बता रहे है—

सूत्र—स्वपक्षे दोषाच्च॥ १०॥

सूत्रार्थ—'स्वपक्षे'—सांख्यवादीके निज मतमें भी 'दोषाञ्च'—दोष हैं, इसी कारण प्रधानको जगत्का उपादान-कारण नहीं कहा जा सकता॥ १०॥

सूत्रानुवाद—न केवल ब्रह्मकारणवादके निर्दोष होनेसे प्रधान कारणवाद अग्राह्य है, अपितु अपने पक्षमें ही दोषपूर्ण होनेसे भी यह अग्राह्य है॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—ये दोषास्तया सांख्येनास्मत्पक्षे सम्भावितास्ते स्वपक्षे निजमत एव द्रष्टव्याः तेषामन्यत्र निरस्तत्वात्। तथाहि उपादानोपादेययोर्वैरूप्यं सांख्यपक्षेऽप्यस्ति। शब्दादि शून्यात् प्रधानाच्छब्दादिमतो जगतो जनुरङ्गीकारात्। तस्मात् तस्य वैरूप्यादेवासत्कार्यताप्रसङ्गः। प्रधानाविभागस्वीकारादेवापीतौ तद्वत् प्रसङ्गश्चेत्येवमादयः। जगत्प्रवृत्तिरपि प्रधानवादे न सम्भवतीति तत्परीक्षायां वक्ष्यामः॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अहे सांख्यवादियो! तुमने हमारे मतमें जिन दोषोंकी सम्भावना की है, वे सब दोष तुम्हारे स्वयंके मतमें भी दिखायी देते हैं। उपनिषद-सिद्धान्तमें वे सब दोष खण्डित हुए हैं। ब्रह्मको जगत्का उपादान कहनेपर कार्य-कारणका जो वैरूप्य दोष तुमलोगोंने दिखाया है, वह दोष तुम्हारे सांख्य-मतमें भी है। सांख्य-मतमें शब्दादिशून्य प्रधानसे शब्दादि विशिष्ट जगत्की उत्पत्ति तुमने स्वीकार की है। इस प्रधानसे इस जगत्की उत्पत्तिके पक्षमें उक्त प्रकारके वैरूप्यके कारण क्या असत्कार्यवादरूप आपत्ति नहीं उठती है, जब कि सत्कार्यवाद उभय सम्मत (दोनोंके द्वारा स्वीकृत) है। पुनः अन्य दोष यह भी है कि प्रलयकालमें प्रधानके कार्यके साथ (जगत्की) अभिन्नभाव (ऐक्य) की स्थिति स्वीकार करनेके कारण अपुरुषार्थ विकारका प्रसङ्ग आता है, इस प्रकार और भी अन्यान्य दोष जानने चाहिये। इसके अतिरिक्त जगत्के उपादान-कारणवाद प्रधानसे जगत्की उत्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती। यह बात प्रधानवादके विचार स्थल *'अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्'* सूत्रकी व्याख्याके समय विवेचित होगी॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—न केवलमिति। अन्यत्रौपनिषदे सिद्धान्ते। तस्मात् तस्येति। तस्मात् प्रधानात् कारणात्तस्य कार्यस्य जगतो वैलक्षण्यादित्यर्थः॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार—'न केवलामित्यादि' अवतरणिका, *'स्वपक्षेदोषाञ्च'* सूत्रके अन्तर्गत *'तेषामन्यत्र-निरस्तवात्'* भाष्योक्त अन्यत्र शब्दका अर्थ है—उपनिषद-सिद्धान्तमें तस्मात् तस्य वैरूप्यात्-तस्मात्-प्रधानरूप कारणसे कार्य जगत्की विसदृशताके कारण असत्कार्यवाद हो पड़ता है॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—केवल निर्दोषत्वके कारण ही ब्रह्मका जगदुपानत्व स्वीकार किया गया है, ऐसा नहीं है, बल्कि प्रधानकी उपादानता स्वीकार करनेपर भी दोषका प्रसङ्ग आता है, इसलिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि सांख्यमतावलम्बियोंके मतमें भी दोष है। तुम जिन दोषोंको वेदान्त-मतमें दिखा रहे हो, उन सब दोषोंको अपने पक्षमें भी देखना चाहिये, जिन्हें वेदान्तमें निरस्त किया गया है। उपादान और उपादेयकी परस्पर विलक्षणताके सम्बन्धमें सांख्यवादियोंकी आपत्ति है, किन्तु सांख्य-मतमें प्रकृतिको शब्दादिशून्य कहा गया है और फिर उससे ही शब्दादि विशिष्ट जगत्की उत्पत्तिको अङ्गीकार किया गया है। दूसरी बात यह है कि प्रलयकालमें प्रधानमें जगत्की अभिन्नता (ऐक्यता) की स्थिति स्वीकार करनेसे सांख्य-मतमें भी वही अपुरुषार्थ विकारकी आपत्ति होती है। इस प्रकार अनेकानेक दोष दिखाये जा सकते हैं, जिनकी चर्चा बादमें की जायेगी।

इस सूत्रकी टीकामें आचार्य शङ्करके भाष्यका सार द्रष्टव्य है—जो दो दोष सांख्यवादी वेदान्तियोंके विरोधमें बता रहे हैं, वे उनके विरुद्ध भी प्रयुक्त हो सकते हैं। यथा—जिस हेतुसे ब्रह्म-लक्षणसे जगत्का लक्षण भिन्न है, उस हेतुसे ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उनके मतमें भी प्रकृतिके शब्दादि गुण नहीं हैं, बल्कि जगत्के शब्दादि गुण हैं।

दूसरी बात यह है कि उनके मतमें भी प्रलयकालमें प्रकृतिको जगत्में लीन बताया है, तो इस तरह जगत्के गुण शब्दादिके प्रकृतिमें सञ्चारित होनेकी आशङ्का रहती है, किन्तु वे भी तो, 'प्रकृतिमें ये सब शब्दादि गुण नहीं है' कहकर उसे स्वीकार करनेमें अक्षम हैं।

आचार्य श्रीरामानुजने भाष्यका तात्पर्य है—सांख्यवादी सृष्टिके सम्बन्धमें जिस आरोप अथवा अध्यासकी बात करते हैं, वह दोषयुक्त है। इसका कारण है कि निर्विकार पुरुषके विकारवश अध्यास होता है, यह नहीं कहा जा सकता। पुनः प्रकृतिके विकारवश अध्यास होता है, यह नहीं कहा जा सकता। पुनः प्रकृतिके विकारवश अध्यास होता है, यह भी कहा नहीं जा सकता। वे यदि एक बार विकार हेतु अध्यास कहते हैं, तो दूसरी बार अध्यास हेतु विकार कहते हैं और ऐसा होनेसे अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तस्मदिदं जगदशेष मसतस्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिष णं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वयैव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/२२)

अर्थात् यह सारा जगत् अनित्य है, इसलिए स्वप्नवत् अचिरस्थायी, ज्ञानशून्य, जड़ एवं अतीव दुःखप्रद है। आप सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्त हैं। आपमें आश्रित अचिन्त्यशक्तिसे इसकी उत्पत्ति एवं विनाश होता है, तथापि यह सत्यके समान प्रतीत होता है॥ १०॥

अवतरणिका भाष्य—यत्तूक्तं तर्कानुगृहीतं शास्त्रमर्थनिश्चयहेतुरिति तत् प्रत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—और तुमने जो कहा कि तर्क-परिपुष्ट शास्त्र (सांख्य-स्मृतिके अनुरोध) से ही वेदान्त-वाक्योंका अर्थ निश्चय करेंगे—उसके विषयमें कहते हैं—

सूत्र—तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्ष-प्रसङ्गः॥ ११॥

सूत्रार्थ—'तर्कप्रतिष्ठानात्'—तर्कको कोई भी प्रतिष्ठा नहीं है, क्योंकि मनुष्यके बुद्धितारतम्यसे एक तर्क अन्य तर्क द्वारा व्याहत (बाधित) होता है, अतः तर्कके ऊपर निर्भर न करके उपनिषद-कथित

ब्रह्मकी जगदुपादानकारणता स्वीकार करना उचित है। 'अपि'—फिर भी यदि कहो, मैं अन्य प्रकारसे अनुमान करूँगा, जिसमें तर्ककी अप्रतिष्ठा न हो, तो इस अभिप्रायसे कहते हैं—'अन्यथानुमेयमिति चेत्' प्रकारान्तरसे अनुमान करूँगा यथा—प्रधान जगत्का उपादान है, ब्रह्म नहीं है, यह यदि कहते हो, तो दोष दिखाते हैं—'निर्मोक्षप्रसङ्गः' तर्ककी अप्रतिष्ठारूप दोषसे निस्तार (मोक्ष) नहीं होगा, ब्रह्मके विषयमें तर्क चलता नहीं॥ ११ ॥

सूत्रानुवाद—जो श्रुति सम्मत नहीं होता, उस तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता) नहीं होती। तर्कके पश्चात् पुनः तर्क उपस्थित होनेसे तर्क निर्विषय (व्यर्थ) हो जाता है॥ ११ ॥

गोविन्दभाष्य—पुरुषधीवैविद्यात् तर्का नष्टप्रतिष्ठा मिथो विहन्यमाना विलोक्यन्ते। अतोऽपिताननादृत्यौपनिषदी ब्रह्मोपादानता स्वीकार्या। न च लब्धमाहात्म्यानां केषाञ्चित् तर्काः प्रतिष्ठिताः तथाभूतानामपि कपिलकणभुगादीनां मिथो विवादसन्दर्शनात्। नन्वहमन्यथानुमास्ये यथाऽप्रतिष्ठा न स्यात्। न तु प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यं वदितुं तर्काप्रतिष्ठानुरूपस्य तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वात्। सर्वतर्काप्रतिष्ठायां जगद्व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। अतीतवर्त्तमानवर्त्मसाधारण्येनानागतेऽपि वर्त्मनि सुखदुःख-प्राप्तिपरिहारार्था लोकप्रवृत्तिर्दृष्टेति चेत् एवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः। पुरुषबुद्धि-मूलतर्कावलम्बनस्य भवतो देशान्तरकालान्तरजनिपुणतमतार्किकदूष्यत्वसम्भावनया तर्काप्रतिष्ठनदोषादनिस्तारः स्यात्। यद्यप्यर्थविशेषे तर्कः प्रतिष्ठितस्तथापि ब्रह्मणि सोऽयं नाऽपेक्ष्यते अचिन्त्यत्वेन तदनर्हत्वात् *'श्रुतिविरोधान्नेति'* त्वदुक्त्यसङ्गतेश्च। (सां॰सू॰ ६/३४) श्रुतिश्च ब्रह्मणस्तर्कागोचरतामाह। *'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येन सुज्ञानाय प्रेष्ठ'* इति कठानाम् (१/२/९)। स्मृतिश्च—*'ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः। यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम्'* (श्रीमद्भा॰ २/६/४०) इत्याद्या। तस्मात् श्रुतिरेव धर्म इव ब्रह्मणि प्रमाणम्। तत्पोषकारी तर्कस्त्वपेक्ष्यत एव *'मन्तव्य'* (बृ॰आ॰ २/४/५) इति श्रुतेः। *'पूर्वापराविरोधेन'* इत्यादिस्मृतेश्च। तस्मात् ब्रह्मोपादानकं जगदिति॥ ११ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मनुष्यकी बुद्धि नाना प्रकारकी है, इसलिए एक तार्किकका तर्क दूसरे तार्किकके अन्य तर्क द्वारा खण्डित किया जा सकता है, अतः तर्ककी स्थिति दृढ़ नहीं है; इस प्रकार परस्पर व्याहत (बाधित) होकर तर्क अप्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस कारण तर्कके ऊपर निर्भर न करके उपनिषद प्रोक्त ब्रह्मकी जगदुपादानता

ही स्वीकार करने योग्य है। यदि कहो, विद्या और बुद्धिके बलपर लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियोंके तर्ककी प्रतिष्ठा रहती है, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि उस प्रकारके अर्थात् लब्धप्रतिष्ठ तार्किक कपिल, कणाद इत्यादिका परस्परमें मत-विरोध देखा जाता है। प्रश्न है, मैं (सांख्यवादी) अन्य प्रकारसे अनुमान करूँगा, जिससे अप्रतिष्ठा न हो, यदि इसमें आपत्ति करते हो कि इस प्रकारका कोई तर्क ही नहीं है, जो प्रतिष्ठित हुआ हो, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस तर्कके द्वारा पूर्व तर्कको अप्रतिष्ठित करोगे, उसी तर्कको प्रतिष्ठित माना जायेगा। अतएव जिस तर्ककी प्रतिष्ठा न हो, उस तर्कको ही स्वीकार करना होगा। तब यदि उसकी भी अप्रतिष्ठा करते हो, तो समस्त तर्कोंकी अप्रतिष्ठासे जागतिक व्यवहारका उच्छेद (जड़से उखड़ना) हो जायेगा। अतीत और वर्त्तमानका जो पथ है, उस पथके अनुसार भविष्यमें भी लोगोंकी सुख-प्राप्ति और दुःख परिहारके लिए प्रवृत्ति देखी जाती है। ऐसा यदि कहते हो, तो उसमें भी तर्कके अप्रतिष्ठा दोषसे उद्धार नहीं है, क्योंकि तर्कमात्र ही पुरुष बुद्धिका आश्रय करके उद्भावित होता है तुम्हारे उस तर्काश्रयीके तर्कको अन्यदेशीय अन्यकालमें उत्पन्न अति निपुणतम तार्किक अपने तर्कके द्वारा दूषित कर देंगे, इस प्रकार तर्कके अप्रतिष्ठा रूप दोषसे उद्धार नहीं हो सकता। कोई-कोई व्याख्या करते हैं—तर्ककी प्रतिष्ठा होनेपर भी मुक्तिलाभकी आशा उसमें नहीं है, क्योंकि उपनिषद-शास्त्रमें आत्मज्ञानसे ही मुक्तिकी बात कही गयी है। किन्तु यह व्याख्या भाष्यकारको अनभिप्रेत है; श्रुतिमूलक तर्क सर्वदा स्वीकार्य है, इसलिए उनकी व्याख्यामें जो प्रदर्शित हुआ है, वही ग्राह्य है। सत्य है कि किसी पदार्थ-विशेषमें तर्क प्रतिष्ठित हो सकता है, तो भी ब्रह्म विषयमें तर्क अपेक्षित नहीं है, क्योंकि वे अचिन्तनीय हैं और अचिन्तनीय विषयमें तर्ककी गति नहीं है, तर्कको स्वीकार करनेपर श्रुतिके साथ विरोध घटित होता है।

'श्रुतिविरोधान्न' सूत्रकी तुमने जो रचना की है, इसी सूत्रके प्रमाणसे ही किसी व्यक्तिविशेषके तर्ककी असङ्गति हो जाती है। ब्रह्ममें तर्कके अविषयत्वका वर्णन श्रुति इस प्रकार कर रही है—*'नैषा तर्केण*

मतिरापनेया प्रोक्तान्येनं सुज्ञानाया प्रेष्ठ' (कठ॰ १/२/९) हे प्रियतम! हे नचिकेता! परमतत्त्व-बोधिका बुद्धिको शुष्क तर्क द्वारा नष्ट करना उचित नहीं है, क्योंकि वेदज्ञ गुरु द्वारा उपदिष्ट होकर तुम्हारी यह बुद्धि परमतत्त्वके साक्षात्का कारण होगी—यह कठोपनिषदाध्यायियोंकी उक्ति है। इस संदर्भमें स्मृति-वाक्य भी है—हे महर्षि नारद! शमदमपरायण मुनिगण जिस क्षण ब्रह्मतत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करते हैं, उस क्षण असत् तर्क द्वारा उस ब्रह्मतत्त्वका अनुमान करनेपर वह (ब्रह्मतत्त्वज्ञान) अन्तर्हित हो जायेगा। इसलिए श्रुति ही धर्म-विषयके समान बह्म-विषयमें भी प्रमाण है। अतः तर्क सम्पूर्ण रूपसे हेय (उपेक्षणीय) है, ऐसा नहीं है। श्रुति द्वारा निर्धारित विषयके अनुकूल तर्क अपेक्षणीय है। श्रुति इस कारणसे कह रही है, *'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यः'*—श्रवण और मनन करना होगा। स्मृति भी वही कह रही है—*'पूर्वापराविरोधेन'* इत्यादि पूर्वापर विषयके साथ अविरुद्ध भावसे तर्कका आश्रय करनेपर ब्रह्मतत्त्वको जानना होगा। अतएव सिद्धान्त है—जगत्का उपादान कारण ब्रह्म है॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—तर्केति। *'यत्वेनापादितोऽप्यर्थः कु*
तरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यत' इति तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वं वदन्ति। ननु तर्कमात्रेऽप्रतिष्ठिते धुमज्ञानोत्तरं वह्नौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। वाक्यार्थसंशये तर्केण तदर्थानिर्णयप्रसङ्गश्च। किञ्च तर्काप्रतिष्ठानादित्यनेन तर्केण परपक्षथगुणञ्च न स्यात्। तस्मात् कस्यचित् तर्कस्याप्रतिष्ठानेऽपि कस्यचित् प्रतिष्ठानात् तेन समन्वये विरोधः शक्यः कर्त्तुमित्याक्षिपति अन्यथानुमेयमिति चेदित्यनेन सूत्र खण्डनञ्च। अतीतेति। भूतं वर्त्तमानञ्च यद्वर्त्म तत्तौल्येनानागते भविष्यति च वर्त्मनीत्यर्थः। यथा कृषिवाणिज्यादि पुराकृतं यथेदानीं क्रियते एवमेवाग्रेऽपि करिष्यते तेन सुखप्राप्तिर्दुःखपरिहारश्च भविष्यतीत्यर्थः। स्वीकृत्य परिहरति एवमपीति। अत्र श्रवणादिति। यद्यपीति। अर्थविशेषे पर्वतीयवह्न्यादौ ब्रह्मणोऽतर्क्यत्वे प्रमाणं नैषेति। प्रेष्ठ हे प्रियतमेति नचिकेतसं प्रति यमोक्तिः। एषा परतत्त्वग्रहणार्हा मतिर्धिषणा त्वया तर्केण शुष्केण नापनेया न घटनीया यदियमन्येन वेदज्ञेन गुरुणा प्रोक्तोपदिष्टा सती सुज्ञानाय परतत्त्वानुभवाय सम्पद्येतेति। ऋषे इति। श्रीभागवते नारदं प्रति ब्रह्मवाक्यम्। यदा विदन्ति विषयं कु
सत् तिरोधीयेतान्तर्दध्यादित्यर्थः। तत्पोषकारीति। तत्र मनुः—*'प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता'* इति। *'आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर'* इति॥ ११॥

सूक्ष्मा-सार—सुनिपुण अनुमानकारीगण यत्नपूर्वक किसी विषयको स्थापित करते हैं और उसके बाद उनकी अपेक्षा और भी अधिक दूसरे सुविज्ञगण उसे अन्यथा कर देते हैं, इसलिए तर्ककी अप्रतिष्ठा है, ऐसा कहा जाता है। प्रश्न है कि तर्कमात्र ही यदि अप्रतिष्ठित है, तो वह्नि-प्रार्थी व्यक्ति पर्वतपर धूम देखकर अग्निका अनुसन्धान ही क्यों करे? कारण है—*'धूमो वह्निव्याप्येन वा'*—धूममें वह्निकी व्याप्ति है कि नहीं—इस व्यभिचारी सन्देहकी निवृत्तिके लिए *'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्याद् वह्निजन्यो न स्यात्'*—धूम यदि वह्नि-व्यप्तिमान न होता तो वह वह्निका कार्य न होता—इस प्रकारका तर्क है, किन्तु तर्ककी यदि तर्कान्तर द्वारा अप्रतिष्ठा है तो अप्रमाणीभूत इस तर्कके द्वारा सन्देहका निराकरण किस प्रकार होगा? अतएव तर्ककी प्रतिष्ठा स्वीकार करनी होगी। इसके अतिरिक्त वाक्यार्थमें संशय घटित होनेपर तर्क द्वारा उसका निर्णय न हो यह आपत्ति भी रह जाती है। और एक बात है, तर्ककी अप्रतिष्ठा कहकर जो परपक्षके मतका खण्डन कर रहे हो वह भी होता नहीं है। अतएव कहना होगा कि किसी तर्ककी अप्रतिष्ठा होनेपर भी अन्य तर्ककी प्रतिष्ठा हो सकती है और उस तर्क द्वारा वेदान्त-वाक्यके ब्रह्म-समन्वय पक्षमें विरोध उपस्थापित (प्रस्तावित) किया जा सकता है, इस अभिप्रायसे *'अन्यथानुमेयमितिचेत्'* इस सूत्रांशके द्वारा आक्षेप करते हैं—अतीत वर्त्तमान वर्त्मेत्यादि—भूत और वर्त्तमान कालमें जिस पथको ग्रहण किया जाता है, उसकी तुलनाके अनुसार भविष्यमें भी वह पथ धारण करना चाहिये। जिस प्रकार कृषि, वाणिज्य इत्यादि दृष्टान्त पहले भी किये जाते थे, वर्त्तमानमें भी किये जाते हैं, उसी प्रकार भविष्यमें भी किये जायेंगे—इसीसे सुख प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति होगी, यह पूर्वपक्षीका तात्पर्य है। इसे स्वीकार करनेके विषयपर सिद्धान्ती *'एवमपि'* वाक्यसे उसका परिहार करते हैं *'एवमपि अनिर्मोक्ष प्रसङ्गः'*—इसकी व्याख्या कोई-कोई इस प्रकार भी करते हैं—इस प्रकार होनेपर भी अर्थात् तर्कके द्वारा होनेपर तो *'अनिर्मोक्षप्रसङ्ग'*—मुक्तिकी अप्राप्ति हो जायेगी, क्योंकि उपनिषद प्रतिपादित—ब्रह्मज्ञान द्वारा ही मुक्तिकी बात सुनी जाती है। यद्यपि अर्थ विशेषमें अर्थात् पर्वतीय वह्नि इत्यादिमें तर्क प्रतिष्ठित है, तो भी ब्रह्म विषयमें तर्ककी गति

नहीं है। इसका प्रमाण है—*'नैषा तर्केण'* इत्यादि कठोपनिषद वाक्य। इसका अर्थ है, हे प्रेष्ठ! (हे प्रियतम!) यह सम्बोधन नचिकेताके प्रति यमका है। जो प्रज्ञा ब्रह्मतत्त्वको ग्रहण करनेके लिए उपयुक्त है, उसे तुम शुष्क तर्कके साथ संयोजित मत करो क्योंकि अन्य वेदज्ञ गुरु द्वारा उपदिष्ट होनेसे वह प्रज्ञा (मति-बुद्धि) परतत्त्व (अन्यतत्त्व) की अनुभूति उत्पन्न करा सकती है। *'ऋषे विदन्ति'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवत (श्रीमद्भा॰ २/६/४०) में नारदजीके प्रति ब्रह्माजीकी उक्ति है। इसका अर्थ है—हे ऋषि! मुनिगण जिस समय सद्ब्रह्मको ज्ञानका विषय बताते हैं, उस समय असत् अर्थात् शुष्क तर्क द्वारा अनुमित होनेसे वह ज्ञान विपर्यस्त (विपरीत) एवं लुप्त हो जाता है। तब उस ज्ञानके पोषण करनेवाले तर्ककी अवश्य ही अपेक्षा रहती है। इस विषयमें मनु कहते हैं—प्रत्यक्ष अनुमान एवं शास्त्र—ये तीन प्रकारके प्रमाण हैं, धर्म-सम्बन्धमें किसी प्रकारके सन्देहकी इच्छा न रखनेवाले व्यक्तिको इन तीनोंको उत्तम प्रकारसे (निःसंशय भावसे) प्रमाण मानना चाहिये। *'आर्षमित्यादि'*—ऋषि प्रोक्त धर्मोपदेशको वेद-शास्त्रके अविरोधी तर्क द्वारा जो व्यक्ति मनन करते हैं, वे ही धर्मके स्वरूपको जानते हैं, दूसरे नहीं॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सांख्यवादियोंने पहले एक बात कही थी कि तर्कके द्वारा परिपुष्ट (पोषक) शास्त्र ही अर्थ-निश्चयके हेतु हैं, इसी बातपर सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है अर्थात् तर्कके द्वारा किसी तत्त्वका निर्णय नहीं हो सकता। एक व्यक्ति तर्क द्वारा जिस अर्थकी स्थापना करता है, उससे भी अधिक तीक्ष्णबुद्धि मनीषी उसका खण्डन कर देता है। इसलिए तर्क जब अप्रतिष्ठित ही है, तब उपनिषद ज्ञानका आश्रय लेकर ब्रह्मकी जगदुपादानता स्वीकार करना ही कर्त्तव्य है। कपिल, कणादि महात्मागण सभी परस्पर विवदमान हैं। प्रश्न है कि तर्कमात्र ही यदि अप्रतिष्ठित है, तो व्यक्ति पर्वतपर धूम देखकर अग्निका अनुसन्धान ही क्यों करे? कारण है—*'धूमो वह्निव्याप्यो न वा'*—धूममें वह्निकी व्याप्ति है कि नहीं, इस व्यभिचारी सन्देहकी निवृत्तिके लिए *'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्याद् वह्निजन्यो न स्यात्'*—धूम यदि वह्नि—व्याप्तिमान्

न होता, तो वह वह्निका कार्य न होता—इस प्रकारका तर्क कहा जाता है, किन्तु तर्कके द्वारा सन्देहका निराकरण किस प्रकार होगा? अतएव तर्ककी प्रतिष्ठा स्वीकार करनी होगी। यदि लोक-व्यवहारमें किसी तर्ककी प्रतिष्ठा देखी जाय, तो उस प्रकारके तर्क-वितर्ककी ब्रह्म-विषयमें कोई अपेक्षा नहीं है। तर्क द्वारा कभी भी मुक्तिलाभकी भी सम्भावना नहीं है। ब्रह्म वस्तु अचिन्त्य है, इसलिए तर्कातीत है।

श्रीमहाभारतमें भी देखा जाता है—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यश्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
(भीष्मपर्व ५/२२)

अर्थात् जो अचिन्त्य भाव है, उन्हें तर्क द्वारा नहीं जाना जा सकता। जो प्रकृतिके विकारोंसे परे है वही अचिन्त्यका लक्षण है।

कठ-श्रुतिमें देखा जाता है—'*नैषा तर्केण मतिरापनेया*' (कठ॰ १/२/९)। अर्थात् यह ब्रह्मविषयक मति तर्कके द्वारा नहीं जानी जा सकती।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः।
यदा तदैवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम्॥
(श्रीमद्भा॰ २/६/४)

अर्थात् हे ऋषि नारद! जिनके देह, इन्द्रिय और मन प्रशान्त हैं, इस प्रकारके मुनिगण ही उन्हें तत्त्वतः जान सकते हैं। भगवत्तत्त्व पुनः कु

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

सेइ कृष्ण, सेइ गोपी—परम विरोध।
अचिन्त्य चरित्र प्रभुर—अति सुदुर्बोध॥

इथे तर्क करि केह ना कर संशय।
कृष्णेर अचिन्त्यशक्ति एइ मत हय॥

अचिन्त्य अद्भुत कृष्णचैतन्य-विहार।
चित्र भाव, चित्र गुण, चित्र व्यवहार॥

तर्कें इहा नाहि माने येइ दुराचार।
कु

(चै॰च॰आ॰ १७/३०४–३०७)

श्रीराधाजीके मादनाख्य–महाभावके जो विषय हैं, वे श्रीकृष्ण नवद्वीपलीलामें उस मादनाख्य–महाभावके आश्रयरूप राधाजी बने हैं। इसमें परम विरोध है, किन्तु श्रीमहाप्रभुके चरित्र अचिन्त्य हैं अर्थात् उनकी अचिन्त्यशक्ति एक ही पात्रमें दो विरुद्ध भावोंका समावेश कर देती है। उनके अचिन्त्य चरित्रोंको बिना उनकी कृपाके समझना अत्यन्त कठिन है। इस विषयमें कोई भी तर्क करके संशय न करें, क्योंकि श्रीकृष्णकी अचिन्त्यशक्तिका प्रभाव ऐसा ही है। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी लीलाएँ अचिन्त्य एवं अद्भुत हैं। उनके भाव, गुण एवं लीला सभी विचित्र हैं। जो दुराचारी अथवा अपराधी व्यक्ति कु
वशीभूत होकर उनकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावको नहीं मानता है, वह कु
नहीं होता।

और भी—

तार्किक–मीमांसक यत मायावादी गण।
सांख्य पातञ्जल स्मृति, पुराण, आगम॥

निज–निज शास्त्रोद्ग्राहे सबाइ प्रचण्ड।
सर्वमत दूषि प्रभु करे खण्ड–खण्ड॥

सर्वत्र स्थापये प्रभु वैष्णव सिद्धान्ते।
प्रभुर सिद्धान्त केह ना पारे खण्डिते॥

(चै॰च॰म॰ ९/४२–४४)

तार्किक (न्याय–शास्त्रानुगत), मीमांसक (मीमांसा–शास्त्रानुगत), मायावादी (श्रीशङ्कराचार्य मतावलम्बी अद्वैतवादी), सांख्य–मत अनुयायी, पतञ्जलिकृत दर्शनानुयायी, शिवपुराणादि तथा तन्त्र–शास्त्रको माननेवाले—ये सब लोग अपना–अपना शास्त्र–प्रमाण देकर प्रभुके साथ तर्क करते थे, किन्तु श्रीमहाप्रभु सब मतोंके दोष दिखाकर उनका खण्डन कर देते। सर्वत्र श्रीगौराङ्ग वैष्णव–सिद्धान्तोंकी स्थापना करते और फिर इनके सिद्धान्तको कोई भी मतावलम्बी नहीं काट सकता था।

तथा—

तर्क प्रधान बौद्धशास्त्र 'नव मते'।
तर्केइ खण्डिल प्रभु, न पारे स्थापिते॥

बौद्धाचार्य 'नव प्रश्न' सब उठाइल।
दृढ़ युक्ति-तर्के प्रभु खण्ड-खण्ड कैल॥

दार्शनिक पण्डित सबाइ पाइल पराजय।
लोके हास्य करे, बौद्ध पाइल लज्जा-भय॥

(चै॰च॰म॰ ९/४९-५१)

बौद्ध-शास्त्रका नवीन मत तर्क-प्रधान शास्त्र है, प्रभुने उसका तर्कसे ही खण्डन किया। वे अपना बौद्ध-मत कभी स्थापित न कर सके। बौद्धाचार्यने नवीन-नवीन प्रश्न एवं तर्क उठाये। किन्तु श्रीगौराङ्गने दृढ़ युक्तियों द्वारा उन सबका खण्डन किया। दार्शनिक पण्डितोंने सभामें ही पराजय पायी, जिससे लोग उनकी हँसी उड़ाने लगे। बौद्ध बहुत लज्जित एवं भयभीत हुए।

और भी—

तर्क न करिह—तर्कागोचर ताँर रीति।
विश्वास करिया शुन करिया प्रतीति॥

(चै॰च॰अ॰ ३/२२८)

अर्थात् कोई भी उसमें तर्क न करे, क्योंकि श्रीहरिदासजीकी भक्ति-महिमा तर्कातीत है। इसलिए सब भक्तगण विश्वासपूर्ण हृदयसे उसे सुनें।

श्रीलजीवगोस्वामीपाद विरचित सर्वसंवादिनी ग्रन्थके अन्तर्गत तत्त्वसन्दर्भीय व्याख्यामें पाया जाता है—

तदेवं सर्वत्रैव, स एव वेदः। किन्तु सर्वेज्ञेश्वरवचनत्वेना-सर्वज्ञजीवदुर्रूहत्वात् तत्प्रभावलब्ध-प्रत्यक्ष-विशेषवद्भिरेव सर्वं तदनुभवे शक्यते, न तु तार्किकैः।

पुरुषोत्तमतन्त्रमें कहा गया है—

शास्त्रार्थयुक्तोऽनुभवः प्रमाणं तुत्तमं मतम्।
अनुमानाद्या न स्वतन्त्राः प्रमाण-पदवीं ययुः॥

यही मत ब्रह्मसूत्रकारके द्वारा स्वीकृत है—*'तर्कप्रतिष्ठानात्'* (ब्र॰सू॰ २/१/११), *'तेस्तु शब्दमूलत्वात्'* (ब्र॰सू॰ २/१/२७)।

अद्वैतवादियोंके द्वारा कहा गया है—

यत्नेनापादितोऽप्यर्थः कु
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते ॥

(वाक्यपदीय १/३४)

अर्थात् किसी एक सुनिपुण तार्किकके द्वारा अतिशय यत्नपूर्वक अनुमानसे जो पदार्थ जैसा अनुमित (तार्किक) होता है उससे भी बड़ा कोई तार्किक आकर अपनी ऊहापोहके द्वारा उस पदार्थको अन्यथा (विपरीत) सिद्ध कर दिया करता है।

इसी सूत्रके अद्वैतशारीरकमें भी कहते हैं—

न च शक्यन्ते अतीतानागतवर्तमानास्तार्किका एकस्मिन् देशे काले च समाहर्तुं येन तन्मतिरेकरूपैकार्थ विषया सम्यङ्मतिरिति स्यात्। वेदस्य च नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वे च सति व्यवस्थित-विषयार्थत्वोपपत्तेः। तज्जनितस्य ज्ञानस्य च सम्यक्त्वमतीतानागतवर्त्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम्।

वाक्यपदीय ग्रन्थका यह श्लोक शङ्कर-भाष्यकी भामती टीकामें उद्धृत है और श्रीजीवगोस्वामीपादने भी इसी स्थलपर उसे उद्धृत किया है। भाष्यकार आचार्यशङ्कर अपने अद्वैत-शारीरकमें कहते हैं—अर्थात् यदि कहा जाय कि सभी तार्किकोंके मिलित सिद्धान्तको ग्रहण किया जाय, तब तो यह कभी सम्भव नहीं है। यदि अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत्-कालके सभी तार्किक एक स्थानपर सम्मिलित होकर अपनी एकार्थ-विषया मतिको स्थिर करके उसे सम्यक् मति रूपमें ग्रहण करें, यह कभी सम्भव ही नहीं है। वेद नित्य हैं और वेद ही ज्ञानोत्पत्तिके हेतु हैं। वेदमें व्यवस्थित विषयका अर्थ भी नित्य वर्त्तमान है। यह वेदजनित ज्ञान सम्यक् ज्ञान है और अतीत, अनागत (भविष्य) और वर्त्तमान समयका कोई भी तार्किक उस ज्ञानको अपह्नव करनेमें (वाक्-चातुर्यसे सत्यको छिपानेमें) समर्थ नहीं है।

तब यदि कोई कहे कि आगममें भी कहीं-कहीं तक-प्रणाली द्वारा ज्ञान सूचित होता हुआ दिखायी देता है, तो वह उस-उस

स्थानपर ही शोभनीय है। कारण आगम-वाक्य-बोधके सौकर्यमात्र (सुविधामात्र) के लिए ही इस प्रकारके वाक्य उद्दिष्ट हुए हैं। और यदि कोई कहे कि सभी वेद-वाक्य तर्कके द्वारा सिद्ध हैं, उन्हें ही प्रमाण रूपमें ग्रहण किया जाय। ऐसा यदि है तो हमारा कहना है कि वेद-वाक्यका प्रयोजन क्या है? तर्क ही प्रमाण हो। इस प्रकारसे कहनेवाले वैदिकमन्यमात्र (अपनेको वेदज्ञ माननेवाले) हैं, वे वेदबाह्य अर्थात् वेद बहिर्भूत हैं। महाभारतकार कहते हैं—*'अतएव तेषां शृगालत्वमेवगतिः'* (महाभारत शान्तिपर्व कश्यप-शृगाल संवादे ८०/४७-४९) अर्थात् ये सभी व्यक्ति देह-त्यागके बाद शृगाल-योनिरूप गतिको प्राप्त होते हैं।

फिर जो श्रुति श्रवण, मननके विषयमें कह रही हैं, *'श्रोतव्यो मन्तव्यः'* (बृ॰आ॰ २/४/५) इत्यादिमें तो तर्क अङ्गीकार किया गया है, इसके उत्तरमें कूर्मपुराणके कथनको ग्रहण करना होगा—

पूर्वापरविरोधेन कोन्वर्थोऽभिमतो भवेत्।
इत्याद्यमूहनं तर्कः शुष्कतर्कञ्च वर्जयेत्॥

अर्थात् पूर्वापर अविरोधमें कौन-सा अर्थ अभिमत होगा, उसका ऊहन ही तर्क है। अतः शुष्क तर्कका परित्याग करना चाहिये। न्यायसूत्र भी है—*'अविज्ञाते तत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्ति स्तत्त्वज्ञानार्थ ऊहस्तर्कः'* अर्थात् अज्ञाततत्त्वके विषयमें तत्त्वज्ञानके लिए कारणके उपपत्तिपूर्वक ऊहको तर्क कहते हैं। इस प्रकार श्रुतिने जहाँ तर्ककी प्रशंसा की है, वहाँ शास्त्रसम्मत (श्रुतिमूलक) तर्क समझना चाहिये और जहाँ तर्कका निषेध श्रुति द्वारा हुआ है, वहाँ शास्त्रविरोधी (तर्कमूलक) तर्क समझना चाहिये। इस प्रकार अचिन्त्य अघटघटनपटीयसी शक्ति विशिष्ट होनेके कारण समस्त दोष ग्रन्थोंसे रहित सर्वज्ञता आदि अनन्त गुणाश्रय परब्रह्म ही जगत्के कारण हैं, प्रधान नहीं॥ ११॥

अवतरणिका भाष्य—सांख्ययोगस्मृतिभ्यां तदीयतर्कैश्च विरोधः परिहृतः। इदानीं कणभुगादिस्मृतिभिस्तदीयतर्कैश्च स परिह्रियते। तत्र कणादादिमतैर्ब्रह्मोपादानता बाध्यते न वेति वीक्षायां तस्यां सत्यां तत्स्मृतीनामनवकाशतापत्तेः। सर्वत्र न्यूनपरिमाणानामेव द्व्यणुकादीनां त्र्यणुकादिमहाकार्यारम्भकत्वदर्शनात् ब्रह्मणो विभुत्वेन तदयोगाच्च बाध्यत इति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—सांख्य-स्मृति एवं योग-स्मृतिके साथ और उनमें उक्त तर्कके साथ जो विरोध है, अब तर्कके प्रबन्ध द्वारा उसका खण्डन हुआ और अब कणाद ऋषि एवं गौतमादि स्मृतिकार तथा उनकी उक्तियोंके साथ वेदान्त-दर्शनका जो विरोध है, उसका निराकरण करते हैं। इस विषयमें सर्वप्रथम सन्देह यह है कि ब्रह्मका उपादान कारणत्व कणादि मतोंके द्वारा बाधित है कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि ब्रह्मका उपादान कारणत्व इस मतमें (कणादि मतमें) हो ही नहीं सकता। यदि ब्रह्मकी उपादानकारणता स्वीकार की जाती है, तब कणादादि स्मृतिकी निरवकाशता (निर्विषयता) होती है अर्थात् विषय रहता ही नहीं। उनके मतमें बीज वृक्ष इत्यादि कार्य द्रव्यमात्रमें न्यूनपरिमाण द्व्यणुकादि त्रसरेणु इत्यादि क्रमसे महत् परिमाण विशिष्ट द्रव्यके जनक हैं—यह देखा जाता है। किन्तु ब्रह्म विभु हैं, विश्वव्यापक नित्य वस्तु हैं, वे महाकार्य ब्रह्माण्डका जनक हो नहीं सकते, क्योंकि ब्रह्म ही सबकी अपेक्षा महत् है, पुनः महत् क्या महत्तर कार्य उत्पन्न करेगा। अतएव ब्रह्मको उपादान कहनेपर कणादादि मतके साथ विरोध होता है, इस पूर्वपक्षके निराकरणके लिए कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—सांख्येति। कणभुक्प्रभृतयो हि श्रुत्यर्थाभासानासाद्य स्मृतीः कल्पयाञ्चक्रु

स्थूलस्यान्तर्भावं विवक्षुराह। *'न्यग्रोधफलमद आहरेति। इदं भगव इति। भिन्धीति। भिन्नं भगव इति। किमत्र पश्यसीति। अण्व्यइवेमाधाना भगव इति। आसामङ्गैकां भिन्धीति। भिन्ना भगव इति। किमत्र पश्यसीति। न किञ्चन भगव इति। एतस्य वै सौम्यैषोऽणिम्न एव महान्यग्रोधस्तिष्ठति'* इति। जगतः प्रागवस्थायां दृष्टान्तः श्रूयते। तत्र न किञ्चनादिशब्दश्रवणात् शून्यवादाणुकारणवादा दार्ष्टान्तिकत्वेनावगतम्यन्ते। एवमसदेवेदमग्र आसीत् तन् नामरूपाभ्यां व्याक्रियतेत्यादावसत्स्वभाववादौ चावगतौ तासां श्रुतीनां तद्वादेषु तात्पर्यमस्तीति प्रतीतेः। तर्कश्च ब्रह्म न विश्वोपादानं विशुद्धत्वात् खवदिति। एवं पूर्वपक्षान् दर्शयितुमाहेदानीमिति। तस्यां ब्रह्मोपादानतायाम्। तत्स्मृतीनां कणादादिग्रन्थानाम्। सर्वत्र बीजवृक्षादौ। तदयोगात् स्वतो महा-कार्यारम्भकत्वासम्भवात्। एवं प्राप्तेऽतिदिशति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—सांख्य-योग-स्मृति इत्यादि भाष्य। कणाद इत्यादि दार्शनिक गण वेद मानते हैं, किन्तु उनका

यह मानना वेदार्थाभास है अर्थात् श्रुतिके अर्थकी अपव्याख्या करके वे स्मृति-शास्त्रोंकी कल्पना करते हैं। छान्दोग्योपनिषद (६/१२) में इस प्रकार पाया जाता है, यथा उद्दालक मुनि पुत्र श्वेतकेतुको उद्दिष्ट करके सूक्ष्मवस्तुके मध्य स्थूलवस्तुके अन्तर्भावको कहनेके अभिप्रायसे कहते हैं—वत्स! एक वट (बड़)-फल लेकर आओ, वह उसे ले आया और कहने लगा, भगवन्—यह रहा। उद्दालकने कहा 'इसे तोड़ो' तब श्वेतकेतुने कहा 'यह तोड़ दिया।' उद्दालकने पुनः पूछा—इसमें क्या देख रहे हो? श्वेतकेतुने कहा, भगवन्! अणुके समान सूक्ष्म कु

पुत्र! इसमेंसे एक धानको तोड़ो। श्वेतकेतुने कहा—भगवन् यह भी तोड़ दिया। उद्दालकने कहा—इसमें क्या देख रहे हो? श्वेतकेतुने उत्तर दिया—भगवन्! कु

अणु परिमाणमें ही महान वृक्ष निहित है। इस कथनमें श्रद्धा कर। जगत्की पूर्वावस्थामें यह दृष्टान्त उपनिषदमें सुना जाता है। इसमें *'न किञ्चन'*—नहीं, कु

शून्यवाद और परमाणु कारणतावाद दृष्टान्तके दार्ष्टान्तिक (जिसका दृष्टान्त है, उस) रूपसे अवगत हुआ जा सकता है। इसी प्रकार *'असदेवेदमग्र आसीत् तन्नामरूप तन्नामरूपाभ्याम् व्याक्रियते'*—पहले यह जगत् असत् था—इसके द्वारा शून्यवाद और बादमें यह जगत् नाम रूपसे अभिव्यक्त हुआ, इसके द्वारा स्वभावकारणतावाद भी प्रतीत हुआ। अतएव ये सब श्रुतियाँ इन बौद्धवादादिकी उपजीव्य हैं, यह प्रतीत हो रहा है। पुनः ब्रह्मकी जगदुपादानकारणता-विषयमें विरुद्ध तर्क इस प्रकारसे होता है यथा—*'ब्रह्म न विश्वोपादानम् विशुद्धत्वात् ख्रवत्'*—इस अनुमानमें ब्रह्म पक्षमें है, उसमें साध्य फल विश्वोपादनताका अभाव है क्योंकि विशुद्धतत्त्व है। ख्र-आकाशका दृष्टान्त है। इस प्रकार पूर्वपक्षको दिखानेके लिए भाष्यकार कहते हैं—*'इदानीं कणभुगादि'* इत्यादि *'तस्यां सत्याम्'* में 'तस्याम्' का अर्थ है—उस ब्रह्मकी जगदुपादानकारणता स्वीकृत होनेपर *'तत्स्मृतीनाम्'*—कणाद इत्यादिके ग्रन्थके। *'सर्वत्र न्यूनपरिमाणानाम्'*—सर्वत्र बीज-वृक्षादि विषयमें। *'ब्रह्मणो विभुत्वेन् तदयोगाच्च तदयोगात्'*—न्यून परिमाणसे महाकार्य जननके (महतर कार्यकी उत्पत्ति) असम्भव होनेके कारण। *'एवं*

प्राप्ते अतिदिशति' इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतके ऊपर सिद्धान्ती 'एतेन' इत्यादि सूत्र द्वारा पूर्वयुक्तिका अतिदेश (साम्य अर्थात् एक धर्मका दूसरे धर्ममें आरोपण) करते हैं।

७—एतेन शिष्टेत्यधिकरणम्

वेदविरोधी गौतम, कणादिकी स्मृतिका खण्डन

सूत्र—एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः॥ १२॥

सूत्रार्थ—एतेन—वेदविरोधी सांख्ययोग-शास्त्रके निरसन द्वारा 'शिष्टापरिग्रहा अपि' अवशिष्ट कणाद, गौतमादि इत्यादि भी 'व्याख्याताः' वेदविरोधी हैं, इसलिए वे भी निराकृत (खण्डित) हो गये, ऐसा जानना चाहिये॥ १२॥

सूत्रानुवाद—शिष्ट अपरिग्रही (वेद न माननेवाले तर्कपरायण) कणाद, अक्षपाद, क्षपणक इत्यादिके परमाणु आदि कारणवादको भी इस वेदविरोधी प्रधान कारणवादके निराससे निरस्त समझ लेना चाहिये॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—शिष्टाः परिशिष्टाः। नास्ति परिग्रहो वेदकर्मको येषां ते अपरिग्रहाः। विशेषणयोः कर्मधारयः। एतेन वेदविरोधिसांख्यादिनिरासेन परिशिष्टास्तद्वि-रोधिनः कणभक्षाक्षपादप्रभृतयोऽपि निरस्ता वेदितव्याः निराकरणहेतोः साम्यात्। न ह्यारम्भवादेऽपि न्यूनपरिमाणारम्भकत्वनियमोऽस्ति। दीर्घतन्त्वारब्धद्वितन्तुकपटे वियदुत्पन्ने शब्दे च व्यभिचारात्। कारणवस्तुविषयस्य तर्कस्याप्रतिष्ठानमशक्यं वक्तु शङ्काधिक्यादधिकरणातिदेशः। तत्परिहारस्तु शुष्कतर्कस्याप्रतिष्ठाननियमात्। अतएवापरे बौद्धादयः परमाणूनन्यथा वर्णयन्ति। क्षणिकानर्थात्मकान् केचित्। ज्ञानरूपान् परे। शून्यात्मकानपरे। सदसद्रूपांस्त्वन्ये। सर्वे ह्येते तन्नित्यताविरोधिन इति॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'शिष्टाः' का अर्थ है परिशिष्ट अर्थात् सांख्ययोगसे भिन्न अवशिष्ट कणाद-दर्शन (वैशेषिक) और न्याय-दर्शन (गौतमीय दर्शन)—ये भी *'अपरिग्रहाः'* अर्थात् परिग्रह—वेदका ग्रहण, जिनके द्वारा नहीं है, इन दोनों विशेषण पदकी कर्मधारय समास द्वारा निष्पत्ति है, इसलिए *'शिष्टा परिग्रहाः'* पद है। 'एतेन'—अर्थात् वेदविरोधी सांख्यादिके खण्डन द्वारा शिष्टाः—बचे हुए, 'अपरिग्रहाः' अर्थात् वेदविरोधी (वेदके सिद्धान्तको ग्रहण न करनेवाले) कणाद, अक्षपाद (गौतम) इत्यादिको

भी निरस्त हुआ जानना चाहिये। खण्डनका हेतु है वेदविरोधिता। यह वेदविराधितारूपी दोष दोनों ही पक्षोंमें समान रूपसे है। बात यह है कि कणाद और गौतम मतमें न्यूनपरिणाम द्व्यणुकादि महापरिमाण विशिष्ट त्रसरेणुके जनक (आरम्भक) हैं—इस द्रव्यारम्भकत्वादमें भी व्यभिचार है, कोई नियम नहीं है, क्योंकि दीर्घतन्तुमें समवेत द्वितन्तु विशिष्ट वस्त्रमें न्यून तन्तुके द्वारा आरम्भ (उत्पत्ति) नहीं है और विभु आकाशसे उत्पन्न शब्दमें न्यून परिमाणारब्धत्व नहीं है। अतएव उक्त नियमका (परमाणुवादका) व्यभिचार है। पुनः कारण वस्तुसे सम्बन्धित तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है, इस प्रकार कहा नहीं जा सकता—इसलिए इस हेतुके द्वारा शङ्काका निवारण नहीं होता, इसलिए इस सूत्र द्वारा पूर्वाधिकरणका अतिदेश किया गया है। *'तर्काप्रतिष्ठानात्'*—द्वारा तर्कका जो अधिष्ठान कहा गया है, वह सर्वत्र नहीं कहा जाता। किसलिए? शुष्क तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है,—यह सार ही आशङ्काका परिहार करता है। इसी कारण अन्यान्य बौद्ध इत्यादि वादीगण परमाणुका अन्य प्रकारसे वर्णन करते हैं। उनके चार सम्प्रदाय हैं—वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक और सौत्रान्तिक। इनमें वैभाषिकगण घट-पटादि पदार्थको स्वीकार करते हों, किन्तु उन्हें यह क्षणिक रूपसे स्वीकार है। योगाचार बौद्धगण कहते हैं—समस्त ही ज्ञानस्वरूप है। माध्यमिकगण शून्यवादी हैं। सौत्रान्तिक जैन कहते हैं सत्-असत् रूप समस्त पदार्थ बुद्धिके वैचित्र्यमें अनुमेय हैं। जो भी हो, ये सभी परमाणुकी नित्यताके विरोधी हैं॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—एतेनेति। अतिदेशत्वान्नात्र पृथक्सङ्गत्यपेक्षा। शिष्टाः कपिल-पतञ्जलिभ्यामन्ये। अपरिग्रहा वेदमगृह्णन्तस्तर्कपरा इत्यर्थः। एतेनेति। तद्विरोधिनो वेदप्रतिकूलाः। अक्षपादोऽत्र गौतमः। एवं हि वर्णयन्ति—*'लोकं पश्यति यस्याङ्घ्रिः स यस्याङ्घ्रिं न पश्यति। ताभ्यामप्यपरिच्छेद्या विद्या विश्वगुरोस्तव'* इति। तत्र ताभ्यां गौतमपतञ्जलिभ्यामित्यर्थः। निराकरणहेतोर्वेदविरोधितायाः। दीर्घेति। अत्र कारणपरिमाणं महदवगम्यते। अतत्रवापरेति। वैभाषिको बौद्धः परमाणून् क्षणिकान् अर्थभूतान् मन्यते। योगाचारो ज्ञानरूपान्। माध्यमिकस्तु शून्यात्मकान्। जैनः पुनः सदसद्रूपान्। एतच्चाग्रिमचरणे विस्पष्टीभविष्यति। सर्वे एते परमाणुकारणवादिनो वैभाषिकादयो जैनाश्चत्वारः परमाणुनित्यतायां कणादादिस्वीकृतायां विरोधिनः क्षणिकत्वादिस्वीकारादिति भावः। तथाच कारणवस्तुविषयस्यापि तर्कस्याप्रतिष्ठान-

मसन्देहमिति। न च न किञ्चनादिशब्दविरोधः अनभिव्यक्तनामरूपत्वेन सङ्गतेः। अणुशब्दस्तु सौक्ष्म्यात् ब्रह्मणि गौणः। स्वभाववादस्तूपरि निराकरिष्यते॥ १२॥

सूक्ष्मा–सार—यह सूत्र अतिदेश सूत्र है। इसमें स्वतन्त्र सङ्गतिकी अपेक्षा नहीं है, पूर्व सङ्गति ही इसकी सङ्गति है। सूत्रोक्त शिष्ट शब्दका अर्थ है—कपिल और पतञ्जलिसे अतिरिक्त अवशिष्टगण। *'अपरिग्रहाः'*—वेद ग्रहण न करके केवलमात्र तर्कपरायण। *'एतेन वेदविरोधीत्यादि'*—भाष्यमें *तद्विरोधिनः*—वेदके प्रतिकूल वादीगण। (अक्षपाद शब्दका अर्थ यहाँ गौतम है। उनके सम्बन्धमें लोकमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—जिनके (जिन गौतमके) चरण जगत् देख रहा है, किन्तु वे उनके (श्रीभगवान्‌के) चरण देख नहीं पाये।) हे विश्वगुरु! तुम्हारी विद्या अर्थात् ज्ञान उन अक्षपाद और पतञ्जलिके द्वारा भी अपरिच्छेद्य—अनिर्णेय है। यहाँ *'ताभ्यामप्यपरिच्छेद्यः'* में *'ताभ्याम्'* पदका अर्थ है 'गौतम एवं पतञ्जलि द्वारा' और *'निराकरणहेतोः'* का अर्थ है—मत निराकरणकी हेतु वेदविरोधिता दोनों पक्षोंमें ही समान है। यहाँ देखा जाता है—कारणका परिमाण कार्यके परिमाणसे महत् है। *'अतएवापरे'* इत्यादिमें अपरे—अर्थात् बौद्धसम्प्रदाय। उनमें वैभाषिक बौद्ध परमाणुको क्षणिक पदार्थ मानते हैं। योगाचार बौद्ध पदार्थको ज्ञानस्वरूप, माध्यमिक शून्यात्मक और जैन सत् और असत् इसी पदार्थको उभयात्मकस्वरूप कहते हैं। यह सब परिचय इस अध्यायके द्वितीय पादमें व्यक्त होगा। ये वैशेषिक इत्यादि चारों बौद्ध सम्प्रदाय परमाणुकी जगत्–कारणता मानते हैं किन्तु कणाद गौतमादि स्वीकृत परमाणुकी नित्यताके विषयमें विरुद्धवादी (विरोधी) हैं क्योंकि समस्त पदार्थोंका क्षणिकत्व ही उनका अभिप्रेत है। अतएव जगत्–कारण वस्तु विषयक तर्ककी अप्रतिष्ठा–अस्थिरता है—इसमें सन्देह नहीं है। यदि कहो *'नेह नानास्ति किञ्चन'* (बृ॰आ॰ ४/४/१९) इस श्रुतिका विरोध है तो यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि अनभिव्यक्तनामरूपता–अर्थको ग्रहण करके विरोधका परिहार होगा। ब्रह्ममें अणु शब्द सूक्ष्मता (दुर्ज्ञेयता) के कारण गौण अर्थमें प्रयुक्त है। स्वभाववादका बादमें निराकरण किया जायेगा॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सांख्य-स्मृति और योग-स्मृतिके साथ और उनसे उत्थित तर्कके द्वारा स्थापित विरोधका खण्डन करते हुए वर्त्तमानमें (अब) सूत्रकार कणाद, गौतमादिके मतोंके द्वारा उत्थित तर्ककी सहायतामें जो विरोध है, उसका भी खण्डन करते हैं। पूर्वपक्षवादियोंका संशय यह है कि कणादादिके मतमें ब्रह्मकी जगदुपादानताके विषयमें बाधा प्राप्त है कि नहीं? यदि है तो उनके मतमें अनवकाशता दोष आ पड़ता है। कारण इन सबके मतमें ब्रह्मके विभुत्व द्वारा—न्यूनपरिमाण द्व्यणुकादि द्वारा ही त्रसरेणुकादि (सूर्यके प्रकाशमें भासमान धूलिकण) महत्कार्यकी आरम्भता देखी जाती है, इस प्रकार कणादिके मतमें विरोध उपस्थित होता है। उसके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि वेदविरोधी सांख्यादि शास्त्रके निराकरण द्वारा वेद विरोधी कणाद एवं गौतमादिका भी निराकरण हुआ है। इस सूत्रमें शङ्काके आधिक्यके कारण पूर्वाधिकरणका अतिदेश किया गया है।

परमाणुवादके विषयमें बौद्धगण अन्य प्रकारसे भी वर्णन करते हैं। चारों बौद्ध सम्प्रदाय ही परमाणुके नित्यतावादके विरोधी हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तमसन्निधानात्परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते येषां समूहेन कृतो विशेषः॥
(श्रीमद्भा॰ ५/१२/९)

अर्थात् पार्थिववस्तुकी उपादानरूप पृथ्वी जब लयको प्राप्त होती है, तब वह अपने उपादान सूक्ष्म परमाणुमें ही लीन हो जाती है क्योंकि 'क्षिति' शब्द वाच्य पृथ्वी पदार्थकी सत्ता भी नाममात्रकी ही जाननी होगी (यह मिथ्या है, वास्तविक नहीं है) परमाणु ही पुञ्जीभूत होकर पृथ्वीरूप स्थूलावयवीका उत्पादन करते हैं, वे परमाणु अविद्यावश मनसे ही कल्पना किये हुए हैं, वस्तुतः इन परमाणुओंकी भी सत्ता नहीं है, ये सत्पदार्थ नहीं हैं।

इस श्लोकको टीकामें श्रीधरस्वामीपादने कहा है—

'तर्हि क्षितेः सत्यता स्यात्? तत्राह—एवं क्षितिशब्दस्यापि वृत्तं वर्त्तनम् अर्थं विनैव निरुक्तम्। यद्वा क्षितिशब्दस्य वृत्तं यस्मिन् तदपि मिथ्यात्वेन

निरुक्तमित्यर्थः। कु
लयात्, अतः परमाणुव्यतिरेकेण क्षितिर्नास्तीत्यर्थः। परमाणवस्तर्हि सत्याः स्युः? तत्राह—ते मनसा कार्यानुपपत्त्या वादिभिः कल्पिताः। कल्पनाबीजमाह। येषां समूहेन विशेषः कृतः, येषां समूहः पृथ्वी-बुद्ध्यालम्बनमित्यर्थः। अवयविनो निरस्तत्वात् समूहग्रहणम्। तथापि सत्याः स्युः? न। अविद्यया प्रपञ्चस्य भगवन्मायाविलसितत्वादज्ञानेन कल्पिताः।'

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

येई ग्रन्थकर्ता चाहे स्वमत स्थापिते।
शास्त्रेर सहज अर्थ नहे ताँहा हइते॥

'मीमांसक' कहे ईश्वर हय कर्मेर अङ्ग।
'सांख्य' कहे जगतेर प्रकृति कारण प्रसङ्ग॥

'न्याय' कहे परमाणु हैते विश्व हय।
'मायावादी' निर्विशेष ब्रह्म 'हेतु' कय॥

'पातञ्जल' कहे ईश्वर हय स्वरूप आख्यान।
वेदमते कहे तारे स्वयं भगवान्॥

छयेर छय मत व्यास कैला आवर्त्तन।
सेई सब सूत्र लञा वेदान्त दर्शन॥

वेदान्त मते ब्रह्म साकार निरूपण।
निर्गुण व्यतिरेके तिंहो हय त सगुण॥

परमकारण ईश्वरे केह नाहि माने।
स्व-स्व मत स्थापे परमतेर खण्डने॥

ताते छय दर्शन हैते तत्त्व नाहि जानि।
'महाजन' येइ कहे, सेइ 'सत्य' मानि॥

श्रीकृष्णचैतन्य-वाणी—अमृतेर धार।
तिंहो ये कहये वस्तु, सेइ 'तत्त्व' सार॥

(चै०च०म० २५/४८-५७)

जो ग्रन्थकर्त्ता अपना मत स्थापित करना चाहता है, वह फिर शास्त्रके सहज अर्थात् स्वाभाविक (वास्तविक) अर्थको ग्रहण नहीं करता। मीमांसक कहते हैं—ईश्वर कर्मोंका अङ्ग है। सांख्य-दर्शन कहता है—प्रकृति ही जगत्का मूलकारण है। न्याय-शास्त्र कहता है—परमाणुओंसे ही जगत्की उत्पत्ति है। मायावादी (शङ्कराचार्यके अनुयायी अद्वैतवादी) कहते हैं—निर्विशेष ब्रह्म ही इस जगत्का कारण है। पातञ्जल-दर्शनवादी कहते हैं—ज्ञान ही ईश्वरका स्वरूप है और वेद-उपनिषदका मत है कि स्वयं-भगवान् ही इस जगत्के मूलकारण हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल, मीमांसा और वेदान्त—इन छह मतोंका सुचारु रूपसे विचार करनेके पश्चात् श्रीव्यासदेवने ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्रोंको लिपिबद्ध किया है। वेदान्त-मतमें ब्रह्मको साकार निरूपण किया है। ब्रह्म निर्गुण नहीं हैं, किन्तु उनमें असंख्य अप्राकृत गुण होनेके कारण वे सगुण हैं। सांख्य मीमांसादि दर्शन-शास्त्रके कर्त्ताओंने श्रीभगवान्को परम कारण अर्थात् सर्वकारण नहीं माना है। प्रत्येक दर्शन-शास्त्रकर्त्ताने अपने-अपने व्यक्तिगत मतको स्थापित करनेकी चेष्टा की है और दूसरेके मतका खण्डन किया है। अतः छह दर्शनोंसे मूलतत्त्वका कु

वाणी तो अमृतकी धाराके समान निर्दोष एवं निर्मल है, अतः उन्होंने जो कु

सार यह है कि 'ब्रह्म जगत्का कारण है'—इस मतके अतिरिक्त सभी मत वेदविरुद्ध हैं, इसलिए अस्वीकार्य है॥१२॥

अवतरणिका भाष्य—पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पुनः आशङ्का करके समाधान करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथ प्रत्यक्षेण समन्वये विरोधमुद्भाव्य निराकर्त्तुं प्रयतते पुनराशक्ष्येत्यादिना। तर्केण विरोधो मास्तु प्रत्यक्षेण सोऽस्त्विति प्रत्युदाहरणमिह सङ्गतिः। जगदुपादाने ब्रह्मणि समन्वयो दर्शितः। तदुपादानञ्च तदभिन्नं मन्तव्यम्। तत्त्वञ्च प्रत्यक्षेण नायमीश्वर इत्येवंविधेन विरुद्धमतः समन्वयेऽपि प्रत्यक्षविरुद्धत्वमिति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इसके बाद प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा वेदान्त-वाक्यका ब्रह्ममें समन्वयका विरोध उद्भावित करके (उठा करके) उसके निराकरणके लिए 'पुनराशङ्क्य' इत्यादि ग्रन्थ (वाक्य) के द्वारा चेष्टा करते हैं। आपत्ति है—तर्कके साथ विरोध न हो, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा तो विरोध होगा, यह प्रत्युदाहरण सङ्गति यहाँ जानने योग्य है; जगत्के उपादान-कारण ब्रह्ममें समन्वय दिखाया है, जिससे जगत्के उपादान कारण ब्रह्मसे जगत्को अभिन्न मानना होगा। वास्तविक पक्षमें, जगत्का उपादान-कारण ईश्वर हो नहीं सकते, क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष रूपसे विरोध देखा जाता है। अतएव समन्वयमें भी प्रत्यक्ष विरोध मानना होगा।

सूत्र—भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्॥ १३॥

सूत्रार्थ—'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्'—यदि कहो, भोक्ता जीवके साथ ब्रह्मकी ऐक्यापत्ति अर्थात् शक्ति और शक्तिमान ब्रह्मका अभेद हो पड़ता है, इसमें श्रुति-सिद्ध जीवसे ब्रह्मके भेदका विलोप 'स्यात्'—हो सकता है, ऐसा नहीं है, 'लोकवत्'—लौकिक दृष्टान्तके द्वारा उसका परिहार होगा॥ १३॥

सूत्रानुवाद—भोक्ता और भोग्यादिका अपने कारणीभूत ब्रह्मसे अभेद रहनेपर भी परस्पर भेद व्यवहार अक्षुण्ण रहता है, जैसे कि लोकमें फेन एवं तरङ्गादिका अपने कारणीभूत समुद्रसे अभेद ही माना जाता है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—सूक्ष्मशक्तिकं ब्रह्मैवोपादानं तदेव स्थूलशक्तिकमुपादेयमिति मतम्। तदिदं युक्तं न वेति संशये इह भोक्त्रा जीवने सह ब्रह्मण ऐक्यापत्तेरविभागः शक्तेः शक्तिमद्ब्रह्माभेदापत्तेर्द्वा। सुपर्णा (श्वे॰ ४/६) जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमित्यादि (श्वे॰ ४/७) श्रुतिसिद्धभेदलोपस्ततो न युक्तमिति चेत् तत्परिहारः स्याल्लोकवत्। लोके यथा दण्डिनः पुरुषाभेदेऽप्यस्ति दण्डपुरुषयोः स्वरूपतो भेदस्तथा शक्तिमतो ब्रह्मणः शक्त्यभेदेऽपि शक्तिब्रह्मणोः सोऽस्तीति न कापि क्षतिः॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—वैदान्तिक-मत है—सूक्ष्मशक्तिसे सम्पन्न ब्रह्म ही जगत्के उपादान-कारण हैं और वे ब्रह्म ही स्थूलशक्तिसे विशिष्ट होकर उपादेय हैं। यह मत युक्तियुक्त है कि नहीं? इस प्रकारके सन्देहपर

पूर्वपक्षी कहते हैं—इस प्रकारकी शङ्का होनेपर सुख-दुःखादि भोक्ता जीवके साथ ब्रह्मका ऐक्य हो पड़ता है, इसलिए अविभाग अर्थात् श्रुतिसिद्ध भेदका लोप हो जाता है। अतः ब्रह्मकी उपादानकारणता युक्तियुक्त नहीं है। बात यह है कि शक्ति अर्थात् जीवशक्तिका शक्तिमान ब्रह्मके साथ अभेद (अभिन्न) हो पड़ता है और फिर *'द्वा सुपर्णा'* (श्वे॰ ४/६) इत्यादि श्रुतिमें दोनोंका भेद कहा गया है। *'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्'* (श्वे॰ ४/७)—जिस समय देखते हैं कि एक जन है, जो फल भोग कर रहा है और एक है, जो शोभा पा रहा है, ये ईश्वर हैं—इत्यादि श्रुतिसिद्ध भेदका लोप हो जाता है। अतएव ब्रह्मकी उपादानता युक्तियुक्त नहीं है। पूर्वपक्षी यदि इस प्रकार आपत्ति करते हैं, तो उसका परिहार लौकिक दृष्टान्तसे किया जा रहा है। देखा जाता है कि दण्डधारी पुरुष कहनेपर दण्ड और पुरुषका प्रभेद न रहनेपर भी दण्ड एवं पुरुषका स्वरूपतः भेद है, इसी प्रकार शक्तिमान ब्रह्मका शक्तिस्वरूप जीवके साथ अभेद होनेपर भी शक्ति एवं शक्तिमान ब्रह्मका स्वरूपतः भेद है, इसलिए यह आपत्ति निरर्थक है॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—भोक्त्रेति। भोक्त्रा जीवेनेति। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीत्यादि श्रवणात् भोक्तृत्वं जीवस्य व्याख्यातम्। शक्तिमद्ब्रह्माभेदापत्तेरित्यत्र क्षीरनीरादिवत् विमिश्रणादित्याशयः। सोऽस्तीति। सः स्वरूपतो भेदोऽस्तीत्यर्थः। क्षतिर्दूषणम्॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार—भोक्तृत्यादि सूत्र है। भोक्त्राजीवनेत्यादि भाष्य है। *'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति'* उनमेंसे एकजन स्वादु (स्वादिष्ट) अश्वत्थ फलका भोग करता है—यह भोक्ता पदकी व्याख्या हुई। *'शक्तिमद् ब्रह्माभेदापत्तेः'* जलमें दूध मिला देनेसे जिस प्रकार दोनोंमें अभेद प्रतीत होता है, उसी प्रकार यहाँ शक्तिभूत जीवसे शक्तिमद् ब्रह्मका अभेद प्रतीत होता है—दोनोंके मिश्रणके कारण ऐसा होता है—यह अभिप्राय है। *'शक्ति ब्रह्मणोः सोऽस्ति—सः'* अर्थात् स्वरूपतः दोनोंका भेद है। न क्षतिः—क्षति शब्दका अर्थ दोष है। भेद स्वीकार करनेमें कोई क्षति नहीं है॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः ब्रह्मकी जगदुपादानकारणता विषयमें आशङ्का उठाकर समाधान कर रहे हैं। प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि यदि कोई पूर्वपक्ष करता है कि भोक्ता जीवके साथ ब्रह्मका ऐक्य होनेपर अविभाग अर्थात् जीव और ब्रह्मका अभेदभाव आ पड़ता है, जिससे श्रुतिसिद्ध भेदका लोप होता है। इस पूर्वपक्षका समाधान बता रहे हैं कि यह युक्तियुक्त नहीं है, कारण लौकिक दृष्टान्तमें देखा जाता है कि दण्डीका अर्थात् दण्डधारी पुरुषसे अभेद होनेपर भी दण्ड और पुरुषका स्वरूपतः भेद है। इसी प्रकार शक्तिमान ब्रह्मका जीवशक्तिके साथ अभेद होनेपर भी जीवशक्ति और शक्तिमान ब्रह्मका स्वरूपतः भेद है ही, इसमें कोई क्षति अथवा दोष नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः।
यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिः परः पुमान्।
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च॥

(श्रीमद्भा॰ २/४/७)

अर्थात् परमपुरुष श्रीहरि किस प्रकार अपनी अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा, तटस्था नामकी किन-किन शक्तियोंके द्वारा इस जगत्की रक्षा करते हैं और पुनः संहारकर उसे अपने आपमें ही लीन कर लेते हैं। वे क्रीड़ा करनेवाले पुरुष किस प्रकार स्वयंसे ही क्रीड़ा करते हैं, किस प्रकार मायाशक्तिके साथ खेलते हैं, किस प्रकार स्वयंको ही महत्-अहङ्कारादि रूपमें सृजन करते हैं, (सर्गविषयक प्रश्न) किस प्रकार ब्रह्मा, मरीचि आदि देवतारूपमें लीलाके छलसे स्वयंको देव, तिर्यक्, नर आदि रूपमें सृजन करते हैं (विसर्गविषयक प्रश्न), मैं यह सब जानना चाहता हूँ, आप इन सबका वर्णन कीजिये।

और भी,

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्य पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः॥
त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः॥

त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्व्वक्षेत्रविकारवित्॥
(श्रीमद्भा० १०/१०/२९-३१)

अर्थात् यमलार्जुन वृक्षोंसे निकले दो सिद्धपुरुषोंने कहा—हे श्रीकृष्ण! हे परम योगेश्वर श्रीकृष्ण! आपका प्रभाव अचिन्त्य है, आप परमपुरुष एवं जगत्के मूल निमित्त एवं उपादान कारण हैं। ब्रह्मविद्जन इस व्यक्त-अव्यक्त जगत्को आपके ही स्वरूपमें देखते हैं। हे भगवान्! सभी प्राणियोंकी देह, प्राण, अहङ्कार एवं इन्द्रियोंके नियन्ता एकमात्र आप ही हैं। आप ही सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और अविनाशी ईश्वरस्वरूप हैं। आप ही काल एवं त्रिगुणात्मिका सूक्ष्म प्रकृति हैं। आप ही महत्-तत्त्व हैं। आप ही अन्तर्यामी होनेसे समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणके ज्ञाता एवं पुरुषस्वरूप हैं। आप ही समस्त स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंके कर्म, विकार, भाव, धर्म और सत्ताको जाननेवाले सबके साक्षी परमात्मा हैं।

सुख-दुःख-भोक्तृत्व तो पुण्य पापात्मक कर्मके कारण है, अतः ब्रह्ममें उसका प्रसङ्ग ही नहीं आता। ब्रह्ममें कर्म सम्बन्धकी गन्धका लेशमात्र भी नहीं है, निष्पाप परमात्मा स्थूल सूक्ष्म समस्त जगत्रूप शरीरवाले होकर भी कर्मबद्ध न होनेसे जागतिक हेय तत्त्वोंसे सदा अस्पृष्ट ही रहते हैं॥१३॥

अवतरणिका भाष्य—जगतो ब्रह्माभेदमङ्गीकृत्य ब्रह्मणस्तदुपादानत्वं निरूपितमसदिति चेन्नेत्यादिना तमेवाक्षिप्य समाधातुमिदानीं प्रवर्त्तते। तत्रोपादेयं जगदुपादानात् ब्रह्मणो भिन्नमभिन्नं वेति वीक्षायां मृत्पिण्ड उपादानं घट उपादेयम् इति धीभेदात् उपादानमुपादेयमिति शब्दभेदात् मृत्पिण्डेन घटाय प्रवर्त्तते घटेन तु जलमानयतीति प्रवृत्तिभेदात् पिण्डाकारम् उपादानं कम्बुग्रावाद्याकारं उपादेयमित्याकारभेदात् पूर्वकालमुपादानमुत्तरकालमुपादेयमिति कालभेदाच्च भिन्नमेवोपादानादुपादेयम्। इतरथा कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसङ्गात् उपादानमेव चेदुपादेयं कृतं तर्हि तद्व्यापारेण च सतोऽप्युपादेयस्याभिव्यक्तये तेन न भाव्यं क्षोदाक्षमत्वात्। तथाहि कारकव्यापारात् प्राक् सा सती असती वा। नाद्यः तद्व्यापारवैयर्थ्यात् नित्योपलब्धिप्रसङ्गाच्चोपादेयस्य। ततश्च नित्यानित्यविभागो विलुप्येत। तथाभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यन्तरेऽङ्गीकृतेऽनवस्था। न चान्त्यः असत्कार्यतापत्तेः। तस्मादसत उपादेयस्योत्पत्तिहेतुत्वे नार्थवत्त्वं व्यापारस्येत्यसत्त्वादेवोपादानात् भिन्नमुपादेयमिति वैशेषिकादिनयात् पूर्वपक्षे प्राप्ते परिहरति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—ब्रह्मके साथ जगत्का अभेद स्वीकार करके ब्रह्मको जगत्का उपादान निरूपित किया गया है। इसमें आपत्ति यह है कि *'चेन्नेत्यादि'* इस वाक्यसे ब्रह्म भी असत् हो जाता है। इस अभेदरूप प्रतिवाद आक्षेपका समाधान करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत हो रहे हैं। सन्देह है—उपादेय जगत् उपादान ब्रह्मसे भिन्न है अथवा अभिन्न? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—जिस प्रकार घटका उपादान मृत्-पिण्ड है एवं घट उपादेय है, उसी प्रकार ऐसी बुद्धिके द्वारा प्रतीति भेद होनेके कारण तथा उपादान और उपादेय दोनों शब्दोंमें भेद होनेके कारण कु
लिए प्रवृत्त होता है और फिर घट द्वारा जल भर लाता है। इस प्रकारके विभिन्न कार्य होनेपर भी पुनः उपादानका पिण्डवत् आकार रहता है और उपादेय घटका कम्बके समान ग्रीवादि विशिष्ट आकार रहता है। इस रीतिसे दोनोंके आकारमें भेद रहता है। मात्र इतना ही नहीं, उपादान पूर्वकालवर्त्ती होता है एवं उपादेय परकालवर्त्ती होता है। इस प्रकार कालभेदके कारण भी उपादानसे उपादेयको भिन्न रूपसे कहा जाता है! ये सब भेद स्वीकार न करनेपर कर्त्ताका (कारकका) व्यापार व्यर्थ हो जाता है। अभिप्राय यह है कि यदि उपादान ही स्वयं उपादेय-स्वरूप हो तो उपादेयके लिए कर्त्ताकी चेष्टा व्यर्थ है। यदि कहो, उपादान रूपसे पूर्वमें वर्त्तमान सत्स्वरूप रहनेपर भी उसकी अभिव्यक्तिके लिए कर्त्तृव्यापार आवश्यक है, यह भी कहा नहीं जाता क्योंकि वह विचारसह (विचारपूर्वक) नहीं है। किस प्रकारसे, वह भी बताते हैं कि यह जो अभिव्यक्ति है, वह नित्य है या अनित्य है। यह नित्य है—ऐसा कहा नहीं जा सकता क्योंकि ऐसा होनेपर कर्त्ता-व्यापार अर्थात् कु
होती है, इसके अतिरिक्त कार्य (उपादेय) की उपलब्धि सदाके लिए हो सकती है तथा नित्य-अनित्यका विभाग भी लुप्त हो सकता है। और भी, अभिव्यक्तिकी पुनराभिव्यक्तिके लिए कर्त्तृव्यापार स्वीकार करनेपर अनवस्था दोष होता है, फिर यदि कहें, अभिव्यक्ति अनित्य है, यह भी कहा नहीं जा सकता, कारण इसमें असत्-कार्यतावाद हो पड़ता है। अतएव उपादेय असत् है। इस असत्की उत्पत्तिके

हेतु कर्त्तृव्यापार स्वीकार करनेमें कर्त्तृव्यापार सम्बन्धित वाक्य सार्थक नहीं होता। अतएव उपादेयकी असत्ता होनेसे सत् उपादानसे असत् उपादेय भिन्न है—यह न्याय-वैशेषिक-मत है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर उसका परिहार करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—जगत इति। पूर्वोक्तं कार्यकारणयोरभेदमाक्षिप्य समादधातीत्याक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। तदुपादानत्वं जगदुपादानत्वम्। तमेव कार्यकारणभेदम्। कारकेति। दण्डचक्रादि कु
सेत्यभिव्यक्तिः। नित्योपेति कार्यनित्यतापत्तेश्चेत्यर्थः। न चान्त्य इति। अन्त्यः अभिव्यक्तिरसतीति पक्षः। वैशेषिकादीत्यादिपदात् नैयायिको ग्राह्यः। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'जगतो ब्रह्म भेदभङ्गी कृत्येत्यादि'*—पूर्वमें कथित कार्य और कारणका अभेद होनेपर कार्यके समान कारण भी असत् हो जाता है, इस आक्षेपको लेकर सूत्रकार समाधान करते हैं। इस प्रकार इस अधिकरणमें आक्षेप सङ्गतिको जानना चाहिये। *'ब्रह्मणस्तुपादानत्वमिति'* से तात्पर्य है—जगत्की उपादानकारणता *'तमेव आक्षिप्ययेति'* में 'तमेव' का अर्थ है उस कार्य कारणके अभेदको। *'इतरथाकारक व्यापारवैयर्थ्य प्रसङ्गादिति'*—कारक अर्थात् घट कार्यके लिए दण्ड, चक, कु *'कृतं तर्हि तद्व्यापारेण च'*—कृतं-व्यर्थ अर्थात् कारक व्यापार व्यर्थ हैं, क्योंकि कार्य पहलेसे ही सिद्ध है। *'सतोऽप्युपादेयस्याभिव्यक्तये तेन न भाव्यमिति'*—तेन-उसके द्वारा कारक व्यापार प्रयोजन—यह भी नहीं है। प्राक् सा—पूर्वमें वह अर्थात् वह अभिव्यक्ति। *'नित्योपलब्धि प्रसङ्गादिति'*—नित्योपलब्धि—अर्थात् कार्यकी नित्यतारूप आपत्तिके कारणवश भी। *'न चान्त्य'* इति अन्त्यः अर्थात् अभिव्यक्ति असती-मिथ्याभूता है, यह पक्ष भी। *'उपादानाद्भिन्नमुपादेयमिति'*—वैशेषिकादि इत्यादि, आदि पद द्वारा नैयायिकों भी जानना चाहिये। एवं प्राप्ते—इस प्रकार पूर्वपक्ष दृढ़ होनेपर।

८—तदनन्यत्वारम्भणाधिकरणम्

सूत्र—तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—'तदनन्यत्वम्'—इस जीवशक्ति और प्रकृतिशक्ति युक्त जगत्के उपादानभूत ब्रह्मसे उपादेय जगत् अभिन्न है, किस कारणसे? उत्तर

—'आरम्भशब्दादिभ्यः'—आरम्भण शब्द जिनके आदिमें स्थित है, इस प्रकार वाक्य समुदाय अर्थात् 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा॰ ६/१/४) इत्यादि श्रुतिवाक्यसे॥ १४॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मके साथ जगत्के अभेदके प्रतिपादक 'आरम्भण' आदि शब्दोंके प्रयोगसे ज्ञात होता है कि परमकारण ब्रह्मसे यह जगत् अभिन्न है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—तस्मात् जीवप्रकृतिशक्तियुक्तात् जगदुपादानात् ब्रह्मणः अनन्य–देवोपादेयं जगत्। कु
वाक्येभ्यः। *'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'* (छा॰ ६/१/४)। *'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं* (छा॰ ६/२/३) *तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'* (छा॰ ६/२/३) *'सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः'* (छा॰ ६/८/४) *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* (छा॰ ६/८/७) इत्येवंविधानि छान्दोग्ये वाक्यानि सान्तराण्यप्यत्र विवक्षितानि। तानि हि चिज्जडात्मकस्य जगतस्तद्युक्तात् परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वं वदन्ति। तथाहि कृत्स्नं जगत् तादृग्ब्रह्मोपादानकमतो ब्रह्माभिमिति हृदि विनिश्चित्योपादानभूतब्रह्मविज्ञानेनोपादेयस्य जगतः कृत्स्नस्य विज्ञानं भवतीत्याचार्यः प्रतिजज्ञे। *'स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवति'* (छा॰ ६/१/२–३) इत्यादिना। तदाशयमविदुषा शिष्येणान्यज्ञानादन्यज्ञानं न सम्भवतीति विमृश्य *'कथं नु भगवः स आदेश'* (छा॰ ६/१/३) इति परिपृष्टः स जगतो ब्रह्मोपादानकतां वदिष्यन् लोकप्रतीतिसिद्धमुपादेयस्योपादानाभेदं दर्शयति *'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन'* इत्यादिना। एकस्मादेव मृत्पिण्डोपादानात् जातं घटादि सर्वं तेनैव विज्ञातेन विज्ञातं स्यात् तस्य ततोऽनतिरेकात्। एवमादेशो ब्रह्मणि सर्वोपादाने विज्ञाते तदुपादेयं कृत्स्नं जगत् विज्ञातं भवति इति तत्रार्थः। ननु धीशब्दादिभेदादुपादेयमुपादानादन्यत् स्यादिति चेत् तत्राह वाचारम्भणमिति (छा॰ ६/१/४)। आरभ्यत इत्यारम्भणं कर्मणि ल्युट् *'कृत्यल्युटो बहुलम्'* (पा॰सू॰ ३/३/११३) इति स्मरणात्। मृत्पिण्डस्य कम्बुग्रीवादिरूपसंस्थान–सम्बन्धे सति विकार इति नामधेयमारब्धं व्यवहर्त्तृभिः। किमर्थं तत्राह वाचेति। (छा॰ ६/१/४) वाचा वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुना। फलहेतुत्वविवक्षया तृतीया। घटेन जलमानयेत्यादिवाक्पूर्वकव्यवहारसिद्ध्यर्थं मृद्द्रव्यमेव ज्ञानसंस्थानविशेषं सत् घटादिनामभाग् भवति। तस्य घटाद्यवस्थस्यापि मृत्तिकेत्येव नामधेयं सत्यं प्रामाणिकम्। ततश्च घटाद्यपि मृद्द्रव्यमित्येव सत्यं न तु द्रव्यान्तरमिति। अतस्तस्यैव मृद्द्रव्यस्य संस्थानान्तरयोगमात्रेण धीशब्दान्तरादि सम्भवति। यथैकस्यैव चैत्रस्यावस्थाविशेषसम्बन्धाद् बालयुवादिधी–शब्दान्तरादि मृदाद्युपादाने तादात्म्येन सदेव

घटादि दण्डादिना निमित्तेनाभिव्यज्यते न त्वसदुत्पद्यत इत्यभिन्नमेवोपादेयमुपादानात्। भेदे किलोन्मानद्वैगुण्यापत्तिः। मृत्पिण्डस्य गुरुत्वमेकं घटादेश्चैकमिति तुलारोहे द्विगुणं तत् स्यात्। एवमन्यच्च। न तु शुक्तिरूप्यादिवद्विवर्त्तो न च शुक्तेः सकाशात् स्वतोऽन्यत्र सिद्धं रूप्यमिव भिन्नमित्येवकारात्। एवमिति शब्दानर्थक्यं कष्टकल्पनञ्च निरस्तम्। न चाभिव्यक्तिपक्षस्य निर्मूलत्वं शक्यं वक्तु *'कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसावृतम्। अभिव्यनग् जगदिदं स्वयंरोचिः स्वरोचिषा'* (श्रीमद्भा० ७/३/२६) इत्यादि प्रमाणसिद्धेः। न च सिद्धसाधनताऽनवस्था वा दोषः। कारकव्यापारात् पूर्वमभिव्यक्तेः सत्त्वानङ्गीकारात् अभिव्यक्त्यन्तरानङ्गीकाराच्च। नन्वेवमसत्कार्यतापत्तिः पूर्वमसत्यास्तस्यास्तद्व्यापारेणोत्पाद्यमानत्वादिति चेन्मैवं तस्याः कार्यत्वाभावात्। स्वतन्त्राभिव्यक्तिमत्वं किल कार्यत्वं तच्च तस्यां नास्ति। आश्रयाभिव्यक्त्यैव तत्सिद्धेः। तद्व्यापारेण संस्थानयोगरूपाभिव्यक्तिर्नियताभिव्यङ्ग्येति प्रकृते न किञ्चिदवद्यम्। यत्तु असतः कार्यस्योत्पत्तिरिति वदन्ति तन्मन्दं क्षोदाक्षमत्वात्। तथाहि व्यापारात् प्रागसच्चेत् कार्यं तर्हि सर्वस्मात् सर्वमुत्पद्येत। सर्वत्र सर्वाभावसौलभ्यात्। तिलेभ्यस्तैलमिव क्षीरादिकमप्युत्पन्नं स्यात्। अकर्तृका चोत्पत्तिः कार्यस्यासत्त्वात्। न च कारणनिष्ठा शक्तिरेव कार्यं नियच्छेदिति वाच्यम् असता सहासम्बन्धात्। किञ्चोत्पत्तिरुत्पद्यते न वा। आद्येऽनवस्था अन्तेऽप्यसत्त्वान्नित्यत्वाद्वानुत्पत्तिरिति पक्षद्वयमसाधु। सर्वदा कार्यानुपलम्भोपलम्भप्रसङ्गात्। ननूत्पत्तेः स्वयमुत्पत्तिरूपत्वात् किमुत्पत्त्यन्तरकल्पनयेति चेत् *'सममेतदभिव्यक्तौ'* इति हि वक्तव्यम्॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'तदनन्यत्वमित्यादि-तस्माद् इत्यादिं-तस्माद् अनन्यत्वम्'*—इस विग्रह द्वारा *'तदनन्यत्वम्'* यह पद सिद्ध हुआ है। इसका अर्थ है—*'तस्मात्'*—इस जीवशक्तिका और प्रकृतिशक्तियुक्त जगत्के उपादान कारणभूत ब्रह्मसे उपादेय जगत् अभिन्न है। कारण *'आरम्भण शब्दादिभ्यः'*—*'आरम्भण'*—जिसके आदिमें आरम्भण इत्यादि शब्द हैं, उस प्रकारके वाक्योंसे यही अवगत होता है। ये वाक्य हैं—*'वाचारम्भणं विकारो नाम धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'* (छा० ६/१/४), *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* (छा० ६/२/१), *'एकमेवाद्वितीयम्'* (छा० ६/२/१), *'तदैक्षत बहुस्यांप्रजायेय'* (छा० ६/२/३), *'सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः'* (छा० ६/८/४) *'एतदात्म्यमिदं सर्वम्'* (छा० ६/८/७) इत्यादि छान्दोग्योपनिषदसे उद्धृत वाक्य सान्तर अर्थात् व्यवहित (पृथक्-पृथक्) रूपमें विच्छिन्न (अलग-अलग) स्थलपर स्थित हैं। यहाँ ये वाक्य प्रमाण रूपमें विवक्षित (कहे जाते) हैं। सभी वाक्य चित् एवं जड़मय जगत्का चिज्जड़शक्तियुक्त परम पुरुषसे अभिन्नत्व प्रकाश

करते हैं। किस रूपमें, वही दिग्दर्शन करते हैं—चिज्जड़ात्मक समग्र जगत् जीवशक्ति और प्रकृति शक्तियुक्त ब्रह्मरूप उपादानसे उत्पन्न है, अतएव यह ब्रह्मसे अभिन्न है। इसका हृदयमें विशेष रूपसे निश्चय करके आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं, *'एतस्यैव विज्ञानेन सर्वं विज्ञातम् भवति'* अर्थात् उन (उपादानभूत) ब्रह्मको जान लेनेपर विज्ञान द्वारा (उपादेय) समस्त जगत्का विज्ञान हो जाता है। गुरु उद्दालकने पुत्र (शिष्य) श्वेतकेतुसे कहा, वत्स! तुम गर्वित हो रहे हो इसलिए मुझसे प्रश्न किया है कि वह ब्रह्मोपदेश क्या है? अर्थात् जिसके विषयमें सुननेपर अश्रुत पदार्थ भी श्रुत, अचिन्त्य विषय चिन्त्य और अविज्ञात विषय भी ज्ञात हो जाता है—वह ब्रह्म है क्या? अभिप्राय यह है कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेपर भी यह प्रश्न किया क्यों? अतः तुम व्यर्थ ही ब्रह्मज्ञताके अभिमानका पोषण कर रहे हो। बात यह है कि पिताका अभिप्राय न जानकर ही पुत्रने मनमें सोचा 'अन्य ज्ञानसे अन्य ज्ञान हो नहीं सकता' और यह विचार करके प्रश्न किया *'कथं नु भगवः स आदेशः'* भगवन् (आपका) वह उपदेश किस प्रकारसे सङ्गत होगा? पुत्र द्वारा इस प्रकार जिज्ञासा किये जानेपर उद्दालकने जगत्का उपादान कारण ब्रह्म है—यह प्रतिपादन किया और यह कहकर लौकिकप्रतीतिसे सिद्ध उपादानसे उपादेयका अभेद दिखाया—*'यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन'* इत्यादि। वत्स! जिस प्रकार एक मृत्-पिण्ड ज्ञात होनेपर मिट्टीके समस्त कार्य घटादिका ज्ञान हो जाता है, एक मृत्-पिण्ड रूप उपादानसे उत्पन्न घट इत्यादि समस्त वस्तुएँ उस दृष्टान्तके द्वारा ज्ञात हो जाती हैं (कि घटादिक मृतिकासे पृथक् वस्तु नहीं है)। उपादानके साथ उपादेयकी अभिन्नता है। इस प्रकारके उपदेशके द्वारा समस्तके उपादानभूत ब्रह्मके विज्ञात होनेपर उसके उपादेयरूप समस्त जगत्का जानना हो जाता है। यही इस प्रबन्धका तात्पर्य है। प्रश्न यह है कि उपादान और उपादेयके प्रतीति-भेद और वाचक शब्द इत्यादिमें भेद रहनेसे दोनोंका ऐक्य किस प्रकारसे सम्भव होगा? यह यदि कहते हो, तो कहते हैं—*'वाचारम्भण'* इत्यादि (छा॰ ६/१/४) *'आरम्भण'* अर्थात् समवेत कार्य। आरभ्यते—जो आरम्भ किया जाता हैं, इस अर्थमें कर्मवाचक आ पूर्वक 'रभ्'

धातुके 'णिच्' प्रत्ययमें *'कृतल्युटो बहुलम्'* (पा॰सू॰ ३/३/१/३) *'तव्य अनीय यत्ण्यत्क्यप्'*—ये कृत्य प्रत्यय एवं ल्युट् (अन) प्रत्यय बहुलताके कारण समस्त वाच्यों (कारकों) में ही होते हैं, इसलिए यहाँ आरम्भणं शब्द कर्मवाच्य ल्युट् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है। ये आरम्भण अर्थात् घटादि कार्य विकार हैं। मृत्-पिण्डके कम्बुके समान ग्रीवादि अवयवसंस्थान होनेपर व्यवहारकारी व्यवहारसिद्धिके लिए उसे घटादिके विकारके नामसे व्यवहार करते हैं। किस प्रकार करते हैं? इसपर उत्तर देते हैं—वाचा—वाक् व्यवहारके लिए अर्थात् भाषामें प्रयोगके लिए, उस विकारका फल भाषामें प्रयोग है—इस अर्थमें *'फलमपीह हेतुः'* फल भी कभी हेतुके (तृतीया) रूपमें प्रयुक्त होता है यथा *'अध्ययनेन वसति'*—अध्ययनके लिए वास करता है—यहाँ वासका फल अध्ययन है, किन्तु विवक्षाधीन (कहनेके लिए) उसे भी हेतु रूपमें कहा है अर्थात् फल हेतुत्वकी विवक्षासे तृतीया है, इस प्रकार वाच्य पद वाचामें तृतीया है। दृष्टान्त है—जिस प्रकार *'घटेन जलमानय'*—'कलशसे जल लाओ' इत्यादि वाक्यका प्रयोग होनेपर व्यवहारकी सिद्धिके लिए मृत्तिका द्रव्य ही अवयव संस्थान विशेष होकर घटादि नाम धारण करता है। उसी मृत्तिकाद्रव्यकी घटादि अवस्था होनेपर मृत्तिका नाम ही सत्य अर्थात् प्रमाणसिद्ध है। ऐसा होनेपर घटादि और मृत्तिका एक ही द्रव्य हैं—यह भी सत्य है। मृत्तिकासे घट अन्य द्रव्य (वस्तु) नहीं है। इसलिए इस मृत्तिका द्रव्यके अन्य अवयव योजना (योग) के कारण घट इत्यादि शब्दान्तरादिक अर्थात् विभिन्न शब्द (नाम) होते हैं और घटके रूपमें भिन्न ज्ञान जन्म लेता है।

जिस प्रकार एक ही चैत्र नामक व्यक्तिके बाल्यादि अथवा दरिद्रता आदि अवस्था-विशेषके कारण बालक, युवा, धनी दरिद्रादि संज्ञा-भेद (शब्द-नाम-भेद) एवं प्रतीति-भेद होते हैं, ठीक उसी प्रकार मृत्तिका अवस्था भेदसे घटादि संज्ञा (नामों) को प्राप्त होती है। मृत्तिका इत्यादि उपादान कारणमें पहलेसे ही तादात्म्य रूपमें घटादि अवस्थित हैं, दण्ड, कलाल इत्यादि निमित्त कारणके व्यापार द्वारा आकृति-विशेष विशिष्ट ये घटादि अभिव्यक्त हो जाते हैं, इससे भिन्न असत् घट

उत्पन्न नहीं होता। (घट यदि अवस्थित नहीं होता, तो वह उत्पन्न नहीं होता।) अतः उपादान-कारणसे उपादेय कार्य अभिन्न है। यदि दोनोंमें भेद रहता तब, तुलादण्डमें वजन करनेपर उपादानसे कार्य (उपादेय) का मान द्विगुणित हो सकता था, किस प्रकारसे? बतलाते हैं कि मृत्-पिण्डका गुरुत्व परिमाण जो है, घटका गुरुत्व परिमाण भी वही होता है। यदि उनमें पार्थक्य होता, तो तुलादण्डमें चढ़ानेपर मृत्तिकासे घटका परिमाण दुगुना होता, किन्तु ऐसा नहीं है। पुनः शुक्तिमें रजतका जिस प्रकारसे भ्रम होता है, उस प्रकारसे उपादानमें उपादेयका भ्रमात्मक विवर्त्त कहा नहीं जा सकता, क्योंकि शुक्तिके निकटसे अन्यत्र हट्ट (बाजार) इत्यादिमें स्थित रौप्यादि (रजतादि) के समान शुक्तिमें अध्यस्त (किसी वस्तुको अन्य वस्तु समझना) रौप्य भिन्न है। वहाँ वह शुक्ति ही है—यह *'मृत्तिकेत्येव नामधेयं सत्यम्'* (मृत्तिका ही सत्य पदार्थ है) वाक्यके 'एव' शब्द द्वारा जाना जाता है। *'एवमादेश ब्रह्माणि'* (इस प्रकारके आदेश द्वारा ब्रह्मके जाननेपर) इत्यादि वाक्यमें 'एवम्' पदके प्रयोगके द्वारा शब्दकी अनर्थकता और कष्टकल्पना निरस्त हो जाती हैं। बात यह है—यदि उपादान और उपादेयको एक मानते हैं, तो घटादि शब्दकी अनर्थकता और कष्ट कल्पना अर्थात् मिथ्यादि पद—अध्याहार (अनुमान) हैं, यह भी नहीं है, क्योंकि मृत्तिकादि सत्य हैं। मृत्तिकाके ज्ञानसे ही समस्त मृत्-कार्य ज्ञात हो जाते हैं—इसी प्रकार ब्रह्मके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये। यदि कहो, ब्रह्मसे जगत् उत्पन्न होता है—इस कथनसे असत्कार्यवाद हो जायेगा, तो यह भी नहीं हैं। यहाँ उत्पत्ति शब्दका अर्थ अभिव्यक्ति है। यदि कहो, अभिव्यक्ति पक्षमें अप्रामाणिकता (निर्मूलता) है, तो यह भी नहीं कह सकते हो, इसका प्रमाण है। यथा श्रीमद्भागवतमें *'कल्पान्ते-कालसृष्टेनेत्यादि'* (श्रीमद्भा० ७/३/२६) युगावसानमें (कल्पान्तमें) भगवान् श्रीहरि कालसृष्ट घोर अन्धतमसाच्छन्न इस जगत्‌को स्वप्रकाश निजशक्ति द्वारा अभिव्यक्त करते हैं, यह कथन ही अभिव्यक्ति पक्षमें प्रमाण है। किन्तु विवर्त्तवाद सङ्गत नहीं है, क्योंकि इसमें तुम्हारी मिथ्याभूत द्वैतापत्ति होती है। यदि कहो अभिव्यक्तिवादमें सिद्ध-साधनता (अथवा अनवस्था) दोष हो सकता

है अर्थात् जो पहलेसे सिद्ध है, उसकी साधना क्या करनी है? इस प्रकार उसका साधनतारूप दोष हो सकता है और अभिव्यक्तिकी सत्ता और असत्ताके सम्बन्धमें विकल्प (कौन-सा युक्तियुक्त है) को लेकर अनवस्थापत्ति दोष हो सकता है, पर वैसा है नहीं। जनक अर्थात् कु
अभिव्यक्तिकी सत्ताको और अन्य किसी अभिव्यक्तिको स्वीकार नहीं किया गया है अर्थात् कार्यके कारणमें सत्ता चाहे हो, किन्तु कार्यकी अभिव्यक्ति दण्ड, कु
तात्पर्य है। अभिव्यक्तिकी पुनः (और) अभिव्यक्ति भी स्वीकार नहीं की गयी है। इस कारण अनवस्था दोष नहीं है! पूर्वपक्षका प्रश्न है कि अभिव्यक्ति पहले नहीं थी, तब तो असत्कार्यवादकी आपत्ति आ सकती है, क्योंकि पहले अविद्यमान (असत्) अभिव्यक्तिके निमित्त कारण कु
भी नहीं है क्योंकि अभिव्यक्तिका (जगत्का) कार्यत्व नहीं है, जिससे असत् कार्यकी उत्पत्तिका दोष घटे। कार्यका लक्षण है, जिसकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति अर्थात् अन्य निरपेक्ष अभिव्यक्ति हो, वह कार्य है। घट कार्य है क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति स्वतन्त्र कार्य नहीं है, अभिव्यक्ति आश्रयकी अभिव्यक्तिके अधीन है। आश्रयकी अभिव्यक्तिके द्वारा जगत्की अभिव्यक्ति सिद्ध होती है। देखो आश्रयगत व्यापार द्वारा संस्थान योगरूप अभिव्यक्ति नियमानुसार ही व्यक्त होती है, अतएव प्रकान्त स्थलमें (प्रकरणगत प्रस्तावमें) कोई भी असामञ्जस्य (दोष) नहीं है। और जो कहते हैं कि असत्-से कार्यकी उत्पत्ति होती है, तो यह तो मन्द (तुच्छ) बुद्धिवाली बात है, वह विचारके योग्य नहीं है। कैसे? वही बताते हैं—कर्त्ता—व्यापारके पहले यदि असत् ही कार्य है तो समस्त वस्तुओंसे समस्त वस्तुओंकी उत्पत्ति होगी। समस्त कारणोंमें ही समस्त कार्योंका अभाव रहनेसे तिलसे तेलके समान दूध भी उससे उत्पन्न होगा। अर्थात् जिस किसी कारणसे जिस किसी कार्यकी उत्पत्ति होगी। और भी एक दोषकी आपत्ति है—कार्य यदि असत् है तो *'घटो जायते'* घट उत्पन्न होता है—इस कथनमें घटकी उत्पत्ति क्रियाके कर्त्तृत्वसे अवगत हुआ जाता है,

जो कि तुम्हारे मतमें असङ्गत है, क्योंकि कर्त्ताहीन (बिना कर्त्ताके) उत्पत्ति होती नहीं। यहाँ कार्य असत् है, तो किस प्रकार उसकी उत्पत्ति होगी? कार्यके असत्वमें उत्पत्ति मिथ्या हो जाती है। यदि कहो, कारण निष्ठाशक्ति ही कार्यको नियमित (उत्पादित) करेगी, तो यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि असत् पदार्थके साथ कारण शक्तिका सम्बन्ध असम्भव है और एक बात है, उत्पत्तिसे उत्पत्ति है कि नहीं? अर्थात् उत्पत्ति कार्य है कि नहीं? यदि कहते हो कि उत्पत्तिकी उत्पत्ति होती है तो अनवस्था दोष होता है। यदि कहते हो कि उत्पत्तिकी उत्पत्ति नहीं है तो उत्पत्तिके असत्त्व (अनित्यत्व) का परिहार (खण्डन) नहीं होता। असत्वके कारण अनुत्पत्ति स्वीकार करनेपर समस्त काल ही घटादि कार्यकी उपलब्धि नहीं होगी और यदि कहते हो कि उत्पत्तिकी उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि उत्पत्तिका नित्यत्व है, तो यह स्वीकार करनेपर तो घटादि कार्यकी सभी समय उपलब्धिका प्रसङ्ग आता है, पर ऐसा होता नहीं है, दोनों पक्ष ही दोषग्रस्त हैं। प्रथम पक्षमें कार्यकी सर्वदा अनुपलब्धि है, द्वितीय पक्षमें कार्यकी सर्वदा उपलब्धिकी प्रसक्ति (प्रसङ्ग) है जो दोषका हेतु है। पुनः आपत्ति है—उत्पत्ति स्वयं ही उत्पत्तिस्वरूप है, तो फिर दूसरी उत्पत्तिकी कल्पना ही क्यों? ऐसा कहनेपर कहेंगे—यह उत्पत्तिवाद भी अभिव्यक्तिवादके समान दोषयुक्त है यह माना जा सकता है॥१४॥

सूक्ष्मा-टीका—तदनन्येति। तस्मादिति। अनन्यदभिन्नम्। वाचेति। हेतुत्वविवक्षया फले तृतीया। मृत्पिण्डे कम्बुग्रीवादिरूपसंस्थानयोगं विधाय घटेन जलमानयेति वाक्पूर्वकव्यवहारसिद्धये विकार इति घटरूपं कार्यमिति नामधेयमारम्भणमारब्धं व्यवहर्त्तृभिः कर्मणि ल्युट्। तस्य विकारस्य घटादेर्मृत्तिकेत्येव नामधेयं सत्यं प्रामाणिकम्। प्रागूर्द्धञ्च प्रतीतेः सत्यमेष वदतीत्युक्तेः प्रामाणिकं वदतीति सर्वः प्रत्येति। सदेवेति। अत्र जगदुपस्थापकस्येदंशब्दस्य सच्छब्देन सामानाधिकरण्यात् ब्रह्मणो जगता सहाभेदः सिद्धः। एकं मुख्यं कर्त्तृ निमित्तमिति यावत्। अद्वितीयं सहायशून्यमुपादानञ्च तदेवेत्यर्थः। तदैक्षतेति। तद्ब्रह्म बहु स्यामिति सङ्कल्पं चकारेत्यर्थः। सन्मूला इति। सदुपादानकाः सत्पालकाः सत्संहारकाश्चेति क्रमात् त्रयाणां पदानामर्थः। ऐतदात्म्यमिति सर्वमिदं जगत् ऐतदात्म्यं सदभिन्नं स्वार्थे ष्यञ्। यैस्तु पूर्वं परिणामवादमालम्ब्य स्याल्लोकवदिति समाहितम् अधुना तु विवर्त्तवादमालम्ब्य मुख्यं समाधानमुच्यते यथा सौम्यैकेन

मृत्पिण्डेनेति तदनन्यत्वमित्यादिना विकारो घटादिर्वाचारम्भणं वागालम्बनमात्रं न तु नामातिरेकेणास्ति विकारस्ततो मिथ्यैव स मृत्तिकेत्येव सत्यं तात्त्विकमिति व्याचक्षते। तेषां मते एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं न भवेदपि तु बाधितं स्यादिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैरूप्यापत्तिरित्युपेक्ष्यान्ते सुधीभिः। सान्तराणीति। सव्यवधानानि विच्छिद्य विच्छिद्य स्थितानीत्यर्थः। तद्युक्तात् शक्तियुग्मोपेतात्। तथाहीति। तादृगिति शक्तियुग्मोपेतम्। अतो ब्रह्माभिन्नमिति। इह तादृग्ब्रह्माभिन्नमिति बोध्यम्। आचार्यो गुरुरुद्दालकः प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञां चक्रे। शिष्येण श्वेतकेतुना पुत्रेण परिपृष्टः सः आचार्यः। तेनैव मृत्पिण्डेनैव। तस्य घटादेः। ततो मृत्पिण्डात्। एवमिति। आदेशे प्रशास्तरि उपदेश्ये वा। तदुपादेयं तत्कार्यम्। कृत्यल्युट् इति सूत्रे बहुलमिति योगो विभज्यते। ये कृतो यत्रार्थे विहितास्ते ततोऽन्यत्रापि स्युरिति तदर्थः तेन कर्मणि च ल्युट् सिद्ध्यतीति। उक्तं विशदयति घटेनेत्यादिना। अन्यत्र सिद्धं हट्टादौ स्थितम्। एवमिति। एवं मत्कृतव्याख्याने सति। इति शब्देति। विकारो नामधेयं वाचारम्भणं वाङ्मात्रगोचरं मिथ्याभूतो विकार इत्यर्थः। मृत्तिकैव सत्येति वक्तु युक्तं न तु मृत्तिकेत्येवेति युक्तम्। तथाचेतिशब्दोऽत्र निरर्थकः स्यात्। कष्टकल्पनन्तु मिथ्यादिपदाध्याहाराद् विस्फु

हरिः। अभिव्यनक् अभिव्यक्तं चकारेत्यर्थः। स्वयंरोचिः स्वप्रकाशः स्वरोचिषा चिच्छक्त्या विशिष्टः। आदिशब्दात् ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निति ग्राह्यम्। न चेति। हेतुद्वयेन क्रमात् साध्यद्वयं बोध्यम्। पूर्वमिति। तस्याः अभिव्यक्तेः। तत्सिद्धेरिति। अभिव्यक्तेरभिव्यक्तिसिद्धेरित्यर्थः। ननु घटमभिव्यञ्जयितुं दीपे प्रज्वालिते पटादिरप्यभिव्यज्यते इति नियतोऽभिव्यङ्गविशेषो न दृष्टः एवं घटार्थेन कारकव्यापारेण पटादिरप्यभिव्यज्येत इति चेत् तत्राह तद्व्यापारेणेति। आवृत्तिभङ्गः संस्थानयोगश्चेत्यभिव्यक्तिर्द्विधा। तत्राद्ये स दोषः। द्वितीये तु नियतोऽभिव्यङ्ग इति प्रकृते न किञ्चिच्चोद्यमित्यर्थः। अकर्त्तृका चेति। घटो जायत इत्यत्र घटस्योत्पत्तिकर्त्तृत्वं प्रतीतं प्रागुत्पत्तेघटस्यात्यन्तमसत्त्वे तस्य तत्कर्त्तृत्वं न शक्यं वक्तु

कार्येण सह शक्तेर्नियम्यनियामकभावलक्षणः सम्बन्धो न सम्भवेत्। सतोरेव हि सम्बन्धो दृष्ट इति भावः। किञ्चेति। आद्ये उत्पत्तेरुत्पत्तिरस्तीतिपक्षे तस्या अप्युत्पत्तिरस्तीत्यनवस्था। अन्त्ये उत्पत्तेरुत्पत्तिर्नास्तीति पक्षे उत्पत्तिर्नोत्पद्यते तस्या असत्त्वादिति चेत् तर्हि सर्वदा घटादिकार्यस्योपलम्भो न स्यात्। अथोत्पत्तिर्नोत्पद्यते तस्या नित्यत्वात् नित्यं सत्त्वादिति चेत् तर्हि सर्वदा घटादिकार्यमुपलभ्येत न चैवमस्ति। तस्मात् पक्षद्वयमप्यसङ्गतमित्यर्थः। सममिति। यदुक्तमभियुक्तैः—यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणेति। उभयोर्वादिप्रतिवादिनोः। पर्यनुयोक्तव्यः प्रतिविधेयः। तथाच श्रुतिस्मृतिसाचिव्यादभिव्यक्ति-पक्ष एव श्रेयानिति॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार— *'तदनन्यत्वमित्यादि'* समाधान सूत्रके तस्मादित्यादि भाष्यमें *'ब्रह्मणोऽनन्यदेव'*—का अर्थ है ब्रह्मसे अभिन्न। वाचारम्भणामित्यादि—(विकार केवल वाक्यारब्ध वाणीका आश्रयभूत नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य पदार्थ है) में 'वाचा' इस पदमें 'वाच' शब्दमें तृतीया विभक्ति है। यह तृतीया 'हेतु' अर्थमें है। किन्तु वाक् हेतु होगा किस प्रकार? वह तो फल है, इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं—फलके हेतुत्वकी विवक्षाके कारण यहाँ तृतीया विभक्ति हुई है। *'वाचारम्भणं विकारः'* इसका अर्थ है—मृत्-पिण्डमें कम्बु ग्रीवादि, (शङ्खके समान गर्दन) रूप अवयव योजित करके वाक्य प्रयोग किया गया है कि 'घटेन जलमानय'—'घटसे जल लाओ' इस प्रकारका वाक्य प्रयोग करते हुए व्यवहार सिद्धिके अन्य विकार अर्थात् घटरूप कार्य—यह नाम दिया गया है। यही आरम्भणं अर्थात् व्यवहारकारीका 'आरम्भ' किया गया है अर्थात् उसके द्वारा रचित है। 'आरम्भणम्' पदमें 'आ' उपसर्ग योगपूर्वक 'रभ' धातुके कर्मवाच्य (जिसे आरम्भ किया गया है) में ल्युट् (अन) प्रत्यय है *'नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'* इसका अर्थ है—उस विकारका अर्थात् घटादिका 'मृत्तिका' यह नाम सत्य अर्थात् प्रमाणसिद्ध है, (घट नाम काल्पनिक है) क्योंकि घट होनेसे पहले और घटनाशके बाद भी मृत्तिकाकी प्रतीति होती है (घटकी प्रतीति नहीं होती) यह व्यक्ति *'सत्यमेव वदति'*—'मृत्तिका है', यह सत्य कह रहा है इस उक्तिके कारण प्रमाणसिद्ध कह रहा है, इस सबपर विश्वास करो। *'सदेव सौम्येदमित्यादि'* में श्रुतिस्थ 'इदम्' शब्द 'जगत्' अर्थका वाचक है। उसका 'सत्' शब्दके साथ सामानाधिकरण्य है अर्थात् अभेद प्रतीत हो रहा है, इसी कारण ब्रह्मका जगत्के साथ अभेद सिद्ध होता है।

'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिके अन्तर्गत एक शब्दका अर्थ मुख्यकर्त्ता अर्थात् निमित्तकारण है और *'अद्वितीयम्'* जो सहायता निरपेक्ष है, वह जगत्का उपादान-कारण भी है। *'तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय'*—इसका अर्थ है—तद्—ब्रह्म ने ईक्षत—बहुत रूपोंमें प्रकट होऊँगा—यह सङ्कल्प किया। *'सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—सन्मूलाः—सद्ब्रह्ममें इनका अर्थात् प्रजाका उपादान कारण है, 'सदायतनाः'—सद्ब्रह्म

इनका अर्थात् प्रजाओंका पालक है, 'सत्प्रतिष्ठाः'—सद्ब्रह्ममें ही प्रजाओंका लय होता है—इस प्रकार श्रुतिमें उक्त क्रमके तीनों पदोंका अर्थ जानना चाहिये। *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* (छा॰ ६/८/७) का अर्थ है—यह जगत्। ऐतदात्म्यम्—सद् ब्रह्मके साथ अभिन्न। ऐतद्—(सद्ब्रह्म) आत्मा (स्वरूपम्) यस्य—इस प्रकार यह बहु
'ऐतदात्मन्' शब्दके स्वार्थमें 'ष्यञ्' का प्रत्ययके योगसे ऐतदात्मयम् शब्द निष्पन्न हुआ है।

जिन्होंने पहले 'जगत् ब्रह्मका परिणाम है' इस मतको लेकर 'स्याल्लोकवत्' लौकिक दृष्टान्त द्वारा 'घटादिके समान होगा' इस सूत्रसे समाधान किया था, वे ही अब विवर्त्तवादको मुख्य रूपसे ग्रहण करके समाधान कर रहे हैं—हे सौम्य श्वेतकेतु! एक मृत्-पिण्डके ज्ञात होनेपर समस्त घटादिका ज्ञान हो जाता है। अतएव मृत्तिका और घटके अभेदके समान जगत् और ब्रह्मका अभेद है इत्यादि उक्तियों द्वारा *'वाचारम्भणं विकार'* इत्यादि श्रुतिकी व्याख्या भी इसी प्रकार करते हैं। यथा विकार है घटादि, वाचरम्भणम्—जो वाक् आलम्बन (आश्रय) मात्र—अर्थात् कथनके आश्रयमें ही प्रयुक्त है, नाम भिन्नताके कारण कोई पृथक् पदार्थ नहीं है; अतएव घटादि कार्य मिथ्या है वह विकार है, मृत्तिका ही वास्तविक है, उनके इस मतमें अनुपपत्ति (तर्कका अभाव) है कि *'एकेन विज्ञातेन (सर्वम्) विज्ञातं भवति'* 'एकको जान लेनेसे समस्त जान लिया जाता है'—यह बात सङ्गत नहीं होती बल्कि बाधित होती है, इसमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी वैषम्यापत्ति (विषमतारूपी दोष) है। बात यह है कि द्वैत यदि अध्यस्त अथवा विवर्त्त होता है तो समस्त विज्ञात होगा किस प्रकार? अलीक (मिथ्या) का ज्ञान हो नहीं सकता और मृत्तिका-घट दृष्टान्तके साथ जगत्-ब्रह्मका वैषम्य होनेसे असङ्गति दोष होता है। अतएव सुधी (मनीषी) गण इन व्याख्याकारियोंकी उपेक्षा करते हैं। छान्दोग्यमें *'सान्तराणिअपि'*—व्यवधान युक्त होनेपर भी अर्थात् बीच-बीचमें छोड़-छोड़कर धृत होनेपर भी *'जगतस्तद्युक्तात्'*—जीवशक्ति और प्रकृतिशक्ति—इन दोनोंसे युक्त ब्रह्मसे जगत्का। तथाहि *'कृत्स्नं जगत् तादृग् ब्रह्मोपादानकामिति'*—इस प्रकार इस शक्तिद्वयसे युक्त ब्रह्म

समस्त जगतके उपादान कारण हैं। *'अतो ब्रह्माभिन्नमिति'* यहाँ भी उस शक्ति—द्वय—विशिष्ट ब्रह्मसे जगत् अभिन्न है, यह अर्थ जानना चाहिये। *'विज्ञानं भवतीत्याचार्यः'* इति में आचार्य—श्वेतकेतुके पिता गुरु उद्दालकने! प्रतिजज्ञे—प्रतिज्ञाकी—शिष्य अर्थात् पुत्र श्वेतकेतु द्वारा जिज्ञासा किये जानेपर आचार्यने कहा। *'तेनैव सिद्धान्तेन'*—इस मृत्–पिण्डके सिद्धान्त द्वारा ही। *'तस्यं ततोऽनतिरेकादिति'* में तस्य—उस घटादिके, ततः—मृत्–पिण्डसे, *अनातिरेकात्—अभेदवश। 'एवमादेशे ब्रह्मणीति'*—इस प्रकार, आदेश–प्रशासनकर्त्तामें अथवा उपदिश्यमान ब्रह्ममें। *'सर्वोपादाने विज्ञाते तदुपादेयमिति तदुपादेयम्'*—उसका कार्य *'कृतल्युटो बहुलमिति'* स्मरणात् इति *'कृत्य ल्युटः'*—इस अंशके साथ 'बहुल' इस पदका विभाग (छेदन) करके दो सूत्र करना होगा। इसलिए 'बहुलम्' इस सूत्रका अर्थ है—जो सब कृत् प्रत्यय जिस अर्थमें (वाच्यमें) विहित हुए हैं, इसके अतिरिक्त अन्यवाच्यमें भी वे ही प्रत्यय होंगे, इस कारण 'आरम्भणम्' इस पदमें कर्मवाच्य ल्युट हुआ है। *'उक्तं विशदयति घटेनत्यादिना'*—पूर्वमें जो कहा गया है, वही *'घटेन जलमानय'* इत्यादि द्वारा विशद (विस्तृत) करके कहा जा रहा है। *'न च शुक्तेः सकाशात् अन्यत्र सिद्धमिति'* अन्यत्र अर्थात् हाट (बाजार) इत्यादिमें स्थित रजत। *'एवमिति शब्दानर्थक्यम् कष्टकल्पनम्'* में एवम् अर्थात् मैंने जो व्याख्या की, उसमें। इति शब्दानर्थक्यम्—यदि अर्थ करते हो *'विकारानाम् वाङ्मात्रगोचर'* विकार अर्थात् कार्य मिथ्याभूत है—यह अर्थ करनेपर इति शब्दका वैयर्थ्य (व्यर्थता) होता है—अर्थात् *'मृत्तिका एव सत्यम्'* मृत्तिका ही सत्य है, यही युक्तियुक्त पाठ होता है *'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'* (मृत्तिका इति एव सत्यम्) इस प्रकारका पाठ व्यर्थ है। अतएव इति शब्द इस व्याख्यामें व्यर्थ हो पड़ता है, और कष्ट कल्पना भी होती है यथा—*'मिथ्याभूतो विकारः'* इसमें मिथ्याभूत पदको अध्याहार (अनुमान) के कारण कष्ट कल्पना जानना चाहिये। *'कल्पान्ते'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतसे उद्धृत किया है। 'अभिव्यनक'–अभिव्यक्त करते हैं—स्वयं ... 'स्वयंरोचिः'—स्वप्रकाश, स्वरोचिषा—चित्–शक्ति इसका अर्थ है—'यः' जो भगवान् श्रीहरि इत्यादि। *'प्रमाणात् सिद्धेः'*—इत्यादि पदसे *'ततः स्वयंभूर्भगवान्*

व्यक्तो व्यञ्जनामिदम्' यह वाक्य ग्रहणीय है। *'न च सिद्धसाधनता अनवस्था वा दोषः'* इति (उक्त पक्षमें सिद्ध साधनता अथवा अनवस्था दोष घटित नहीं होता) इसके बाद कहा गया है *'कारक व्यापारात् पूर्वमभिव्यक्तेः सत्वानङ्गी कारात्'* (कारक व्यापारके पहले अभिव्यक्तिकी सत्ताको अङ्गीकार नहीं किया गया है) इस हेतुका साध्य है—*'न सिद्धसाधनता दोषः'* और द्वितीय हेतु *'अभिव्यक्तेः सत्त्वानङ्गीकारात्'* का साध्य है अनवस्थादोष। *'पूर्वमसत्यस्तयाः'* इत्यादिमें 'तस्याः' का अर्थ है इस अभिव्यक्तिका *'आश्रयभिव्यक्तैव तत् सिद्धेः'*—अभिव्यक्ति हेतु अर्थात् अभिव्यक्ति (प्रकाश) की सिद्धिके हेतु। (आश्रयकी अभिव्यक्तिके द्वारा जगत्की अभिव्यक्ति सिद्ध होती है।) प्रश्न है कि घटको अभिव्यक्त करनेके लिए अभिव्यञ्जक दीप जलानेपर पटादि भी अभिव्यक्त होते हैं, अतः पदार्थ विशेषकी अभिव्यक्ति नियम सिद्ध होती हो, यह देखा नहीं जाता। इस प्रकार घट-निर्माणके लिए दण्ड, चक्रादिके व्यापार द्वारा पटादि भी अभिव्यक्त हो सकते हैं, यह यदि कहते हो तो इसमें मीमांसा करते हैं—*'तद्व्यापारेण संस्थान योगाभिव्यक्तिरिति'*—अभिव्यक्ति दो प्रकार की है—एक आवृत्तिभङ्ग और दूसरी अवयव संस्थान योग—इसमें आवृत्तिभङ्ग अर्थात् लौटकर आनेका (पुनरावृत्तिका) निरस्तीकरण; जिस प्रकार तिलसे तेलकी अभिव्यक्ति एक बार होनेपर पुनः उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती (पुनः तेल नहीं निकाला जा सकता) किन्तु ब्रह्मसे जगत्की अभिव्यक्तिके विषयमें इसका व्यतिक्रम होता है, अतएव द्वितीय अभिव्यक्ति अर्थात् अवयव संस्थानका सम्बन्ध इस पक्षमें अभिव्यङ्ग (अभिव्यञ्जन) नियमाधीन रहता है। वास्तवमें प्रकृत-स्थलपर तो आपत्तिका कोई भी विषय रहता नहीं है। असत्-कार्यवाद पक्षमें और भी दोष दिखा रहे हैं—*'अकर्त्तृका चोत्पत्तिरिति' 'घटो जायते'* अर्थात् 'घट उत्पन्न हो रहा है', कहनेपर घटको उत्पत्ति क्रियाका कर्त्ता जाना जाता है, किन्तु यदि उत्पत्तिके पूर्व घटकार्य एक बार भी असत् होता है, तब उसे उत्पत्ति क्रियाका कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। अतएव कर्त्तृहीन उत्पत्ति हो पड़ती है, यही तात्पर्य है। यदि कहो, इस आपत्ति-वारणके लिए उपादान-कारण स्थित शक्ति ही कार्यको नियमसिद्ध करेगी तो

यह भी नहीं कहा जा सकता। इस उद्देश्यसे कह रहे हैं—*'न च कारणनिष्ठा शक्तिरित्यादि'*—इसमें दोष यह है कि जो कार्य पूर्वमें असत् है, उस असत् कार्यके साथ शक्तिका नियम्य-नियामकत्वरूप सम्बन्ध हो नहीं सकता क्योंकि दो सत्-वस्तुओंका ही सम्बन्ध देखा जाता है। 'किञ्चेति'—और भी एक दोष है—असत्की जो उत्पत्ति है यह उत्पत्ति सत् है कि असत् है अर्थात् उत्पत्तिकी उत्पत्ति है कि नहीं। यदि उत्पत्तिकी उत्पत्ति बतलाते हो तो अनवस्था (अभिव्यक्तिसे भिन्न कोई दूसरी अनभिव्यक्ति) दोष हो सकता है। किस प्रकारसे? यथा उत्पत्तिकी उत्पत्ति पुनः उसकी उत्पत्ति, उस उत्पत्तिकी और उत्पत्ति इस प्रकार धारा चलती रहेगी। द्वितीय पक्षमें अर्थात् यदि उत्पत्तिकी उत्पत्ति नहीं बतलाते हो तो वह उत्पत्ति असती अर्थात् अविद्यमान हो जाती है, इस असत्ताके कारण उत्पत्तिकी उत्पत्ति नहीं है। यह मान लेनेपर घटादि कार्यकी उपलब्धि ही नहीं होगी। और यदि उत्पत्तिका उत्पन्न होना नहीं बतलाते हो तो नित्य वर्त्तमानताके कारण घटादि कार्यकी सर्वदा ही उपलब्धि (प्रत्यक्षता) होगी, किन्तु ऐसा तो है नहीं। अतएव दोनों पक्ष ही असङ्गत हो जाते हैं। यदि कहो, उत्पत्तिकी उत्पत्ति—कल्पना निष्प्रयोजन है। तो अभिव्यक्तिकी भी अभिव्यक्ति-कल्पना निष्प्रयोजन है। अतः दोनों ही समान हैं। पण्डितगण कहते हैं—जहाँ वादी और प्रतिवादी दोनोंका ही दोष अथवा दोषका परिहार समान हो, वहाँ उस अर्थ विचारमें किसी एक पर अभियोग लगाना उचित नहीं है। 'उभयोः'—अर्थात् वादी और प्रतिवादीका पर्यानुयोक्तव्यः का अर्थ है अनाक्रमणीय (आक्रमणके योग्य नहीं) अतएव सिद्धान्त है—श्रुति एवं स्मृतिकी सहायता रहनेसे कार्यका अभिव्यक्तिवाद ही उत्पत्तिवादकी अपेक्षा श्रेष्ठ है॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ब्रह्मसे जगत्की अभिन्नता स्वीकार करते हुए यह निरूपण हुआ है कि ब्रह्म ही जगत्के कारण हैं। बादमें 'असत्' इत्यादिके द्वारा उस अभेदके ऊपर आक्षेप और उसके समाधानके निमित्त यह अधिकरण आरम्भ हुआ है। पूर्वपक्षको विस्तृत उत्थापन करने (उभारने) के बाद असत् उपादेयकी उत्पत्तिका कारण ब्रह्मको कहनेपर कर्त्तृव्यापारमें व्यर्थता आती है, इस हेतु (कारण) उपादेयको

असत् कहकर उपादान ब्रह्मसे वह (उपादेय) भिन्न है—यह वैशेषिक और नैयायिक मतसे जानना चाहिये। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर उसके परिहारके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि उपादेय-जगत् जीवशक्ति और प्रकृतिशक्ति युक्त उपादान-ब्रह्मसे अभिन्न है, कारण 'आरम्भणम्' इत्यादि शब्दयुक्त वाक्यसे यह अवगत हो जाता है। इसकी विस्तारपूर्वक विवेचना भाष्य और टीकामें देखनी चाहिये।

ब्रह्म ही चिज्जड़ात्मक समस्त जगत्के उपादान हैं, इसलिए ब्रह्मसे जगत् भिन्न नहीं है—हृदयमें यह निश्चय करके उपादानभूत ब्रह्मको जान लेनेपर समस्त जगत्को ही जाना जा सकता है। एकमात्र मृत्-पिण्डको जान लेनेपर उस मृत्-पिण्डरूप उपादानसे उत्पन्न घटादि समस्त पदार्थोंको जाना जा सकता है। कारण यह है कि मृत्-पिण्ड और घट दोनोंमें ही किसी प्रकारका प्रभेद नहीं है। इस प्रकार सभीके उपादानभूत ब्रह्मको जान लेनेपर उनके उपादेयरूप समस्त जगत्को भी जाना जा सकता है। मृत्-पिण्डके कम्बुग्रीवादिरूप संस्थान-सम्बन्ध संघटित होनेपर वाक्पूर्वक व्यवहार (कहनेमात्र) के लिए उसका विकार नाम निर्दिष्ट होता है। इसका तात्पर्य है कि 'घटसे जल लाओ' इत्यादि वाक्पूर्वक व्यवहारकी सिद्धिके लिए मृत्-द्रव्य संस्थान विशेषमें परिणत होकर घटादि नाम धारण करता है। इस प्रकार घटादि अवस्थामें लाये जानेपर भी उसका नाम वही मृत्तिका है, यह सर्वथा प्रमाणसिद्ध है और उससे उत्पन्न वह घटादि भी मृत्-द्रव्य ही हैं, अन्य पदार्थ नहीं, यह भी प्रामाणिक है। इस प्रकार उपादानसे उपादेय अभिन्न है।

इस विषयमें छान्दोग्यश्रुति *'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'* (६/१/४) भी देखना चाहिये—हे सौम्य! जिस प्रकार मृत्तिकाके एक पिण्ड (ढेले) द्वारा सम्पूर्ण मृण्मय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है। और भी पाया जाता है—*'एवम् चाविज्ञातं विज्ञातं भवति'* (छा॰ ६/१/३)—इस प्रकार अविज्ञात भी विशेष रूपसे ज्ञात हो जाता है।

श्रील जीवगोस्वामीपाद विरचित सर्वसंवादिनी ग्रन्थमें परमात्मा सम्बन्धी व्याख्यामें देखा जाता है—

'अतः कार्यावस्थः कारणावस्थश्च, स्थूलसूक्ष्म चिदचिद्वस्तु शक्तिः परमपुरुष एव—कारणात् कार्यस्यानन्यत्वात्। अनन्यत्वञ्च वाचारम्भ-णामित्यादिभिः सिद्धम्। तथाहि—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते। यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणमित्यादि।' (छा॰ ६/१/४)

'एकस्यैव सङ्कोचावस्थायां कारणत्वं—विकाशावस्थायां कार्यत्वमिति। विकारोऽपि मृत्तिकैव। ततः कारणविज्ञानेन कार्य-विज्ञानमन्तर्भावात् इत्येवं परम कारणे परमात्मन्यपि ज्ञेयम्। तदेतदारम्भण-शब्दलब्ध-मनन्यत्वमेव।'

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यदा क्षितावेव चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवञ्च नित्यम्।
तन्नामतोऽन्यद्-व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम्॥

(श्रीमद्भा॰ ५/१२/८)

हम जो सर्वदा ही पृथ्वीमें स्थावर और जङ्गम पदार्थोंकी उत्पत्ति एवं विनाश देख रहे हैं, वे सब पृथ्वीके ही विकारमात्र हैं, पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीमें ही मिल जाते हैं। जितनी भी परिणामशील (आदि एवं अन्तसे युक्त) वस्तुएँ हैं, वे सब नामके लिए ही भिन्न दिखायी देती हैं, वे सभी पृथ्वीकी रूपान्तरमात्र हैं। अर्थ क्रिया—जैसे जल लाना आदि कार्यभेदसे जिसका सत्यरूपमें अनुमान किया जाता है, उसका भी मूल-कारण पृथ्वीसे अतिरिक्त और क्या हो सकता है, तुम स्वयं ही निर्णय करो।

कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसावृतम्।
अभिव्यनग्जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा॥

आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति।
रजःसत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/३/२६-२७)

हिरण्यकशिपुने कहा—दैनन्दिन प्रलयके समय यह सारी सृष्टिकाल द्वारा प्रेरित होकर तमोगुणरूपी निविड़ अन्धकारसे ढक जाती है, तब स्वयंप्रकाश जो अपने प्रकाशसे इस जगत्‌को प्रकाशित करते हैं, जो त्रिगुण द्वारा इस जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं, उन सत्त्व, रज एवं तमोगुणके आश्रयस्वरूप परमेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ।

और भी,

त्वत्तः परं नापरमप्यनेजदेजच्च किञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा हिरण्यगर्भोऽसि बृहत् त्रिपृष्ठः॥
(श्रीमद्भा॰ ७/३/३२)

स्थावर-जङ्गम आदि कोई भी वस्तु आपसे स्वतन्त्र नहीं है। वेद, उपनिषद, शिक्षा एवं वेदाङ्ग-शास्त्र सभी आपके शरीर हैं। स्वर्णमय ब्रह्माण्ड आपके गर्भमें अवस्थित है। आप त्रिगुणात्मक प्रधानरूप अक्षरसे अतीत परात्पर वस्तु हैं।

अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम्।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः॥
(श्रीमद्भा॰ ७/३/३४)

आप अनन्त तथा अव्यक्त रूपसे अखिल जगत्‌में परिव्यों हैं। आप चित्शक्तिसे युक्त हैं। हे भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

व्यासेर सूत्रेते कहे 'परिणाम-वाद'।
व्यास भ्रान्त बलि तार उठाइल विवाद॥

परिणामवादे ईश्वर हयेन विकारी।
एत कहि 'विवर्त्त-वाद' स्थापना ये करि॥
(चै॰च॰आ॰ ७/१२१-१२२)

श्रीमद्भक्तिविनोदठाकु

द्वितीय अध्यायके प्रथम पादमें *'तदनन्यत्वमारम्भणं शब्दादिभ्यः'* इस चौदहवें सूत्रके भाष्यमें *'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'* (छा॰ ६/१/१४) इत्यादि वेद-वाक्यका उदाहरण देकर परिणामवादको दोषयुक्त विकारवाद कहकर वितर्क करते हैं। प्रकृत प्रस्तावित इस ब्रह्मसूत्रमें ईश्वरकी

इच्छामात्रसे उनकी अचिन्त्यशक्तिके कार्य-विकार रूपमें यह परिणामवाद प्रदर्शित हुआ है। परिणामका लक्षण इस प्रकार है—*'स तत्त्वतोऽन्यथा बुद्धिर्विकार इत्युदाहृतः'*—एक सत्यतत्त्वसे अन्य एक सत्यतत्त्वका उदय होनेपर उसमें अन्य वस्तु कहनेमें जो बुद्धि है, वही 'विकार' अर्थात् परिणाम है। ब्रह्म—एक सत्य वस्तु हैं, उनसे 'जीव' रूप एक सत्यवस्तु और *'मायिक ब्रह्माण्ड'* रूप एक सत्य-वस्तु पृथक् रूपमें है—इस प्रकारकी बुद्धिको ब्रह्मका 'विकार' अथवा 'परिणाम' कहा जाता है। विकार अथवा परिणामका उदाहरण है जैसे 'दूध'—यह एक सत्य पदार्थ है, वही 'दधि' रूप अन्य सत्य पदार्थ रूपमें विकृत होता है। *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* (छा॰ ६/८/७) इस प्रकारके वेद-वाक्य द्वारा ब्रह्म ही जगत् है, इसमें कोई सन्देह होता नहीं है। ब्रह्म एक अचिन्त्यशक्ति हैं जो *'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'* (श्वे॰ ६/८) (उनकी पराशक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है) इत्यादि वेद-वाक्यसे सिद्ध होती है। इस शक्ति-क्रमसे ब्रह्मका सत्यधर्म ही जगत् रूपमें परिणत होता है, इस प्रकारके सिद्धान्तमें किसी भी प्रकारका दोष हो नहीं सकता। *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवा द्वितीयम्'* (छा॰ ६/२/१) सृष्टिके पूर्व यह सारा जगत् सत्स्वरूप था, एकमात्र ही अद्वितीय सत् था, *'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'* (छा॰ ६/२/३) उस (सत्) ने ईक्षण किया—'मैं बहुत हो जाऊँ'—अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ, *'सन्मूलाः सौम्यया: प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः'* (छा॰ ३/६/४) हे सौम्य! ये सारे पदार्थ मूलसे ही सत्में ही स्थित और सत्में ही विलीन हैं, *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* (छा॰ ६/८/७) यह सब आत्मस्वरूप है, इत्यादि छान्दोग्य-वाक्योंमें यही प्रसिद्ध है कि वे ब्रह्म अपनी पराशक्ति क्रमसे इस चिज्जड़ात्मक जगत् रूपमें परिणत होते हैं। जगत् एवं जीव 'उपादेय' हैं, ब्रह्म 'उपादान' हैं। *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'* (तै॰ तृतीय वल्ली, प्रथम अध्याय) (जिनसे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं) इस वेद-वाक्यमें ब्रह्मका उपादानत्व तथा जीव एवं जड़का उपादेयत्व स्वीकृत हुआ है। परिणामवादका यथार्थ मर्म नहीं जाननेपर, इस जगत् और जीवको ब्रह्मसे पृथक् सत्यतत्त्व रूपसे बोध नहीं किया जा सकता। *'सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः'* (छा॰ ६/८/४) इत्यादि वाक्यसे जाना जा सकता

है कि 'जीव' और जीवायतन 'जड़-जगत्' सत्यवस्तु हैं। इस स्थलपर ब्रह्मका विकारित्व होगा—इस निरर्थक भयसे रज्जुमें सर्पबुद्धि और शुक्तिमें रजत बुद्धिके समान जीव और जगत्की मिथ्यारूपमें कल्पना करना प्रतारणा (वञ्चना) मात्र है, तब जो माण्डूक्य इत्यादि वेदमें 'रज्जुमें सर्पबुद्धि' और शुक्तिमें रजत बुद्धि—इन समस्त उदाहरणोंसे देखा जाता है कि उनका विशेष-विशेष स्थल है। जीव शुद्ध चित्कण है। मानवदेह विशिष्ट इस जड़देहमें जो आत्मबुद्धि करता है, वही विवर्त्तका स्थल है॥ १४॥

अवतरणिका भाष्य—इतश्चोपादेयमुपादानादनन्यदित्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—उपादानसे उपादेय इस कारण भी अभिन्न है, वह कारण बता रहे हैं—

सूत्र—भावे चोपलब्धेः॥ १५॥

सूत्रार्थ—'भावे'—घट-मुकु
सुवर्णादिकी उपलब्धिवशतः उपादानसे उपादेय अभिन्न कहा जाता है॥ १५॥

सूत्रानुवाद—कारणके सद्भावमें ही कार्यकी उपलब्धि देखी जाती है, इसलिए सद्वस्तु ही उपादेय (कार्य) का उपादान है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—घटमुकु
प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः। ननु हस्त्यश्वादौ कल्पवृक्षादेः प्रत्यभिज्ञानं नास्तीति चेन्न। तत्राप्युपादानस्य पृथिव्याः प्रत्यभिज्ञानात्। वह्नेर्निमित्तत्वात् धूमे तन्नास्ति। धूमोपादानं खलु वह्निसंयुक्तमार्द्रेन्धनं गन्धैक्यात् विदितम्॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—घट, मुकु
मिट्टी-सुवर्णादि उपादान कारणोंका प्रत्यभिज्ञान (पहचान या उपलब्धि) होता है अर्थात् घटादिको मृत्तिकादि रूपमें पहचान सकते हैं, अतएव उपादानसे उपादेय अभिन्न है। प्रश्न है कि कल्पतरु द्वारा प्रदत्त हस्ती (हाथी), अश्व (घोड़ा) इत्यादि देखकर कल्पतरुका तो प्रत्यभिज्ञान होता नहीं, यदि यह कहते हो तो ऐसा नहीं है, वहाँ भी हस्ती, अश्वादिकी प्रत्यभिज्ञा उपादान भूता मृत्तिकासे सिद्ध होती है। तब

अग्निका जो कार्य धूम है, उस धूमसे अग्निकी प्रत्यभिज्ञा दिखायी नहीं देती। इसका कारण है कि अग्नि धूमका निमित्त कारण है, अतएव धूममें अग्निकी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। अग्निसे संयुक्त आर्द्र ईंधन ही धूमका उपादान है, क्योंकि आर्द्र ईंधन और अग्निकी गन्ध एक ही प्रकार की है, इसी कारणसे धूमका उपादान कारण वह्नि-संयुक्त आर्द्र (गीले) ईंधनको जाना जाता है॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—भावे इति। तदिति प्रत्यभिज्ञानं ज्ञानस्य ज्ञानं तद्बोध्यम्॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार—तत् अर्थात् प्रत्यभिज्ञान—ज्ञात वस्तुकी पुनः अनुभूतिको प्रत्यभिज्ञा पदार्थ जानना चाहिये॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कह रहे हैं कि—उपादान एवं उपादेय अभिन्न हैं। घट और मुकु

और स्वर्णादिकी उपलब्धि होती है। हस्ती और अश्वादिमें कल्पवृक्षका प्रत्यभिज्ञान न होनेपर भी उनमें आदि उपादान पृथ्वीका प्रत्यभिज्ञान होता है। वह्नि (अग्नि) स्थलपर भी आर्द्र ईंधन (गीली लकड़ी) और गन्धकी एकताके कारण यह विदित होता है कि उपलब्धि वास्तव वस्तुकी ही होती है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२२/८)

इस संसारमें एक ही तत्त्वमें बहुत-से दूसरे तत्त्वोंका अन्तर्भाव हो गया है। इसका कोई भी बन्धन नहीं है कि किसका किसमें अन्तर्भाव हो। कभी घट-पट आदि कार्य वस्तुओंका उनके कारण मिट्टी-सूतादिमें, तो कभी मिट्टी-सूत आदिका घट-पट आदि कार्योंमें अन्तर्भाव हो जाता है।

श्रीधरस्वामीकी टीकामें भी देखा जाता है—

अनुप्रवेशं दर्शयति एकस्मिन्नपीति पूर्वस्मिन् कारणभूते तत्त्वे कार्यतत्त्वानि सूक्ष्मरूपेण प्रविष्टानि मृदि घटवत्। अपरस्मिन् कार्यतत्त्वे कारणतत्त्वानि अनुगतत्त्वेन प्रविष्टानि घटे मृद्वत्॥ १५॥

सूत्र—सत्त्वाच्चावरस्य॥ १६॥

सूत्रार्थ—और एक कारण है 'अवरस्य सत्त्वात् च'—परवर्त्तीकालीन उपादेयके पूर्व भी उपादान-तादात्म्य तादात्म्य रूपसे उपादानमें वर्त्तमान होनेके कारण उपादानसे उपादेय अभिन्न ॥१६॥

सूत्रानुवाद—अवर अर्थात् कार्य, जो कारण (उपादान) में तादात्म्य रूपमें पूर्वसे ही विद्यमान रहता है, इसलिए भी उपादेय-उपादान दोनोंमें अभिन्नता है॥१६॥

गोविन्दभाष्य—अवरकालिकस्योपादेयस्य प्रागपि तादात्म्येनोपादाने सत्त्वात् तस्मादनन्यत् तत्। श्रुतिश्च *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* (छा॰ ६/२/१) इत्याद्या। स्मृतिश्च (वि॰पु॰ २/७/३९-४०) *'ब्रीहिबीजे यथा मूलं नालं पत्राङ्कुरौ तथा। काण्डं कोशस्तथा पुष्पं क्षीरं तद्वच्च तण्डुलः॥ तुषः कणाश्च सन्तो वै यान्त्याविर्भावमात्मनः। प्ररोहहेतुसामग्रीमासाद्य मुनिसत्तम॥ तथा कर्मष्वनेकेषु देवाद्यास्तनवः स्थिताः। विष्णुशक्तिं समासाद्य प्ररोहमुपयान्ति वै॥ स च विष्णुः परं ब्रह्म यतः सर्वमिदं जगत्। जगच्च यो यतश्चेदं यस्मिंश्च लयमेष्यति'* इति॥ तिलेभ्यस्तैलं सत्त्वादेवोत्पद्यते न तु सिकताभ्योऽसत्त्वादेव। उभयत्राप्येकमेव सत्त्वं पारमार्थिकमिति। उत्पत्त्यनन्तरमुपादेये उपादानतादात्म्यं पूर्वत्र प्रमाणितम्। नाशानन्तरमुपादाने उपादेयाभेदः परत्रेति सूत्रद्वये विवेचनम्॥१६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—परवर्त्तीकालीन उपादेय जगत्की अभिव्यक्तिके पूर्व भी और उपादान कारणमें तादात्म्य भावसे विद्यमानताके कारण भी उपादानसे उपादेयको अभिन्न जानना चाहिये। श्रुति भी इस प्रकार कह रही है—*'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* (छा॰ ६/२/१) हे सौम्य! सृष्टिके पहले एकमात्र ब्रह्म ही थे—उपादेय जगत् तादात्म्य रूपसे पहलेसे अर्थात् अभिव्यक्तिसे पूर्व भी ब्रह्ममें स्थित था। स्मृति अर्थात् विष्णुपुराणमें कहा जा रहा है भी कह रही है—जिस प्रकार एक धान्य रूप बीजमें मूल (जड़), नाल (तना), पत्र, अङ्कुर, काण्ड, कोष, पुष्प, दुग्ध, तण्डूल, तुष और कण सभी कु
और वे प्ररोह क्रमपूर्वक (अङ्कुरित होने) की समस्त कारण सामग्री पाकर अपनी अभिव्यक्ति अवस्थाको प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार हे मुनिप्रधान मैत्रेय! नानाविध कर्मोंमें देव, मनुष्य इत्यादिका शरीर रहता है, बादमें वे सब विष्णुशक्तिका आश्रय लेकर अभिव्यक्त हो

जाते हैं। (वि॰पु॰ २/७/३९-४०) विष्णु ही परब्रह्म हैं, उनसे ही समस्त जगत् अभिव्यक्त होता है। जो जगत्के स्वरूप अर्थात् जगत्से अभिन्न हैं, उनसे ही यह जगत् स्थिति प्राप्त करता है और उनमें ही लयको प्राप्त होता है। उपादानमें उपादेयकी सत्ताका प्रमाण इस प्रकार है कि जैसे तिलसे तेल निकलता है, परन्तु बालुकासे नहीं। इसका कारण है कि उस बालुकामें तेल नहीं है। इस प्रकार जगत् और ब्रह्म एक ही वास्तव सत्ता है। पूर्वसूत्रमें प्रमाणित किया गया था कि उत्पत्तिके बाद उपादेयमें उपादानका तादात्म्य अर्थात् स्वरूप विद्यमान रहता है। दूसरे सूत्र द्वारा प्रमाणित हुआ था कि नाशके बाद उपादान कारणके साथ उपादेयकी अभिन्नता रहती है। इसका पृथक्-पृथक् विचार किया गया था॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—सत्त्वाच्चेति। स्थितत्वादित्यर्थः। ब्रीहीति श्रीवैष्णववाक्यम्। उभयत्रापीति। जगति ब्रह्मणि चेत्यर्थः॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार—'सत्वाच्च' इस सूत्रमें स्थित सत्वात् पदका अर्थ है—स्थित्वके कारण। ब्रीहि-बीज इत्यादि श्लोक श्रीविष्णुपुराणसे उद्धृत हैं। उभयत्राप्येकमेव इति 'उभयत्र' अर्थात् जगत् एवं ब्रह्म दोनोंमे ही॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें और एक युक्ति दिखा रहे हैं कि परवर्त्तीकालीन उपादेय पहलेसे ही उपादानमें तादात्म्य रूपसे अन्तर्भूत रहता है—इस प्रकार उपादान और उपादेय अभिन्न हैं।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ।
पौर्वापर्य्यप्रसंख्यानं यथा वक्तु

(श्रीमद्भा॰ ११/२२/७)

हे पुरुषशिरोमणे उद्धव! तत्त्वोंका एक-दूसरेमें अनुप्रवेश है, इसलिए वक्ता तत्त्वोंकी जितनी संख्या बतलाना चाहता है, उसके अनुसार कारणको कार्यमें अथवा कार्यको कारणमें मिलाकर अपनी इच्छित संख्या सिद्ध कर लेता है।

और भी,

नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम्॥
एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत्।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥
आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात्।
पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत्॥

(श्रीमद्भा० ११/१९/१४-१६)

उद्धवजी! जिस ज्ञानसे प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—ये नौ, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—ये बीस, पाँच महाभूत और तीन गुण अर्थात् इन अट्ठाईस तत्त्वोंको ब्रह्मासे लेकर तृण तक सब-के-सबमें एक परमात्माका ही अनुगत देखा जाता है—यही परोक्षज्ञान है, ऐसा मेरा निश्चय है। पहले एक परमात्माको ही परम कारणके रूपमें निखिल विश्वमें अनुगत देखा गया है, जिससे वैसा दर्शन न हो, किन्तु केवलमात्र परमात्माकी ही स्फूर्ति हो, उस ज्ञानको विज्ञान (अपरोक्ष-ज्ञान) कहते हैं। यह शरीर आदि जितने भी त्रिगुणात्मक सावयव पदार्थ हैं, उन्हें स्थिति, उत्पत्ति और नाश-धर्मयुक्त समझें। जो तत्त्ववस्तु सृष्टिके प्रारम्भमें और अन्तमें कारण रूपसे स्थित रहती है, वही मध्यमें भी रहती है और वही प्रतीयमान वस्तु कार्यसे कार्यान्तरमें अनुगमन करती है। फिर वही उन कार्योंका प्रलयके उपरान्त उसके साक्षीके रूपमें शेष रह जाती है। वही सत्य परमार्थ वस्तु है, ऐसा समझें।

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना॥

(श्रीमद्भा० ३/१०/१२)

ईश्वरकी सृष्टि आदि शक्तियोंके साथ यह विश्व पहले ब्रह्म अर्थात् विष्णुमें तादात्म्य रूपमें लीन था। वही विश्व पुनः अव्यक्त स्वरूप ईश्वरप्रभावरूपी कालके द्वारा पृथक्-पृथक् रूपसे प्रकाशित हुआ है॥ १६॥

सूत्र—असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्॥ १७॥

सूत्रार्थ—‘असद्व्यपदेशान्न इति चेत्’—यदि कहो ‘असद्वा इदमग्र आसीत्’ इत्यादि श्रुतिमें सृष्टिके पूर्व जगत्की असत्ता सुनी जाती है, अतएव उपादान ब्रह्ममें उपादेयकी (जगत्की) सत्ताका विश्वास नहीं किया जा सकता। ‘न’ ऐसा नहीं है; ‘धर्मान्तरेण’—एक ही द्रव्यकी स्थूलता एवं सूक्ष्मता दो अवस्थाएँ हैं, जिनसे उपादानमें स्थितिकालमें (पूर्वस्थिति) में उपादेयकी सूक्ष्मता रहती है। और अभिव्यक्तिके बाद उपादेयकी स्थूलता रहती है। इस स्थूलताकी ही असत्ताको लेकर असत् उक्ति कही गयी है। इसका प्रमाण क्या है? ‘वाक्यशेषात्’—‘तदात्मानं ‘स्वयमकु

रूपोंमें अभिव्यक्त किया। बात यह है कि जगत् यदि सर्वथा असत् होता, तो ‘असद्वा इदमग्र आसीत्’ असत्-वस्तुका यह काल सम्बन्ध किस प्रकार सम्भव हो सकता था? अतः जो असत् है, उसका अर्थ सूक्ष्म होता है॥ १७॥

सूत्रानुवाद—श्रुतिके द्वारा कार्यकी उत्पत्तिसे पहले असत्त्वका व्यपदेश (निर्देश) है, फिर कार्य सत् कैसे हो सकता है? उत्तर है—नाम रूपसे अभिव्यक्त होना कार्यका सत्त्व है और नाम रूपसे अनभिव्यक्त रहना ही कार्यका असत्त्व है। ऐसे धर्मयोगके कारण श्रुति जगत्को असत् कहती है अर्थात् पहले जगत् असत् था। शेष वाक्यसे यही निर्णय होता है कि अतिसूक्ष्म वस्तु ही असत् शब्दसे कही जाती है॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—स्यादेतत् *‘असद्वा इदमग्र आसीत्’* (तै॰ २/७/१) इति पूर्वमसत्त्वश्रवणादुपादाने उपादेयस्य सत्त्वं नास्थेयमिति चेन्न। यदयमसद्व्यपदेशो न भवदभिमतेन तुच्छत्वेन किन्तु धर्मान्तरेणैव सङ्गच्छते। एकस्यैव द्रव्यस्योपादेनोभयावस्थस्य स्थौल्यं सौक्ष्म्यं चेत्यवस्थात्मकं धर्मद्वयं सदसच्छब्दबोध्यम्। तत्र स्थौल्याद्धर्मादन्यत् सौक्ष्म्यं धर्मान्तरं तेनेति। एवं कु

‘तदात्मानं स्वयमकु (तै॰ २/७/१) इति वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थस्योपक्रमवाक्यस्य तथैव व्याकर्त्तुमुचितत्वात्। अन्यथासिदित्यात्मानमकु

कालेन सहासम्बन्धात् कर्त्तृत्वस्य वक्तु

गोविन्दभाष्यानुवाद—यह शङ्का हो सकती है कि *‘असद्वा इदमग्र आसीत्’*—सृष्टिके (उत्पत्ति) पहले यह जगत् असत् था—इस श्रुतिके

द्वारा उपादान ब्रह्ममें उपादेय जगत्‌की सत्ताको तो स्वीकार नहीं किया जा सकता—यदि आप यह कहते हैं तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह जो असत्त्वका व्यपदेश (उल्लेख) है, वह आपके द्वारा सम्मत तुच्छ शून्यवादके अनुसार नहीं, अपितु एक धर्मान्तरके द्वारा वह असत्त्व सङ्गत हुआ है। देखो, एक ही द्रव्यकी उपादान और उपादेय दो अवस्थाओंका सम्बन्ध घटित होनेपर उसके दो धर्म स्वीकृत होते हैं—एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। इनमें स्थौल्य धर्म 'सत्' शब्द द्वारा बोध्य है और सूक्ष्मता-धर्म असत् शब्द द्वारा सम्वेद्य है! श्रुति जो कहती है कि उपादेय जगत् असत् है—तो इसका अर्थ है—जगत् उस समय सूक्ष्मावस्थापन्न था, किन्तु शून्यतापन्न नहीं था। इस सौक्ष्म्य (सूक्ष्मता) धर्मके आश्रयमें जगत्‌की उस समय भी सत्ता थी यदि कहो, इस प्रकारका विचार किसको उपजीव्य (आश्रय) करके कह रहे हो, तो इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—*'वाक्याशेषात्'*—अन्य श्रौत वाक्यके आधारपर यह अर्थ प्राप्त होता है। यथा *'तदात्मानं स्वयमकु*　—उस समय सृष्टिके प्रारम्भमें परमेश्वरने स्वयंको व्याकृत (विकृत) कर दिया। इस प्रकार अनुग्राहक अर्थात् उपजीव्य दूसरे सिद्धान्त-वाक्य द्वारा उपक्रममें कहे गये *'असद्वा इदम्'*—यह जगत् पहले असत् था—इत्यादि वाक्य जो सन्दिग्ध अर्थका प्रतिपादक है, उसकी व्याख्या करना उचित है, अतः स्थूल एवं सूक्ष्मरूप धर्म—इस प्रकारका अर्थ किया गया है। जैसा कि महाभाष्यकार पतञ्जलिने कहा है, *'व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्'* अर्थात् सन्दिग्ध विषयका निर्णय व्याख्या द्वारा किया जाय, अन्यथा सन्देह रहनेपर वह लक्षण ठहरता नहीं है। *'तदात्मानं श्क्यमकु*　इस वाक्यशेषको उस सन्देहका निर्णायक न कहे जानेपर श्रुतिमें उक्त 'आसीत्'—इस अतीतकालका निर्देश और 'अकु
निर्देश—इन दोनों वाक्योंका फिर असत्‌के साथ विरोध होता है। असत् जगत्‌का 'आसीत्' पद द्वारा प्रतिपाद्य काल-सम्बन्ध सङ्गत नहीं होता और 'असत्' शब्द द्वारा प्रतिपाद्य शून्य पदार्थका उसकी स्वरूप सत्ताके (आत्माके) अभावके कारण 'अकु
कर्त्तृत्व भी कहा नहीं जा सकता॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—असद्व्यपदेशादिति। नास्थेयं न श्रद्धेयम्। असत इति। सता कालेन सह असतः कार्यस्य न सम्बन्धः सतोरेव तद्दृष्टेः। आत्मा भावेनेति। तदात्मानं स्वयमित्यत्र कारणस्य तस्य निरुपाख्यत्वे तदात्मनि जगद्रूपत्वं करणं वक्तु

सूक्ष्मा-सार—'*असद्व्यपदेशादित्यादि*' सूत्रके भाष्यके अन्तर्गत '*जगतः सत्त्वं नास्थेयमिति*' में 'आस्थेयम्न' का अर्थ है 'अश्रद्धेय' अर्थात् निर्भर योग्य नहीं है '*असतः कालेन सहासम्बन्धादिति*' में 'सत्' अर्थात्—नित्यस्वरूप कालके साथ असत् कार्यका सम्बन्ध हो नहीं सकता; दो सत्-वस्तुओंका ही काल सम्बन्ध देखा जाता है। '*आत्माभावेन कर्त्तृत्वस्य*' इति '*आत्माभावेन*' अर्थात् आत्माके स्वरूपकी सत्ता अङ्गीकार करनेपर उसमें, क्योंकि '*तदात्मानम् स्वयमकु* इस श्रुतिमें करणीभूत ब्रह्मके निरूपाधिकत्व शब्दका अर्थ '*भवत्-सम्मत*' (आपके द्वारा सम्मत) असत्त्व होनेपर उसका स्वयंमें जगत्-रूपमें परिणाम-क्रिया कहना सङ्गत नहीं होता, क्योंकि आत्माको ही असत् माना है। '*कर्त्तृत्वस्य वक्तु* कर्त्तृत्व जिस प्रकार दुर्वच है, उसी प्रकार कार्यत्वको भी दुर्वच (कहनेमें असम्भव) समझना चाहिये॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—तैत्तिरीयोपनिषदमें पाया जाता है '*असद्वा इदमग्र आसीत्*' (२/७/१) अर्थात् सृष्टिके पूर्व एकमात्र असत् था, इस वाक्यानुसार उपादानमें उपादेयकी सत्ता थी—यह किसी भी मतसे विश्वासका विषय हो नहीं सकता। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि यह असत् व्यपदेश तुम्हारे मतानुसार नहीं है, धर्मान्तरके द्वारा यह सङ्गत है। स्थूल और सूक्ष्म भेदसे जगत्की दो अवस्थाएँ हैं, उन्हें ही सत् और असत् शब्दोंसे जाना जाता है। इसलिए उपादेय जगत्को जो असत् कहा गया है, इसका अर्थ है कि जगत् सूक्ष्मावस्थामें था, इसमें शून्यवाद स्थापित नहीं होता। कारण सूक्ष्मावस्थामें भी जगत्की सत्ता रहती है। इसका प्रमाण है—'*वाक्यशेषात्*' अर्थात् '*आत्मानम् स्वयमकु* नहीं तो 'आसीत्' और 'अकु

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

सदिव मनस्त्रिवृत् त्वयि विभात्यसदा मनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयाऽवसितम् ॥

(श्रीमद्भा० १०/८७/२६)

त्रिगुणात्मक यह जगत् मनकी कल्पनामात्र है, फिर भी आपमें अधिष्ठित होनेके कारण यह मनुष्य पर्यन्त समस्त जीवोंको सत्यकी ही भाँति प्रतीत हो रहा है। आत्मतत्त्वज्ञ पण्डित भोक्ता-भोग्य-स्वरूप इस सम्पूर्ण विश्वको परमात्मरूप सत्-वस्तुका कार्य होनेके कारण सत् रूपमें देखते हैं, लेकिन परमात्म-सम्बन्धके बिना इसकी पृथक् सत्ताका ज्ञान नहीं करते। स्वर्णको चाहनेवाले व्यक्ति कु वस्तुओंका त्याग नहीं करते, क्योंकि वे स्वर्णके ही कार्य हैं, स्वर्णसे निर्मित हैं, अतः ग्रहण कर लेते हैं। इसीलिए यह निश्चित हुआ है कि आपके द्वारा रचित यह जगत् और इसमें अनुप्रविष्ट पुरुष या जीवात्मा एक प्रकारसे आपका ही स्वरूप हैं।

और भी,

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात् स्वयंज्योतिरजः परेशः।
नारायणो भगवान् वासुदेवः
स्वमामयात्मन्यवधीयमानः ॥

यथानिलः स्थावरजङ्गमाना-
मात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत्।
एवं परो भगवान् वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः॥

(श्रीमद्भा० ५/११/१३-१४)

(जीवात्मा एवं परमात्माके भेदसे क्षेत्रज्ञ दो प्रकारका है उनमेंसे जीवात्माकी बात कहकर अब परमात्माका वर्णन कर रहे हैं,) क्षेत्रज्ञ परमात्मा सर्वव्यापी, जगत्-कारण, पूर्ण, अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश, जन्मादिसे रहित और ब्रह्मादियोंका भी ईश्वर हैं। वे नारायण समस्त जीवोंके

आश्रय, षडैश्वर्य-पूर्ण, भगवान् और समस्त प्राणियोंके आवासस्वरूप वासुदेव हैं। वे अपनी मायासे सभी जीवात्माओंमें उनके नियामक रूपमें रहते हैं। वायु जिस प्रकार प्राण बनकर स्थावर-जङ्गम आदि समस्त प्राणियोंमें प्रवेश करके उन्हें नियमित करती है, उसी प्रकार परमपुरुष वासुदेव ही इस प्रपञ्चमें प्रवेश करके उसपर आधिपत्य करते हैं॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—असत्त्वं धर्मान्तरमित्यत्र हेतुं दर्शयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—असत्त्वका अर्थ सूक्ष्मतारूप जो धर्मान्तर है, उस विषयमें कारण दिखा रहे हैं—

सूत्र—युक्तेः शब्दान्तराच्च॥ १८॥

सूत्रार्थ—'युक्तेः शब्दान्तराच्च'—युक्ति और दूसरी श्रुतिसे असत् शब्दका सूक्ष्म अर्थ ही ग्राह्य है, शश-शृङ्गादिके समानशून्य अर्थ नहीं है॥ १८॥

सूत्रानुवाद—युक्ति और शब्दान्तर (दूसरी श्रुति) के प्रयोगसे तथा वाक्यके अन्तिम वर्णनसे असत् शब्दका अर्थ सूक्ष्म ही प्राप्त होता है॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—मृत्पिण्डस्य कम्बुग्रीवाद्याकारयोगो घटोऽस्तीति व्यवहारस्य हेतुः। तद्विरोधिकपालाद्यवस्थान्तरयोस्तु घटो नास्तीति व्यवहारः। स्मृतिरप्येवमेवाभिधत्ते। (वि॰पु॰ २/१२/४२) *'मही घटत्वं घटतः कपालिका। कपालिकाच्चूर्णरजस्ततोऽणुः'* इति। एतावतैव घटाद्यभावव्यवहारसिद्धेस्तदन्यः स न कल्प्यते न चोपलभ्यत इति युक्तिः। असच्छब्दस्य पूर्वत्रोदाहृतत्वात् ततोऽन्यः सच्छब्दः। शब्दान्तरं सदेव सौम्येदमिति। (छा॰ ६/२/१) एवञ्च युक्तिसच्छब्दाभ्यामसत् सूक्ष्ममित्येवार्थो न तु शशविषाणादिवन्निरुपाख्यमिति। उपमृदितविशेषं जगत् परमसूक्ष्मे ब्रह्मणि विलीनम्। तदानीं सौक्ष्म्यादसदित्युच्यते। तस्मादुत्पत्तेः प्रागप्युपादानवपुषा सत्त्वात् तदभिन्नमेवोपादेयमिति सिद्धम्। यच्च नासदुत्पद्यते असम्भवात् नापि सत् कारकव्यापारवैयर्थ्यात् किन्तु अनिर्वाच्यमेवेत्याह तन्मन्दं सदसद्-विलक्षणताया दुरुपपादनत्वात्॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'घट है' यह लौकिक वाक् व्यवहार किस समय होता है? जिस समय मृत्-पिण्डमें कम्बुग्रीवादि आकारका योग होता है और जिस समय उसकी विरोधिनी कपालादि अन्य

अवस्थाओंके साथ उसका सम्बन्ध होता है, उस समय 'घट नहीं है' इस प्रकार लौकिक प्रयोग होता है, यही असत्त्वके धर्मान्तररूप अर्थकी युक्ति है। श्रीविष्णुपुराण (२/१२/४२) में भी इसी प्रकार कहा गया है—*'मही घटत्वं घटतः इत्यादि ... ततोऽणुः इति।'* इस श्लोकका अर्थ है—मृत्तिका घटाकारको प्राप्त होती है और वह घट कपालिकामें (खण्डमें) परिणत होता है, कपालिका मृत्तिका चूर्णमें परिणत होती है और यह चूर्णरज (धूलिकण) क्रमसे परमाणु रूपमें अवस्थान करती है। इस प्रकार कार्यावस्थाके विरोधी अवस्थान्तर योग द्वारा 'घट नहीं है' इस प्रकार घटाभाव (घटादि अभाव) का व्यवहार सिद्ध होता है। इस अवस्थान्तर योग द्वारा घटाभावादि लौकिक व्यवहार सिद्ध होनेसे उस अवस्थान्तर योगसे भिन्न कोई घटाभावादि व्यवहार कल्पित नहीं होता, असत्‌की उपलब्धि भी नहीं होती, यही युक्ति है। असत् शब्दका पहले उल्लेख होनेसे उससे भिन्न सत् शब्द है। शब्दान्तर यथा *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* इस प्रकार युक्ति एवं शब्दान्तर द्वारा प्रमाणित होता है कि असत् शब्दका अर्थ सूक्ष्म है, इससे भिन्न शशकके शृङ्गादिके समान सम्पूर्ण रूपसे यह (असत्) अलीक (मिथ्या) शून्य पदार्थ नहीं है। जिस समय (प्रलयकालमें) समस्त विशेष अवस्थाएँ लुप्त होती हैं, उस समय जगत् उपमृदित विशेष एवं परम सूक्ष्म होता है, तब वह ब्रह्ममें विलीन होनेपर सौक्ष्म्यवश (सूक्ष्मताके कारण) 'असत्' रूपमें परिणत होता है। अतएव उत्पत्तिके पूर्व भी यह जगत् उपादान आकारमें रहता है, इसलिए उपादानसे उपादेय अभिन्न है—यह सिद्ध होता है। कोई-कोई कहते हैं—जगत् सदसद् रूपमें अनिर्वचनीय (वर्णनके योग्य नहीं) है। उनकी युक्ति यह है कि जो असत् है, वह उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वह असम्भव है और जगत्‌को सत् भी नहीं कहा जा सकता, सत् होनेपर तो कारक (कर्त्ता) कु
व्यर्थ हो जाती (कारण है कि यह पूर्वसे ही सिद्ध है) अतएव निर्वचनके योग्य नहीं है अनिर्वाच्य है। इस प्रकारकी बातें नितान्त हेय हैं, क्योंकि सत् और असत्‌से विलक्षण अन्य कोई भी वस्तु दुःसम्पादनीय—देखे न जानेसे प्रतिपादन अथवा स्वीकार करने योग्य नहीं है॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—युक्तेरिति। युक्तिं दर्शयति मृत्पिण्डस्येत्यादिना। महीति श्रीवैष्णवे। एतावतैवेति। कार्यावस्थाविरोध्यवस्थान्तरयोगेनैवेत्यर्थः। तदन्यः स इति। तादृशाव-स्थान्तरयोगादन्यः स घटाद्यभावव्यवहार इत्यर्थः। तदानीं प्रलये। सदसदिति। घटादिकं सत् खपुष्पादिकमसत्। न खलु ताभ्यां विलक्षणं किञ्चित् क्वचिदीक्षितं केनचिदिति तथात्वं दुःसम्पादमित्यर्थः॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार— *'युक्तेरित्यादि'* सूत्रमें भाष्यकार मृत्-पिण्डस्य इत्यादि वाक्य द्वारा युक्ति दिखा रहे हैं। *'महीघटत्वम्'* इत्यादि श्लोक श्रीविष्णुपुराणसे उद्धृत है। *'एतावतैव घटाद्यभाव व्यवहार सिद्धेः'*—एतावता अर्थात् कार्यावस्था विरोधी अवस्थाके योग द्वारा ही। *'तदन्यः स न कल्पयते'* में 'तदन्यः' पदका अर्थ है—उस अवस्थान्तर योगसे विभिन्न (पृथक्), सः—वह घटाभावादि व्यवहार यह अर्थ है। *'तदानीम् सौक्षम्यात्'* इति *'तदानीम्'* अर्थात् प्रलयकालमें *'सद्सद्विलक्षणताया'* इत्यादि घटादि सत् एवं आकाश-पुष्पादि असत्—उस सत् और असत्से विपरीत किसी वस्तुको कभी भी कोई देखता नहीं, अतएव वह अनिर्वाच्य-स्वरूप है—प्रतिपादनके योग्य नहीं है॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति— *'असत् एव'* अर्थात् असत्त्व जो सूक्ष्मतारूप धर्मान्तर है, उसका हेतु (दो कारण) प्रदर्शित करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि इस धर्मान्तरको युक्ति एवं अन्य श्रुतिसे जानना होगा। इसमें युक्तिके लिए भाष्यकार कह रहे हैं कि मृत्-पिण्डमें कम्बुग्रीवादि आकारका योग होनेपर उसे मृत्-पिण्डको घट कहा जाता है और उसके विरोधी कपालादि (खण्ड-खण्ड) अवस्था होनेपर उसे घट नहीं कहा जाता। शब्दान्तर भी दिखा रहे हैं—श्रीविष्णुपुराणमें कहा है कि मही अर्थात् मृत्तिका ही घटत्वको प्राप्त होती है इत्यादि। श्रुतिमें भी पाया जाता है, *'सदेव सौम्यदमग्र आसीत्।'* शब्दान्तरका अर्थ ही है—पूर्व सूत्रमें उदाहृत 'असत्' शब्दसे भिन्न 'सत्' शब्दके द्वारा भी सत्कार्यवादकी सिद्धि होती है। विस्तारपूर्वक जाननेके लिए भाष्य देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवत (६/१६/२२) में भी पाया जाता है—

यस्मिन्निदं यतश्चेतम् तिष्ठत्यप्येति जायते।
मृण्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः॥

अर्थात् मृण्मय घटादि पदार्थ जिस प्रकार मृत्तिकासे उत्पन्न होते हैं, मृत्तिका (उपादान-कारण) में उपस्थित होते हैं और मृत्तिकामें ही लीन होते हैं, इसी प्रकार यह कार्य-कारणात्मक विश्व आपसे उत्पन्न होता है, आपमें ही अवस्थित होता है और आपमें ही लीन हो जाता है, ऐसे ब्रह्मस्वरूप आपको नमस्कार है। इस प्रकार *'आत्मानं स्वयमकु* वाक्य सत् शब्दके पर्यायका ही वाचक है।

अक्षत्—अभाव अर्थ कहना ठीक नहीं है क्योंकि—

'असदेव स भवति असद् ब्रह्मेति चेद् वेद' अर्थात् जो ब्रह्मको असत् कहता है, वह असत् हो जाता है, साधुजनों द्वारा विगर्हित हो जाता है। स्रष्टाके अभावमें सृष्टि सङ्गत नहीं है *'नेह नानास्ति किञ्चन'* अर्थात् इस जगत्-कारण-ब्रह्ममें नानात्व (अनेकत्व) नहीं है। कारणको नाना (अनेक) माननेका फल कहा गया है—

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति यः नानेव पश्यति' अर्थात् यह नित्य संसारी होता है, जो जगत्के अनेक कारण अर्थात् अनेक ईश्वर मानता है और यह कैमुत्य न्यायका बोधक भी है अर्थात् कारण ब्रह्ममें थोड़े भी नानात्व दर्शनका जब ऐसा फल है तो फिर बहु नानात्वकी तो बात ही क्या? ॥ १८ ॥

अवतरणिका भाष्य—अथ सत्कार्यवादे दृष्टान्तानुदाहरति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब सत्कार्यवादमें दृष्टान्तोंका उल्लेख कर रहे हैं—

सूत्र—पटवच्च ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—'पटवच्च'—पट जिस प्रकार उत्पत्तिके पूर्व सूत्राकारमें रहकर बादमें ओतप्रोत रूपसे बुनायी द्वारा वस्त्राकारमें अभिव्यक्त होता है, इसी प्रकार सूक्ष्मशक्ति विशिष्ट ब्रह्मके साथ जगत् अभिन्न रूपसे रहता है और उन्हींसे अभिव्यक्त होता है ॥ १९ ॥

सूत्रानुवाद—समस्त जगत् ब्रह्ममें सूतमें पटकी भाँति ओतप्रोत रहता है। उनमें ही विद्यमान होनेके कारण उन्हींसे अभिव्यक्त होता है। यह सत्कार्यवादका दृष्टान्त है ॥ १९ ॥

गोविन्दभाष्य—पटो यथा सूत्रात्मना पूर्वं सन्नेव प्राप्तव्यतिषङ्गविशेषेभ्यः सूत्रेभ्योऽभिव्यज्यते तथा सूक्ष्मशक्तिमद्ब्रह्मात्मना पूर्वं सन्नेव प्रपञ्चः सिसृक्षोस्तस्मादिति। वटबीजादिदृष्टान्तसंग्रहाय च-शब्दः॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पट जिस प्रकार सूत्रके स्वरूपमें पहलेसे (अभिव्यक्तिसे पूर्व) ही विद्यमान रहकर सरल एवं वक्रभावसे बुने जानेपर अर्थात् ओतप्रोत रूपमें परस्पर अन्योन्य रूपमें सम्बन्ध प्राप्त होनेपर सूत्र-समष्टिसे (सूत्र-समुदायसे) अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार यह जगत्-प्रपञ्च अभिव्यक्तिके पूर्व सूक्ष्म शक्तिमान ब्रह्मके साथ अभेद रूपसे विद्यमान रहता है और ब्रह्मके द्वारा विश्व-प्रपञ्चकी सृष्टि करनेकी इच्छा किये जानेपर उनसे अभिव्यक्त होता है। वट-बीजका दृष्टान्त दिखानेके लिए सूत्रमें 'च' शब्दका प्रयोग है॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—पटवदिति। व्यतिषङ्गविशेषः ऋजुतिर्यग्भावेन मिथः सम्बन्ध इत्यर्थः। तस्मात् ब्रह्मणः। वटबीजादीति। तेन दृष्टान्तानिति बहुवचनमुपपन्नम्॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीकानुवाद—'पटवच्च' सूत्रके भाष्यमें कथित *'व्यतिषङ्ग-विशेष'* का अर्थ है—सरल और वक्र भावसे वक्रभावसे परस्पर सम्बन्धित। *'सिसृक्षोस्तस्मात्'* इति में 'तस्मात्' का अर्थ है—'ब्रह्मसे' *'वटबीजादिति'* इस स्थलपर आदि पद प्रयुक्त होनेसे अवतरणिका भाष्यके *'दृष्टान्तान्-उदाहरति'* वाक्यमें दृष्टान्त पदका बहुवचनमें युक्तियुक्त प्रयोग हुआ है॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब सूत्रकार सत्कार्यवादमें दृष्टान्तका प्रदर्शन करते हुए प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पट जिस प्रकार सूत्रस्वरूपमें अवस्थित रहकर ओतप्रोत रूपसे सम्बन्धयुक्त होकर वस्त्ररूपमें अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार यह विश्व सूक्ष्म शक्तियुक्त ब्रह्ममें पहले विद्यमान रहकर बादमें ईश्वरकी इच्छासे उनसे अभिव्यक्त होता है। इस स्थलपर वट-बीजादि दृष्टान्त भी ग्रहण किये जा सकते हैं। वैष्णव-शास्त्रमें श्रीध्रुवजीने कहा है—

न्यग्रोधः सुमहानल्पे यथा बीजे व्यवस्थितः।
संयमे विश्वमखिलं बीजभूते तथा त्वयि॥

बीजादङ्कुर सम्भूतो न्यग्रोधः स समुत्थितः।
विस्तारं च यथा याति त्वत्तः सृष्टौ तथा जगदि॥

अर्थात् जैसे सूक्ष्म बीजमें महान वटवृक्ष अवस्थित रहता है, उसी प्रकार प्रलयकालमें यह सारा विश्व बीजभूत आपमें विद्यमान रहता है। बीजसे अङ्कुर तथा अङ्कुरसे महान वटवृक्ष उत्पन्न होता है और परम विस्तारको प्राप्त होता है, उसी प्रकार आपमें पहलेसे ही बीज रूपमें अवस्थित यह विश्व क्रमपूर्वक विस्तारको प्राप्त करता है।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च
ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा
नस्योतवद्यस्य वशे च लोकः॥

(श्रीमद्भा॰ ६/३/१२)

यमराजने कहा—हे दूतो! तुम लोग मुझे ही सर्वश्रेष्ठ समझते हो, किन्तु ऐसा नहीं है। मुझसे, तथा इन्द्र, चन्द्र आदि प्रमुख लोकपालकोंसे भी श्रेष्ठ और एक जन हैं, जो सम्पूर्ण चराचर जीवोंके अधीश्वर हैं। उनके ही अंशभूत ब्रह्मा, विष्णु और शिवसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होता है। सूतमें वस्त्रके समान यह समस्त विश्व उनमें ही ओतप्रोत भावसे अवस्थित है। समस्त विश्व नथे हुए बैलके समान उनके अधीन है।

यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च।
एवं भूतानि भूतेषु चोदितानीशमायया॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१५/४)

धान्यादि बीजोंको जब धरतीमें बोया जाता है, तो कभी उनसे बीज उत्पन्न होता हे और कभी नहीं इसी प्रकार भगवन्-मायाके द्वारा प्रेरित प्राणी कभी पुत्रादि रूपमें पितादिसे जन्म लेते हैं और कभी नहीं। कभी-कभी उत्पन्न होनेके साथ-ही-साथ मर भी जाते हैं। अतः ऐसे नश्वर सम्पर्कके लिए शोक करना उचित नहीं है।

'ओतप्रोतं पटवत् यत्र विश्वम्' (श्रीमद्भा॰ ३/६/३१)॥ १९॥

सूत्र—यथा च प्राणादि॥ २०॥

सूत्रार्थ—'यथा च प्राणादिः' जिस प्रकार प्राण, अपान इत्यादि समस्त वायु संयमित होकर (उस संयमित अवस्थामें) मुख्यप्राणमात्र स्वरूपमें रहती है और कार्यकालमें मुख्यप्राणके द्वारा हृदयादि स्थानका आश्रय कर लेनेमें वह उसी मुख्यप्राणवायुसे प्राण, अपानादि स्वरूपमें अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार ब्रह्मसे सूक्ष्म जगत्‌की अभिव्यक्ति होती है॥ २०॥

सूत्रानुवाद—यह प्रपञ्च प्रलयकालमें ब्रह्ममें वर्त्तमान रहता है और सृष्टिकालमें उनसे पुनः उसी प्रकार उदित होता है, जिस प्रकार प्राणादि वायु संयमित होकर मुख्य प्राणमें अवस्थित रहती है और मुख्य प्राणसे ही प्राण-अपानादि स्वरूपमें अभिव्यक्त होती है॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—यथा प्राणापानादिः प्राणायामेन संयमितस्तदापि मुख्यप्राणमात्रतया सन्नेव प्रवृत्तिकाले हृदयादिस्थानानि मुख्ये भजति सति तस्मादेव मुख्यात् स्वावस्थयाभिव्यज्यते तथा प्रपञ्चोऽप्युपमृदितविशेषोऽपीतौ सूक्ष्मशक्तिमति ब्रह्मणि तदात्मना सन्नेव सृष्टिकाले तस्मिन् सिसृक्षौ सति तस्मादेव प्रधानमहदादिरूपः प्रादुर्भवतीति। उक्तसमुच्चयार्थश्चशब्दः। असत्कार्यवादे तु दृष्टान्तो नास्ति। न हि बन्ध्यापुत्रः क्वचिदुत्पद्यमानो दृश्यते वियत्पुष्पं वा। तस्मादेकमेव जीवप्रकृतिशक्तिमद्ब्रह्म जगदुपादानं तदात्मकमुपादेयञ्चेति सिद्धम्। एवं कार्यवस्थत्वेऽप्यविचिन्त्यत्वधर्मयोगादप्रच्युतपूर्वावस्थञ्चावतिष्ठते। '*ॐ नमो वासुदेवाय तस्मै भगवते सदा। व्यतिरिक्तं न यस्यास्ति व्यतिरिक्तोऽखिलस्य य*' (वि॰पु॰ १/१६/७८) इत्यादिस्मृतेः॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस प्रकार प्राण-अपान इत्यादि पृथक्-पृथक् वायु प्राणायामके द्वारा संयमित होती है, तो उस समय अर्थात् संयमकालमें वह मुख्य प्राणवायुके रूपमें अवस्थित रहती है, और बादमें जिस समय प्रवृत्तिकालमें वायुकी अपनी-अपनी अभिव्यक्तिका कार्य होता है, उस समय मुख्य प्राणके हृदयादि स्थानोंका आश्रय करनेपर वह स्वकीय अवस्था उस मुख्य प्राणसे ही प्राणापानादि रूपमें अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार उपमर्दन विशेष प्रपञ्च भी अवयव संस्थानके भङ्ग होनेपर प्रलयकालमें सूक्ष्म-शक्तिमान परमेश्वरमें अभेद (तादात्म्य) स्वरूपसे रहता है, बादमें सृष्टिके समय परमेश्वरके द्वारा सृष्टिकी इच्छा किये जानेपर उन परमेश्वरसे प्रधान-महत्—अहङ्कारादि

रूपमें प्रकट होता है। इस सूत्रमें भी प्रयुक्त 'च' शब्द पूर्वनिर्दिष्ट पटके समुच्चय (संग्रह) के लिए प्रयुक्त है। अभिव्यक्तिवादमें दृष्टान्त है, किन्तु असत् कार्यवादके लिए कोई दृष्टान्त दिखायी नहीं देता है। यदि कहो, बन्ध्यापुत्रकी उत्पत्ति ही दृष्टान्त है, तो यह बात अतीव हास्यास्पद है, क्योंकि बन्ध्यापुत्र अथवा आकाश-कु
किसी भी समय उत्पन्न होते देखा नहीं जाता। अतएव सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म एक हैं, वे जीव-शक्ति और प्रकृति-शक्तिसे विशिष्ट होकर परम शक्तिमान हैं, वे ही जगत्के उपादान हैं और यह उपादेय जगत् भी वही तदात्मक अर्थात् ब्रह्मात्मक है। इस प्रकार ब्रह्म कार्यावस्था अर्थात् जगदाकारमें अभिव्यक्त होनेपर भी अचिन्त्यनीय धर्म-सम्बन्धके कारण स्वस्वरूपसे विच्युत न होकर जगदाकारमें रहते हैं। श्रीविष्णुपुराणमें इसी प्रकार कहा गया है यथा—'*ॐ नमो वासुदेवाय*' इत्यादि अर्थात् उन षडैश्वर्यशाली, सर्वान्तर्यामी, द्योतनशील (प्रकाशवान्) श्रीहरिके लिए सर्वदा प्रणाम हो। सभी कार्योंमें उनकी सत्ताके कारण पूर्वावस्थाकी विच्युति नहीं घटती, अखिल जगत्—सत् अथवा असत् जो कु
स्थित हैं—पुराण वाक्य इसकी पुष्टि करता है॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—यथा चेति। तदापि संयमकालेऽपि स्वावस्थया प्राणापानादिरूपतया। अभिव्यज्यते प्रकटो भवतीत्यर्थः। तस्मादेव सूक्ष्मशक्तिकात् ब्रह्मण एव। उक्तसमुच्चयार्थः पूर्वनिर्दिष्टपटसंग्रहार्थः। ॐ नम इति श्रीवैष्णवे। अखिलव्यतिरिक्ततया स्थित्यभिधानात् पूर्वावस्थाविच्युतिर्नेत्यागतम्। '*सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् भूतभावनः। समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत्*' इति ब्रह्मवाक्यमादिपदात्॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार—'*यथा च प्राणादिः*' सूत्रके भाष्यमें '*तदापि मुख्यप्राणतया*' इतिमें तदापिका अर्थ है प्राण-वायुके संयमकालमें भी। '*स्वावस्था अभिव्यज्यते*' इत्यादि में 'स्वावस्थया' से अर्थ है—स्वकीय अवस्थामें अर्थात् प्राणापानादि अपने-अपने रूपमें अभिव्यज्यते अर्थात् प्रकट होता है, प्रकाश पाता है 'तस्मादेव' का अर्थ है सूक्ष्मशक्तिसे सम्पन्न परमेश्वरसे ही। '*उक्त समुच्चयार्थ श्चशब्दः*' पूर्व कथित पट-दृष्टान्त ग्रहणके अभिप्रायसे सूत्रमें 'च' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'ॐ नमः' इत्यादि श्लोक श्रीविष्णुपुराण (१/१९/७८) में कथित है। इस श्लोकमें

'व्यतिरिक्तोऽखिलस्य यः' द्वारा यही कहा गया है कि अखिल जगत्से विलक्षण रूपमें जो भगवान्की स्थिति कही गयी है, इससे उनकी पूर्वावस्थाकी विच्युति नहीं होती। *'इत्यादि स्मृतेः'*—यहाँ 'आदि' पदसे *'सोऽयं तेऽभिहितस्तात्'* (श्रीमद्भा॰ २/७/५०) श्लोकको जानना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें पुत्र नारदको लक्ष्य करके श्रीब्रह्माजीने कहा हे वत्स! मैंने तुम्हें श्रीहरिका स्वरूप संक्षेपमें बतलाया। वे षडैश्वर्यशाली महामहिममय श्रीहरि समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं उनसे भिन्न अन्य कोई वस्तु स्वरूपतः है ही नहीं किन्तु सत् असत् जो कु भी है, वे उससे पृथक् हैं॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सत्कार्यवादका और एक दृष्टान्त सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें बता रहे हैं—जिस प्रकार प्राणादि अर्थात् प्राण और अपानादिके प्राणायाम द्वारा संयमित होकर उस समय मुख्य प्राण रूपमें विद्यमान रहते हैं एवं मुख्य प्राण हृदयादि स्थानका आश्रय कर लेते हैं तथा उस मुख्य प्राणसे ही वे अपने-अपने रूपोंमें अभिव्यक्त होते हैं, उसी प्रकार यह प्रपञ्च प्रलयकालमें भी ब्रह्ममें वर्त्तमान रहता है और सृष्टिकालमें उनसे ही पुनः महदादि रूपोंमें प्रादुर्भूत होता है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये।
प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च
प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम्।
चित्तस्य चित्तेर्मनइन्द्रियाणां
पतिर्महान् भूतगुणाशयेशः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/३/२८-२९)

अर्थात् जो ज्ञान और विज्ञानकी मूर्त्तिस्वरूप और जगत्के आदि कारण हैं, जो प्राण, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिके विकार द्वारा कार्य-कलाप रूपमें प्रकाशित होते हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ। आप मुख्यप्राण सूत्रात्माके रूपमें चराचर जगत्के नियन्ता हैं, आप ही प्रजाके रक्षक और उनके चित्तकी चेतनास्वरूप तथा इन्द्रियोंके

पालक हैं। आप महान हैं, पृथ्वी आदि पञ्चभूत एवं उनके गन्धादि गुणों और संस्कारोंके आप ही ईश्वर हैं।

और भी,

परावरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः।
स एवासीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यन्न किञ्चन॥

(श्रीमद्भा॰ ९/१/८)

जो छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे सभी प्राणियोंमें अन्तर्यामी रूपमें विद्यमान हैं, वे परमपुरुष भगवान् श्रीहरि ही कल्पके अन्तमें एकमात्र विद्यमान थे। उनके अतिरिक्त यह दिखायी देनेवाला जगत् अथवा अन्य कु भी नहीं था॥ २०॥

अवतरणिका भाष्य—प्रकृतिश्च प्रतिज्ञेत्यस्मिन्नधिकरणे जगदुपादानत्वं जगन्निमित्तत्वञ्च ब्रह्मणो निरूपितम्। तत्राद्यमुपक्षिप्तान् दोषान् परिहृत्य दृढीकृतं दृश्यते त्वित्यादिभिः। अथान्तिमं वाक्यान्तरात् प्रतीतमपि जीवकर्त्तृत्वपक्षं संदूष्य दृढीक्रियते। तथाहि *'कर्त्तारमीशम्'* (मु॰ ३/१/३) इत्यादिश्रुतेरीश्वरो जगत्कर्त्तेत्येके। *'जीवाद् भवन्ति भूतानि'* इत्यादि श्रुतेरदृष्टयोगाज्जीवस्तत्कर्त्तेति त्वितरे। तत्रेश्वरस्य तत्कर्त्तृत्वे पूर्णतादिविरोधापत्तेर्जीवस्यैव तदिति वदन्ति। द्विविधवाक्योपलम्भादनिर्णयो वा स्यादित्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तनुपरोधात्'* (ब्र॰सू॰ १/४/२३) प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादमें उक्त इस अधिकरणमें यह निर्णीत हो गया था कि ब्रह्म ही जगत्के उपादान कारण और निमित्त कारण हैं। उनमें प्रथम अर्थात् उपादान कारणता विषयमें जो समस्त आक्षेप प्रस्तुत किये गये थे, उन सबको निरस्त करके *'दृश्यते तु'* इत्यादि (२/१/६) सूत्रके द्वारा उक्त सिद्धान्तको दृढ़ किया गया था। अब (द्वितीय) अर्थात् निमित्तकारणता विषयमें वाक्यान्तरसे जीव कर्त्तृत्ववाद प्रतीत होनेपर उसे दोषयुक्त बता करके ब्रह्मके इस निमित्त कारणतावादको भी सुदृढ़ किया जाता है। जिस प्रकार जगत्के कर्त्तृत्वके सम्बन्धमें बहुत-से मत पाये जाते हैं, उनमें कोई-कोई (वैदिक प्रधान व्यासादि) कहते हैं—*'कर्त्तारमीशम्'* (मु॰ ३/१/३)—'ईश्वर जगत्के सृष्टिकर्त्ता हैं' इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वरके जगत्-कर्त्ताके सम्बन्धमें

हैं। दूसरे कहते हैं—*'जीवाद् भवन्ति भूतानि'*—जीवसे समस्त भूतोंका उदय होता है, इस श्रुतिके द्वारा यह प्रदर्शन होता है कि जीव ही अदृष्ट-योगसे जगत्‌का उत्पादक अर्थात् जगत्-कर्त्ता है। इन दोनों मतोंके बीच ईश्वरको जगत्‌का कर्त्ता कहनेसे उनके पूर्णतादि धर्मका विरोध होता है। अतएव जीव ही जगत्-कर्त्ता है, इस प्रकार पूर्वपक्षी सिद्धान्त करते हैं। जब दो प्रकारकी श्रुतियोंकी उपलब्धि हो रही हो, तब सन्देह तो रहेगा ही। ऐसी अवस्थामें प्रकृत् (प्रकरणगत) सिद्धान्तके लिए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—उक्तार्थानुवादपूर्वकं हरेर्जगन्निमित्तत्वं वक्तु प्रकृतिश्चेत्यादिना। हरेर्विश्वोपादानतां ब्रुवति समन्वये स्मृतितर्कादिभिर्विरोधो निरस्तः। अथ सर्वज्ञस्य पूर्णस्य तस्य विश्वनिमित्ततां ब्रुवति तस्मिन् तर्केणाक्षेपो निरस्यत इत्यर्थः। हरिर्न जगत्कर्त्ता पूर्णतादिविरोधादिति तर्केण समन्वयमाक्षिप्य समाधानादाक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। जीवोऽदृष्टद्वारा तत्कर्त्तास्त्विति प्रत्युदाहरणं वा सेति बोध्यम्। अथेति। अन्तिमं जगन्निमित्तत्वं दृढीक्रियत इत्यन्वयः। एके वैदिकमुख्या व्यासादयः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्ववर्णित विषयका पुनरूल्लेख करके श्रीहरिके जगत्-कार्यमें निमित्तकारणत्वका प्रतिपादन करनेके लिये—*'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा'* इत्यादिके द्वारा उपक्रम करते हैं। श्रीहरिके विश्वोपादान कारणत्वको बतलाते समय ब्रह्म समन्वयमें उपस्थापित (उठाये गये) विरोधोंको स्मृतिवाक्य एवं तर्क इत्यादि द्वारा खण्डित किया गया था। अब सर्वज्ञ, पूर्ण, परमेश्वरके विश्वनिमित्त कारण स्थापनकारी समन्वयमें उत्थापित सभी आक्षेपोंको तर्क द्वारा निरस्त किया जायेगा। सर्वप्रथम निमित्तकारणता समन्वयमें इस तर्कसे दोष दिखाया जाता है कि श्रीहरि जगत्-कर्त्ता (निमित्त-कारण) हो नहीं सकते। इससे उनके पूर्णत्वादिका विरोध होता है। बात यह है कि ईश्वरको जगत्-सृष्टि कर्त्ता कहनेपर उनकी पूर्णताकी हानि होती है क्योंकि कार्यमात्रकी प्रवृत्तिमें इष्ट साधनताका ज्ञान और कृति साध्यता ज्ञान पहले आवश्यक है। जगत्-सृष्टि करण उन्होंने अपनी इष्ट बोध (सन्तुष्टि) के लिए किया है, अतएव समझा जा सकता है कि उनमें जगत्‌का अभाव है, इसलिए वे अपूर्ण हैं और फिर *'पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'* श्रुतिमें पूर्ण परमेश्वरसे सृष्टिकी बात सुनी जाती है। इसलिए ईश्वरको सृष्टिकर्त्ता कहा

नहीं जा सकता। इस आक्षेपका समाधान करनेमें इस अधिकरणकी उत्थानिकामें आक्षेप-सङ्गति दिखा रहे हैं अथवा यह जीव अदृष्टको कारण बनाकर जगत्का निर्माता हो सकता है, इस आपत्ति हेतु प्रत्युदाहरण सङ्गति भी हो सकती है। *'अथान्तिमम् वाक्यान्तरात् प्रतीतमपि'* इत्यादिमें 'अन्तिमम्' अर्थात् जगत्की निमित्तकारणता दृढ़ की गयी है। इस प्रकारसे अन्वय जानना चाहिये। 'एके' अर्थात् व्यास इत्यादि प्रधान वेदपन्थी।

९—इतरव्यपदेशाधिकरणम्

जीवकर्त्तृत्ववादका खण्डन

सूत्र—इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः॥ २१॥

सूत्रार्थ—'इतरव्यपदेशात्' दूसरे कु
है अथवा इतरकी अर्थात् जीवकी जो जगत्-कर्त्तृत्व उक्ति है—उसे कोई-कोई स्वीकार करते हैं, व्यास मतसे बहिर्भूत जीव-कर्त्तृत्ववादी पण्डितगणोंके मतमें जगत्-सृष्टिकर्त्ता जीवमें 'हिताकरणादि दोषप्रसक्तिः' अर्थात् अहित-करण और भ्रमादि दोषकी प्रसक्ति (प्रसङ्ग) होती है, अतएव जीव जगत्-कर्त्ता हो नहीं सकता॥ २१॥

सूत्रानुवाद—यदि यह कहें कि ब्रह्म ही जीव रूपसे उत्पन्न होता है, तो ब्रह्मकी हितकरण और अहितप्रकरण आदि दोषोंसे मुक्ति कदापि सम्भव नहीं है॥ २१॥

गोविन्दभाष्य—इतरेषां केषाञ्चिद् यो जीवकर्त्तृत्वव्यपदेश-इतरस्य वा जीवस्य यो जगत्कर्त्तृत्वव्यपदेशः परैः कैश्चित् स्वीकृतस्तस्मादितरव्यपदेशिनां विदुषां तत्कर्त्तरि जीवे हिताकरणादीनां दोषाणां प्रसक्तिः स्यात्। हिताकरणमहितकरणं श्रमादिकञ्च दूषणं प्राप्नुयात्। न हि कश्चित् स्वाधीनो धीमान् स्वबन्धनागारं निर्मिमाणः कौशेयकीटवत् तत्र प्रविशेत्। न वा स्वयं स्वच्छः सन्नत्यनच्छं वपुरुपेयात्। न च केनचित् जीवेन साध्यमिदं प्रधानमहदहंवियत्पवनादिकार्यम्। तच्चिन्तयापि श्रमानुभवात्। तस्माद् दुष्टौ जीवकर्त्तृत्ववादः। ईश्वरस्य तु तत्कर्त्तुः पूर्णतादिविरोधः परिहरिष्यते॥ २१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'इतरेषाम्'*—व्यासमतके बहिर्भूत किसी-किसी वादीके मतमें जो जीव-कर्त्तृत्ववाद स्वीकृत होता है अथवा इतरस्य

व्यपदेशः—अर्थात् ईश्वरसे भिन्न जीवके जगत्-कर्त्तृत्वकी उक्ति जो कोई-कोई स्वीकार करते हैं, उस व्यपदेश (कथन) से अन्य वादियोंकी अथवा उस ईश्वरसे अन्य अर्थात् जीवके कर्त्तृत्ववादको माननेवाले पण्डितोंके पक्षमें जगत्-सृष्टिकर्त्ता जीवमें हिताकरणादि दोषका प्रसङ्ग होता है अर्थात् आत्महितका अकरण, अहितका करण और श्रम इत्यादि दोष आते हैं, किस प्रकार? वही कह रहे हैं—कोई भी स्वाधीन बुद्धिमान व्यक्ति अपने ही बन्धनके लिए कारागारका निर्माण करके कौशेय-कीट (रेशमके कीड़े) के समान उसमें प्रवेश नहीं करेगा। जीव स्वयं शुद्ध-स्वभाव होनेसे अति मलिन देहको धारण नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त किसी भी जीवके द्वारा प्रकृति महत्-अहङ्कार, आकाश, वायु इत्यादि कार्य साध्य नहीं हो सकते। अधिक क्या? निर्माणकी चिन्तामात्रसे उसे श्रमका अनुभव होने लगेगा। अतएव जीव-कर्त्तृत्ववाद उक्त दोषोंके कारण दोषमय है और जो ईश्वरके जगत्-कर्त्तृत्ववाद पक्षमें पूर्णत्वहानि इत्यादि विरोध दिखाया गया है, उसका भी समाधान बादमें होगा॥ २१॥

सूक्ष्मा-टीका—इतरेति। इतरेषां व्यासमतबहिर्भूतानां तद्व्यपदेशिनां जीवकर्त्तृत्व-वादिनाम्। अत्यनच्छं मलिनतरम्॥ २१॥

सूक्ष्मा-सार—*'इतरेषाम्'* अर्थात् व्यासजीके मतसे बहिर्भूत जीव-कर्त्तृत्ववादीगणोंका 'अत्यनच्छम्' का अर्थ है—*'मलिनतर'*॥ २१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—वेदान्तके प्रथम अध्यायके चतुर्थपादमें *'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'* (ब्र॰सू॰ १/४/२३) अधिकरणमें ब्रह्म जगत्के उपादान एवं निमित्त कारण हैं—यह निर्णीत हो गया था। इस निर्णयमें जगदुपादानत्व विषयमें प्रतिपक्षमें जो दोष उठाये गये थे, उन सबका निराकरण करके यही निर्णय दृढ़ किया गया था कि ब्रह्म ही जगत्के उपादान एवं निमित्त कारण हैं।

मुण्डकश्रुतिमें देखा जाता है—*'कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'* (मु॰ ३/१/२) और एक श्रुति है—*'जीवाद् भवन्ति भूतानि'* इस प्रकार दोनों ही मतोंके अनुसार श्रुतियोंकी उपलब्धि होनेसे प्रकृत सिद्धान्त

क्या होगा? प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार वही बता रहे हैं कि हिताकरण अर्थात् हित-अकरण अथवा अहितकरण और भ्रमादि दोषकी प्रसक्तिके कारण जीवको जगत्-कर्त्ता कहा नहीं जा सकता, क्योंकि कोई भी स्वाधीन बुद्धिमान व्यक्ति अपने ही लिए कारागारका निर्माण स्वयं नहीं कर सकता। जीव स्वयं शुद्ध-स्वभाव होनेके कारण मलिन देह धारण नहीं कर सकता। और भी, किसी जीवके पक्षमें प्रकृति, महदादि कार्य सुसाध्य नहीं हैं, उसका विचार करनेमात्रसे ही वह श्रम (थकानका) अनुभव करने लगेगा। इसलिए जीव-कर्त्तृत्वादि सर्वथा ही दोषमय हैं। पुनः ईश्वरके जगत्-कर्त्तृत्वके विषयमें उनके पूर्णत्वादिका विरोध भी होता नहीं। इस प्रसङ्गका बादमें परिहार किया जायेगा।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

स एवेदं ससर्ज्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः॥

(श्रीमद्भा॰ १/२/३०)

अर्थात् वे भगवान् अपनी चित्-शक्तिके प्रभावसे निरतिशय स्वतन्त्र अधीश्वर हैं। यह वैचित्र्यमय जड़ आकाशादि प्रपञ्चमय विश्व उनकी बहिरङ्गा मायाशक्तिसे उत्पन्न है। वे इसमें अन्तर्यामी रूपसे अनुप्रविष्ट होनेके कारण सगुणके समान प्रकाशित होते हैं, किन्तु वास्तवमें गुणातीत ब्रह्माण्डके अन्तर्गत द्वितीय पुरुष गर्भोदशायी वस्तु हैं।

य इच्छयेशः सृजतीदमव्ययो
य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः।
तस्याबलाः क्रीडनमाहुरीशितु-
श्चराचरं निग्रहसंग्रहे प्रभुः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/२/३९)

अर्थात् हे अबलाओ! जिन अव्यय परमेश्वरकी इच्छासे इस संसारकी सृष्टि, पालन एवं संहार बतलाया जाता है, उन अविनाशी ईश्वरके लिए यह विश्व साधारण खिलौनामात्र है। वे ही सृजन एवं संहार करनेमें समर्थ हैं।

स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसा-
वोजःसहःसत्त्वबलेन्द्रियात्मा ।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः
सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/८/८)

अर्थात् वे ही परम ईश्वर हैं। वही कालस्वरूप हैं। वे अनन्त-शक्तिशाली हैं। उनसे श्रेष्ठ कोई भी नहीं है। वे ही सत्त्वादि तीनों गुणोंके अधीश्वर हैं। वे ही इन्द्रियबल, मनोबल, देहबल और इन्द्रियोंके आत्मास्वरूप हैं। उनकी शक्तिसे ही इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार होता है।

इस प्रसङ्गमें गीताके निम्न श्लोक भी आलोच्य हैं—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः-पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मेषु॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥

श्रीगीता (९/८-१०)

अर्थात् अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृतिका आश्रयकर मैं प्राचीन स्वभाववश कर्मादिके परतन्त्र इस समग्र भूतसमूहकी पुनः-पुनः सृष्टि करता हूँ, हे धनञ्जय! उस सृष्टि आदि कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनकी भाँति अवस्थित मुझे वे कर्म नहीं बाँधते हैं। हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षतामें बहिरङ्गा प्रकृति या मायाशक्ति चर-अचर सहित सम्पूर्ण जगत्को प्रसव करती है, इसी कारणसे यह जगत् पुनः-पुनः प्रवर्त्तित होता है॥ २१॥

अवतरणिका भाष्य—ननु ब्रह्मणोऽपि कार्याभिध्यध्नतदनुप्रवेशादिश्रवणात् श्रमहिताकरणादिप्राप्तिस्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का है कि ब्रह्मका भी जगत्-कार्यके लिए अभिध्यान अथवा उत्कट इच्छा अथवा ईक्षण अथवा सृष्ट

जगत्में उनका प्रवेश इत्यादि सुने जानेसे उनके कर्त्तृत्व पक्षमें भी श्रम और हितकरणादिके प्रसङ्ग उठते हैं, इसके समाधानके लिए कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। बहु स्यामित्येवंविधे कार्य-तच्चिन्तने बोध्ये।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—ननु इत्यादि अवतरणिका—बहु स्याम् इत्यादि वाक्यके द्वारा ब्रह्मके कार्यका अभिध्यान और उसका चिन्तन जानना चाहिये।

सूत्र—अधिकन्तु भेदनिर्देशात्॥ २२॥

सूत्रार्थ—'तु' यह आशङ्का ही नहीं है, 'अधिकम्'—जीवसे परमेश्वर अत्युत्कृष्ट हैं, क्योंकि उनमें प्रभूत शक्ति है। इसकी अवगति (ज्ञान) होगी किस प्रकार? उत्तर है—'भेदनिर्देशात्' शास्त्रमें जीव और परमेश्वरके भेदका निर्देश है, इसलिए; अर्थात् शास्त्रमें कहा गया है कि जीव शोक एवं मोहसे ग्रस्त है, किन्तु परमेश्वर अखण्ड ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं॥ २२॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्म शारीर (जीव) से अधिक उत्कृष्ट तथा अत्यन्त विलक्षण हैं। मुण्डकादि उपनिषदमें दोनोंमें भेदका निदर्शन किया गया है, जिसके कारण ब्रह्मके कर्त्तृत्ववादमें किसी दोषका अवकाश ही नहीं है॥ २२॥

गोविन्दभाष्य—शङ्काच्छेदाय तु-शब्दः। जीवादधिकं ब्रह्म उरुशक्तिकत्वात् तस्मादत्युत्कृष्टम्। तत् कु *'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुहयमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमेति वीतशोकः'* (मु॰ ३/१/२) इति शोकमोहग्रस्तात् जीवात् परमात्मनोऽखण्डितैश्वर्यादित्वेन भेदो निर्द्दिश्यते। स्मृतिषु च *'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्त्यव्यय ईश्वरः'* इति। (श्रीगीता १५/१६-१७) *'प्रधानपुरुषाव्यक्तकालानां परमं हि यत्। पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम्॥'* (वि॰पु॰ १/२/१६) *विष्णोः स्वरूपात् परतो हि तेऽन्ये रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र। तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते रूपेण यत् तद् द्विज*

कालसंज्ञम्' (वि॰पु॰ १/२/२४) इति। *'एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः। न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया'* (श्रीमद्भा॰ १/११/३८) इति चैवमाद्यासु तथैवासौ निर्दिष्टः। सम्भोगप्राप्तिरित्यादिना (ब्र॰सू॰ १/२/८) प्रागप्येतदभिहितम्। तथा चाविचिन्त्योरुशक्तिरीश्वरः स्वसङ्कल्पमात्रात् जगत् सृष्ट्वा। तस्मिन् प्रविश्य विक्रीडति जीर्णञ्च तत् संहरत्यूर्णनाभिवदिति न पूर्वोक्तदोषगन्धः। ननु घटाकाशात् महाकाशस्येवैतज्जीवादीश्वरस्याधिक्यमिति चेन्न तद्वत् तस्य परिच्छेदविषयत्वास्वीकारात्। न च जलचन्द्राद् वियच्चन्द्रस्येव तस्मात् तस्य तद्विभोर्निरूपस्य तस्य तद्वत् प्रतिबिम्बासम्भवात्। न च राजपुत्रस्येवाप्तदासभ्रमस्यैकस्य ब्रह्मणो भ्रमात् जीवस्योत्कर्षापकर्षे सार्वज्ञ्यश्रुतिविरोधात्॥ २२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रमें जो 'तु' पदका प्रयोग है, वह पूर्वोक्त आशंकाकी निवृत्ति (शङ्का-छेदन) का बोधक है अर्थात् यह आशङ्का हो ही नहीं सकती। परमेश्वर जीवसे सर्वांशमें उत्कृष्ट हैं, क्योंकि वे प्रभूत शक्तिशाली हैं। यह कहाँ-से जान लिया? उत्तरमें कह रहे हैं—मुण्डकोपनिषदादिमें इसी रूपमें ही जीव एवं परमेश्वरके प्रभेदको सूचित करनेवाले धर्मका उल्लेख है, यथा—*'समानवृक्षे पुरुषो निमग्नो ... वीतशोकः।'* (मु॰ ३/१/२) एक ही देहरूप पीपल (अश्वत्थ) वृक्षपर जीव वास करते हुए मायासे मोहित होकर शोकग्रस्त रहता है। जिस समय वह उसी वृक्षपर वास करनेवाले और एक पुरुष (परमेश्वर) को देखता है, जो अशेष कल्याणयुक्त एवं नियन्ता हैं, तब इस प्रकारके ध्यानके फलसे वह ईश्वरकी महिमा वैकु
उपलब्धि करता है और अविद्या अर्थात् बन्धनसे मुक्त होकर वैकु
परमेश्वरके अचिन्त्य, अखण्ड ऐश्वर्यादिके योगका हेतु प्रभेद निर्दिष्ट हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता (१५/१६-१७) में कहा गया है—*'द्वाविमौ ... विभर्त्त्यव्यय ईश्वरः'* जगत्में क्षर और अक्षर नामके ये दो पुरुष (आत्मा) हैं। उनमें शरीर क्षरणके कारक समस्त जीव क्षर शब्दके वाच्य हैं और निर्विकार पुरुष अर्थात् मुक्त जीव अक्षर नामसे कहा जाता है। किन्तु पुरुषोत्तम (उत्तमपुरुषपरमात्मा) इन दोनोंसे भिन्न हैं, उन्हें परमेश्वर कहा जाता है। वे अव्यय हैं। वे इस त्रिभुवनमें प्रवेश करके पृथ्वीको धारण करते हैं। विष्णुपुराण (१/२/२४) में कहा गया है कि *'प्रधान पुरुषाव्यक्त ... कालसंज्ञम्'* हे विप्र! मैत्रेय!

प्रकृति, पुरुष, अव्यक्त और काल इन सबसे श्रेष्ठ भगवान्‌के परम विशुद्धस्वरूपका विद्वान् व्यक्ति सर्वदा दर्शन करते हैं। प्रधान और पुरुष (जीव) ये दोनों विष्णुस्वरूपसे पृथक् हैं। इन विष्णुके काल नामक रूपसे ये दोनों ही नियमित होते हैं। वे तो कालरूपके साथ अवियुक्त—अविच्छिन्न हैं। हे द्विज! वही विष्णुका कालनामक-स्वरूप है। श्रीमद्भागवत (१/११/३८) में कहा गया है—*'एतदीशनमीशस्य ... बुद्धिस्तदाश्रया'* परमेश्वरका यही ईश्वरत्व है कि वे प्रकृतिके मध्य रहकर भी प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे संसक्त (संलग्न) नहीं होते, जब कि ये ही तीनों गुण ईश्वरसे विमुख जीवके बन्धनके हेतु हैं। भगवत्-निष्ठ बुद्धि सत्त्वादि गुणसे कभी आबद्ध नहीं होती इत्यादि स्मृतिमें जीवसे भिन्न रूपमें परमेश्वरका निदर्शन है। इस वेदान्त-शास्त्रमें भी *'सम्भोगप्राप्तिः'* (१/२/८) इत्यादि सूत्रके द्वारा पहले भी यह स्पष्ट किया गया था। अतएव सिद्धान्त यह है कि अचिन्तनीय महाशक्तिसम्पन्न ईश्वर स्वाधीन सङ्कल्पमात्रसे ही जगत्‌की सृष्टि करते हैं और उसमें प्रवेश करके लीला करते हैं। जब यह जगत् जीर्ण हो जाता है, तब ऊर्णनाभ (मकड़ी) के समान वे इसका संहार कर देते हैं अर्थात् अपनेमें लीन कर लेते हैं। इस प्रकार पूर्व प्रदर्शित भ्रमादि दोषोंका उनमें लेशमात्र भी सम्पर्क अथवा स्पर्श नहीं है। यदि कहो, जिस प्रकार घटाकाशसे महाकाशका आधिक्य है, उसी प्रकार परिच्छिन्न जीवसे विभु परमेश्वरका आधिक्य है, मात्र इतना ही प्रभेद है। वास्तवमें तो जीव और परमेश्वर एक ही हैं—यह नहीं कहा जा सकता। आकाशके समान परमेश्वरके परिच्छेदको (सीमा-निर्धारणको) स्वीकार नहीं किया गया है अर्थात् आकाश घटावच्छिन्न, पटावच्छिन्नादि रूपोंमें प्रतिभात (प्रतीत) हो सकता है, किन्तु ईश्वर जीवावच्छिन्न अथवा जगदवच्छिन्न (जीव एवं जगत्‌की सीमाओंसे आबद्ध) नहीं हो सकते। पुनः प्रतिबिम्बवाद भी नहीं कहा जा सकता अर्थात् जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रसे जिस प्रकार आकाश-चन्द्रका आधिक्य है, उसी प्रकार जीवसे भी परमेश्वरका आधिक्य है, यह दृष्टान्त सङ्गत नहीं बैठता, क्योंकि ईश्वर रूपहीन हैं। जलमें चन्द्रमा जिस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है, उस प्रकार जीव उनका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। पुनः यदि कहो राजपुत्रको

जिस प्रकार अपने प्रति कैवर्त्त-भ्रम (केवटका भ्रम) होनेपर उसका अपकर्ष होता है, किन्तु स्वरूपतः उसका उत्कर्ष ही है, इसी प्रकार यह कहना कि ईश्वरका भी जीवरूपता प्राप्त होनेपर अपकर्ष होता है, किन्तु वे ईश्वर रूपसे उत्कृष्ट ही हैं, यह मन्दबुद्धिवाली बात है। ऐसी निराधार भ्रान्तियोंका ईश्वरमें अवकाश नहीं है। ऐसा कहनेसे तो उनकी सर्वज्ञताका विरोध घटता है और श्रुतिमें उन्हें सर्वज्ञ कहा गया है॥ २२॥

सूक्ष्मा-टीका—अधिकमिति। मुण्डकादावित्यादिपदात् श्वेताश्वतरादीना-प्येतद्बोध्यम्। समान इति। समाने एकस्मिन्, वृक्षे देहे पिप्पलतरौ पुरुषो जीवः निमग्नः संसक्तः अनीशया मायया जुष्टमनन्तैः कल्याणगुणैः सेवितं स्वेन वा पश्यति ध्यायति अन्यः स्वस्माद्भिन्नं वैकु
सन्नित्यर्थः। इतः प्राक् द्वासुपर्णेति चोभयत्र ग्राह्यम्। द्वावित्यादिद्वयं श्रीगीतासु। क्षरः शरीरक्षरणादनेकावस्थो बद्धजीववर्गः अक्षरस्तत्क्षरणाभावादेकावस्थो मुक्तजीववर्गः अचित्संयोगतद्वियोगरूपैकैकोपाधिसम्बन्धादेकत्वेन निर्दिष्टौ बोध्यः। उत्तमः पुरुषस्तु क्षराक्षराभ्यामन्यो न तु तयोरेवैकः सङ्कल्पनीय इत्यर्थः। प्रधानेत्यादिद्वयं श्रीवैष्णवे। विष्णोरिति। प्रधानं पुरुषश्चेति द्वे रूपे विष्णोः स्वरूपादन्ये तस्यैव विष्णोः कालसंज्ञेन रूपेण ते द्वे विधृते नियमिते भवतः। कीदृशे ते वियुक्ते पृथग्भूते अवियुक्ते इति वा च्छेदः। पूर्वरूपमार्षम्। एतदिति श्रीभागवते। तद्गुणैः सत्त्वादिभिर्न युज्यते न संसज्यते। असदात्मस्थैस्तद्विमुखजीवबन्धकैः। यथा तदाश्रया भगवन्निष्ठा भक्तानां बुद्धिरिति। सर्वत्र हरेरुरुशक्तित्वं स्फु
तन्मते ब्रह्मणः परिच्छेदविषयत्वास्वीकारादित्यर्थः। तस्मात् तस्य तदिति। तस्मात् जीवात् तस्य ब्रह्मणः तद्आधिक्यमित्यर्थः। आप्तेति। लब्धकैवर्त्तभ्रान्तेरित्यर्थः॥ २२॥

सूक्ष्मा-सार—'*अधिकन्तु*' इत्यादि सूत्रके भाष्यमें 'मुण्डकादौ' में प्रयुक्त आदि पदसे तात्पर्य है कि श्वेताश्वतरोपनिषदके सम्बन्धमें भी यह जानना चाहिये। 'समाने वृक्षे'—इत्यादि एक ही वृक्षमें अर्थात् देहरूप अश्वत्थ वृक्षपर, पुरुष अर्थात् जीव निमग्न है, संसक्त (आबद्ध) है,— '*सेअनीशया*'—मायावश, पुष्टम्-अनन्त-कल्याण-गुण-स्वरूप 'स्व-स्वरूपे' अर्थात् स्वरूपमें 'पश्यति'—ध्यान करता है, अन्यम्—निजसे (स्वयंसे) भिन्न, महिमानम्—वैकु
होकर। इसके पूर्वकी '*द्वा सुपर्णा*' इत्यादि श्रुतिको भी मुण्डकोपनिषद और श्वेताश्वतरोपनिषदमें देखना चाहिये। '*द्वाविमौ पुरुषौ*' इत्यादि

श्लोक श्रीमद्भगवद्गीतामें अवस्थित है। क्षर शब्दका अर्थ है—बद्धजीवके शरीरका विनाश होता है—वह क्षरणादि अनेक अवस्थाओंसे प्रच्युत होता है इस कारण आबद्ध है अर्थात् अनेक प्रकारसे विस्थापित (विचलित) होनेके कारण बद्ध है। अक्षर मुक्त जीव है—शरीरके क्षरणके अभावके कारण यह एक ही अवस्था—मुक्तावस्थामें रहता और कूटस्थ अक्षरसे अभिहित होता है। 'क्षर' से अर्थ है बद्धजीव अचित् अर्थात् जड़-देहका सम्बन्ध और मुक्त जीव अर्थात् जड़-देहसे वियोग। इस एक-एक उपाधिके सम्बन्धके कारण जीव बहुत हैं, तो भी उनके लिए बहुवचनके स्थानपर एकवचनका प्रयोग है। जो पुरुषोत्तम अर्थात् उत्तम पुरुष हैं, वे क्षर और अक्षर पुरुषसे विलक्षण हैं अर्थात् उन उत्तम पुरुषको इनमेंसे (क्षर और अक्षरमेंसे) कोई एक नहीं मानना चाहिये। *'प्रधान पुरुषाव्यक्त'* इत्यादि और *'विष्णोः स्वरूपात् परत'* इत्यादि ये दो श्लोक विष्णुपुराणमें कथित हैं। *'विष्णोः स्वरूपात्'* इत्यादि श्लोकका अर्थ है कि प्रधान और पुरुष ये दोनों विष्णु-स्वरूपसे भिन्न हैं। ये सब तो उन भगवान् विष्णुके काल नामक रूपके द्वारा नियमित हैं, वे विष्णु किस प्रकारके हैं? 'वियुक्ते' अर्थात् कालसे विच्छिन्न अथवा अवियुक्ते (पृथग्भूत) पाठ। धृते अवियुक्ते इस प्रकारसे प्रकृतिभाव (सन्धिका अभाव) होना उचित था किन्तु आर्ष प्रयोगके कारण पूर्वरूप हुआ है अर्थात् सन्धिमें एकारका लोप हुआ है। *'एतदीशनमीशस्य'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतका है। *'तद् गुणैः'* अर्थात् सत्त्व इत्यादि प्रकृति गुणके साथ संसक्त (संलग्न) नहीं होते। 'असदात्मस्थैः' ये गुण ईश्वरविमुख जीवके बन्धनकारक हैं। यथा—'तदाश्रया'—जिस प्रकार भगवन्निष्ठा भक्तिमानोंकी बुद्धि है। सर्वत्र ही ईश्वरकी महाशक्तिका परिचय सुस्पष्ट है। 'तद्वत्' आकाशके समान, 'तस्य'—ब्रह्मके परिच्छेद-विषयत्व—परिच्छिन्नत्व अङ्गीकारके कारण। तस्माद् तस्य तत्' इतिमें 'तस्मात्'—जीवसे, 'तस्य' परमेश्वरका, 'तत्'—अर्थात् आधिक्य अथवा श्रेष्ठत्व। 'आप्तदासभ्रमस्य'—कैवर्त्तभ्रमको (केवट अथवा मछवाका भ्रम) प्राप्त राजपुत्रका॥ २२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि पूर्वपक्ष इस प्रकारसे है कि जगत्-कार्यके अभिध्यानसे उसमें (जगत्-कार्यमें) अनुप्रवेश आदिके कारण ब्रह्ममें

भी भ्रमादि दोष तथा हिताकरण दोषका प्रसङ्ग आ सकता है, इसीके निराकरणके लिए प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कह रहे हैं कि वह आशङ्का हो नहीं सकती। इसका कारण है कि ब्रह्म जीवसे अतिशय उत्कर्षयुक्त हैं अर्थात् ब्रह्मकी शक्ति असीम है। शास्त्रमें जीव और ब्रह्मके भेदका निरूपण है।

श्वेताश्वतरोपनिषदमें कहा गया है—

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं अस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

(श्वे॰ ४/५-७)

अर्थात् बद्धजीव त्रिगुणात्मक प्रकृतिका अनुसरण करके बादमें सन्तप्त होते हैं, किन्तु जिन्होंने आचार्योपदेशजनित ज्ञान द्वारा अविद्यान्धकारको अपसारित कर दिया है, ऐसे मुक्तजीवोंने पहलेसे ही प्रकृतिका भोग करके ज्ञान-प्राप्ति हेतु वैराग्यवान् होकर उसे त्याग रखा है, वे उसमें आसक्त नहीं होते। इस जगत्में जीवात्मा एवं परमात्मा नामके दो पक्षी हैं, उनका कार्य अति विचित्र है। वे सर्वदा परस्पर अविच्छिन्न रूपसे वर्त्तमान रहते हैं एवं सखा भावसे युक्त हैं। दोनों ही एक देहरूप वृक्षका आश्रय करके रहते हैं। उनमें एक पक्षी अविद्या, कामना, कर्म और संस्कारमय लिङ्गदेहधारी (सूक्ष्मशरीरधारी) जीवात्मा है, जो स्वादु आस्वाद्य कर्मफलरूप अश्वत्थ फलको उपभोग करता है। और दूसरा पक्षी देहवृक्षमें रहकर भी उसके फलको किञ्चित्मात्र भी भोग नहीं करता अर्थात् कर्मफलमें लिप्त नहीं होता, किन्तु साक्षी रूपसे समस्तको नियमित करता है—वह परमात्मा हैं। उसी देहरूप वृक्षमें रहकर विमुख जीव भोगासक्त होकर देहात्मबोधके कारण संसारमें डूब जाता है और मायासे मोहित होनेके कारण उसे अपने उद्धारका कोई उपाय नहीं दीखता और वह दीनताके कारण दुःखी होता रहता है। अतएव बहुत जन्मोंसे अर्जित सुकृतिवश जब

ईश्वरका अथवा भक्तका अनुग्रह प्राप्त करता है, तब वह देख पाता है कि उस आश्रित देहवृक्षमें स्वयंके ही हृदयमें परमेश्वर विराजमान हैं। वे अपने स्वरूपानन्दमें निमग्न हैं, भक्तोंने उनका आश्रय कर रखा है और वे नित्य उनकी सेवा कर रहे हैं। यही उनकी महिमा है कि वह समस्तकी परिचालना करके भी सर्वदा निर्लिप्त और निजानन्दमें परितृप्त रहते हैं। कोई भी जीव उनकी सेवा करके परमानन्दमें रह सकता है। उनकी इस महिमाका दर्शन कर जीव शोकरहित होकर संसारसे मुक्त हो सकता है।

मुण्डकोपनिषदके तृतीय मुण्डकके प्रारम्भमें भी इन दोनों श्लोकोंका वर्णन है। वहाँ भी जीवको शोक-मोह ग्रस्त एवं परमेश्वरको अखण्ड ऐश्वर्यसम्पन्न बता करके दोनोंमें भेदका निदर्शन किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता (१५/१६-१७) में भी *'द्वाविमौ पुरुषौ लोके'* इत्यादि श्लोकोंमें भी ईश्वर और जीवका भेद दिखाया गया है।

श्रीमद्भागवत (३/२८/४१) में है—

भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः॥

भूत, इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीव संज्ञक आत्मासे सर्वोपादानरूप ब्रह्मसंज्ञक द्रष्टा भगवान् नित्य पृथक् हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

यद्यपि तिनेर माया लइया व्यवहार।
तथापि तत्स्पर्श नाइ, सबे माया पार॥
(चै०च०आ० २/५४)

यद्यपि ये तीनों पुरुषावतार मायाकी सहायतासे सृष्टि-कार्य आदि व्यवहार करते हैं, तथापि माया उनका स्पर्श नहीं करती, वे सब मायासे परे हैं।

इस प्रकार अचिन्त्य, प्रभूत शक्तिशाली श्रीभगवान् अपने सङ्कल्पमात्रसे ही जगत्‌की सृष्टि करते हैं और उसमें प्रवेश करके क्रीड़ा करते हैं। जब यह सृष्टि जर्जरित होने लगती है, तब वे ऊर्णनाभकी भाँति उसका संहरण कर लेते हैं।

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीके वचन हैं—

यथात्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम्।
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् विभ्रदात्मानमात्मना॥
क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/२६-२७)

अर्थात् हे माधव! (हे लक्ष्मीपते!) आपका सङ्कल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। मकड़ी जिस प्रकार अपनेसे जाला निकालकर स्वयं ही उसमें विहार करती, किन्तु स्वयं उसमें नहीं फँसती, उसी प्रकार आप स्वयं ही आत्ममाया (योगमाया) के प्रभावसे ब्रह्मादि नाना प्रकारके रूप प्रकटित करके विविध शक्तिसे समन्वित इस संसारकी जिस प्रकारसे सृष्टि, पालन एवं संहार करते हुए क्रीड़ा करते हैं—मुझे भी इन सबको समझनेकी बुद्धि प्रदान कीजिये।

इस स्थलपर पूर्वपक्षवादीके घटाकाश एवं महाकाश दृष्टान्त अथवा आकाशके चन्द्र और जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रका दृष्टान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अपरिच्छिन्न ब्रह्मका परिच्छेद सम्भव नहीं है और नीरूप (रूपरहित) ब्रह्मके प्रतिबिम्बकी सम्भावना नहीं है॥ २२॥

सूत्र—अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः॥ २३॥

सूत्रार्थ—'च' और जीव चेतन होनेपर भी 'अश्मादिवत्' प्रस्तर, काष्ठ, लोष्ट्र
उसके जगत्-कर्त्तृत्वकी अनुपपत्ति (तर्कका अभाव) है॥ २३॥

सूत्रानुवाद—अल्पज्ञ जीवात्मा जड़-पत्थर आदकी भाँति परतन्त्र है, वह काष्ठकी पुत्तलिका और यन्त्रमय मृगके समान ईश्वरके अधीन है, अतः उसके जगत्-कर्त्तृत्वकी सम्भावना निराधार है॥ २३॥

गोविन्दभाष्य—चेतनस्यापि जीवस्याश्मकाष्ठलोष्ट्र
नुपपत्तिः। *'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्'* इत्यादि श्रुतेः। *'ईश्वरः सर्वभूतानाम्'* (श्रीगीता १८/६१) इत्यादि स्मृतेश्च॥ २३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीवके चेतन होनेपर भी उसमें प्रस्तर, काष्ठ एवं लोष्ट्र
स्वाधीन-कर्त्तृत्व रह ही नहीं सकता। श्रुति-वाक्य भी इसी प्रकारका है, यथा *'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्'*—परमेश्वर मनुष्योंके (जीवसमूहके) शरीरमें प्रविष्ट होकर उन्हें नियन्त्रित करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा गया है—*'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'*—हे अर्जुन! परमेश्वर सभी प्राणियोंके हृदय-क्षेत्रमें विराजमान हैं (श्रीगीता १८/६१) इत्यादि स्मृति-वाक्य भी जीवसे परमेश्वरकी श्रेष्ठताको प्रमाणित करता है॥ २३॥

सूक्ष्मा-टीका—अश्मेति। अश्मा पाषाणः॥ २३॥

सूक्ष्मा-सार—*'अश्मेत्यादि'* सूत्रमें 'अश्माः' का अर्थ है पाषाण—पत्थर॥ २३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः जीवके जगत्-कर्त्तृत्वके विषयमें और एक अनुपपत्ति दिखाते हैं कि जीव चेतन होनेपर भी अस्वतन्त्र है। जीवकी परतन्त्रताके विषयमें श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः।
एवन्भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः॥
(श्रीमद्भा॰ ६/१२/१०)

हे मघवन् (इन्द्र)! काठकी पुतली और पत्तोंका बना हुआ हिरन जिस प्रकार स्वेच्छासे नृत्य नहीं कर सकते, अपितु नचानेवालेकी इच्छासे ही नृत्य करते हैं, उसी प्रकार समस्त वस्तुएँ भगवान्के अधीन हैं। इस जगत्में कोई भी स्वतन्त्र नहीं है।

और भी,

भूतैर्भूतानि भूतेशः सृजत्यवति हन्त्यजः।
आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैरनपेक्षोऽपि बालवत्॥
(श्रीमद्भा॰ ६/१५/६)

समस्त प्राणियोंके अधिपति भगवान् जगदीश्वर जगत्की सृष्टिके विषयमें निरपेक्ष हैं। वे बालकोंके समान बिना किसी इच्छाके अपने

द्वारा सृष्ट-परतन्त्र प्राणियोंके द्वारा पिताके रूपमें समस्त प्राणियोंका सृजन, राजाके रूपमें पालन और सर्पादि रूपमें विनाश कराते हैं। अतः सृष्टि आदि कार्योंमें परतन्त्र प्रणियोंका कोई कर्त्तापन नहीं है। मायाके वशीभूत होकर वे केवल अपनेमें कर्त्ताका अभिमान कर लेते हैं॥ २३॥

१०—उपसंहार-दर्शनाधिकरणम्

सूत्र—उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि॥ २४॥

सूत्रार्थ—यदि कहो, जीव प्रस्तरादिके समान अकर्त्ता नहीं हो सकता, क्योंकि 'उपसंहारदर्शनात्' कार्यका उपसंहार अर्थात् समाप्ति साधन जीव द्वारा ही होता है—यह देखा जाता है 'इति चेन्न' यह बात भी कही नहीं जा सकती, 'हि'—क्योंकि 'क्षीरवत्' कार्यका उपसंहार जो जीवमें देखा जाता है, वह दुग्धके समान है अर्थात् जिस प्रकार गायमें दृश्यमान दुग्ध प्राणसे ही उत्पन्न होता है, इसी प्रकार जीवमें दृश्यमान कार्योपसंहार परमेश्वरके अधीन है॥ २४॥

सूत्रानुवाद—कार्यकी उत्पत्तिमें समर्थ सभी वस्तुओं या व्यक्तियोंके लिए बाह्य कारक उपादानकी अपेक्षा नहीं देखी जाती, जैसे दूध दही रूपमें और जल हिम रूपमें स्वयं ही परिणत हो जाते हैं। जीवमें दृश्यमान कार्योपसंहार परमेश्वरके अधीन है॥ २४॥

गोविन्दभाष्य—ननु नाश्मादिवदकर्त्तृत्वं जीवस्य तस्यैव कार्योपसंहारदर्शनात्। स हि यत् कार्यमारभते तत् समापयतीति दृष्टम्। न चायं भ्रमः, बाधकाभावात्। नन्वस्तु जीवः कर्त्ता स चेशाधीन इति चेन्न ईश्वरः खल्वनुपलभ्यमानोऽपि कल्प्यः स च प्रेरक इति गौरवात्। तस्मात् जीवस्यैव कर्मद्वारकं कर्त्तृत्वं न त्वीशस्येति चेन्न। कु

वतिः। *'तेन तुल्यक्रिया चेद् वतिः'* (पा॰सू॰ ५/१/११५) इति सूत्रात्। यथा गवि दृश्यमानमपि क्षीरं प्राणादेव जायते। अन्नं रसादिरूपेण प्राणः परिणमत्यसाविति स्मृतेः। तथा जीवे दृश्यमानोऽपि सोऽस्वातन्त्र्यात् परेशादवेत्यर्थः। वक्ष्यति चैवं *'परात् तु तच्छ्र* इति॥ २४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि प्रस्तरादिके समान जीवका अकर्त्तृत्व कहा नहीं जा सकता, क्योंकि यह जीव ही कृत-कार्यकी

समाप्ति करता है। देखा जाता है कि जीव जिस कार्यको आरम्भ करता है, उसका वह समापन भी करता है, अतएव उपक्रम एवं उपसंहारके ऐक्यके कारण उपसंहार देखकर उपक्रममें जीवका कर्त्तृत्व मानना होता है। यदि कहो, जीव कृतकार्यका उपसंहार (समापन) समाप्त करता है, यह भ्रान्ति है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जहाँ भ्रम होता है, वहाँ बाधा होती है और यहाँ उसका बाधक कोई नहीं है। अच्छा, जीव कर्त्ता रहे, पर उसका यह कर्त्तृत्व तो ईश्वरके अधीन है, पूर्वपक्षी इसका प्रतिवाद करके कहते हैं—यदि यह कहते हो, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि ईश्वरको तो कोई देख नहीं सकता, तथापि उनकी कल्पना करके यदि उन्हें जीवका प्रेरक कहा जाय, तब ऐसी अनेक कल्पनाओंका गौरव होता है। अतएव जीव ही अपने प्राक्तन (प्राचीन) कर्म द्वारा जगत्का स्रष्टा है, ईश्वर नहीं, पूर्वपक्षीकी इस युक्ति और सिद्धान्तके प्रतिपक्षमें सिद्धान्ती कहते हैं *'इति चेन्न'*—जैसा कह रहे हो, वैसा नहीं है। क्यों? उत्तर है—*'क्षीरवत् हि'*—'हि' अर्थात् क्योंकि जीवमें जो कार्यका समापन देखा जाता है, वह दुग्धके समान है। *'क्षीरवत्'—'क्षीरेण तुल्यम्'*—यहाँ इस तृतीयार्थमें वति (वत्) प्रत्यय है। पाणिनीयसूत्र (५/१/११५) है—*'तेन तुल्यक्रिया चेद् वतिः'* उसके तुल्य क्रिया यदि होती है, तो वति प्रत्यय होता है। यहाँ दुग्धके तुल्य प्रवृत्तिरूप क्रिया ज्ञापित हो रही है। किस प्रकारसे? वही दिखाते हैं—जिस प्रकार गायमें दृश्यमान दूध स्वाधीन चेष्टासे नहीं होता, प्राणसे ही उत्पन्न होता है, उसी प्रकार। इसका क्या प्रमाण है? इसका प्रमाण है—*'अन्नं रसादिरूपेण प्राणः परिणमत्यसौ'* अर्थात् भुक्त अन्न रसादिक्रमसे प्राणमें परिणत होता है और प्राण समस्तको ही परिणत करता है, यह स्मृति-वाक्य है। इस प्रकार जीवमें दृश्यमान कार्यका उपसंहार भी जीवकी स्वाधीनताके अभावके कारण ईश्वरसे होता है, यह तात्पर्य है। सूत्रकार बादमें कहेंगे—*'एवं परात्तु तच्छ्रु* (२/३/३९) अर्थात् श्रुति कहती है कि इस प्रकार सृष्टि परमेश्वरसे ही होती है॥ २४॥

सूक्ष्मा-टीका—क्षीरवदिति। तस्यैव जीवस्य। कर्मद्वारकमिति। स्वकर्मणा जीवः स्वभोगाय सर्वमिदं सृजतीति जगद्वाचित्वादित्यस्य भाष्ये विवृतमस्ति।

क्षीरेति। क्षीरेण तुल्यं क्षीरवदित्यर्थः। हीति। हिर्हेतौ। तेनेति। तृतीयान्तात् तुल्य-मित्यर्थे वतिः स्यात् यत्तुल्या सा क्रिया चेदिति सूत्रार्थः। स इति कार्योपसंहारः॥ २४॥

सूक्ष्मा-सार— *'क्षीरदिति'* सूत्रांश है। भाष्यके अन्तर्गत *'तस्यैव कार्योपसंहार दर्शनात्'* में 'तस्य' का अर्थ है जीवका *'कर्मद्वारकमिति'*—जीव अपने द्वारा किये गये कर्मके कारण फल भोगके लिए इन समस्त वस्तुओंकी सृष्टि करता है इसका *'जगद्वाचित्वात्'* (१/४/१६) सूत्रके भाष्यमें विस्तृत रूपसे वर्णन किया गया है। *'क्षीरवत् प्रवर्त्तते'* इति 'क्षीरवत्' अर्थात् दुग्धके समान। *'क्षीरवत् हि'* में 'हि' शब्द हेतु अर्थ ये है। *'तेन तुल्य क्रिया चेत् वतिः', 'तृतीयान्तात्'*—अर्थात् तृतीयान्त पदके उत्तरमें 'तुल्य' इस अर्थमें 'वति' (वत्) प्रत्यय है। इस पाणिनीय सूत्रका अर्थ है कि जब किसी की भी तुल्य क्रिया होती है, तब उसके उत्तरमें वति प्रत्यय होता है। *'दृश्यमानोऽपि सः'* इति में 'सः' का अर्थ है वही कार्योपसंहार—कार्यसमाप्ति॥ २४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कह रहे हैं कि यदि कोई इस प्रकार पूर्वपक्ष करे कि जीव कार्य आरम्भ करता है और समाप्ति भी करता है, इसलिए जीवको प्रस्तरादिके समान अकर्त्ता नहीं कहा जा सकता। जीवका यह उपक्रम एवं उपसंहार दृष्ट होनेके कारण इसमें कोई बाधा नहीं है। इस कारण इसे भ्रम भी नहीं कहा जा सकता, इसलिए ईश्वरकी कल्पना करके जीवके कर्त्तृत्वको ईश्वराधीन कहना युक्तियुक्त नहीं है—पूर्वपक्षकी इस आपत्तिके उत्तरमें कहते हैं कि जीवका कर्त्तृत्व दुग्ध तुल्य है। जिस प्रकार गायमें दृश्यमान दुग्ध उसके प्राणसे ही निःसृत होता है, इसी प्रकार जीवका कर्त्तृत्व भी ईश्वराधीन है, ईश्वरकी इच्छासे संघटित होता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः।
शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात्॥

अविद्वानेवमात्मानं मन्यतेऽनीशमीश्वरम्।
भूतैः सृजति भूतानि ग्रसते तानि तैः स्वयम्॥

(श्रीमद्भा० ६/१२/११-१२)

अर्थात् पुरुष (महत्-तत्त्वके स्रष्टा), प्रकृति महत्-तत्त्व, अहङ्कार और आकाशादि पञ्चमहाभूत, चक्षु आदि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं चित्त—ये सभी भगवान्‌के अनुग्रहके बिना इस विश्वकी सृष्टि आदि कार्य नहीं कर सकते। सर्वनियन्ता स्वतन्त्र ईश्वरको न जानकर अज्ञानी जीव पराधीन होनेपर भी अपनी आत्माको ही स्वतन्त्र ईश्वर मान लेता है। मेरे पूर्व कर्मोंके सहयोगसे इस शरीरके स्रष्टा मेरे पितादि हैं तथा व्याघ्रादि कोई दूसरा इसे मार देनेवाला है, यह सिद्धान्त उचित नही है। वास्तवमें भगवान् ही प्राणियोंसे प्राणियोंकी सृष्टि एवं प्राणियोंसे ही दूसरे प्राणियोंका विनाश कराते हैं। अतः जीवोंको किसी प्रकारकी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है एकमात्र भगवान् ही स्वतन्त्र हैं॥ २४॥

अवतरणिका भाष्य—न चानुपलब्धिविरोध इत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—उक्त कार्योपसंहाररूप दर्शनमें ईश्वरका अनुपलब्धिरूप विरोध (असङ्गत) भी नहीं है, इसी बातको सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—देवादिवदिति लोके॥ २५॥

सूत्रार्थ—अदृश्यमान होनेपर भी जो कर्त्ता हो सकता है, उसके सम्बन्धमें 'लोके'—लौकिक व्यवहारमें दृष्टान्त है, 'देवादिवत्' इन्द्रादि देवता अदृश्य रहकर भी वर्षणादि कार्य करते हैं, यह प्रसिद्ध है, इसी प्रकार ईश्वरको भी जानना होगा॥ २५॥

सूत्रानुवाद—इन्द्रादि देवता अदृश्य रहकर भी वर्षणादि कार्य करते हैं, लौकिक व्यवहारमें यह देखा जाता है, इसी प्रकार अदृश्य ईश्वरका भी जगत्-कर्त्तृत्व जानना होगा॥ २५॥

गोविन्दभाष्य—षष्ठ्यन्तादिवार्थे वतिः अदृश्यमानस्यापीन्द्रादेर्लोके वर्षणादि-कर्त्तृत्वसिद्धेः। तथा चानुपलभ्यमानोऽपीश्वरोविश्वकर्त्तेति॥ २५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'देवादिवत्'* इस पदमें देवादीनामिव इस षष्ठी-विभक्त्यन्त देवादि शब्दके उत्तरमें 'वति' (वत्) प्रत्यय

है। अदृश्यमान होकर भी इन्द्र इत्यादि देवताओंका जिस प्रकार जलवर्षण-कर्त्तृत्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार ईश्वर प्रत्यक्ष न होनेपर भी विश्वकर्त्ता हैं, इसमें कोई असङ्गति नहीं है॥ २५॥

सूक्ष्मा-टीका—देवादिवदिति। स्पष्टम्॥ २५॥

सूक्ष्मा-सार—भाष्यार्थ सहज बोध्य है॥ २५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें और भी एक पूर्वपक्षकी आपत्तिका उत्तर दे रहे हैं। यदि कोई मानता है कि ईश्वर जब उपलब्ध नहीं हो सकते, तो उनका जगत्-कर्त्तृत्व भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि यह तर्क युक्तियुक्त नहीं है, ईश्वरकी उपलब्धि कभी भी बाधक नहीं हो सकती। कारण इन्द्रादि देवता अदृश्य रहकर भी जब वर्षणादि कार्य कर सकते हैं, तब ईश्वर अप्रत्यक्ष रूपसे जगत्-सृष्टि आदि करते हैं, इसमें कोई असङ्गति नहीं है। मकड़ीकी जाला बनानेके लिए अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं होती और बलाका (बगुली) वीर्यपातके बिना ही गर्भधारण करती है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदर्हसत्तमाः।
इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः॥

(श्रीमद्भा॰ ४/२१/२७)

हे पूज्य सज्जनो! किन्हीं श्रेष्ठ महानुभावोंके मतमें कर्मका फल देनेवाले यज्ञपति परमेश्वर ही हैं, क्योंकि इहलोक और परलोक दोनों ही स्थानोंपर कोई-कोई शरीर बड़े तेजोमय देखे जाते हैं।

देवताओंके वचनोंका सार भी यही है—

य एक ईशो निजमायया नः
ससर्ज येनानु सृजाम विश्वम्।
वयं न यस्यापि पुरः समीहतः
पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः॥

(श्रीमद्भा॰ ६/९/२४)

एकमात्र अद्वितीय तत्त्व भगवान् अपने मायाबलसे अर्थात बहिरङ्गा-शक्तिसे हमारी सृष्टि करते हैं और उनके अनुग्रहसे हम विश्वकी रचना करते हैं। वे हमारे सम्मुख अन्तर्यामी रूपमें विराजमान हैं, तो भी हम उनके दर्शन कर नहीं पाते। इसका कारण यह है कि हम सब स्वयंको पृथक् तथा स्वतन्त्र ईश्वर मानकर अभिमान करते हैं।

इसी प्रकार और भी,

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥

(श्रीमद्भा॰ २/१०/२२)

जब वेदरूप ऋषि विराट् पुरुषको स्तुतियोंके द्वारा जगा रहे थे, तब उन्हें उन वेद-स्तुतियोंको सुननेकी इच्छा हुई। जिससे उनके दोनों कान, उनके अधिष्ठातृ-देवताके दिशाएँ और शब्द गुणके विषयको ग्रहण करनेवाली श्रोत्रेन्द्रिय प्रकट हो गयी। इसीसे शब्द सुनायी पड़ता है॥ २५॥

अवतरणिका भाष्य—जीवकर्त्तृत्वपक्षे दोषान्तरमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—जीवकर्त्तृत्ववादमें अन्य दोष भी दिखाते हैं—

११—कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम्

सूत्र—कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवशब्दव्याकोपो वा॥ २६॥

सूत्रार्थ—'कृत्स्नप्रसक्ति'—जीव-कर्त्तृत्व स्वीकार करनेपर उनके मतमें समग्र जीवका समस्त कार्यमें प्रसङ्ग कहा जाता है, किन्तु ऐसा तो होता नहीं, सामान्य एक तृणोत्पाटन (तिनका उखाड़ने) में भी जीवका समग्र प्रसङ्ग कहाँ है? यदि कहो, जीवस्वरूपके अंशकी उसमें प्रवृत्ति है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीवका अंश होता ही नहीं है, 'वा' अथवा यदि अंश स्वीकार करते हो, तो 'निरवयवशब्दव्याकोपः' निरवयवत्व (अवयव-रहितता) बतानेवाली श्रुतिकी बाधा होती है॥ २६॥

सूत्रानुवाद—जीव-कर्त्तृत्वानुसार तृणोत्पाटनादि कार्यमें जीवकी समग्र प्रसक्ति नहीं देखी जाती और यदि जीवस्वरूपके अंशकी प्रवृत्ति उस कार्यमें मानी जाय, तो निरवयवत्वका वर्णन करनेवाली श्रुतिके साथ विरोध होता है॥ २६॥

गोविन्दभाष्य—जीवकर्त्तृत्ववादिना जीवस्वरूपस्य निरंशत्वात् कृत्स्नस्य तस्य सर्वस्मिन् कार्ये प्रसक्तिर्वाच्या। न च सा शक्या वक्तु
तदननुभवात्। कृत्स्नेन स्वरूपेण प्रवृत्तिः खलु कृत्स्नसामर्थ्यापेक्षां करोति। सा यथा गुरुतरदृषदुत्थापने स्यात् न तथा तृणोत्थापने सामर्थ्यांशानुभवात्। न च स्वरूपांशस्य तत्र प्रसक्तिर्वाच्या। जीवस्वरूपस्य निरंशत्वात्। स्वीकृते त्वंशे निरंशत्वश्रुतिव्याकोपः। *'एषोऽणुरात्मा'* (मु॰ ३/१/९) इत्यादि वाक्यबाध इत्यर्थः। *'जीवाद् भवन्ति भूतानि'* इत्यादिवाक्यन्तु ब्रह्मपरमेवेत्युक्तं प्राक्। तस्मात् मन्दो जीव-कर्त्तृत्वपक्षः॥ २६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीवका स्वरूप जब अंश (अवयव) हीन है, तो जीव-कर्त्तृत्ववादी निश्चय ही कहेंगे—समस्त जीवका समस्त कार्य-सम्पादनमें अधिकार प्रसक्त हो सकता है, किन्तु ऐसा तो कहा नहीं जा सकता। क्योंकि अङ्गुलि आदि द्वारा तृणोत्तोलन (तिनका उठाने) में जीवमें कृत्स्न (सम्पूर्ण) स्वरूपकी प्रवृत्ति दिखायी नहीं देती। यह प्रसिद्ध है कि जीव कृत्स्नस्वरूपमें प्रवृत्त होनेपर अवश्य कृत्स्न-सामर्थ्यकी अपेक्षा कर सकता है। जिस प्रकार गुरुतर (बहुत भारी) पत्थर उठानेका कार्य जीवका कृत्स्न-सामर्थ्य सापेक्ष है, उस प्रकारसे तृण-उत्तोलनका कार्य जीवके कृत्स्न-सामर्थ्यकी अपेक्षा नहीं रखता, उसमें आंशिक सामर्थ्यकी उपलब्धि (अनुभूति) होती है। यदि कहो उस कार्यमें स्वरूपांशकी प्रवृत्ति है अर्थात् जीवस्वरूपका वहाँ आंशिक प्रसङ्ग है तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीवस्वरूप निरंश है, तब उसका अंश कहाँ-से आयेगा? यदि जीवका अंशत्व स्वीकार करते हो तो जीवके निरंशत्वस्वरूपको निरूपित करनेवाली श्रुति कु
यथा—*'एषोऽणुरात्मा'* (मु॰ ३/१/९) यह जीवात्मा अणु परिमाण है। तब यह जो कहा गया है कि 'जीवसे समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं' इत्यादि वाक्य ब्रह्ममें ही तात्पर्यका बोध करानेवाले हैं। यह बात पहले भी स्पष्ट की गयी है, अतः जीव-कर्त्तृत्ववाद मत मन्द है, तुच्छ है, दूषित है, हेय है, परित्यज्य है॥ २६॥

सूक्ष्मा-टीका—कृत्स्नेति। जीवेति। तृणोत्तोलनं तृणोत्थापनम्। तदननुभवादिति। कृत्स्नेन स्वरूपेण प्रसक्तेरप्रतीतेरित्यर्थः। दृषत् पाषाणः॥ २६॥

सूक्ष्मा-सार—*'कृत्स्नेत्यादि'* सूत्रमें जीव-कृर्त्तृत्ववादि नेत्यादि भाष्यके अन्तर्गत *'तृणोत्तोलनादौ'* में तृणोत्तालनका अर्थ है तृणोत्पाटन। *'तदननु (भवात्)'* कृत्स्न स्वरूपकी उसमें प्रवृत्ति (चेष्टा) देखी नहीं जाती, यह अर्थ है। दृषदुत्थापनेमें दृषत् का अर्थ है पाषाण॥ २६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें जीव-कर्त्तृत्ववादका और एक दोष दिखाते हैं। जो जीव-कर्त्तृत्ववादी हैं, उन्हें हमें निश्चय ही बताना होगा कि अखण्ड जीवके समस्त कार्योंमें समग्र रूपसे प्रसक्तिके कारण जीव निरंश है, किन्तु ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि अङ्गुलिके द्वारा तृणको उठानेमें उस प्रकारका प्रसङ्ग अनुभूत नहीं होता। समग्र स्वरूपकी प्रवृत्ति समग्र सामर्थ्यकी अपेक्षा रखती है, जैसा कि एक गुरुतर प्रस्तर उठानेमें देखा जाता है। जिस स्थानपर *'जीवात् भवन्ति भूतानि'* श्रुतिमें जीवसे भूतोंकी उत्पत्तिके विषयमें वर्णन है, उसे ब्रह्मपरक ही जानना होगा। जीवका अंश स्वीकार करनेपर निरंशत्व श्रुतिके साथ विरोध घटित होता है। इसलिए भी जीव-कर्त्तृत्ववाद सङ्गत नहीं होता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अविद्वानेवमात्मानं मन्यतेऽनीशमीश्वरम्।
भूतैः सृजति भूतानि ग्रसते तानि तैः स्वयम्॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१२/१२)

अर्थात् सर्वनियन्ता स्वतन्त्र ईश्वरको न जानकर अज्ञानी जीव पराधीन होनेपर भी अपनी आत्माको ही स्वतन्त्र ईश्वर मान लेता है। मेरे पूर्व कर्मोंके सहयोगसे इस शरीरके स्रष्टा मेरे पितादि हैं तथा व्याघ्रादि कोई दूसरा इसे मार देनेवाला है, यह सिद्धान्त उचित नहीं है। वास्तवमें भगवान् ही प्राणियोंसे प्राणियोंकी सृष्टि एवं प्राणियोंसे ही दूसरे प्राणियोंका विनाश कराते हैं। अतः जीवोंको किसी प्रकारकी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है, एकमात्र भगवान् ही स्वतन्त्र हैं॥ २६॥

अवतरणिका भाष्य—अथैतौ दोषौ ब्रह्मकर्त्तृत्वपक्षे स्यातां न वेति वीक्षायां, सर्वेषु कार्येषु कृत्स्नेन स्वरूपेण चेत् प्रवर्त्तते, तर्हि तृणोदञ्चनादौ कृत्स्नस्य प्रसक्तिर्न च सा सम्भवेदंशेन तत्सिद्धेः। क्वचिदंशेन चेत् प्रवर्त्तते तर्हि *'निष्फलं निष्क्रियम्'* (श्वे॰ ६/१९) इत्यादि श्रुतिव्याकोपापत्तिरतः, स्यातामिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि ये दोनों दोष अर्थात् कृत्स्न प्रसक्ति और निरवयवरूप शब्द-विरोध ब्रह्मके जगत्-सृष्टि कर्त्तृत्व पक्षमें घटित होते हैं कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षवादियोंका मत है कि समस्त कार्यमें कृत्स्नस्वरूप द्वारा प्रवृत्ति यदि कहते हो तो तृणोत्तोलन-कार्यमें कृत्स्नस्वरूपकी प्रवृति सम्भव नहीं है, वहाँ तो अंशमात्रसे ही कार्यकी सिद्धि हो जाती है। यदि कहते हो किसी-किसी स्थलपर स्वरूपके अंश द्वारा प्रवृत्ति (कार्य) होती है तो *'निष्कलं निष्क्रियम्'*—ब्रह्म निरवयव एवं निष्क्रिय हैं—इस कथनका व्याघात (विरोध) होता है। अतएव उक्त दोनों दोषोंकी आपत्ति ब्रह्म-पक्षमें ही है। पूर्वपक्षके इस प्रकारके कहनेपर सूत्रकार कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेत्यादि। प्रागुक्तं ब्रह्मणो विश्वकर्त्तृत्वमाक्षिप्य समाधीयत इत्याक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। एतौ कृत्स्नप्रसक्त्यादि दोषौ स्यातां सम्भवेतां प्रवर्त्तते ब्रह्मेत्यर्थात्। कृत्स्नस्येति स्वरूपस्य। अंशेन स्वरूपांशेन। तत्सिद्धेस्त-त्तृणोत्थापनादिनिष्पत्तेः। क्वचित् तृणोत्थापनादौ। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'अथेत्यादि'* अवतरणिका भाष्य है। पूर्व प्रतिपादित परमेश्वरके विश्व-कर्त्तृत्वका प्रतिवाद करके इस सूत्रमें उसका समाधान करते हैं—इस कारण यहाँ आक्षेप-सङ्गति जानना चाहिये। *'एतौ दोषौ'* में 'एतौ' का अर्थ है—कृत्स्न प्रसक्ति और निरवयव शब्द व्याकोपदोष—ये दोनों। स्याताम्—सम्भव हो सकता है। *'स्वरूपेण चेत् प्रवर्त्तते'* इतिमें प्रवर्त्तते क्रियाका कर्त्तृपद (कर्त्ता) ब्रह्म है, इसे अर्थाधीन जानना चाहिये। *'कृत्स्नस्य'* अर्थात् कृत्स्नस्वरूपका। *'अंशेन'*—स्वरूपांश द्वारा, *'च तत् सिद्धेः'*—क्योंकि उस तृणोत्तालनादि कार्यकी निष्पत्ति (सिद्धि) हो सकती है, *'क्वचित् अंशेन चेत्'* इतिमें *'क्वचित्'* का अर्थ है तृणोतालनादि किसी-किसी कार्यमें *'एवं प्राप्ते'*—इस प्रकार पूर्वपक्षीका आक्षेप प्राप्त होनेपर।

सूत्र—श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्॥ २७॥

सूत्रार्थ—'तु' इस प्रकारकी शङ्का करना मत, क्योंकि 'श्रुतेः' श्रुति वही कहती है, क्या कहती है? इसका उत्तर है—ब्रह्म अलौकिक, अचिन्तनीय, ज्ञानस्वरूप (ज्ञानात्मक) होनेपर भी ज्ञानविशिष्ट हैं इत्यादि। (अथवा) यदि यह कहते हो कि श्रुति किस प्रकारसे बाधित अर्थको बतलायेगी, तो वह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'शब्दमूलत्वात्' अचिन्तनीय अर्थ एकमात्र शब्द (वेद) प्रमाण द्वारा सिद्ध है॥ २७॥

सूत्रानुवाद—श्रुति ब्रह्मके अचिन्तनीय ज्ञानस्वरूपका भी वर्णन करती है और तत्कृत विचित्र जगत्-सृष्टिका भी। श्रुतिके प्रतिपाद्य विषयको श्रुति द्वारा ही जाना जा सकता है। श्रुतिमें भगवान्को कारण मानकर भी विकाररहित माना है॥ २७॥

गोविन्दभाष्य—शङ्काच्छेदाय तु-शब्दः। उपसंहार (२/१/२४) सूत्रान्नेत्यनुवर्त्तते। ब्रह्मकर्त्तृत्वपक्षे लोकदृष्टा दोषा न स्युः। कु *'अलौकिकमचिन्त्यं ज्ञानात्मकमपि मूर्त्तं ज्ञानवच्चैकमेव बहुधावभातञ्च निरंशमपि सांशञ्च मितमप्यमितञ्च सर्वकर्त्तृ निर्विकारञ्च ब्रह्म'* इति श्रवणादेवेत्यर्थः। तथाहि *'वृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपम्'* इति मुण्डके (३/१/७) अलौकिकत्वादि श्रुतम्। *'तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्।'* (गो॰ता॰ ४६) *'बर्हापीडाभिरामाय रामायाकु* (गो॰ता॰ ५) *'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* इति गोपालोपनिषदि (२३) ज्ञानात्मकत्वादिति। *'अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिव'* इति माण्डुक्योपनिषदि (१/२) निरंशत्वेऽपि सांशत्वम्। *'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत'* इति काठके (१/२/२१) मितत्वेऽप्यमितत्वञ्च। *'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।* (श्वे॰ ३/३) *एष देवो विश्वकर्मा महात्मा।'* (श्वे॰ ४/१७) *'स विश्वकृद् विश्वहृदात्मयोनि* (श्वे॰ ६/१६) *निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्'* (श्वे॰ ६/१६) इति श्वेताश्वतरश्रुतौ सर्वकर्त्तृत्वेऽपि निर्विकारत्वञ्चेत्येतत् सर्वं श्रुत्यनुसारेणैव स्वीकार्यं न तु केवलया युक्त्या प्रतिविधेयमिति। ननु श्रुत्यापि बाधितार्थकं कथं बोधनीयं तत्राह शब्देति। अविचिन्त्यार्थस्य शब्दैकप्रमाणत्वादित्यर्थः। तादृशे मणिमन्त्रादौ दृष्टं ह्येतत् प्रकृते कैमुत्यमापादयति। इदमत्र निष्कृष्टम्। प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानि भवन्ति। प्रत्यक्षं तावत् व्यभिचारि दृष्टं मायामुण्डावलोके चैत्रस्येदं मुण्डमित्यादौ। वृष्ट्या तत्कालनिर्वापितवह्नौ चिरमधिकद्वित्वरधूमे पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यनुमानञ्च। आप्तवाक्यलक्षणः शब्दस्तु न क्वापि व्यभिचरति—हिमालये हिमं, रत्नालये रत्नमित्यादि। स हि तदनुग्राही तन्निरपेक्षस्तदगत्ये साधकतमश्च।

दृष्टचरमायामुण्डस्य पुंसो भ्रान्त्या सत्येऽप्यविश्वस्ते तदेवेदमित्याकाशवाण्यादौ। *'अरे शीतार्त्ताः पान्था मास्मिन् वह्निं सम्भावयत दृष्टमस्माभिः स इदानीं वृष्ट्यैव निर्वाणः। किन्त्वमुस्मिन् धूमोद्गारिणि गिरौ स दृश्यत'* इत्यादौ च तदुभयानुग्राहिता। मणिकण्ठस्त्वमसीत्यादौ तन्निरपेक्षता। तदगम्ये ग्रहचेष्टादौ साधकतमता चेति शब्दस्य सर्वतः श्रैष्ठ्यै स्थिते ब्रह्मबोधकस्तु श्रुतिशब्द एव। *'नावेदविन्मनुते तं वृहन्तम्'* इत्यादि श्रवणात् स्वतःसिद्धत्वेन निर्दोषत्वाच्चेति॥ २७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द शङ्काके निराकरणके लिए है। यह किस प्रकार जान लिया? इसका उत्तर है *'उपसंहार'* (ब्र॰सू॰ २/१/२४) सूत्रसे 'न' निषेधार्थक 'नञ्' पदकी अनुवृत्ति (जस-की-तस) यहाँ भी चली आ रही है। लौकिक दृष्टिमें जो सब दोष दिखायी देते हैं, ब्रह्मके जगत्-कर्त्तृत्व पक्षमें उन सबकी सम्भावना तक नहीं है। किस कारणसे? इसका उत्तर है 'श्रुतेः'—इस प्रकारके विरुद्धार्थसे पूर्ण श्रुति है, यथा—*'अलौकिकमचिन्त्यं ... निर्विकारञ्च ब्रह्म'*—ब्रह्म अलौकिक तथा लोक-व्यवहारसे अतीत, अचिन्तनीय, ज्ञानस्वरूप होकर भी मूर्त्तिमान और ज्ञानविशिष्ट हैं, एक (सजातीय, विजातीय भेदरहित) होनेपर भी बहुत रूपोंमें प्रकाशवान (अभिव्यक्त) हैं, निरवयव होनेपर भी अंशविशिष्ट हैं, परिमित परिमाण होनेपर भी अपरिमित हैं, सर्वकर्त्ता होनेपर भी निर्विकार हैं—श्रुतिमें ब्रह्मके इस प्रकारका स्वरूप सुने जानेके कारण ही ब्रह्मके जगत्-कर्त्तृत्वके सम्बन्धमें कोई दोषापत्ति नहीं है। मुण्डकोपनिषद (३/१/७) में कहा गया है, ब्रह्म बृहत् परिमाण विभु हैं, वे दिव्य अर्थात् अलौकिक एवं अचिन्तनीयस्वरूप हैं। गोपालोपनिषद (४६) में भी देखा जाता है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप एवं मूर्त्तिमान हैं। यथा *'तमेकमेव गोविन्दम्'* वे श्रवणके विषयीभूत, परमेश्वर, गोविन्द हैं, वे सच्चिदानन्द-मूर्त्ति हैं। *'बर्हापीडाभिरामाय रामायाकु* (गो॰ता॰ पूर्व ५) परब्रह्म मयूरपिच्छसे सुसम्पन्न, अकु

'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति' (गो॰ता॰ २३) जो एक होकर भी बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित हो रहे हैं। माण्डुक्योपनिषद (१/२९) में कहा गया है—वे निरंश होनेपर भी सांश (अंशविशिष्ट) हैं, यथा—*'अमात्रोऽनन्तमात्रश्च त्रश्च ... शमः द्वैतस्योपशमः शिवः'*—वे

अमात्र हैं अर्थात् स्वांश-भेदशून्य होकर भी बहुमात्र (अनन्तमात्र) अर्थात् असंख्यमात्र स्वकीय अंशविशिष्ट हैं, मङ्गलमय हैं और द्वैत प्रपञ्चके निवारक हैं। कठोपनिषद (१/२/२१) में वर्णन है—वे किञ्चिद्देशावच्छिन्न (कु
(असीमित) स्वरूप हैं। कहा गया है—*'यथा आसीनो दूरं प्रजाति … याति सर्वतः'* वे एक स्थानपर आसीन होकर भी बहुत दूर गमन करते हैं, सोते हुए भी सर्वगामी अर्थात् चारों दिशाओंमें भ्रमण करते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद (३/३) में कहा गया है—*'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः'*—एक, अद्वितीय, अन्य-निरपेक्ष, द्योतनशील (चैतन्यमय) वे परमेश्वर स्वर्ग, मर्त्त्य (पृथ्वीलोक) इत्यादिकी सृष्टि करते हैं। *'एष देवो विश्वकर्मा महात्मा' 'आत्मयोनिः'* (श्वे॰ ४/१७) वे परमेश्वर अनन्तक्रिय एवं महाकाय हैं। वे विश्वस्रष्टा, विश्वका प्रलय कर देनेवाले और स्वयम्भू (आत्मयोनि) हैं (श्वे॰ ६/१६)। पुनः एक और श्रुति है—*'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्'* (श्वे॰ ६/१९)—वे निरंश, निष्क्रिय, शान्त-स्वभाव, निर्दोष और निरुपाधि (जड़-देहादिसे सम्पर्करहित) हैं। इन सब श्रुतियोंमें यही प्रतिपादित हुआ है कि उनमें सर्वकर्त्तृत्व सूचित होनेपर भी उनके निर्विकारत्वका प्रतिपादन है। ये समस्त अचिन्तनीयत्वादि धर्म-श्रुतिके अनुसार ही स्वीकार किये गये हैं, केवल युक्तियोंसे उनका निराकरण नहीं हुआ है। आशङ्का हो सकती है कि श्रुतियाँ तो परस्पर विरुद्धार्थ-बोधक हैं, तब उनका ब्रह्मपरक अर्थ किस प्रकार जाना जायेगा? इसके समाधानके लिए कहते हैं—*'शब्दमूलत्वात्'* अर्थात् अचिन्त्य पदार्थ एकमात्र शब्द-प्रमाणसे ही ज्ञातव्य है यही उसका तात्पर्य है। लौकिक मणि-मन्त्रादिका जब अचिन्त्य प्रभाव देखा जाता है, तब ब्रह्मके सम्बन्धमें जो अचिन्तनीय प्रभावता रहती है, इस विषयमें कहना ही क्या है? यह दृष्टान्त कैमुतिक न्यायका प्रतिपादन करनेवाला है। इस विषयमें यही निष्कर्ष है। प्रमेय-निर्धारणमें तीन प्रकारके प्रमाण स्वीकार किये जाते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनमें प्रत्यक्ष प्रमाण व्यभिचार दोषसे दूषित है, जैसे कि इन्द्रजाल रचित मुण्डको देखनेपर 'यह चैत्र नामक व्यक्तिका मुण्ड है' इस प्रकार मिथ्याभूत

वस्तुको प्रत्यक्ष देखा जाता है अर्थात् इस प्रकारकी प्रतीतिमें प्रत्यक्षका व्यभिचार होता है। इसके बाद अनुमान भी व्यभिचारी है अर्थात् व्यभिचार नामक हेत्वाभास दोषसे ग्रस्त है, यथा धूएँको देखकर जिस अग्निका अनुमान होता है, उसमें धूमरूप साधन ही अग्निका व्याप्तिविशिष्ट होनेसे उस अग्निका अनुमापक होता है, किन्तु जिस अग्निको तत्काल (अभी-अभी) निर्वापित किया (बुझाया) गया है, उससे बहुत बार और अधिक अथवा दुगुने वेगसे धूआँ उठता है, तब उस धूएँको देखकर *'पर्वतो वह्निमान्'* (पर्वत अग्निसे युक्त है) यह अनुमान भी व्यभिचार-हेतुक (मिथ्या) ही होता है। बात यह है कि जहाँ साध्य नहीं होता, वहाँ यदि हेतु रहता है, तो वह हेतु व्यभिचारी होता है, उस प्रकारके हेतुके द्वारा अनुमान किया जाय, तो वह दृष्टानुमान होता है, उक्त स्थलपर यही दृष्टानुमान है। परन्तु जो आप्तवाक्यस्वरूप शब्द-प्रमाण है, वह किसी भी स्थानपर व्यभिचारित नहीं होता। जिस प्रकार हिमालय पर्वतपर हिम है—इस कथनका कोई व्यतिक्रम नहीं है, उसी प्रकार रत्नालय (समुद्र) में रत्न हैं, यह कथन भी सत्य है। शब्द प्रमाण प्रत्यक्षादिका उपजीव्य है अर्थात् शब्दबोधित (शब्दसे ज्ञापित होनेवाले) अर्थको प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमाणित करता है, किन्तु शब्द-प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमानका सापेक्ष नहीं है। जो प्रत्यक्षका अविषय है, उस वस्तुके बोधनमें करण-कारक (साधनतम ज्ञापक) एकमात्र शब्द है। अब शब्द जो कि प्रत्यक्ष और अनुमानका अनुग्राहक अर्थात् उपजीव्य है, वही दिग्दर्शन कर रहे हैं कि देखो, जो व्यक्ति पहले माया (ऐन्द्रजालिक) मुण्डको देखकर ठगा हुआ-सा था, अब उसमें सत्य मुण्डके प्रति भी भ्रान्तिवश अविश्वास उत्पन्न हो रहा है, तब आकाशवाणी उसे निश्चय (विश्वास) करा देती है कि यही उस चैत्रका मुण्ड है। इस प्रकार शब्दके ऊपर निर्भर करके सत्य प्रत्यक्षीभूत होता है। पुनः अनुमान स्थलपर भी शब्दकी अनुग्राहकता (उपजीव्यता) है। देखो! शीतसे कातर पथिकगण पर्वतपर तत्काल ही निर्वापित अग्निके अविच्छिन्नमूलक और दुगुने धूमको देखकर अग्निकी आशासे वहाँ जाते हैं और कोई उनसे कहता है—अरे शीतार्त्त पथिकगण! इस

पर्वतपर अग्निकी सम्भावना मत करना, हमने देखा है कि वह अग्नि इस समय वर्षासे निर्वापित हो गयी है और यह दूसरा पर्वत धूमका उद्गिरण (उत्सर्जन) मात्र ही करता है, इसमें अग्नि कभी नहीं देखा जाता, इत्यादि स्थलोंपर शब्दके द्वारा अनुमान प्रमाणसे जो अग्निका भ्रम था, वह दूर हो गया और तब पथिकको अन्यत्र अग्निका सन्धान मिला। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमानका भी उपजीव्य शब्द ही है। किन्तु शब्द स्वयं प्रमाण द्वय (प्रत्यक्ष एवं अनुमान) से निरपेक्ष होकर प्रवर्तित होता है, यथा किसी व्यक्तिके कण्ठमें मणि रहनेपर भी उसे भ्रम रहता है कि उसके कण्ठमें मणि नहीं है। उस समय यदि कोई कहता है—तुम्हारे कण्ठमें ही तो मणि है, तब वह शब्द उसके कर्ण–कु

मणिकण्ठ नहीं हूँ' (मेरे कण्ठमें मणि नहीं है) यह भ्रम दूर करा देता है और इस प्रमाज्ञान (अभ्रान्त ज्ञान) को उत्पन्न करा देता है कि 'हाँ, सत्य है, सत्य है, मैं मणिकण्ठ ही हूँ।' अतः यहाँ शब्दप्रमाणको प्रत्यक्ष और अनुमानकी कोई प्रयोजनीयता नहीं है। अन्यान्य साधक प्रमाणोंसे शब्द प्रमाणके श्रेष्ठत्वका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्यादि ग्रहोंका अन्य राशिमें गमन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षमूलक अनुमानके सर्वथा अयोग्य है, इसलिए ग्रहादियोंकी चेष्टाको शब्द द्वारा बोध कराया जाता है। अतः शब्दप्रमाण ही समस्त प्रमाणोंसे सर्वतोभावसे श्रेष्ठ प्रमाण है, यह सिद्ध हुआ। इस कारण श्रुति शब्दसे ही ब्रह्मका बोध होता है, तदर्थ अन्य कोई प्रमाण नहीं है। श्रुति भी वही कहती है—*'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'* अर्थात् अवेदज्ञ व्यक्ति उन विभु परमेश्वरको जान नहीं सकते। वेद स्वतःसिद्ध, निर्दोष एवं अपौरुषेय हैं, इसलिए इसमें विप्रलिप्सा, मिथ्या इत्यादि दोष नहीं रहते। उसका प्रामाण्य भी सर्वाधिक है॥ २७॥

सूक्ष्मा–टीका—श्रुतेस्त्विति। तमेकमित्यादौ ज्ञानात्मकमपि मूर्त्तं ज्ञानवच्चैकमेव बहुधावभातं चेत्येतत् क्रमाद्बोध्यम्। अमात्रः स्वांशभेदशून्यः। अनन्तमात्रोऽसंख्येयस्वांशः। प्रतिविधेयं निरसनीयम्। नन्विति। एतदचिन्त्यत्वम्। अनुमानञ्चेति चकाराद्व्यभिचारीति योज्यम्। स हीति। स शब्दस्तदनुग्राही प्रत्यक्षाद्युपजीव्य इत्यर्थः। तन्निरपेक्षः प्रत्यक्षाद्यपेक्षाशून्यः। तदगम्ये प्रत्यक्षाद्यप्रवेश्ये। तदेवेदमिति। तदेव सत्यं मुण्डमिदं न तु मायामुण्डमित्यर्थः। स इति वह्निः।

तदुभयेति। प्रत्यक्षानुमानपोषकतेत्यर्थः। मणीति। मणिकण्ठस्त्वमसीतिवाक्यं श्रोत्रं प्रविशदेव मणिकण्ठोऽहं नास्मीति मोहं तिरष्कु
प्रमामुत्पादयति दशमस्त्वमसीति वाक्यवत्। न चात्र प्रत्यक्षादेरपेक्षास्तीत्यर्थः। ग्रहेति। ग्रहाणां सूर्यादीनां राश्यादिसञ्चारो ग्रहचेष्टा तत्र शब्द एव बोधको नान्यदित्यर्थः। नावेदेति। वेदविदेव तं वृहन्तं परमात्मानं मनुते जानातीत्यर्थः। स्वतः सिद्धत्वं भगवन्निःश्वसिततत्वाद्वेदस्य॥ २७॥

सूक्ष्मा-सार— *'श्रुतेस्त्विति'* सिद्धान्त सूत्र है। *'तमेकं गोविन्दमित्यादि'* श्रुतिमें निरूपण है कि ब्रह्म ज्ञानात्मक होनेपर भी मूर्त्तिविशिष्ट और ज्ञानवान हैं। *'अमात्रः'* का अर्थ है—स्वांशभेदसे शून्य, अनन्तमात्रः अर्थात् असंख्य स्वकीय अंशसे समन्वित। *'केवलया युक्त्या प्रतिविधेयम्'* में 'प्रतिविधेयम्' का अर्थ है निराकरणके योग्य। *'ननु श्रुत्यापि'* इत्यादिका अर्थ है यदिसे तात्पर्य है कहो, श्रुति इत्यादिके द्वारा भी। *'दृष्टं ह्येतत्'* इतिमें 'एतत्'—*'अचिन्तनीयम् अनुमानञ्च'* इति 'चकार' द्वारा 'व्यभिचारी' यह पद योजनीय है। *'स हि तदनुग्राहीति'* में 'सः' का अर्थ है शब्द प्रमाण। तदनुग्राही अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणका उपजीव्य, *'तन्निरपेक्षः'*—प्रत्यक्षादि प्रमाणकी अपेक्षासे रहित। *'तदगम्ये साधकतमः'* में तदगम्ये का अर्थ है प्रत्यक्षादिके अविषय-विषयमें। *'तदेवेदम्'* इत्यादिका अर्थ है—यह वही सत्यमुण्ड है, यह मायामुण्ड नहीं है। *'स इदानीम् वृष्ट्यैव निर्वाणः'* में 'सः' का अर्थ है 'वह्नि'। तदुभयानुग्राहिता—शब्दकी प्रत्यक्ष और अनुमान-पोषकता—यह तात्पर्य है। *'मणिकण्ठस्त्वमसि'* इत्यादिका अर्थ है—तुम मणिकण्ठ हो अर्थात् तुम्हारे कण्ठमें मणि है। यह वाक्य श्रोताके कर्णमें प्रवेश करनेमात्रसे ही उस भ्रमयुक्त व्यक्तिका 'मैं मणिकण्ठ नहीं हूँ'—यह भ्रम दूर कर देता है और 'मैं मणिकण्ठ ही हूँ' इस सत्यज्ञानको उत्पन्न करा देता है। दशमस्त्वमसि (दसवें तुम हो) इस वाक्यके समान। जिस प्रकार कोई व्यक्ति जब दस पुरुषोंकी गिनती कर रहा होता है, नौ तक की गिनती करनेके बाद दसवेंको खोज ही नहीं पाता, उस समय यदि कोई उससे कहता है कि 'दसवें तुम हो' तब उस बातको सुनकर वह सत्यका निर्द्धारण कर लेता है, इस प्रकारसे उस व्यक्तिविशिष्टके लिए शब्द भ्रम-निवर्त्तक होता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ किसी प्रत्यक्षादिकी अपेक्षा नहीं हैं *'ग्रहचेष्टादौ साधकतमता चेति'* अर्थात्

सूर्यादि ग्रहोंकी जो राशिमें सञ्चारादिकी चेष्टा होती है, उस विषयमें शब्द ही बोधक होता है, अन्य किसी भी प्रमाणसे विषयका बोध नहीं कराया जा सकता। *'नावेदविन्भनुते'* इत्यादि अर्थात् वेदविद् व्यक्ति ही उन बृहत्को अर्थात् परमेश्वरको जानता है—यह श्रुतिवशतः एवं *'स्वतः सिद्धेन'* अर्थात् वेद भगवान्के निःश्वास स्वरूप हैं, इसलिए पौरुषेय नहीं हैं, अतएव स्वतः सिद्ध हैं, इसलिए भी॥ २७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई इस प्रकार संशय करे अथवा पूर्वपक्ष करे कि निष्कल, निष्क्रिय और निरवयव ब्रह्मके जगत्-सृष्टि आदि कर्त्तृत्व पक्षमें भी तो पूर्वोक्त दोनों दोषों (कृत्स्न प्रसक्ति एवं निरवयवशब्दव्याकोप दोषः) की सम्भावना हो सकती है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि इस प्रकारकी आशङ्का हो नहीं सकती, क्योंकि श्रुतिसे जाना जाता है कि ब्रह्म अलौकिक एवं अचिन्तनीय शक्तिसम्पन्न हैं। ब्रह्मके अचिन्तनीय शक्तिके विषयमें शब्द प्रमाण ही मूल है। इस विषयमें भाष्यमें बहुत-सी श्रुतियोंको प्रमाणके रूपमें उद्धृत किया है।

श्रीमद्भागवत (४/१७/३३) में द्रष्टव्य है—

सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभि-
र्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धविरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे॥

आप पञ्च महाभूत, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवता, बुद्धि और अहङ्काररूप अपनी शक्तियोंसे इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार करते हैं। आपकी शक्तियाँ बड़ी प्रबल हैं और आप बन्धन-मोक्ष हेतुभूत विद्या-अविद्या, धर्म-अधर्म आदि रूपमें परस्पर विरुद्ध भावसे युक्त हैं। ऐसे अचिन्त्य शक्तिशाली परमपुरुष विधाताको मैं नमस्कार करती हूँ॥ २७॥

अवतरणिका भाष्य—उक्तमर्थं दृष्टान्तेन ग्राहयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वसूत्रमें कथित विषयको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—उक्तमिति। अचिन्त्यार्थस्य शब्दमात्रगम्यत्व-रूपमर्थमित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अवतरणिका भाष्यमें *'उक्तमर्थम्-अचिन्तनीय'* पदार्थ एकमात्र शब्द द्वारा ही बोध्य है—यही विषय है, यही अर्थ है।

सूत्र—आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि॥ २८॥

सूत्रार्थ—'एवम्' ईश्वरकी विभूति इस प्रकार है अर्थात् जिस प्रकार कल्पद्रुमादिकी अचिन्तनीय शक्तिसे हस्ती, अश्व आदि सिद्ध होते हैं, इस शब्दसे लोग उस कथनपर विश्वास करते हैं, उसी प्रकार। 'आत्मनि च' परमेश्वरकी अर्थात् सर्वेश्वर विष्णुकी अचिन्तनीय शक्ति सिद्ध है, इससे 'विचित्राश्च हि' देव, नर, तिर्यक् आदि विचित्र प्राणियोंकी सृष्टि होती है—यह भी शब्दसे ही विश्वास किया जाता है॥ २८॥

सूत्रानुवाद—जागतिक दृश्यमान समस्त विचित्रताएँ अविरुद्ध रूपसे परमेश्वरमें अचिन्त्यशक्तिके द्वारा विराजमान रहती हैं, इसे शब्द द्वारा ही जाना जा सकता है, जिस प्रकार कल्पद्रुमसे हस्ती आदिकी सृष्टिपर शब्दसे ही विश्वास किया जाता है॥ २८॥

गोविन्दभाष्य—यथा कल्पद्रुमचिन्तामण्यादेरीश्वरविभूतिभूतस्याचिन्त्यशक्तिमात्रा सद्धा हस्त्यश्वादयो विचित्राः सृष्टयो भवन्तीति शब्दात् प्रतीत्य श्रद्धीयते एवमात्मनश्च सर्वेश्वरस्य विष्णोर्देवनरतिर्य्यगादयस्तास्तथाभूता भवेयुरिति तस्मादेव श्रद्धेयम्। अविचिन्त्यवस्तुस्वभावस्य तदेकगम्यत्वात्। तत्र यथा कृत्स्नेन स्वरूपेण सृज्यन्ते स्वरूपांशेन वा व्यवस्थया वेति युक्तेर्नावकाशस्तथा प्रकृतेऽपीति। तस्मात् यथाश्रुतमेव स्वीकार्यम्। सप्तम्यन्तनिर्देशः कार्याधारत्वविवक्षया। दार्ष्टान्तिके कैमुत्यद्योतनाय परश्च शब्दः। हि शब्देन पुराणादिप्रसिद्धिः सूच्यते। तस्मात् ब्रह्मकर्त्तृत्वपक्षः श्रेयान्॥ २८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस प्रकार ईश्वरके विभूतिस्वरूप कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि इत्यादिकी अचिन्तनीय शक्तिमात्रसे हस्ती, अश्व इत्यादि विविध प्रकारकी सृष्टि होती है, इसे शब्द प्रमाणसे जानकर लोग इसपर विश्वास करते हैं, इसी प्रकार आत्माकी भी अर्थात् सर्वेश्वर

विष्णुकी अचिन्तनीय शक्तिसे उत्पन्न देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि विचित्र रचनाएँ होती हैं—इस बातपर *'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः'* (श्वे॰ ३/३) अनन्तशक्तिके आधारपर उन्होंने आकाश, पृथ्वी आदिकी सृष्टि की है, इत्यादि श्रुतिके द्वारा विश्वास किया जाना चाहिये। अचिन्त्य वस्तुका स्वभाव एकमात्र शब्दके (श्रुतिक) द्वारा ही गम्य होता है। पूर्वोक्त कल्पद्रुमादि स्थलपर वे हस्ती, घोड़े आदिकी कृत्स्न (समग्र) रूपसे सृष्टि करते हैं अथवा स्वरूपके अंशमें सृष्टि करते हैं, अर्थात् कहीं स्वरूपमें और कहीं स्वरूपके अंशमें सृष्टि करते हैं। इसमें युक्तिका कोई अवकाश नहीं है, इसी प्रकार परमेश्वरमें भी किसी युक्ति अथवा तर्कका कोई अवकाश नहीं है। अतः शास्त्रमें जो सुना जाता है, वही ग्रहण करनेयोग्य है। *'आत्मनः'* न कहकर सूत्रमें *'आत्मनि'* सप्तम्यन्त अधिकरण पदके प्रयोगका उद्देश्य यह बतलानेके लिए है कि ईश्वर समस्त कार्योंके आधार हैं। द्वितीय 'च' शब्द दृष्टान्तके दार्ष्टान्तिक (विषय) के लिए प्रयुक्त हुआ है अर्थात् उपमेय परमेश्वरमें जिस अचिन्त्यशक्तिका निर्वाह्य होगा, इसपर और क्या कहें, यह कैमुतिक न्यायके ज्ञापनके लिए है। 'हि' शब्द द्वारा पुराणादिमें भी जो प्रसिद्धि है, वही द्योतित हुआ है। अतएव ब्रह्मका जगत्-कर्त्तृत्ववाद ही श्रेष्ठ है॥ २८॥

सूक्ष्मा-टीका—आत्मनीति। तथाभूता इति। अचिन्त्यशक्तिमात्रसिद्धा विचित्राः सृष्टय इत्यर्थः। तदेकेति शब्दमात्रबोध्यत्वादित्यर्थः। व्यवस्थयेति। क्वचित् कृत्स्नेन स्वरूपेण क्वचित्तु स्वरूपांशेनेत्यर्थः। प्रकृते परमात्मनि। कार्याधारत्वेति कल्पद्रुमादिः। स्वकार्यं स्वस्मिन्न धारयति परमात्मा तु स्वस्मिंस्तद्धारयतीति विवक्षयेत्यर्थः। दार्ष्टान्तिके परमात्मनि। श्रेयान् प्रशस्ततरः॥ २८॥

सूक्ष्मा-सार—*'आत्मनि चैवम्'* इत्यादि सूत्रके *'तथाभूता भवेयुः'* भाष्यमें *'तथाभूताः'* अर्थात् अचिन्तनीय शक्तिमात्रसे साधित नाना प्रकारकी सृष्टि। *'तदेकगम्यत्वात्'* इति अर्थात् उस शब्द (श्रुति) मात्रसे ही बोधनीयताके कारण—यह अर्थ है। *'व्यवस्था वेति युक्तेन विकाश'* इति 'व्यवस्थया' अर्थात् किसी स्थलपर कृत्स्नस्वरूप द्वारा, अथवा कहीं स्वरूपके अंश द्वारा है—इस युक्तिके लिए अवकाश नहीं है। तथा प्रकृतेऽपि इतिमें प्रकृते अर्थात् परमेश्वरमें। *'कार्याधारत्वविवक्षया'* वे

समस्त कार्य वस्तुओंके आधार हैं, यह कहनेके अभिप्रायमें। अर्थात् कल्पद्रुप इत्यादि अपने कार्य हस्ती, अश्व इत्यादिको अपनेमें धारण करके नहीं रहते, किन्तु परमेश्वर अपनेमें जगत्-कार्यको धारण किये हुए हैं—यही कहनेके अभिप्रायसे 'आत्मनि' पदमें सप्तमीका निर्देश है। द्राष्टान्तिक—दृष्टान्तके विषय अर्थात् परमेश्वरमें। *'ब्रह्मकर्त्तृत्वपक्षः श्रेयान्'* इति—श्रेयान् का अर्थ है प्रशस्यतर—सर्वोत्तम॥ २८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अचिन्तनीय विषयमें शब्दको ही एकमात्र प्रमाण कहकर उसे ही दृष्टान्तके द्वारा स्थापित किया है। कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि इत्यादिकी अचिन्त्यशक्तिसे हस्ती, अश्व इत्यादिकी विचित्र सृष्टि जिस प्रकार आप्त-वाक्य (श्रुति-प्रमाण) से विश्वसनीय होती है, उसी प्रकार सर्वेश्वर विष्णुसे भी विचित्र जगत्-सृष्टिके प्रसङ्गमें शब्द-प्रमाणसे ही विश्वास किया जाता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४७/३०)

अर्थात् मैं अपनी मायाशक्तिके बलसे अपने ही भीतर भूत, इन्द्रिय एवं गुण-स्वरूप बन जाता हूँ और स्वयं निमित्त बनकर अपने आपको रचता हूँ, पालता हूँ और स्वयं ही समेट लेता हूँ॥ २८॥

अवतरणिका भाष्य—स एवोपादेय इत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पहले भी कहा गया है कि जो ब्रह्मका जगत्-कर्त्तृत्व मत है, वह उपादेय अर्थात् ग्रहणीय है—यही कह रहे हैं—

सूत्र—स्वपक्षे दोषाच्च॥ २९॥

सूत्रार्थ—'स्वपक्षे'—वादीके निज पक्षमें अर्थात् जीव-कर्त्तृत्ववादमें 'दोषाच्च'—कृत्स्नरूपमें प्रसक्ति और निरवयव शब्द-वाक्योपदोष (निरवयव प्रतिज्ञाकी हानिरूप दोष) है, किन्तु ब्रह्मपक्षमें ऐसा नहीं है, इसलिए भी जीव-कर्त्तृत्ववाद सम्भव नहीं हो सकता॥ २९॥

सूत्रानुवाद—जीव-कर्त्तृत्ववाद माननेवालोंके अपने स्वयंके मतमें ही कृत्स्न-प्रसक्ति (जीवका समस्त कार्यमें समग्र प्रसङ्ग) और निरवयवता (प्रधानके तीन अवयव सत्त्व, रज और तम) रूप वाक्योंकी हानि होती है॥ २९॥

गोविन्दभाष्य—स्वस्य तव जीवकर्त्तृत्ववादिनः पक्षे कृत्स्नप्रसक्त्यादेर्दोषस्य सत्त्वात् ब्रह्मकर्तृत्वपक्षे तस्य निरस्तत्वात्॥ २९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अवतरणिकामें जो कहा है कि ब्रह्म-कर्त्तृत्ववाद ही स्वीकरणीय है, इसीको सूत्रकार श्रीव्यासजी कहते हैं—*'स्वपक्षे दोषाच्च'*—स्वस्य अर्थात् स्वयंके अर्थात् हे जीव-कर्त्तृत्ववादियो! तुम्हारे अपने (जीव-कर्त्तृत्ववाद) मतमें कृत्स्नरूपमें जगत्-कर्त्तृत्वापत्ति और अंशवादकी अनुपपत्ति (युक्तिरहितता) दोष वर्त्तमान हैं और फिर ब्रह्मके जगत्-कर्त्तृत्व पक्षमें उक्त दोषोंका निराकरण हो गया है, इसलिए ब्रह्म-कर्त्तृत्ववाद ही उपादेय है, श्रेयान् है, सर्वश्रेष्ठ है॥ २९॥

सूक्ष्मा-टीका—स्वपक्षे इति। तस्येति दोषस्य। निरस्तत्वात् पूर्वत्र निराकरणात्। ननु सिद्धान्ते स्वकर्मणि जीवस्यापि कर्तृत्वं स्वीकृतम्। तत्रैतदोषः कथं परिहर्त्तव्य इति चेत् श्रुत्यैवेति गृहाण। अणुरेव जीवः परमात्मसङ्कल्पायत्तो लघु महच्च कर्म करोतीति श्रुतिरेवाह। तत् तथैव मन्यते। न च तत्र युक्त्या प्रतिविधेयमिति॥ २९॥

सूक्ष्मा-सार—*'स्वपक्षे'* इत्यादि सूत्रके भाष्यमें 'तस्य' उस दोषका *'निरस्त्वात्'*—पूर्वमें ही निराकरण कर दिया गया है। आपत्ति है कि सिद्धान्त पक्षमें अपने कर्म-विषयमें जीवका भी कर्त्तृत्व स्वीकृत है, उसमें कृत्स्न-प्रसक्ति एवं निरवयवत्व इत्यादि (दोनों) दोषोंका उद्धार किस प्रकार होगा? ऐसा यदि कहते हो तो उसका समाधान श्रुतिके द्वारा ही होगा, यह ध्यान रखना। बात यह है कि जीव परमाणुपरिमाण है किन्तु परमेश्वरके सङ्कल्पवश जीव क्षुद्र एवं बृहत् कार्य करता है—यह श्रुति कहती है। इसे इसी रूपमें मानना होगा, उसमें किसी युक्तिकी प्रयोजनीयता नहीं है॥ २९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ब्रह्म-कर्त्तृत्ववाद ही उपादेय है और वही ग्राह्य है। इसलिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि जीव-कर्त्तृत्ववादीके अपने पक्षमें ही कृत्स्न-प्रसक्तादि दोष आ पड़ते हैं, किन्तु ब्रह्मके

कर्त्तृत्वपक्षमें उसकी सम्भावना भी नहीं है। श्रुतिमें भी पाया जाता है कि परमात्माके सङ्कल्पवश ही जीव क्षुद्र एवं बृहत् कार्य करता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

आत्मनात्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान्।
तैरिदं सत्यसङ्कल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/३७/१२)

अर्थात् आप स्वतन्त्र पुरुष रूपमें सृष्टिके आदिमें अपनी मायाशक्तिके द्वारा समस्त गुणोंकी सृष्टि करते हैं और बादमें इन्हीं गुणोंसे इस विश्वका सृजन, पालन एवं संहार करते हैं। आपका सङ्कल्प अप्रतिहत है, अतएव आप ईश्वर अर्थात् शक्तिमान हैं।

इसी प्रकार वैशेषिक मतमें भी ऐसे ही दोष हैं, वे भी परमाणुको निरवयव मानते हैं॥ २९॥

अवतरणिका भाष्य—अथ विधान्तरैराशङ्क्य समादधाति। वैषम्याधिकरणात् ब्रह्मणः कर्त्तृत्वं युज्यते न वेति संशये—*'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (तै॰ २/१/२) *'सदेव सौम्येदम्'* (छा॰ ६/२११) *'आत्मा वा इदम्'* (तै॰ १/१/१) इत्यादिषु शक्त्यश्रवणात् न युज्यते। शक्तिमानेव हि तक्षादिर्विचित्रकार्याय क्षमो वीक्ष्यते नाशक्तिमानिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद प्रकारान्तर (दूसरे प्रकारसे) समाधान करते हैं—वैषम्याधिकरणके कारण ब्रह्मका कर्त्तृत्व युक्तियुक्त है कि नहीं अर्थात् ब्रह्मका जगत्-कर्त्तृत्व सङ्गत है या नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—नहीं, ब्रह्मका जगत्-कर्त्तृत्व युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि श्रुति कहती है—*'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (तै॰ २/१/२) ब्रह्म सत्स्वरूप, ज्ञानात्मक और अविनाशी है—इस श्रुतिमें ब्रह्मकी जगत्-कर्त्तृत्व शक्तिका कोई निर्देश नहीं है, इसी प्रकार *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* (छा॰ ६/२/१)—हे सौम्य! हे श्वेतकेतो! सृष्टिके पूर्व एकमात्र ब्रह्म ही थे—इस श्रुतिमें भी किसी शक्तिका परिचय प्राप्त नहीं होता। और भी, *'आत्मा वा इदमग्र आसीत्'* (तै॰ १/१/१) सृष्टिके पूर्व यह विश्व आत्मामें लीन था। इन सब ब्रह्म-प्रतिपादक श्रुतियोंमें ब्रह्मके जगत्-कर्त्तृत्व शक्तिका सन्धान ढूँढ़नेसे भी नहीं

मिलता। अतएव ब्रह्मका कर्त्तृत्ववाद युक्तियुक्त नहीं है। लौकिक व्यवहारमें भी देखा जाता है कि शक्तिशाली तक्षा (शिल्पी बढई जैसे विश्वकर्मा) इत्यादि विचित्र-विचित्र कार्य करनेमें समर्थ होते हैं जब कि शक्तिहीन व्यक्तियोंमें ऐसी सामर्थ्य देखी नहीं जाती। इस पूर्वपक्षीय मतपर सिद्धान्ती सूत्रकारका कहना है—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेति। इहापि पूर्ववत् सङ्गतिः। ब्रह्मणो विश्वसर्गं ब्रुवन् समन्वयो न ब्रह्म विश्वस्रष्टृ तदुपयोगिशक्तिविरहादिति तर्केण विरुध्यत इत्याक्षेपस्वरूपम्। शक्तिविरहे श्रुतिमाह सत्यमित्यादिना। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अथेत्यादि अवतरणिकामें इस स्थानपर भी पहलेके समान आक्षेप-सङ्गति जाननी चाहिये। समन्वय-वाक्यमें यही प्रतिपादन किया गया है कि ब्रह्म ही विश्वकी सृष्टि करते हैं *(तत्तु समन्वयात्* (ब्र॰सू॰ १/१/४)—*वैदेश्च सर्वैरहमेव वेद्यो)* वही यहाँ कहा जा रहा है कि ब्रह्म विश्वके सृष्टा नहीं हैं, क्योंकि विश्व सृष्टिके लिए उपर्युक्त शक्ति उनमें नहीं है। इस विशुद्ध तर्कसे समन्वयको आक्षिप्त (निन्दित) करते हैं—यही आक्षेपका स्वरूप है। ब्रह्ममें जिस जगत्-सृष्टिके विषयमें पूर्वपक्षी शक्तिका अभाव बता रहे हैं, उसे वे 'सत्यभ्' इत्यादि श्रुति द्वारा वर्णन करना चाहते हैं। *'इति प्राप्ते'* इत्यादि इस प्रकार पूर्वपक्षका मत प्राप्त होनेपर उत्तरमें निम्नलिखित सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है—

१२—सर्वोपेताधिकरणम्

ब्रह्मके जगत्-कर्त्तृत्वकी स्थापना

सूत्र—सर्वोपेता च तद्दर्शनात्॥ ३०॥

सूत्रार्थ—'सर्वोपेता च'—परमेश्वर समस्त शक्तियोंके आधार हैं, क्या प्रमाण है? 'तद्दर्शनात्'—श्रुतिमें यही देखा जाता है, यथा 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे॰ १/३)॥ ३०॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्ममें समस्त शक्तियोंका योग (समन्वय) है, यह श्रुति-वाक्य है 'दर्शयतीति दर्शनं श्रुतिः'—सब कु
ही श्रुतिको दर्शन कहते हैं॥ ३०॥

गोविन्दभाष्य—च-शब्दोऽवधारणे। सर्वासां शक्तीनामुपेता प्राप्तासावात्मा। तृच् प्रत्ययः। सर्वशक्तिविशिष्ट एव परमात्मा। कु *'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'* (श्वे॰ १/३) *'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्'* (श्वे॰ ४/१) *'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'* (श्वे॰ ६/८) इत्यादि श्रुतिषु तथा दर्शनात्। *'विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता'* (वि॰पु॰ ६/७/३१) इत्यादिका स्मृतिस्तूक्ता। अचिन्त्याश्चैताः। *'अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः'* (कैवल्य २१) *'आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः'* (श्रीमद्भा॰ ३/३३/३) इत्यादि स्मृतिभ्यः। तथा चाविचिन्त्यशक्तियोगाद्ब्रह्मणः कर्त्तृत्वं युज्यत एवेति। सत्यम् (२/१/१) इत्यादिषु स्वरूपं परामृष्टम्। देवात्मेत्यादिषु (श्वे॰ १/३) तु तस्य शक्तय इति। तस्मात् शक्तिमदेव ब्रह्मस्वरूपम्। अतएव तत्र तत्र सोऽकामयते (तै॰ २/६) इत्यादिना तदैक्षतेत्यादिना (छा॰ ६/२/३) च तस्यैव सङ्कल्पादयो निरूपिताः। उभयेषां वाक्यानां प्रामाण्येऽविशेषः श्रुतित्वाविशेषात्॥ ३०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'च' शब्द अवधारण (निश्चय कराने) के अर्थमें अर्थात् इतर-व्यवच्छेद अर्थमें है, जिसका अर्थ है—ब्रह्म ही हैं, अन्य कोई नहीं। सर्वोपेताका अर्थ है सर्वशक्तिप्राप्त अर्थात् समस्त शक्तियोंसे सम्पन्न। परमात्मा सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। 'उपेता' का अर्थ है प्राप्ता। 'उप' पूर्वक 'इन्' धातुके उत्तरमें तृच् (ता) प्रत्ययके योगसे उपेता शब्दकी निष्पत्ति हुई है। परमात्मा सर्वशक्तिप्राप्त हैं। किस हेतुसे? उत्तर है *'तद्दर्शनात्'*—श्रुतिमें यही देखा जाता है, यथा—*'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'* (श्वे॰ १/३), *'य एकोऽवर्णो बहुधाशक्तियोगात्'* (श्वे॰ ४/१) देवताओंमें परमेश्वरकी शक्ति उनकी मायाशक्तिके द्वारा निगूढ़ (छिपी हुई) है। वह एक होकर भी विभिन्न शक्तियोगसे बहुत-से रूपोंमें विराजते हैं। *'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'* (श्वे॰ ६/८) परमेश्वरकी पराशक्ति विविध प्रकारकी है, यह सुना जाता है, इत्यादि श्रुतियोंमें उसी अचिन्तनीय शक्तिमत्ताका उल्लेख है। श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा गया है—*'विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता'* (वि॰पु॰ ६/७/६१) अर्थात् विष्णुकी शक्ति परा अर्थात् सर्वश्रेष्ठ कही गयी है इत्यादि स्मृति-वाक्योंमें भी इसी सिद्धान्तका उल्लेख है। श्रीभगवान्की समस्त शक्तियाँ अचिन्तनीय हैं—*'अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः ... आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः'* (श्रीमद्भा॰ ३/३३/३) अर्थात् 'मैं हाथ-पैरसे रहित, अवितर्क्यशक्तिसम्पन्न, परमात्मा, परमेश्वर, तर्कके अगोचर, सहस्र प्रकारकी अर्थात् अनन्त

शक्तियोंसे सम्पन्न हूँ' इत्यादि वाक्योंसे भी यही परिचय प्राप्त होता है। इसीसे अचिन्त्यशक्तिके आधार रूपमें ब्रह्मका जगत्-कर्त्तृत्व सङ्गत होता है। *'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'* इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मके स्वरूपमात्रका विवेचन हुआ है, किन्तु *'देवात्मशक्तिम्'* इत्यादि श्रुतिमें उनकी विविध प्रकारकी शक्तिमत्ताका ज्ञान उपलब्ध होता है। अतएव दोनों प्रकारकी श्रुतियोंकी एकवाक्यता द्वारा यही अर्थ प्राप्त होता है कि ब्रह्मका स्वरूप सर्वशक्तिमान है। अतएव जिन-जिन उपनिषदोंमें *'सोऽकामयत'* (तै॰ २/६) 'उन्होंने इच्छा की' इत्यादि वाक्य तथा *'तदैक्षत'* (छा॰ ६/२/३) 'उन ब्रह्मने सङ्कल्प किया' इत्यादि द्वारा भी परमेश्वरके सङ्कल्प इत्यादिका निरूपण हुआ है, ब्रह्मस्वरूप-बोधक वाक्य एवं शक्तिमत्ता-परिचायक वाक्य—इन दोनों श्रुति-वाक्योंको ही प्रमाण मानना होगा, क्योंकि दोनों ही निर्विशेष श्रुति-वाक्य है अर्थात् उनमें कोई भेद नहीं है॥ ३०॥

सूक्ष्मा-टीका—सर्वोपेतेति। अत्र सुखदातेत्यादिवत् शेषे षष्ठ्याः समासो बोध्यः। अन्यथा सर्वा उपेतेति द्वितीयैव श्रूयते। तस्यैवेति। तस्य सत्यादिरूपस्य सद्रूपस्य च ब्रह्मणः। सङ्कल्पादयो हि शक्तय एव तस्य सम्भवस्तीति॥ ३०॥

सूक्ष्मा-सार—सर्वोपेता पदमें *'सर्वासाम् उपेता'* यहाँ *'षष्ठी शेषे'* (पा॰सू॰ २/३/५०)—शेष—स्व-स्वामी आदि सम्बन्धमें षष्ठी विभक्ति होती है—यहाँ शेष विवक्षा (उपसंहार रूपमें कहनेकी इच्छा) से षष्ठी तत्पुरुष है, जिस प्रकार *'सुखस्य दाता'*—'सुखका दाता' इस प्रकार। षष्ठी कारकके समासका निषेध होनेसे इस प्रकार कहा गया है, ऐसा न कहते तो *'सर्वाः उपेता'* द्वितीया-कर्म कारक ही रह जाता क्योंकि *'तृजकाभ्यां कर्तृरि'* (पा॰सू॰ २/२/१५) सूत्रके अनुसार कर्त्रर्थ, तृच् और अक्के साथ षष्ठीका समास नहीं होता है। *'तस्यैव सङ्कल्पादयो निरूपिताः'* इतिमें 'तस्य' अर्थात् सत्य, ज्ञानादिस्वरूप एवं सत्स्वरूप ब्रह्मका। क्योंकि सङ्कल्प इत्यादि शक्तियाँ भी ब्रह्मके पक्षमें ही सम्भव हैं॥ ३०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि श्रुति *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (तै॰ २/१/२) में ब्रह्मको सत्य, ज्ञान और अनन्त-स्वरूप कहा है और छान्दोग्य (६/२/१) में *'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'*

के अनुसार पाया जाता है कि सृष्टिके पहले एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही थे, इसलिए इस स्थलपर शक्तिके परिचयका उल्लेख न होनेसे ब्रह्मकी जगत्–कर्तृत्व शक्तिका परिचय प्राप्त नहीं होता, अतः उनमें जगत्–सृजन शक्ति किस प्रकार स्वीकार की जाय? पूर्वपक्षकी इस आपत्तिपर सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि ब्रह्म जो कि सर्वशक्तिविशिष्ट हैं, वही वर्णन श्रुतियोंमें मिलता है। यथा *'देवात्मशक्तिम्'* (श्वे॰ १/३), *'परास्य शक्तिः'* (श्वे॰ ६/८), *'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्'* (४/१) इत्यादि बहुविध श्रुति–स्मृति–प्रमाणोंसे श्रीभगवान्‌की अचिन्त्यशक्तिमत्ताका परिचय प्राप्त होता है—भाष्यमें समस्त प्रमाणोंको देखना चाहिये।

'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' श्रुतिमें उनके स्वरूपमात्रका ही विचार किया गया है। समग्र श्रुतिका विचार करनेपर तो यही पाया जाता है कि ब्रह्म सर्वशक्तिमान हैं। अतएव प्रकारान्तरसे यही समाधान किया गया कि सर्वशक्तिमान श्रीभगवान्‌के पक्षमें जगत्–सृजनादि कर्तृत्व युक्तिसङ्गत ही है। इसका प्रकारान्तरसे समाधान किया गया है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धि–रात्मेश्वरोऽक्र्यसहस्रशक्तिः ॥
(श्रीमद्भा॰ ३/३३/३)

आप स्वयं निष्क्रिय रहकर भी गुण–प्रवाह रूपमें अपनी शक्तिका विभाग करके इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और विनाश–साधन रूपमें तीनों कार्योंका सम्पादन करते हैं—आप जीवोंके ईश्वर (भोक्ता) हैं। आपकी अनन्तशक्ति तर्कके अगम्य है।

श्रीमद्भागवतकी ही श्रुति–स्तुतिमें—

जय जय जह्यजामजित! दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८७/१४)

श्रुतियाँ कहती हैं—हे अजित! आपकी जय हो, जय हो! आप स्वभावसे ही समस्त ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण हैं। प्रभो! आपकी इस गुणमयी मायाने दोषके लिए—जीवोंके शुद्ध-स्वरूपको आच्छादन कर उन्हें बन्धनमें डालनेके लिए ही सत्त्वादि गुणोंको ग्रहण किया है। इसलिए आपके मिटाये बिना यह माया मिट नही सकती। अतः आप ही उसे दूर कीजिये। आप ही जगत्के समस्त शक्तिको जगानेवाले हैं। जब आप अपनी शक्तियोंके साथ चित्-जगत्में लीला करते हैं और जब किसी कारणवश अपनी छायाशक्ति मायाके प्रति ईक्षण करके उससे स्वयं निर्लिप्त रहकर सृष्टि आदि लीला करते हैं—हम श्रुतियाँ आपकी इन दोनों प्रकारकी लीलाओंका प्रतिपादन करती हैं (जैसे—*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वेदाश्च प्रहनोति, तस्मै य आत्मनि तिष्ठन्, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, ब्रह्मज्योतिः सनातम्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्)*।

और भी,

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर-
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/२८)

हे प्रभो! प्राकृत इन्द्रियोंके सम्पर्कसे रहित और स्वतन्त्र-ईश्वर होनेपर भी आप समस्त प्राणियोंकी सम्पूर्ण इन्द्रिय-शक्तिको परिचलित करते हैं। जैसे छोटे-छोटे राजा अपनी-अपनी प्रजासे कर लेकर स्वयं अपने सम्राटको कर देते हैं, उसी प्रकार अविद्या सहित सभी देवता विश्वकर्त्ता आपके उद्देश्यसे मनुष्योंके द्वारा दिये गये हव्य-कव्य आदि उपहारोंका भोग करते हैं और आपसे भयभीत होकर वे सभी आपके द्वारा नियुक्त अपने-अपने अधिकारोचित कर्मोंको सम्पन्नकर आपका पूजन करते हैं॥ ३०॥

अवतरणिका भाष्य—पुनराशङ्क्य समाधत्ते—कर्त्तृत्वं ब्रह्मणो न सम्भवत्य-निन्द्रियत्वात्। शक्तिमन्तोऽपि देवादयः सेन्द्रिया एव तत्तत् कार्यक्षमा विज्ञायन्ते।

ब्रह्मत्वनिन्द्रियं कथं विश्वकार्याय क्षमं स्यात्? श्रुतिश्च श्वेताश्वतरैः पठिता तस्येन्द्रियशून्यत्वमाह। *'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रुणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्'* (श्वे॰ ३/१९) इति। एवं प्राप्ते ब्रवीति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—सूत्रकार पुनः शङ्का प्रस्तुत करके समाधान करते हैं। शङ्का है कि ब्रह्मके चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रहित होनेके कारण उनका जगत्-कर्त्तृत्व सम्भव नहीं हो सकता। देखो, शक्तिमान होकर भी देवतागण इन्द्रियोंसे युक्त हैं, इसी कारणसे अर्थात् इन्द्रियविशिष्ट होनेसे वे उन-उन कार्योंको करनेमें समर्थ होते हैं, यह जाना जाता है। ब्रह्म तो इन्द्रिय शून्य हैं, वे किस प्रकारसे विश्व-सृष्टि कार्यमें समर्थ हो सकते है! श्वेताश्वतरश्रुतिके पाठकगणों द्वारा पठित यह श्रुति ब्रह्मकी इन्द्रियहीनता बता रही है—*अपाणिपादो इति* (श्वे॰ ३/१९) उनके हाथ नहीं हैं किन्तु वे ग्रहण करते हैं, उनके पैर नहीं है किन्तु वे वेगपूर्वक गमन करते हैं, आँख नहीं है पर देखते हैं, कान नहीं है पर सुनते हैं, वे समस्त ज्ञेय वस्तुओंको जानते हैं किन्तु उनका ज्ञाता कोई नहीं है इन परमपुरुषको पण्डितगण महान और आदिभूत कहते हैं। इस प्रकार पूर्वपक्षीकी उक्तिपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पुनराशङ्क्येत्यादि। इहापि पूर्ववत् सङ्गतिः। ब्रह्मणो जगत्कर्त्तृत्वं रूवन् समन्वयो न ब्रह्म जगत्कर्त्तृ देहेन्द्रियाभावात् इत्येवं विधेन तर्केण विरुध्यत इत्याक्षेपस्वरूपम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'पुनराशङ्क्येत्यादि'*—यह अवतरणिका है। इसमें भी पूर्वाधिकरणके समान सङ्गति जानना चाहिये। ब्रह्मका जगत्-कर्त्तृत्ववादी समन्वय ग्रन्थ (वाक्य) 'ब्रह्म जगत्-कर्त्ता नहीं हैं' क्योंकि उनके देह और इन्द्रियादि नहीं है, इस प्रकार तर्क द्वारा विरोध ही आक्षेपका स्वरूप है।

सूत्र—विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्॥ ३१॥

सूत्रार्थ—'विकरणत्वात्' इन्द्रियशून्यत्वके कारण ब्रह्मका जगत्-कर्त्तृत्व 'नेति चेत्' नहीं है, यदि यह कहते हो तो 'तदुक्तम्' इसका समाधान श्रुति द्वारा कर दिया गया है॥ ३१॥

सूत्रानुवाद—यदि कहा जाय कि ब्रह्मके सर्वशक्तिमान होनेपर भी उनके इन्द्रियशून्यत्वके कारण जगत्-कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है, तो इसका उत्तर 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' (२/१/२७) में दिया गया है। श्रुति-सिद्धान्तमें तर्कका प्रवेश नहीं है॥ ३१॥

गोविन्दभाष्य—अनिन्द्रियत्वाद् ब्रह्मणः कर्त्तृत्वं नेति यदुच्यते तदुक्तम् उत्तरत्र स्वाभाविकपरशक्तिकतां दर्शयन्त्या श्रुत्यैव तत् समाहितमित्यर्थः। तथाहि तैरेव पठ्यते—(श्वे॰ ६/७-९) *'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥' 'न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥' 'न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्। स कारणं कारणाधिपाधिपो न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'* इति। अपाणीत्यादिना पाण्यादिवर्जितोऽप्यसौ महापुरुषो ग्रहणादिकार्यभाग् भवतीत्युक्तं प्राक्। तत्र सन्दिहानान् प्रति पुनराह तमिति। पुरुषमात्रनियन्तृत्वात् महापुरुषत्वं सिद्धम्। कार्यं प्राकृतं करणं च शब्दाद्वपुस्तस्य नास्ति। परशक्तिमयन्तु तत्तदस्त्येव। सा च शक्तिः स्वाभाविकी स्वरूपानुबन्धिन्येवं तेनास्य ज्ञानबलक्रिया च तथा। ईदृशगुणविरहान न कोऽपि तस्य समः। अधिकन्तु नास्त्येवेत्याह न तस्य कश्चिदिति। तथाच प्राकृतकरणविरहेऽपि स्वरूपानुबन्धिकरणसत्त्वादनुपपन्नं न किञ्चिदपि। अन्य त्वाहुः। अपाणीत्यादिना पाण्यादेः प्रतिषेधो न ग्रहणाद्यभिधानात्। किन्तु तत्तत्करणैस्तत्तद् वृत्तीनां नियमः प्रतिषिध्यते। *'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति'* इति (श्वे॰ ३/१६) तैरेव पठितत्वात्। *'अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति'* (ब्र॰सं॰ ५/३२) इति स्मरणाच्च। दृष्टञ्चेत्थं वन्यभोजनावसरे। (श्रीमद्भा॰ १०/१३/८) एतत्पक्षे तस्य न किञ्चित् कार्यं साध्यमस्ति पूर्णत्वात्। अतः करणं विधानञ्च न समाधानमन्यत्॥ ३१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी यदि कहते हैं कि ब्रह्मकी इन्द्रिय नहीं है, अतएव उनका जगत्-कर्त्तृत्व नहीं हो सकता, ऐसा नहीं है। इसके उत्तर-ग्रन्थमें श्रुतिने ही समाधान कर दिया है अर्थात् ब्रह्मकी स्वाभाविक अत्यधिक (परा) शक्तिमत्ताका बोधन करानेवाली श्रुतियोंसे शङ्काको निरस्त कर दिया गया है—यथा श्वेताश्वतरोपनिषद (६/७-९) में पाठकगण पढ़ते हैं—*'तमीश्वराणां ... जनिता न चाधिपः।'* वे रुद्र इत्यादि ईश्वरोंके भी परम महेश्वर हैं, इन्द्रादि देवताओंके वे परम देवता (पूज्य) हैं, जगत्-पालक दक्ष इत्यादि प्रजापतियोंके परम पति

हैं। वे सबसे श्रेष्ठ, आदिभूत, त्रिभुवनके नियन्ता, पूजनीय हैं। उनका कोई कार्य नहीं है, इन्द्रिय भी नहीं है, उनके समान शक्तिमान कोई नहीं है, उनसे अधिक शक्तिगुणैश्वर्यशाली कोई दिखायी नहीं देता। उनकी पराशक्ति विविध प्रकारकी सुनी जाती है, उनका ज्ञान, बल एवं क्रिया अर्थात् इच्छादिक शक्तियाँ स्वाभाविक (अन्यनिरपेक्ष) हैं। इन्द्रादिके जिस प्रकार अन्य पालक हैं, इस प्रकारसे उनका इस जगत्में कोई पालक नहीं है। उनका नियन्ता (अधीश्वर या ईश्वर) भी कोई नहीं है, उनका अनुमापक (अनुमान करानेवाला) धर्म भी कोई नहीं है। वे समस्तके कारण हैं, कारणाधिपतियोंके भी वे अधीश्वर हैं। न ही उनका कोई जन्मदाता (पिता) है और न ही कोई अधीश्वर, यह सब श्रुतियाँ कहती हैं। पूर्वोक्त *'अपाणिपाद'* इत्यादि श्रुति द्वारा यह स्पष्ट कर ही दिया गया था कि वे महापुरुष परमेश्वर हस्त-पाद आदिसे रहित होनेपर भी ग्रहणादि कार्य करते हैं। उसमें भी सन्देह करनेवाले व्यक्तियोंको लक्ष्य करके श्रुति पुनः कहती है—तमीश्वराणाम् इत्यादि। इसके आधारपर यह उपपन्न (प्रमाण द्वारा प्राप्त) हुआ है कि वे पुरुषमात्रके ही नियामकत्वके कारण महापुरुष हैं। *'न तस्य कार्यम्'* श्रुतिमें उक्त कार्य अर्थात् प्राकृत शरीर उनका नहीं है, प्राकृत इन्द्रिय भी नहीं है, श्रुत्युक्त 'च' शब्दसे यही जाना जाता है कि उनका प्राकृत (साधारण) शरीर नहीं है, किन्तु पराशक्तिमय अप्राकृत शरीर एवं इन्द्रियाँ हैं। यह शक्ति स्वाभाविकी है अर्थात् स्वरूपकी अनुसारिणी है। इसलिए उनका ज्ञान, बल और क्रिया भी स्वरूपानुबन्धिनी अर्थात् स्वाभाविक है। ऐसे ही गुणोंके अभावके कारण दूसरा कोई उनके तुल्य नहीं है, उनसे अधिक भी कोई नहीं है—अब कहनेके लिए और क्या है? *'न तस्य कश्चित्'* वाक्यसे यही कहा जा रहा है। अतः प्रतिपन्न (प्रमाणित) होता है कि प्राकृत इन्द्रियोंका अभाव होनेपर भी स्वरूपानुबन्धी इन्द्रियसत्ताके कारण कु

'अपाणिपादः' इत्यादि श्रुतिमें उनके हस्त-पदादिका प्रतिषेध नहीं किया गया है, क्योंकि हस्त-पदादिके कार्य ग्रहण-गमनादिका वर्णन वहाँ है, परन्तु उन-उन इन्द्रियों द्वारा उन-उन कार्योंके नियमका प्रतिषेध

है अर्थात् साधारण जीव जिस प्रकार चक्षुके द्वारा रूप ग्रहण करता है, कर्ण द्वारा शब्द ग्रहण करता है—इस प्रकारका नियम है, किन्तु ब्रह्ममें ऐसा नियम नहीं है। *'सर्वतः पाणिपादं ... आवृत्य तिष्ठति'* (श्वे॰ ३/१६) श्रुतिके अनुसार परब्रह्मके सर्वत्र ही हस्त एवं चरण हैं, उनके चक्षु, मस्तक एवं मुख सर्वव्यापी हैं। वे सर्वत्र ही कर्णेन्द्रियसे सम्पन्न हैं, वे समस्त जगत्को आक्रान्त (व्याप्त) करके अवस्थित हैं—श्वेताश्वतरोपनिषद पाठक इस श्रुतिको भी पढ़ते हैं। इसी प्रकार स्मृति भी है—अङ्गानि यस्येत्यादि—जिनका प्रत्येक अङ्ग ही चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त हैं (ब्र॰सं॰ ५/३२)। इसीका परिचय श्रीमद्भागवतमें उस अवसरपर मिलता है, जब श्रीकृष्ण सखाओंके साथ वन-भोजन करते हैं (श्रीमद्भा॰ १०/१३/८)। इस व्याख्याके पक्षमें *'न तस्य किञ्चित् कार्यं साध्यं स्यात्'* (ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो उनके लिए साध्य न हो) यह वाक्य सङ्गत होता है, क्योंकि वे पूर्णस्वरूप हैं। इसलिए करण और विधान (व्यवस्था) कु
नहीं कहा गया। उनके पूर्णत्वके परिप्रेक्ष्यमें अन्य समाधान भी जान लेने चाहिये॥ ३१॥

सूक्ष्मा-टीका—विकरणत्वादिति। तमिति। ईश्वराणां रुद्रादीनाम्। देवतानामिन्द्रा-दीनाम्। पतीनां दक्षादीनाम्। इत्थञ्चेन्द्रादीनां रुद्रादिदेवताकत्वं दक्षादीनां द्रुहिणाधि-पतिकत्वञ्च न मुख्यमित्युक्तम्। नन्वीश्वराणामपीश्वरवत्त्वं पतीनाञ्च पतिमत्त्वं दृष्टम्। अतोऽस्यापि तत्त्ववत्त्वेन भवितव्यमिति चेत् तत्राह न तस्य कश्चित् पतिरस्तीति। अस्य तथात्वं श्रुतिमात्रगम्यं न त्वनुमेयमित्याह—नैव च तस्य लिङ्गमिति। श्रुत्यानुसारि लिङ्गस्तु न विचार्यमिति प्रागभाणि। श्रुत्यर्थं व्याचष्टे अपाणित्यादिना। च शब्दात् वपुरिति कार्यं वपुस्तस्य नेति नास्तीत्यर्थः। तथेति स्वरूपानुबन्धिनीत्यर्थः। कोऽपि रुद्रादिरपि। किन्तु तत्तत्करणैरिति च चक्षुषैव रूपं ग्राह्यमित्यादिनियमो निर्वायत इत्यर्थः। सर्वत इति। तद्ब्रह्म। तैः श्वेताश्वतरैरेव। अङ्गानीति। यस्य श्रीगोविन्दस्य। दृष्टमिति। यदुक्तं दशमे—*'कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलैरभ्याननाः फु*
यथाम्भोरुऽकर्णिकाया' इति। तत्र अभ्याननाः कृष्णमुखाभिमुखा इत्यर्थः॥ ३१॥

सूक्ष्मा-सार— *'तमीश्वराणामित्यादि'* भाष्य-वाक्यमें ईश्वरणाम् अर्थात् रुद्र इत्यादि ईश्वरोंके, देवतानाम्—इन्द्रादि देवताओंके, पतीनां—दक्ष इत्यादि प्रजापतियोंके—इस प्रकार कहनेसे प्रतिपादित होता है कि इन्द्र

इत्यादिके देवता रुद्रादिके होनेपर भी, दक्ष इत्यादिके पति चतुर्भुज (ब्रह्मा) होनेपर भी, उन सबमें न तो मुख्य देवतात्व है और न ही मुख्य पतित्व। प्रश्न है कि यदि रुद्रादि ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, पतियोंके भी पति हैं, ऐसा यदि कहते हो तो उन परमेश्वरके भी पति और ईश्वर हो सकते हैं। इसपर कहते हैं *'न तस्य कश्चित् पतिरस्ति'* इत्यादि—उनका कोई पति नहीं है—इस प्रकारके स्वरूपसे सम्पन्न जो परमेश्वर हैं, वे केवल श्रुति द्वारा ही बोध्य हैं, अनुमेय नहीं। इस बातको, *'नैव च तस्यं लिङ्गम्'*—जिस लिङ्ग अर्थात् अनुमापक हेतुको लेकर उनका अनुमान किया जाय, ऐसा कोई हेतु है नहीं, इस वाक्य द्वारा कहा गया है। तब वे यह नहीं कहे कि श्रुतिके अनुगत अनुमापक धर्म द्वारा वे अनुमेय नहीं हैं। ऐसा होनेपर तो 'मन्तव्यः' यह उक्ति सङ्गत नहीं होगी, यह बात पहले भी स्पष्ट की गयी है। अब *'अपाणिपादो जवनो'* इत्यादि श्रुतिकी अपाणि इत्यादि ग्रन्थ द्वारा व्याख्या करते हैं। *'च शब्दाद्वपुरिति'* श्रुति वर्णित *'कार्यम् करणञ्च विद्यते'* में 'च' शब्दका अर्थ शरीर है। सम्पूर्ण वाक्यका अर्थ यह है कि उनका कार्य शरीर नहीं है। *'ज्ञान बल क्रिया च तथा'* इति—तथा शब्दका अर्थ है—स्वरूपानुबन्धिनी (ज्ञान, बल और क्रिया) *'इदृग्गुणविरहान्न कोऽपि तस्य समः इति'*—कोई भी अर्थात् रुद्रादि भी। किन्तु *'तत्तत करणैः'* इति चक्षुके द्वारा रूप ग्राह्य होता है, इत्यादि नियम है, यह नियम परमेश्वरमें निषिद्ध हुआ है—यह अर्थ है। *'सर्वतः पाणिपादम् तत्'* इत्यादिमें तत् अर्थात् वह ब्रह्म, *'तैरेव पठित्वात्'*—में तैः का अर्थ है श्वेताश्वतरीयगणों द्वारा। *'अङ्गानि यस्येत्यादि'* में 'यस्य' का अर्थ है जिन श्रीगोविन्दका। *'दृष्टं चेत्थम्'* इति—श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धमें इस प्रकारसे वर्णन है यथा *'कृष्णस्य विष्वक्पुरु ... कर्णिकायाः'* अर्थात् श्रीकृष्णके चारों ओर विपुल मण्डलाकारमें विराजमान ग्वालबाल बालक श्रीकृष्णके विकसित मुखकी ओर अभिमुख होकर एक साथ बैठे हुए वनमें इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, जिस प्रकार पद्मकी कर्णिकाको घेरकर पत्र विराजते हैं॥ ३१ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः यदि कोई इस प्रकार पूर्वपक्ष करे कि जिस कारणसे ब्रह्म इन्द्रियशून्य है, उसी कारणसे उनके पक्षमें जगत्–कर्त्तृत्व सम्भव नहीं हो सकता। जो देवता शक्तिसम्पन्न हैं, उनकी तो इन्द्रियाँ हैं। इस प्रसङ्गमें श्वेताश्वतर उपनिषदके *'अपाणिपादः'* (३/१६) श्लोकको उद्धृत किया गया है। इसी तरह पूर्वपक्षके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें भी कह रहे हैं कि ब्रह्मकी इन्द्रिय नहीं है। इस कारण उनका जगत्–कर्त्तृत्व हो नहीं सकता, तो यह कहते नहीं बनता, क्योंकि परवर्त्ती श्रुति–वाक्य ही उनके स्वभावसिद्ध पराशक्तिके विषयमें वर्णन करते हुए समाधान करता है कि ब्रह्मकी इन्द्रियत्व–हीनतामें भी कर्त्तृत्वअयुक्त नहीं है, यथा—*'तमीश्वराणां ... न चाधिपः'* इति (श्वेताश्वतर ६/७–९)।

भाष्यकार श्रीमद्बलदेव प्रभु और भी एक युक्ति दिखा रहे हैं कि *'अपाणिपादः'* (श्वे॰ ३/१९) इस श्रुतिके अनुसार परमेश्वरके प्राकृत चरणादि निषिद्ध होनेपर भी अप्राकृत स्वरूपानुबन्धी इन्द्रियादि हैं और इसीसे उनके लिए कर्त्तृत्व आदि कु
है। भाष्यकार और भी एक युक्ति दिखाते हैं कि पाणिरहित होकर भी वे ग्रहण करते हैं, इसलिए इस स्थलपर हस्तादि इन्द्रियोंका प्रतिषेध नहीं किया गया है, बल्कि उन–उन इन्द्रिय–जात वृत्तियोंके नियममात्रका प्रतिषेध हुआ है। इस प्रसङ्गमें उन्होंने श्वेताश्वतर उपनिषदके *'सर्वतः पाणिपादम्'* (३/१६) श्लोकको उद्धृत करके यह प्रमाणित किया है। स्मृतिका भी प्रमाण उन्होंने प्रस्तुत किया है, जिसे भाष्यमें देखना चाहिये।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभुके वचन हैं—

सर्वैश्वर्यपरिपूर्ण स्वयं भगवान्।
ताँरे निराकार करि करह व्याख्यान॥

निर्विशेष ताँरे कहे येइ श्रुतिगण।
'प्राकृत' निषेधि करे अप्राकृत स्थापन॥

हयशीर्ष–पञ्चरात्रके वचनको उद्धृत करते हुए आगे कहा है—

या या श्रुतिर्जल्पति निर्विशेषं सा साभिधत्ते सविशेषमेव।
विचारयोगे सति हन्त तासां प्रायो बलीयः सविशेषमेव॥

ब्रह्म हैते जन्मे विश्व ब्रह्मेते जीवय।
सेइ ब्रह्म पुनरपि हये याय लय॥

'अपादान' 'करण' 'अधिकरण' कारक तिन।
भगवानेर सविशेषे एइ तिन चिह्न॥

(चै०च०म० ६/१४०-१४४)

अर्थात् ब्रह्म सर्वैश्वर्यपूर्ण स्वयं-भगवान् हैं और हे सार्वभौमजी! आप उनकी निराकार रूपमें व्याख्या करते हैं। जो श्रुतियाँ ब्रह्मको निर्विशेष या निराकारके रूपमें वर्णन करती हैं, उनका तात्पर्य ब्रह्मके प्राकृत गुण और प्राकृत शरीरको निषेध करनेमें है। उनका सर्वस्व ही अप्राकृत है—श्रुतियोंके द्वारा यही स्थापित किया गया है।

जो-जो श्रुतियाँ ब्रह्मको निर्विशेष (रूप-गुणादिसे रहित) कहकर निर्देश करती हैं, वे ही उन्हें सविशेष कहकर स्थिर करती हैं। परन्तु हन्त! विचार करनेपर तो उन श्रुतियोंका सविशेष पक्ष ही बलवान होता है।

ब्रह्मसे यह विश्व जन्मता है और ब्रह्मसे ही जीवित रहता है और प्रलयके समय उन ब्रह्ममें ही लीन हो जाता है। इस प्रकार उपादान, करण और अधिकरण—ये तीनों ही कारक यह प्रमाणित करते हैं कि भगवान् सविशेष हैं।

तैत्तिरीयश्रुति (३/१) में भी कहा है कि *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, तत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'* अर्थात् ब्रह्मसे भी समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, ब्रह्मके द्वारा ही जीवित रहते हैं और सृष्टि-ध्वंसके समय उन ब्रह्ममें ही सूक्ष्म रूपसे प्रवेश कर जाते हैं।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर-
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः॥

(श्रीमद्भा० १०/८७/२८)

इस श्लोकको टीकामें श्रीलचक्रवर्तीपाद कहते हैं—

'त्वम् अकरणः आहङ्कारिकमनोनेत्रश्रोत्रादिरहितः तर्हीमानि मनोनेत्र-श्रोत्रादीनि कु

श्रोत्रादीन्द्रियै राजसे इति स्वराट्। अतएव अखिलकारकशक्तिधरः खिलानि तुच्छानि प्राकृतानीत्यर्थः अखिलानि खिलभिन्नानि चिदानन्दमय त्वत्स्वरूपभूतानीन्द्रियाणि शक्तीः 'चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इति श्रुतेः।'

अर्थात् आप इन्द्रियहीन हैं अर्थात् अहङ्कारसे उत्पन्न प्राकृत, मन, नयन और कर्ण आदिसे रहित हैं। ऐसा है तो ये मन, नेत्र, कर्ण आदि कहाँ-से आये? इसके उत्तरमें कहते हैं—स्वराट् अर्थात् वे अपने स्वरूपभूत ही नयन, कर्ण आदि इन्द्रियोंके साथ विराजमान हैं। अतएव जो स्वराट् हैं, वे अखिलकारक शक्तिधर हैं। तुच्छ प्राकृत इन्द्रियोंसे भिन्न चिदानन्दमय आपकी ही स्वरूपभूत आपकी इन्द्रियाँ हैं। चक्षु शक्तिके भी चक्षु, कर्णके भी कर्ण हैं—*'चक्षुषश्चक्षुरुत श्रौत्रस्य श्रोत्रम्'* यह श्रुति-वाक्य है।

इसी प्रकार और भी,

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि ते
प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्॥

(श्रीमद्भा॰ १/५/२०)

जिनकी शक्तिसे विश्वकी विश्व-प्रपञ्च, स्थिति और प्रलय होते हैं, उन भगवान्से यह विश्व-प्रपञ्च अभिन्न है, तो भी भगवान् विश्वसे पृथक् हैं। चेतन और अचेतन तत्त्वका भगवान्से अलग अवस्थान नहीं है। शक्ति एवं शक्तिमानमें पार्थक्य नहीं होता। श्रुतिमें वर्णित है—*'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'*, परन्तु ब्रह्म भगवान्का ही एक रूप विशेष है। यह विश्व भगवान्के समान प्रतीत होता है, पर भगवान् इससे अलग हैं। श्रुति यह भी कहती है 'उनके समान अथवा अधिक कोई देखा नहीं जाता' आप इस तत्त्वको स्वयं जानते हैं। मैंने तो यत्किञ्चित् सङ्केतमात्रसे बतलाया है।

श्रीब्रह्मसंहितामें देखा जाता है—

अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति,
पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।
आनन्दचिन्मय-सदुज्ज्वलविग्रहस्य,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(ब्र॰सं॰ ५/३२)

अर्थात् मैं उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका भजन करता हूँ, जिनका श्रीविग्रह आनन्दमय, चिन्मय और सत् होनेके कारण परमोज्ज्वल है। जिस श्रीविग्रहके सारे अङ्ग अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय समस्त इन्द्रियोंकी सारी वृत्तियोंसे सम्पन्न हैं और जो चिदचिद् अनन्त जगत्-समूहका नित्य दर्शन, पालन और नियमन करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें ही—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य,
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण,
साक्षात् तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/२)

हे स्वयं-प्रकाश परमात्मन्! आपने भक्तोंकी वाञ्छाकी पूर्ति करनेवाले इस श्रीविग्रहको स्वेच्छासे प्रकट किया है। मुझे अनुगृहीत करनेके लिए ही आपने इसे प्रकट किया है। आपकी चिन्मयी इच्छाके मूर्त्तिमानस्वरूप इस शुद्ध-सत्त्वात्मक विग्रहकी महिमाको साक्षात् जाननेमें मैं तो क्या, कोई अन्य भी समर्थ नहीं हो सकता। चित्तवृत्तिका निरोध करके एवं समाधि लगाकर भी स्वयं-रूप, आत्मसुखानुभव-स्वरूप, मूल-अवतारी आपकी महिमाको कोई भी नहीं जान सकता।

वृन्दावनमें श्रीकृष्णकी वनभोजन-लीलामें देखा जाता है—

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलै
रभ्याननाः फु
सहोपविष्टा विपिने विरेजु
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१३/८)

अर्थात् पद्मस्थित कर्णिकाके चारों ओर जिस प्रकार पत्रसमूह शोभा प्राप्त करता है, उसी प्रकार वनमें व्रजबालकगण श्रीकृष्णके चारों ओर बहुत-सी पंक्तियाँ बनाकरके अविच्छेद रूपसे (सट-सटकर) बैठे हुए अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे। वे सभी कृष्णके सम्मुख ही बैठे थे। मानो कृष्ण मेरी ओर ही देख रहे हैं, यह विचार करके उनके नेत्र आनन्दसे उत्फु

अवतरणिका भाष्य—सृष्टौ ब्रह्मणः प्रवृत्तिरुपयुक्ता न वेति विषये पूर्वपक्षमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—सृष्टिकार्यमें ब्रह्मकी प्रवृत्ति (चेष्टा) युक्तियुक्त है कि नहीं—इस विषयमें सूत्रकार पूर्वपक्ष दिखा रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—सृष्टावित्यादि। अत्राक्षेपः सङ्गतिः। प्राप्तसर्वपुरुषार्थस्य हरेर्जगत्कर्तृत्व ब्रुवन् समन्वयः सन् तत्कर्त्ता नित्यतृप्त्या फलाभिसन्धेर्विरहात् प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः फलवत्त्वप्रतीतेरित्येवंविधेन तर्केण विरुध्यते। हरेः कर्त्तृत्वाक्षेपाद् तादृशस्य तत्कर्त्तृत्वं न सम्भवेत् जीवस्यैवादृष्टद्वारकं तत् सम्भवतीति प्रत्युदाहरणं वा सङ्गतिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'सृष्टेरित्यादि'* यह अवतरणिका भाष्य है—इस अधिकरणमें भी पहलेके समान आक्षेप-सङ्गति जानना चाहिये। यह आक्षेप इस प्रकार है—जिन्हें सर्वविध समस्त पुरुषार्थ प्राप्त हैं, उन पूर्णकाम श्रीहरिके जिस जगत्-कर्त्तृत्वके समन्वयका प्रतिपादन करते हो तो वे श्रीहरि जगत्-कर्त्ता नहीं हो सकते क्योंकि वे नित्य तृप्त हैं, क्योंकि उनमें फलाभिसन्धि नहीं है और क्योंकि विमृश्यकारी व्यक्तियों (प्रेक्षावत्-विचारशील विद्वानों) की प्रवृत्ति फलवत्ताकी ओर होती है—इस प्रकार तर्कके साथ उनके जगत्-कर्त्तत्वका विरोध हैं। तर्क इस प्रकारसे है— *'प्रेक्षावत् प्रवृत्तिः फलवती तदभावे अप्रतीयमानत्वात्'* अर्थात् प्रज्ञाशील पुरुषकी प्रवृत्ति फलवती अर्थात् प्रयोजनवत्तासे व्याप्त होती है, प्रयोजनके अभावमें उसकी प्रवृत्ति उपपन्न नहीं हो सकती। पूर्वपक्ष इस प्रकारके आक्षेपका प्रयोग श्रीहरिके जगत्-कर्त्तृत्वके लिए करता है। पूर्णकाम श्रीहरिका जगत्-कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है, जीवका ही अदृष्ट द्वारक (अदृष्टको निमित्त बनाकर) जगत्-कर्त्तृत्व है—इस प्रतिवादके पक्षमें यह प्रत्युदाहरण सङ्गति जानना चाहिये।

१३—न प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम्

सूत्र—नप्रयोजनवत्त्वात्॥ ३२॥

सूत्रार्थ—'न प्रयोजनवत्त्वात्' प्रयोजन हीनताके कारण ब्रह्मका सृष्टिकार्यमें प्रवृत्त होना युक्तियुक्त नहीं है॥ ३२॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मकी जगत्-कारणता सम्भव नहीं हैं, क्योंकि विशिष्ट सृष्टि प्रयोजनाधीन होती है और आप्तकाम ईश्वरमें उस प्रयोजनका अभाव है॥ ३२॥

गोविन्दभाष्य—पूर्वतो नेत्यनुवर्त्तते। निषेधार्थकेन न-शब्देन समासात् नात्र न लोपः। प्रवृत्तिर्नोपयुज्यते। कु
च प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा। तत्र नाद्या सम्भवति पूर्णकामत्वश्रुतिविरोधात्। नाप्यन्त्या समर्थो हि परानुग्रहाय प्रवर्त्तते न तु जन्ममरणादिविविधयातनासमर्पणाय। ऋते प्रयोजनात् प्रवृत्तौ त्वनपेक्ष्यकारितापत्तिस्ततः सर्वश्रुतिव्याकोपः। तस्मान्नोपयुक्ता प्रवृत्तिरिति॥ ३२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्ववर्त्ती सूत्रसे 'न' इस पदकी अनुवृत्ति है। सूत्रस्थ 'न' पद निषेधार्थक अव्यय है। इसके साथ प्रयोजन शब्दके *'सहसुपा'* (लघु सिंकौ॰ २/१/४) समाससे निष्पन्न *'नप्रयोजनवत्त्वात्'* पदमें *'नञ् तत्पुरुष'* (लघु सिंकौ॰ २/२/६) होनेसे *'अप्रयोजनवत्त्वात्'* पद हुआ है। इसी कारण 'नञ्' अर्थात् नकारका लोप नहीं हुआ है। सूत्र अखण्ड रूपसे आगे बढ़ता है—*'नप्रयोजनवत्त्वात् प्रवृत्तिर्नोपयुज्यते'*— पूर्वपक्षी कहते हैं कि ब्रह्म पूर्णकाम हैं, अतएव प्रयोजनके अभावमें जगत्-प्रवृत्ति प्रसङ्गमें उनकी प्रवृत्ति अथवा चेष्टा सङ्गत नहीं होती, इस कारण प्रश्न करते हैं—प्रयोजन कहाँ है? किस कारणसे है? ब्रह्म तो पूर्णकाम हैं? उनका प्रयोजन क्या हो सकता है? लोकमें देखा जाता है—प्रवृत्ति दो प्रकारकी है—किसी स्थानपर निज-प्रयोजन (स्वार्थ) से और कहीं पर पर-प्रयोजन प्रयोजन (परार्थ) से। इनमें स्वार्थ-प्रवृत्ति ब्रह्मके पक्षमें सम्भव नहीं है, इससे तो पूर्णकामत्व श्रुतिका विरोध हो जायेगा। परार्था प्रवृत्ति भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शक्तिशाली (सामर्थ्यवान) पुरुष ही दूसरेके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं, पर किसीको भी दुःखमय जन्म-मरणादि विविध यातना देनेके लिए कभी नहीं। (सृष्ट्यादिकमें प्रवृत्ति जन्म-मरणादि विविध

यातना-प्रदानके लिए है) बात यह है कि जगत् विविध दुःखमय है, इसमें जीवोंके लिए जन्म, मृत्यु इत्यादि नाना प्रकारकी यातनाएँ हैं, परानुग्राही (समस्त जीवोंपर कृपा करनेवाले) ईश्वर ऐसी सृष्टि करेंगे किसलिए? यदि यह स्वीकार करते हो कि उनकी प्रवृत्ति बिना किसी प्रयोजनके ही है, तो ब्रह्मका अविमृश्यकारिता, उन्मत्तता अर्थात् स्वेच्छाचारितारूप दोष आ पड़ता है और ब्रह्मके विवेचकत्व, सर्वज्ञत्व इत्यादि गुणोंका बोध करानेवाली श्रुतिकी सामञ्जस्य भी असङ्गति होती है अर्थात् नहीं बैठता। 'अतएव ब्रह्मकी जगत्-सृष्टि कार्यमें प्रवृत्ति युक्तियुक्त नहीं है॥'३२॥

सूक्ष्मा-टीका—नप्रयोजनेति। ऋते प्रयोजनादिति। प्रयोजनं विना सृष्टौ प्रवृत्ते हरावुन्मत्ततान्धतादिदोषापत्तिस्ततो विवेचकत्वसार्वज्ञ्यादिगुणबोधक श्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्ग इत्यर्थः॥ ३२॥

सूक्ष्मा-सार— *'ऋते प्रयोजनादिति'*—यदि प्रयोजनके बिना भी श्रीहरि जगत्-सृष्टिकार्यमें प्रवृत्त होते हैं, तो उनमें उन्मत्तता और अज्ञता दोष आ पड़ते हैं। उनमें विवेचकत्व, सर्वज्ञत्वादि धर्मका बोध करानेवाली श्रुतिका विरोध घटित होता है—यह तात्पर्य है॥ ३२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार पूर्वपक्षकी उक्तिका उल्लेख करते हैं, और परवर्त्ती सूत्रमें उत्तर देते हैं। पूर्वपक्षीका मत है कि ब्रह्मके निज प्रयोजनमें सृष्टिकार्यकी उपयोगिता नहीं है। कारण है कि वे पूर्णस्वरूप हैं, यह श्रुतिमें पाया जाता है।

'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'
(ईश, बृहदारण्यक ५/१/१)

स्वार्थ अर्थात् स्वयंके प्रयोजन एवं परार्थ अर्थात् दूसरेके प्रयोजनसे लोकमें कोई भी कार्यमें प्रवृत्त होता है, तो यहाँ तो ब्रह्म स्वयं पूर्णकाम हैं, उनमें अपने प्रयोजनका अभाव है। दूसरी बात यह है कि सामर्थ्यवान व्यक्ति ही दूसरेके उपकारके लिए कार्यमें प्रवृत्त होता है। इस स्थलपर ब्रह्ममें वह भी सम्भव नहीं है, कारण जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि इत्यादि विविध यातनाएँ देनेके लिए ब्रह्मकी जगत्-सृष्टिमें प्रवृत्ति होना युक्तियुक्त नहीं है। निष्काम ब्रह्म जगत्‌की रचना यदि

वैसे ही करे, जैसे कोई उन्मत्त (विक्षिप्त) व्यक्ति अपने मति-विभ्रमसे
कु
ही जगत्का सृजन करना चाहिये, जैसे प्रेक्षावान (प्रज्ञावान) पुरुष कार्य करता है। उसकी प्रवृत्ति कभी भी निष्प्रयोजन नहीं होती, वह सभीका हित एवं अहितकी निवृत्ति चाहता हैं इस प्रकार पूर्वपक्षकी उक्तिके समाधानके लिए परवर्त्ती सूत्रमें कहते हैं—

अवतरणिका भाष्य—एवं प्राप्ते समाधत्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकारसे पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर समाधान करते हैं—

ब्रह्मकी जगत्-सृष्टि इत्यादि लीलामात्र है

सूत्र—लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥ ३३॥

सूत्रार्थ—परमेश्वरके पूर्णकाम होनेपर भी उनकी विचित्र रूपसे सृष्टि-विषयमें प्रवृत्ति 'लीलाकैवल्यम्' केवल लीला ही है, 'लोकवत्'— लौकिक व्यवहारकी भाँति जिस प्रकार सुखोन्मत्त व्यक्तिकी सुखातिशयतामें फलाभिसन्धानके बिना ही नृत्यादि क्रीड़ाएँ होती हैं, इसी प्रकार ईश्वरकी भी जाननी चाहिये। 'तु' इसके द्वारा पूर्वपक्ष निरस्त हुआ है॥ ३३॥

सूत्रानुवाद—परमात्माके आप्तसमस्त होनेपर भी विचित्र विश्व सृष्टिमें उनकी प्रवृत्ति केवल लीलामात्र है, यह किसी प्रयोजनके उद्देश्यसे नहीं है, लोकमें सुखोन्मत्त व्यक्तिकी भाँति॥ ३३॥

गोविन्दभाष्य—शङ्काच्छेदाय तु-शब्दः। परिपूर्णस्यापि विचित्रसृष्टौ प्रवृत्तिर्लीलैव केवला न तु स्वफलानुसन्धिपूर्विका। अत्र दृष्टान्तो लोकेति। षष्ठ्यन्तात् वतिः। लोकस्य सुखोन्मत्तस्य यथा सुखोद्रेकात् फलनिरपेक्षा नृत्यादिलीला दृश्यते तथेश्वरस्य। तस्मात् स्वरूपानन्दस्वाभाविक्येव लीला। *'देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा'* इति मुण्डकश्रुतेः (मु॰ १/९)। *'सृष्ट्यादिकं हरिर्नैव प्रयोजनमपेक्ष्य तु। कु*
तस्येह प्रयोजनमतिः कु इति
स्मरणाच्च। न चात्र दृष्टान्तेनासार्वज्ञ्यं प्रसक्तम्। विना फलानुसन्धिमानन्दोद्रेकेण

लीलायत इत्येतावत् स्वीकारात्। उच्छ्वासप्रश्वासदृष्टान्तेऽपि सुषुप्त्यादौ तदापत्तेः। राजदृष्टान्तस्तु तत्तत् क्रीडासम्भूतस्य सुखस्य फलत्वान्नोपात्तः॥ ३३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वपक्ष द्वारा उक्त शङ्काके निवारणके लिए है। पूर्णकाम होनेपर भी परमेश्वरकी विचित्र जगत्-सृष्टि केवल लीलाके लिए (प्रयोजन-सिद्धिके लिए) ही है, उसमें फलाकांक्षापूर्वक प्रवृत्ति नहीं है। इस विषयमें दृष्टान्त है *'लोकवत्'* इसका अर्थ है 'लोककी भाँति'। 'लोकस्यैव' इस षष्ठी विभक्त्यन्तरके उत्तरमें *'तत्र तस्यैव'* (पा॰सू॰ ५/१/११६) (सप्तमी समर्थ तथा षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों (प्रातिपादिक—विभक्ति चिह्नके जुड़नेसे पूर्व संज्ञा शब्द) से 'इव' के अर्थमें 'वति' प्रत्यय होता है।) सूत्रके द्वारा वति प्रत्यय है, परन्तु *'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'*—(पा॰सू॰ ५/१/११५) (तृतीया समर्थ प्रातिपदिकसे क्रियागत तुल्यताके प्रतिपादनमें वति प्रत्यय होता है) सूत्र द्वारा विहित तुल्यार्थमें वति प्रत्यय अन्वयके अभावमें सङ्गत नहीं है।

सुखोन्मत्त लोगोंकी जिस प्रकार सुखके अतिशय उद्रेक (वृद्धि) से फलाकाङ्क्षाके बिना ही नृत्यादि क्रीड़ामें प्रवृत्ति देखी जाती है, इसी प्रकार परमेश्वरकी भी फलाभिसन्धानरहित लीलामें प्रवृत्ति है। यह लीला स्वरूपानन्द स्वभाव-सिद्ध है, पूर्णकाम देवका यही स्वभाव है। मुण्डकोपनिषदमें कहा गया है *'का स्पृहेति'* (१/९) (जो आप्तकाम हैं) उनकी क्या स्पृहा हो सकती है? नारायण-संहितामें भी कहा गया है कि श्रीहरि प्रयोजनकी अपेक्षासे सृष्टि इत्यादि नहीं करते, मात्र स्वरूपानन्दके कारण ही करते हैं। जिस प्रकार मत्त व्यक्ति नृत्य करता है, पर उस नृत्यमें उसका कोई प्रयोजन दिखायी नहीं देता, इस प्रकार पूर्णानन्दमय श्रीहरिके इस सृष्टि-कार्यमें भी कोई प्रयोजन ज्ञात नहीं होता। देखा जाता है कि मुक्त पुरुषगण भी पूर्णकाम होते हैं, तब ये विश्वात्मा श्रीहरि जो पूर्णकाम हैं, इस विषयमें कहना क्या है? इस प्रकार स्मृति-वाक्यसे भी उनके पूर्णकामत्वसे अवगत हुआ जा सकता है। और यह भी नहीं कह सकते हो कि लौकिक प्रसङ्ग मत्तादिके दृष्टान्त द्वारा परमेश्वरकी असर्वज्ञतारूप आपत्ति है, क्योंकि फलाभिसन्धानके बिना अतिशय आनन्दके कारण ही वे लीला

करते हैं, इतने ही मात्र दृष्टान्त द्वारा उनके सार्वज्ञत्वादि स्वीकार होते हैं, अन्य जीवधर्म उनमें स्वीकृत नहीं है। यदि ऐसा होता, तो केवलाद्वैतवादीके श्वास-प्रश्वास दृष्टान्त द्वारा भी सुषुप्ति इत्यादि स्थलपर वही प्रयोजनाभिसन्धान स्वीकार करना पड़ता। (केवलाद्वैत-वादियोंका कहना है कि प्रेक्षावान व्यक्तियोंकी श्वास-प्रश्वास क्रिया ऐसी है जो बिना किसी प्रयोजनके केवल अदृष्टानुप्राणित हो स्वभावतः ही सञ्चारित होती है। सुषुप्त आत्मामें चैतन्य न होनेपर भी श्वास-प्रश्वास क्रिया प्रवाहित रहती है।) विशिष्टाद्वैतवादी इस लीला विषयमें राजाकी कन्दुक-क्रीड़ाका दृष्टान्त दिखलाते हैं (लोकमें सप्तद्वीपोंवाली पृथ्वीके अधिष्ठाता महाराज सम्पूर्ण शौर्य-वीर्य, पराक्रमवाले होकर भी केवल मनोविनोदके प्रयोजनसे कन्दुक-क्रीड़ा इत्यादि करते हैं, वैसे ही परब्रह्म भी अपने सङ्कल्पमात्रसे जगत्की सृष्टि-स्थिति-संहार आदि कार्य लीलाके प्रयोजनसे ही करते हैं)। इस दृष्टान्तको हमने प्रस्तुत नहीं किया है, इसका कारण है कि कन्दुकादि क्रीड़ा-जनित सुख फलस्वरूप है॥ ३३॥

सूक्ष्मा-टीका—लोकवदिति। देवस्यैवेत्यत्र को ह्येवान्यादित्यादिवाक्यमनुसन्धेयम्। सृष्ट्यादिकमिति नारायणसंहितायाम्। न चेति। दृष्टान्तो मत्तजननिदर्शनम्। उच्छ्वासेति केवलाद्वैतिनः। राजेति विशिष्टाद्वैतिनः। राजदृष्टान्तो राज्ञः कन्दुकाद्यारम्भः॥ ३३॥

सूक्ष्मा-सार— *'देवस्यैष स्वाभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा'* (माण्डुक्य १/९) (परमेश्वरकी यह सब लीला स्वाभाविकी है। जो आप्तकाम हैं, उनकी फिर स्पृहा कहाँ रहती है) मुण्डकश्रुतिमें *'को ह्येवान्यात्'* (तै॰ २/७/२) (यदि हृदयाकाशमें यह आनन्द न होता तो)। यह अवशिष्ट वाक्य देखना चाहिये। *'सृष्ट्यादिकं हरिनैव'* इत्यादि वाक्य नारायणसंहिताके अन्तर्गत है। *'न चात्र दृष्टान्तेन'* इत्यादि दृष्टान्त मदमत्तका उदाहरण है। *'उच्छ्वास प्रश्वास दृष्टान्तेऽपि'*—केवलाद्वैतवादियों द्वारा प्रदर्शित श्वास-प्रश्वास दृष्टान्तमें भी दोष है; सुषुप्ति इत्यादि स्थलोंपर आपत्ति आ जाती है। विशिष्टाद्वैतवादियोंने राजाकी कन्दुक-क्रीड़ा (खेल) का जो दृष्टान्त दिया है—वह हमारे प्रयोजनमें गण्य नहीं हैं, इसलिए उसका उल्लेख नहीं किया गया है॥ ३३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि परमेश्वर आप्तकाम और पूर्णस्वरूप होकर भी इस विचित्र जगत्‌की रचनामें प्रवृत्त होते हैं, यह केवल उनकी लीलामात्र है। स्वतन्त्र लीलामय ईश्वरकी जगत्-सृष्टिमें कोई असम्भावना ही नहीं है और असर्वज्ञतादि किसी भी दोषका प्रसङ्ग भी नहीं उठ सकता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

भूतैर्भूतानि भूतेशः सृजत्यवति हन्ति च।
आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैरनपेक्षोऽपि बालवत्॥
(श्रीमद्भा॰ ६/१५/६)

अर्थात् भूतपति (समस्त प्राणियोंके स्वामी) जगदीश्वर जगत्-सृष्टि विषयमें निरपेक्ष होकर भी बालकके समान अनभिप्रेत रूपसे निज-सृष्ट परतन्त्र अथवा स्ववशीभूत प्राणियों द्वारा पिताके रूपमें समस्त प्राणियोंका सृजन, राजा रूपमें पालन, सर्पादि रूपमें ध्वंस करते हैं, इसलिए सृष्टि आदि कार्यमें इन समस्त परतन्त्र-प्राणियोंका कोई कर्त्तृत्व नहीं है। ये तो मायावश अपनेमें कर्त्तृत्वका अभिमान करते हैं।

इस श्लोकको टीकामें श्रीलचक्रवर्त्तीपादने कहा है—

'ननु पूर्णकामस्येश्वरस्य किम् सृष्ट्यादिभिस्तत्राह—अनपेक्षोऽपि बालवल्लीलया करोतीति।'

अर्थात् पूर्णकाम ईश्वरका सृष्टि आदिसे क्या प्रयोजन हो सकता है? अनपेक्ष होनेपर भी वे बालवत् क्रीड़ासे ही सृष्टि करते हैं।

इस प्रसङ्गमें श्रीलभक्तिविनोदठाकु

कृष्ण करुणामय हैं, यह ठीक है, तथापि वे लीलामय भी हैं। विविध अवस्थाओंमें जीवके साथ भिन्न-भिन्न रूपमें लीलाएँ होंगी—इस इच्छासे उन्होंने जीवको आदि तटस्थावस्थासे लेकर परमोच्च 'महाभावादि' तक अनन्त-उन्नत पदके लिए उपयोगी बनाया है तथा इस उपयोगिताकी सुविधा और दृढ़ताके लिए अत्यन्त नीचे मायिक जड़से लेकर उसके अभेदस्वरूप अहङ्कार तकको परमानन्दकी प्राप्तिमें अनन्त बाधास्वरूप मायिक अधोमानों (निम्न स्तरों) की सृष्टि की है। अधोमानगत (माया बद्धजीव) स्वरूपार्थरहित (विच्युत) निजसुखपरायण और कृष्णविमुख

होते हैं। जीव इस अवस्थामें जितना नीचे गिरता जाता है, परम करुणावरुणालय श्रीकृष्ण अपने पार्षद और धामके साथ उनके सम्मुख आविर्भूत होकर उन्हें उतनी ही उच्च-गतिकी सुविधा प्रदान करते हैं। जो जीव इस सुविधाको ग्रहणकर उच्चगतिको स्वीकार करते हैं, वे क्रमशः चित्-धाम तक पहुँच जाते हैं और वहाँ नित्य पार्षदोंकी अवस्थाके ही समान अवस्थाको प्राप्त करते हैं। प्रमेयके अन्तर्गत माया-ग्रसित जीव-तत्त्वका विवेचन॥ ३३ ॥

अवतरणिका भाष्य—पुनराशङ्क्य परिहरति। ब्रह्मकर्त्तृत्ववादोऽसमञ्जसः समञ्जसो वेति वीक्षायां सुखदुःखभाजो देवमनुष्यादीन् सृजति ब्रह्मणि वैषमाद्यापत्तेरसमञ्जसः। ततश्च निर्दोषतावादिश्रुत्युपरोधापत्तिरिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पुनः आशङ्का उठाकर सूत्रकार उसका परिहार करते हैं। संशय है कि ब्रह्मको जगत्-कर्त्ता कहना सामञ्जस अर्थात् सङ्गत है या असमञ्जस अर्थात् असङ्गत? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि यह असमञ्जस है क्योंकि जो देवताओंको सुखमय बनाकर और मनुष्योंको दुःखभागी बनाकरके मनुष्यादिकी सृष्टि करते हैं तो उस प्रकारके ब्रह्ममें पक्षपात एवं निर्दयता रूप वैषम्यादिका दोष आ पड़ता है जिसके फलस्वरूप श्रुत्यक्त निर्दोषतावादका विरोध हो जाता है। इस मतके प्रतिवादमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पुनराशङ्क्येति। अत्रापि पूर्ववत् सङ्गतिद्वयं बोध्यम्। निरवद्यस्य हरेर्जगत्कर्त्तृत्वं वदन् समन्वयः तर्केण यः सृष्टिकर्त्ता स सावद्य इत्येवंविधेन विरुद्ध इत्याक्षेपस्वरूपम्। निरवद्यस्येश्वरस्य न तत्कर्त्तृत्वं किन्तु सावद्यस्य प्रधानस्यैव तदिति प्रत्युदाहरणस्वरूपं वात्र बोध्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पुनराशङ्क्य इत्यादि भाष्य-अवतरणिका है। इस अधिकरणमें भी पूर्वाधिकरणके समान दो सङ्गति जाननी चाहिये। ये दोनों सङ्गति इस प्रकारसे है—समस्त प्रकारके दोषोंके सम्पर्कसे विरहित श्रीहरिके जगत्-कर्त्तृत्वको प्रतिपादन करनेवाले समन्वय (निर्दोष ब्रह्ममें सृष्टि-प्रतिपादक वेदान्त-वाक्योंका समन्वय) का इस तर्कसे विरोध हो जाता है—यथा वे वैषम्यादि दोषोंसे ग्रस्त हैं, क्योंकि वे सुख-दुःखमय जगत्की सृष्टि करते हैं—यह आक्षेप

स्वरूप-सङ्गति है अथवा निर्दोष ईश्वरका जगत्-कर्त्तृत्व हो नहीं सकता, किन्तु प्रधान दोष ग्रस्त है, उसका जगत्-कर्त्तृत्व हो सकता है—इस प्रकार इसे सत्-प्रतिपक्ष-उद्भावन रूप सङ्गतिका आकार (स्वरूप) जानना चाहिये।

१४—वैषम्यनैघृण्येनेत्यधिकरणम्

'जगत्-सृष्ट्यादिमें ब्रह्म वैषम्य और निर्दयता नहीं है'

सूत्र—वैषम्यनैघृण्ये न, सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति॥ ३४॥

सूत्रार्थ—ब्रह्मको जगत्-कर्त्ता स्वीकार करनेपर 'वैषम्य-नैघृण्ये न' वैषम्य और निर्दयताका दोष (आपत्ति) नहीं है, इसका कारण है 'सापेक्षत्वात्' क्योंकि सृष्टिकर्त्ताको जीवके कर्मकी अपेक्षा रहती है। प्रमाण दिखा रहे हैं—'तथाहि दर्शयति' ऐसा श्रुतिमें भी देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि जीव जैसा कर्म करता है, ईश्वर उसे वैसा ही फल देते हैं—'एष एव साधु-कर्म कारयति तं यमेभ्यो ...' (कौ॰ब्रा॰ ३/९)॥ ३४॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मके जगत्-कर्त्तृत्व होनेपर भी उनमें वैषम्य एवं नैर्घृण्य दोष नहीं आ सकते, क्योंकि ये विषमताएँ मनुष्योंके पुण्य-पापरूपी कर्म-सापेक्ष हैं॥ ३४॥

गोविन्दभाष्य—ब्रह्मणि कर्त्तरि वैषम्यं नैर्घृण्यञ्च दोषो न। कु सापेक्षत्वात् स्रष्टुः कर्मापेक्षित्वात्। प्रमाणमाह तथाहीति। एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते (कौ॰ब्रा॰ ३/९) पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन इति बृहदारण्यकश्रुतिः (३/२/१३)। क्षेत्रज्ञानां देवादिभावप्राप्तिमीश्वरनिमित्तां दर्शयन्ती मध्ये कर्म परामृशतीत्यर्थः॥ ३४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्रह्मके जगत्-कर्त्ता होनेपर भी उनमें जो पक्षपात एवं निर्दयतारूपी दोषकी शङ्का की गयी है, वह है ही नहीं। किस कारणसे? क्योंकि वे सापेक्ष हैं अर्थात् सृष्टिकर्त्ता श्रीहरि जीवके कर्मकी अपेक्षा रखकर इस प्रकारकी सृष्टि करते हैं। इस विषयमें *'तथाहि'* इत्यादि द्वारा प्रमाण दिखा रहे हैं यथा *'एष एव*

... *अधो निनीषते'* इत्यादि, श्रुति है। वे भगवान् उससे साधु कर्म कराते हैं, जिसे इन समस्त लोकोंसे और भी उच्चतर लोकोंमें ले जाना चाहते हैं और वे उनसे असाधु कर्म कराते हैं, जिन्हें वे अधोलोक (नरक) में ले जानेकी इच्छा करते हैं। बृहदारण्यकश्रुतिमें कहा है कि पुरुष पुण्यकर्मसे पुण्यवान होता है और पापकर्मसे पापी होता है। क्षेत्रज्ञ जीवोंको देव, मनुष्य, तिर्यक् इत्यादि स्वरूप-प्राप्ति ईश्वरको निमित्त बनाकर ही होती है—श्रुतिका यही तात्पर्य है। इस प्रकार यही अवधारण (निश्चित) होता है कि जीवोंका कर्म ही माध्यम है॥ ३४॥

सूक्ष्मा-टीका—वैष्यम्येति। हरिः प्राणिकर्मापेक्षी जगत्कर्त्ता तन्निरपेक्षो वा। आद्येऽनीशत्वप्रसङ्गः। द्वितीये तु वैषम्याद्यापत्तिः। नैर्घृण्यं निर्दयत्वम्। ततश्च कर्त्तरि हरौ सावद्यत्वमिति। एवं पूर्वपक्षं निरस्यन्नाह न सापेक्षत्वादिति। प्राणिकर्मानपेक्षायां खलु वैषम्यादिकं स्यात् न तु तदपेक्षायामित्यर्थः। न च तत्कर्मापेक्षायामनीशत्वम्। भृत्यादिसेवानुसारेण फलं प्रयच्छतो राज्ञोऽराजत्वादर्शनात्। ईशस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः। न हि तत्तद्वीजेयु सत्स्वपि मेघमन्तराङ्कुराद्युत्पत्तिरस्ति। एष एवेति। एष ईश्वरः यं जनमुन्निनीषते ऊर्द्ध्वलोकं नेतुमिच्छति तं साधु कर्म कारयति प्राग्भवीयकर्मानुसारी सन्निति भावः॥ ३४॥

सूक्ष्मा-सार— *'वैषम्यनैघृण्येत्यादि'* सूत्रमें सर्वप्रथम संशय यह है कि श्रीहरि प्राणियोंके कर्म सापेक्ष होकर जगत्-सृष्टि करते हैं अथवा निरपेक्ष होकर? यदि जीव-कर्म-सापेक्षता कही जाती है, तब तो वे ईश्वर नहीं हैं क्योंकि ईश्वर स्वाधीन है। और यदि कर्म-निरपेक्ष होकर सृष्टिकर्त्ता कहा जाय, तो उनमें वैषम्य और निघृणता (क्रूरता) रूपी दोषोंकी प्रसक्ति आती है। नैघृण्य शब्दका अर्थ है निर्दयता। इन वैषम्यादि दोषोंके घटनेपर उन सृष्टिकर्त्ता श्रीहरिमें दोषत्व होता है—इस पूर्वपक्षको निरस्त करके कहते हैं—*'न सापेक्षत्वात्'*—क्योंकि वे सापेक्ष होकर जगत्की सृष्टि करते हैं, इसलिए दोषकी बात ही नहीं आती है। सृष्टिकार्यमें जीवकी कर्मकी अपेक्षा न रहनेपर वैषम्यादि दोष घटित हो सकते हैं किन्तु कर्मकी अपेक्षामें उनकी सम्भावना नहीं है। यही तात्पर्य है। यह भी कहते नहीं बनता कि यदि ईश्वर जीवके कर्मानुसार सृष्टि करते हैं, तब तो वे अनीश्वर हैं, पराधीन हैं? ऐसा किसलिए? इसमें दृष्टान्त दे रहे हैं जिस प्रकार

राजा सेवाके अनुसार भृत्यादिको फल प्रदान करता है पर इससे उनके भूपतित्वका अभाव नहीं देखा जाता, इसी प्रकार कर्म सापेक्ष होनेसे (ब्रह्म) ईश्वरमें दोषका प्रसङ्ग नहीं आता। ईश्वरके सम्बन्धमें पर्जन्य (वृष्टिके देवता) दृष्टान्त भी अनुसरणीय है; यथा तद्-तद् बीजोंको भूमिमें बोये जानेपर भी मेघ-वृष्टिके बिना उनमें अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार जीवोंका कर्म होनेपर भी ईश्वरके बिना उनके कर्मफलकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए ईश्वरका स्वाधीनत्व है। *'एष एव साधु कर्म कारयति'* इत्यादिमें एष एव का अर्थ है *'ये परमेश्वर'*। यद्-अर्थात् जिस लोकको, उन्निनिषत—ऊर्ध्वलोकमें ले जाना चाहते हैं, उसे इससे पहले जन्मार्जित कर्मानुसार शुभ कर्म कराते हैं, यही भावार्थ है॥ ३४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि इस प्रकार पुनः संशय उठाने लगे कि ब्रह्मको जगत्‌का सृष्टिकर्त्ता कहना सङ्गत है या असङ्गत? कारण कि सृष्ट जगत्‌में देवादियोंमें सबका सुख-दुःख समान नहीं है। देवतागण अत्यन्त सुखी हैं, किन्तु पशुगण अत्यन्त दुःखी हैं तथा मानवोंमें कोई सुखी है और कोई दुःखी, इत्यादि भेद दिखायी देते हैं—इससे ईश्वरको सृष्टिकर्त्ता कहनेपर उनमें पक्षपात एवं निष्ठुरतादि दोष आ जाते हैं और ईश्वरकी निर्दोषता-वादिनी श्रुति बाधित होती है। इस प्रकारके संशय अथवा पूर्वपक्षके निराकरणके अभिप्रायसे सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि ब्रह्ममें वैषम्य और नैघृण्य दोष नहीं हैं, क्योंकि वे कर्म-सापेक्ष हैं, जीवको कर्मानुसार ही फल प्रदान करते हैं। भाष्यकारने इस विषयमें बृहदारण्यकीय श्रुतिको उद्धृत किया है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥

(श्रीमद्भा० १०/२४/१३)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पिताजी! इस लोकमें जीव कर्मोंके अधीन होकर जन्म-ग्रहण करते हैं और कर्मोंके आधारपर ही

उनकी मृत्यु होती है। कर्मोंसे ही वे सुख–दुःख, भय एवं शुभोंके निमित्तोंको प्राप्त होते हैं।

देहानुच्चावचान् जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्म्मणा।
शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/२४/१७)

जीव कर्मोंके अनुसार ही देव, तिर्यक् आदि विविध देहोंको प्राप्त होता है और कर्मोंके अनुसार ही पुनः उनका त्याग कर देता है। कर्मोंके अनुसार ही जीव किसीको शत्रु, किसीको मित्र और किसीको उदासीन मानता है। कर्म ही गुरु है और कर्म ही ईश्वर है।

श्रीनागपत्नियोंने कहा है—

नाय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिं–
स्तवावतारः खलनिग्रहाय।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे–
र्धत्से दमं फलमेवानुशंसन्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/१६/३३)

नागपत्नियोंने कहा—हे देव! दुष्टोंके दमनके लिए ही आप इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हैं। इसलिए हमारे इस पापाचारी पतिके लिए यह दण्ड सर्वथा उचित ही है। आप तो शत्रु एवं पुत्र—दोनोंके ही प्रति समदर्शी हैं। आप तो पापोंका प्रायश्चित कराने और भविष्यमें परम मङ्गल करनेके लिए ही किसीको दण्ड देते हैं।

और भी,

नह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वाऽस्त्यमानिनः।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४६/३७)

उनके लिए न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय, न कोई उत्तम है और न कोई अधम। वे सर्वत्र समदर्शी हैं, तथापि उनके लिए सर्वतोभावसे समान भी कोई नहीं है।

इसी प्रसङ्गमें निम्न श्लोक भी आलोच्य है—

न तस्य कश्चिद्दयितः प्रतीपो
न ज्ञातिबन्धुर्न परो न च स्वः।
समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य
सुखे न रागः कु

(श्रीमद्भा॰ ६/१७/२२)

भगवान् समस्त प्राणियोंमें सम है। उनका प्रिय अथवा अप्रिय ज्ञाति अथवा बन्धु, पराया अथवा अपना कोई भी नहीं है। वे अनासक्त हैं। उनका सुखमें कोई अनुराग नहीं है, तब उनमें रागजन्य रोष तो आ ही कहाँ-से सकता है?

श्रीअक्रूरजीके वचन हैं—

न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो,
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।

(श्रीमद्भा॰ १०/३८/२२)

अर्थात् यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णके लिए न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय, न उनका कोई सुहृद् है और न शत्रु, उनके लिए कोई भी तिरस्कार अथवा उपेक्षाके योग्य नहीं है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(श्रीगीता ९/२९)

अर्थात् मैं सभी भूतोंमें सम अर्थात् समदर्शी हूँ। न तो कोई मेरा अप्रिय और न ही प्रिय है। किन्तु जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं, वे जिस प्रकार मुझमें आसक्त हैं, मैं भी उनमें उसी प्रकार आसक्त रहता हूँ।

इस सम्बन्धमें श्रीलभक्तिविनोद ठाकु
है कि श्रीकृष्ण-लीला बड़ी विचित्र और अनेक प्रकारकी होती है, यह भी उनकी अनेक प्रकारकी लीलाओंमें एक अद्भुत लीला है! स्वेच्छामय पुरुष जब समस्त प्रकारकी लीला कर रहे हैं, तब इसी लीलाको क्यों छोड़ दें? सभी प्रकारकी विचित्रताओंको जारी

(चलाये) रखनेमें किसी भी प्रकारकी लीलाका त्याग नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरी प्रकारकी लीलाएँ करनेपर भी उन-उन लीलाओंके उपकरणोंको किसी-न-किसी प्रकारका कष्ट अवश्य स्वीकार करना होगा। श्रीकृष्ण पुरुष और कर्त्ता हैं, समस्त उपकरण पुरुषकी इच्छाके अधीन होते हैं एवं कर्त्तारूप पुरुषके कर्मरूप विषय हैं। कर्त्ताकी इच्छाके अधीन होनेसे कु

स्वाभाविक है, यह कष्ट यदि चरमावस्था (अन्त) में सुख देता है, तो वह कष्ट-कष्ट नहीं रहता। तुम उसे कष्ट क्यों कह रहे हो? कृष्णलीलाके पोषणके लिए जो क्लेश, जो कष्ट जैसा दिखलायी पड़ता है, वह जीवके परम सुखके लिए ही है! कृष्णलीलामें जो सुखका अंश है, उसे छोड़कर स्वतन्त्र वासनामय जीवने मायाभिनिवेश जनित क्लेशको स्वीकार किया है, इसमें यदि कोई दोष है तो वह दोष स्वयं जीवका ही है, कृष्णका कोई दोष नहीं है॥ ३४॥

सूत्र—न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्॥ ३५॥

सूत्रार्थ—'न' कर्म-सापेक्ष होनेसे ईश्वर जगत्-कर्त्ता हैं, यह कहनेपर भी उनके वैषम्यादि दोषका परिहार नहीं है, किस कारणसे? उत्तर 'कर्माविभागात्' क्योंकि सृष्टिसे पूर्व एक ब्रह्म थे, उनके अतिरिक्त दूसरा कु

ऐसा कहते हो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'अनादित्वात्' ब्रह्मकी ही भाँति कर्म और क्षेत्रज्ञ जीव भी अनादि है, यह स्वीकार किया गया है॥ ३५॥

सूत्रानुवाद—जीव और जीवोंके कर्मका प्रवाह अनन्त है, उनके अनादि होनेके कारण उनका अविभाग सम्भव है। ये क्षेत्रज्ञ जीव और कर्म ब्रह्मसे अलग न रह सकने योग्य होनेके कारण अति सूक्ष्म रूपसे स्थित रहते हैं॥ ३५॥

गोविन्दभाष्य—ननु कर्मणा वैषम्यादिपरिहारो न स्यात्। कु

सदेव सौम्येदमित्यादिषु (छा० ६/२/१) प्राक् सृष्टैर्ब्रह्मविभक्तस्य कर्मणोऽप्रतीतेरिति चेन्न। कु

कर्मानुसारेणोत्तरोत्तरकर्मणि प्रवर्त्तनात् न किञ्चिद्दूषणम्। स्मृतिश्च—*'पुण्यपापादिकं*

विष्णुः कारयेत् पूर्वकर्मणा। अनादित्वात् कर्मणश्च न विरोधः कथञ्चन' इति। कर्मणोऽनादित्वेनानवस्था तु न दोषः प्रामाणिकत्वात्। न च कर्मसापेक्षत्वे-नेश्वरस्यास्वातन्त्र्यम्। द्रव्यं कर्म च कालश्चेत्यादिना (श्रीमद्भा॰ २/१०/१२) कर्मादिसत्तायास्तदधीनत्वस्मरणात्। न च घट्टकु
अनादिजीवस्वभावानुसारेण हि कर्म कारयति स्वभावमन्यथाकर्त्तुं समर्थोऽपि कस्यापि न करोतीत्यविषमो भण्यते॥ ३५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आपत्ति है कि कर्मके द्वारा वैषम्यादि दोषका परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मसे पृथक् रूपमें कर्मकी सत्ता नहीं है। *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* इत्यादि श्रुतिके अनुसार सृष्टिके पूर्व ब्रह्मसे पृथक् रूपमें कर्मकी प्रतीति नहीं होती। अतः उस समय कर्मकी सत्ता नहीं कही जायेगी, यदि ऐसा कहते हो तो यह उचित नहीं है। किसलिए? इसलिए कि कर्म और क्षेत्रज्ञ जीव—इन्हें ब्रह्मकी ही भाँति अनादि रूपमें स्वीकार किया गया है। पूर्व-पूर्व जन्मोंमें अर्जित कर्मोंके अनुसार उत्तरोत्तर जन्मोंके कर्मोंमें ईश्वर जीवको प्रवृत्त करते हैं, इसलिए दोषकी बात निराधार है। स्मृति-वाक्य भी इसी प्रकार कहा गया है—यथा *'पुण्यपापादिकं … न विरोधः कथञ्चन'* (भविष्यपुराण)। श्रीविष्णु जीवको पूर्व जन्मके कर्मानुसार पुण्य-पापादि कराते हैं और कर्म भी अनादि है, इसलिए किसी भी प्रकारका असामञ्जस्य (विरोध) नहीं है। कर्मको अनादि कहनेपर अनवस्था दोष घटित होता है, ऐसा भी नहीं है क्योंकि यह बीजाङ्कुरके समान प्रमाणसिद्ध है। यदि कहो कि ईश्वर जीवके कर्मसापेक्ष होनेपर उनकी तो स्वतन्त्रता ही नहीं रही, तो ऐसा भी नहीं, क्योंकि *'द्रव्यं कर्म च कालश्च'* (श्रीमद्भा॰ २/१०/१२) अर्थात् 'द्रव्य, कर्म और काल ईश्वरके अधीन हैं' इत्यादि वाक्य द्वारा यही निर्णित हुआ है कि कर्मादिकी सत्ता ईश्वरके अधीन है। बात यह है कि ईश्वर जीवके कर्मानुसार जीवको कर्म कराते अवश्य हैं, पर वे स्वयं जीव-कर्मके अधीन नहीं हैं। जीव-कर्म ईश्वरके हाथोंमें रहनेसे जीव उनके अधीन होंगे ही। यदि कहो, इस प्रकारसे सङ्गति करनेपर तो घट्ट-कु
है, वह रह ही जाता है। जैसे कोई वणिक् पाराणीघाट (चुँगीघर) के

मालिकको पार करनेके लिए चुँगी न देकर उसे ठगनेके अभिप्रायसे उस घट्टपालसे छिपकर अन्य पथका आश्रय करता है, किन्तु अन्धकार भरी रातमें घूम-फिरकर भूलसे फिर उसी चुँगीघाटपर आ जाता है, तब घट्टपाल उसे बाँधकर उसपर प्रहार करता है, इसी प्रकार ब्रह्मके कर्मपारतन्त्र्य दोषका परिहार करते हुए कर्मसत्ताके तारतम्यवश ईश्वरमें वही वैषम्य भाव आ पड़ता है, तो ऐसी आपत्ति भी नहीं की जा सकती। अनादि जीवका जैसा स्वभाव होता है, वे उसीके अनुसार जीवको कर्म कराते हैं। उनमें स्वभावको बदलनेकी सामर्थ्य है, तो भी वे किसीके स्वभावका परिवर्त्तन नहीं करते हैं, इसी कारण उन्हें विषमतारहित कहा जाता है॥ ३५॥

सूक्ष्मा-टीका—आशङ्क्य परिहरति न कर्मेति। पूर्व पूर्वेति। पूर्वसृष्टिसम्पादितस्य धर्माधर्मप्रपञ्चस्यात्यन्तनाशाभावात् तदनुसारेण एव उत्तरसृष्टिकर्मप्रवर्त्तनात् न किञ्चिदवद्यम्। स्मृतिश्चेति। भविष्यपुराणवचनं बोध्यम्। प्रामाणिकत्वादिति। बीजाङ्कुरवदिति बोध्यम्। न च घट्टेति। यथा घट्टपणमदातुकामा वणिजो घट्टपालमविज्ञाप्योज्जटवर्त्मना गच्छन्ति। ते यथा तमिस्रायां निशि भ्रान्त्या प्रभाते घट्टकु
वैषम्यं परिहर्त्तुकामा यूयं कर्मसत्तां पुनर्ब्रह्मायत्तां मन्वानास्तद्वैषम्याभ्युपगमे पतिता गृह्यध्वेऽस्माभिरित्यर्थः॥ ३५॥

सूक्ष्मा-सार—*'पुनराशङ्का परिहरति'* इत्यादि भाष्यावतरणिका के *'न कर्माविभागत्'* सूत्रमें पूर्वपूर्वकर्मानुसारेण इत्यादि—पूर्व सृष्टिमें सम्पादित धर्म और अधर्म समुदायका एक बार भी लोप न होनेसे उस कृत कर्मके अनुसार और पुनः परवर्त्ती सृष्टिमें कर्मका प्रवर्त्तन होनेसे कोई दोष नहीं है। स्मृतिश्च *'पुण्यपापादिकम्'* इत्यादि श्लोक भविष्यपुराणमें कहा गया है। *'प्रामाणिकत्वात्'* बीजाङ्कुर न्यायके समान जीव और उसके कर्मका अनादित्व भी न्यायसिद्ध (नैयायिकमतसे सिद्ध) मानना होगा। जिस प्रकार बीजसे अङ्कुरादि होते हैं तथा पुनः वृक्षसे बीज उत्पन्न होता है। यह क्रम (सिलसिला) जिस प्रकार अनादि धारामें प्रवाहित हो रहा है, उसी प्रकार पूर्वकर्मानुसार जीवका देवादिदेह धारण और उन देहधारियोंका कर्म—यह धारा प्रवाहित होती रहती है। *'न च घट्टकु* अर्थात् जिस प्रकार घाटका टोल न

देकर घटपालको ठगनेके इच्छुक वणिकगण उससे छिपते-छिपाते उबड़-खाबड़ पथपर चलते हैं और फिर अन्धकाराच्छन्न रात्रिमें भूलते-भटकते प्रभातमें उसी घाटकी कु
घट्टपाल द्वारा बद्ध होकर प्रताड़ित होते हैं, उसी प्रकार कर्मकी दुहाई देकर ब्रह्मके वैषम्य दोषको परिहार करनेके इच्छुक होकर तुमलोग प्रलयकालमें कर्म (अदृष्ट) मानते हो और ब्रह्माधीन उस कर्मसत्ताको स्वीकार करके तुम्हें वह वैषम्य स्वीकार करना ही पड़ता है, हम देख रहे हैं यही घट्ट-कु
सभी प्राणियोंके कर्म-बीज अवगुण्ठित एवं कार्यक्षम होते हैं, ईश्वर उनका उल्लंघन नहीं करते॥ ३५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षवादी यदि कहें कि जीव अपने कर्मानुसार सुख-दुःखका भोग करता है, यह कह देनेसे ईश्वरके वैषम्यादि दोषका परिहार नहीं होता। कारण कर्मका ब्रह्मसे कोई विभाग नहीं है अर्थात् 'सृष्टिके पूर्व एकमात्र ब्रह्म ही थे'—इस छान्दोग्यश्रुतिके कारण और ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्ता न रहनेके कारण ब्रह्मसे विभक्त कर्मकी प्रतीति लक्षित नहीं होती। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि ऐसा यदि कहते हो, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मके ही समान क्षेत्रज्ञ जीवोंका और कर्मका अनादित्व स्वीकार किया गया है। इसलिए पूर्व-पूर्व जन्मार्जित कर्मानुसार ही जीव फलका भोग करता है। ईश्वर उसी कर्मानुसार फलदान करते हैं, इसमें ईश्वरका कोई दोष नहीं हो सकता और कर्मका अनादित्व स्वीकार करनेसे अनवस्था दोष भी घटित नहीं होता। बीजाङ्कुरके समान इस तथ्यकी प्रामाणिकता सिद्ध है। फिर यदि ऐसा कहते हो कि कर्मानुसार फलदान करनेसे तो ईश्वरको कर्माधीन कहा जायेगा और इससे ईश्वरमें ईश्वरत्व भी नहीं रहेगा, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि द्रव्य, कर्म और काल सभी ईश्वरके अधीनस्थ रूपमें शास्त्रमें निर्णीत हुए हैं। पक्षान्तरमें (विपरीत पक्षमें) यहाँ घट्टकु
प्रकारका दोष दे नहीं सकोगे। इस विषयमें टीका देखनी चाहिये। पहले बीज, बादमें अङ्कुर अथवा पहले अङ्कुर, बादमें बीज, इसका

सिद्धान्त न रहनेके कारण बीजाङ्कुर-प्रवाहको न्याय-शास्त्रमें अनादि कहकर स्वीकार किया है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

मैवास्मान् साध्वसूयेथा भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया।
सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यतः स्वकृतभुक् पुमान्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/५४/३८)

अर्थात् श्रीबलदेव रुक्मिणीजीकी सान्त्वनाके लिए कहते हैं—हे साध्वि! तुम अपने भाईके इस प्रकारके विरूप भावकी चिन्ता करके हमारे प्रति दोषारोपण मत करना, क्योंकि इस लोकमें जीव अपने कर्मका ही फल भोगता है, कोई किसीको सुख-दुःख देता नहीं।

और भी,

देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्म्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः॥

व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलोकैवं देही कर्म्मगतिं गतः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१/३९-४०)

अर्थात् देहान्तके पश्चात् देही कर्मवश बिना यत्नके ही दूसरे देहको प्राप्त करके पूर्व शरीरका परित्याग कर देता है। जिस प्रकार पुरुष चलते समय एक पैरको भूमिपर जमाकर दूसरे पैरको उठाता है, जिस प्रकार जोंक एक तृणको पकड़ कर पहलेके पकड़े हुए तृणको छोड़ देती है, उसी प्रकार देहाभिमानी जीव भी अपने कर्मोंके अनुसार अन्य देहको ग्रहण करके पूर्वदेहका परित्याग कर देता है।

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥

(श्रीमद्भा॰ २/१०/१२)

द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव एवं जीव—इन सबका उन नारायणके अनुग्रहसे ही अस्तित्व है, सत्ता है। यदि वे उपेक्षा कर दें, तो इनमेंसे किसीका भी अस्तित्व नहीं रहता।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमहाप्रभुजीके वचन हैं—

'स्वकर्मफलभुक् पुमान्'—प्रभु उत्तर दिला।
(चै०च०अ० २/१६३)

अर्थात् हे श्रीवास! मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भगवद्गीताका निम्नलिखित श्लोक आलोच्य है—

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते॥
(श्रीगीता ५/१४)

ईश्वरने न लोगोंके कर्त्तृत्व, न कर्म और न ही कर्मफलके संयोगका सृजन किया है, बल्कि उनका स्वभाव (अनादि अविद्या) ही इनमें प्रवृत्त हो रहा है॥ ३५॥

अवतरणिका भाष्य—वैषम्यादिकं ब्रह्मणि परिहृतम्। भक्तपक्षपातरूपं तदिदानीं तस्मिन्नङ्गीकरोति। भक्तसंरक्षणं तद्वासनानिवारणञ्च परस्मिन् वैषम्यं न वेति विषये तद्रक्षणादेरपि कर्मसापेक्षत्वात् न स्यादिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—ब्रह्ममें वैषम्य-नैघृण्यादि दोषोंका परिहार तो हो गया, ठीक है, किन्तु उनमें भक्तपक्षपातरूप दोषकी आपत्ति तो है ही न, अब इस आपत्तिको परमेश्वरमें स्वीकार करनेकी बात उठाते हैं। यहाँ संशय यह है कि भक्तकी रक्षा और भक्तकी वासना (अविद्या) का निवारणरूप वैषम्य परमेश्वरमें है कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि भक्त रक्षणादि कार्य भी कर्मसापेक्ष हैं, इसलिए ब्रह्ममें वैषम्य नहीं है; इस पूर्वपक्षपर सिद्धान्ती कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—जगत्कर्त्तृर्हरेरवैषम्यमापाद्य यमेवेत्यादिश्रुतिमाश्रित्य तस्य भक्तसम्बन्धेन वैषम्यं वक्तु
सङ्गतिः। स्वभक्तवत्सलस्य हरेर्जगत्कर्त्तृत्वं वदन् समन्वयस्तर्केण हरिः सावद्यो विषमकर्त्तृत्वादित्यनेन विरुद्ध इत्याक्षिप्य समाधानात्। तद्वासना तदविद्या।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—जगत्-सृष्टिकर्त्ता श्रीहरिका कहीं भी वैषम्य (पक्षपात) नहीं है, यह प्रतिपन्न (प्रमाणित) करनेके बाद *'यमेवैष'* इत्यादि श्रुतिकी सहायतासे अपने भक्तोंके प्रति पक्षपात रूप वैषम्य बतानेके लिए उपक्रम किया है—*'वैषम्यादिकं ब्रह्मणि परिहृतम्'*

के द्वारा। इस अधिकरणमें आक्षेप-सङ्गति जानना चाहिये। वही वर्णन करते हैं निजभक्तवत्सल श्रीहरिका जगत्-कर्त्तृत्व-समर्थक-समन्वय, तर्क द्वारा आक्षिप्त (निन्दित) किया गया है कि श्रीहरि वैषम्य दोषके कारण दोषमय हैं क्योंकि वे विषम (पक्षपातपूर्ण) कार्य करते हैं। बादमें उस तर्कका समाधान भी हुआ है, इसलिये आक्षेप सङ्गति है। *'उपासना निवारणञ्च'*—इस भाष्यावतरणिका है—तद्वासना का अर्थ है भक्तकी अविद्या।

'श्रीभगवान्का भक्तवात्सल्य गुण'

सूत्र—उपपद्यते चाभ्युपलभ्यते च॥ ३६॥

सूत्रार्थ—निग्रह अनुग्रहमें समर्थ भक्तवत्सल श्रीहरिका निज भक्तोंमें वैषम्य है, सत्य है, किन्तु वह 'उपपद्यते च' युक्तियुक्त है। यह वैषम्य दोष श्रीहरिके गुण-रूपमें ही प्रशंसित हुआ है। 'अभ्युपलभ्यते च'—यह श्रुति-स्मृतिमें भी उपलब्ध हुआ है॥ ३६॥

सूत्रानुवाद—भक्तवत्सल श्रीहरिमें वैषम्य युक्तियुक्त ही है, क्योंकि यह वैषम्य दोष गुणोंके मण्डन (आभूषण) रूपमें निर्देशित हुआ है॥ ३६॥

गोविन्दभाष्य—भक्तवत्सलस्यास्य प्रभोस्तत्पक्षपातो वैषम्यमेव तदुपपद्यते सिध्यति। तद्रक्षणादेः स्वरूपशक्तिवृत्तिभूतभक्तिसापेक्षत्वात्। न च निर्दोषतावादिवाक्यव्याकोपः। तद्रूपस्य वैषम्यस्य गुणत्वेन स्तुयमानत्वात्। गुणवृन्दमण्डनमिदमित्यपि श्रुतिराह। यद्विना सर्वे गुणा जनेभ्योऽरोचमानाः प्रवर्त्तका न स्युः। उपलभ्यते चैतत् श्रुतिषु स्मृतिषु च। *'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुः स्वाम्'* इत्याद्याः (कठ॰ १/२/२३) श्रुतयः। *'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।'* (श्रीगीता ७/१७) *'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चोप्यहम्।' 'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥'* (श्रीगीता ९/२६-३१) इत्याद्याः स्मृतयश्च॥ ३६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रीहरिका अपने भक्तोंके ऊपर पक्षपातरूप वैषम्य है, यह सिद्ध होता है, ठीक है, क्योंकि वे भक्तवत्सल हैं और निग्रह-अनुग्रह करनेमें समर्थ हैं। ईश्वरकी स्वरूपशक्तिकी वृत्तिभूत

(कार्य-भूत) शक्तिके द्वारा यह (भक्त-संरक्षण कार्य) साधित होता है। इससे ब्रह्मके निर्दोषतावादका वर्णन करनेवाले वेद-वाक्योंका व्याघात (बाधित) नहीं होता है। भक्तरक्षादि-वैषम्य (पक्षपातित्व) उनके गुणोंमें उद्धृत किये जानेसे उनका यह वैषम्य प्रशंसित ही हुआ है। श्रुतिमें कहा गया है कि श्रीहरिका भक्तवात्सल्य गुण समस्त गुणोंका भूषण है। यदि यह गुण न रहे, तो भगवान्‌के समस्त गुण ही जनसाधारणके लिए अरुचिकर हो जायेंगे, उनके प्रति साम्मुख्यका प्रवर्त्तन भी नहीं होगा। इसकी उपलब्धि श्रुतिसमूह और स्मृति-वाक्य-समुदायमें होती है। यथा श्रुति है—*'यमेवैष वृणुते ... तनुं स्वाम्'* (कठ॰ १/२/२३) अर्थात् श्रीहरि जिस व्यक्तिको निजजन मानकर ग्रहण करते हैं, उसीके द्वारा वे प्राप्त होते हैं, उसीके समीप वे परमेश्वर अपने श्रीविग्रहको विवृत करते हैं—इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें (७/१७) में भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—*'प्रियो हि ज्ञानिनः'* इत्यादि अर्थात् मैं भगवत्-तत्त्व-ज्ञानियोंका अत्यन्त प्रिय हूँ और वे ज्ञानीभक्त भी मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। पुनः *'समोऽहं सर्वभूतेषु ...'* मैं समस्त प्राणियोंके निकट समान हूँ, मेरा कोई शत्रु नहीं है, कोई प्रिय भी नहीं है, किन्तु जो मेरा भक्तिपूर्वक भजन करते हैं, वे मत्परायण हैं अर्थात् मुझपर निर्भर होकर रहते हैं और मैं भी उनके समीप रहता हूँ। *'अपि चेत् सुदुराचारः ... व्यवसितो हि सः।'* यदि कोई व्यक्ति अत्यन्त अनाचारी कदाचारी होकर भी मेरा अनन्यनिष्ठाके साथ भजन करता है, तो हे अर्जुन! मैं उसे साधु ही मानता हूँ, क्योंकि वह ठीक पथपर तो चल रहा है। उसने मुझपर दृढ़ भावसे विश्वास करके मेरा आश्रय तो किया है। वह दुराचारी मेरे भजनके फलसे शीघ्र ही धर्मपथका पथिक होता है और सनातनी शान्ति प्राप्त करता है। हे कु
मेरा भक्त कभी भी भ्रष्ट नहीं होता इत्यादि। इस प्रकार स्मृति-वाक्य भगवान्‌के भक्तवात्सल्यके उत्कर्षकी घोषणा कर रहे हैं॥ ३६॥

सूक्ष्मा-टीका—उपपद्यते इति। तद्रूपस्य भक्तपक्षपातरूपस्य। इदं भक्तपक्षपातरूपं वैषम्यम्। यद्विना भक्तपक्षपातात्मकं वैषम्यम् ऋते। प्रवर्त्तका हरिसाम्मुख्यहेतवः। यमिति। यं जनम्। एष हरिस्तद्भक्तिपरितुष्टो वृणुते स्वीयत्वेन स्वीकरोति तेन

जनेन लभ्यः प्राप्यो भवति। तस्य जनस्य सम्बन्धे एष हरिः स्वां स्वीयां तनुं श्रीविग्रहं विवृणुते विवृत्य दर्शयतीत्यर्थः। विशेषस्तु *'परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्ध'* इत्यत्र द्रष्टव्यः। आदि-शब्दात् *'भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी'* इति श्रुतिर्ग्राह्या। प्रियो हीति सार्द्धत्रिकं श्रीगीतासु। अपि चेदिति यद्यपीत्यर्थः। सुदुराचारो विनिन्दिताचरणः शास्त्रीयकर्मशून्यो वा। अनन्यभाक् सन् मां भजते देवतान्तरं विहाय मामेव स्वाराध्यबुद्ध्या सेवत इत्यर्थः। स त्वया साधुरेव अर्जुन! मन्तव्यः न तु दुराचारांशं वीक्ष्य तस्यासाधुत्वञ्चाशङ्क्यमित्यर्थः। मन्निष्ठाप्रभावेण दुराचारास्पर्शादित्येवकाराशयः। हि यस्मादसौ सम्यग्व्यवसितः मदेकान्तित्वरूपपरमनिश्चयवानित्यर्थः। दुराचारोऽपि तस्य झटित्येव नश्येदित्याह क्षिप्रमिति। धर्मात्मा सदाचारनिष्ठचित्तः। शान्तिं दुराचारनिवृत्तिम्। अनुल्लासं वीक्ष्याह कौन्तेयेति। हे मदेकभक्त कु
मे भक्तो न प्रणश्यति परमार्थाद्भ्रष्टो न भवति त्वं प्रतिजानीहि विवादिसदसि साटोपं प्रतिज्ञां कु

सूक्ष्मा-सार— *'तद्रूपस्य वैषम्यस्य'*—भक्तपक्षपातरूप वैषम्यका *'गुणवृन्द मण्डनमिदम्'* में 'इदम्' का अर्थ है *'भक्तपक्षपातरूप वैषम्य'। 'यद्विना सर्वे गुणा'* इत्यादिमें 'यद् विना' का अर्थ है 'पक्षपातरूप वैषम्य न रहनेपर' *'यमेवैष वृणुते'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है 'एषः'—ये श्रीहरि, 'यम'—जिसे,—उसकी भक्तिसे सन्तुष्ट होकर 'वृणुते'—अपना कहकर ग्रहण करते हैं, तेन—उस भक्तजन द्वारा ये हरि, लभ्यः—प्राप्य होते हैं, तस्य—उस भक्तके सम्बन्धमें, एषः—ये हरि, स्वां तनुम्—अपना श्रीविग्रह, विवृणुते—प्रकट करके दिखाते हैं, इस सम्बन्धमें विशेष रूपसे *'परेण च शब्दस्य ताद्विध्यम् भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः'* यह अंश भी देखना चाहिये। *'परेण च शब्दस्य'*—अर्थात् इसके बादके श्लोकमें 'च' शब्दसे *'प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः'*—इस अनुबन्धको भी देखना चाहिये। *'इत्याद्याः श्रुतयः'*—में *'आद्याः'* पदसे *'भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी।'* इत्यादि श्रुति ग्राह्य है। अर्थात् भक्ति ही श्रीहरिको प्राप्त करा देती है, भक्ति ही श्रीहरिके दर्शन करा देती है। वे परमपुरुष केवल भक्तिके ही अधीन हैं, भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, भक्ति ही प्रचुर सिद्धि है। *'प्रियो हीत्यादि'*—ये तीन श्लोक और अर्द्धश्लोक श्रीगीतामें कहे गये हैं। *'अपि चेदित्यादि'* में *'अपि चेत्'* अर्थात् यद्यपि! सुदुराचारः—निन्दनीय

कार्य करनेवाले अथवा शास्त्रोक्त कर्मत्यागी। अनन्यभाक्—एकनिष्ठ होकर *'भजते माम्'*—मेरा भजन करते हैं अर्थात् अन्य देवताओंको छोड़कर मुझे ही आराध्य मानकर मेरी सेवा करते हैं। उसे हे अर्जुन! तुम साधु ही समझो अर्थात् उसके अवैध आचरणको देखकर उन्हें असाधु मत मानो। *'साधुरेव'*—इस 'एव' शब्दका अर्थ है *'व्यवसितो हि सः'*—*'हि' क्योंकि, असौ* अर्थात् वह व्यक्ति, *'सम्यक् व्यवसितः'* मेरा ऐकान्तिक रूपसे दृढ़ निश्चयवान भक्त है—यह अर्थ है। उसका दुराचार भी अल्प समयमें ही निवृत्त हो जाता है—इसीको *'क्षिप्रमित्यादि'* वाक्य द्वारा कहते हैं—धर्मात्मा—सदाचारनिष्ठ होकर, शान्तिम्का अर्थ है *'दुराचारकी निवृत्ति'*। अर्जुनका युद्धमें अनुत्साह देखकर कहते हैं—हे कौन्तेय! अर्थात् मेरे एकनिष्ठ भक्त कु
'मे भक्तः न प्रणश्यति' मेरा भजन करनेवाला परमार्थसे भ्रष्ट नहीं होता। यह *'त्वम् प्रतिजानीहि'* डंकेकी चोटसे महाध्वनि करते हुए विवाद करनेवालोंकी सभामें जाकर दोनों हाथोंको ऊपर उठाते हुए सगर्व प्रतिज्ञा करके कहो॥ ३६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ब्रह्ममें वैषम्यादि दोषका परिहार करते हुए अब भक्त पक्षपातरूप वैषम्य जो श्रीभगवान्में है, इसे अङ्गीकार करते हैं। तब यह भक्तसंरक्षण और भक्तकी संसार वासना (अविद्या) क्षय-करण इत्यादिमें श्रीभगवान्का वैषम्य प्रकाश पाता है कि नहीं, इस संशयके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं—यह युक्तियुक्त ही है अर्थात् भक्तवत्सल श्रीभगवान्में यह दोषमय नहीं, परन्तु श्रीहरिके गुण रूपमें प्रशंसनीय है। इसका प्रमाण श्रुति और स्मृति शास्त्रोंमें भी देखा जाता है।

श्रीमद्भागवतमें दर्शनीय है—

न हि वां विषमा दृष्टिः सुहृदोर्जगदात्मनोः।
समयोः सर्वभूतेषु भजन्तं भजतोरपि॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४१/४७)

अर्थात् हे प्रभो! आप दोनों जगत्के परम सुहृद् एवं आत्मस्वरूप हैं। आप सभी प्राणियोंके प्रति समान भाव रखते हैं, तो भी आपका

अपने भक्तोंके प्रति विशेष रूपसे प्रेम एवं अनुग्रह रहता है। परन्तु इससे आपकीं दृष्टिमें विषमता दिखायी नहीं देती।

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र॥

(श्रीमद्भा॰ १०/७२/६)

हे प्रभो! आप सर्वान्तर्यामी, समदर्शी हैं, आप अपने आनन्दानुभवमें तृण रहते हैं। आपमें अपना पराया भेद न रहनेपर भी जो आपकी सेवा करते हैं, उन्हें कमोवेश फल उनकी भावना अनुसार मिल ही जाता है—ठीक वैसे ही, जैसे कल्पतरुकी सेवा करनेवालेको। इस विषयमें किसी भी प्रकारकी विषमता आपमें दिखायी नहीं देती।

भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥

(श्रीमद्भा॰ ९/४/६४)

हे ब्रह्मन्! जिनका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ, उन साधु-स्वभाववाले भक्तोंके अतिरिक्त मैं न तो स्वयंको चाहता हूँ और न ही अपनी उन लक्ष्मीजीको, जिनका कभी भी विनाश नहीं होता।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

श्रीचैतन्य-सम आर कृपालु वदान्य।
भक्तवत्सल ना देखि त्रिजगते अन्य॥

(चै॰च॰म॰ २५/२६१)

श्रीचैतन्यदेवके समान कृपालु, महावदान्य और भक्तवत्सल त्रिलोकीमें कोई और नहीं देखा जाता।

और भी,

ऐश्वर्य-माधुर्य-कारुण्य-स्वरूप-पूर्णता ।
भक्तवात्सल्य आत्मा-पर्यन्त-वदान्यता॥

(चै॰च॰म॰ २४/४२)

श्रीकृष्ण ऐश्वर्य, माधुर्य, कारुण्य एवं स्वरूपमें सर्वविध पूर्णताको प्राप्त हैं। उनमें ऐसी भक्तवत्सलता और वदान्यता है कि वे भक्तोंके हाथों अपने आपको भी बेच डालते हैं॥ ३६॥

१५—सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम्

सूत्र—सर्वधर्मोपपत्तेश्च॥ ३७॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—सर्वधर्मोपपत्तेश्च—श्रीहरि सर्वेश्वर, अचिन्त्यस्वरूप हैं, उनमें जितने भी विरुद्ध धर्म हैं, वे समस्त ही सङ्गत हैं, इसलिए भी वैषम्य दोष हो नहीं सकता॥ ३७॥

सूत्रानुवाद—वेदोक्त सारे धर्म ब्रह्ममें ही उपपन्न होते हैं, क्योंकि वे सर्वसमर्थ हैं। अतः वैषम्य दोषका अवसर नहीं है॥ ३७॥

गोविन्दभाष्य—अविचिन्त्यस्वरूपे सर्वेश्वरे सर्वेषां विरुद्धानामविरुद्धानाञ्च धर्माणामुपपत्तेः सिद्धेश्च भक्तपक्षपातोऽपि गुणः सुज्ञैरास्थेय एव। यथा ज्ञानात्मको ज्ञानवान् श्यामश्चैवमविषमो भक्तप्रेयानित्यादयो मिथो विरुद्धाः क्षान्त्यार्जवादयोऽविरुद्धाश्च परस्मिन्नेव सन्ति। स्मृतिश्च—ऐश्वर्ययोगाद् भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते। तथापि दोषाः परमे नैवाहार्याः कथञ्चन। गुणा विरुद्धा अप्येते समाहार्याः समन्तत इति। तथा चाविषमोऽपि हरिर्भक्तसुहृदिति सिद्धम्॥ ३७॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे श्रीबलदेवकृतं मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अचिन्तनीय-स्वरूप श्रीहरिमें विरुद्ध एवं अविरुद्ध समस्त धर्मोंका समावेश उपपन्न (प्रमाणित) एवं सिद्ध है, इसीलिए शुद्ध चरितवाले (सुविद्वान) विद्वान भक्त-पक्षपातिताको भी उनके गुणोंमें ही गिनते हैं। जिस प्रकार वे ज्ञानस्वरूप होनेपर भी ज्ञानके आधार हैं—यह उक्ति उनमें सङ्गत है, उसी प्रकार वे निर्गुण होकर भी श्यामवर्ण हैं, यह उक्ति विरोधिनी जैसी प्रतीयमान होनेपर असङ्गत नहीं है। समस्त प्राणियोंके प्रति पक्षपातशून्य होनेपर भी वे भक्तप्रिय हैं इत्यादि परस्पर विरुद्धार्थिनी उक्तियोंके वे आश्रय हैं, उसी प्रकार क्षमा, सरलता और दया इत्यादि अविरुद्ध गुण भी

एकमात्र उन्हीं परमपुरुषमें सम्भव हैं। स्मृति-वाक्योंमें भी इसी प्रकार कहा गया है—*'ऐश्वर्ययोगात्'* इत्यादि (कू॰पु॰) भगवान् सर्वेश्वरत्वके (ऐश्वर्य-योगके) कारण विरुद्धार्थक गुणसम्पन्न कहे गये हैं। ऐसा होनेपर भी उन परमपुरुषमें किसी प्रकारका दोष किसी भी प्रकारसे ग्राह्य नहीं है। सभी गुणोंके परस्पर विरोधी होनेपर भी उन्हें श्रीहरिमें सर्वतोभावसे सङ्गत जानना चाहिये। अतएव यह सिद्धान्त कि 'भगवान् श्रीहरि सर्वत्र वैषम्यशून्य होनेपर भी भक्त-पक्षपाती (भक्त-सुहृद) हैं', यह सिद्ध हुआ॥ ३७॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके प्रथम पादके
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—अविषमे कथं वैषम्यमिति चेत् तत्राह सर्वेति। स्मृतिश्चेति सार्द्धकं कौर्मवचनम्। ऐश्वर्यमविचिन्त्यशक्तिः। एते अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः। अवर्णः सर्वतः प्रोक्ताः श्यामो रक्तान्तलोचन इति प्रागुक्ताः॥ ३७॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—यदि वे सर्वत्र अविषम-समान हैं, तब उनमें भक्तपक्षपातित्व रूप वैषम्य क्यों? यह यदि कहते हो तो इसके उत्तरमें कहते हैं—*'सर्वेश्वर'* इत्यादि। *'स्मृतिश्च इति'*—ऐश्वर्यात्—यह सार्द्ध श्लोक कूर्मपुराणमें कहा गया है। ऐश्वर्य अर्थात् अचिन्तनीय शक्ति। *'विरूद्धाः अप्येते च'* इत्यादि विरूद्ध गुण दिखा रहे हैं—*'अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः। अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः'* (कूर्मपुराण) वे महत्-परिमाण भी नहीं हैं, अणु-परिमाण भी नहीं हैं परन्तु जगत्-रूपमें चारों ओर स्थूल और अणु रूपमें विराजमान हैं। वे सर्वथा वर्णहीन रूपमें कथित हैं तो भी श्यामवर्ण रक्त-कटाक्ष (अरुण चितवन विशिष्ट) हैं, इत्यादि पहले भी कहा गया है॥ ३७॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके प्रथम पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि अविचिन्त्यस्वरूप सर्वेश्वर श्रीहरिमें समस्त विरुद्ध और अविरुद्ध धर्मोंका समावेश है, यह विरुद्ध धर्म नित्यसिद्ध गुणरूपमें उनमें अवस्थित है। इसलिए शुद्ध ज्ञानी पुरुष इस भक्तपक्षपातित्वरूप गुणको गुणवृन्दके मण्डन रूपमें मानते हैं।

श्रीमद्भागवतमें है—

सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभि-
र्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धनिरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे॥

(श्रीमद्भा॰ ४/१७/३३)

आप पञ्च महाभूत, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता, बुद्धि और अहङ्कार रूप अपनी शक्तियोंसे इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार करते हैं। आपकी शक्तियाँ बड़ी प्रबल हैं और आप बन्धन-मोक्ष हेतुभूत विद्या-अविद्या, धर्म-अधर्म आदि रूपमें परस्पर विरुद्ध भावसे युक्त हैं। ऐसे अचिन्त्य शक्तिशाली परमपुरुष विधाताको मैं नमस्कार करती हूँ।

इस श्लोकको टीकामें श्रीमध्वने कहा है—

विरुद्धशक्त्या यस्य नित्या युगपदेव च।
तस्मै नमो भगवते विष्णवे सर्वजिष्णवे॥

(वराहपुराण)

अर्थात् जिनमें परस्पर विरुद्ध-शक्तियाँ एक साथ युगपत् रूपमें विराजमान हैं, मैं ऐसे सर्वविजयी भगवान् विष्णुको नमस्कार करता हूँ॥ ३७॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



द्वितीयः पादः

मङ्गलाचरणम्

कृष्णद्वैपायनं नौमि यः सांख्याद्युतिकण्टकान्।
छित्वा युक्त्यसिना विश्वं कृष्णक्रीडास्थलं व्यधात्॥

भाष्यकार श्रीमन्बलदेव प्रभु इस द्वितीय पादके प्रारम्भमें इष्टदेवताके प्रणाम रूपमें मङ्गलाचरण करते हुए अभिधेयका निर्देश करते हैं—मैं उन कृष्णद्वैपायनको प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने इस वेदान्त-सिद्धान्तके प्रतिपक्षी सांख्य इत्यादि शास्त्र-कर्त्ताओं कपिल इत्यादिके उक्ति-जालरूप कण्टकोंको युक्तिरूप खड्गके द्वारा छेदन करके विश्वको श्रीकृष्णका सुख-सञ्चारमय-लीलाक्षेत्र बना दिया है।

अवतरणिका भाष्य—स्वपक्षे परैरुद्भाविता दोषा निरस्ताः प्रथमे पादे। द्वितीये तु परपक्षा दूष्यन्ते। इतरथा वैदिकं वर्त्म विहाय तेषु जनानां प्रवृत्तिः स्यादनर्थं च ते समीयुः। तत्र तावत् सांख्यानां मतं निरस्यते। सांख्याचार्यः कपिलस्तत्त्वानि संजग्राह—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियं स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गण इति (सां०सू० १/६१)। साम्येनावस्थितानि सत्त्वादीनि प्रकृतिः। तानि च सुखदुःखमोहात्मकानि क्रमाद्बोध्यानि। तत्कार्ये जगति सुखादिरूपत्वदर्शनात्। (सां०का० १२) तथा हि—तरुणी रत्या पत्युः सुखदेति सात्त्विकी भवति। मानेन दुःखदेति राजसी। विरहेण मोहदेति तामसी चेत्येवं सर्वे भावा द्रष्टव्याः। उभयमिन्द्रियमिति। दश बाह्येन्द्रियाण्येकमन्तरिन्द्रियं मन इत्येकादशेत्यर्थः। नित्या विभ्वी च प्रकृतिः। मूले मूलाभावादमूलं मूलम्। (सां०सू० १/६७) न परिच्छिन्नं सर्वोपादानम् (सां०सू० १७६)। सर्वत्र कार्यदर्शनाद् विभुत्वमिति सूत्रेभ्यः। महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणि सप्त प्रकृतिविकृतयः अहमादेः प्रकृतयः प्रधानादेस्तु विकृतय इति। एकादशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानि चेति षोडश विकृतय एव। पुरुषस्तु निष्परिणामत्वान्न कस्यापि प्रकृतिर्न च विकृतिरिति। एवमेवेश्वरकृष्णश्चाह (सां०का० ३) मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष इति। सा खलु प्रकृतिर्नित्यविकारा स्वयमचेतनाप्यनेकचेतनभोगापवर्गहेतुरत्यन्तातीन्द्रियापि तत्कार्येणानुमीयते।

एकैव विषमगुणा सती परिणामशक्त्या महदादिविचित्ररचनं जगत् प्रसूत इति जगन्निमित्तोपादानभूता सेति। पुरुषस्तु निष्क्रियो निर्गुणो विभुश्चित् प्रतिकायं भिन्नः सप्ततपरार्थत्वादनुमेयश्च सः। विकारक्रिययोर्विरहात् कर्त्तृत्वभोक्तृत्व-योर्विरहः। एवं स्थिते प्रकृतिपुरुषयोस्तत्त्वे सन्निधिमात्रात् तयोर्मिथो धर्मविनिमयः प्रकृतौ चैतन्यं पुरुषे तु कर्त्तृत्वभोक्तृत्वयोरध्यासो भवति। (सां॰सू॰ २/५) इत्थमविवेकात् भोगो विवेकात् तु अपवर्गः। प्रकृत्यौदासीन्यवपुरित्येवमादीनर्थान् सोपपत्तिकैः सूत्रैर्निबवन्ध। अस्यां प्रक्रियायां प्रत्यक्षानुमानागमान् प्रमाणानि मेने। त्रिविधं प्रमाणं तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिरिति। (सां॰सू॰ १/८८) तत्र प्रत्यक्षागमसिद्धेष्वर्थेषु नातीव विसंवादः। यत्तु परिमाणात् (सां॰सू॰ १/१३०) समन्वयात् (१/३१) शक्तितश्चेत्यादिसूत्रैः (१/१३२) प्रधानं जगत्कारणमनुमितं तन्निरस्यं भवति तेनैव सर्वतन्मतनिरासात्। तत्र प्रधानं जगन्निमित्तोपादानं भवेत् न वेति संशये प्रधानमेव तथा। जगतः सात्त्विकादिरूपत्वात् प्रधानस्यैव सत्त्वादिरूपस्य तदुपादानत्वेनानुमानात्। घटादिकार्यस्योपादानं खलु तत्सजातीयं मृदाद्येव दृष्टम्। फलति वृक्षश्चलति जलमितिवत् जडस्यापि तस्य कर्त्तृत्वञ्च। तस्मात् प्रधानमेव जगदुपादानं जगत्कर्त्तृ चेत्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस अध्यायके प्रथम पादमें प्रतिवादियोंने स्वमतमें जिन दोषोंकी सम्भावनाको उद्भावित किया था, उनका निराकरण किया गया था, अब इस द्वितीय पादमें परमतके पक्षोंको दोषपूर्ण किया जा रहा है। यदि उनके दोष नहीं दिखाये गये तो वैदिक पथको छोड़कर लोग उन-उन पथोंपर चल पड़ेंगे और अनर्थ सागरमें निमग्न (पतित) हो जायेंगे। इन विरोधी मतोंमें सर्वप्रथम सांख्य-मतको निरस्त किया जायेगा। सांख्याचार्य कपिलने जिन समस्त तत्त्वोंका निर्देश किया है, वे इस प्रकार है—प्रकृति सत्त्व, रज एवं तमोगुणकी साम्यावस्थात्स्वरूप है। प्रकृतिसे महत्तत्त्व (महान्), महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे पाँच तन्मात्राएँ, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, आकाशादि पाँच स्थूलभूत और पुरुष—ये पच्चीस तत्त्व उत्पन्न हुए हैं। उनमें साम्य (अविकृत) भावसे अवस्थित सत्त्व, रज और तमोगुण ही प्रकृति नामसे अभिहित हैं। ये गुण यथाक्रमसे सुख, दुःख एवं मोहात्मक हैं अर्थात् सत्त्वगुण सुखात्मक है, रजोगुण दुःखमय है और तमोगुण मोहात्मक है। कारण यह है कि प्रकृतिके कार्य-जगत्मे सुख-दुःख और मोहका ही परिचय

प्राप्त होता है। इस विषयमें दृष्टान्त दिखा रहे हैं—जिस प्रकार एक रमणी रति-सम्बन्धसे पतिके लिए सुखदायिनी है, इसलिए वह सत्त्वगुणमयी है और वही रमणी मान कर लेनेपर पतिके लिए दुःखदायिनी हो जाती है, इसलिए राजसी या रजोगुणमयी है और वही विच्छेद होनेपर मोहदायिनी है, अतएव तमोगुणमयी है। इस प्रकारके दृष्टान्तसे अन्यान्य समस्त पदार्थोंको भी त्रिगुणात्मक जान लेना चाहिये। उभय इन्द्रियसे तात्पर्य है—दस बाह्येन्द्रिय अर्थात् वाक्, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रिय और चक्षुः, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय एक मन। इस प्रकार ये ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। प्रकृति नित्य एवं विभु (विश्वव्यापिनी) है। *'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्'*—प्रकृति ही सबका मूल उपादानकारण है, मूलका और कोई मूल नहीं होता, अतएव यह प्रकृति निष्कारण है, उसका कोई कारण नहीं है। *'न परिच्छिन्नं सर्वोपादानम्'*—वह देशगत, कालगत और स्वरूपगत अपरिच्छिन्न अर्थात् सीमाहीन है। जो परिछिन्न होता है, वह सबका उपादानकारण नहीं हो सकता। *'सर्वत्र कार्यदर्शनात्'*—समस्त स्थानोंमें उसका ही कार्य देखा जाता है, इसलिए वह विभु है। इन तीनों सूत्रोंसे ही उसके विभुत्वसे अवगत हुआ जा सकता है। इन पच्चीस तत्त्वोंमें महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति और विकृति उभय स्वरूपा हैं। महत्तत्त्व अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र प्रकृति और प्रकृतिकी विकृति हैं। इसी प्रकार अहङ्कार पञ्चतन्मात्रकी प्रकृति और महत्तत्त्वकी विकृति है। पूर्वोक्त ग्यारह इन्द्रिय और पञ्च महाभूत ये सोलह तत्त्व केवल, विकृति कार्यस्वरूप हैं। पुरुष (आत्मा) परिणामहीन होनेके कारण किसीकी भी प्रकृति नहीं है और किसीका कार्य भी नहीं है, वह अपरिणामी है, इसलिए विकार भी नहीं है। सांख्यतत्त्वकारिका प्रणेता ईश्वर कृष्ण ने इस प्रकार कहा है—*'मूल प्रकृतिरविकृति ... विकृति पुरुषः'*, मूल प्रकृति किसीका भी विकार नहीं है, महत्, अहङ्कार और पञ्च तन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति (उपादान) और विकृति (कार्य) उभयस्वरूप हैं। दस इन्द्रिय, मन और पञ्च महाभूत—ये सोलहगुण केवल विकार मात्र हैं। पुरुष न तो किसीका विकार है और न ही

किसीकी प्रकृति। यह प्रकृति नित्य ही विकार जननी है किन्तु स्वयं अचेतन होकर भी अनेक चेतन जीवोंको भोग एवं मोक्ष साधित कराती है। यद्यपि यह प्रकृति समस्त प्रकारसे अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्षके अगोचर है तो भी अपने कार्य द्वारा अनुमित होती है। यह प्रकृति एक होकर भी सत्त्वादि गुणोंसे समन्वित रूपमें परिणाम शक्ति द्वारा महत् इत्यादि विचित्र रचनापूर्ण जगत्की सृष्टि करती है। इस रूपमें प्रकृति जगत्का निमित्त और विभु (विश्व व्यापक), चैतन्यमय, प्रकाशस्वरूप और प्रत्येक जीवके शरीरमें भिन्न-भिन्न है। इसकी सत्ताका अनुमान देहेन्द्रियादि समष्टि (संघात) की पदार्थताके कारण होता है अर्थात् शय्यादि भोग द्रव्य जिस प्रकार किसी एक मनुष्यके लिए प्रयोजन-निर्वाहक देखे जाते हैं, इसी प्रकार देहेन्द्रियादि समुदायक प्रकृति भी किसी एक जनकी भोग-सम्पादिका है, स्वयं की नहीं। वह परपुरुष (अन्य जन) के रूपमें ग्राह्य है, इस विषयमें अनुमान भी है—*'प्रधानं पदार्थं स्वेतरस्य भोगापवर्गकफलकं सप्ततत्त्वात् शय्यादिवत्।'* इस अनुमानसे प्रकृतिकी पदार्थता सिद्ध होकर *'पुरुषं असंहत'* (यह सांख्य पुरुष प्रकृतिसे जुड़ा नहीं है) है, यह सिद्ध हुआ। प्रकृति एवं पुरुषका तत्त्व इस प्रकार स्थिर होनेपर सान्निध्यवश (समीपताके कारण) उन दोनोंका परस्परमें धर्म विनिमय होता है अर्थात् प्रकृतिके सुख दुःखादि धर्म—भोक्तृत्व और कर्त्तृत्वका आरोप पुरुषमें होता है और जड़-प्रकृतिमें पुरुषके चैतन्य धर्मका अवभास (प्रकाश अथवा ज्ञान) होता है इसीका नाम अध्यास है। इस प्रकार अविवेकवश (दोनोंकी पृथक) धर्मता (ज्ञानके अभावमें) आत्माका सुख-दुःखादि भोग होता है और विवेकके द्वारा (प्रकृति एवं पुरुषके पार्थक्य बोधके बाद) मुक्ति होती है। पुरुष प्रकृतिसे उदासीन और निःसङ्ग है—इस प्रकार सभी पदार्थोंको युक्तिपूर्ण ढङ्गसे महर्षि कपिलने सूत्रोंके रूपमें ग्रथित किया है। इस सांख्य-प्रक्रियामें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीन प्रकारके प्रमाणोंकी उपयोगिताको वे स्वीकार करते हैं। इन तीनोंका प्रमाण मान लेनेपर समस्त प्रभाज्ञानकी सिद्धि होती है, इसलिए इन तीनोंसे अधिक और किसी उपमानादि प्रमाण माननेकी काई प्रयोजनीयता नहीं है। इनमें प्रत्यक्ष और आगमसिद्ध

पदार्थ विषयमें विशेष किसी विसंवाद (बातोंमें विरोध अथवा प्रतिज्ञा भङ्ग) का दर्शन नहीं होता, किन्तु अनुमान प्रमाण सिद्ध किसी-किसी वस्तु विशेषमें विप्रतिपत्ति (विवाद अथवा विरोध अथवा असहमति) दिखती है, जैसे *'परिमाणात्'* (सां॰सू॰ १/१३०)—प्रकृति जगत्का कारण है, क्योंकि वह परिच्छिन्न परिमाणवाली है। यद्यपि कु
परिमाण होकर भी जगत्के कारण नहीं हैं—यह व्यभिचार दोष इस अनुमानमें घटित हो सकता है, तो ऐसा भी नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रादेशिक परिमाणके अभावका प्रतियोगिता-अवच्छेदक सजातीयत्व ही उसका अर्थ है। तात्पर्य यह है, कु
अभाव रहनेपर भी समस्त गुणोंका अभाव नहीं है इसलिए व्यभिचार नहीं है। प्रधानके जगत् कारणता विषयमें और एक हेतु उपन्यस्त किया है अथवा रखा गया है यथा—*'समन्वयात्'*—उपवासादिके द्वारा बुद्धि आदि तत्त्व क्षीण होनेपर भी अन्नादिके ग्रहण करनेपर पुष्ट हो जाते हैं, अतएव बुद्धि आदि कार्य हैं, यह अनुमित होता है अर्थात् प्रकृतिके धर्म—सुख, दुःख और मोहादि जब महदादि कार्यसे अन्वित हैं, तब अनुमान यह होता है कि प्रकृति जगत्का कारण है और शक्तितः अर्थात् कारणकी शक्तिसे कार्य उत्पन्न होता है, तब जिसकी शक्तिसे कार्य उत्पन्न होता है, वही उसका कारण है—इसी व्याप्ति (एक पदार्थमें दूसरे पदार्थका पूर्णरूपेण मिलन) के द्वारा प्रकृति अनुमित है। इस मतका निरास करना होगा क्योंकि इसीसे सांख्यके समस्त मत निरस्त हो जायेंगे। अब इस विषयमें सन्देह यह है कि प्रधान जगत्का उपादान और निमित्त कारण है कि नहीं? इसकी मीमांसामें पूर्वपक्षी कहते हैं—हाँ, प्रधान ही जगत्का उपादान और निमित्त कारण है। प्रमाण क्या है? उत्तरमें उनका कहना है कि जब जगत् सात्त्विक, राजसिक और तामसिक स्वरूप है, तब उसका कारण प्रधान ही हो सकता है। जो (जगत्) सात्त्वादि गुणत्रय विशिष्ट है, प्रकृत (प्रकरणगत) स्थलपर प्रधान ही वही अर्थात् गुणत्रय विशिष्ट है, अतएव वही जगत्का उपादान कारण है। उसकी (प्रधानकी) सजातीय मृत्तिका कार्यका (जगत्का) उपादान है। शङ्का हो सकती है कि यदि ऐसा ही है तो प्रकृति जड़ है फिर उसका

कार्य सक्रिय किस प्रकारसे है? इसपर उनका उत्तर है जिस प्रकार 'वृक्ष फलता है', 'जल चलता है'—इसलिए जड़ (अचेतन) प्रकृतिका भी कर्त्तृत्व प्रमाणित होता है। अतएव प्रधान ही जगत्का उपादान एवं कर्त्ता अर्थात् निमित्त कारण है। इस प्रकारके वादका निश्चय होनेपर सूत्रकार समाधान करते हैं।

मङ्गलाचरण टीका—इदानीं परपक्षप्रत्याख्यानसिद्धये शास्त्रदेशिकस्तुतिरूपं मङ्गलमाचरन् पदार्थं सूचयति—कृष्णेति। कपिलबुद्धजैना जगदनीश्वरमाहुः। प्रधानेन जगद्भवतीति कपिलः। परमाणुभिरिति बुद्धो जैनश्च ज्ञानमेव। शून्यं जगदिति बुद्धैकदेशिनः, जगत्कर्त्ता कोऽपि नास्तीत्येषां सर्वेषां राद्धान्तः। ये च कणादपतञ्जलि-प्रभृतय ईश्वरवादिन इव दृश्यन्ते तेऽपि वस्तुतोऽनीश्वरा एव वेदोक्तेश्वरास्वीकारात्। इत्थञ्च कपिलादिवाग्जालकन्टकापूरिते जगति तस्य सुकोमलाज्घे रीश्वरस्य सञ्चारं दुःशक्यं विलोक्य तद्विमुखं तद्विज्ञायेत्यर्थः। कृष्णद्वैपायनो व्यासः सद्युक्तिरूपेण खड्गेन कपिलादिवाक्कण्टकान् चिच्छेद। तदेवं निष्कण्टके भक्तिवन्यया स्निग्धे तत्र श्रीकृष्ण ईश्वरः सुखं विक्रीडति सांख्यादिमतानि विनिर्थूय तद्भक्तिं प्रचारयामासेत्यर्थः॥ १॥

मङ्गलाचरण टीकाका अनुवाद—ॐ नमो श्रीकृष्णाय इति। इस द्वितीय पादमें वादी-पक्षके निरासके लिए भाष्यकार श्रीमन्बलदेव प्रभु सूत्रकर्त्ता आचार्यके अभीष्ट देवताकी स्तुतिरूप मङ्गलाचरण करते हुए इस द्वितीयपादके प्रतिपाद्य विषयकी सूचना देते हैं—कृष्णद्वैपायनम् नौमीत्यादि। कपिल, बुद्ध और जैन ये जगत्को अनीश्वर कहते हैं। इनमें कपिलका मत है—प्रकृतिसे जगत् उत्पन्न होता है और बुद्धके मतानुसार परमाणुसे जगत् उत्पन्न होता है। जैन जगत्को विज्ञानस्वरूप मानते हैं। तो कु
हैं, इसलिए जगत्का कर्त्ता कोई नहीं है, यही इन सबका सिद्धान्त है। और जो कणाद, पतञ्जलि इत्यादि दार्शनिक हैं, वे ईश्वरवादीके रूपमें प्रतीयमान होनेपर भी वस्तुतः अथवा फलतः अनीश्वरवादी हैं, क्योंकि वे वेद-प्रतिपाद्य ईश्वरको नहीं मानते। इस प्रकार कपिलादिके वाक्-जालरूप कण्टकाकीर्ण जगत्में सुकोमल पदारविन्दविशिष्ट श्रीहरिका सञ्चरण दुःशक्य देखकर अर्थात् लोगोंको ईश्वरसे विमुख जानकर श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने सद्युक्तिरूप असि (खड्ग) द्वारा उन कपिलादिके वाक्यजालरूप कण्टकोंका छेदन कर दिया है। इस

प्रकार भक्ति-बाढ़के प्रवाहमें स्निग्ध-निष्कण्टक जगत्‌में परमेश्वर श्रीकृष्ण सुखपूर्वक क्रीड़ा करें, ऐसा विचार करके सांख्यादि मतको उन्मूलित करके कृष्णभक्तिका प्रचार किया है—यह मर्मार्थ है॥ १॥

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वोत्तरयोः पादयोरर्थसङ्गतिं दर्शयति स्वपक्ष इत्यादिना। एतावता ग्रन्थेन मुमुक्षूणां सम्यग् ज्ञानाय वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयं प्रतिपाद्य तत्र परैरुद्भावितान् दोषान् निरस्य स्वपक्षो दृढीकृतः। इदानीं तेषां वेदान्तसिद्धान्ते निःसन्देहप्रवृत्तये परपक्षाक्षेपकः पञ्चचत्वारिंशत्सूत्रकोऽष्टाधिकरणको द्वितीयः पादोऽयमारभ्यत इत्यर्थः। पूर्वत्र वेदान्तवाक्यानां प्रधानादिपरत्वभ्रमो निवर्त्तितः। इह तु श्रुतिनिरपेक्षाणां प्रधानादिसाधिकानां स्मृतीनां युक्त्याभासमयतया प्रत्याख्यानमिति न पुनरुक्तिः। समन्वयविरोधनिरासकेन स्वपक्षस्थापकेन प्रथमपादेनास्य द्वितीयपादस्योप-जीव्योपजीवकभावः सङ्गतिः। स्वपक्षस्थापनेन विना परपक्षनिरासायोगात्? सर्वैरधिकरणैः परपक्षाक्षेपात् पादसङ्गतिः। पूर्वोत्तराधिकरणयोराक्षेपलक्षणावान्तरसङ्गतिश्च। सर्वधर्मोप-पत्तेश्चेत्यत्र जगदुपादानत्वेऽपि तद्दोषास्पृष्टत्वं जगत्कर्त्तृत्वेऽपि खेदादिशून्यत्वमित्यादयो गुणा ब्रह्मणीव प्रधानेऽप्युपपद्येरन्नित्याक्षेपस्यात्रानिरासात्। फलं त्वापादपूर्त्तेः। परमतयुक्तिविरोधाविरोधाभ्यां समन्वयासिद्धितत्सिद्धी विवेच्ये। तत्रेति। तावदादाविह प्रधानमचेतनं विश्वकारणमिति कपिलसिद्धान्तो विषयः। सन्दिह्यमानस्यैवाधिकरण-विषयत्वात्। सोऽत्र प्रमाणमूलो भ्रममूलो वेति सन्दिह्यते। तं प्रमाणमूलं वक्तु तत्प्रकियां दर्शयति सांख्याचार्य इत्यादिना। तानि चेति। तानि सत्त्वरजस्तमांसि लाघवप्रकाशचलनोपष्टम्भनगौरवावरणधर्माणि च क्रमाद्बोध्यानीति चशब्दात्। मूले इति। मूलं प्रधानममूलमकारणं भवति। न हि मूलस्य मूलं दृष्टमस्तीति। तेन प्रधानस्य नित्यत्वमुक्तम्। न परिच्छिन्नमित्यादिद्वयेन तु विभुत्वञ्च। मूलप्रकृति-रित्येतद्व्याख्यातप्रायमेव। सेति नित्यविकारा प्रतिसर्गेऽपि सजातीयपरिणामस्य सत्त्वात् तत्कार्येणानुमीयत इति। यथाह कपिलः—स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य बाह्यभ्यन्तराभ्यां तैरहङ्कारस्य तेनान्तःकरणस्य, ततः प्रकृतेरिति। सप्ततेति। यदाह सः। संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्येति। यथा संहतं शय्यादि परार्थं दृष्टमेवं संहतं प्रधानं परार्थं भवेत्। परस्तु पुरुष एवासंहत इति सूत्रार्थः। प्रकृत्यौदासीन्यवपुरिति। प्रकृतौ यत् पुरुषस्यौदासीन्यं स तस्य मोक्षः इत्यर्थः। त्रिविधमिति। प्रत्यक्षानुमानशब्दरूपं त्रिविधमेव प्रमाणं नाधिकं तत्रैव सर्वेषामुपमानादीनामन्तर्भावादित्यर्थः। एतच्चाकरेषु दृश्यम्। यत्त्विति। परिमाणादित्यस्यार्थः। महदादीनां पारिमित्यात् तत्कारणम् परिमितं बोध्यम्। तच्च प्रधानमेवेति। समन्वयादित्यस्यार्थः। सुखदुःखमोहानां प्रधानधर्माणां तत्कार्येषु महदादिष्वन्वितत्वात् प्रधानमेव तत्कारणमिति। तदेवाह शक्तितश्चेति। अस्यार्थः—कारणशक्त्या कार्यं प्रवर्त्तते। महदादयः प्रकृत्यनुरूपेण कार्यं जनयन्ति। अन्यथा क्षीणाः सन्तः कार्यं न जनयेयुः। ततश्च यच्छक्त्या ते प्रवर्त्तन्ते तत् तेषां

कारणम्। तच्च प्रधानमेवेति। तत्रेति। तथा जगन्निमित्तोपादनम्। फलतीति। फलने वृक्षस्य कर्त्तृत्वं चलने तु जलस्येत्यर्थः। तस्मात् तदुभयत्वं प्रधानस्यैवेति प्राप्ते रचनेति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अतःपर पूर्व और उत्तरपाद (प्रथम और द्वितीय पाद) की परस्पर अर्थ सङ्गति 'स्वपक्षे' इत्यादि वाक्य द्वारा दिखाते हैं अर्थात् प्रथम पादमें वर्णित विषय द्वारा मुक्तिकामी व्यक्तियोंके ब्रह्मविषयक सम्यक् तत्त्वज्ञानके लिए वेदान्त-वाक्य-समुदायका ब्रह्ममें समन्वय प्रतिपादन करके उस समन्वयमें विरुद्धवादियोंने जिन समस्त दोषोंकी उद्भावना की है, उन सबका निरास करके स्वमत (निजपक्ष) को दृढ़ करते हैं। इस पादमें वेदान्त-वाक्य-समुदायके निःसन्देह प्रवर्त्तनके लिए वादी पक्षके आक्षेपक अर्थात् निरासक पैंतालीस सूत्रों और आठ अधिकरणोंमें निबद्ध इस द्वितीय पादका प्रारम्भ है। पूर्वपादमें वेदान्त-वाक्योंका प्रधानादिमें तात्पर्यका जो भ्रम था इस पादमें इसे दूर किया गया है, साथ ही इस पादमें प्रधानादि-साधिका श्रुति निरपेक्ष स्मृतियोंके दोषपूर्ण युक्तिमतत्वका प्रतिपादन करके उनके द्वारा उनका प्रत्याख्यान (भर्त्सनपूर्वक निराकरण) किया है। इसलिए पुनरुक्ति दोष भी नहीं है। प्रथमपादमें ब्रह्म-समन्वयके विरोधका निराकरण और स्वपक्षका स्थापन किया गया था, अतएव इस पादके साथ इस द्वितीय पादकी उपजीव्य-उपजीवक भावरूप सङ्गति है। स्वपक्षकी स्थापनाके बिना परपक्षको निरस्त नहीं किया जा सकता, इसलिए इस पादके समस्त अधिकरणोंके द्वारा परपक्षका आक्षेप (प्रतिवाद) किया गया है। इसलिए पाद-सङ्गति भी है। पूर्व और उत्तर (पर) अधिकरण-द्वयकी आक्षेपस्वरूप अवान्तर सङ्गति भी है क्योंकि *'सर्वधर्मोपपत्तेश्च'* (ब्र॰सू॰ २/१/३७) (जगत्के कारण परब्रह्ममें समस्त धर्मोंकी सङ्गति है) सूत्रमें ब्रह्मकी जगदुपादानकारणता होनेपर भी दोषके लेशमात्र भी सम्पर्कका अभाव है और जगत्-सृष्टि-कार्यमें उनका क्लेशाभावका प्रतिपादन हुआ है। ये समस्त गुण जिस प्रकार ब्रह्ममें वर्त्तमान हैं, उसी प्रकार प्रकृतिमें भी सङ्गत हैं—तब इस आक्षेपका निराकरण तो हुआ नहीं। इस आक्षेपका फल क्या है? उसे इस पादकी समाप्ति तक कहा जायेगा। अतःपर वादीके मतमें

प्रदर्शित युक्तियोंके किसी अंशमें असङ्गति एवं किसी अंशमें सङ्गति द्वारा समन्वयकी सिद्धि है अथवा असिद्धि है—यह विचारणीय है। *'तत्र तावत् सांख्यानामित्यादि'* में तावत्का अर्थ है—प्रथममें। अब प्रकृतिके कारणतावादमें पञ्चाङ्ग प्रदर्शित हो रहे हैं। इसमें विषय है—अचेतन प्रकृति जगत्का कारण है—यह कपिलका सिद्धान्त है। जो सन्देहका विषयीभूत है अर्थात् जिसपर संशय किया जाता है, उसीको विषय मान लिया जाता है। जिस विषयपर यहाँ सन्देह किया जा रहा है, वह सप्रमाण है अथवा भ्रममूलक। वादीगण उसे प्रमाणमूलक कहते हैं, यही बतलानेके लिए उसकी (सांख्यकी) प्रक्रिया *'सांख्याचार्यः कपिलस्तत्त्वानि'* इत्यादि ग्रन्थ द्वारा दिखा रहे हैं। *'तानि च इत्यादि'* में तानिका अर्थ है वे गुण सत्त्व, रज और तम हैं। इन गुणोंके धर्मोंको यथाक्रमसे बता रहे हैं—सत्त्वगुणका धर्म है—लघुता एवं प्रकाश, रजोगुणका कार्य है—चाञ्चल्य एवं विक्षेप अर्थात् स्वरूप तिरोधानपूर्वक अस्वरूपमें आबद्धीकरण अर्थात् स्पन्दन एवं अवधारण एवं तमोगुणका धर्म है—गौरव एवं आवरण। भाष्योक्त 'तानि च' के 'च' शब्दका तात्पर्य है कि यह सब भी जान लेने योग्य है। *'मूले मूलाभावादमूलम् मूलम्'* इस सूत्रका अर्थ है यथा—मूल अर्थात् प्रधान अथवा प्रकृति, अमूलम् कारणहीन है, हेतु है—मूलाभावात्—कारणके अभावमें। जो सबका मूल है, उसका मूल कहीं भी दिखायी नहीं देता। फलमें प्रधानका नित्यत्व प्रतिपादित हुआ है। *'न परिच्छिन्नम् सर्वोपादानम्'* और इन दोनों सूत्रों द्वारा प्रधानका विभुत्व भी कहा गया है। *'मूल प्रकृतिरविकृतिः'* इत्यादि ईश्वरकृष्णकी कारिका एक प्रकारसे व्याख्यात ही है (और व्याख्यासे प्रयोजन नहीं है, यथा—मूलप्रकृति विकृतिसे रहित है। महदादि प्रकृतिकी सात विकृति हैं। सोलह तो विकार हैं किन्तु पुरुष न प्रकृति है और न विकृति।) *'सा खलु प्रकृतिरित्यादि'* में 'सा' का अर्थ है—वह नित्यविकारमयी है क्योंकि प्रत्येक सृष्टिमें ही सजातीय परिणाम होता है। *'तत्कार्येणानुमीयते'* इति में 'तत्' का अर्थ है—वह प्रधान कार्य द्वारा अनुमित होता है, जैसा कि कपिल कह रहे हैं—स्थूल पञ्चमहाभूतसे सूक्ष्म महाभूत अर्थात् पञ्च तन्मात्राओंका एवं बाह्य तथा

आभ्यन्तर इन्द्रियोंका और पञ्च तन्मात्राओंसे अहङ्कारका, अहङ्काररूप कार्य द्वारा अन्तःकरणका अर्थात् महत् नामक बुद्धितत्त्वका महतत्त्व नामक कार्यसे प्रकृतिका अनुमान होता है। *'सप्ततपरार्थत्वादिति'*— जो कि कपिलने *'संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य'* यह सूत्र कहा है। इसका तात्पर्य है—जिस प्रकार शय्यादि समष्टि (सप्तत) पर-प्रयोजनमें लगे हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार प्रधान और महदादि समष्टि दूसरोंके प्रयोजनमें लगते हैं किन्तु पुरुष ही केवल संहत नहीं है (दूसरोंसे जुड़ा हुआ नहीं है)। *'प्रकृत्यौदासीन्यवपुरिति'* सूत्रका अर्थ है—प्रकृतिमें पुरुषका जो औदासीन्य है, वही उसकी मुक्ति है—*'त्रिविधमित्यादि'* का अर्थ है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दस्वरूप प्रमाण तीन प्रकारके हैं, अधिक नहीं। इन तीन प्रमाणोंमें ही उपमान, अर्थापति इत्यादि प्रमाणोंका अन्तर्भाव है, यह आकर ग्रन्थमें (मूल ग्रन्थमें) अनुसन्धेय है। यत्तु (किन्तु) इत्यादि—*'परिमाणात्'* सूत्रका अर्थ है—महदादि कार्यका परिमाण परिमित है, अतएव जिसका कारण परिमाण हीन विभु है, वह प्रकृति ही है। *'समन्वयात्'* सूत्रका अर्थ है—सुख, दुःख और मोह प्रधानके धर्म हैं, वे प्रधानके कार्य महदादिमें अनुसृत (पीछे-पीछे चलनेवाले) हैं—इसलिए प्रधान ही उनका कारण है। इसका ही परिचय देते हैं—*'शक्तितश्च'* सूत्र द्वारा। इसका अर्थ है—कारणकी शक्ति द्वारा कार्यकी प्रवृत्ति होती है, महदादि प्रकृतिके अनुसार कार्य उत्पन्न होता है, ऐसा न हुआ अर्थात् शक्तिहीन होनेपर तो कार्य उत्पन्न ही नहीं होगा। अतएव जिसकी शक्तिसे कार्य उत्पन्न होता है वही उसका कारण होता है, फलस्वरूप यह प्रधान ही है। 'तत्रेति' इस प्रकार जगत्का निमित्तकारण और उपादानकारणरूप फल सिद्ध होता है। फल जननमें वृक्षका कर्त्तृत्व और चलनेमें जलका कर्त्तृत्व है, अतएव उपादानकारणत्व और निमित्तकारणत्व दोनों प्रधानके ही हैं। इस प्रकारसे पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर 'रचना' इत्यादि समाधान सूत्र हैं—

१—रचनानुपपत्तेरित्यधिकरणम्

कपिलके निरीश्वर सांख्य-मतका खण्डन

सूत्र—रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्॥ १॥

सूत्रार्थ—नानुमानम् जगत्के हेतुरूपमें जिस जड़-प्रधानका अनुमान किया जाता है, वह सङ्गत नहीं है अर्थात् प्रधान जगत्का उपादान भी नहीं है और निमित्त-कारण भी नहीं है। कारण क्या है? उत्तर है रचनानुपपत्तेः—चेतन पदार्थ द्वारा अनधिष्ठित कोई भी जड़-पदार्थ विचित्र जगत्की रचना नहीं कर सकता, 'च' शब्दके द्वारा कहा गया है कि कार्य (जगत्-रचना) में कारण प्रकृतिका अन्वय भी नहीं है॥ १॥

सूत्रानुवाद—अनुमित प्रधान जगत्का कारण नहीं है, क्योंकि प्रकृतिके स्वभावके ज्ञाता चेतनसे अनधिष्ठित प्रधान इस विचित्र अद्भुत जगत्की रचनामें समर्थ नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है॥ १॥

गोविन्दभाष्य—अनुमीयते जगद्धेतुतयेत्यनुमानं जडं प्रधानम्। तन्न जगदुपादानं न च तन्निमित्तम्। कु
तेनासिद्धेरित्यर्थः। न खलु चेतनानधिष्ठितैरिष्टकादिभिः प्रासादादिरचना सिद्धा लोके। च-शब्देनान्वयानुपपत्तिः समुच्चिता। न हि बाह्या घटादयः सुखादिरूपतयान्विताः। सुखादीनामान्तरत्वात् घटादीनां सुखादिहेतुत्वात् तद्रूपत्वाप्रतीतेश्च॥ १॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*अनुमानम्* जगत्के हेतु रूपमें जिस जड़-प्रकृतिका अनुमान किया जाता है, वह जड़-प्रकृति जगत्का उपादान-कारण भी नहीं है और निमित्त-कारण भी नहीं है। किस कारणसे? वही बताते हैं *रचनानुपपत्तेश्च* अर्थात् किसी चेतन पदार्थके अधिष्ठानके बिना इस जड़-प्रधान इस विचित्र जगत्की सृष्टि सिद्ध नहीं हो सकती। इसका निदर्शन है—इष्टक (ईंट) इत्यादि प्रासाद-निर्माणके उपकरण रहनेपर भी चेतन शिल्पीकी परिचालनाके बिना इष्टक प्रासादका निर्माण सम्पन्न नहीं कर सकता। और भी एक हेतु है—कारणकी अनुवृत्ति कार्यमें होती है, यह जो कहा गया है, उसकी भी अनुपपत्ति (अप्रामाणिकता) है। सूत्रस्थ 'च' से यही प्रदर्शित हुआ है कि वह भी अनुपपन्न है अर्थात् यही कार्यका कारण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ—बाह्य घटादि वस्तुएँ कभी भी सुखादि स्वरूप द्वारा अन्वित नहीं हैं, क्योंकि सुख-दुःख-मोह अन्तःकरणके धर्म हैं। घट इत्यादिका सुखादिके कारण रूपमें जो सुखादि रूपत्व कहा

गया है तो वैसा भी नहीं है। क्योंकि घटादिकी सुखरूपतामें प्रतीति सिद्ध नहीं होती॥ १ ॥

सूक्ष्मा-टीका—रचनेति। विचित्रेति। लोके विचित्राः प्रासादादयो विचित्रशिल्प-विषयकेण ज्ञानेन रच्यमाना दृष्टा इत्यर्थः। तद्रूपत्वेति। सुखादिरूपत्वानवगमादित्यर्थः॥ १ ॥

सूक्ष्मा-सार—भाष्य है—*विचित्र जगद्रचनायामित्यादि*—लौकिक व्यापारमें देखा जाता है कि विचित्र शिल्प विषयक ज्ञान द्वारा विचित्र राज-प्रासादादिकी रचना होती है। *तद्रूपत्वाप्रतीतेश्च* इति अर्थात् घटादिके सुखादिस्वरूपत्वसे अवगत भी हुआ नहीं जाता, यह कारण भी है॥ १ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—वर्त्तमान पादमें सर्वप्रथम भाष्यकारने सूत्रकर्त्ताकी स्तुतिरूप मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थकी सूचना दी है, प्रथम पादमें विभिन्न मतवादियोंके द्वारा उद्भावित दोषोंका निरसन करते हुए प्रस्तुत पादमें सभी पर-पक्षके दोषोंका प्रदर्शन करके स्वपक्ष दृढ़ किया है, जिससे लोग प्रकृत वैदिक पथका परित्याग करके निरीश्वरवादियोंके कु

दोषोंका उद्घाटन करना आवश्यक है। कपिल, बुद्ध, जैन इत्यादि नास्तिकगण स्पष्ट रूपसे ही जगत्को अनीश्वर कहते हैं और कणाद, पतञ्जलि इत्यादि आपात दृष्टिसे (ऊपर-ऊपरसे) ईश्वरवादी रूपमें प्रतीत होनेपर भी वैदिक सिद्धान्तानुयायी ईश्वरको स्वीकार नहीं करते, इसलिए वे निरीश्वर रूपमें ही प्रमाणित होते हैं। परम करुणामय श्रीव्यासदेवने जीवोंका उद्धार करनेकी इच्छासे और समस्त कु
रक्षा करनेके लिए इस सद्युक्तिपूर्ण वेदान्त-शास्त्रका प्रणयन किया था। अब प्रस्तुत पादमें वे सांख्याचार्य निरीश्वर कपिल-मतका खण्डन करनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं। भाष्यकार आचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने अपने भाष्य और टीकाकी अवतरणिकामें सांख्य-मतका उल्लेख करते हुए उसका खण्डन दिखाया हैं। सांख्यमें वर्णित विषयोंको अनुवादमें भी प्रकाशित किया है, यह वहीं देखना चाहिये।

प्रकृतिवादी सांख्यकारने *परिमाणात्* (सां०सू० १/१३०), *समन्वयात्* (सां०सू० १/१३१) और *शक्तितः* (सां०सू० १/१३२) इत्यादि सूत्रोंके

द्वारा प्रधानको ही इस जगत्के कारण रूपमें अनुमान किया था, उसका निरास होनेपर उनका समस्त मत खण्डित हो जायेगा। अब प्रधान जगत्का निमित्त और उपादान कारण हो सकता है कि नहीं? इस प्रकारके संशय-स्थलपर वे कहते हैं—प्रधान ही जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। युक्तिस्वरूपमें उनका कहना है कि—जगत्का सात्त्विकादि रूप है और प्रधानका भी सत्त्वादि रूप है, इसलिए जगत्का उपादान प्रधान है, यह अनुमान किया जाता है। जिस प्रकार घटादि कार्यके उपादानरूपमें उसकी सजातीय मृत्तिका ही दिखायी देती है। यदि कहो कि प्रकृति जड़ है, अतः उसका कर्त्तृत्व किस प्रकारसे सम्भव है? इसके उत्तरमें कहते हैं—जिस प्रकार 'वृक्ष फलता है', 'जल चलता है'—अतः प्रकृति जड़ होनेपर भी जगत्का कर्त्ता अथवा निमित्त कारण हो सकती है। कपिलमत इस प्रकारसे सुस्थिर होनेपर लोगोंके लिए यह आपाततः युक्तियुक्त दिखाया जा रहा है, पर वास्तवमें यह है भ्रमात्मक। इसीको दिग्दर्शित करनेके लिए सूत्रकार कह रहे हैं—जगत्के हेतु रूपमें प्रधानका अनुमान करना असङ्गत है। इसका कारण यह है कि किसी चेतनके अधिष्ठानके बिना केवल जड़ द्वारा विचित्र जगत्की रचना सम्भव (सिद्ध) नहीं हो सकती। दृष्टान्त-स्थलपर कहा गया है कि किसी गृहादिका निर्माण-कार्य केवल ईंटके द्वारा सम्भव होता नहीं देखा गया, इसमें किसी चेतन शिल्पीके कर्त्तृत्वका प्रयोजन रहता ही है, इसी प्रकार चेतनके अधिष्ठानके बिना प्रधानका भी जगत्-कर्त्तृत्व सम्भव नहीं होता। प्रकृतिवादी और एक युक्ति दिखा रहे हैं कि कारणकी अनुवृत्ति कार्यमें रहती है (जैसा कारण होता है, वैसा कार्य होता है), पर वह भी अप्रामाणिक हो पड़ता है। इसका कारण यह है कि बाह्य घटादि सुख-दुःखादिके द्वारा अन्वित नहीं हैं; क्योंकि सुखादि अन्तःकरणके धर्म हैं—बाह्य वस्तुमें उनकी सङ्गति असम्भव है। अर्थात् बाहरकी वस्तुमें वे कभी भी रहते नहीं। अतएव घटादिके सुखादिके हेतुत्वसे सुखादि रूपताकी प्रतीति भी सम्भव नहीं है।

ऐसी अवस्थामें यही स्थिर सिद्धान्त है कि श्रीभगवान्के कर्त्तृत्वके बिना अर्थात् उपादान कारणता और निमित्त कारणताके बिना

जड़-प्रकृति इस विचित्र जगत्-सृष्टिका एकमात्र कारण नहीं हो सकती।

इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

अस्राक्षीद्भगवान् विश्वं गुणमय्याऽऽत्ममायया।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति॥

(श्रीमद्भा॰ ३/७/४)

अर्थात् श्रीभगवान् त्रिगुणात्मक निजमायाके द्वारा अर्थात् अपनी बहिरङ्गाशक्तिके द्वारा इस विश्वकी सृष्टि करते हैं, उसीसे पालन करते हैं और इसे अपनेमें लीन कर लेते हैं।

और भी द्रष्टव्य है—

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयी विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/४)

अर्थात् उन्हीं कारणार्णवशायी प्रथम पुरुषावतारकी शक्तिरूपिणी अव्यक्ता त्रिगुणमयी प्रकृतिके लीलावशतः उनके समीप उपस्थित होनेपर उन्होंने स्वेच्छासे उसे बहिरङ्गारूपमें ग्रहण कर लिया, अर्थात् दूरसे ही उसमें ईक्षण (जीवशक्तिरूप वीर्याधान) करके इस जगत्की सृष्टि की।

इस प्रसङ्गमें निम्नलिखित श्लोक भी आलोच्य हैं—

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/१९)

जीवोंके अदृष्टवश क्षोभधर्मको प्राप्त सम्पूर्ण जीवोंके उत्पत्ति-स्थान प्रकृतिमें जब परमपुरुष परमात्माने चिद्रूप जीवशक्तिका आधान किया, उससे ही प्रकाश बहुल तेजोमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ।

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः।
पारतन्त्र्याद्वैसादृश्याद्द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८५/६)

क्रियाशक्ति प्रधान प्राण आदिमें जो जगत्‌की वस्तुओंकी सृष्टि करनेकी सामर्थ्य है, वह उनकी अपनी सामर्थ्य नही आपकी ही है। क्योंकि वे आपके समान चेतन नही, अचेतन हैं स्वतन्त्र नहीं, परतन्त्र हैं। वायुकी शक्तिके द्वारा जिस प्रकार तिनके आदि उड़ा करते हैं और पुरुषकी शक्तिके द्वारा जैसे बाणकी गति देखी जाती है, उसी प्रकार परमेश्वरकी शक्तिसे ही प्राणादि पदार्थोंकी केवल चेष्टा देखी जाती है, इनकी कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं होती।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी द्रष्टव्य है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥

(श्रीगीता ९/१०)

इस श्लोककी टीकामें श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्तीपादने लिखा है—श्रीभगवान् कहते हैं—*'मया'* इत्यादि *'अध्यक्षेण मया'*—निमित्तमात्र मेरे द्वारा प्रकृति समग्र चराचर जगत्‌को प्रसव करती है। यहाँ मेरी अध्यक्षतामात्र है, जिस प्रकार अम्बरीषादि राजाओंकी प्रकृति (प्रजा) ही राजकार्योंका निर्वाह करती है, यहाँ उदासीन राजा सत्तामात्र हैं; जिस प्रकार उनके राजा सिंहासनकी सत्ता मात्रके बिना प्रकृति या प्रजागण कु

अध्यक्षताके बिना जड़-प्रकृति भी कु

'अनेक हेतुना' अर्थात् मेरे अधिष्ठान द्वारा यह जगत् पुनः-पुनः प्रादुर्भूत होता है।

श्वेताश्वतरोपनिषदमें द्रष्टव्य है—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

(श्वे॰ ४/९-१०)

अर्थात् मायाके अधीश्वर, प्रकृतिके परिचालक भगवान् मायाशक्तिके द्वारा इस विश्व-समुदायका सृजन करते हैं। उनकी मायासे आबद्ध होकर जीव इस सृष्ट विश्वमें दृढ़ रूपसे रुद्ध हैं। श्रीभगवान्‌की तीन

शक्तियाँ हैं, यथा—अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति, बहिरङ्गा माया अथवा प्रकृति शक्ति और तटस्था नामकी जीवशक्ति। इसमें त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको मायाके रूपमें जानना होगा और परमेश्वरको मायी अर्थात् मायाके अधीश्वर रूपमें जानना चाहिये। उन स्वरूपशक्तिमान परमेश्वरके विभिन्नांश जीवोंके द्वारा यह जड़-जगत् व्याप्त है।

इसी प्रकार—ऐतरेयोपनिषदमें भी पाया जाता है—

स ईक्षत लोकान् नु सृजा इति।

(ऐ० १/१/१)

उसने यह सोचा कि 'लोकोंकी रचना करूँ।'

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

पुरुष ईश्वर ऐछे द्विमूर्त्ति हइया।
विश्व सृष्टि करे, 'निमित्त' 'उपादान' लइया॥

आपने पुरुष—विश्वेर 'निमित्त' कारण।
अद्वैत रूपे 'उपादान' हन नारायण॥

'निमित्तांशे' करे तेहो मायाते ईक्षण।
'उपादान' अद्वैत करेन ब्रह्माण्ड सृजन॥

यद्यपि सांख्य माने 'प्रधान' कारण।
जड़ हइते कभु नहे जगत्-सृजन॥

निज सृष्टिशक्ति प्रभु सञ्चारि प्रधाने।
ईश्वरेर शक्त्ये तबे त निर्माणे॥

(चै०च०आ० ६/१५-१९)

अर्थात् जिस प्रकार प्रकृतिके निमित्त और उपादान दो भाग होते हैं, उसी प्रकार पुरुष महाविष्णुके रूपमें निमित्त और अद्वैतके रूपमें उपादान—इन दो मूर्त्तियोंसे विश्वकी सृष्टि करते हैं। माया अंशमें अर्थात् गुणरूप अंशसे जो निमित्त कहे जाते हैं, उनमें नारायण ही निमित्त-कारण हैं। कारणाब्धिशायी पुरुष दूरसे मायाके प्रति दृष्टि करते हैं और निमित्त-कारण होकर प्रकृतिको क्षुभित करते हैं। वे ही श्रीअद्वैत रूपसे विश्वके उपादान-कारण होकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करते हैं। उपादानके मूलाश्रय श्रीकृष्णको विस्तृत

करके ही सांख्य-शास्त्रमें प्रकृतिमें उपादानत्वका आरोप किया गया है। वस्तुतः इस प्रधानमें भगवान्‌के द्वारा उपादानत्व निहित किया गया है, भगवान्‌से पृथक् परिचयमें प्रधान इस वैचित्र्यमय जगत्‌की सृष्टि करनेमें समर्थ नहीं हैं। महाविष्णु अपनी सृष्टि-शक्तिको गुणमायामें सञ्चरित करते हैं—तभी वह सृष्टि-निर्माणमें समर्थ होती है।

और भी,

जगत् कारण नहे प्रकृति जड़रूपा।
शक्ति सञ्चारिया तारे कृष्ण करे कृपा॥

कृष्ण शक्त्ये प्रकृति हय गौण कारण।
अग्निशक्त्ये लौह यैछे करये जारण॥

अतएव कृष्ण मूल—जगत् कारण।
प्रकृति कारण—यैछे अजागलस्तन॥

(चै०च०आ० ५/५९-६१)

मायाकी दो प्रकारसे अवस्थिति है—जगत्‌का उपादानरूप प्रधान और जगत्‌का निमित्तरूप माया। प्रकृति वास्तवमें जड़रूपा है। भगवदीक्षण-शक्तिका सञ्चारित होनेपर प्रकृति उस शक्तिके आधारपर जगत्-सृष्टिका गौण कारण उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार अग्निकी शक्तिसे लौहमें जागर (जलानेकी) शक्ति आ जाती है। अतः कृष्ण ही जगत्‌के मूलकारण हैं। अजागलस्तन (बकरीके गलेमें पड़े रहनेवाले स्तन) प्रकृतिका द्रव्यरूपमें कारणत्व है। यह माँसपिण्डके समान दुग्ध प्रदान करनेमें असमर्थ होनेसे निष्फल ही है॥ १॥

जड़के कर्त्तृत्ववादका खण्डन

सूत्र—प्रवृत्तेश्च॥ २॥

सूत्रार्थ—'प्रवृत्तेः' जड़-पदार्थ चेतन पदार्थ द्वारा अधिष्ठित हो जाये, 'च' तभी उसकी चेष्टा सम्भव है। अतएव जड़-प्रधान जगत्-सृष्टिकर्त्ता हो नहीं सकता॥ २॥

सूत्रानुवाद—जगत्-रचनाके लिए अचेतन प्रधानकी स्वतः प्रवृत्तिकी उपपत्ति (सिद्धि) भी नहीं होती॥ २॥

गोविन्दभाष्य—जडस्य चेतनाधिष्ठितत्वे सतीति शेषः यस्मिन्नधिष्ठातरि सति जडं प्रवर्त्तते तस्यैव सा प्रवृत्तिरिति निश्चितं रथसूतादौ। इत्थञ्च फलतीत्यादिकं प्रत्युक्तम्। तत्रापि चेतनाधिष्ठितत्वात् तच्चान्तर्यामिब्राह्मणात्। एतत् परत्र स्फु (बृ॰आ॰ ३/७/२२) चोऽवधारणे। अहं करोमीति चेतनस्यैव प्रवृत्तिदर्शनात् जडस्य कर्त्तृत्वं नेति वा। ननु प्रकृतिपुरुषयोः सन्निधिमात्रेण मिथो धर्माध्यासात् (सां॰सू॰ २/५) जगद्रचनोपपत्तिरिति चेदुच्यते—अध्यासहेतुः सन्निधिः, किं तयोः सद्भावः? किंवा प्रकृतिपुरुषगतः कश्चिद्विकार इति? नाद्यः, मुक्तानामप्यध्यासप्रसङ्गात्। अन्त्योऽपि न तावत् प्रकृतिगतो विकारः, अध्यासकार्यतयाभिमतस्य तस्याध्यास-हेतुत्वायोगात्; न च पुरुषगतः, अस्वीकारात्॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सूत्रमें *'जडस्य चेतनाधिष्ठितत्वे सति'* (जड़-वस्तुके चेतन वस्तुके द्वारा अधिष्ठित होनेपर) इस वाक्यांशका अध्याहार करना (सूत्रार्थको पूरा करनेके लिए किसी अनुवृत्तको जोड़ना) होगा। अतएव समुदायार्थ होता है—चेतनके द्वारा सञ्चालित होनेपर ही जड़-वस्तुकी चेष्टा (प्रवृत्ति) है, अतएव जो अधिष्ठाता होनेके कारण जड़-कार्य करता है, वह चेष्टा उस अधिष्ठाताकी है। यह उसी प्रकार निश्चित है, जिस प्रकार रथकी गमनादि चेष्टा स्वतः नहीं है, किन्तु सारथिके अधिष्ठानमें ही उसकी प्रवृत्ति सिद्ध होती है। इसी प्रकार 'वृक्ष फल प्रसव करता है', 'जल चलता है' इत्यादि स्थलोंपर जड़का कर्त्तृत्ववाद खण्डित हुआ है। इस प्रधानके कर्त्तृत्व विषयमें भी उसका (प्रधानका) चेतनके द्वारा अधिष्ठित है (अतएव प्रधान जगत्-कर्त्ता नहीं है), अन्तर्यामी ब्राह्मण-वाक्यसे इससे अवगत हुआ जा सकता है। ये सब बातें बादमें विस्तारसे स्पष्ट होंगी। सूत्रस्थ 'च' शब्दका अर्थ अवधारण है अर्थात् प्रवृत्तिवश प्रधान जगत्-कर्त्ता नहीं है! इस सूत्रकी अन्य प्रकारसे भी व्याख्या की जाती है। यथा—'मैं कर रहा हूँ' कहनेपर किसी चेतन पदार्थकी प्रवृत्ति देखी जाती है, अतएव जड़का कर्त्तृत्व सङ्गत नहीं हो सकता है। यदि कहो, प्रकृति और पुरुषकी जिस परस्पर सन्निधिसे (एक-दूसरेकी निकटतासे) परस्पर धर्मका अध्यास है और उस अध्यासवश जगत्की सृष्टि होती है, तो इसमें अनुपपत्ति (अप्रामाणिकता) क्या है? इसका उत्तर कह रहे हैं—तुम जिस सन्निधिको अध्यासका (असत्-वस्तुमें सत्-वस्तुका आरोप) कारण कह रहे हो, वह सन्निधि किसके बलपर

है? क्या वह प्रकृति और पुरुषकी सत्ता (सद्भाव) है? अथवा प्रकृति और पुरुषनिष्ठ कोई विकार (अवस्थान्तर) है? इसमें प्रथम सत्ता अर्थात् सद्भावको अध्यासका हेतु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा स्वीकार करनेसे मुक्त पुरुषोंका भी अध्यास प्रसङ्ग हो पड़ेगा। दूसरे पक्ष अर्थात् प्रकृति और पुरुषनिष्ठ विकारको भी सन्निधि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रकृतिगत विकारको अध्यासका कारण कहनेपर जो देहादि प्रकृति विकार अध्यासके कार्यरूपमें स्वीकृत हैं, वे उस अध्यासका कारण किस प्रकार होंगे? पुनः पुरुषगत विकार भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पुरुषको तो निर्विकार रूपमें सुना जाता है, उनका विकार स्वीकृत नहीं है। अतः प्रधानका जगत्-कारणत्व असिद्ध होता है॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रवृत्तेरिति। इत्थञ्चेति जडस्य कर्त्तृत्वं क्षतमित्यर्थः। व्याख्यान्तर-माह अहमित्यादिना। आशङ्कते नन्विति। तस्येति प्रकृतिगतविकारस्येत्यर्थः॥ २॥

सूक्ष्मा-सार— *'इत्थेञ्चेत्यादि'*—इस प्रकार जड़-प्रधानका जगत् कर्त्तृत्ववाद खण्डित हुआ। *'प्रवृत्तेश्च'* सूत्रकी अन्य व्याख्या *'अहं करोमीत्यादि'*—'मैं कर रहा हूँ' वाक्य द्वारा कर रहे हैं। 'ननु' इत्यादि वाक्यसे आशङ्का कर रहे हैं— *'अध्यासकार्यतयाभिमतस्य'*—इस वाक्यांशमें 'तस्य' का अर्थ है—प्रकृतिगत विकारका अध्यासमें कारणत्व हो नहीं सकता॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—भाष्यकार कह रहे हैं कि सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें यह निर्धारित किया है कि चेतन द्वारा अधिष्ठित न होनेपर जड़-प्रकृतिमें किसी भी प्रकारकी चेष्टाके उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं है। चेतनका आश्रय करनेपर ही जड़की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः उसके द्वारा अधिष्ठित जड़ जो कार्य कर सकता है, वह कार्य अथवा चेष्टा उस अधिष्ठाताकी है, यथा रथचालक द्वारा रथमें अधिष्ठान करनेपर ही रथकी गमनादि चेष्टा सिद्ध होती है। इसीके द्वारा पूर्वपक्षवादीके पूर्वोक्त 'जलका चलन', 'वृक्षका फलन' इत्यादिके द्वारा जो जड़का कर्त्तृत्ववाद स्थापित किया था, वह निरस्त हो जाता है। इस प्रकारसे इस स्थलपर भी जड़-प्रकृतिके कर्त्तृत्व

विषयमें चेतनका अधिष्ठान स्वीकार करना होगा। अन्तर्यामी ब्राह्मणमें भी प्रमाण है। दूसरी व्याख्यामें कहा गया है कि 'मैं कर रहा हूँ' इत्यादि वाक्यमें चेतनकी ही प्रवृत्ति देखी जाती है। पूर्वपक्षवादी यदि कहते हैं कि प्रकृति और पुरुषकी सन्निधिवश परस्पर धर्माध्यासके कारण जगत् रचना होती है, तो इस प्रकारका अध्यासवाद स्वीकार करनेपर पहले तो मुक्तपुरुषमें ही अध्यासका प्रसङ्ग आ जाता है। दूसरी बात यह है कि प्रकृति-विकार स्वीकार करनेपर यह दोष होता है कि जिसे अध्यासके कार्यरूपमें स्वीकार किया है, उसीको पुनः कारण रूपमें स्वीकार कैसे किया जाय? पुरुषगत विकार तो पहले सम्भव ही नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुषको निर्विकार कहा गया है। पुरुषकी निर्विकारता श्रुति-स्वीकृत है। इस प्रकार यह अध्यासवाद भी असङ्गत है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरूपाविशत्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/५०)

अर्थात् ये सब महत्तत्त्व इत्यादि सप्ततत्त्व जिस समय परस्पर अमिलित अवस्थामें अवस्थित थे, उस समय उनके द्वारा सृष्टि कार्योपपत्ति असम्भव होनेपर जगत्के आदिपुरुष श्रीभगवान्ने काल, कर्म एवं गुणयुक्त होकर उनके अभ्यन्तरमें प्रवेश किया। इसके बाद उस भगवत्-प्रवेशके कारण ये सब तत्त्व स्फु
मिलित हुए।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

माया यैछे दुइ अंश—निमित्त, उपादान।
'माया'—निमित्त-हेतु, उपादान—प्रधान॥

पुरुष ईश्वर ऐछे द्विमूर्त्ति हइया।
विश्वसृष्टि करे 'निमित्त' उपादान लइया॥

(चै॰च॰आ॰ ६/१४-१५)

अर्थात् जैसे माया 'निमित्त' और 'उपादान' दो अंशों अर्थात् माया 'निमित्त'-कारण-स्वरूप और उपादान 'प्रधान' है, वैसे ही पुरुष-ईश्वर दो मूर्त्ति होकर निमित्त और उपादानके द्वारा विश्वकी सृष्टि करते हैं। जैसे प्रकृतिमें 'निमित्त' और 'उपादान' दो भाग हैं, वैसे ही कारणसमुद्रशायी पुरुष 'महाविष्णु' के रूपमें 'निमित्त' कारण एवं 'श्रीअद्वैत' के रूपमें 'उपादान' कारणसे इन दो मूर्त्तियोंके द्वारा विश्वकी सृष्टि करते हैं॥ २॥

अवतरणिका भाष्य—ननु पयो यथा दधिभावेन स्वतः परिणमते—यथा चाम्बु वारिदमुक्तमेकरसमपि तालचूतादिषु मधुराम्लादिविचित्ररसरूपेण (सां॰का॰ १६) तथा प्रधानमपि पुरुषकर्मवैचित्र्यात् तनुभुवनादिरूपेणेति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का है—जिस प्रकार दूध स्वयं ही दही रूपमें परिणत होता है अथवा जिस प्रकार मेघसे गिरा हुआ जल एक ही रससे सम्पन्न होकर भी आम, ताल इत्यादि पर गिरकर मधुर, अम्ल इत्यादि विचित्र रसोंमें परिणत होता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुषके कर्म-वैचित्र्यके अनुसार जीव, शरीर (देहगेह) और भुवन (जगदादि) रूपमें परिणत होती है—इस संशयपर कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। स्पष्टम्॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—स्पष्ट है॥

सूत्र—पयोऽम्बुवच्चेत् तत्रापि॥ ३॥

सूत्रार्थ—'चेत्' यदि कहो, 'पयोऽम्बुवत्' दूध एवं जलके परिणामके समान प्रकृतिका भी विचित्र परिणाम है, तो इसका उत्तर है 'तत्रापि'—वहाँ भी चेतनका अधिष्ठान होनेसे इस दूध और मेघोदककी विचित्र कार्यकारिता है, स्वतः नहीं॥ ३॥

सूत्रानुवाद—जड़-प्रधान बिना चेतनके जगत् रूपमें परिणत होता है, तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि क्षीर आदिकी भी चेतनमें अधिष्ठानके बिना प्रवृत्ति नहीं होती॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—तयोः पयोऽम्बुनोरपि चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिः, न तु स्वतः रथादिदृष्टान्तेन तथानुमानात्। तयोस्तदधिष्ठितत्वं चान्तर्यामिब्राह्मणात् सिद्धम्॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ये दूध और मेघोदक चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर ही विचित्र कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, स्वभावगत उनकी प्रवृत्ति नहीं है। अर्थात् वे अपने आप प्रवर्त्तक नहीं बन सकते। रथ इत्यादि दृष्टान्तोंमें भी चेतनाधिष्ठितत्व अनुमानित होता है। मात्र इतना ही नहीं, अन्तर्यामी ब्राह्मणात्मक श्रुतिसे भी दूध एवं मेघोदक दोनों जड़-वस्तुओंका चेतनाधिष्ठितत्व प्रमाणित होता है॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—पय इति। पयो दुग्धम्॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार—पयका अर्थ है दूध॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी यदि कहें कि जिस प्रकार दूध स्वभावतः दही रूपमें परिणत होता है और मेघमुक्त (मेघसे गिरा हुआ) जल जिस प्रकार एकरस होकर भी ताल, आम्र इत्यादि वृक्षोंके ऊपर पतित होकर मधुर एवं अम्लादि विचित्र रसोंमें परिणत होता है, उसी प्रकार प्रधान भी पुरुषके कर्म-वैचित्र्यसे विभिन्न शरीर एवं गृहादि रूपमें परिणत होता है। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि वहाँ भी चेतनका अधिष्ठान होनेसे इस दूध और मेघ-निःसृत जलकी कार्यमें प्रवृत्ति है, स्वतः अर्थात् स्वभावसे नहीं। क्षीर एवं नीरका चेतनाधिष्ठितत्व अन्तर्यामी ब्राह्मणमें प्रसिद्ध है—*'योऽप्सु तिष्ठन्'* इत्यादि। अर्थात् वत्सके पालन-पोषणके निमित्त धेनु क्षीरको प्रवृत्त कराती है। द्रव (तरल) पदार्थ होनेसे, बछड़ोंके चूसनेसे दूध क्षरित होता है। जल भी चेतनसे अधिष्ठित होनेसे निम्न देशकी अपेक्षासे द्रव (तरल) पदार्थ होनेके कारण स्यन्दित (तीव्रतापूर्वक गतिवान्) होता है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

कालवृत्त्यात्ममायायां गुणमय्यामथोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात्।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/५/२६-२७)

चिच्छक्तियुक्त अतीन्द्रिय पुरुष भगवान्ने कालशक्ति द्वारा क्षोभित अपनी बहिरङ्गाशक्ति मायामें अपने अंश पुरुष रूपसे उसमें चिदाभासरूप

बीज स्थापित किया। इसके बाद कालके द्वारा प्रेरित अव्यक्त मायासे तमका नाश करनेवाला, विशिष्ट ज्ञानस्वरूप महत्-तत्त्व आविर्भूत हुआ। वह अपनेमें सूक्ष्म रूपसे स्थित विश्वको प्रकाशित करके विराजित हुआ (जिस प्रकार बीजगत अङ्कुर विशाल वृक्षको प्रकटित करता है)।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी द्रष्टव्य है—

मायार ये दुइ वृत्ति—माया आर प्रधान।
माया निमित्त हेतु विश्वेर, प्रकृति उपादान॥

सेइ पुरुषा मायापाने करे अवधान।
प्रकृति क्षोभित करि करे वीर्य्येर आधान॥

स्वाङ्ग—विशेषाभास रूपे प्रकृति स्पर्शन।
जीवरूप बीज ताते कैल समर्पण॥

तबे महत्तत्त्व हइते त्रिविध अहङ्कार।
याहा हइते देवतेन्द्रियभूतेर प्रचार॥

(चै॰च॰म॰ २०/२७१-२७३, २७५)

अर्थात् इस मायाकी दो वृत्तियाँ हैं—माया और प्रधान। मायासे तात्पर्य है जीवमाया और प्रधानसे तात्पर्य है गुणमाया। जीवमाया जगत्का निमित्त-कारण है और गुणमाया उपादान-कारण। अधोक्षज भगवान्के प्रथम पुरुषावतार कारणाब्धिशायी महाविष्णु जब दूरसे मायाके प्रति ईक्षण करते हैं, उस ईक्षणके प्रभावसे भगवान् संभुक्ता मायामें चिदाभासमय जीव-शक्तिरूप वीर्यका आधान करते हैं। इससे माया क्षोभको प्राप्त करती है। महाप्रलयमें प्रकृतिके तीनों गुण जो साम्यावस्थामें रहते हैं, वे पुरुषके ईक्षणसे शक्ति प्राप्तकर साम्यावस्थामें नहीं रहते और तभी पुरुष सृष्टिके मूल बीज (वीर्य या मूल उपादान) का आधान करते हैं। गुणमायासे तात्पर्य है अव्यक्त प्रकृति। जो जीव अविद्या काम-कर्मके द्वारा प्रलयकालमें अव्यक्त प्रकृतिमें विलीन हो गये थे, उन कर्मानुयायी जीवोंको सृष्टिके समय पुनः इस कर्मक्षेत्रमें भेजते हैं तथा मायामें प्रवेश कराते हैं। कारणाब्धिशायी पुरुष प्रकृतिका साक्षात् रूपसे स्पर्श नहीं करते, अपितु अपने अङ्ग

विशेष नेत्रोंके आभास अथवा ज्योतिसे प्रकृतिको स्पर्श करते हैं। क्षुभिता प्रकृतिमें ही जीवरूप मूल उपादानको समर्पण करते हैं। तब प्रकृतिकी परिणतिरूप महत्तत्त्वसे त्रिविध अहङ्कारकी उत्पत्ति होती है। इस त्रिविध अहङ्कारसे देवता, इन्द्रिय और भूत प्रकाशित होते हैं अर्थात् सात्त्विक अहङ्कारसे कर्मेन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता, राजसिक अहङ्कारसे दसों इन्द्रियाँ एवं तामसिक अहङ्कारसे पाँचों भूत प्रकटित होते हैं॥ ३॥

सूत्र—व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्॥ ४॥

सूत्रार्थ—केवल प्रधानका अर्थात् चेतन द्वारा अनधिष्ठित प्रकृतिका 'व्यतिरेक'—अपनेसे भिन्न (सृष्टिसे व्यतिरिक्त) अन्य कारणकी 'अनवस्थितेः'—सृष्टिसे पूर्व प्रलयकी अवस्थामें अनवस्थितिके कारण 'च' भी और 'अनपेक्षत्वात्' निरपेक्षता होनेके कारण अर्थात् अन्य किसी की अपेक्षा न रखनेके कारण प्रधानकी सृष्टिमें प्रवृत्ति कही नहीं जा सकती॥ ४॥

सूत्रानुवाद—सांख्य-मतानुसार प्रधानके अतिरिक्त कोई भी उसकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिका नियामक या प्रवर्त्तक नहीं है और प्रधानको भी किसीकी अपेक्षा नहीं है—तो भी प्रधानकी सृष्टिमें प्रवृत्ति कही नहीं जा सकती॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—अप्यर्थे चकारः। सृष्टेः प्राक् प्रधानव्यतिरेकेण हेत्वन्तरानवस्थितेरनपेक्षत्वान्न केवलस्य प्रधानस्य स्वपरिणामकर्त्तृत्वम्। प्रधानव्यतिरिक्तस्तत्प्रवर्त्तकस्तन्निवर्त्तको वा हेतुरादिसर्गात् पूर्वं नावतिष्ठते इति यत् स्वीकृतं, तस्यापि पुनरुपेक्षणात्। चैतन्यसन्निधेर्हेत्वन्तरस्याङ्गीकारादिति यावत्। तथा च केवलजडकर्त्तृत्ववादभङ्गः। किञ्च व्यतिरिक्तहेत्वभावात् सन्निधिसत्त्वाच्च प्रलयेऽपि कार्योदयप्रसङ्गः। न च तदादृष्टोद्बोधाभावात् कार्याभावः तदुद्बोधस्यापि तदैवापाद्यमानत्वात्॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'च' शब्दका अर्थ 'अपि अर्थात् समुच्चय है; इस कारण भी केवल प्रकृतिको कारण नहीं कहा जा सकता। सृष्टिके पहले प्रधानके अतिरिक्त अन्य कोई भी सृष्टिका कारण नहीं रहता। अन्य कारणकी अनवस्थिति उपेक्षित होनेसे (अर्थात् असद्भाव परित्यक्त होनेसे) केवल प्रधानका निज-परिणाम कर्त्तृत्व नहीं हो सकता

अर्थात् यह निरस्त होता है। बात यह है कि तुम जो स्वीकार करते हो कि प्रधानसे भिन्न अन्य कोई उसकी कार्य-प्रवृत्तिका कारण अथवा निवृत्तिका कारण सृष्टिके पहले विद्यमान नहीं रहता—यह स्वीकृत मत भी तो तुम्हारे द्वारा उपेक्षित हुआ है, क्योंकि उस समय चैतन्य-सम्पर्क (चैतन्य-सन्निधान) रूप अन्य हेतु रहता है, इस स्वीकृत मतको तुम भी स्वीकार करते हो, ऐसा होनेसे चेतनाधिष्ठित केवल जड़-प्रकृतिका कर्त्तृत्ववाद भङ्ग (निरस्त) हुआ न। और भी एक दोष है—प्रकृतिसे भिन्न अन्य हेतुके अभावमें और इसके बाद जब चैतन्यका सम्पर्क रहता है, उस प्रलयकालमें भी कार्योत्पत्तिका प्रसङ्ग क्यों नहीं होता अर्थात् प्रलयकालमें भी सृष्टिकार्यका आरम्भ किसलिए नहीं होता? वह भी होना चाहिये। यदि कहो कि उस समय जीवके अदृष्टका उद्‌बोध (जगना) नहीं होता अतः अदृष्टके अभावमें सृष्टि (कार्योत्पत्ति) नहीं होती तो यह भी सङ्गत नहीं है बल्कि आपत्तिका विषय है क्योंकि उस समय भी अदृष्टका उद्‌बोधन आकर उपस्थित हो सकता है॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—जडकर्त्तृत्वं मत्वा तत् पुनस्त्यज्यत इत्याह व्यतिरेकेति। उपेक्षणात् परित्यागात्॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार—जड़-कर्त्तृत्ववादको मानकर फिर उसका निरास किया गया है, यही व्यतिरेकेत्यादि सूत्र द्वारा कह रहे हैं। *'तस्यापि पुनरुपेक्षणात्'*—क्योंकि उस मतकी भी पुनः उपेक्षा की गयी है, अर्थात् उसका परित्याग किया गया है॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रकृतिवादी सांख्यकारके जड़-कर्त्तृत्ववादको पहले स्वीकार करके बादमें उसका खण्डन कर रहे हैं। इसका कारण है कि सृष्टिके पूर्व प्रधानके अतिरिक्त सृष्टिके अन्य किसी कारणकी सत्ता (विद्यमानता) की अपेक्षा न करनेसे केवल प्रधानका ही निज परिमाण-कर्त्तृत्व नहीं है। जिस कारणसे आदि सृष्टिके पूर्व प्रधानसे भिन्न उस प्रधानके प्रवर्त्तक अथवा निवर्त्तक रूप किसी कारणकी विद्यमानता स्वीकार न करके भी तुमलोग पुनः चैतन्यसम्पर्क रूप अन्य हेतुको स्वीकार करते हो, इसी कारणसे जड़-कर्त्तृत्ववाद भङ्ग

होता है। विशेषकर सृष्टिके अन्य हेतुका भी अभाव है, फिर भी सम्पर्ककी नित्य विद्यमानता स्वीकार करनेमें प्रलयकालमें भी सृष्टिका प्रसङ्ग आ पड़ता है। यदि सांख्यवादी कहते हैं कि जीवके अदृष्टका उद्‌बोध न होनेसे सृष्टिकार्य नहीं होता, तो इसके उत्तरमें कहा जाता है कि उस समय भी जीवके अदृष्टका उद्‌बोधन घटित हो सकता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीर-रय उत्तमपुरुषस्त्वम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/६/१५)

अर्थात् हे प्रभो! श्रुतियाँ आपको प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वके भी नियामक कालके रूपमें कीर्त्तन करती हैं। अतएव आप ही इस जगत्‌की सृष्टि-स्थिति-संहारके कारणस्वरूप हैं। हे देव! आप ही जगत्‌के संहार कार्यमें प्रवृत्त शीत, ग्रीष्म एवं वर्षाकालरूप त्रिनाभियुक्त संवत्सरात्मक महावेगशाली कालस्वरूप हैं, अतः आप स्वयं पुरुषोत्तम हैं।

और भी,

कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे॥
कालाद्‌गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्॥

(श्रीमद्भा॰ २/५/२१-२२)

अर्थात् मायाधीश भगवान्‌ने एकसे बहुविध होनेकी इच्छा करके यदृच्छाक्रमसे उपस्थित अपनेमें अनुस्यूत (ग्रथित) भावसे स्थित जीवके अदृष्ट, काल एवं स्वभावको सृष्टिके लिए स्वीकार कर लिया। भगवान् द्वारा कालके अधिष्ठित होनेपर उस कालसे तीनों गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न हुआ। ईश्वराश्रित स्वभावसे परिणाम अर्थात् रूपान्तर

होनेपर जीवका अदृष्ट उनके द्वारा अधिष्ठित हुआ और उससे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति हुई॥ ४॥

अवतरणिका भाष्य—ननु लतातृणपल्लवादि विनैव हेत्वन्तरं स्वभावादेव क्षीराकारेण परिणमते तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेणेति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति है यदि कहो कि गो आदि पशु द्वारा भक्षित लता, तृण, पल्लव इत्यादि जिस प्रकार बिना किसी अन्य कारणके स्वभावसे ही दुग्धादि रूपमें परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति (प्रधान) भी महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रादि रूपमें परिणत होगी। इस आपत्तिपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। तृणादिकं धेन्वा भक्षितं बोध्यम्॥ ४॥

अवतरणिकाभाष्यका टीकानुवाद—*'ननु लता तृणपल्लवादि'* अर्थात् लता, तृण, पल्लवादि धेनु द्वारा उपभुक्त होनेपर दुग्ध रूपमें परिणत होते हैं॥ ४॥

सूत्र—अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्॥ ५॥

सूत्रार्थ—दुग्धादि दृष्टान्त भी समीचीन नहीं है, क्योंकि 'अन्यत्राभावात् च' बलीवर्दादि (बैल आदि) पशुओंके तृण-पल्लवादि भक्षण करनेपर वे दुग्धाकारमें परिणत नहीं होते, 'न तृणादिवत्' इसलिए तृणादि दृष्टान्त अव्यभिचारी नहीं है॥ ५॥

सूत्रानुवाद—यदि तृणादि स्वयंमें क्षीराकारमें परिणत हो सकते, तो वृषभ द्वारा उपभुक्त तृण आदि क्षीराकारमें परिणत क्यों नहीं होते? इसलिए यह दृष्टान्त समीचीन नहीं है॥ ५॥

गोविन्दभाष्य—अवधृतौ च-शब्दः। नैतच्चतुरस्रम्। कु बलीवर्द्धादिभक्षिते तृणादिके क्षीराकारपरिणामाभावादित्यर्थः। यदि स्वभावादेव तृणादि क्षीरात्मना परिणमते तर्हि चत्वरादिपतितेऽपि तथा स्यान्न चैवमस्त्यतो न स्वभावमात्रं हेतुः किन्तु व्यक्तिविशेषसम्बन्धात् सर्वेशसङ्कल्प एव तथेति॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यहाँ सूत्रस्थ 'च' शब्द अवधारण (निश्चय) अर्थमें है। यह मत चतुरस्र अर्थात् सर्वाङ्ग सुन्दर न होनेसे मन्द

(तुच्छ) ही है अर्थात् असङ्गत। इसका कारण यह है कि लता, तृण, पल्लवादि भक्षित होनेसे यदि दुग्धाकारमें परिणत होते, तो बलीवर्द इत्यादि पुरुषजातीय पशुओं द्वारा उपभुक्त होनेपर वे दुग्धमें परिणत क्यों नहीं होते? जब ऐसा नहीं होता, तो जाना जा सकता है कि इसका कारण ईश्वर-सङ्कल्प (प्राणि विशेषके सम्बन्धमें तृणादि क्षीराकारमें परिणत हो जाये)। यदि कहो कि तृणादि स्वभावसे ही दुग्धमें परिणत होते हैं, तो चबूतरे आदिमें पतित तृणादिसे भी दुग्ध होना चाहिये, किन्तु ऐसा तो होता नहीं। इसलिए स्वभावमात्र ही कारण नहीं है, अपितु व्यक्ति-विशेषका सम्पर्क अर्थात् स्त्रीजाति द्वारा भक्षित अन्नादिके सम्पर्क सम्बन्धसे परमेश्वरक सङ्कल्प ही इस परिणामका कारण है, यह कहना होगा॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्यत्रेति। नैतत् चतुरस्रमकृत्स्नं मन्दमित्यर्थः। तथा क्षीराकार-परिणामः। किन्त्विति। व्यक्तिविशेषे धेन्वादिरूपे तृणादीनां भक्ष्यभक्षकभावं सम्बन्धं विधाय तानि क्षीरतया परिणमस्तामिति य ईशसङ्कल्पः स तत्र हेतुरित्यर्थः॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—'*अन्यत्रभावाच्चेति नैतत् चतुरस्रम्*'—अर्थात् यह दृष्टान्त सर्वाङ्ग सुन्दर न होनेसे असम्पूर्ण ही है अर्थात् मन्द ही है। '*तथास्यात्र चैवमस्तीति*' में 'तथा' का अर्थ है—क्षीराकारमें परिणाम। किन्तु व्यक्ति विशेष सम्बन्धादितिमें व्यक्ति विशेषसे तात्पर्य है—धेनु इत्यादि स्त्रीजातिमें इन तृणादिका सम्बन्ध अर्थात् भक्ष्य-भक्षक सम्बन्धका विधान करके ईश्वर (ये तृणादि दुग्धादि रूपमें परिणत हों,) इस प्रकारसे जो सङ्कल्प करते हैं, वह सङ्कल्प ही परिणामका हेतु है॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सांख्यवादी यदि कहें कि जिस प्रकार गवादि द्वारा भक्षित तृण, पल्लवादि स्वभावतः दुग्धाकारमें परिणत होते हैं, उसी प्रकार प्रधान भी स्वभावतः महत्तत्त्वादि रूपमें परिणत होता है। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि यह दृष्टान्त समीचीन (उपयुक्त) नहीं है, क्योंकि अन्यत्र इसका अभाव देखा जाता है अर्थात् वृक्षादि द्वारा तृणादि भक्षण करनेपर वे तृणादि दुग्धाकारमें परिणत नहीं होते। पुनः तृणादि स्वभावतः ही दुग्धाकारमें परिणत होते हैं, यह भी कहनेसे चलता नहीं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो

प्राङ्गणमें गिरे हुए तृणादि भी दुग्धाकारमें परिणत होते। गायें तृणादिका भक्षण करती हैं तो ईश्वरकी इच्छासे उन्हींके द्वारा उपभुक्त तृणादि दूध रूपमें परिणत होते हैं। इसमें स्पष्ट प्रमाण है कि ईश्वरकी इच्छासे ही प्रकृति सृष्टि कार्यमें सामर्थ्य प्राप्त करती है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

त्वमेक आद्यः पुरुषः सुप्तशक्ति-
स्तया रजःसत्त्वतमो विभिद्यते।
महानहं खं मरुदग्निवार्द्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः॥

(श्रीमद्भा॰ ४/२४/६३)

अर्थात् हे प्रभो! आप एकमात्र आद्य पुरुष हैं। मायाशक्ति आपमें कोई कार्य करनेमें समर्थ नहीं होती, किन्तु कालक्रमसे इस मायाशक्तिके प्रभावसे सत्त्व, रज एवं तम—ये तीन गुण परस्पर भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसके बाद उनसे ही महत्-तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, देवता, ऋषि, भूतगण एवं अन्यान्य समस्त प्राणियोंकी देह और यह जगत् क्रम-क्रमसे सृष्ट होते हैं।

ब्रह्माजीके भी वचन हैं—

ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्ध्महेऽङ्ग
दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात्।
आस्थाय तत् तद्यदयुङ्क्त नाथ-
श्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः॥

(श्रीमद्भा॰ ५/१/१५)

अर्थात् हे प्रियव्रत! भगवान् हमारे गुण-कर्मोंके अनुसार शरीर प्रदान करते हैं। उन देहोंको स्वीकार करके हम ईश्वर प्रदत्त सुख-दुःखको उनकी इच्छानुसार उसी प्रकार भोगते हैं, जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति आँखवाले पुरुषका भोग करता है॥५॥

अवतरणिका भाष्य—प्रधानस्य जाड्यात् स्वतःप्रवृत्तिर्न समस्तीत्यापादितम्। अथ त्वन्मुखोल्लासाय ताञ्चेदभ्युपगच्छामस्तथापि न किञ्चित्तवाभीष्टं सिध्येदित्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—जड़त्वके कारण प्रधानकी जगत्-सृष्टि विषयमें स्वयंके द्वारा प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, यह प्रतिपन्न (युक्तिके द्वारा समर्पित) हुआ है। और हे सांख्यवादियो! यदि तुम्हारे सन्तोषके लिए हम इस स्वतः प्रवृत्तिको स्वीकार कर भी लें तो भी तुम्हारा कोई अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा। यही कह रहे है—

अवतरणिकाभाष्य टीका—प्रधानस्येति। तां स्वतः प्रवृत्तिम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'प्रधानस्येति ताञ्चेदभ्युपगच्छामः'*—में ताम् का अर्थ है—*'प्रकृतिकी स्वतः प्रवृत्ति।'*

सूत्र—अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्॥ ६॥

सूत्रार्थ—अभ्युपगमेऽपि—सांख्यके अभ्युपगत अर्थात् अनुमानित विषयोंमें प्रकृतिकी प्रवृत्तिको स्वाभाविक मानना भी युक्तियुक्त नहीं है अर्थात् कपिलका मानना है कि पुरुषके भोग एवं मुक्तिके लिए प्रकृतिकी प्रवृत्ति है किस प्रकारसे? 'पुरुष मेरा भोग करके, बादमें मेरे दोषका अनुभव करके मुझसे उदासीनतारूप मोक्ष (मुक्ति) को प्राप्त होगा।' इस प्रकार पुरुषके भोग और मुक्तिके लिए प्रकृतिकी प्रवृत्ति है। किन्तु यह मत भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि 'अर्थाभावात्' इसे स्वीकार करनेसे भी कोई फल नहीं है॥ ६॥

सूत्रानुवाद—प्रधानकी स्वतः प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि वह जड़ है। अनुमानके आधारपर प्रधानकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको स्वीकार कर भी लिया जाय, तो भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—चतुर्षु नेत्यनुवर्त्तते। *'पुरुषो मां भुक्त्वा मद्दोषाननुभूय मदौदासीन्यलक्षणं मोक्षं प्राप्स्यति'* (सां॰का॰ ६१) इति तद्भोगापवर्गार्थां प्रधानप्रवृत्तिं मन्यते। प्रधानप्रवृत्तिः परार्था स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्र
अकर्त्तापि पुरुषो भोक्तेति च मन्यते। *'अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नादवत्'* (सां॰सू॰ १/१०५) इति। सैषा प्रवृत्तिर्न युक्ता मन्तुम्। कु
पुरुषस्य प्रकृतिदर्शनरूपो भोगस्तदौदासीन्यरूपो मोक्षश्च प्रवृत्तेः फलम्। तत्र भोगस्तावन्न सम्भवति। प्रवृत्तेः प्राक् चैतन्यमात्रस्य निर्विकारस्याकर्त्तुः पुरुषस्य तद्दर्शनरूपविकारायोगात्। न चापवर्गः। प्रागपि प्रवृत्तेस्तस्य सिद्धत्वेन तद्वैयर्थ्यात् सन्निधिमात्रस्य भोगहेतुत्वे तु मुक्तानामपि तदापत्तिः, तस्य नित्यत्वात्॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—चारों सूत्रोंमें 'न' पदका अनुवर्त्तन है। कपिल प्रकृतिका यह अभिप्राय मानते हैं कि पुरुष मेरा भोग करके बादमें मेरे दोषका अनुभव करेगा और मेरे प्रति वैराग्य-रूप-औदासीन्यात्मक मुक्ति (मोक्ष) को प्राप्त होगा। इस प्रकार भोग एवं मुक्ति नामके प्रकृतिके कार्य (प्रवृत्ति) अनुमित होते हैं। इस विषयमें सांख्य-सूत्र है यथा *'प्रधान प्रवृत्तिः परार्थाः ... स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्र*
(सां॰सू॰ ५८) अर्थात् प्रकृतिका कार्य पुरुषके लिए है। ऊँटका
कु
भी स्वगत अर्थात् अपने लिए कोई भोग नहीं है, केवल दूसरोंके लिए ही प्रवृत्ति है! कपिल यह भी कहते हैं कि पुरुष कर्त्ता न होनेपर भी भोग-कर्त्ता (भोक्ता) हैं। इस विषयमें दृष्टान्त सूत्र है, यथा—*'अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नादवत्'* (सां॰सू॰ १/१०५) अर्थात् पुरुषका प्रकृति-दर्शन रूप भोग। *'भोगोऽन्नादवत्'*—इसका तात्पर्य है पाचक (रसोइया) जिस प्रकार अन्न पका करके भी उसका भोक्ता नहीं होता, किन्तु अपाचक राजा उसका भोक्ता होता है, उसी प्रकार कर्त्ता-प्रधानका भोक्तृत्व नहीं है किन्तु अकर्त्ता-पुरुषका ही भोक्तृत्व सिद्ध होता है। पूर्वपक्षकी प्रकृतिकी इस प्रवृत्तिको स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि उसे स्वीकार करनेका कोई फल नहीं है। पुरुषका प्रकृति-दर्शनरूप भोग और प्रकृतिके प्रति औदासीन्यरूप मुक्ति ही प्रकृतिकी प्रवृत्तिका फल है। इसमें पुरुषका भोग तो सम्भव ही नहीं हो सकता क्योंकि प्रकृतिकी प्रवृत्तिके पहले चिन्मात्र (चैतन्यमात्र) रूपमें अवस्थित, निर्विकार, निष्क्रिय (अकर्त्ता) पुरुषका प्रकृति-दर्शनरूप (प्रकृति सङ्गवश) विकार होता नहीं और उस पुरुषका अपवर्ग (मुक्ति) रूप फल भी नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रवृत्तिकी उत्पत्तिके पूर्व ही यह मुक्ति सिद्ध है। पुरुषकी सन्निधिमात्रको ही यदि भोगका कारण कहा जाय तो प्रकृति-पुरुष सन्निधिकी नित्यतावश मुक्त-पुरुषोंकी भी भोग-आपत्ति हो पड़ेगी॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—अभ्युपगमेऽपीति। पुरुष इति। पुरुषो मामित्यादिकं प्रधानानुसन्धिवाक्यं मन्यते कपिलः। प्रधानेति कपिलसूत्रमित्यर्थः। उष्ट्र
परार्थं कङ्कुमं वहति न तु स्वार्थं तथा प्रधानमपि पुरुषभोगाद्यर्थं जगत् सृजति

तस्य भोक्तृत्वाभावादिति। नन्वकर्त्ता चेत् पुरुषस्तर्हि तस्य भोक्तृत्वं कथमिति चेत् तत्राह अकर्त्तुरपीति कपिलसूत्रमिदम्। अस्यार्थः—पाचकस्य सूदस्य न भोक्तृत्वं किन्त्वपाचकस्यापि राज्ञस्तत्। एवं कर्त्तुः प्रधानस्य न भोक्तृत्वं किन्तु अकर्त्तुरपि पुरुषस्य तदिति। प्रागपीति। प्रवृत्तेः पूर्वमपवर्गस्य सिद्धत्वेन तस्या वैयर्थ्यापत्तेरित्यर्थः। तदापत्तिर्भोगप्रसङ्गः। तस्य सन्निधिमात्रस्य॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार—*'अभ्युपगमेऽपीति'* सूत्र है—जिसके भाष्यमें *'पुरुषो मां भुक्त्वा'* इत्यादि वाक्य प्रधानका अनुसन्धान बोधक है, 'मन्यते' का अर्थ है कि यह महर्षि कपिल मानते हैं। *'प्रधानप्रवृत्तिः ... परार्था वहनवदिति'*—यह कपिलका सांख्यसूत्र है, इसका अर्थ है—ऊँट जिस प्रकार दूसरोंके लिए कु
नहीं, इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुषके भोग और मुक्तिके लिए जगत्की सृष्टि करती है, स्वयंके लिए नहीं, क्योंकि प्रकृतिका भोक्तृत्व नहीं है। प्रश्न है, यदि पुरुष-कर्त्ता नहीं है, तो उसका भोक्तृत्व किस प्रकार है? इसके उत्तरमें कपिल कहते हैं—*'अकर्त्तापि पुरुषो'* इत्यादि पुरुष कर्त्ता न होनेपर भी भोक्ता है। इसके लिए कपिलका सूत्र भी है—*'अकर्त्तुरापि फलोपभोगोऽन्नादवत्'*—इसका अर्थ इस प्रकार है—जैसे रसोइया अन्नादिको पकाता है, परन्तु उसमें उसका भोक्तृत्व नहीं है किन्तु राजा कोई पाकादि क्रिया नहीं करता, तो भी उसका भोक्तृत्व है, ऐसे ही प्रधान कर्त्ता है, किन्तु भोक्ता नहीं है। अकर्त्ता होनेपर भी पुरुषका भोक्तृत्व है। *'प्रकृतेः प्राक् चैतन्यमात्रस्य इति'*—प्रकृतिकी प्रवृत्तिके पूर्व भी मुक्ति सिद्ध रहनेके कारण प्रकृतिकी प्रवृत्ति व्यर्थ है, इसलिए प्रकृतिकी प्रवृत्तिके फलको मुक्ति अथवा अपवर्ग नहीं कहा जा सकता, यही तात्पर्य है। *'मुक्तानपि तदापत्तिः'* इति, तदापत्तिः का अर्थ है भोगापत्ति। *'तस्य नित्यत्वादिति तस्य'*—प्रकृति-पुरुषका सान्निध्य नित्य है, इसलिए यह आपत्ति है॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रकृतिको जड़ कहे जानेके कारण उसकी स्वतः प्रवृत्ति सम्भव नहीं है—यह प्रतिपादित होता है। सांख्यवादियोंके मनकी सन्तुष्टिके लिए यदि यह मत स्वीकार किया भी जाय, तो इससे कोई अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। यही प्रतिपादन करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि प्रकृतिवादी सांख्यका मत स्वीकार करनेसे

कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। भाष्यकार कहते हैं कि सांख्यकार कपिलके मतमें प्रकृति-पुरुषको भोग एवं मोक्ष प्रदान करनेवाली है। प्रकृति स्वतःप्रवृत्त होकर पुरुषको भोग प्रदान करती है और भोगके दोषका अनुभव होनेपर पुरुष इससे उदासीन हो जाता है और इसीसे वह मोक्ष प्राप्त करता है। और भी कहते हैं, प्रकृतिकी इस स्वतः प्रवृत्तिके कारण जगत्-सृष्टि परार्थ है, दूसरोंके लिए है; जिस प्रकार ऊँट दूसरोंके लिए कु

होकर भी भोक्ता है। इसके लिए दृष्टान्त है—जिस प्रकार पाचक रन्धन-कर्त्ता होनेपर भी अभोक्ता है, जब कि राजा उस विषयमें अकर्त्ता होकर भी भोक्ता है। जगत्-सृष्टि-विषयमें प्रधानका कर्त्तृत्व है, पर भोक्तृत्व नहीं है, अकर्त्ता पुरुषका ही भोक्तृत्व है। इस प्रकारसे सांख्य-मतको स्वीकार करनेसे भला क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? पुरुष चैतन्यमात्र है, निर्विकार है, निष्क्रिय है, तब उसमें प्रकृति दर्शनरूप भोग किस प्रकार घटित हो सकता है? पुनः निर्विकार चैतन्यमात्र पुरुषकी निर्विकारता जब स्वाभाविक है, तो उसका मोक्ष भी स्वतः सिद्ध है, इसलिए प्रकृतिकी प्रवृत्तिके पूर्व ही उस पुरुषका अपवर्ग सिद्ध है, तब फलकी कल्पना ही व्यर्थ है। यदि कहो कि प्रकृतिकी सन्निधि ही पुरुषके भोगका कारण होती है, तो मुक्त पुरुषका भोग कैसा—यह आपत्ति होती है और सांख्यके मतमें प्रकृति एवं पुरुषका सान्निध्य रहता है, फिर मुक्तिकी बात क्यों?

प्रकृति जड़ है, उसके सृष्टि-कार्यमें अथवा भोग और अपवर्ग प्रदान करनेमें स्वतः कर्त्तृत्व नहीं है। श्रीभगवान् ही जीव एवं संसारके मोक्षका विधान करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजा-
मन्तर्बहिः पूरुष कालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतञ्च,
मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१/७)

हे विद्वन् श्रीशुकदेव! इच्छाशक्ति द्वारा स्वरूपभूत नव-वपु-प्रकटकारी सभी देहधारियोंके अन्तर एवं बाहरमें पुरुष एवं काल रूपमें अवस्थित होकर संसार और अपवर्ग-प्रदाता उन श्रीहरिकी लीला-चरितावलीका वर्णन कीजिये।

स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसंभृतया चिरम्॥

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना॥

प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम्।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः॥

(श्रीमद्भा० ३/२७/२१–२३)

श्रीभगवान्ने कहा—माताजी! निर्मल मनके द्वारा कर्मफलकी कामनासे रहित स्वधर्मका पालन करनेसे, बहुत समय तक मेरी कथाओंके श्रवणसे वर्द्धित मेरे-प्रति सुदृढ़ भक्तियोगसे, तत्त्वज्ञानसे, कठोर वैराग्यसे, व्रत-नियमादि सहित तपस्यासे, चित्तकी एकाग्रतासे पुरुषकी प्रकृति दिन-रात क्षीण होती हुई धीरे-धीरे लीन हो जाती है। जिस प्रकार अग्नि अपने उत्पत्ति-स्थान लकड़ीसे उत्पन्न होकर लकड़ीको ही दग्ध कर डालती है, उसी प्रकार पुरुषकी प्रकृति क्रमशः क्षीण होते हुए लीन होती जाती है॥ ६॥

अवतरणिका भाष्य—ननु यथा गतिशक्तिरहितस्य दृक्शक्तिसहितस्य पङ्गुपुरुषस्य सन्निधानाद्गतिशक्तिमान् दृक्शक्तिरहितोऽप्यन्धः प्रवर्त्तते (सां०का० २१) यथा चायस्कान्ताश्मनः सन्निधानाज्जडमप्ययश्चलति एवं चिन्मात्रस्य पुंसः सन्निधानादचेतनापि प्रकृतिस्तच्छायया चेतनेव तदर्थे सर्गे प्रवर्त्तेतेति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि जिस प्रकार गति (गमन)-शक्तिसे रहित किन्तु दृष्टि-शक्तिसे सम्पन्न पङ्गु व्यक्तिके सन्निधानमें अर्थात् उसकी सहायतासे गतिशक्ति किन्तु दृष्टिशक्ति हीन अन्धा गमनादि कार्य कर लेता है अथवा जिस प्रकार अयस्कान्त मणि (चुम्बक-पत्थर) के सन्निधानसे जड़ लोहा भी गतिशील हो जाता है,

उसी प्रकार केवल चित्स्वरूप पुरुषके सान्निध्यसे अचेतन (जड़) होकर भी प्रकृति पुरुषके छायापातमें अर्थात् उसकी छायाके प्रभावसे चेतनके समान होकर पुरुषकी भोग-मुक्तिके सम्पादनके लिए जगत्-सृष्टिकार्यमें प्रवृत्त होती है, यदि ऐसा कहते हो तो इसका उत्तर है—

अवतरणिका भाष्य टीका—नन्विति। अयस्कान्ताश्मा चुम्बकाख्यः पाषाणः। तच्छायया पुरुषच्छायया। तदर्थे पुरुषनिमित्तके तद्भोगादिनिमित्तके इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—ननु इत्यादि अवतरणिका भाष्यमें अयस्कान्तका अर्थ है, अश्मा-चुम्बक नामक प्रस्तर। *'प्रकृतिस्तच्छायया'* का अर्थ है—पुरुषके छाया-पात द्वारा। *'तदर्थे सर्गे इति'* में 'तदर्थे' से तात्पर्य है—पुरुषके निमित्त अर्थात् पुरुषके भोगादिके लिए।

सूत्र—पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि॥ ७॥

सूत्रार्थ—'चेत्'—यदि कहो 'पुरुषाश्च वदिति'—पुरुषके सान्निध्यमें प्रकृतिकी चेष्टा प्रस्तरके समान होगी, यहाँ 'अश्म' की चर्चा अयस्कान्त प्रस्तरके अभिप्रायसे प्रयुक्त है, 'तथापि'—तो भी यह सिद्धान्त सङ्गत नहीं होता॥ ७॥

सूत्रानुवाद—जैसे अयस्कान्त निकटस्थ अयस् अर्थात् लोहेको प्रवृत्त कराता है, उसी प्रकार पुरुष प्रकृतिको चेष्टावती कराता है तो भी सांख्य सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं होता॥ ७॥

गोविन्दभाष्य—तथापि तेनापि प्रकारेण जडस्य स्वतःप्रवृत्तिर्न सिध्यति। पङ्गोर्गतिवैकल्येऽपि वर्त्मदर्शनतदुपदेशादयोऽन्धस्य दृक्शक्तिविरहेऽपि तदुपदेशग्रहादयो विशेषाः सन्ति। अयस्कान्तमणेश्चायःसामीप्यादयः। पुरुषस्य तु नित्यनिष्क्रियस्य निर्धर्मकस्य स कोऽपि विकारः। सन्निधिमात्रेण तस्मिन् स्वीकृते तस्य नित्यत्वान्नित्यं सर्गो मोक्षाभावश्च प्रसज्येत। किञ्च पङ्ग्वन्धावुभौ चेतनौ अयस्कान्तायसी च द्वे जडे इति दृष्टान्तवैषम्यं विस्फु

गोविन्दभाष्यानुवाद—तथापि इति—ऐसा होनेपर भी जड़की चेतन-निरपेक्ष रूपमें स्वतः प्रवृत्ति सिद्ध नहीं है। पङ्गु-अन्ध न्यायमें दृष्टान्त-वैषम्य है, क्योंकि पङ्गुमें गमन शक्तिका अभाव रहनेपर भी पथ-प्रदर्शनका और तत्सम्बन्धित अर्थात् पथपर चलनेका उपदेशादि है और अन्धेमें दर्शनशक्तिके अभावमें भी पङ्गुके द्वारा प्रदत्त

उपदेश-ग्रहणादि विशेष धर्म वर्त्तमान हैं, इसी प्रकार अयस्कान्त मणिका भी लौह-सामीप्यादि सम्भव है, किन्तु पुरुष नित्यमुक्त, निष्क्रिय और समस्त प्रकारके धर्मोंसे हीन है, उसमें किसी भी प्रकारका विकार रह नहीं सकता। यदि प्रकृतिकी सन्निधिमात्रसे पुरुषके विकारको स्वीकार भी करें, तो असङ्गति यह है कि पुरुष-प्रकृतिका सान्निध्य नित्य है, अतएव सृष्टिका नित्यत्व रहेगा और मुक्तिका अस्तित्वके अभावका भी प्रसङ्ग उपस्थित होगा। और एक बात है, यह जो पुरुषाश्म दृष्टान्त दिखाया गया है तो यह दृष्टान्त भी विषम है, क्योंकि पङ्गु-अन्ध दृष्टान्तमें पङ्गु और अन्ध दोनों ही चेतन पदार्थ हैं और प्रकृति-पुरुष स्थलपर एक चेतन है और दूसरा जड़ है, जब कि अयस्कान्त और लौह दृष्टान्तमें दोनों ही अचेतन (जड़) हैं, इस प्रकार दृष्टान्तका वैषम्य अथवा असामञ्जस्य स्पष्ट ही परिस्फु

सूक्ष्मा-टीका—पुरुषेति। पुरुषवदश्मवच्च प्रधानस्य प्रवृत्तिरित्यर्थः। तेनापि प्रकारेण पङ्ग्वादिदृष्टान्तविधानेनापीत्यर्थः। दृष्टान्तयोर्वैषम्यं दर्शयितुमाह पङ्गोरित्यादिना। अयस्कान्तमणेरिति। अयःसामीप्यमपि मणेर्विशेषो भवति तस्य तद्वत्त्वधर्मप्रत्ययात्। कोऽपि प्रकृतिदर्शनात्मकोऽपि। तस्मिन् विकारे। तस्य सन्निधिमात्रस्य। उभावित्यत्र द्वे इत्यत्र चापिशब्दो योज्यः॥७॥

सूक्ष्मा-सार—पुरुष और प्रस्तरके समान प्रकृतिकी प्रवृत्ति है। *'तेनापि प्रकारेण'* इत्यादिका अर्थ है पङ्गु-अन्ध इत्यादि दृष्टान्तके द्वारा भी। दोनों दृष्टान्तोंके साथ प्रकरणगत स्थलपर जो वैषम्य है, उसीको *'पऽोरित्यादि'* वाक्य द्वारा कह रहे हैं। *'अयस्कान्त भवेरित्यादि'*— लौह-सामिप्य चुम्बक मणिका विशेष धर्म है क्योंकि यह मणि लौह-सान्निध्याको धर्मयुक्त करती हुई प्रतीयमान हो रही है। *'न कोऽपि विकारः इति'* में कोऽपि का अर्थ है प्रकृति-दर्शन-स्वरूप कोई भी विकार। *'तस्मिन् स्वीकृत इति'* में तस्मिन्‌का अर्थ है वह विकार स्वीका करनेपर भी। *'तस्य नित्यत्वात्'* में 'तस्य' का अर्थ है—सन्निधि मात्रका नित्यत्व, इसलिए। *'पङ्गु-वन्धावुमौ'* अर्थात् इसके साथ एवं *'द्वे जडे'*—यहाँ 'द्वे' पदके साथ 'अपि' शब्द योजनीय है अर्थात् पङ्गु-अन्ध दोनों ही और 'द्वे' का अर्थ है दोनों॥७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रकृतिवादी सांख्यकार यदि पङ्गु-अन्ध न्याय एवं अयस्कान्त-लौह न्यायको आश्रय लेकर कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार गतिशक्तिसे रहित किन्तु दृष्टिशक्तिसे युक्त पङ्गु-पुरुषके सन्निधानसे अर्थात् उसकी सहायतासे चलनशक्तिसे युक्त किन्तु दृष्टिशक्तिसे रहित अन्धा व्यक्ति भी चलन-कार्यमें प्रवर्त्तित होता है और जिस प्रकार चुम्बक-पाषाणके सान्निध्यमें जड़-लोहा भी चलनशक्तिको प्राप्त होता है, उसी प्रकार चिन्मात्र पुरुषके सान्निध्यवश प्रकृति अचेतन होकर भी पुरुषके छायापातके द्वारा चेतनके समान होकर पुरुषके भोगके लिए जगत्-सृष्टिकार्यमें प्रवृत्त होती है, तो भी इससे जड़की स्वतः-प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती। वही बतानेके लिए सूत्रकारने यह वर्त्तमान सूत्र कहा है। इस प्रसङ्गमें भाष्यकारने भी कहा है कि सांख्यवादियोंकी यह युक्ति असङ्गत है, क्योंकि पङ्गु चल न सकनेपर भी पथ देख सकता है और तत्सम्बन्धित उपदेशादि दे सकता है और अन्धा पथ न देख सकनेपर भी उस पङ्गुके उपदेशको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार जड़-विलक्षण ये सब विशेष धर्म इस स्थलपर देखे जाते हैं। उनका दूसरा दृष्टान्त भी है, लौहके सामीप्यमें अयस्कान्त मणिका विशेष धर्म होता है, किन्तु सांख्यका पुरुष नित्य, निष्क्रिय और निधर्मक है, इसलिए उसमें कोई विकार सम्भव नहीं है। विशेष रूपसे जब वह कु
है, तब प्रकृतिकी परिचालना उसमें किस प्रकारसे सम्भव हो सकती है? अर्थात् सम्भव ही नहीं है। तब यदि यह कहा जाय कि पुरुषके सान्निध्यवश प्रकृति जड़ होकर भी कार्य करनेमें समर्थ होती है, तो भी यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि सांख्यके मतमें पुरुष और प्रकृतिका यह सान्निध्य नित्य होता है। यदि ऐसा ही है तो सृष्टि-प्रसङ्ग नित्य हो पड़ेगा, कभी भी प्रलय न होगा और किसीकी भी मुक्ति कभी भी सम्भव न हो सकेगी।

इसके अतिरिक्त दोनों दृष्टान्तोंमें भी विशेष वैषम्य है। पङ्गु और अन्ध दोनों ही चेतन हैं तथा अयस्कान्त और लौह दोनों ही जड़ हैं, और जिनके साथ ये दृष्टान्त सङ्गत किये जा रहे हैं, उनमें प्रकृति जड़रूपा है और पुरुष चिन्मात्र है, तब इस अवस्थामें इन दृष्टान्तोंका सामञ्जस्य नहीं बैठता।

जब कि श्रीमद्भागवतमें श्रीमनुने ध्रुवको सृष्टितत्त्व विषयमें अयस्कान्त मणिके द्वारा इस प्रकार ज्ञात कराया है—

निमित्तमात्रं तत्रासीन्निर्गुणः पुरुषर्षभः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लौहवत्॥
(श्रीमद्भा० ४/११/१७)

हे पुरुषश्रेष्ठ! निर्गुण परमात्मा तो इनमें केवल निमित्तमात्र हैं; उनके आश्रयसे यह कार्य-कारणात्मक जगत् उसी प्रकार भ्रमता रहता है, जैसे चुम्बकके आश्रयसे लोहा।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥
(श्रीगीता ९/१०)

अर्थात् हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षतामें बहिरङ्गा प्रकृति या मायाशक्ति चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत्को प्रसव करती है, इसी कारणसे यह जगत् पुनः परिवर्त्तित (उत्पन्न) होता है॥७॥

अवतरणिका भाष्य—यत्तु गुणानामुत्कर्षापकर्षवशेनाङ्गाङ्गिभावाद्विश्वसृष्टिरिति मन्यते तन्निरस्येति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यत्त्वित्यादि—महर्षि कपिल और एक मतका पोषण करते हैं यथा—सत्त्व, रज एवं तम गुणोंके उत्कर्ष और अपकर्षके कारण एक गुण—प्रधान है और दूसरा गुण अप्रधान अथवा (अपकृष्ट) अङ्ग है, इसलिए अङ्गाङ्गि भावसे विजातीय सृष्टि है—सूत्रकार इसे भी निरस्त करते हुए कहते हैं—

अवतरणिका भाष्य टीका—यत्त्विति। कपिलः मन्यते।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—यत्तु इत्यादि वाक्यमें 'इति मन्यते' का अर्थ है—कपिल मानते हैं।

सूत्र—अङ्गित्वानुपपत्तेश्च॥८॥

सूत्रार्थ—अङ्गित्वानुपपत्तेः—गुणोंमें एकको प्राधान्य और दूसरेको अप्राधान्यरूप कहना भी 'च'—सङ्गत नहीं होता॥८॥

सूत्रानुवाद—प्रकृतिके गुणोंमें अङ्गाङ्गी भावकी कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए चेतनसे अनधिष्ठित प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—सत्त्वादीनां साम्येनावस्थितिः प्रधानावस्था। (सां॰सू॰ १/६१) तस्यां च निरपेक्षस्वरूपाणां तेषां कस्यचिदेकस्याङ्गित्वं नोपपद्यते इतरयोस्तत्समत्वेन गुणीभावासम्भवात्। तथा च गुणानामङ्गाङ्गिभावासिद्धिः। न चेश्वरः कालो वा तत्कृत् अस्वीकारात्। यथाह कपिलः—*'ईश्वरासिद्धेः मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः'* (सां॰सू॰ १/३९) इति। *'दिक्कालावाकाशादिभ्य'* (सां॰सू॰ २/१२) इति च। न च पुरुषस्तत्कृत् तस्य तत्रौदासीन्यात्। तथा च गुणवैषम्यहेतुकः सर्गो नेति। किञ्चैवं हेत्वभावात् प्रतिसर्गेऽपि ते वैषम्यं भजेरन् आदिसर्गे तु न भजेरन्निति॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सत्त्वादि तीन गुणोंकी जो साम्यावस्था (समान रूपसे अवस्थिति) है, वही *'प्रधानावस्था'* अर्थात् प्रकृतिका स्वरूप है। इस प्रकृतिमें निरपेक्ष रूपसे अवस्थित गुणत्रयमें एकका प्राधान्य और दूसरेका अप्राधान्य युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि गुणत्रयमेंसे एक गुण अङ्गी होगा और दूसरे दो अङ्ग होंगे—इसका प्रमाण क्या? एकको अङ्गीरूपसे स्वीकार करनेपर दूसरे दोनों गुणोंकी उसके साथ समान स्वरूपमें स्थिति (समत्व अर्थात् गुणोंके हिसाबसे समान) होनेके कारण गुणीभाव असम्भव है। इसलिए गुणोंका मुख्य-गौण अथवा अङ्गी-अङ्ग भाव सिद्ध नहीं होता। यदि कहो, गुणोंके वैषम्यका कारण काल अर्थात् ईश्वर है अर्थात् ईश्वर अथवा काल गुणोंका वैषम्य करते हैं, तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि हे सांख्यवादियो! तुमलोग ईश्वरको तो स्वीकार ही नहीं करते हो। स्वयं कपिल द्वारा ये सांख्यसूत्र रचे गये हैं—*'ईश्वरासिद्धेः'* (सां॰सू॰ १/९२) *'मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिरिति'* (सां॰सू॰ १/३९)—प्रमाणके अभावमें ईश्वर असिद्ध हैं, इसमें युक्ति यह है कि—मुक्त और बद्ध, इनमें अन्यतर (दोमेंसे एक) के अभावके कारण ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकते। बात यह है कि ईश्वर मुक्त हैं अथवा बद्ध हैं? यदि मुक्त है, तो सृष्टिमें प्रवृत्ति हो नहीं सकती और यदि बद्ध हैं, तो सामर्थ्यका अभाव होनेसे उनके द्वारा सृष्टि असम्भव है। अतएव ईश्वरको स्वीकार करना व्यर्थ है। दिशा और कालको भी प्रवर्त्तक नहीं कहा जा

सकता, क्योंकि आकाशके बिना दिशा अथवा कालकी सत्ता नहीं है। उन-उन देशोंसे अवच्छिन्न आकाश ही 'दिक्' शब्द वाच्य है और उन-उन समयोंसे अवच्छिन्न आकाश ही 'काल' शब्द वाच्य है। पुरुष गुणोंका भी तारतम्य करता नहीं है, क्योंकि गुणके कर्त्तृत्वमें उसकी उदासीनता है और यदि प्रयत्नको स्वीकार किया जाय तो उससे निःसङ्गत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका विरोध होता है—*'असङ्गोऽयं पुरुषः'* (सां०सू० १/१५)। अतएव सिद्धान्त यह है कि गुण-वैषम्य द्वारा जगत्‌की सृष्टि नहीं हो सकती। और एक दोष है—यदि गुण-वैषम्यका कोई हेतु न रहे, तब प्रत्येक सृष्टिमें ही गुणसमूह वैषम्यको प्राप्त हो और प्राथमिक (आदि) सृष्टिमें हेतुके अभावमें वैषम्य प्राप्त न हो। अतएव गुण-वैषम्यात्मिका प्रकृतिको सृष्टिका कारण नहीं कहा जा सकता॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—अङ्गित्वेति। एकस्य सत्त्वाद्यन्यतमस्य। तत्कृदङ्गाङ्गिभावहेतुः। ईश्वरासिद्धेरिति। प्रमाणाभावादिति भावः। तथा हि न तत्र प्रत्यक्षमानं घटादेरिर तस्यानुपलम्भात्। यत्तु क्षित्यादि सकर्त्तृकं कार्यत्वादित्यनुमानमाहुस्तच्च न। स किं सदेहो देहशून्यो वेत्युभयथापि जगत्कर्त्तृत्वासम्भवात्। *'यश्च'* स सर्ववित् स हि सर्वस्य कर्त्तेत्यादिआगमोऽस्ति स खलु युक्तात्मनो लब्धसिद्धेर्योगिनो वा प्रशंसेति नास्तीश्वरः। युक्त्यन्तरमाह मुक्तबद्धयोरिति। मुक्तश्चेदीश्वरः तर्हि सर्गप्रवृत्त्यसम्भवः। बद्धश्चेदसामर्थ्यमिति व्यर्थस्तत्स्वीकार इत्यर्थः। दिक्कालाविति। तत्तदुपाधिभेदादाकाशमेव दिक्कालशब्दबोध्यमिति तत्र तयोरन्तर्भावः। सप्तम्यर्थे पञ्चमीयम्। किञ्चेति। ते गुणाः॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार—*'अङ्गित्वानुपपत्तेरिति'* सूत्रके भाष्यमें *'कस्यचिदेकस्य इति'* में 'एकस्य' का अर्थ है—तीनों गुणोंमेंसे किसी एक का। *'कालो वा तत्कृतिददति'* में 'तत्कृत' का अर्थ है—*'अङ्गाङ्गिभावकारी।'* *'ईश्वरासिद्धेरिति'* अर्थात् प्रमाण नहीं है, इसलिए ईश्वर नहीं है। कोई भी प्रमाण नहीं है, वही दिखा रहे हैं—सर्व-प्रमाण-श्रेष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण ईश्वरमें रह नहीं सकता, क्योंकि घट-पटादिके समान ईश्वरकी उपलब्धि नहीं होती। तब जो कोई-कोई अनुमान करते हैं यथा—*'क्षित्यादि सकर्त्तृकम् कार्यत्वात्'* क्षिति, अङ्कुर इत्यादिका कर्त्ता एक है क्योंकि क्षिति इत्यादि कार्य हैं, कार्यमात्र ही कर्त्तृसापेक्ष है, जब हम इन सब वस्तुओंके कर्त्ता नहीं हैं, तब ईश्वर ही उनका

सृष्टिकर्त्ता है, इस अनुमानसे ईश्वर सिद्ध होंगे, परन्तु वैसा भी नहीं है, क्योंकि यह अनुमान विकल्पके साथ है—अर्थात् ईश्वर देहधारी हैं या देहहीन? जगत्-कर्त्ता इन दोनों ही प्रकारके नहीं हो सकते। यदि कहो कि आगम प्रमाण द्वारा ईश्वर सिद्ध होंगे, यथा *'स सर्ववित् स हि सर्वस्य कर्त्ता'* वे सर्वज्ञ, समस्त वस्तुके सृष्टिकर्त्ता हैं—इस शब्द प्रमाण द्वारा ईश्वरका अस्तित्व सूचित हो रहा है, वह भी ये सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता हैं—यह आगम किसी युक्तात्मा पुरुषका प्रशंसावाद है अथवा सिद्धि प्राप्त करनेवाले किसी भी योगीका स्तुतिपर है। अतएव प्रमाणके अभावमें ईश्वर नहीं है। ईश्वरके नास्तित्वके सम्बन्धमें और भी युक्ति दिखा रहे हैं—*'मुक्तबद्धयोरन्यतरस्येति'* इसका तात्पर्य है कि ईश्वर यदि मुक्त हैं तो सृष्टिकार्यमें उनकी प्रवृत्ति हो नहीं सकती और यदि बद्ध हैं तो जगत्-सृष्टिकी सामर्थ्य उनमें नहीं है। अतएव उन्हें स्वीकार करना ही व्यर्थ है। *'दिक्कालो'* इत्यादि—देश विशेषोपाधिक आकाश ही 'दिक्' शब्द द्वारा बोध्य है और कालविशेषोपाधिक आकाश ही काल शब्द द्वारा बोध्य है। दिक्-कालके रूपमें अन्य और कु

आकाशके मध्यमे ही अन्तर्भाव है। *'दिक्कालावकाशादिभ्यः'* इस सूत्रमें स्थित आकाशादि शब्दमें पञ्चमी विभक्ति सप्तमी अर्थमें है अर्थात् आकाशादिमें दिक् एवं काल अन्तर्भुक्त हैं। *'किञ्च ... ते वैषम्यं भजरेन्'* में 'ते' का अर्थ है—गुणोंका समूह॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सांख्यकार कपिलके मतमें जिन गुणोंके उत्कर्ष और अपकर्षके कारण अङ्गाङ्गी भावको हेतु बनाकर जगत्-सृष्टिकी बात कही गयी है, सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें उसे भी निरस्त करते हुए कह रहे हैं कि सत्त्वादि गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रधान अथवा प्रकृति है, इसलिए किसी गुण-विशेषका अङ्गित्व अर्थात् प्राधान्य स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है।

भाष्यकार कहते हैं—निरपेक्षस्वरूप गुणोंका अङ्गाङ्गि भाव-विचार युक्तिसङ्गत नहीं है; इसका कारण है कि त्रिगुणकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति अथवा प्रधान है। सांख्यके पुरुषके सान्निध्यमात्रमें जो प्रकृति सृष्टिकार्य करती है, यह विचार तो पहले ही खण्डित हो

चुका है। अब ईश्वर अथवा कालको यदि अङ्गाङ्गि भावसे कर्त्ता स्वीकार करके प्रकृतिके वैषम्यके हेतु रूपमें स्थिर (निश्चित) करनेका प्रयास करते हो, तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि सांख्यकार कपिलके मतमें ईश्वर अथवा कालादि स्वीकार नहीं है, यह भाष्य और टीकामें देखना चाहिये।

सिद्धान्त-स्वरूपमें यह कहा जाता है कि कपिलोक्त इस प्रकारका गुण-वैषम्य जगत्-सृष्टिका हेतु नहीं हो सकता। पुनः इस प्रकारके हेतुके अभावमें जितनी प्रकारकी सृष्टि होगी, प्रत्येक सृष्टिमें ही उन समस्त गुणोंका वैषम्य होगा। आदि सृष्टिमें भी गुणका वैषम्य नहीं रहा था, क्योंकि उस आदि सृष्टिमें गुणगणोंके वैषम्यका हेतु पाया नहीं जाता।

अतः सांख्यके मतमें गुणत्रयके मध्यमें किसी अङ्गीकी बात स्वीकृत होती नहीं अर्थात् गुणत्रयमें एक अङ्गी है और दूसरे दो अङ्ग हैं, यह भी स्वीकार नहीं है। इसलिए उनके मतमें ही त्रिगुणकी साम्यावस्था रह जाती है। गुण-वैषम्य हेतुसे जगत्‌की सृष्टि उपपन्न (प्रमाणित) नहीं होती। अतएव सांख्यके मतमें जगत्-सृष्टिकी उपपत्तिका अभाव है। श्रीमद्भागवतमें जो यह कहा गया है कि भगवदीक्षणके प्रभावसे प्रकृति क्षुभित होकर सृष्टिकी शक्ति प्राप्त करती है, यही वेदादि शास्त्र-सम्मत और युक्ति-सम्मत है।

श्रीमद्भागवतमें ही कहा गया है—

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥
स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/३-४)

अर्थात् अनादि (नित्य) परमात्मा ही पुरुष हैं, वे प्रकृतिसे पृथक् हैं—असङ्ग हैं, इस प्रकार प्राकृत गुणसे रहित हैं। वे समस्त इन्द्रियोंसे अगम्य कारणार्णवधामपति-स्वप्रकाश वस्तु हैं; यह विश्व उनके ही ईक्षणसे युक्त होकर प्रकाशित होता है। भगवान् श्रीविष्णुकी

शक्ति-स्वरूपिणी अव्यक्ता, गुणमयी प्रकृति लीलाके लिए उनके समीपवर्त्तिनी रहती है, फिर भी वे यदृच्छाक्रमसे उसे बहिरङ्गा रूपमें ग्रहण करते हैं अर्थात् दूरसे ही ईक्षणके द्वारा सृष्टि करते हैं॥ ८॥

अवतरणिका भाष्य—ननु कार्यानुरोधेन गुणा विचित्रस्वभावा भवन्तीत्य-नुमेयम्। तेन नोक्तदोषावकाश इति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि कार्यके अनुरोधसे अर्थात् कार्य देखकर कारणका अनुमान होगा अर्थात् गुण विचित्र स्वभावमय होते हैं, यह अनुमित होगा, तो इस प्रकार अनुमान होनेपर पूर्वोक्त दोषका अवकाश नहीं रहेगा, ऐसा यदि कहते हो, तो सूत्रकारका उत्तर है—

सूत्र—अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्॥ ९॥

सूत्रार्थ—अन्यथानुमितौ—अन्य प्रकारसे अनुमान करनेपर भी अर्थात् 'गुणा विचित्रस्वभावाः विचित्र कार्यकारित्वात्' सत्त्वादि गुणोंके विचित्र स्वभावका अनुमान होनेपर 'च' (भी) दोषसे उद्धार नहीं है, क्योंकि 'ज्ञ शक्तिवियोगात्' गुणोंमें चेतनकी शक्ति अर्थात् ज्ञातृत्व शक्ति नहीं है—अतएव ज्ञानशून्य जड़ गुणसे सृष्टि नहीं हो सकती॥ ९॥

सूत्रानुवाद—प्रधान कारण सम्बन्धी सभी युक्तियोंके दूषित होनेपर तत्सम्बन्धित अन्य कु
कारण प्रधान (प्रकृति) जगत्की रचना नहीं कर सकता॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—विचित्रशक्तिकतया गुणाणामनुमानेऽपि न दोषान्निस्तारः। कु ज्ञेति। ज्ञातृत्वविरहादित्यर्थः। इदमहमेवञ्च सृजामिति विमर्शाभावादिति यावत्। ज्ञानशून्याज्जडान्न सृष्टिरिष्टकादेरिव ऋते चेतनाधिष्ठानादिति॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सत्त्वादिगुणोंका विचित्र-शक्ति-विशिष्ट रूपमें अनुमान करनेपर भी दोषसे उद्धार नहीं है। किस कारणसे? *'ज्ञशक्ति वियोगात्'* 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञाताकी शक्ति ज्ञातृत्व है, जो गुणोंमें है नहीं। बात यह है कि 'मैं इस प्रकारसे सृष्टि करूँगा' इस प्रकारका सङ्कल्प करके कर्त्ता सृष्टि करते हैं—यह विचार अथवा सङ्कल्प गुणोंमें हो नहीं सकता—यही इसका मर्मार्थ है। ज्ञानशून्य जड़से जगत्की सृष्टि

हो नहीं सकती। जिस प्रकार शिल्पी (चेतन) के अधिष्ठान बिना केवल ईंट आदिसे प्रासादका निर्माण नहीं होता॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्यथेति। नन्विति। न वयं निरपेक्षस्वभावान् कूटस्थान् गुणाननुमिनुमः किन्त्वन्यथा विधान्तरेणैव यथा कार्योत्पत्तिः स्यात्। कार्यानुमेया हि प्रकृतिः। इत्थञ्च वैषम्यसम्भवात् कार्योत्पादः सम्भवतीति चेन्न ज्ञातृत्वविरहात् साम्यावस्थाप्रच्युतौ योग्यत्वमपि न सम्भवेत् तस्यां निमित्ताभावात्। न च ज्ञानं विचित्रसत्त्वात्। स्वतश्चेत् वैषम्यमिष्टं तर्हि सर्वदा सृष्टिप्रसङ्ग इति यत्किञ्चिदेतत्॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार— *'अन्यथेत्यादि'* सूत्रकी अवतरणिकामें ननु इत्यादि वाक्य द्वारा सांख्यवादीगण कहते हैं—हम परस्पर निरपेक्ष स्वभाव, निर्विकार गुणोंका अनुमान नहीं करते, अपितु प्रकारान्तरसे जिनमें विचित्र कार्योपत्तिकी सम्भावना है, उन धर्म-विशिष्ट गुणोंका अनुमान करते हैं। प्रकृति कार्य द्वारा ही अनुमेय है, इस प्रकार विषम स्वभाववश विचित्र सृष्टि भी सम्भव होती है यह यदि कहते हो तो ऐसा है नहीं। *'ज्ञातृत्वविरहात्'* गुणोंमें ज्ञानशक्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त साम्यावस्थासे प्रच्युति (भ्रंशित अथवा क्षुभित) होनेमें उनकी योग्यता भी नहीं है। इसका कारण है—ज्ञानकी शक्तिका अभाव। उनमें ज्ञान है, यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि गुण विचित्र सत्त्वसम्पन्न हैं। यदि गुणोंके वैषम्यको स्वभाविक मानते हैं तो सृष्टि सर्वदा हो पड़ती है। अतः इस प्रकारका अनुमान अथवा कल्पना असार एवं व्यर्थ है॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रकृतिवादी सांख्यकार यदि कहें कि कार्यानुरोधसे अर्थात् कार्यको देखकर कारणका अनुमान होता है, अतएव गुणोंका स्वभाव विचित्र होना चाहिये, यह अनुमान-लब्ध है, अतः पूर्वोक्त दोषका अवकाश नहीं रहता। सांख्यवादियोंके इस मतके खण्डनके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि अन्य प्रकारसे अनुमान करनेपर भी 'ज्ञ' शक्ति अर्थात् ज्ञातृत्वशक्ति गुणोंमें नहीं है। ज्ञानशून्य अर्थात् 'मैं यह सृजन कर रहा हूँ' इस प्रकारके ज्ञानके अभावके कारण ज्ञानशून्य जड़के द्वारा कभी भी सृष्टि नहीं हो सकती। दृष्टान्त-स्थलपर जैसा कि कहा गया है कि चेतन शिल्पीके अधिष्ठानके

बिना इष्टकादिसे गृहादिका निर्माण नहीं हो सकता। अतः सृष्टिकर्त्ता जगदीश्वरके अधिष्ठानके बिना केवल जड़-प्रकृतिसे जगत्की रचना नहीं हो सकती। साधारण व्यापार (कार्य) में भी देखा जाता है कि पिताके बिना केवल मातासे सन्तान उत्पन्न नहीं होती।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

कालवृत्त्यात्ममायायां गुणमय्यामथोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात्।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/५/२६-२७)

अर्थात् चिच्छक्तियुक्त अतीन्द्रिय पुरुष भगवान्ने कालशक्ति द्वारा क्षोभित अपनी बहिरङ्गाशक्ति मायामें अपने अंश पुरुषरूपसे उसमें चिदाभासरूप बीज स्थापित किया। इसके बाद कालके द्वारा प्रेरित अव्यक्त मायासे तमका नाश करनेवाला, विशिष्ट ज्ञानस्वरूप महत्-तत्त्व आविर्भूत हुआ। वह अपनेमें सूक्ष्म रूपसे स्थित विश्वको प्रकाशित करके विराजित हुआ (जिस प्रकार बीजगत अङ्कुर विशाल वृक्षको प्रकटित करता है)।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

सेइ पुरुष मायापाने करे अवधान।
प्रकृति क्षोभित करि करे वीर्येर आधान॥

(चै॰च॰म॰ २०/२७२)

इन उदाहरणोंकी व्याख्याके लिए इसी पादका तृतीय सूत्र देखना चाहिये॥ ९॥

अवतरणिका भाष्य—उपसंहरति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब सांख्यवादका खण्डन करते हुए उपसंहार करते हैं—

सूत्र—विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्॥ १०॥

सूत्रार्थ—'विप्रतिषेधात्' पूर्वापर विरोध होनेके कारण 'च' (भी) 'असमञ्जसम्' सांख्य-मत असामञ्जस्यपूर्ण है। अतएव मुक्ति-पथके पथिकके लिए यह मत अनाश्रयणीय है॥ १०॥

सूत्रानुवाद—पुरुषके भोगार्थ प्रधानकी प्रवृत्ति वेदान्तार्थसे विरुद्ध होनेके कारण असामञ्जस्यपूर्ण है। यह कपिल-मत पूर्वापर विरोध होनेके कारण असम्भव है॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—पूर्वोत्तरविरोधाच्चेदं कपिल-दर्शनमसमञ्जसं निःश्रेयसकामैर्हेय-मित्यर्थः। तथाहि प्रकृतेः पारार्थ्याद्दृश्यत्वाच्च तस्या भोक्ता द्रष्टाधिष्ठाता च पुरुष इति *'शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्'* (सां॰सू॰ १/१३९) *'संहतपरार्थत्वात्'* (सां॰सू॰ १/१४०) इत्यादिभिरभ्युपगम्य तस्य पुनर्निर्विकारनिर्धर्मकचैतन्यत्वकर्त्तृत्वभोक्तृत्वशून्यत्वं कैवल्यरूपत्वञ्चाभिहितम्। *'जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः'* (सां॰सू॰ १/१४५) *'निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा'* (सां॰सू॰ १/२४६) इत्यादिभिः। गुणाविवेकविवेकौ पुंसौ बन्धमोक्षौ स्वीकृत्य तौ पुनर्गुणानामेव, न तु पुंस इत्युक्तम्। *'नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते'* (सां॰सू॰ ३/७१) *'प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत्'* (सां॰सू॰ ३/७२) इत्येवमादयोऽनेके विप्रतिषेधास्तत्स्मृतावेव मृग्याः॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वोत्तर मतोंके परस्पर विरोधके कारण कपिलका सांख्य-दर्शन असंलग्न अर्थात् असामञ्जस्यपूर्ण है। अतः मुक्तिकामियोंके लिए यह हेय है, अतः वर्जनीय है। इन परस्पर विरोधोंको *'तथाहि'* इत्यादि वाक्य द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है—पहले तो वे कहते हैं—पुरुषके भोगके लिए प्रकृतिकी प्रवृत्ति शय्यादिके समान है, क्योंकि संहति (समुदाय या पिण्ड अथवा संघात) विशिष्ट वस्तुकी पर-प्रयोजन-निर्वाहके लिए (परार्थके लिए) उपयोगिता है। पुनः प्रकृति दृश्य है, इसलिए उसका भोक्ता, द्रष्टा और अधिष्ठाता (परिचालक) चेतन पुरुष है। यह पुरुष शरीर, इन्द्रियादिसे भिन्न है। इस बातको *'संहतपरार्थत्वादि'* इत्यादि (सां॰सू॰ १/१४०) सूत्र द्वारा स्वीकार करके पुनः उस पुरुषको निर्विकार, निधर्मक, चेतनत्व-कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वसे शून्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, केवलस्वरूप कहा है। अतएव पूर्वापर उक्तिका विरोध स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। और भी—*'जड प्रकाश योगात् प्रकाशः'* (सां॰सू॰ १४५) सूत्रमें कहा है कि जड़की प्रकाश स्वरूपता हो नहीं सकती, अतएव सूर्यादिके समान आत्मा

ही चैतन्यके कारण प्रकाशस्वरूप है। बात यह है कि वैशेषिकोंके मतमें आत्मा सबसे पहले अप्रकाशस्वरूप जड़ रहती है, बादमें मनका संयोग होनेसे उसमें ज्ञानस्वरूप प्रकाश उत्पन्न होता है। सांख्यवादी इसके प्रतिवाद स्वरूपमें कहते हैं—*'जड प्रकाशयोगात्'* इत्यादि। इसका सार यह है कि जो जड़ है, वह चिरकालके लिए ही जड़ है, वह और प्रकाशस्वभाव हो नहीं सकता। इसमें भी वैशेषिक प्रश्न करते हैं—अच्छा, ठीक है, पुरुष प्रकाशस्वरूप न हो, किन्तु सूर्यादिके समान उसका धर्म-धर्मी भाव तो है कि नहीं? इसके उत्तरमें सांख्यवादी कहते हैं—*'निर्गुणात्वान्न चिद्धर्मा'* (सां॰सू॰ १/२४६) पुरुष स्वभावतः ही निर्गुण है, इसलिए उसका ज्ञानरूप धर्म और सत्त्वादि गुण नहीं है, आत्मा ज्ञान-स्वरूप, निर्गुण है। इस प्रकार इन सांख्य-सूत्रोंसे वे पुरुषका निर्गुणत्व, निधर्मकत्व इत्यादिका प्रतिपादन करते हैं। और एक विरोध देखा जाता है, यथा प्रकृतिके गुणके साथ अविवेक (भेद-ज्ञानका अभाव) होनेसे पुरुष बद्ध (पुरुषका संसार) है और विवेकसे मुक्त है—इसे स्वीकार करके बादमें वे कहते हैं कि यह बन्ध और मोक्ष सत्त्वादि गुणका ही है, पुरुषका नहीं। यथा सांख्यसूत्र है—*'नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते'* (सां॰सू॰ ३/७१) अर्थात् वास्तवमें पुरुषका बन्धन और मोक्ष नहीं है, प्रकृतिका ही संसारमें बन्धन है और उसीकी ही मुक्ति है। यह भी कहा गया है कि अविवेकके बिना पुरुषका एकान्त बन्धन अथवा मोक्ष नहीं है, अतएव वास्तव नहीं है। प्रकृतिके सम्बन्धसे ही यह वास्तव है, क्योंकि प्रकृति दुःखके कारण—धर्माधर्मादि गुणोंसे उसी प्रकार सम्पर्कयुक्त है, जिस प्रकार पशुका रज्जु-सम्पर्कसे बन्धन है और रज्जुके संयोगके अभावमें मुक्ति है। इस प्रकारसे ऐसी अनेक विरुद्ध उक्तियोंका सांख्य-दर्शनमें अनुसन्धान किया जा सकता है॥१०॥

सूक्ष्मा-टीका—विप्रतिषेधादिति। तथाहीति। प्रकृतेः पारार्थ्यं पुरुषभोगार्थत्वं शय्यादिवत् तस्याः संहतत्वात्। शरीरादीत्यस्यार्थः। शरीरादिकं संहतं पुमानसंहत-श्चिदेकरसोऽतस्ततोऽन्यः स इति। संहतेत्येतद् व्याख्यातप्रायम्। आदिशब्दास्त्रिगुणादि-विपर्ययादधिष्ठानाच्च भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्चेति चत्वारि सूत्राणि गृह्णाति। तेन भोक्तृत्वादिसिद्धिः। जड इति। जडचेतनौ हि द्वौ पदार्थौ तयोर्जडो न प्रकाशत

इति सिद्धम्। तस्मादात्मैव चैतन्यत्वात् प्रकाशपदार्थ इति निर्विवादमित्यर्थः। ननु जडोऽप्यात्मा ज्ञानगुणकस्तेन जगत् प्रकाशतां न तु चैतन्यमात्रः स इति चेत् तत्राह निर्गुणत्वादिति। धर्मयोगे परिणामित्वं तेनानिर्मोक्षश्च निर्गुणश्रुतिव्याकोपश्च स्यादतो निर्गुणचैतन्यमात्मेत्यर्थः। आदिना अविवेकाद् वा तत्सिद्धेरिति नोभयं तत्त्वाख्याने इति च सूत्रं ग्राह्यम्। प्रकृतिपुरुषविवेकाग्रहात् कर्त्तुः फलभोगाभिमानसिद्धेरिति पूर्वस्यार्थः। विवेकात् तत्त्वज्ञाने सति नोभयं कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वञ्च पुंसो नास्तीति परस्यार्थः। ततश्चाकर्त्तृत्वादि सिद्धम्। गुणाविवेकेति। प्रकृत्यविवेकविवेकावित्यर्थः। नैकान्तत इत्यस्यार्थः। प्रकृतिपुरुषाविवेकादेव पुंसो बन्धमोक्षाभिमानमात्रं वस्तुतस्तु प्रकृतेरेव ताविति। उक्तमर्थं स्फु
ससङ्गत्वाद्गुणयोगात् प्रकृतेस्तौ बोध्यौ। यथा पशोर्गुणयोगाद्बद्धो दृष्टस्तदयोगात् त्वितर इत्यर्थः। अविवेकनं प्रति प्रवृत्तिर्बन्धः विवेकिनं प्रत्यप्रवृत्तिस्तु मोक्ष इति निष्कर्षः। उक्तञ्च तस्मान्न बध्यते ज्ञानं मुच्यते नापि संसरति कश्चित् पुरुषः संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिरिति। अद्धा साक्षात्। तथाच कपिलमतस्य भ्रममूलत्वात् तदीययुक्तिभिः श्रुतिसमन्वयो न शक्यो विरोद्धुमिति राद्धान्तः॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार—*'विप्रतिषेधादित्यादि'* सूत्रको *'तथाहि प्रकृतेः'* इत्यादि भाष्य है। इसमें 'प्रकृतिकी परार्थता' का अर्थ है—पर-प्रयोजन निष्पादकता अर्थात् जिस प्रकार शय्यादि पुरुषका भोग सम्पादन करती है, क्योंकि प्रकृति संहत है अर्थात् देह, इन्द्रियादिसे सप्त्बद्ध है। *'शरीरादि व्यतिरिक्तः पुमान् संहतेपरार्थत्वात्'*—इस अनुमानका तात्पर्य यह है कि—शरीरादि सप्त्बद्ध (सप्तत) है, पुरुष असंहत है अर्थात् इन्द्रिय-शरीरादिसे युक्त नहीं है, प्रत्युत् शुद्ध ज्ञानानन्दमय है, अतएव शरीरादिसे पुरुष अन्य है। *'संहतपरार्थत्वात्'* इसकी व्याख्या प्रायः हो गयी है (सप्तत तत्त्व अपनेसे भिन्न किसी असप्तत तत्त्वके लिए उपमुक्त होता है। शय्या, आसन, इत्र इत्यादि दूसरोंके लिए होते हैं, इसी व्याप्तिसे अनुमान होता है कि प्रधानादि सभी तत्त्व दूसरोंके लिए हैं, इनसे पृथक् जो दूसरा तत्त्व है, वह पुरुष है)। *'इत्यादिभिरत्युपगम्येति'* में इत्यादि पदसे तात्पर्य है कि और भी चार सांख्य-सूत्रोंको ग्रहण किया गया है *'त्रिगुणादिविपर्ययात्'*—प्रकृतिसे तीन गुणोंका क्रमिक विकास होता है, पुरुषका ऐसा नहीं है, *'अधिष्ठानाच्च'*—पुरुष आरोपका अधिष्ठान है, *'भोक्तृभावात्'*—पुरुषके भोक्तृत्ववश और *'कैवल्यार्थम् प्रवृत्तेः'*—पुरुषकी मुक्तिके लिए प्रकृतिकी प्रवृत्ति है। इन चारों सूत्रोंसे

पुरुषका भोक्तृत्व, दृष्ट्र
हो रहा है। *'जडप्रकाशायोगात्'* इत्यादि सूत्रका तात्पर्य है—जगत्में दो पदार्थ हैं—एक जड़ और दूसरा चेतन। इनमें जो जड़ है, वह प्रकाश-स्वरूप नहीं है—यही प्रतिपादित हुआ है। अतएव आत्मा ही चैतन्यस्वरूपमें प्रकाश पदार्थ है। इस विषयमें कोई विरुद्ध मत नहीं है। यदि कहो, आत्मा जड़ ही है, तब ज्ञान-गुण विशिष्ट होनेपर उससे जगत्का प्रकाश हो किन्तु शुद्धचेतनस्वरूप आत्मा नहीं है। इस विषयमें कहते हैं—*'निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा'*—गुणरूप धर्म योग होनेपर तो परिणामी होगा, इसमें मुक्तिकी बाधा होगी और आत्माका निर्गुणत्व प्रतिपादित करनेवाली श्रुति भी बाधित होगी। अतएव तात्पर्य यह है कि निर्गुण चैतन्य-स्वरूप आत्मा है। *'धर्मेत्यादिभिः'* मे आदि पदसे *'अविवेकाद्वाततत्सिद्धेः'* एवं *'नोभयम् तत्त्वाख्याने'* ये दो सूत्र ग्राह्य हैं। इनमे प्रथम सूत्रका अर्थ है—प्रकृति एवं पुरुषके विवेकज्ञानके अभावमें आत्माका कर्त्तृत्व है, इसलिए उसे फलभोगाभिमान है। द्वितीय सूत्रका अर्थ है—विवेकसे तत्त्वज्ञान होनेके बाद फिर ये दोनों कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व पुरुषमें रहते नहीं हैं। अतः पुरुष अकर्त्ता, अभोक्ता एवं निर्गुण इत्यादि यह सिद्ध होता है। *'गुणाविवेकविवेकौ'* इत्यादिका अर्थ है कि प्रकृतिके साथ पुरुषका अविवेक और विवेक है। *'नैकान्ततो बद्ध मोक्षौ'* इत्यादि सूत्रका अर्थ है—प्रकृति पुरुषके अविवेकसे ही पुरुषका 'मैं बद्ध हूँ', 'मैं मुक्त हूँ'—इस प्रकार अभिमानमात्र है, वास्तव नहीं। वास्तवमें तो प्रकृतिका ही बन्धन और मुक्ति है। इसी बातको विस्तारपूर्वक कह रहे हैं—*'प्रकृते राजञ्स्यादित्यादि'* में 'आजञ्स्यात्' का अर्थ है वास्तवमें प्रकृतिका ससङ्गत्व अर्थात् सत्त्वादि गुण-योगके कारण, उसीका बन्धन एवं मुक्ति जानना चाहिये जिस प्रकार पशुका रज्जु-योगसे बन्धन है और रज्जुके संयोगके अभावमें मुक्ति है। सिद्धान्त यह है कि अविवेकी पुरुषके प्रति प्रकृतिकी चेष्टा ही बन्धन है और विवेकी पुरुषके प्रति प्रवृत्तिके अभावका नाम मुक्ति है। तत्त्वकौमुदीमें कहा गया है कि *'यन्मात्र वध्यतेऽद्धा'* इत्यादि—क्योंकि प्रकृतिका ही बन्धन और मुक्ति है, इसलिए कोई भी पुरुष साक्षात् सम्बन्धसे बद्ध नहीं है, और मुक्त भी नहीं है और संसारी भी नहीं

है किन्तु प्रकृति ही नाना जीवोंके आश्रित होनेसे संसारी है, बद्ध है और मुक्त है। 'अद्धा' शब्दका अर्थ—साक्षात् रूपसे (परम्परासे नहीं)। अतएव सिद्धान्त यह है कि कपिलमत भ्रममूलक है, इसलिए उनके द्वारा कथित मुक्तियोंके द्वारा वेदान्त-वाक्योंका ब्रह्ममें जो समन्वय है उसका विरोध नहीं किया जा सकता॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार श्रीमन् व्यासदेव प्रकृतिवादी सांख्य-मतके प्रवर्त्तक निरीश्वर कपिलके मत-खण्डनका इस सूत्रमें उपसंहार करते हुए कहते हैं कि इस मतमें पूर्वोत्तर अंशमें विरोध रहनेके कारण कपिलका सांख्य-दर्शन सामञ्जस्यहीन है। जो निःश्रेयस-प्रार्थी अर्थात् मुक्ति-कामी हैं उनके लिए यह मत हेय अर्थात् त्याज्य है। उनके लिए इस मतका आश्रय करना उचित नहीं है। इस मतमें परस्पर विरोधी उक्तियोंको मूल भाष्य, टीका और उनके अनुवादमें देखना चाहिये।

आचार्य श्रीशङ्करने इस मतमें अनेक विरोधी उक्तियोंको दिखाया है। वे कहते हैं कि इसमें कहीं सात इन्द्रियाँ और कहीं ग्यारह इन्द्रियाँ बतायी हैं। कहीं महत्तत्त्वसे तन्मात्राओंकी उत्पत्ति और कहीं अहङ्कारसे उनकी उत्पत्ति बतायी है। कहीं अन्तःकरणको एक बताया है तो कहीं तीन कहे गये हैं।

आचार्य श्रीरामानुजने कहा है—इस सांख्य-दर्शनमें पुरुषको कहीं निर्विकार, कहीं भोक्ता और कहीं निर्गुण कहा है और कहीं कहा है कि प्रकृतिके गुण पुरुषमें आरोपित होकर रहते हैं। इस प्रकार इसमें कितने ही परस्पर विरोधी वाक्य कहे गये हैं।

मूल सिद्धान्त यह है कि यह मत भ्रमपूर्ण और अयौक्तिक है। इस मतकी युक्तियोंसे वेदान्त-वाक्यके समन्वयका विरोध साधित नहीं हो सकेगा। यही सिद्धान्त है।

श्रीमद्भागवत वेदान्तका अकृत्रिम भाष्य है। इसमें वर्णित भगवदवतार देवहूतिनन्दन श्रीकपिलदेव-प्रणीत सेश्वर सांख्य-दर्शनकी विवेचना करनेपर प्रकृत रूपसे श्रुति-वाक्योंका वास्तविक (प्रकृत) समन्वय पाया जा सकता है।

भगवान् श्रीकपिलने कहा है—

अथ ते संप्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक्।
यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः॥
ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम्।
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२६/१-२)

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—माताजी! अब मैं आपको प्रकृति आदि सब तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् लक्षण बतला रहा हूँ, जिन्हें जानकर जीव प्रकृतिसम्बन्धी गुणोंसे मुक्त हो जाता है। आत्म-दर्शनरूप ज्ञान पुरुषोंकी हृदय-ग्रन्थिका छेदन करनेवाला है। इसे पण्डितजन निःश्रेयस अर्थात् आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिका कारण कहते हैं। उसी ज्ञानका मैं आपके सम्मुख वर्णन करता हूँ।

मैत्रेय मुनि विदुरजीको कपिलदेव वर्णित सेश्वर सांख्य-मतका वर्णन करते हुए कहते हैं—

य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम्।
भगवति कृतधीः सुपर्ण केतावुपलभते भगवत्पदारविन्दम्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/३३/३७)

अर्थात् हे विदुरजी! जो व्यक्ति श्रद्धाके साथ मुनिवर कपिलदेवके अभिमत इस गुह्य आत्मयोगतत्त्वका श्रवण और कीर्त्तन करते हैं, उनकी बुद्धि गरुड़ध्वज श्रीकृष्णमें निमग्न हो जाती है और वे अन्तमें श्रीभगवान्‌की श्रीपादपद्मसेवाको प्राप्त करते हैं।

पद्मपुराणादि शास्त्रोंमें दोनों कपिलका उल्लेख इस प्रकार है—

कपिलो वासुदेवाख्याः सांख्यं तत्त्वं जगाद ह।
ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथैव च॥
तथैवासुरये सर्वं वेदार्थैरुपवृंहितम्।
सर्ववेदविरुद्धञ्च कपिलोऽन्यो जगाद ह।
सांख्यमासुरयेऽन्यस्मै कु

अर्थात् दो कपिल हैं—एक भगवत्-अवतार और दूसरे निरीश्वरवादी। इनमें जो प्रथमोक्त हैं, वे भगवत्-आवेशावतार कार्दमि कपिल—वासुदेवके अंश हैं। उन्होंने ब्रह्मा इत्यादि देवगणोंको, भृगु

इत्यादि ऋषियोंको, 'आसुरि' नामक एक ब्राह्मणको और अपनी माता देवहूतिको सर्ववेदार्थसम्वलित सांख्यतत्त्वका उपदेश दिया था। जो दूसरे कपिल हैं, वे अग्निवंशज निरीश्वर हैं। इन्हीं निरीश्वरने सांख्य-दर्शनका प्रणयन किया है और इन्होंने ही बौद्ध मतावलम्बी 'आसुरि' नामक अन्य ब्राह्मणको सर्ववेदविरुद्ध कु
सांख्यतत्त्वका उपदेश दिया था। कार्दमि कपिल सत्ययुगमें आविर्भूत हुए हैं और अग्निवंशज नास्तिक्यवाद-प्रचारक कपिलने त्रेतायुगमें जन्म-ग्रहण किया था। देवहूतिनन्दन कपिल सेश्वर सांख्य-दर्शनके आदिकर्त्ता हैं। उनके द्वारा प्रणीत सांख्य-मत श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थमें सुस्पष्ट रूपसे पाया जाता है। निरीश्वर कपिलके प्रचारित मतने षड्-दर्शनमेंसे एक सांख्य-दर्शन नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त किया है। इस मतमें *'ईश्वरासिद्धेः'* (सांख्यदर्शन १/९२) सूत्र है, तदनुसार किसी भी प्रकारसे ईश्वर सिद्ध नहीं होता। ईश्वरको मानने चले, तो उन्हें बद्ध अथवा मुक्त कहना होता है, इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? मुक्त ईश्वरकी सृष्टिमें प्रवृत्ति नहीं है और बद्ध ईश्वरका ईश्वरत्व होता नहीं है। यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि ऐसा मान लेनेसे ईश्वर-प्रतिपादक श्रुतियोंकी क्या गति होगी? इसके उत्तरमें निरीश्वर सांख्यकार कपिल कहते हैं—ईश्वरविषयक शास्त्र-वाक्य मुक्तात्माओंके प्रशंसासूचक अथवा अणिमादि सिद्धियुक्त ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रादिके उपासनापरक हैं। इसके अतिरिक्त निरीश्वर सांख्य-दर्शनमें भागवतीय कपिल-मतके बहुत-से विरोधी मत लिपिबद्ध हैं। इतना ही क्यों? स्वमतके भी परस्पर विरोधी वाक्य सांख्य-दर्शनमें पाये जाते हैं। श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने प्रस्तुत सूत्रके भाष्य और टीकामें विस्तारपूर्वक इन विराधोंकी आलोचना की है। ग्रन्थ-विस्तारके भयसे उनका यहाँ पुनरुल्लेख नहीं किया जा रहा है। निरीश्वर कपिलने जड़-प्रकृतिको ही जगत्का कारण कहकर स्थापित किया है और तदनुकूल सम्पूर्ण युक्तियोंको प्रदर्शित किया है। भगवदवतार श्रीमद् वेदव्यासने स्वरचित ब्रह्मसूत्रमें इन सभी युक्तियोंका विशेष रूपसे खण्डन किया है और भाष्यकार विद्याभूषण प्रभुने अपने भाष्य और टीकामें इन युक्तियोंकी विशद रूपसे व्याख्या की है और उनका

अकाट्य खण्डन किया है। जो सारग्राही हैं, वे अनुसन्धान करके निरीश्वर सांख्य-मतके असारत्वको समझ ही लेंगे।

सभी वैष्णवाचार्योंने अपने भाष्यमें इस मतका खण्डन किया है। इतना ही नहीं स्वयं श्रीशङ्कराचार्यने भी अपने भाष्यमें इन सब मतोंका खण्डन किया है। अतः मङ्गलाकाङ्क्षी व्यक्तिमात्रके लिए ही इस भ्रमपूर्ण, अयौक्तिक, अशास्त्रीय, असार मतका परिवर्जन करना औचित्यपूर्ण है॥ १०॥

अवतरणिका भाष्य—अथारम्भवादो निरस्यते। तार्किका मन्यन्ते पार्थिवाद-यश्चतुर्विधाः परमाणवो निरवयवा रूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाः प्रलयकालेऽनारब्ध-कार्य्यास्तिष्ठन्ति, (नारायण तीर्थ रचित भाषा-परिच्छेदकी टीका (न्यायचन्द्रिका १५) सर्गकाले तु जीवादृष्टादिपुरःसराः सन्तः द्व्यणुकादिक्रमेण सावयवं स्थूलतरं जगत्कार्यमारभन्ते। (भा॰प॰ २७) तत्र द्वयोः परमाण्वोरदृष्टसापेक्षा क्रिया, तया संयोगे सति द्व्यणुकं ह्रस्वमुत्पद्यते। तत्र समवायसमवायिनिमित्तकारणानि क्रमात् परमाणुयुग्मतत्संयोगजीवादृष्टानीत्येवमग्रेऽपि। (भा॰प॰ १६) ततस्त्रयाणां द्व्यणुकानां क्रियया संयोगे सति त्र्यणुकं महदुत्पद्यते। न च द्वाभ्यामणुभ्यां त्र्यणुकारम्भः कारणभूम्ना कार्यमहत्त्वोत्पादनात्। एवं चतुर्भिस्त्र्यणुकैश्चतुरणुकं चतुरणुकैरपरं स्थूलतरं तैश्च स्थूलतरं तैश्चस्थूल स्थूलतममित्येवं क्रमेण महती पृथिवी महत्य आपो महत्तेजो महान् वायुश्चोत्पद्यते। कार्यगतरूपादिकन्तु स्वाश्रयसमवायिकारणगताद्रूपादेः। कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते। इत्थमुत्पन्नान् पृथिव्यादीनीश्वरे संजिहीर्षौ सति परमाणुषु क्रियया विभागात् संयोगनाशेन द्व्यणुकेषु नष्टेस्वाश्रयनाशात् त्र्यणुकादिनाश इति क्रमेण पृथिव्यादेर्नाशः। यथा पटस्य तन्तुनाशे। तद्गतस्य रूपादेस्तु स्वाश्रयनाशेनैवेति जगद्विलयप्रकारः। किञ्च परमाणुरत्र परिमण्डलसंज्ञस्तत्समवेतं परिमाणं तु पारिमाण्डल्यमभिधीयते। (वैशेषिक-दर्शन ७/१/२०) द्व्यणुकमणुसंज्ञं तत्समवेतं परिमाणं त्वणुत्वं ह्रस्वत्वञ्च। त्र्यणुकादिपरिमाणन्तु महत्त्वञ्चेति प्रक्रिया। तत्र संशयः—परमाणुभिर्जगदारम्भः समञ्जसो न वेति। तत्रादृष्टवदात्मसंयोगहेतुकं परमाणुगताद्यक्रियाजन्यतद्युग्मसंयोगारब्धद्व्यणुकादिक्रमेण सृष्टेः सम्भवात् समञ्जस इति प्राप्ते परिह्रियते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब न्याय-वैशेषिकोंके आरम्भवादका खण्डन किया जाता है। तार्किकोंके मतानुसार चार प्रकारके परमाणु हैं—पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय। प्रत्येक परमाणु ही निरवयव रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शगुण, पारिमाण्डल्य एवं परिमाणसे युक्त है।

(अणु परिमाणको ही परिमाण्डल्य परिमाण कहा जाता है।) प्रलयकालमें ये सभी परमाणु किसी भी कार्य—द्रव्यको उत्पन्न न करके अकार्य (अनारब्ध) अवस्थामें रहते हैं। सृष्टिके समय ये सभी परमाणु जीवके अदृष्टको लक्ष्यकरके द्वयणुकादि सृष्टिक्रमसे अवयवयुक्त स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम जगत्‌-कार्यका करते हैं। इस विषयमें सृष्टिक्रम इस प्रकारसे है—जीवके अदृष्ट सापेक्षसे दो परमाणुओंमें क्रिया होती है। इस अदृष्ट सापेक्ष क्रिया द्वारा दो परमाणुओंमें संयोग होता है, जिससे द्वयणुककी उत्पत्ति होती है। यह द्वयणुक ह्रस्व अर्थात् अति क्षुद्र परिमाणवाला होता है। इस सृष्टि-प्रक्रियामें तीन कारण हैं, यथा—समवायी कारण, असमवायी कारण और जीवादृष्टरूप निमित्त कारण। इनमें द्वयणुक-उत्पत्तिमें दो परमाणु समवायी कारण हैं, उन दोनों परमाणुओंकी क्रिया द्वारा संयोगमें असमवायी कारण है और जीवका अदृष्ट निमित्त कारण है—इसी प्रकार त्र्यणुकादिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये। इसके बाद तीन द्वयणुकोंमें जीवके अदृष्टको लक्षित करके क्रियाका जन्म होता है और इस क्रियाके द्वारा परमाणुओंका परस्पर संयोग होनेपर महत् परिमाण विशिष्ट एक त्र्यणुक अथवा त्रसरेणुका जन्म होता है। नैयायिकोंके मतमें दो क्षुद्र द्वयणुकसे महत् दीर्घ परिमाण विशिष्ट त्र्यणुक उत्पन्न नहीं होता किन्तु तीन द्वयणुकोंकी संख्या ही उस महत् दीर्घ परिमाणका कारण है। युक्ति यह है कि अणु परिमाण किसी भी परिमाणका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि परिमाण कारण होनेपर वह अपनेसे उत्कृष्टतर परिमाणका जनक होगा। अणुसे उत्कृष्टतर परिमाण अणुतर है, जो अप्रसिद्ध है। इसलिए संख्या ही दीर्घ परिमाणके कारण रूपमें स्वीकृत हुई है। इस अभिप्रायसे कहते हैं—*'कारण-भूम्ना कार्य महत्त्वोत्पादनात्'*—कारणकी बहुत्वपरक संख्याकार्यगत महत्वको उत्पन्न कराती है। कारणके बहुत्वके बिना कार्यका महत्व घटित नहीं होता इस प्रकार चार त्रसरेणु (त्र्यणुक) द्वारा चतुरणुक पदार्थ गठित होता है, चतुरणुकोंके द्वारा अन्य और एक स्थूलतर पदार्थ उत्पन्न होता है। इन स्थूलतर पदार्थोंसे स्थूलतम पदार्थकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारके क्रमसे महती पृथ्वी, महत् परिमाण जल, महत् तेज (अग्नि) और

महान वायु उत्पन्न होते हैं। कारण-गुण ही कार्य-गुणोंका आरम्भ करते हैं अर्थात् कार्य-पृथ्वी आदिमें जो रूपादि रहते हैं वे अपने आश्रय समवायी कारणगत रूपादिसे ही जन्मते हैं। कारणका गुण ही कार्यके गुणकी सृष्टि करता है। तदुपरान्त ईश्वर जब इस प्रकारसे उत्पन्न पृथ्वी आदि पदार्थोंको ध्वंस करनेकी इच्छा करते हैं, तब प्रत्येक परमाणुमें क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया द्वारा द्वयणुकादिका विभाग होता है और परस्पर संयोग शिथिल हो जाता है अर्थात् विभाग होनेपर संयोगका नाश हो जाता है। द्वयणुकादिके भङ्ग होनेपर 'अधिकरण' के अथवा समवायी कारणके नाशसे समवेत-कार्यके नाशके नियमके कारण त्र्यणुकादिका नाश होता है। इसी क्रमसे पृथ्वी आदिका उसी प्रकार नाश हो जाता है जिस प्रकार तन्तुके नाश होनेपर पट (वस्त्र) का नाश होता है। यह कार्य द्रव्यगत अर्थात् पटगत रूपादिका भी आश्रय (स्वाश्रय) (समवायीकारण) नाशाधीन है (नाशके अधीन है) यही जगत्-प्रलयका व्यापार (क्रम) है। परमाणु पदार्थको परिमण्डल कहा जाता है, इसलिए उसमें (परमाणु में) समवेत परिमाण ही पारिमाण्डल्य संज्ञा (नाम) से अभिहित है। द्वयणुकका नाम (संज्ञा) अणु है। उसमें समवेत अर्थात् समवाय सम्बन्धसे वर्त्तमान अणुक समवेत परिमाण-अणुत्व, ह्रस्वत्व नामसे कहा जाता है। त्र्यणुकादिका परिमाण—त्र्यणुकत्व और महत्व है। नैयायिकोंके आरम्भवादकी अर्थात् सृष्टि और प्रलयकी यही प्रक्रिया है। इसमें संशय यह है परमाणु सृष्टि द्वारा जगत्की उत्पत्ति (आरम्भ) समञ्जस (सङ्गत) है कि नहीं? इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी नैयायिक कहते हैं, हाँ यह समञ्जस ही है क्योंकि अदृष्ट पाप अथवा पुण्य अथवा धर्माधर्मविशिष्ट जीव (आत्मा) के साथ संयोग होनेसे दो परमाणुओंमें कारण रूपसे रहनेवाली प्राथमिक (आद्य) क्रियाके द्वारा दोनों परमाणुओंका संयोग होता है तथा उस युग्म संयोगसे द्वयणुक-उत्पत्ति (आरम्भवाद) है और इसी द्वयणुकादि क्रमसे महती पृथ्वी इत्यादिकी सृष्टि सम्भव है। सूत्रकार इस तार्किक सिद्धान्तका परिहार करते हुए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथारम्भेति। एतदारभ्य सप्तस्वधिकरणेषु प्रत्युदाहरण-सङ्गतिः। प्रकृतेश्चेतनेनानधिष्ठानात् विश्वकारणत्वं मास्तु परमाणूनां तु तेनाधिष्ठानात् तत्कारणत्वमस्त्विति परमाणुभिर्द्व्यणुकादिक्रमेण विश्वसृष्टिरिति तार्किकराद्धान्तोऽत्र विषयः। स प्रमाणमूलो भ्रममूलो वेति तत्र सन्देहः। तस्य प्रमाणमूलतां वक्तु तत्प्रक्रियां दर्शयति तार्किका मन्यन्त इत्यादिना। अदृष्टेति। जीवादृष्टेन परमाणूषु क्रियोत्पत्तिरित्यर्थः। न च द्वाभ्यामिति। तार्किका वदन्ति ह्रस्वादणोश्च द्व्यणुकात् महत् दीर्घञ्च त्र्यणुकमुत्पद्यते। द्व्यणुकगते ह्रस्वत्वाणुत्वे तु त्र्यणुके महत्त्वाद्योर्नारम्भके किन्तु तद्गता त्रित्वसंख्यैव तयोरारम्भिका। अन्यथा ततोऽप्यतिसौक्ष्म्ये प्रथिमानुपपत्तिः। एवं परिमण्डलाभ्यां परमाणुभ्यामणुद्व्यणुकमारभ्यते। तद्गता द्वित्वसंख्या तत्राणु-त्वाद्योरारम्भिका न तु पारिमाण्डल्यं तयोरारम्भकम्। तेनारम्भे ततोऽपि सौक्ष्म्यापत्तेरिति। कार्यरूपं कारणरूपादिति चाहुः। कार्यं पटस्तद्गतं यद्रूपं तत् खलु स्वाश्रयस्य पटस्य यत् समवायिकारणं तन्तवस्तद्गताद्रूपादुपद्यत इत्यर्थः। कारणगुणा हीतिव्याख्यात्यर्थः। इत्थमिति। संजिहीर्षौ संहर्त्तुकामे, आश्रयनाशात् द्व्यणुकविनाशात्। यथा पटस्येति। नाश इति पूर्वेण सम्बन्धः। तद्गतस्येति। पटगतस्य रूपस्य पटनाशेनैव नाश इत्यर्थः। किञ्चेति। अत्र तर्कसमये। तत्रादृष्टेति। अदृष्टवदात्मना जीवेन सह परमाणूनां संयोगस्तद्धेतुका या परमाणुगताद्यक्रिया तज्जन्यो यः परमाणुयुग्मसंयोगस्तदारब्धानि यानि द्व्यणुकानि तदादिक्रमेणेत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस आरम्भवाद सूत्रसे आरम्भ करके सात अधिकरणोंमें प्रत्युदाहरण (प्रतिवाद नामक) सङ्गति जानें। प्रकृति क्योंकि चेतन पदार्थके अधिष्ठानके बिना जगत्‌का कारण नहीं हो सकती; न हो, किन्तु परमाणुओंका चेतनाधिष्ठान (चेतनका आश्रय) रहनेसे वे ही जगत्‌के कारण हों, परमाणु-समुदाय द्वारा द्वयणुकादिके उत्पत्तिक्रमसे विश्व-सृष्टि होती है—तार्किकोंका यह सिद्धान्त इस अधिकरणका विषय है। इसमें संशय यह है कि उनका यह मत सप्रमाण है अथवा भ्रममूलक? पूर्वपक्षी इसे सप्रमाण मानते हैं और इसे प्रमाणित करनेके लिए *'तार्किका मन्यते'* इत्यादि वाक्य द्वारा सृष्टि-प्रक्रियाका वर्णन करते हैं। *'द्वयोः परमाण्वोरदृष्टसापेक्षा क्रिया'* इति अर्थात् जीवके अद्रष्ट-सापेक्षसे (अदृष्टसे युक्त जीवात्माके संयोगसे) दो परमाणुओंमें क्रिया उत्पन्न होती है। *'न च द्वाभ्यागणुभ्यामित्यादि'*—नैयायिकगण कहते हैं—ह्रस्व एवं अणु परिमाण द्वयणुकसे महत् और दीर्घ परिमाण त्र्यणुककी उत्पत्ति होती है। अब यहाँ इस स्थलपर इन नैयायिकोंका वक्तव्य है कि द्वयणुकोंका जिस

परिमाणमें ह्रस्वत्व और अणुत्व है, वह त्र्यणुकत्वके महत्वदीर्घत्वके परिमाणका जनक नहीं है किन्तु त्र्यणुकगत त्रिसंख्या ही उस महत्व और दीर्घत्वकी जनक है। यह स्वीकार न करनेपर उससे अतिसूक्ष्म द्वयणुकमें पृथुत्व परिमाणकी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं होती। (लोकमें सूक्ष्म तत्त्वसे स्थूल पदार्थोंकी उत्पत्ति देखी जाती है, जैसे कि तन्तुओंसे पट एवं अंशुओंसे तन्तु) इस प्रकार परिमण्डल-परिमाण दो परमाणुओंके संयोगसे जिस द्वयणुककी उत्पत्ति है, उसमें भी द्वयणुकगत द्वित्त्व संख्या अपने दीर्घत्व और महत्व-परिमाणका कारण है। इससे पृथक् परमाणु-परिमाण इस द्वयणुक परिमाणका कारण नहीं है। यदि इस परिमाण्डल्य-परिमाण द्वारा द्वयणुक-परिमाणकी उत्पत्ति कही गयी होती तो परमाणके अणुतरत्वकी आपत्ति होती। नैयायिकगण और भी कहते हैं—कार्यका रूप कारणके रूपसे उत्पन्न होता है। उदाहरणस्वरूप वे कहते हैं—तन्तुका कार्य—पट उसका रूप है, पटका समवायी कारण तन्तुके रूपसे उत्पन्न होता है। *'कारण गुणा हि'* इत्यादि न्यायके अर्थकी एक प्रकारसे व्याख्या हो ही गयी है। *'इत्थमिति—सञ्जिहीर्षौ'* इसी प्रकार—ईश्वरके विश्व-ध्वंसके इच्छुक होनेपर। *'आश्रयनाशात्-द्वयणुकादि'* नाश इति अर्थात् आश्रयके नाशसे अर्थात् द्वयणुकके नाशसे। *'यथा पटस्य तन्तुनाशे'* 'नाशः' इस पदकी पूर्वपद 'पट' के साथ योजना है। तद्गतस्य इति—पटस्थित रूपादिका पटनाशके द्वारा ही नाश होता है। *'किञ्च परमाणुरत्र' में* 'अत्र' का अर्थ है,—इस तार्किक सिद्धान्तमें। *'तत्रादृष्ट वदात्मसंयोग इति'* अर्थात् अदृष्ट विशिष्ट जो आत्मा जीव है, उसके साथ परमाणुओंके संयोग (सम्बन्ध) से दो परमाणुओंमें जो प्राथमिकी (आदिम) क्रिया होती है, उसीसे दो परमाणुओंका संयोग उत्पन्न होता है, इस संयुक्त परमाणु-द्वयमें समवाय सम्बन्धसे द्वयणुककी उत्पत्ति होती है, इसी क्रमसे त्र्यणुक, चतुरणुक इत्यादि उत्पन्न होकर विश्वकी सृष्टि करते हैं।

२—महद्दीर्घवदधिकरणम्

न्याय वैशेषिक द्वारा स्थापित आरम्भवादका खण्डन

सूत्र—महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्॥ ११॥

सूत्रार्थ—'ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्' ह्रस्व परिणाम द्व्यणुक द्वारा और परिमाण्डल्य-परिमाण-विशिष्ट परमाणु द्वारा 'महद्दीर्घवत्' महत् और दीर्घ परिमाण विशिष्ट त्र्यणुककी उत्पत्ति होती है—इस मतके समान 'वा' उनके और भी समस्त मत ही असमञ्जस अर्थात् युक्ति-विरुद्ध हैं॥ ११ ॥

सूत्रानुवाद—ह्रस्व परिमण्डल (अणु) द्व्यणुक परमाणुओंसे महत् एवं दीर्घ परिमाणवाले त्र्यणुककी उत्पत्तिकी तरह तथा अणु ह्रस्व द्व्यणुककी उत्पत्तिवादकी तरह अन्य मत भी असमञ्जस (असङ्गत) हैं॥ ११ ॥

गोविन्दभाष्य—इह वेति चार्थे। पूर्वतोऽसमञ्जसमित्यनुवर्त्तते। ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणुभ्यां महद्दीर्घत्र्यणुकवत्तन्मतं सर्वमसमञ्जसम्। परिमण्डलेभ्यो द्व्यणुकानि तेभ्यस्त्र्यणुकानि तेभ्यश्चतुरणुकादिक्रमेण पृथिव्यादीनामुत्पत्तिरितिवदन्यापि तत्प्रक्रिया विरुद्धेत्यर्थः। तथाहि निरवयवैः परमाणुभिः सावयवानि द्व्यणुकान्यारभ्यन्त इति न युक्तम्। सावयवैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमानानां तन्तूनामवयविपटारम्भकत्वदर्शनात्। तस्मात् सप्रदेशाः परमाणवोऽङ्गीकार्याः। इतरथा सहस्रपरमाणूनां संयोगेऽपि पारिमाण्डल्यानधिकपरिमाणतया प्रथिमानुपपत्तेरणुत्वह्रस्वत्वमहत्त्वाद्यसिद्धिः। न च कारणभूमा कार्यमहत्त्वोत्पादकः, मनःकल्पनमात्रत्वात्। तथाङ्गीकृतेऽपि प्रदेशभेदे तेऽपिसांशाः स्वैरंशैस्तेऽपि पुनः स्वैरित्यनवस्था अंशानन्त्यसाम्येन मेरुसर्षपयोस्तौल्यप्रसङ्गश्च। तस्मान्महद्दीर्घत्र्यणुकं ह्रस्वद्व्यणुकोत्पन्नं ह्रस्वद्व्यणुकञ्च परिमण्डलोत्पन्नमिति रिक्तं वचः। न चैतत् सूत्रं स्वदोषनिरासकतया व्याख्येयम् अस्य पादस्य परपक्षाक्षेपकत्वात्॥ ११ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'वा' शब्द समुच्चार्थमें है, जिसका तात्पर्य है—महत्, दीर्घ परिमाण भी असमञ्जस है। पूर्व सूत्रसे 'असमञ्जसम्' पदका अनुवर्त्तन यहाँ भी है। द्व्यणुकके ह्रस्व परिमाण और परमाणुके पारिमाण्डल्यसे अर्थात् द्व्यणुक और परमाणुसे महत् एवं दीर्घ त्र्यणुककी उत्पत्तिके समान समस्त मत ही असमञ्जस है। बात यह है कि जिस प्रकार परमाणुसे द्व्यणुक, द्व्यणुकसे त्र्यणुक, त्र्यणुकसे चतुरणुकादि होकर क्रमसे पृथ्वी इत्यादिकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया असङ्गत है, उसी प्रकार तत्सम्मत अन्य प्रक्रियाएँ भी असङ्गत (विरुद्ध) हैं—किस प्रकारसे? वही बता रहे हैं—निरवयव

(अवयवशून्य) परमाणुओंसे सावयव द्व्यणुक उत्पन्न होता है यह प्रक्रिया युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि सावयव छह (तन्तु) पार्श्वोंके साथ संयुक्त तन्तुओंसे ही अवयवी पटकी उत्पादकता देखी जाती है। अतएव द्व्यणुकोत्पत्तिमें भी परमाणुओंकी सावयता स्वीकार्य है। ऐसा न हो अर्थात् परमाणुके अवयव युक्तत्व (सावयवता) को स्वीकार न किया जाय, तो हजारों-हजारों परमाणुओंके संयोगसे भी अणु परिमाणके अनधिक (स्वल्प) परिमाण-विशिष्ट होनेके कारण अर्थात् समस्त परमाणुओंके ही पारिमाण्डल्य-परिमाण-विशिष्ट होनेपर उनसे स्थूल परिमाण (पृथुता) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए द्व्यणुक परिमाण, ह्रस्व परिमाण और महत् दीर्घ परिमाणोत्पत्तिकी व्यवस्था असङ्गत है। कारणकी बहुत्व संख्या ही कार्यके महत्-परिमाणकी उत्पादिका होती है—यह कहना भी चलता नहीं है, क्योंकि यह मनकी कल्पनामात्र है। इस युक्तिको स्वीकार करनेपर भी अंशवादके अनुसार किसी प्रदेशमें ये सांश परमाणु अपने अन्य अंशों द्वारा, वे फिर अपने अन्य अंशों द्वारा संयुक्त होंगे—इस प्रकार अनवस्था (जिसकी समाप्ति कभी न हो ऐसी स्थिति) हो जायेगी। इसके अतिरिक्त और भी एक प्रबल दोष देखा जाता है कि अनन्तांश विशिष्ट परमाणुओंको सुमेरुका कारण कहनेसे और सरसोंमें भी वही अनन्तांश रहनेसे दोनोंमें तुल्यता (साम्य) रूप आपत्ति होती है। अतएव महत्-दीर्घ त्र्यणुक ह्रस्व द्व्यणुकसे उत्पन्न हैं और ह्रस्व द्व्यणुक परिमण्डल परमाणुसे उत्पन्न होते हैं—ये सब बातें सारहीन (व्यर्थ) हैं? केवलाद्वैतवादी व्याख्या करते हैं कि यह सूत्र वेदान्तके ऊपर सभी सम्भावित दोषोंका निराकरण करनेके लिए प्रयुक्त किया जा सकता है, किन्तु ऐसा है नहीं। द्वितीय अध्यायका यह द्वितीय पाद परवादियोंके मतका प्रतिवाद (आक्षेप) तात्पर्य-अर्थक है॥ ११ ॥

सूक्ष्मा-टीका—महद्दीर्घवद्वेति। इह वाशब्दश्चार्थोऽनुक्तं ह्रस्वद्व्यणुकवदित्येतत् समुच्चिनोति। ततश्च परिमण्डलेभ्यो द्व्यणुकानीत्यादिव्याख्यानं सङ्गतिमत्। सप्रदेशाः सावयवाः। इतरथेति। पारिमाण्डल्यं परमाणुपरिमाणं तदधिकपरिमाणाभावेनेत्यर्थः। न चेति। न खलु बहुत्वसंख्यः कश्चिद्योगीन्द्रो यत्प्रभावात् कार्ये महत्त्वमुत्पद्येत। तस्मात् मनःकल्पनमात्रमेतद् वाचालानाम्। किञ्च कारणकार्ययोर्जनकत्वजन्यत्वनियमोऽपि

तैर्भग्न एव। पारिमाण्डल्यस्याणुत्वायानारम्भकत्वस्वीकारात् अणुत्वाद्योर्महत्त्वाद्यारम्भकत्वास्वीकाराच्च। तथेति। तेऽपि प्रदेशाः। अंशानन्त्येति। मेरोर्यथानन्तावयवत्वं तथा सर्षपश्यापीत्यापद्येत। न चैतत् सम्भवतीत्यर्थः। न चैतदिति। वेदान्तसिद्धान्तसम्भावितदोषनिरासकतया सूत्रमेतत् केवलाद्वैतिभिर्व्याख्यातम्। तन्न युक्तम्। तत्र हेतुरस्येति॥ ११ ॥

सूक्ष्मा-सार— *'महद् दीर्घवद्वा'* इत्यादि सूत्रमें जो 'वा' शब्द है वह समुच्चार्थमें है अर्थात् इससे *'ह्रस्वद्व्यणुकवद्'*—यह भी जाना जाता है। इसमें यह प्रमाणित किया गया है कि 'पारिमाण्डल्य-परिमाणसे युक्त परमाणुसे द्व्यणुक होता है' इत्यादि जो व्याख्या हुई है—वह सङ्गति युक्त है। *'तस्मात् सप्रदेशाः परमाणवः'* इत्यादिमें 'सप्रदेशाः' का अर्थ है—सावयव। *'इतरथा सहस्रपरमाणूनाम्'* इति इसका तात्पर्य है—पारिमाण्डल्य अर्थात् परमाणु-परिमाण, उससे उत्कृष्टतर परिमाण अर्थात् अणुतर परिमाणके अभावके कारण पृथुत्व अथवा विशालत्व हो नहीं सकता। *'न च कारण भूमेत्यादि'* ऐसा कोई भी बहुत्व संख्यायुक्त योगीन्द्र नहीं है, जिसके प्रभावसे कार्यमें महत्व उत्पन्न होगा। अतएव यह वाक्पटुओंके मनकी कल्पनामात्र है। और एक दोष है—एक परमाणुसे यदि बहुत्वकी उत्पत्ति है तो कार्य-कारणका जन्यजनक भाव-नियम भी वे भङ्ग कर रहे हैं। किस प्रकारसे? वही दिखा रहे हैं—क्योंकि पारिमाण्डल्य-परिमाणको द्व्यणुकपरिमाणका अनुत्पादक स्वीकार किया गया है और क्योंकि द्व्यणुकका अणुत्व एवं ह्रस्वत्वपरिमाण महत्व और दीर्घत्व परिमाणका अनुत्पादक स्वीकृत हुआ है, इसलिए बृहत्-परिमाणके प्रति क्षुद्र परिमाण कारण है—इस कार्य-कारणका जन्यजनक भाव व्याहत (बाधित) हो रहा है। *'तथाङ्गीकृते'* इत्यादि वाक्यमें तेऽपिका अर्थ है—वे प्रदेश भी। *'अंशानन्त्यसाम्येन इति'*—अनन्तावयत्वके अनुसार सरसों भी मेरूके समान हो जाता है—पर यह तुल्यत्व सम्भव नहीं है। *'न चैतत् सूत्रामित्यादि'*—केवलाद्वैतवादी सम्प्रदाय वेदान्त-सिद्धान्तमें सम्भावित दोषोंके खण्डन रूपमें इस सूत्रकी व्याख्या करते हैं, यह युक्तियुक्त नहीं है। इसका कारण है—*'अस्य पादस्य'* इत्यादि—यह पाद परपक्षके आक्षेप तात्पर्य अर्थमें है॥ ११ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब न्याय और वैशेषिक मतोंके द्वारा सिद्धान्तित *'आरम्भवाद'* का खण्डन किया जा रहा है। तार्किकोंके मतमें पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय—ये चार प्रकारके परमाणु स्वीकृत हुए हैं। पुनः इनमें प्रत्येक ही निरवयव, रूपरसादि गुणसे युक्त, पारिमाण्डल्य-परिमाण और प्रलयकालमें अनारब्धकार्य-स्वरूपमें वर्त्तमान रहता है। सृष्टिकालमें जीवादृष्टवश द्व्यणुकादि, क्रमसे अवयव विशिष्ट स्थूलतर जगत्की सृष्टि करते हैं। जीवके अदृष्टानुसार ही दो परमाणुओंमें क्रिया होती है एवं इस क्रियाके द्वारा परस्पर संयोगसे द्व्यणुककी उत्पत्ति होती है, जो अति क्षुद्र परिमाण है। इस सृष्टि प्रक्रियामें समवायी, असमवायी और निमित्त—ये तीन कारण हैं। इस प्रकार तीन द्वयगुणककी क्रिया द्वारा परस्पर संयोगसे महत्-त्र्यणुक अथवा त्रसरेणु उत्पन्न होते हैं।

नैयायिकोंके मतमें पुनः दो क्षुद्र द्व्यणुकसे महत्-त्र्यणुक उत्पन्न नहीं होता, किन्तु तीन द्व्यणुककी त्रित्व संख्या ही महत्-दीर्घ परिमाणका करण है। कारणका बहुत्व कार्यके महत्वको उत्पन्न करता है—इत्यादि विविध युक्तियोंको दिखाते हुए वैशेषिक, नैयायिक और तार्किकोंने अपने-अपने मत स्थापनकी चेष्टा की है, जो भाष्य और टीकाकी अवतरणिकामें वर्णित हुए हैं।

इस स्थलपर संशय है कि परमाणु-समष्टिके द्वारा जगत्का आरम्भ अर्थात् उत्पत्ति समञ्जस है कि नहीं? नैयायिकगण अपनी युक्तियोंका सामञ्जस्य दिखाते हुए अवश्य कहेंगे कि अदृष्ट-विशिष्ट जीवके संयोगवश परमाणुगत (परमाणुओंमें रहनेवाली) आद्य क्रियाजनित दो परमाणुओंका जो संयोग है, उसीसे द्व्यणुकादि क्रमसे जगत्की सृष्टिकी सम्भावना रहनेसे उनका अर्थात् नैयायिकोंका मत सङ्गत ही है। इस प्रकारसे मत निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि ह्रस्व, द्व्यणुक और परमाणुसे महत् और दीर्घ त्र्यणुककी उत्पत्ति जिस प्रकार असमञ्जस है, उसी प्रकार सभी तार्किकोंके मत भी असमञ्जस और युक्ति-विरुद्धताके कारण अश्रद्धेय है। इस सम्बन्धमें भाष्यकारने अपने भाष्य और टीकामें इन सब विचारोंको दिखाया है, जो द्रष्टव्य है।

आचार्य श्रीरामानुजके भाष्यका मर्म भी यही है कि ह्रस्व-परिमाण द्व्यणुक एवं परिमण्डल-परिमाण परमाणुसे दीर्घ और महत्-परिमाण चतुरणु इत्यादिकी उत्पत्ति युक्तिहीन है और वैशेषिकोंका दूसरा मत भी अयौक्तिक है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीमैत्रेयऋषिके वचनोंमें पाया जाता है—

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः॥
सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत्।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः॥

(श्रीमद्भा० ३/११/१-२)

अर्थात् श्रीमैत्रेयमुनिने कहा—विदुरजी! कार्यस्वरूप पृथ्वी आदिका जो सूक्ष्मतम अंश है—जिसका और कोई विभाग नहीं हो सकता, जो अनेक अर्थात् कार्यरूपको भी प्राप्त नहीं हुआ है, जिसका अन्य परमाणुओंके साथ संयोग भी नहीं हुआ है, कार्य एवं समुदायावस्था दूर होनेपर भी जो विद्यमान रहता है, उसे परमाणु कहते हैं। इन अनेक समुदित परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे ही मनुष्योंको भ्रमवशतः परमाणु-समष्टिरूप जीव-देहमें देही (अवयवी) बुद्धिका उदय होता है। जिसका सूक्ष्मतम अंश परमाणु है, उसकी अवस्था भेदकी प्राप्ति न होकर अपने सामान्य स्वरूपमें अवस्थित होनेपर पृथ्वी आदि कार्योंका जो ऐक्य (समुदाय अथवा समग्ररूप) है, उसीका नाम परम महत् है। इस समय उसमें न तो प्रलय आदि अवस्था भेदकी स्फूर्ति होती है, न नवीन-प्राचीन आदि कालभेदका भान रहता है और न घट-पट आदि वस्तुभेदकी ही कल्पना होती है। सारा प्रपञ्च ही परम महान है।

और भी कहा है—

अणुर्द्वौ परमाणु स्यात् त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः।
जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात्॥

(श्रीमद्भा० ३/११/५)

अर्थात् दो परमाणु मिलकर एक अणु होता है, तीन अणुओंके मिलनेको त्रसरेणु कहा जाता है। ये त्रसरेणु जब गवाक्षके द्वारा

घरमें प्रविष्ट होते हैं, तो सूर्यकी रश्मियोंमें प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं। अतिशय सूक्ष्म होनेके कारण पृथ्वीकी ओर आते हुए नहीं, अपितु आकाशमें उड़ते हुए दिखायी देते हैं।

और भी,

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-मसन्निधानात् परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते येषां समूहेन कृतो विशेषः॥
एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद् य-दसच्च सज्जीवमजीवमन्यत्।
द्रव्यस्वभावा-शयकालकर्म-नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम्॥
(श्रीमद्भा॰ ५/१२/९-१०)

अर्थात् इस प्रकारसे मान लिये जानेपर पृथ्वीकी सत्यता सिद्ध होती है, ऐसा नहीं है। पृथ्वी शब्दसे कही जानेवाली जितनी भी पार्थिव वस्तुएँ हैं, वे नाम मात्रके लिए सत्य होनेपर मिथ्या रूपमें निरूपित होती है। पृथ्वीका अपना उपादान कारण अति सूक्ष्म परमाणुओंमें लय हो जाता है और ये परमाणु भी नित्य नहीं हैं। ये अदृश्य हैं, अतः इनसे पृथ्वी आदि स्थूल कार्योंकी सिद्धि नहीं होती। वादीगण (वैशेषिक आदि) अज्ञानताके कारण मनसे ही इन परमाणुओंकी कल्पना कर लेते हैं। अतः परमाणुओंके संगठनसे रचित घट, पटादि भी नित्य नहीं हैं। पृथ्वीकी ही भाँति अन्य वस्तुओंमें जो स्थूल, कृश, विशाल-लघु, कार्य-कारण, चेतन-अचेतन आदि धर्मोंसे युक्त भेद है—वह सब भी कल्पित है। माया ही द्रव्य (पदार्थ), प्रकृति (स्वभाव), आशय, काल, तथा कर्मके नामसे उपलक्षित होती है और ये सब माया द्वारा ही रचित हैं॥ ११॥

अवतरणिका भाष्य—किमन्यदसमञ्जसं तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—और क्या असामञ्जस्य है, उसे भी कह रहे हैं—

सूत्र—उभयथापि न कर्मातस्तदभावः॥ १२॥

सूत्रार्थ—'उभयथापि'—कर्म (अदृष्ट) के कारण परमाणुमें जो क्रिया है, वह क्रिया परमाणुगत अदृष्टके लिए है अथवा जीवके आत्मगत

अदृष्टके लिए? इन दोनों पक्षोंमें ही 'न कर्म' कर्म अर्थात् अदृष्ट परमाणुकी क्रियाका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जीवके पाप-पुण्य जन्य अदृष्टका परमाणुमें रहना सम्भव नहीं है और जीवगत अदृष्ट जन्य-परमाणुमें क्रियाकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती, 'अतः'—इसलिए 'तदभावः'—जगत्-सृष्टिका अभाव हो जायेगा॥ १२॥

सूत्रानुवाद—परमाणुगत आद्यक्रिया परमाणुगत-अदृष्ट द्वारा सम्पादित है अथवा आत्मगत-अदृष्ट द्वारा सम्पादित है—दोनों ही प्रकारसे क्रियाका परमाणुमें होना सिद्ध नहीं होता। अतः परमाणुओंके संयोगसे जगत्की उत्पत्ति सम्भव नहीं है॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—परमाणुक्रियाजन्यतत्संयोगपूर्वकद्व्यणुकादिक्रमेण तार्किकैर्जगदुत्पत्तिरिष्यते। तत्र परमाणुक्रिया किं परमाणुगतादृष्टजन्या किंवात्मगतादृष्टजन्येति। नाद्यः आत्मपुण्यापुण्यजन्यादृष्टस्य परमाणुगतत्वासम्भवात्। नाप्यन्त्यः आत्मगतेन तेन परमाणुगतक्रियोत्पत्त्यसम्भवात्। न च संयुक्तसमवायसम्बन्धात् संभविष्यति निरवयवानां परमाणूनां निरवयवेनात्मना संयोगानुपपत्तेः। तदेवमुभयथापि नाद्यक्रियाजनकमदृष्टम्। जाड्याच्च, न ह्यचेतनं चेतनानधिष्ठितं स्वतः प्रवर्त्तते प्रवर्त्तयति वेति परीक्षितं प्राक्। न चात्मा वा तत्प्रवर्त्तकः। तदानुत्पन्नचैतन्यस्य तस्यापि तत्त्वात्। न चादृष्टानुसारीश्वरेच्छा तत्क्रियाहेतुः तस्या नित्यत्वेन नित्यं तत्प्रसङ्गात्। न चादृष्टोद्बोधाभावात् प्रतिसर्गे तदभावः तस्यापि सामग्रीसत्त्वेऽनावश्यकत्वात्। ततश्च नियतस्य कस्यचित् क्रियाहेतोरभावान्न सा। परमाणुषु तदभावान्न तत्संयोगः। तदभावाच्च न द्व्यणुकादिकमित्यतस्तदभावः सर्गाभावः स्यात्॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—परमाणुगत क्रिया जन्य दो परमाणुओंमें संयोग उत्पन्न होकर द्व्यणुककी उत्पत्ति होती है इत्यादि क्रमसे जगत्की उत्पत्ति नैयायिकगण मानते हैं। यहाँ जिज्ञासा यह है कि परमाणु क्रिया किस अदृष्टके कारण है। क्या वह परमाणुगत अदृष्ट जन्य है? अथवा जीवके आत्मगत अदृष्ट जन्य? इन प्रश्नोंमें प्रथम पक्ष अर्थात् परमाणुगत अदृष्ट जन्य है—यह कहते नहीं बनता; पुण्यापुण्य कर्म जन्य अदृष्ट जीवका ही सम्भव है, यह जीवमें आत्मगत ही रह सकता है, परमाणुगत रह नहीं सकता। और, दूसरे पक्ष अर्थात् आत्मगत अदृष्टसे परमाणुकी क्रियाकी उत्पत्ति है—यह भी समीचीन नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें कार्य-कारणका असामानाधिकरण्य घटित होता है। यदि कहो, संयुक्त-समवाय सम्बन्धसे जीवका अदृष्ट

परमाणुमें रहता है अर्थात् जीवके साथ संयुक्त परमाणु, परमाणुमें समवाय सम्बन्धसे वर्त्तमान अदृष्ट और उसी परमाणुसे ही क्रिया होगी, इसी प्रकार कार्य-कारणका समानाधिकरण्य सम्बन्ध हो सकता है—यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अवयवहीन किन्हीं दो वस्तुओंका संयोग होता नहीं है, परमाणु निरवयव है, आत्मा भी निरवयव है, तब आत्माका परमाणुके साथ संयोग किस प्रकार होगा? अतएव इन दोनों ही प्रकारसे जो अदृष्ट है, वह परमाणुमें प्राथमिक क्रियाका जनक नहीं हो सकता। एक कारण और भी है—परमाणु जड़-पदार्थ है, चेतन सम्पर्कके बिना द्व्यणुकादि सृष्टिमें उसकी प्रवृत्ति होगी कैसे? अचेतन पदार्थ चेतनाधिष्ठित न होनेपर स्वाधीन रूपसे प्रवृत्तिमान होते नहीं हैं और दूसरेकी प्रवृत्तिके प्रयोजक (प्रवर्त्तक) भी नहीं होते, इसका पहले ही विचार (परीक्षण) किया जा चुका है। यदि कहो, आत्मा ही परमाणुकी प्रवृत्तिका कारण है, यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि सृष्टिकी प्राथमिक अवस्थामें तुमलोगोंने ही ज्ञानके अभावमें आत्माका चैतन्याभाव कहा है। प्रवर्त्तनकालमें अनुत्पन्न चैतन्य परमाणुका अचेतनत्व होना ही प्रवर्त्तकताकी असम्भावनाका कारण दिखायी देता है। फिर भी यदि कहो—जीवकी अदृष्टतानुसारिणी ईश्वरकी इच्छा परमाणु क्रियाकी उत्पादिका हो सकती है, तो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि ईश्वरकी इच्छा नित्य है, अतएव नित्य सृष्टिका प्रसङ्ग आ पड़ता है। इस आपत्तिके समाधानमें यदि कहो कि सर्वदा जीवके अदृष्टकी उद्बोधक वस्तु न रहनेसे प्रत्येक सर्गमें अर्थात् प्रलयमें उस अदृष्ट-उद्बोधकका अभाव है, तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि उत्पत्तिकी सामग्री (कारण कूट कारण अर्थात् सामग्री) रहनेपर अदृष्टके उद्बोधककी और आवश्यकता नहीं रहती। अतएव सिद्धान्त यह है कि जब क्रियाका नियमसिद्ध (अव्यभिचारी) निर्दिष्ट कोई कारण नहीं है, उस समय परमाणु क्रिया हो नहीं सकती और दो परमाणुओंकी क्रियाके अभावमें परमाणुका संयोग भी असिद्ध है। संयोगके अभावसे द्व्यणुकादिकी उत्पत्ति भी असम्भव है, अतएव 'तदभावः' द्व्यणुकादिकोंके अभावसे अर्थात् जगत्-सृष्टिका अभाव हो पड़ता है॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—उभयथेत्येतत् केचिद्व्याचक्षते। सृष्टेः प्राक् निश्चलौ परमाणुक्रियया संयुज्य द्व्यणुकमुत्पादयत इति मन्यन्ते। तत्र क्रियानिमित्तं किञ्चिद्वाच्यं न वा। आद्ये जीवप्रयत्नाभिघातादि तन्निमित्तं वाच्यम्। तन्न सम्भवेत् तस्य सृष्ट्युत्तरकालिकत्वात्। द्वितीये क्रियानुत्पत्तिरित्युभयथापि न परमाणुकर्म। अतस्तदभावो द्व्यणुकादिक्रमेण सृष्ट्यभाव इति। परमाणूक्रियेत्यादि मूलग्रन्थः स्फु
तान् विचालयेत्। तेन तेभ्यो द्व्यणुकान्युत्पद्येरन्निति न च वाच्यम्। तत्र हेतुर्निरवयवानामिति। अव्याप्यवृत्तिः खलु संयोगो न स परमाणुभिः सार्द्धमात्मनः शक्यो वक्तु
न तु मूलावच्छेद इत्यवच्छेदकद्वयसव्यपेक्षः स दृष्टः। यत्तु परमाणुनामात्मनः संयोगादित्यादिरवच्छेदकः कल्प्यते तन्न चारु तस्यासम्बन्धस्य तत्त्वेऽतिप्रसङ्गात्। सम्बन्धस्य तत्त्वे तु तत्रापि तदन्तरकल्पनेऽनवस्थैवेति यत् किञ्चिदेतत्। तदेति प्रलये। तस्य जीवात्मनः। तत्त्वात् जडत्वात्। देहप्रतिष्ठितेन मनसा महात्मनः संयोगे तत्र ज्ञानादिगुण उत्पद्येत। तदा देहाभावेन ज्ञानानुत्पत्तेर्जड आत्मेत्यर्थः। तस्यादृष्टोद्बोधस्य। कस्यचिदिति। अदृष्टस्य जीवात्मन ईश्वरेच्छाया वेत्यर्थः। एवं प्रतिसर्गोऽपि न स्यात् परमाणुनां विभागाय क्रियोत्पत्तेरसम्भवात्। न तत्रेशेच्छा हेतुः तस्य नित्यत्वेनोक्तदोषापत्तेः। न च जीवादृष्टं भोगार्थत्वेन ख्यातस्य तस्य प्रलयार्थत्वकल्पनायोगात्॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार— *'उभयथापि'* इत्यादि सूत्रकी कोई कोई व्याख्याकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं यथा—सृष्टिके पूर्व निष्क्रिय अथवा जड़ दो परमाणु क्रिया द्वारा परस्पर संयुक्त होकर द्व्यणुकका उत्पादन करते हैं—यह नैयायिकोंका कहना है। इसमें प्रश्न यह है कि इस क्रियाके निमित्त अवश्य कु
तो वह क्या है? जीवका प्रयत्न अथवा अभिघात (शब्दजनक संयोग जैसे ओखलमें मूसल प्रहार) इत्यादि उस क्रियाका कारण कहे जाते हैं किन्तु यह तो सम्भव नहीं है क्योंकि वे तो सृष्टिके बाद ही हो सकते हैं और दूसरा पक्ष अर्थात् क्रियाका कोई निमित्त भी नहीं है, यह कहनेसे क्रियाकी उत्पत्ति नहीं होगी। दोनों ही प्रकारसे परमाणु क्रिया हो नहीं सकती। *'अतस्तदभावः'*—अतएव द्व्यणुकादि सृष्टिक्रमसे जगत्-सृष्टिका अभाव है—यह व्याख्या करते हैं। परमाणु-क्रिया-जन्य इत्यादि भाष्य-ग्रन्थका अर्थ सुस्पष्ट है, इसलिये पुनः व्याख्या नहीं हुई है। *'न च संयुक्तसमवायेन'* इत्यादि परमाणुके साथ संयुक्त आत्मामें

समवाय सम्बन्धसे वर्त्तमान अदृष्ट उन परमाणुओंकी क्रियाका सम्पादन करेगा—इसलिए क्रियान्वित उन परमाणुओंसे द्वयणुक उत्पन्न होंगे—ऐसा यदि कहते हो तो यह सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि *'निरवयवानामित्यादि'*—अवयव-शून्य परमाणुओंका अवयवशून्य आत्माके साथ संयोग नहीं हो सकता। इसमें युक्ति है—*'संयोग अव्याप्यवृत्ति'* अर्थात् स्वयंके अधिकरणमें ही उसका अन्यांशमें अभाव रहता है, यह संयोग परमाणुओंके साथ आत्माका है—यह भी कहा नहीं जा सकता क्योंकि अवच्छेदक (अंश) दो नहीं है—यह इसका तात्पर्य है—उदाहरण स्वरूप कहते हैं—*'वृक्षः कपिसंयोगी'*—'वृक्ष एक वानरसे युक्त है'—यह कहनेसे वृक्षके सर्वांशमें कपि (वानर) का संयोग नहीं ज्ञात होता बल्कि वृक्षके अग्रदेशमें उसका संयोग है और वृक्षके मूलदेशमें उसका अभाव है—इस प्रकार दो अंशोंको सापेक्षतापूर्वक देखा जाता है। तब जो परमाणुओंकी आत्माके साथ संयोग होनेसे क्रियोत्पत्ति है, यह भी नैयायिक कहते हैं तो इसमें अवच्छेदक (अंश) कल्पितमात्र हुआ है। यह तो ठीक नहीं है क्योंकि वह संयोग-सम्बन्ध यदि अयथार्थ (कल्पित) है तो किसी भी समय किसी भी देशके साथ संयोग हो सकता है। यदि सम्बन्ध (संयोग) सत्य है तो उसमें सम्बन्धान्तर है, इससे अनवस्था हो पड़ती है, अतएव ऐसी बातें निस्सार हैं। *'तदानुपपन्न चैतन्यस्य'* इत्यादिमें तदाका अर्थ है—प्रलयके समयमें। '*तस्यापि तत्त्वात् इति*' में तस्यका अर्थ है—जीवात्माका और तत्त्वात्का अर्थ है—जड़त्ववशतः। बात यह है कि देहमें अवस्थित मनके साथ जब आत्माका संयोग होता है, उस समय उस आत्मामें ज्ञान, सुख, दुःख, कृति, प्रकृति इत्यादि गुण उत्पन्न होते हैं किन्तु प्रलयकालमें देह न रहनेसे ज्ञानका अनुदय होनेपर व्यावहारिक रूपसे तो आत्मा जड़ ही रही न। *'तस्यापि सामग्री सत्त्वे इति'* में 'तस्य' अर्थात् अदृष्टके उद्बोधककी अपेक्षा अनावश्यक है। *'कस्यचित् क्रियाहेतोरिति'*—परमाणु क्रियाके किसी एक हेतुका अर्थात् अदृष्ट, जीवात्मा अथवा ईश्वरेच्छाका अभाव ही हेतु है। इस प्रकार प्रलयकी भी अनुपपत्ति (असिद्धि) है क्योंकि परमाणुओंके विभागके अनुकूल क्रियाकी उत्पत्ति असम्भव है। इसमें

ईश्वरेच्छाको कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि ईश्वरेच्छा नित्य है, इसलिए नित्य प्रलयकी आपत्तिरूप पूर्व वर्णित दोष घटित होता है। जीवके अदृष्टको भी प्रलयानुकूल विभागजनक क्रियाका कारण कहा नहीं जा सकता—इसमें आपत्ति यह है कि यदि ऐसा कहते हो तो जीवके भोगके अनुकूल रूपमें प्रसिद्ध उस अदृष्टकी प्रलयकारणतारूप कल्पना करना अयौक्तिक है॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—तार्किकोंके मतमें और क्या असामञ्जस्य है, उसीके वर्णनके अभिप्रायसे सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि—तार्किकगण जो कहते हैं—परमाणुके क्रियाजन्य तत् संयोगपूर्वक द्व्यणुकादि क्रमसे जगत्की उत्पत्ति होती है, वह परमाणु क्रिया क्या परमाणुगत अदृष्टजन्य है? अथवा आत्मगत अदृष्टजन्य? इन दोनों पक्षोंमें ही कर्म अर्थात् अदृष्ट परमाणुकी क्रियाका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जीवका पाप-पुण्य जनित अदृष्ट परमाणुमें रह नहीं सकता और जीवगत अदृष्टके निमित्त परमाणुमें क्रियाकी उत्पत्ति होना भी सम्भव नहीं है, इसलिए जगत् सृष्टिका अभाव है।

इस सम्बन्धमें भाष्यकारने अपने सारगर्भित भाष्य और टीकामें विस्तारपूर्वक व्याख्या की है, यह वहीं देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

तव विभवः खलु भगवन् जगदुदयस्थितिलयादीनि।
विश्वसृजस्तेऽंशांशास्तत्र मृषा स्पर्धन्ति पृथगभिमत्या॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१६/३५)

अर्थात् हे भगवन्! जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय और प्रवेश नियमादि जो कु

विश्वस्रष्टा ब्रह्मादि देवगण आपके ही अंशांश हैं। सृष्टि आदि कार्योंमें जो पृथक्-पृथक् ईश्वर रूपमें अभिमान करते हैं, वह व्यर्थ है।

और भी,

परमाणु-परममहतो-स्त्वमाद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः।
आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां यद्ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१६/३६)

अर्थात् छोटे-छोटे परमाणुओंसे लेकर बड़े-से-बड़े महत्तत्त्व पर्यन्त सम्पूर्ण वस्तुओंके आदि, अन्त और मध्यमें आप ही विराजमान हैं। पर आप स्वयं आदि, अन्त और मध्यसे रहित हैं। क्योंकि किसी भी पदार्थाके आदि और अन्तमें जो वस्तु रहती है, वही मध्यमें भी रहती है। अतः आप ही नित्य और सर्व-कारण वास्तव वस्तु हैं॥ १२॥

सूत्र—समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः॥ १३॥

सूत्रार्थ—'समवायाभ्युपगमाच्च' नैयायिकोंके समवाय नामक एक सम्बन्धको स्वीकार करनेके कारण उनका मत असंलग्न है। किस युक्तिसे? उत्तर है—'साम्यात्'—समवाय सम्बन्ध और अन्य समवाय सम्बन्धमें सम्बन्धी होनेसे साम्य देखा जाता है, इसलिए 'च'—भी—इसमें क्षति क्या है? उत्तर है—अनवस्थितेः—अनवस्था दोष होता है॥ १३॥

सूत्रानुवाद—अप्रामाणिक परमाणुकरणवाद स्वीकार करनेसे जैसे कणादमत असमञ्जस है, वैसे ही समवाय-सम्बन्ध माननेसे यह मत भी असङ्गत है। यदि मानते हैं, तो समवाय जिस सम्बन्धान्तरसे सम्बन्धित होता है, वह सम्बन्धान्तर भी अन्य सम्बन्धसे और अन्य सम्बन्ध भी किसी अन्य सम्बन्धसे ही सम्बन्धित होगा—इस प्रकार सूत्रोक्त अनवस्थिति (अनवस्था) प्रसक्त (प्रासङ्गिक) होती है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—समवायस्वीकाराच्चसमञ्जसं तन्मतम्। कु परमाणूनां द्व्यणुकैः सह समवाय-सम्बन्धस्तार्किकैरङ्गीकृतः। स खलु न सम्भवति। (भा॰प॰ ११) तस्यापि सम्बन्धित्वसाम्यात् तत्रापि समवायापेक्षायामनवस्थापत्तेः। तथाहि गुणक्रियाजातिविशिष्टबुद्धिं जनयन् समवायस्तैः सम्बन्ध एव जनयेदन्यथाति-प्रसङ्गात्। समवायान्तराङ्गीकारेऽनवस्था। स्वरूपमेव तत्र सम्बन्ध इति चेत्तर्ह्यन्यत्रापि स एवास्तु किं तेन। न च युक्तः सोऽभ्युपगन्तुम्। तस्य स्वरूपमात्रतया सर्वत्र सर्वधर्मप्राप्तेः किञ्च समवायवादिनां वायौ गन्धः पृथिव्यां शब्दः आत्मनि रूपं तेजसि बुद्धिरित्यापद्येत समवायस्यैकत्वेन तत्तत्समवायस्य तत्र सत्त्वात्। (वै॰द॰ ७/२/२८) न च तन्निरूपितः स नास्तीति बोध्यं तत्तन्निरूपितत्वस्यापि स्वरूपमात्रत्वेन तस्यापि तत्त्वात्। अतिरिक्तस्य च नियतपदार्थवादेऽसम्भवात्। तस्माद्विरुद्धस्तर्कसमयः॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—परमाणु इत्यादि अवयवमें उत्पन्न द्व्यणुकादि अवयवी द्रव्य उन परमाणुओंमें समवाय-सम्बन्धसे रहते हैं—इस कारण नैयायिकोंका समवाय स्वीकृत है। किन्तु यह मत सङ्गत नहीं होता, इसका कारण क्या है? उत्तर है—'साम्यात्'—समान भावसे समवाय स्वीकार हो पड़ता है। किस प्रकार? वही बता रहे हैं कि तार्किकोंने स्वीकार किया है—अवयवी द्व्यणुकोंके साथ अवयव परमाणुओंका समवाय सम्बन्ध है, परन्तु यह समवाय-सम्बन्ध सम्भवपर नहीं है, क्योंकि वह समवाय भी और एक समवाय-सम्बन्धमें वर्त्तमान (मौजूद) कहा जाता है, यह स्वीकार करनेपर उस सम्बन्धकी सत्ता भी अन्य समवाय-सापेक्ष होती है, इस प्रकार अनवस्था दोष घटित होता है। बात यह है कि समवाय-सम्बन्ध द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति विशिष्ट बुद्धिका जनक है। यह समवाय-सम्बन्ध द्रव्यादिके साथ अच्छेद्य (अखण्डित) रूपमें वर्त्तमान रहता है। किन्तु वह सम्बन्ध और किसी सम्बन्धसे वर्त्तमान है और उस सम्बन्धकी अपेक्षामें पुनः समवायको ही कहा जाता है—इस प्रकार अनवस्था दोष घटित होता है। समवाय-सम्बन्ध-वैशिष्ट्यमें समवायको सम्बन्ध रूपसे स्वीकार न करनेपर अति-प्रसङ्ग दोष घटित होता है और इस प्रकार अन्य समवाय-सम्बन्ध घटक रूपमें स्वीकृत होनेपर अनवस्था दोष होता है। यदि कहो, समवाय-सम्बन्ध-घटक सम्बन्धको स्वरूप-सम्बन्ध ही कहेंगे—यह भी कहा नहीं जा सकता। संयोगादि स्थलपर भी उसे स्वरूप-सम्बन्ध नहीं कह सकते, किसलिए? समवाय रूपमें एक अतिरिक्त पदार्थको स्वीकार करनेका क्या प्रयोजन है? इष्टापत्ति भी नहीं कह सकते; अर्थात् स्वरूप-सम्बन्धको भी समवायका सम्बन्ध मान नहीं सकते; क्योंकि उसमें दोष यह है कि यह स्वरूप-सम्बन्ध विशेष्य और विशेषण स्वरूप है। अतएव समस्त पदार्थोंमें ही समस्त धर्मोंकी प्राप्ति हो पड़ती है। किस प्रकारसे? वही बता रहे हैं—तुम्हारा मतसिद्ध समवाय एक है, अतः पृथ्वीका जो गन्ध-समवाय है, उसका और वायुके स्पर्श समवायके एकत्वके कारण वायुमें भी गन्धवत्त्वकी प्रतीति हो। इसी प्रकार पृथ्वीमें शब्द, आत्मामें रूप और तेजमें ज्ञानवत्ता हो सकती है। चूँकि समवाय एक है, अतएव

उन-उन द्रव्यादिमें गुणादिका समवाय वर्त्तमान है। यदि कहो, पृथ्वी निरूपित गन्ध समवाय, वायु निरूपित स्पर्श समवाय इत्यादि विशेष समवाय सामान्य समवायसे भिन्न हैं। अतएव पृथ्वीकी गन्ध वायुमें, और वायुका स्पर्श आकाशमें रह नहीं सकता—इस प्रकार कहनेसे भी दोषसे उद्धार हो नहीं सकता, क्योंकि तद्-तद् निरूपित तत्त्व भी तत्-तत् स्वरूपमात्र है। अतएव ये गन्धादि समवाय निरूपित समवायसे भिन्न नहीं हैं, समवायका ही स्वरूप हैं। इसी कारणसे गन्धादि निरूपित समवाय वायु इत्यादिमें भी हैं। व्यावहारिक रूपसे सर्वत्र ही समस्त धर्मसत्ताकी आपत्ति है। यदि कहो गन्धादि निरूपित समवाय शुद्ध समवायसे अतिरिक्त एक पृथक् पदार्थ है, तो ऐसा भी नहीं है। इसका कारण है, यह कहनेसे सप्त पदार्थवादी (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव) वैशेषिकोंके पक्षमें अतिरिक्त निरूपित समवाय कहे जानेपर सिद्धान्त-विरोध होता है, अतएव वह असम्भव है। इन सब कारणोंसे तार्किक सिद्धान्त विरुद्ध हो जाते हैं॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—समवायेति। परमाणु प्रभृतिष्ववयवेषु द्व्यणुकादिरवयवी समवायेन तिष्ठति। द्रव्येषु गुणकर्मणी। द्रव्यगुणकर्मसु द्रव्यत्वादिका जातिश्च तेनैव तिष्ठतीति तार्किका मन्यन्ते। नित्यसम्बन्धो हि समवायः। अथावयवविशिष्टगुणविशिष्टादिषु तिष्ठन् समवायः केन सम्बन्धेन तिष्ठेदिति पृच्छायां संयोगेन तिष्ठेदिति न शक्यं वक्तु
समवायेन तिष्ठेदिति चेत् तर्हि सोऽपि समवायेनेत्येवमनवस्था स्यादित्यर्थः। एतद्विशदयति तथाहीति। तैर्गुणादिविशिष्टैः सम्बन्ध एव सन् समवायस्तां गुणादिविशिष्टबुद्धिं जनयेत्। अन्यथा तैरसम्बन्धस्य तद्बुद्धिजनकत्वस्वीकारे सतीत्यर्थः। स्वरूपमेवेति। समवायस्य यत् स्वरूपं स एव तस्य सम्बन्धो न तु सम्बन्धान्तरं तेन नानवस्थेति चेत् उच्यते। तर्ह्यन्यत्र संयोगादावपि स एव स्वरूप-सम्बन्ध एवास्तु किं तेन समवायेन, संयोगादेर्गुणपरिभाषायाः कल्पितत्वात् न तया समुद्धार इति भावः। वेदान्तिनस्तु तत्र तत्र विशेषणतैव सम्बन्धो बोध्यः। न चेति। स स्वरूपसम्बन्धः। सर्वत्र सर्वधर्मप्राप्तिं प्रपञ्चयति समवायवादिनामित्यादिना। समवायस्यैकत्वेनेति। गन्धादिसमवायस्य वाय्वादिष्वपि सत्त्वादित्यर्थः। न च तदिति। गन्धनिरूपितः समवायो न वायौ शब्दनिरूपितस्तु न पृथिव्यामिति नातिप्रसङ्ग इति न वाच्यमित्यर्थः। तत्र हेतुस्तत्तदिति। समवायस्य यत् गन्धादिनिरूपितत्वं तत् किल समवायस्वरूपान्नातिरिक्तमतस्तस्यापि गन्धादि-

निरूपितसमवायस्यापि तत्त्वात् वाय्वादौ स्थितत्वात्। तेन च सर्वत्र सर्वधर्मप्राप्तिरित्यर्थः। अत्रैव केचिद्व्याचक्षते—समवायाभ्युपगमाच्च तर्कसिद्धान्तो विरुद्धः। ननु तदभ्युपगमे को दोषस्तत्राह साम्यादनवस्थितेरिति। द्व्यणुकं परमाणुभ्यामत्यन्तं भिन्नं सत् समवायमपेक्षते एवं समवायोऽपि समवायिभ्यामत्यन्तं भिन्नः सन्नन्येन समवायेन ताभ्यां सम्बध्येत। भिन्नत्वसाम्यादसम्बन्धस्य च सम्बन्धत्वादर्शनात्। तथा च तस्यापि तत्साम्यात् समवायान्तरमित्यनवस्थापत्तिः। स्वरूपस्य सम्बन्धत्वे तु समवायविलोपप्रसङ्ग इति॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार— *'समवायाभ्युपगमाच्चेति'*—अर्थात् तार्किकगण कहते हैं परमाणु इत्यादि अवयवोंमें द्वयणुकादि अवयवी समवाय-सम्बन्धसे रहते हैं। इसी प्रकार गुण-कर्म द्रव्यमें रहते हैं और द्रव्य-गुण-कर्ममें द्रव्यत्वादि अर्थात् द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व और सत्ताजाति समवाय-सम्बन्धसे रहते हैं। समवाय नित्य सम्बन्ध है, यह आगन्तुक नहीं है। (नैयायिक आचार्य) प्रशस्तपादका कहना है कि अयुत (जो मिले न हों) सिद्ध आधाराधेयभूत पदार्थोंमें इह प्रत्ययका हेतु समवाय कहलाता है जैसे *'इह तन्तुषु पटः'* (इन तन्तुओंमें पट है), *'गवि गोत्वम्'* (गायमें गोत्व है) *'पटे शुक्लादि रूपम्'* (पटमें शुक्लादि रूप है) इस प्रकार कार्यकारणमें (अवयव अवयवीमें) सामान्य-विशेषमें, गुण-गुणीमें जो सम्बन्ध है, वह समवाय है। वह एक है और व्योमकी तरह नित्य है तथा पृथक् सिद्ध द्रव्य-द्वयका सम्बन्ध संयोग है जैसे पृथक् सिद्ध रज्जु (रस्सी) और घट। अब इन नैयायिकोंसे प्रश्न है—इस अवयवात्मक परमाणुमें और गुण-विशिष्ट द्रव्यमें वर्त्तमान जो समवाय है—वह किस सम्बन्धसे है? यदि कहते हो कि संयोग सम्बन्धसे है, तो यह भी कहा नहीं जा सकता क्योंकि संयोग दो द्रव्योंका होता है, द्रव्यगुणोंका संयोग होता नहीं—यह तुम अङ्गीकार करते हो। इसमें भी यदि कहते हो कि इस समवाय-सम्बन्धमें समवाय वर्त्तमान रहेगा, ठीक है ऐसा हो, पर समवाय-सम्बन्ध-घटक-समवाय किस सम्बन्धसे रहेगा? इस प्रश्नके उत्तरमें पुनः यदि समवायको स्वीकार करते हो तो अनवस्था दोष हो पड़ेगा। इसी बातको भाष्यकार *'तथाहि गुण क्रिया जाति'* वाक्य द्वारा विस्तारपूर्वक कह रहे हैं—यह गुणादिविशिष्ट पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध-समवाय विशेष्य और विशेषणमें रहकर

उनकी विशिष्ट बुद्धिको उत्पन्न कर देता है। *'अन्यथाति प्रसङ्गात्'* इतिमें 'अन्यथा' से तात्पर्य है कि उन गुणादिके साथ विशेष्य जब सम्बन्धहीन हो जाता है, तब विशेषण-विशिष्ट विशेष्यकी प्रतीति सर्वत्र होने लगती है। (गुण-विशिष्ट विशेष्यकी नहीं)। *'स्वरूपमेवेति'*—यदि कहो, स्वरूप-सम्बन्धसे यह समवाय रहेगा अर्थात् समवायका जो स्वरूप है, वही समवायका सम्बन्ध है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है, अतएव अनवस्था दोष नहीं होगा, तो इसपर कहते हैं—ऐसा ही है तो *'अन्यत्रापि स एवास्तु किं तेन'*—अन्यत्र संयोगादि स्थलपर भी वैसा ही हो,—वही स्वरूप-सम्बन्ध ही हो—'किं तेन' से अभिप्राय है—समवाय स्वीकार करनेका प्रयोजन ही क्या है? भावार्थ यह है—संयोगादिको तुमलोग जो गुणोंमें परिगणित कर रहे हो, वे तो कल्पित हैं, कल्पित परिभाषाके आधारपर तो दोषसे उद्धार नहीं हो सकता। वैदान्तिक इन सब द्रव्यगुण विशिष्टादि बुद्धिमें स्वरूप-सम्बन्ध ही स्वीकार करते हैं, समवाय नहीं, यह ज्ञातव्य है। *'न च युक्तः सोऽभ्युपगन्तुम्'* इति में 'सः' से अभिप्राय है कि स्वरूप-सम्बन्ध भी समवाय-सम्बन्ध-घटक नहीं कहा जा सकता। कहनेसे सर्वत्र सर्व-धर्मप्राप्ति दोष घटित होता है—इसीको *'किञ्च समवायवादिनामित्यादि'* वाक्य द्वारा विस्तारपूर्वक दिखा रहे हैं। *'समवायस्यैकत्वेनेति'*—समवाय एक होनेके कारण गन्धादि-समवाय, वायु इत्यादिमें भी है—इस कारण (सर्वत्र सर्वधर्म प्राप्ति दोष घटता है)। *'न च तन्निरूपितः'* इति—यदि कहो, गन्ध-निरूपित-समवाय वायुमें नहीं है, शब्द-निरूपित-समवाय पृथ्वीमें नहीं है, अतएव उक्त आपत्ति नहीं है—यह भी कहा नहीं जा सकता, उसका कारण है *'तत्तन्निरूपित'* इत्यादि-गन्धादि निरूपित जो समवाय है, वह समवाय-स्वरूपसे भिन्न नहीं है। अतएव उस गन्धादि निरूपित समवायकी भी वायु इत्यादिमें सत्ता है, अतः वायु इत्यादिमें पृथ्वी इत्यादिके धर्मकी जो आपत्ति है वही वक्तव्य है। इस स्थलपर कोई-कोई व्याख्या करते हैं—*'समवायाभ्युपगमाच्च तर्क सिद्धान्तो विरुद्धः'*—नैयायिक और वैशेषिकगण समवायको स्वीकार करते हैं, इससे वेदान्तियोंके मतके साथ विरोध घटित होता है। यदि कहो—उसे स्वीकार करनेमें दोष क्या है? इसपर उत्तर देते हैं—

'साम्यादनवस्थितेः'—समस्त समवायोंका ऐक्य-कारण-दोष एवं अनवस्था दोष होता है। किस प्रकारसे? वही बता रहे हैं—द्वयणुक—दो परमाणुओंसे एकान्त (अत्यन्त) भिन्न होकर भी स्वतन्त्र-समवाय नामक एक सम्बन्ध द्वारा दोनों परमाणु सम्बन्ध युक्त हो जाते हैं। इस भिन्नत्वकी तुल्यतावश फिर असम्बन्धका सम्बन्धत्व रहता नहीं, इसलिये इसमें क्षति यह है कि उस समवायका भी द्रव्यगुणादि साम्यवश घटक-सम्बन्धित अन्य कोई एक समवाय है, इस प्रकारसे अनवस्थापत्ति है। स्वरूपको उसका सम्बन्ध कहनेपर समवाय-स्वीकारका प्रसङ्ग निष्प्रयोजन है, अतएव समवायका विलोप है॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें नैयायिकोंके मतकी और एक अयौक्तिकता दिखायी है। उनके मतमें समवाय नामक जो एक सम्बन्ध स्वीकृत है, उसमें वह समवाय-सम्बन्ध अन्य समवाय-सम्बन्धसे सम्बन्धित है, इसलिए अनवस्था (तर्कका अनन्तकाल तक चलते रहना) दोष उपस्थित होता है। यदि किसी सम्बन्धके बिना ही पदार्थोंको सम्बन्धित किया जा सकता है, तो वह सम्बन्ध हिमालय और विन्ध्य पर्वतको सम्युक्त क्यों नहीं कर देता?

भाष्यकारने अपने भाष्य और टीकामें इस विषयमें विस्तारपूर्वक व्याख्या की है, अतः इस जटिल विषयकी पुनरुक्ति नहीं की जा रही है। इस प्रसङ्गभाष्य और टीकाके अनुवाद देखे जाने चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें पढ़ा जाता है—

यदा क्षितावेव चराचरस्य विदाम् निष्ठाम् प्रभवञ्च नित्यम्।
तन्नामतोऽन्य द्व्यवहारमूलं निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम्॥
(श्रीमद्भा॰ ५/१२/८)

अर्थात् हम जो सर्वदा ही पृथ्वीमें स्थावर और जङ्गम पदार्थोंकी उत्पत्ति एवं विनाश देख रहे हैं, वे सब पृथ्वीके ही विकारमात्र हैं, पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीमें ही मिल जाते हैं। जितनी भी परिणामशील (आदि एवं अन्तसे युक्त) वस्तुएँ हैं, वे सब नामके लिए ही भिन्न दिखायी देती हैं, वे पृथ्वीकी रूपान्तरमात्र हैं। अर्थ क्रिया—जैसे जल लाना आदि कार्य-भेदसे जिसका सत्य रूपमें

अनुमान किया जाता है, उसका भी मूल कारण पृथ्वीसे अतिरिक्त और क्या हो सकता है, तुम स्वयं ही निर्णय करो।

कार्यका मूल कारण अवगत होनेपर भी उस कार्यकी उपलब्धि अपने आप होती है, इसमें नाना प्रकारके अयौक्तिक बातोंकी अवतारणा करनी नहीं होती। जिस प्रकार मृत्-पिण्डका ज्ञान होनेपर उससे उत्पन्न द्रव्यकी उपलब्धि होती है, इसी प्रकार सर्वकारण-कारण भगवान्‌का विषय अवगत हो जाय तो और किसी विषयमें ज्ञानका अभाव रहता नहीं है। तब वैशेषिक और नैयायिकोंके समान और-और असार युक्तियोंकी कल्पना भी नहीं करनी होती॥ १३॥

सूत्र—नित्यमेव च भावात्॥ १४॥

सूत्रार्थ—'नित्यमेव'—समवायको जब नित्य कहा जाता है, तो उस समय समवाय सम्बन्धी जगत् 'च' भी, 'भावात्' नित्य हो पड़ता है, अतएव नैयायिक मत असंलग्न अथवा असमञ्जस है॥ १४॥

सूत्रार्थ—समवाय एक सम्बन्ध विशेष है, उस सम्बन्धकी नित्यता स्वीकारनेसे उससे सम्बन्धित जगत्‌की भी नित्यता हो जायेगी॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—समवायस्य नित्यत्वस्वीकारात्तत्सम्बन्धिनोऽपि जगतो नित्यत्वप्रसङ्गादसमञ्जसं तन्मतम्॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—समवायका नित्यत्व स्वीकार करनेके कारण उस समवाय-सम्बन्धसे सम्बन्धी जगत्‌का भी नित्यत्व हो पड़ता है किन्तु जगत् अनित्य है। अतः उनका मत इस असङ्गति दोषके कारण दूषित है॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—नित्यमिति। सम्बन्धनित्यत्वं खलु सम्बन्धिनित्यत्वमन्तरा न सम्भवतीति भावः। अत्र व्याचक्षते। परमाणवश्चेत् प्रवृत्तिस्वभावास्तदा नित्यं सर्गप्रसङ्गः निवृत्तिस्वभावाश्चेन्नित्यं प्रलयप्रसङ्ग इत्युभयनित्यतापत्तेरसमञ्जसस्तर्कसमय इति॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार—अभिप्राय यह है कि सम्बन्धीकी सत्ता सम्बन्धके सत्ताधीन होकर रहती है अन्यथा वह सम्भव नहीं अर्थात् सम्बन्धीके नित्य न होनेपर सम्बन्ध नित्य रहता नहीं है। इस विषयमें व्याख्याकर्त्ता

कहते है कि परमाणुओंका स्वभाव यदि कार्योत्पादकता है तो सदा-सर्वदा सृष्टि क्यों नहीं होती? यदि कार्यका स्वभाव निवृत्ति है तो नित्य ही प्रलय होना चाहिये, इस प्रकार दोनों ही पक्षोंमें नित्यताकी आपत्ति है। अतएव उनका तर्क सङ्गति-हीन है॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—समवायको स्वीकार करनेवाले तार्किकोंका मत खण्डन करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि वे जब समवायको नित्य स्वीकार करते हैं, तब उनके मतमें तत्सम्बन्धित जगत्की भी नित्यताको स्वीकार करनेका प्रसङ्ग आ जाता है। इस कारणसे भी नैयायिकोंके मतको असमञ्जस कहना होगा, क्योंकि जगत् अनित्य है।

सम्बन्ध-नित्यत्व कभी भी सम्बन्धी-नित्यत्वके बिना हो नहीं सकता। प्रवृत्तेरप्रवृत्तेवा—परमाणुओंका स्वभाव यदि प्रवृत्तियुक्त है, तो सृष्टिकार्य नित्य ही होना चाहिये और यदि उनका स्वभाव निवृत्तियुक्त है, तो प्रलय-प्रसङ्ग नित्य होना चाहिये। वस्तुतः दोनों ही स्थलोंपर नित्यताकी बाधा है;—अतः तार्किकोंका यह मत असमञ्जस है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥

(श्रीमद्भा० १०/१४/२२)

अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् अनित्य है, इसलिए स्वप्नवत्, अचिरस्थायी, ज्ञानशून्य, जड़ और अतीव दुःखप्रद है। आप सच्चिदानन्द-स्वरूप, अनन्त हैं। आपके आश्रित अचिन्त्यशक्तिसे इसकी (जगत्की) उत्पत्ति और विनाश होता है, तथापि यह सत्यकी भाँति प्रतीत होता है॥ १४॥

सूत्र—रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्॥ १५॥

सूत्रार्थ—नैयायिकोंके मतकी असमञ्जसताका और एक कारण है—'रूपादिमत्त्वाच्च'—पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय परमाणुओंमें रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्ताके स्वीकारके कारण, 'विपर्ययः'—परमाणुका

नित्यत्व-निरवयवत्ववाद भङ्ग होता है। प्रमाण? 'दर्शनात्'—क्योंकि रूपादिमान् घटादिमें इस प्रकार देखा जा सकता है॥ १५॥

सूत्रानुवाद—पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय—इन चार प्रकारके परमाणुओंको रूप-रस-गन्ध और स्पर्श-विशिष्ट (युक्त) स्वीकारनेपर भी हे नैयायिकगण! तुम्हारे अभिमत नित्यता और निराकारताके विपरीत अनित्यता, स्थूलता और साकारता इत्यादि दोषोंकी सम्भावना हो जाती है। ऐसा देखा जाता है कि रूपादि गुणयुक्त घटादि वस्तुएँ नित्य नहीं रहतीं॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां परमाणूनां रूपरसगन्धस्पर्श-वत्त्वाङ्गीकारात्तेषु नित्यत्वनिरवयत्वविपर्ययोऽनित्यत्वसावयवत्वप्राप्तिः स्यात् रूपादिमति घटादौ तथा दर्शनादिति स्वीकारपरित्यागादसमञ्जसं तन्मतम्॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पार्थिव—भूमि सम्बन्धित, आप्य—जलीय, तैजस—अग्नि सम्बन्धित और वायवीय—परमाणुओंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श विशिष्टता स्वीकार करनेके कारण पूर्व स्वीकृत परमाणुओंका नित्यत्व और अंशहीनत्वके अर्थात् निरवयवत्वके विपरीत होनेसे अनित्यत्व और सावयवत्व आ जाता है, प्रमाण? क्योंकि रूपादि विशिष्ट घटादिमें अनित्यत्व और सावयवत्व देखे जाते हैं। अतएव इसके (परमाणुके नित्यत्व और निरवयवत्व-स्वीकारके) परित्यागके कारण नैयायिकमत असङ्गत है॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—रूपादिमत्त्वादिति। पार्थिवादयः परमाणवो रूपादिमन्तो नित्याश्चेति तार्किकसिद्धान्तः। स न युक्तः। तेऽनित्याः स्थूलाश्च रूपादिमत्त्वाद्घटादिवदिति विपरीतानुमानसत्त्वात्॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार—नैयायिक और वैशेषिकोंका सिद्धान्त यह है कि पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय परमाणु रूप-रसादि विशिष्ट हैं और वे नित्य हैं। यह मत युक्तियुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि इस वादके प्रतिकूल अनुमान होता है—यथा—*'पार्थिवादिपरमाणवः अनित्याः स्थूलाश्च (अवयविनः) रूपादिमत्त्वात् घटादिवत्'*—पार्थिवादि परमाणु अनित्य और अवयवविशिष्ट हैं—यह साध्य है, हेतु—रूपादिमत्ता है। दृष्टान्त है—घटादि॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—नैयायिक एवं वैशेषिकगण यह मानते हैं कि जो समस्त भूत-भौतिक प्रपञ्चका मूल कारण है, वह रूपादि गुणोंसे युक्त परम अणु परिमाणवाला एवं नित्य है, उनके इस मतमें भी सामञ्जस्य नहीं है क्योंकि मूल कारणको यदि रूपादि गुणोंसे युक्त माना जाय, तब मूल कारणमें परमाणुके नित्यत्व एवं निरवयत्वके विपरीत स्थूलत्व (सावयवत्व) एवं अनित्यत्वका प्रसङ्ग आ जाता है क्योंकि रूपादि विशिष्ट घटादिमें इस प्रकार देखा जाता है। अतः अनित्यत्वादिरूप व्यापकके अभावमें रूप व्याप्यका अभाव पर्यवसित होकर परमाणुके स्थानपर ब्रह्मको ही जगत्का कारण सिद्ध करता है। उनका नित्यत्व प्रमाण सिद्ध न होनेसे वैसे ही निर्मूल हो जाता है, जैसे वट वृक्षपर यक्षादिके न होनेपर भी 'इह वटे वृक्षः' ऐसा व्यवहार किया जाता है। अतः पहले नित्यत्व स्वीकार करते हैं और पुनः स्वीकारका परित्याग करते हैं—इसलिए यह मत अयौक्तिक है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः।
यतोऽव्ययस्य नैतानि तत् सत्यं ब्रह्म चिद्भवान्॥

(श्रीमद्भा॰ ८/१२/५)

अर्थात् इस जगत्का जन्म, स्थिति, अन्त सब ब्रह्मसे ही हैं, किन्तु ब्रह्ममें जन्म, मृत्यु आदि कु
चिन्मय स्वरूप हैं। वे ब्रह्म आप ही हैं॥ १५॥

सूत्र—उभयथा च दोषात्॥ १६॥

सूत्रार्थ—'उभयथा'—परमाणुओंका रूपादि स्वीकार न करनेसे उनके कार्य स्थूल घटपटादिका भी रूपाभाव हो जाता है और रूपादि स्वीकार करनेसे परमाणुगत रूपादिका अनित्यत्व—स्थूलत्वादि दोष होता है 'च' इस प्रकार दोनों ही प्रकारसे 'दोषात्'—दोष होनेसे असङ्गति है॥ १६॥

सूत्रानुवाद—परमाणुओंको रूपवान और अरूपवान दोनों प्रकारसे माननेमें ही दोषका निश्चय होनेसे परमाणुवादकी सिद्धि नहीं हो सकती॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—परमाणूनां रूपाद्यनङ्गीकारे स्थूलपृथिव्यादेरपि तदभावप्राप्तिः। तत्परिजिहीर्षया रूपाद्यङ्गीकारे तु प्रागुक्तदोष इत्युभयथा क्षोदाक्षमत्वादसमञ्जसं तन्मतम्॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—परमाणुओंमें रूपादि स्वीकार न करनेपर उनके कार्य स्थूल घट-पटादिमें रूपादिकोंका अभाव घटित हो पड़ता है। सुतरां इस दोषके परिहारके लिए यदि घट-पटादिमें रूपादिको स्वीकार किया जाता है, तो इस स्थितिमें परमाणुओंका अनित्यत्व और स्थूलत्वादि पूर्वोक्त दोष आ जाते हैं। इस प्रकारसे दोनों ही स्थलों अर्थात् रूपवत्ता और अरूपवत्तामें दोष होनेसे उक्त मतमें असामञ्जस्य एवं अविचारणीयता निश्चित है॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—उभयथेति। तदभावप्राप्तिः रूपाद्यभावप्रसङ्गः। तत्परिजिहीर्षयेति स्थूलपृथिव्यादिषु रूपाद्यभावप्रसङ्गो माभूदिति तद्दोषपरिहारेच्छया पुनः परमाणुषु रूपाद्यङ्गीकारे सति तेष्वनित्यत्वस्थूलत्वरूपपूर्वोक्तदोषापत्तिरित्यर्थः॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार—*'उभयथापि'* इत्यादि सूत्रमें 'तद्भाव प्राप्तिः' का अर्थ है रूप, रस, स्पर्शादिका अभाव ही हो। *'तत् परिजिहीर्षयेति'* अर्थात् यदि इस आपत्तिके निराकरणके लिए अर्थात् स्थूल पृथ्वी इत्यादिमें रूपादि-अभावकी आपत्तिके परिहारकी इच्छासे परमाणुमें रूपादि स्वीकार करते हैं, तब परमाणुओंमें स्थूलत्व, अनित्यत्व इत्यादि पूर्वोक्त दोष आ जाते हैं॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—परमाणुवादी तार्किकोंके मतमें और एक अयौक्तिता है—इसीके प्रदर्शन मूलमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि परमाणुओंको रूपादिमान माननेसे ही दोष उपस्थित होता है, ऐसी बात नहीं है, अपितु रूपादिके बिना भी कारणका गुण कार्यमें आता है। यदि सभी परमाणुओंमें उपचित (वृद्धिगत) चारों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) गुण मानें, तो सभी पृथ्वी, जल, तेज, वायु भूतोंमें समानताका दोष आने लगेगा—जलमें भी गन्ध; तेजमें गन्ध एवं रस और वायुमें रूप, रस, गन्धकी उपलब्धि होने लगेगी। यदि भूतोंमें अपचित (क्षीण) गुण माना जाय, तो सभी भूतोंमें एक-एक गुण ही होगा। तब तेजमें स्पर्श नहीं होगा, जलमें रूप स्पर्श तथा पृथ्वीमें

रूप, स्पर्श, रस गुण नहीं होंगे। इस प्रकार दोनों ही तरहसे दोष है। हमारे (वेदान्त) सिद्धान्तमें महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) के गुण श्रुति-सिद्ध होनेसे उनमें कोई दोष नहीं है तथा ये पाँचों महाभूत सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ब्रह्मसे अधिष्ठित माने गये हैं—

आकाशं शब्दमात्रं तु स्पर्शमात्रं समाविशत्।
द्विगुणस्तु ततो वायुः शब्दस्पर्शात्मकोऽभवत्॥
रूपं तथैवाविशतः शब्दस्पर्शगुणावुभौ।
त्रिगुणस्तु ततो वह्निः सा शब्द स्पर्शवान् भवेत्॥
शब्दः स्पर्शः रूपञ्च रसमात्रं समाविशत्।
तस्माच्चतुर्गुणा आपो विज्ञेयास्तु रसात्मिकाः॥
शब्दः स्पर्शः रूपञ्च रसश्चेद्गन्धमाविशत्।
संहतान् गन्धमात्रेण तानाचष्टे महीमिमाम्॥
तस्मात् पञ्चगुणा भूमिः स्थूला भूतेषु दृश्यते।
शान्ताः घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः॥
परस्परानुप्रवेशात् धारयन्ति परस्परम्॥
(विष्णुपुराण १/२)

इस प्रकार स्पष्ट रूपसे वहाँ कहा गया है, अर्थात् आकाशमें शब्द मात्र; वायुमें शब्द, स्पर्श (दो); तेजमें शब्द, स्पर्श, रूप (तीन); जलमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस (चार); पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—ये पाँच गुण हैं।

दूसरी बात यह है कि यह भी अनुभव-सिद्ध है कि पृथ्वी गन्ध, रूप, रस और स्पर्श—इन चार गुणोंका समूह होनेके कारण स्थूल है। जल रस, रूप और स्पर्श—इन तीन गुणोंका समुदाय होनेके कारण पृथ्वीकी अपेक्षा सूक्ष्म है। तेज रूपात्मक और स्पर्शात्मक होनेके कारण सूक्ष्मतर तथा वायु केवल स्पर्शात्मक होनेके कारण सूक्ष्मतम है।

सूत्रकार कहते हैं कि परमाणुओंका रूपादि अङ्गीकार न करनेपर स्थूल पृथ्वी आदिके भी रूपादिका अभाव प्रसङ्ग उपस्थित होता है,

दूसरी बात है कि रूपादिका अङ्गीकार करनेपर भी पूर्वोक्त दोष आ जाते हैं। इस अवस्थामें दोनों ओर ही विचारासह अर्थात् विचारकी अयोग्यता है, जिससे इस मतमें सामञ्जस्यका अभाव है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः॥

एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मात्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८२/४५-४६)

हे गोपयो! पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश—ये पञ्च महाभूत जिस प्रकार सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंके आदि, अन्त मध्यमें, और भीतर-बाहर आदि रूपमें वर्त्तमान रहते हैं, उसी प्रकार मैं भी सभीके भीतर एवं बाहर विराजमान रहता हूँ। इसलिए तुमलोगोंसे मेरा कभी वियोग नहीं है। सभी प्राणियोंके शरीरमें पाँचों भूत कारण रूपमें वर्त्तमान हैं, आत्मामें नहीं, आत्मा भी भोक्ताके रूपमें भूतोंमें (जीवोंमें) विराजमान है, कारण रूपमें नहीं। यह दोनों ही परिपूर्ण परमात्मारूपी मुझमें प्रकाशित हो रहे हैं—ऐसा समझो॥ १६॥

अवतरणिका भाष्य—अथ सर्वथानुपादेयत्वमुपदिशन्नुपसंहरति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद नैयायिक मत सभी प्रकारसे अनुपादेय एवं अग्राह्य है, यह उल्लेख करते हुए उस मतका उपसंहार करते हैं—

सूत्र—अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा॥ १७॥

सूत्रार्थ—'अपरिग्रहाश्च'—विशेष रूपसे समस्त वादीगण ही इस वेद-विरुद्ध परमाणुवादको अङ्गीकार नहीं करते, 'च' तथा पूर्वोक्त असङ्गतिके कारण 'अत्यन्तमनपेक्षा' श्रेयःकामीजनोंकी इसमें सम्पूर्ण रूपसे ही अनपेक्षा अर्थात् अनास्था है॥ १७॥

सूत्रानुवाद—औपनिषदों द्वारा गृहीत न होनेसे यह परमाणु कारणवादका श्रेयार्थियोंके लिए अत्यन्त ही अनादरणीय है॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—कपिलादिमतानां केनचिदंशेन शिष्टैर्मन्वादिभिः परिग्रहात् कथञ्चिदपेक्षा स्यात्। अस्य तु परमाणुकारणवादस्य वेदविरुद्धस्य तैः केनाप्यंशेनापरिग्रहादसङ्गतेश्च नात्र श्रेयोऽर्थिनामपेक्षा स्यादिति॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—शिष्ट (श्रद्धेय) मनु इत्यादिने कपिलादिके मतोंको कु
उनके प्रति कु
परमाणु-कारणवाद वेद-विरुद्ध है, इसीसे मनु इत्यादि शिष्टगणोंमें से कोई भी इसे किसी भी अंशमें ग्रहण नहीं करते और असङ्गतिके कारण भी इस मतमें श्रेयोकामी (अपने मङ्गलकी इच्छा रखनेवाले) व्यक्तियोंकी आस्था अथवा आदरणीयता नहीं रह सकती॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—अपरिग्रहादिति। केनचिदंशेनेति। सत्कार्यताद्यंशेनेति बोध्यम्। असङ्गतेश्चेति। इयञ्च पूर्वव्याख्यानेषु विस्फु
तर्कशास्त्रनिष्ठा च दुर्योनिप्रदेत्युक्तम् मोक्षधर्मे—*'आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्। तस्यैव फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं वने मम'* इति॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार— *'अपरिग्रहात्'* इत्यादि सूत्रका केनचिदंशेन इत्यादि भाष्य है—किसी किसी अंश द्वारासे तात्पर्य है—जैसे सत्कार्यवाद इत्यादि द्वारा ऐक्य है, यह समझना चाहिये। असङ्गतेश्च इति—यह असङ्गति पूर्ववर्णित व्याख्यामें परिस्फु *'श्रेयोऽर्थिनाम्'* से तात्पर्य है—परमार्थ-प्राप्तिके इच्छुक व्यक्तियोंका। तर्क-शास्त्रमें निष्ठा निन्दित जातिमें जन्मका कारण होती है—यह कथन महाभारतके शान्तिपर्वमें मोक्षधर्ममें कहा गया है यथा— *'आन्वीक्षिकीम् तर्कविद्याम् वने मम'* किसी शृगालने कहा है—मैं पूर्व जन्ममें निष्फल तर्कविद्यामें अनुरक्त होकर अध्ययन करता था, उसके ही विपाक (परिणामफल) से मुझे वनमें वास और शृगालका जन्म प्राप्त हुआ है॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें परमाणुवादियोंका मत समस्त प्रकारसे ही अनुपादेय (अनुपयोगी) है, इसीका ज्ञापन करते हुए उपसंहार करते हैं। शिष्ट मनु इत्यादि द्वारा कपिलादिके मतको किसी-किसी अंशमें स्वीकार किये जानेके कारण कु
है, किन्तु वेद-विरुद्ध परमाणुवादी वैशेषिकों और नैयायिकोंके मतका कोई भी अंश शिष्टगणों द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ है। परमार्थकी

आकांक्षा रखनेवाले कोई भी इस प्रकारके वेद-विरुद्ध मतको पहली बात तो ग्रहण ही नहीं करेंगे। भाष्यकारने अपनी टीकामें लिखा है कि तर्क-शास्त्र-निष्ठा दुर्योनिकी प्रापक (प्राप्त करानेवाली) है। इस विषयमें श्रीमहाभारतका प्रमाण भी दे रहे हैं। वह टीकामें देखने योग्य है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी श्रीसार्वभौमके वचन हैं—

तबे भट्टाचार्य प्रभु सुस्थिर करिल।
स्थिर हञा भट्टाचार्ये बहु स्तुति कैल॥
जगत् निस्तारिले तुमि—सेइ अल्प कार्य।
आमा उद्धारिले तुमि—ए शक्ति आश्चर्य॥
तर्कशास्त्रे—जड़ आमि यैछे लौहपिण्ड।
आमा द्रवाइले तुमि, प्रताप प्रचण्ड॥

(चै॰च॰म॰ ६/२१२-२१४)

इसके बाद श्रीमहाप्रभुने भट्टाचार्यको सब प्रकारसे सुस्थिर किया। स्थिर होनेपर श्रीभट्टाचार्यने श्रीमहाप्रभुकी बहुत प्रकारसे स्तुति की—आपने जगत्‌का निस्तार किया है, यह कार्य तो आपके लिए अल्पमात्र है। परन्तु हे प्रभु! आपने जो मेरा उद्धार किया है, यह आपकी आश्चर्यमय शक्तिका परिणाम है, क्योंकि मेरी मति तो लौह पिण्डकी भाँति तर्क-शास्त्रमें जड़ होती जा रही थी। मेरे हृदयको आपने द्रवित कर दिया है—यह आपका प्रचण्ड (महानतम) प्रताप है।

सार्वभौम कहे—आमि तार्किक कु
तोमार प्रसादे मोर ए सम्पत्—सिद्धि॥
महाप्रभु विना केह नाहि दयामय।
काकेर गरुड़ करे, ऐछे कोन हय॥
तार्किक शृगाल सङ्गे भेउ भेउ करि।
सेइ मुखे एवे सदा कहि 'कृष्ण' हरि॥
काँहा बहिर्मुख तार्किक शिष्यगण सङ्गे।
काँहा एइ सङ्ग-सुधा-समुद्र-तरङ्गे॥

(चै॰च॰म॰ १२/१८१-१८४)

अर्थात् श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यने कहा, हे गोपीनाथ मैं तो बड़ा ही कु
सिद्धि प्राप्त हुई है। श्रीमन्महाप्रभुके बिना अन्य कोई दयामय नहीं है, अरे! ऐसा कौन है जो काकको गरुड़ बना सकता हो। पहले तो मैं तार्किकरूपी भेड़ियोंके साथ भेउ-भेउ किया करता था, आज प्रभुकी दयासे अपने उसी मुखसे 'कृष्ण-कृष्ण, हरि-हरि' किया करता हूँ। कहाँ तो मैं कु
रहा करता था और कहाँ वही मैं अब अमृत-समुद्रकी तरङ्गोंमें निमग्न हो रहा हूँ।

अनुभाष्यमें कहा गया है कि, पयारस्थ 'बहिर्मुख' से तात्पर्य है जो बहिः रूप-रसादिमें स्वयंको भोक्ता रूपमें अभिमान करके अपनी इन्द्रिय-तर्पणमें व्यस्त एवं कृष्णसेवासे विमुख हैं, वे ही बहिर्मुख हैं। जड़-विषय भोग-परायण अभिज्ञानसे कृष्णसेवाके स्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती। अप्राकृत राज्यके बहिर्देशमें देवीधाम अवस्थित है, इस राज्यकी समस्त वस्तुएँ ही प्राकृत हैं। स्वरूप-विभ्रान्तिसे वे ही बद्धजीवको सेव्य-वस्तु रूपमें प्रतीत होती हैं।

और भी,

येइ ग्रन्थकर्त्ता चाहे स्वमत स्थापिते।
शास्त्रेर सहज अर्थ नहे ताहा हैते॥

'मीमांसक' कहे—'ईश्वर हय कर्मेर अङ्ग।'
'सांख्य' कहे—जगतेर प्रकृति कारण प्रसङ्ग॥

'न्याय' कहे—'परमाणु हैते विश्व हय।'
'मायावादी' 'निर्विशेष' ब्रह्म 'हेतु' कय॥

'पातञ्जल' कहे—'ईश्वर हय स्वरूप आख्यान।'
'वेदमते' कहे 'ताँरे' स्वयं भगवान्॥

छयेर छय मत व्यास कैला आवर्त्तन।
सेइ सब सूत्र लञा 'वेदान्त'-दर्शन॥

'वेदान्त'—मते ब्रह्म 'साकार' निरूपण।
'निर्गुण' व्यतिरेके तिँहो हय त' 'सगुण॥'

परम कारण ईश्वरे—केहो नाहि माने।
स्व-स्व मत स्थापे परमतेर खण्डने॥

ताते छय दर्शन हैते 'तत्त्व' नाहि जानि।
'महाजन' येइ कहे सेइ 'सत्य' मानि॥

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
(महाभारत, वनपर्व)

श्रीकृष्णचैतन्य वाणी—अमृतेर धार।
तिँहो ये कहये वस्तु, सेई 'तत्त्व' सार॥
(चै॰च॰म॰ २५/४८-५७)

अर्थात् अन्य संन्यासियोंके भक्ति-सापेक्ष वचनोंको सुनकर श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीने कहा—शङ्कराचार्यने अद्वैतवादके स्थापनमें अतिशय आग्रहके साथ वेदान्त-सूत्रोंकी अन्य प्रकारसे व्याख्या की। भगवत्ताको मान लेनेपर अद्वैतवाद रहता नहीं। इसलिए आचार्यने भगवत्-तत्त्व प्रतिपादक अन्य सभी शास्त्रोंका खण्डन करनेका प्रयास किया। निज मतकी स्थापनाके लिए अन्य शास्त्रोंका सहज अर्थ परित्याग करना ही मतवादका नियम है। देखो, जैमिनि आदि मीमांसकोंने वेदका मूलतात्पर्य जो भक्ति है, उसका त्याग करके ईश्वरको कर्मका अङ्ग कहा है। कपिलादि निरीश्वर सांख्यकारने प्रकृत वेदार्थका परित्याग करके प्रकृतिको जगत्के कारण रूपमें निदर्शन किया है। गौतम और कणादादिने न्याय और वैशेषिक शास्त्रमें परमाणुओंको ही विश्वका कारण बताया है। इस प्रकार अष्टावक्रादि मायावादी निर्विशेष-ब्रह्मको ही जगत्के कारण रूपमें दिखा रहे हैं। पातञ्जलि इत्यादि राजयोगियोंने अपने योगशास्त्रोक्त कल्पनामय ईश्वरको स्वरूपतत्त्व कहकर स्थापित किया है। इन सब मतवाद परायण आचार्योंने वेदसिद्ध स्वयं भगवान्का परित्याग करके अपने खण्डभावसे खण्ड-प्रतीतिमय एक-एक मतकी स्थापना की है। षड्-दर्शनके छह मतोंकी उत्तम प्रकारसे विवेचना करके तत्-तत् मतका खण्डन करते हुए श्रीव्यासदेवने भगवत्-तत्त्व-प्रतिपादक समस्त वेद-सूत्रोंका

अवलम्बन करके वेदान्तसूत्रका निर्माण किया है। वेदान्त-मतमें ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप साकार हैं। निर्विशेषवादियोंने ब्रह्मको 'निर्गुण' और विशेष स्थलोंमें भगवान्को 'सगुण' त्रिगुणमय कहकर प्रतिपादन किया है। वस्तुतः तत्त्व-वस्तु जो हैं, वे केवल निर्गुण अथवा त्रिगुणातीत नहीं है, परन्तु वे अनन्त, चिद्-गुणोंके आधार 'सगुण' विग्रह हैं। मतवादियोंके मतमें, परम कारण ईश्वर (विष्णुको) देखा नहीं जाता अर्थात् कोई भी सर्वेश्वरेश्वर समस्त कारणोंके कारण विष्णुको नहीं मानता। उसपर भी एक-दूसरेके मतका खण्डन करते हुए अपने-अपने मतवादकी स्थापना करनेका प्रयास करते हैं। अतएव महाजनोंने जो कहा है, उसीको सत्य जानना होगा।

महाभारतके वनपर्वमें कहा है—तर्क सहज रूपसे ही प्रतिष्ठाशून्य है, समस्त श्रुतियोंका मत भी भिन्न-भिन्न है, जिनका मत भिन्न न हो, ऐसा कोई ऋषि हो नहीं सकता। इस कारण धर्मतत्त्व गूढ़ रूपसे आच्छादित है अर्थात् शास्त्रादि पाठ करके धर्मतत्त्वको पाना कठिन है। अतः जिन्हें महाजन कहकर साधुओंने सुस्थिर किया है, वे जिस पन्थको 'शास्त्र पन्था' कहते हैं, उसी पथपर समस्त व्यक्तियोंके लिए गमन करना उचित है। ब्रह्मसूत्रके भाष्य रूपमें श्रीवेदव्यासजीने श्रीमद्भागवतको अवतरित किया है और इसीके अभिमतानुसार महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यने इन सूत्रोंका अर्थ किया है। इन्हींके द्वारा किये गये अर्थको हम सत्य मानते हैं, क्योंकि वे महापुरुष हैं। उनकी वाणी अमृतकी धाराके समान है। उन्होंने जो कु
तत्त्वोंका सार है।

हमारे परात्पर गुरुदेव श्रीश्रील भक्तिविनोद ठाकु
'कल्याणकल्पतरु' ग्रन्थमें लिखा है—

मन, तुमि पड़िले कि छार?
नवद्वीपे पाठ करि' न्यायरत्न नाम धरि',
भेकेर कच्कचि कैले सार॥ १॥

द्रव्यादि पदार्थज्ञान, छलादि निग्रह-स्थान,
समवाय करिले विचार।

तर्कैर चरम फल, भयङ्कर हलाहल,
नाहि विचारिले दुर्निवार॥ २॥

हृदय कठिन हल, भक्ति बीज ना बाड़िल।
किसे हबे भव-सिन्धु पार।
अनुमिले ये ईश्वर, से कु
साधन केमने हबे ताँर॥ ३॥

सहज समाधि त्यजि, अनुमिति मान भजि।
तर्कनिष्ठ हृदय तोमार।
से हृदये कृष्णधन, नाहि पान सुखासन,
अहो, धिक्, सेइ तर्क छार॥ ४॥

अन्याय न्यायेर मत, दूर कर अविरत
भज कृष्णचन्द्र सारात्सार॥ ५॥

अर्थात् हे मन! तुमने जिस प्रकारके ज्ञानका संग्रह किया, वह तो व्यर्थ ही रहा। तुमने नवद्वीपधाममें रहकर अध्ययन किया तथा 'न्यायरत्न' उपाधिको धारण किया, परन्तु इसके नामपर तुम मेंढककी तरहमात्र टर्राते ही रहे। देखो, तुम यह सम्यक् रूपसे विचार कर लो कि जिन द्रव्योंको तुम वास्तविक पदार्थ समझ रहे हो, वे छलावामात्र हैं। इस प्रकारके ज्ञानका संग्रह करना स्वयंको धोखा देना है। तर्कका चरम फल हलाहल विषके समान भयङ्कर और अत्यधिक घातक है, इसका तुमने विचार ही नहीं किया। तुम्हारा हृदय बड़ा कठोर हो गया है, अब इसमें भक्ति-लतारूपी बीजका रोपण नहीं किया जा सकता। अब बताओ, यह संसार रूपी महासागर किस प्रकारसे पार होगा? तुमने जिस ईश्वरका अनुमान किया है, वह कु

है, तुम्हारी भक्ति-आराधनामें वह किस प्रकारसे साधन बनेगा, इसके विपरीत वह बाधक ही बनेगा। भगवान् श्रीकृष्णके सहज-स्मरणका त्याग करके तुम तार्किक अनुमानको इतना सम्मान देकर उसकी साधना कर रहे हो—तुम्हारा हृदय तो बस तर्क-शास्त्रोंमें ही निष्ठा रखता है। यही कारण है कि कृष्ण जो मेरे हृदय-धन हैं, उन्हें यहाँ सुखपूर्वक विराजित होनेके लिए प्रसन्नताका अनुभव नहीं हो

रहा है। अहो! ऐसे तुच्छ तर्क-वितर्कको धिक्कार है। न्यायके मत अन्यायसे पूर्ण हैं, उनका त्याग करके समस्त सारोंके सार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका निरन्तर भजन करो।

इस प्रसङ्गमें भाष्यकार श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा रचित सिद्धान्त-रत्नकी टीका भी आलोच्य है।

श्रीमद्भागवतमें श्रुति-स्तवमें भी पाया जाता है—

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/२५)

अर्थात् हे देव! वैशेषिक इत्यादि मतावलम्बीगण जगत्की उत्पत्तिको स्वीकार करते हैं, पातञ्जलादि मतावलम्बी असत्से ब्रह्मत्वकी उत्पत्ति बतलाते हैं, नैयायिकगण इक्कीस प्रकारके दुःखोंके नाशको ही मुक्ति कहते हैं, सांख्यकार आत्मवस्तुमें भेदका वर्णन करते हैं और मीमांसकगण कर्मफल-व्यवहार अर्थात् कर्मफलजात स्वर्गादिके सत्यत्व और परम पुरुषार्थत्वको अङ्गीकार करते हैं, परन्तु उन सबके वे पूर्वोक्त उपदेश भ्रमजनित ही हैं, वास्तव तत्त्वदृष्टिजात नहीं है। पुरुषको त्रिगुणमय मानकर इन लोगोंमें जो भेद है, वह अज्ञानका ही विलासमात्र है। इस प्रकारके अज्ञानसे अतीत असङ्ग चिद्घन-स्वरूप आपमें ऐसा अज्ञानजनित भेद किस प्रकार रह सकता है? अर्थात् रह ही नहीं सकता।

देवर्षि नारदके भी वचन हैं—

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥

(श्रीमद्भा॰ १/५/१०)

अर्थात् जो वचन अथवा ग्रन्थ विचित्र रस, भाव, अलङ्कारादि पदोंसे अलंकृत होनेपर भी भुवन-पावन श्रीवासुदेवकी महिमाका उल्लेख

नहीं करते, ज्ञानीजन उन वचनों और ग्रन्थोंको मृत-शरीरके समान अपवित्र अथवा काकतीर्थ—काकतुल्य कर्मियोंका रतिस्थान जानकर उसका सम्मान नहीं करते। मानस-सरोवरके कोमल-कमल-वनमें रहनेवाले राजहंस जिस प्रकार काक-क्रीड़ा-स्थल विचित्र अन्नादिसे पूर्ण उच्छिष्ट गड्ढेमें कभी भी उल्लसित नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्म-धाममें विचरण करनेवाले भगवच्चरणाविन्दाश्रित परमहंस भक्त भी शब्द-विचारादि आडम्बरसे पूर्ण होनेपर भी हरिकथाके रससे हीन वाणियों अथवा ग्रन्थोंको शुष्क समझकर परित्याग कर देते हैं॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—इदानीं बुद्धमतं निराक्रियते। तत्र बुद्धमुनेर्वैभाषिक-सौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकाख्याश्चत्वारः शिष्याः। तेषु बाह्यः सर्वोऽप्यर्थः प्रत्यक्ष इति वैभाषिकः। बुद्धिवैचित्र्यादर्थोऽनुमेय इति सौत्रान्तिकः। अर्थशून्यं विज्ञानमेव परमार्थसत् बाह्योऽर्थस्तु स्वाप्नतुल्य इति योगाचारः। सर्वं शून्यमिति माध्यमिकः। इत्येवं ते मतानि दध्रुः। भावपदार्थः सर्वत्र क्षणिकः। तत्राद्यौ भूतभौतिकश्चित्तश्चैत्यश्चेति समुदायद्वयं मन्येते। तथाहि रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्काराख्याः पञ्च स्कन्धा भवन्ति। तेषु खरस्नेहोष्णचलनस्वभावाः पार्थिवादयश्चतुर्विधाः परमाणवः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयरूपेण संहन्यन्ते। तच्चतुष्टयञ्च देहेन्द्रियविषयरूपेणेति स एष भूतभौतिकात्मा रूपस्कन्धो बाह्यसमुदायः। अहंप्रत्ययसमारूढो ज्ञानसन्तानो विज्ञानस्कन्धः। स एष कर्त्ता भोक्ता चात्मा। सुखवेदना दुःखवेदना च वेदनास्कन्धः। देवदत्तादि नामधेयं संज्ञास्कन्धः। रागद्वेषमोहादिश्चैतसिको धर्मः संस्कारस्कन्धः। त एते चत्वारः स्कन्धाश्चित्तचैत्तिकाः कथ्यन्ते। सर्वव्यवहारास्पदत्वेन चान्तः संहन्यन्ते। तदयमान्तरः समुदायश्चतुस्कन्धीरूपः। इदमेव समुदायद्वयमशेषं जगत्। एतदन्यदाकाशादिकमवस्तुभूतमिति। अत्र संशयः। एषा समुदायद्वयकल्पना युक्ता न वेति। एतेनैव जगद्व्यवहारोपपत्तेयुक्तेति प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब बुद्ध-मतका खण्डन करते हैं—इस बुद्ध-मतमें देखा जाता है कि बुद्ध मुनिके चार शिष्य थे—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। इनमें वैभाषिक कहते हैं—बाह्य घट-पटादि समस्त पदार्थ ही प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है। सौत्रान्तिक बाह्यार्थके अस्तित्वको तो मानते हैं किन्तु उनका वक्तव्य है कि घटादि-आकारमें ज्ञान (बुद्धि) उत्पन्न होनेपर प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्राप्त वह घटाकार अप्रत्यक्ष घटादिमें अनुमित होता है (समस्त बाह्य पदार्थ बुद्धिके द्वारा अनुमेय हैं, प्रत्यक्षसिद्ध नहीं)। योगाचार बौद्धका मत है—बाह्य

अथवा आभ्यन्तर कोई भी पदार्थ सत् नहीं है, एकमात्र विज्ञान ही यथार्थ सत् है, बाह्य पदार्थ स्वप्नदृष्ट पदार्थोंके समान मिथ्याभूत हैं, काल्पनिक हैं। माध्यमिकके मतमें बाह्य-आभ्यन्तर समस्त ही शून्य है (अर्थात् शून्य ही एकमात्र सत्य है और सब कु
। ये सभी इसी प्रकारके मतभेदोंका पोषण करते हैं। इनके मतमें जगत्में जो कु
प्रतीयमान हो रहा है, वह सब ही समस्त अवस्थाओंमें क्षणिक है। इन मतोंमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक मतमें 'भूत भौतिक और चित्तचैत्य' दो समुदाय स्वीकृत हैं। किस प्रकारसे? उसका ही वर्णन कर रहे हैं कि इनके मतमें पाँच स्कन्ध (स्तर) है—रूप-स्कन्ध, ज्ञान-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध और संस्कार-स्कन्ध। चार प्रकारके परमाणु हैं—पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय। इनमें पार्थिव परमाणु खरस्वभाव जलपरमाणु स्नेहस्वभाव, तेज उष्ण स्वभाव और वायु चलन (गति) स्वभाव है। ये परमाणु-पुञ्ज सम्मिलित होकर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—इन चार भूत रूपमें उत्पन्न होते हैं। ये चारों भूत देह, इन्द्रिय और विषय रूपमें परिणत होते हैं, इसीको भूतभौतिकात्मा रूप-स्कन्ध कहा जाता है, यह बाह्य वस्तु है। अहं ज्ञानको (मैं की प्रतीतिको) आश्रय करके जो ज्ञान धारासे (बुद्धिके वृत्ति-प्रवाहमें) स्थित होता है, इसका नाम विज्ञान-स्कन्ध है। इसीको भोक्ता, कर्त्ता और आत्मा कहा जाता है। (इसीसे सारे लौकिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं।) सुखानुभूति और दुःखानुभूतिका नाम वेदना-स्कन्ध है। देवदत्त, चैत्र इत्यादि व्यक्तियोंके नाम संज्ञा-स्कन्ध है। राग, द्वेष और मोह इत्यादि जो चित्तके धर्म हैं, उनका नाम संस्कार है। इन विज्ञानादि चारों स्कन्धोंको चित्त-चैतिक कहा जाता है। (विज्ञान-स्कन्धरूप चित्तका नाम ही आत्मा है शेष तीन स्कन्ध चैत्य अथवा चिति अथवा चैतिक कहलाते हैं।) ये समस्त प्रकारके व्यवहारोंका आश्रय होकर अन्तःकरणमें संगठित होते हैं। इन चारों स्कन्धोंका समुदाय अथवा चित्त चैतिक वर्ग आभ्यन्तर समुदाय कहलाता है। इन दोनों (बाह्य एवं आभ्यान्तर) समुदायोंको लेकर ही समस्त जगत् अवस्थित है। इनके अतिरिक्त आकाश, दिक्,

काल इत्यादि जो कु
है। इस बौद्धमतमें संशय यह है कि इन दोनों समुदायोंकी कल्पना युक्तियुक्त है अथवा युक्तिरहित। पूर्वपक्षी कहते हैं—हाँ, इनके द्वारा जब सारा जागतिक व्यवहार सिद्ध हो रहा है, तब इसीको युक्तियुक्त होना चाहिये। ऐसा प्राप्त होनेपर उत्तर पक्षी उसका प्रतिविधान करते हुए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—इदानीमिति। तार्किकमतनिरासानन्तरमित्यर्थः। तार्किको ह्यर्द्धवैनाशिकः देहात्मनोः क्रमाद्विनाशस्थैर्याभ्युपगमात्। वैभाषिकादिस्तु पूर्णवैनाशिकः देहादेः सर्वस्य क्षणविनाशित्वाभ्युपगमात्। तदनयोः पौर्वोत्तर्येण निरासो युक्तः। मा भूदसङ्गतेन शिष्टानङ्गीकृतेन तर्कसिद्धान्तेन वेदान्तसमन्वयविरोधः। वैभाषिकसिद्धान्तेन तस्मिन् स स्यात् तस्य सर्वज्ञेन भगवता बुद्धनोपदेशात्। तदुपदिष्टस्य भूतदयाख्यस्य धर्मस्य शिष्टैः स्वीकाराच्चेति प्रत्युदाहरणादाक्षेपः। तत्र बुद्धमुनेरिति। बुद्धेन स्वागमे चातुर्विध्येनार्था वर्णिताः, ते चार्थाश्चतुर्भिर्वैभाषिकाद्यैः शिष्यैः स्ववासनानुसारेण गृहीता इत्यर्थः। तेस्विति। वैभाषिकसौत्रान्तिकयोः सिद्धान्ते ज्ञानं तद्भिन्नाः पदार्थाश्च सर्वे क्षणिकाः सत्याश्च भवन्ति। इयांस्तु विशेषः। वैभाषिको घटादिः प्रत्यक्ष इति मन्यते। सौत्रान्तिकस्तु ज्ञाने घटाद्याकारे जाते तेनाकारेण प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षो घटादिरनुमीयत इति वदति। तदनयोः सिद्धान्तं बाह्यार्थास्तित्वाविशेषादेकीकृत्य प्रत्याख्यातुं तत्प्रक्रियां दर्शयति तत्राद्यावित्यादिना। तथाहीति। पार्थिवादयश्चतुर्विधाः परमाणवो युगपत् पुञ्जीभूताः सन्तः पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि भवन्ति। तानि चत्वारि पुनर्देहेन्द्रियविषयरूपाणि भौतिकान्युच्यन्ते। तानीमानि भूतभौतिकानि परमाणुपुञ्जव्यतिरिक्तानि न सन्तीति परमाणुहेतुकोऽयं बाह्यसमुदायो रूपस्कन्ध इत्यर्थः। विज्ञानादिस्कन्धचतुस्कहेतुकस्त्वान्तरसमुदाय आध्यात्मिकः। तं प्रतिपादयत्यहमित्यादिना। ज्ञान-सन्तान आलय-विज्ञानप्रवाहः। सुखादिप्रत्ययो वेदनास्कन्धः। मनुस्यो गौरश्व इत्यादिविशिष्ट-वस्तुविषयकः सविकल्पप्रत्ययः संज्ञास्कन्धः। रागेति। आदिशब्देन धर्माधर्मौ ग्राह्यौ। एषु चतुर्षु विज्ञानस्कन्धश्चित्तमित्यात्मेति च कथ्यते। इतरे चैत्या भण्यन्ते। तदेवं द्विविधसमुदायरूपं निखिलं जगदिति। अत्रेति। सोऽयं वैभाषिकादिसिद्धान्तो विषयः। स च प्रमाणमूलो भ्रममूलो वेति संशये सर्वज्ञोपदिष्टत्वात् प्रमाणमूल इति प्राप्ते निराचष्टे—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इदानीमित्यादि—'इदानीम्'—अब अर्थात् तार्किक मतके निराकरणके बाद। तार्किक सम्प्रदाय एक प्रकारसे अर्द्धवैनाशिक बौद्ध हैं, क्योंकि वे देहका विनाश और आत्माका

स्थायित्व अथवा नित्यत्व स्वीकार करते हैं। किन्तु वैभाषिकादि—बौद्ध तो पूर्णरूपेण वैनाशिक हैं। इसका कारण है कि वे मानते हैं—देह, आत्मा सभीका प्रतिक्षण नाश हो रहा है। अतएव नैयायिकादि तार्किक मतका और वैभाषिकादि बौद्ध-मतका पूर्व-पश्चात् भावसे खण्डन युक्तियुक्त है। आपत्ति यह है कि अयौक्तिक और शिष्टगणों द्वारा अस्वीकृत तर्क-सिद्धान्तके द्वारा वेदान्त समन्वयका विरोध नहीं है, न हो, किन्तु वैभाषिक बौद्ध-सिद्धान्तके द्वारा तो उस वेदान्त-समन्वयमें विरोध हो सकता है क्योंकि यह वैभाषिक सिद्धान्त सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट है, तात्पर्य यह हुआ कि इसका प्रमाण मानना होगा। मात्र इतना ही नहीं, भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट जीव दया नामक धर्मको शिष्टगण भी मान लेते हैं। यहाँ प्रत्युदाहरण अथवा प्रतिवादके कारण आक्षेप-सङ्गति है। *'तत्र बुद्धमुनेरित्यादि'*—का तात्पर्य है भगवान् बुद्धने अपने दर्शन (बौद्ध-दर्शन) में चार प्रकारके पदार्थ-विभागका वर्णन किया है। इन पदार्थोंको वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक नामक शिष्योंने अपनी-अपनी बुद्धि-वासनानुसार ग्रहण किया है। *'तेषु बाह्यः सर्वोऽप्यर्थः'* इत्यादि—इस वाक्यका मर्मार्थ यह है कि वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदायके सिद्धान्तमें ज्ञान और ज्ञानसे भिन्न समस्त पदार्थ ही क्षणिक अर्थात् उत्पत्तिके दूसरे क्षणमें ही नाशके प्रतियोगी (प्रतिरूप) और सत्यस्वरूप हैं, मिथ्या-भूत शून्य नहीं। तब इन दोनों मतोंका अवास्तव विशेषत्व यह कि वैभाषिक सम्प्रदाय मानता है कि घटादि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष हैं किन्तु सौत्रान्तिक कहते हैं कि घटाकार ज्ञान होनेके बाद तदाकार प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा घटादि प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु अनुमित हैं। इनका कहना है कि मानसिक और बाह्य दोनों पदार्थ सत् हैं, यद्यपि बाह्य पदार्थोंका ज्ञान अनुमानसे होता है। इनके प्रत्यक्षके लिए विषय, चित्त, इन्द्रियाँ तथा सहायक तत्त्वों (जैसे प्रकाश, आकार)—इन चार वस्तुओंकी अपेक्षा है। इनके परस्पर मिलनेसे मनमें उत्पन्न होनेवाले विषयके विचार या अनुकृति प्राप्त होती है। इस प्रकार बाह्य वस्तुएँ मनमें रहनेवाले विषयके विचारोंकी प्रतिनिधि मात्र हैं। मानसिक धारणाओंसे ही मन बाह्य पदार्थोंका अनुमान कर लेता है। वैभाषिक बाहरी वस्तुओंको

अनुमेय न मानकर उन्हें पूर्णतया प्रत्यक्षगम्य मानते हैं क्योंकि जब तक उनका प्रत्यक्ष न हो, उनकी सत्ता किसी दूसरे साधनसे सिद्ध नहीं हो सकती। पहलेसे अग्निका प्रत्यक्ष जिस व्यक्तिने नहीं किया है, कभी भी धूमके आधारपर उसका अनुमान नहीं कर सकता। (बाह्य पदार्थोंसे सम्पर्क नहीं रहनेपर मनोजगत्‌में कभी भी बाहरी चीजकी धारणा नहीं बन सकती।) अतएव इन दोनों सम्प्रदायोंके सिद्धान्तमें बाह्य वस्तुका अस्तित्ववाद समान रूपसे रहनेके कारण उस सिद्धान्तको एक ही रूपमें लेकर उसका प्रत्याख्यान (भर्त्सना पूर्वक निराकरण) करनेके लिए उसकी प्रक्रियाको *'तत्राद्यौ'* इत्यादि वाक्य द्वारा दिखा रहे हैं। *'तथाहि रूप विज्ञानेत्यादि'* वाक्यसे अभिप्राय है कि पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय—ये चार प्रकारके परमाणु एक ही समयमें एक साथ पुञ्जीभूत होकर यथाक्रमसे पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु—इन चार भूतोंमें परिणत होते हैं। पुनः ये चारों भूत देह, इन्द्रिय और विषय-भेदमें परिणत होकर भौतिक संज्ञाको प्राप्त होते हैं। ये भूत पदार्थ और भौतिक परमाणुपुञ्जसे भिन्न नहीं हैं, अतएव परमाणु-जन्य यह घट-पटादि बाह्य समुदायरूप स्कन्ध नामसे अभिहीत है—यही तात्पर्य है। विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार नामक चार स्कन्धजनित जो आन्तर समुदाय है, वह आध्यात्मिक है। इसीका प्रतिपादन *'अहंप्रत्यय समारूढो'* इत्यादि वाक्य द्वारा किया गया है। ज्ञान-सन्तान अथवा ज्ञान धारा आलय-विज्ञान प्रवाह है। बौद्ध कहते हैं कि आलय-विज्ञान वह चैतन्य (बुद्धि) है, जो अहम् (मैं-आत्मा) का स्थान है (अहम्‌के आकारमें है) आलय-विज्ञानके (प्रवाहसे तात्पर्य है क्योंकि सब कु

प्रवाह ही सम्भव है)। सुख-दुःखादि प्रतीतियों (ज्ञान) का प्रवाह (परम्परा) वेदना-स्कन्ध है। मनुष्य, गो, अश्व इत्यादि विशेष-विशेष पदार्थ-विषयक जो सविकल्पक (प्रकारता विशेष्यताशाली) (जिसमें संज्ञा (शब्द) और अर्थके संसर्गका योग्य प्रतिभास (दर्शन/भ्रम) होता है) ज्ञान है, उसका नाम संज्ञा-स्कन्ध है। राग, द्वेष, मोह और आदि पदसे ग्राह्य धर्म, अधर्म—ये सभी चित्तके धर्म संस्कार-स्कन्धके नामसे कहे जाते हैं। इन चारों स्कन्धोंमें विज्ञान-स्कन्धको चित्त

भी कहा जाता है, आत्मा भी कहा जाता है। दूसरे सभी स्कन्ध चैत्य नामसे कहे जाते हैं। अतएव इस रूपमें कथित बाह्य और आभ्यन्तर—दो प्रकारके समुदाय समग्र जगत्-स्वरूप हैं। अब संशय यह है कि इस प्रकरणका विषय जो वैभाषिकादि सिद्धान्त है, वह प्रमाणमूलक अर्थात् प्रमाणासिद्ध है अथवा भ्रममूलक अर्थात् भ्रमाधीन। इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जो सर्वज्ञ बुद्ध द्वारा उपदिष्ट है, तो वह प्रमाणमूलक ही है। सूत्रकार इसका प्रत्याख्यान इस प्रकार करते हैं।

३—समुदाय इत्यधिकरणम्

बौद्ध-मतका खण्डन

सूत्र—समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः॥ १८॥

सूत्रार्थ—'उभयहेतुके'—परमाणुहेतुक अर्थात् परमाणु-पुञ्ज-घटित बाह्य समुदाय और विज्ञानादि स्कन्ध चतुष्टय हेतुक आभ्यन्तर समुदाय—इन दोनों समुदायोंको स्वीकार करनेपर—भी 'तदप्राप्तिः'—जगत्-स्वरूप समुदायकी प्राप्ति नहीं होती—असिद्धि ही होती है॥ १८॥

सूत्रानुवाद—परमाणु जिसमें हेतु बताये गये हैं, वह भूत-भौतिक बाह्य समुदाय एवं स्कन्ध हेतु आभ्यन्तर समुदाय—इन दोनों प्रकारके समुदायकी सिद्धि असम्भव ही है, क्योंकि समुदायके अन्तर्गत जो भी वस्तुएँ हैं, वे सब अचेतन हैं, एक दूसरेकी अपेक्षासे शून्य हैं॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—योऽयमुभयसंघातहेतुक उभयविधः समुदायो निरूपितस्तस्मिन् स्वीकृतेऽपि तदप्राप्तिर्जगदात्मकसमुदायासिद्धिः। समुदायिनामचेतनत्वादन्यस्य च संहन्तुः स्थिरचेतनस्याभावात्। तस्य च भावक्षणिकत्वाङ्गीकारात्। स्वतः प्रवृत्त्युरीकृतौ तत्सातत्यप्रसङ्गः। तस्मादयुक्ता तत्कल्पना॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वोक्त दोनों संघात-जन्य अर्थात् परमाणु-पुञ्जसे समुत्पन्न बाह्य समुदाय और विज्ञानादि चार स्कन्धोंसे समुत्पन्न आभ्यन्तर हर्ष-शोकादि समुदाय—इन दो प्रकारके समुदायका निरूपण किया गया है। यह स्वीकार करनेपर भी उसकी असिद्धि (अप्राप्ति) अर्थात् जगत्-स्वरूप समुदायकी अनुत्पत्ति ही होगी, इसका कारण है कि समुदायी परमाणु-पुञ्ज और विज्ञानादि स्कन्ध समुदायी अचेतन हैं

और समुदाय योजक (जोड़नेवाला) जो चेतन पदार्थ है, वह भी क्षणिक है, क्योंकि तुम्हारे मतमें स्थायी सप्ततकर्त्ता चेतनका अभाव है। तुमने स्वीकार किया है कि यह सप्ततकर्त्ता चेतन भाव पदार्थ क्षणिक है, अतएव समुदायकी असिद्धि घटित होती है। यदि स्वभाव (स्वतःप्रवृत्त) से ही समुदायकी उत्पत्ति स्वीकार करते हो, तो उसमें भी अवच्छिन्नता अर्थात् सर्वदा जगत्-समुदायकी उत्पत्ति रूप दोष होता है। अतएव समुदायकी कल्पना अयुक्त अर्थात् व्यर्थ है॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—समुदाय इति। उभयहेतुकः परमाणुहेतुको बाह्यसमुदायश्चतु-स्कन्धीहेतुक आन्तरसमुदाय इत्यर्थः। सूत्रशेषं दर्शयति समुदायिनामिति। न चेति स्थिरचेतनाभावः॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार—*'समुदाय उभयहेतुकेऽपि'* इत्यादि सूत्र द्वारा—उभय हेतुकका अर्थ है परमाणुजनित बाह्य समुदाय और विज्ञानादि चतुःस्कन्ध जनित आन्तर-समुदाय। इसके बाद *'समुदायिनामचेतनत्वाद्'* इत्यादि वाक्य द्वारा सूत्रका अभिप्राय दिखा रहे हैं। *'स च भावक्षणिकत्वाङ्गीकारात् इति स च स्थिर'* का अर्थ है—(अविनाशी, अक्षणिक) चेतन पदार्थका अभाव॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—तार्किकोंके मतके खण्डनके पश्चात् सूत्रकार अब बौद्ध-मतका निरसन कर रहे हैं।

बुद्ध मुनिने अपने दर्शनमें अर्थात् बौद्ध-दर्शनमें चार प्रकारसे पदार्थ-विभाग किया था—इन विषयोंको वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक नामक चार शिष्योंने अपनी-अपनी बुद्धि और वासनाके अनुसार उसी प्रकार ग्रहण किया था, जिस प्रकार 'सूर्य डूब गया' यह कहे जानेपर जार (उपपति अथवा प्रेमी), चोर और अनूचान (वेदपाठी) अपनी-अपनी इच्छानुसार अभिसरण (प्रेयसीसे मिलनेके लिए सङ्केत-स्थलपर जाना), परधनका हरण और सदाचरणका समय आदि समझ लेते हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदायके सिद्धान्तमें ज्ञान और उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ क्षणिक और सत्यस्वरूप हैं। तब भी इन दोनोंके मतोंमें पार्थक्य यह है कि वैभाषिक घटादि पदार्थको प्रत्यक्षगम्य मानते हैं और सौत्रान्तिक मानते हैं कि घटादिका

ज्ञान उत्पन्न होनेके बाद वह आकार प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा अप्रत्यक्ष घटादिमें अनुमित होता है। योगाचारके मतमें अर्थ-शून्य जो विज्ञान है, वही परमार्थ सत् है और बाह्य अर्थ स्वप्नतुल्य है; समस्त ही शून्य है—यह माध्यमिक सम्प्रदायका मत है। इस विषयमें भाष्यकारने अपने भाष्य और टीकामें विस्तारपूवर्क विचार किया है।

तार्किकगण अर्द्धवैनाशिक हैं—कारण वे देहका विनाश और आत्माका स्थैर्य स्वीकार करते हैं, किन्तु वैभाषिकादि पूर्ण वैनाशिक हैं कारण वे देह, आत्मादि सभीका क्षण-विनाशित्व स्वीकार करते हैं। इसलिए इन दोनों मतोंका ही पूर्वापर भावसे निरस्त होना उचित है। आपत्ति यह है कि तार्किकोंका मत अयौक्तिक है और शिष्टगणोंने उसे अङ्गीकृत भी नहीं किया है; अतः इसके द्वारा वेदान्त-समन्वयका विरोध नहीं है, न हो, किन्तु वैभाषिक बौद्ध-मतके द्वारा इस वेदान्त-समन्वयमें विरोध हो सकता है। क्योंकि वैभाषिक मत तो सर्वज्ञ भगवान् बुद्धदेव द्वारा उपदिष्ट है और बुद्धदेव द्वारा प्रचारित भूतदया-धर्म तो शिष्टगण स्वीकार करते हैं—यह प्रत्युदाहरणहेतु आक्षेप है।

वैभाषिकोंके सिद्धान्त-विषयमें संशय यह है कि यह प्रमाणमूलक है अथवा भ्रममूलक? इस संशयके उत्तरमें वादीगण कह सकते हैं कि जब यह सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट हुआ है, तो इसे प्रमाणमूलक कहा जायेगा। अथवा समुदाय-द्वयकी कल्पना द्वारा जब जागतिक व्यवहार सिद्ध होता है, तब इसे युक्तियुक्त ही कहा जायेगा। इस स्थलपर सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें उनका प्रति-विधान (प्रतिकार) किया है कि उभय-हेतुक अर्थात् परमाणु हेतुक बाह्य समुदाय और विज्ञानादि-स्कन्ध-चतुष्टय हेतुक आभ्यन्तर समुदाय—इन दोनोंको स्वीकार करनेपर भी जगदात्मक समुदायकी सिद्धि नहीं होती। इसका कारण है—समुदायी वस्तुका अचेतनत्व, समुदाय योजक चेतनका क्षणिकत्व और स्थायी सप्ततकर्त्ताका अभाव। ये सभी असिद्ध हैं। लोकमें कु
चेतनकर्त्ताको ही मृत्तिका, चक्र और दण्डादि साधनोंके द्वारा समुदायात्मक घटादि कार्योंकी रचना करते देखा जाता है। कु
चेतन अधिष्ठाताके बिना मृत्तिका और चक्रादि जड़-साधन-वर्ग अपने

आप घटादि कार्योंका सम्पादन नहीं करते और कु
तन्तु, तुरी, वेमादि अपने आप पटको बुनते नहीं देखे जाते। और यदि स्वतः प्रवृत्तिसे उत्पत्तिको स्वीकार किया जाय, तो उसमें भी जगत्-समुदायकी निरन्तर उत्पत्तिरूप दोष घटित होता है, अतः ऐसी कल्पना युक्तियुक्त नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

दृष्टं श्रुतं भूतभवद् भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदकल्पकञ्च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं स एव सर्वम् परमार्थभूतः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४६/४३)

अर्थात् भूत, वर्त्तमान, भविष्यत, स्थितिशील, गतिशील, बृहत्, क्षुद्र, दृष्ट, श्रुत इत्यादि जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब श्रीकृष्णके बिना तत्त्वतः निर्वचनके अयोग्य हैं। वे सबके मूलस्वरूप एवं 'सर्व' शब्द वाच्य हैं।

और भी,

अस्राक्षीद्भगवान् विश्वं गुणमय्यात्ममायया।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति॥

(श्रीमद्भा॰ ३/७/४)

अर्थात् भगवान्ने जीवमें कर्त्ता और भोक्ताका मोह उत्पन्न करनेवाली त्रिगुणात्मिका बहिरङ्गा माया द्वारा इस विश्वकी सृष्टि की है, वे इस माया द्वारा ही इसका पालन करते हैं और उसी मायासे इसका संहार भी करेंगे॥ १८॥

अवतरणिका भाष्य—ननु सौगतसमयेऽविद्यादयो मिथो हेतुफलभावमापन्नाः स्वीक्रियन्ते अप्रत्याख्येयाश्च ते सर्वेषाम्। तेषु च मिथस्तथाभावेन घटीयन्त्रवत् सन्ततमावर्त्तमानेश्वर्थाक्षिप्तः सप्ततस्तमन्तरेणैषामसिद्धेः। ते चाविद्या, संस्कारो, विज्ञानं, नाम, रूपं, षडायतनं, स्पर्शो, वेदना, तृष्णोपादानं, भवो, जातिर्जरा, मरणं, शोकः, परिवेदना, दुःखं, दुर्मनस्ता चेति। तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी आशङ्का करते हैं—हे प्रतिवादी वैदान्तिक! तुम जो हमारे मतमें दोष दिखा रहे हो, वह किस प्रकारसे है? क्योंकि बौद्ध-सिद्धान्तमें अविद्या इत्यादि वक्ष्यमाण (कहे जानेवाले)

पदार्थ परस्पर कार्य-कारण भावसे प्राप्त होते हैं। यह स्वीकृत है और वे सबके सब अप्रत्याख्येय (प्रत्याख्यान अर्थात् निषेधके अयोग्य) हैं। वे परस्पर कार्य-कारण भावसे घटी-यन्त्रके समान प्रवर्त्तमान हैं अर्थात् जिस प्रकार यन्त्रकी सहायतासे घट कूपमें नीचे उतरता है और उसी यन्त्रकी सहायतासे ऊपर उठता है, इसी प्रकार अविद्यावश कार्यकी उत्पत्ति, नाश है और इस तरह प्रवाह सर्वदा ही प्रवाहमान है, इसीके फलस्वरूप कल्पित-सङ्घात कहा जाता है। यह कैसे? वही कह रहे हैं—सङ्घातके व्यतिरेक (एकके न होनेपर दूसरेका न होना) में अविद्यादिकी असिद्धि है—इसलिए इस अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा सङ्घात निष्पन्न होता है। इस सङ्घात-वाच्य पदार्थकी परिगणना (गिनती) *'ते च'* इत्यादि वाक्य द्वारा करते हैं। ये हैं अविद्यादि। यथा—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, छह आयतनयुक्त इन्द्रियाँ उनका आयतन अर्थात् आश्रय छह हैं यथा—पृथ्वी आदि भूत-चतुष्टय, शरीर, विज्ञान और धातु, उनसे नाम, रूप, इन्द्रियादिका स्पर्श अर्थात् परस्पर सम्बन्ध, वेदना-सुख-दुःखादिकी अनुभूति, तृष्णा, उपादान, जाति, जरा, मृत्यु, शोक, विलाप, दुःख, दौर्मनसय (मनकी उद्विग्नता)—ये ही संघात वाच्य पदार्थ हैं—इसीसे कहते है—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पुनराशङ्कते नन्विति। तमन्तरेणेति। सप्ततं विनाविद्यादीनामसिद्धेरित्यर्थः। आधारं विनाधेयस्थितिर्न सम्भवेदिति भावः। ते चाविद्येति। विज्ञानस्कन्धस्यात्मनः क्षणिकत्वादविद्या क्व तिष्ठेत् क्व वा रागद्वेषादिरूपो जायेतेति च बोध्यम्। क्षणिकेष्वपि स्थिरत्वादिभ्रान्तिरविद्या तया संस्काराख्यो रागद्वेषादिर्जन्यते। तेन संस्कारेण गर्भस्याद्यं विज्ञानं जन्यते। तेन विज्ञानेन पृथिव्यादिचतुष्टयं शरीरस्य समुदायस्य हेतुभूतं नाम जन्यते। नामाश्रयत्वात् तच्चतुष्टयं नामेत्युक्तम्। तेन नाम्ना सितासितादिरूपं शरीरं जन्यते। रूपाश्रयत्वात् शरीरं रूपमित्युक्तम्। गर्भभूतस्य शरीरस्य कलनबुद्बुदाद्यवस्था नामरूपशब्दार्थः। तेन रूपेण षडायतनमिन्द्रियवृन्दं जन्यते। पृथिव्यादि चतुष्टयं शरीरं विज्ञानधातुश्चेति षट् यस्यायतनानि तदित्यर्थः। तेन षडायतनेन नामरूपेन्द्रियाणां मिथः सम्बन्धः स्पर्शो जन्यते। तस्मात् सुखादिवेदनादयस्ततः पुनरविद्यादयो यथोक्तरीत्या भवन्तीत्यनादिरियमन्योन्यमूलाविद्यादिका चक्रपरिवृत्तिर्भूतभौतिकसप्ततादृते न सम्भवतीति तत्सप्ततोऽर्थाक्षिप्त इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—'ननु' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा पुनः आशङ्का करते हैं *'तमन्तरेणैषामसिद्धेः'* इति। 'तम्' अर्थात् सङ्घात, अन्तरेण अर्थात् बिना, अविद्यादिकी सिद्धि नहीं होती, इसलिए अर्थाक्षिप्त सङ्घात है। अभिप्राय यह है कि आधारके बिना आधेय रह नहीं सकता, इसलिए। *'ते चाविद्या संस्कार इत्यादि'*—आत्मा ही विज्ञानस्कन्ध है, वह क्षणिक है अतएव अविद्या कहाँ रहेगी? रागद्वेषादिरूप संस्कार-स्कन्ध भी कहाँ रहेगा? यही जानने योग्य है। बौद्ध-मतमें समस्त क्षणिक होनेपर भी भाव पदार्थमें स्थिरत्वादि भ्रम अविद्या है। इसी भ्रान्तिरूपिणी अविद्या द्वारा राग-द्वेषादि संज्ञक संस्कार-स्कन्ध उत्पन्न होता है। पुनः इस राग-द्वेष आदि रूप संस्कार द्वारा गर्भस्थ सन्तानमें प्रथम विज्ञान उत्पन्न होता है, इस विज्ञान द्वारा पृथ्वी इत्यादि चार महाभूतोंका जन्म होता है, जो शरीरके और समुदायके हेतुभूत हैं, उनसे नाम उत्पन्न होता है। नामका आश्रय करके पृथ्वी आदि चतुष्टयको नाम कहा जाता है। इस नाम संज्ञक पृथ्वी आदि चतुष्टय द्वारा श्वेत-कृष्ण (गौर-श्याम) आदि रूपवाले शरीरका उत्पादन होता है। रूपका आश्रय होनेसे शरीरको रूप कहा जाता है। मातृगर्भस्थित जीव-शरीरका कलन (शुक्र-शोणितका मिश्रण) बादमें बुद्बुद इत्यादि अवस्थाएँ नामरूप शब्दका अर्थ हैं अर्थात् इन अवस्थाओंको नामरूप कहते हैं। इस रूप द्वारा षडायतन इन्द्रियाँ उत्पादित होती हैं। पृथ्वी इत्यादि चार महाभूत, शरीर और विज्ञान-धातु ये छह जिसके अधिष्ठान-क्षेत्र (आश्रय-स्थान) हैं, उस विग्रहवश इन्द्रियोंके समूहको षडायतन कहा जाता है। इस षडायतन द्वारा नाम, रूप, इन्द्रियोंके परस्पर सम्बन्ध रूप स्पर्श उत्पन्न होता है। उस स्पर्शसे सुख-दुःखादिकी अनुभूति इत्यादि उत्पन्न होती है, उससे पुनः अविद्या इत्यादि पूर्वोक्त प्रणालीमें क्रमपूर्वक सब होता रहता है; अतएव यह अनादि है जो परस्परमूलक अविद्यादि चक्रके समान घूम रहा है, यह चक्रवत् परिवर्त्तन भूत-सप्तत और भौतिक सप्ततके बिना हो नहीं सकता। यह अनुपपत्ति (असिद्धि) प्रमाणलभ्य है, इसलिए यह सप्तत अर्थाक्षिप्त है—यह तात्पर्य है।

सूत्र—इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्॥ १९॥

सूत्रार्थ— 'इतरेतर प्रत्ययत्वात् इति चेत् न'—अविद्या इत्यादि परस्पर हेतु-हेतुमद्भावसे युक्त हैं, इसलिए इस सप्ततको जो युक्तियुक्त कह रहे हो, वह सङ्गत नहीं है, किस कारणसे? उत्तर है—'उत्पत्तिमात्र निमित्तत्वात्' अविद्यादिमेंसे पूर्व-पूर्व निर्दिष्ट पदार्थ पर-पर निर्दिष्ट कार्यकी उत्पत्तिमात्रके प्रतिकारणसे हो सकते हैं, किन्तु देहादि सप्ततके प्रति किसी स्थिर चेतन पदार्थको कारण रूपमें तुम स्वीकार नहीं करते हो। और एक बात है, सप्तत मात्र ही दूसरेका भोग-सम्पादक है, तो वह भोग भी क्षणस्थायी आत्मामें सम्भव नहीं है। पुनः उस भोगके कारणीभूत धर्म अथवा अधर्म क्षणिक आत्माओं द्वारा पहलेसे सम्पादित नहीं है॥ १९॥

सूत्रानुवाद—अविद्या इत्यादि भूत-भौतिक सप्ततकी उपपत्तिमें निमित्त नहीं हो सकते। पूर्व-पूर्व क्षण उत्तरोत्तरमें हेतु होनेपर भी सप्तत भावकी प्राप्तिमें हेतु नहीं हो सकते, क्योंकि आपके मतमें विज्ञान क्षणिक है, कर्म भी क्षणिक है, कोई स्थिर चेतन पदार्थ है नहीं। इस प्रकार सर्वत्र ही उत्पत्ति एवं विनाश होगा—ऐसे क्षणिक तत्त्व सप्ततकी उत्पत्तिमें किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं?॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—प्रत्यशब्दो हेतुवाची। अविद्यादीनां परस्परहेतुत्वादुपपन्नः सप्तत इति यदुक्तं तन्न। कु
निमित्तं स्यान्न तु सप्ततं प्रति किञ्चित् तदस्तीति। किञ्च भोगार्थं सप्ततः। न च क्षणिकेष्वात्मसु भोगः सम्भवति। तद्धेतोर्धर्माधर्मादेस्तैः पूर्वमसस्पादनात्। न च तत्सन्तानेन स सम्पादितः। तस्य स्थायित्वे सर्वक्षणिकत्वप्रतिज्ञाव्याकोपात्। क्षणिकत्वे प्रागुक्तदोषानतिवृत्तेः। तस्मादसङ्गतः सौगतसमयः॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रके अन्तर्गत प्रत्यय शब्दका अर्थ हेतु है। अविद्या इत्यादिकी परस्पर हेतुताके कारण उससे सप्ततकी उत्पत्ति युक्तियुक्त होगी, यह जो तुम कह रहे हो, वह असङ्गत है, किस कारणसे? उत्तर है—*'उत्पत्तिमात्र निमित्तत्वात्'*—अविद्यादिमेंसे पूर्व-पूर्व, उत्तरोत्तर कार्यकी उत्पत्तिमात्रके प्रति निमित्त (कारण) हो सकते हैं, इसके अतिरिक्त सप्ततके प्रति और कोई निमित्त दृष्ट नहीं होता।

(सप्तत भावका निमित्त अविद्या नहीं है)। और एक बात है, सप्ततमात्र ही दूसरोंके भोगके लिए है, क्षणिक आत्माओंमें उस भोगकी सम्भावना नहीं है (क्षणिकता आदिमें स्थिरता आदि बुद्धिका होना ही अविद्या है), क्योंकि भोगका हेतु जीवकृत धर्माधर्म इत्यादिका पूर्वमें सम्पादन न होनेके कारण भोगकारी आत्माएँ उनका अनुष्ठान करती नहीं हैं, जो करती हैं, वे क्षणिकमात्र होनेसे इस समय नहीं हैं। यदि कहो, आत्मधाराके द्वारा धर्माधर्म स्वीकार करेंगे—उसके द्वारा भोग होगा, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पहले यह जानना होगा आत्म-धारा (आत्म-सन्तान) नित्य है? या अनित्य? यदि नित्य (स्थायी) है, तो तुम्हारे मत द्वारा सिद्ध सर्वभाव वस्तुओंका क्षणिकत्ववाद भङ्ग होता है और यदि अनित्य (क्षणिक) कहते हो, तो उस भोगकी अनुपपत्तिका दोष रह जाता है। अतएव बौद्ध सिद्धान्त (सौगतमत) सङ्गत नहीं है॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—इतरेतरेति। प्रत्ययशब्दो हेतुवाचीति। प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञान-विश्वासहेतुष्विति नानार्थवर्गः। तन्निरुक्तिस्तु कार्यं प्रत्येति, जनकत्वेन गच्छतीति। किञ्चिदिति। किञ्चित् निमित्तं स्थिरचेतनरूपं त्वयाङ्गीकृतं नास्तीत्यर्थः। तद्धेतोर्भोगजनकस्य। तैरात्मभिः। न च तदिति। आत्मसन्तानेन धर्माधर्मादिर्न कृत इत्यर्थः। तस्येति। तस्यात्मसन्तानस्य नित्यत्वेऽभिमते सर्वो भावः क्षणिक इति तव प्रतिज्ञा भज्येतेत्यर्थः। सौगतसमयो बौद्धसिद्धान्तः। सर्वज्ञः सुगतो बुद्ध इत्यमरः। सन्तानः कारणं मृगादि सन्तानी कार्यं घटादिरिति बोध्यम्॥ १९॥

सूक्ष्मा-सार— *'इतरेतरेति'* सूत्रके अन्तर्गत प्रत्यय शब्द हेतु अर्थ वाचक अर्थात् परस्पर हेतुक है। अमरकोषमें नानार्थ-वर्गमें उद्धृत है यथा *'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु।'* प्रत्यय शब्द अधीन, शपथ, ज्ञान, विश्वास और हेतुके अर्थमें होता है। इसकी व्युत्पत्ति भी इस प्रकारसे है—जो कार्यके प्रति जनकत्व रूपमें जाता है अर्थात् कार्यजनकत्व रूपमें जिसको प्राप्त होता है, उस अर्थमें प्रतिपूर्वक 'इन्' धातुओंके उत्तरमें अच् प्रत्यय होता है। (प्रति इ अच्।) *'किञ्चित् तदस्तीति'* 'किञ्चित्' अर्थात् स्थायी, अक्षणिक फिर भी चेतनस्वरूप—इनमेंसे कोई एक निमित्त तुम्हारे द्वारा अङ्गीकृत नहीं है—यह अर्थ है। *'तद्हेतोधर्माधर्मदेरितिः'* इतिमें 'तद् हेतोः' का अर्थ है भोगजनक,

'तैः पूर्वमसम्पादनात्' इतिमें *'तैः'* का अर्थ है आत्माओं द्वारा पूर्वमें सम्पादित नहीं है। *'न च तदिति'* धर्माधर्मादि आत्म सन्तान द्वारा कृत नहीं है। *'तस्य स्थायित्वे इति'*—आत्मसन्तानको नित्य कहनेपर तुम्हारा जो मतवाद है कि समस्त भाव पदार्थ क्षणिक हैं, तुम्हारा यह मतवाद भग्न होता है। सौगत-समयका अर्थ है बौद्ध-सिद्धान्त। अमरकोषमें *'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः'* यह कहा गया है। सन्तान शब्दका अर्थ है कारण मृत्तिका इत्यादि और सन्तानी शब्दका अर्थ है—कार्य-घटादि यह जान लेना चाहिये॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त बौद्धवादमें वैदान्तिकगणोंके द्वारा दोष दिखाये जानेपर उनके (बौद्धोंके) पक्षका समर्थन करनेवाले कहते हैं कि बौद्ध-सिद्धान्तमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच परस्पर कार्य-कारण भावको प्राप्त होनेके कारण स्वीकृत हैं और ये सर्ववादी-सम्मत हैं। ये सभी परस्पर कार्य-कारण भावसे अरहटके (घन्टीयन्त्रके) समान आवर्त्तमान हैं अर्थात् घूम रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जन्मादि हेतुक अविद्यादि और अविद्यादि हेतुक जन्मादि वैसे ही होते रहते हैं, जैसे अरहट। सप्तत अर्थ द्वारा आक्षिप्त है, सप्ततके बिना अविद्यादिकी असिद्धि होती है। ये सप्तत-वाच्य पदार्थ हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, जाति, जरा, मृत्यु, शोक, विलाप, दुर्मनस्त्व। 'अविद्या'—क्षणिक वस्तुओंको स्थिर समझना या तत्त्वोंको न जानना। इसीके कारण पूर्वजन्ममें भला-बुरा कर्म करनेका 'संस्कार' होता है। ये दोनों कारण पूर्व जन्मसे सम्बन्धित हैं। संस्कारके कारण ही इस जन्ममें प्राणी गर्भमें आता है तथा 'विज्ञान' या चैतन्य पाता है। इसके फलस्वरूप उसे शारीरिक और मानसिक अवस्थाएँ (नाम-रूप) मिलती हैं। नाम-रूपके कारण ही 'षडायतन' (इन्द्रियोंका समूह) मिलता है, जिसके कारण बालक बाह्य पदार्थोंका 'स्पर्श' करता है। स्पर्श करनेपर उसे सुख, दुःख तथा उदासीनताकी त्रिविध 'वेदना' (अनुभूति) होती है, जिससे पदार्थोंके लिए 'तृष्णा' उत्पन्न हो जाती है। तृष्णासे विषयोंकी आसक्ति, प्रवृत्ति या 'उपादान' होता है और उसीसे धर्माधर्म अर्थात् 'भव' अर्थात् नया जन्म होता है, जो पूर्वजन्मके संस्कारके

समान ही है। यहाँ तक आठ कारण वर्त्तमान जीवनसे सम्बन्धित हैं। अब भवके कारण भविष्यमें 'जाति' (जन्म) लेना अनिवार्य है। 'जरा-मरण' आदि उत्तरभावी अवस्थाएँ जन्महेतुक हैं, क्योंकि उत्पन्न स्कन्धोंका परिपाक जरा और स्कन्धोंका नाश मरण है। म्रियमाण (मरणशील) मूढ़ व्यक्तिका पुत्र, कलत्रादिके वियोगमें अन्तर्दाह 'शोक' है। हा मात, हा तात, हा पुत्र—इस तरह रोना पीटना 'विलाप' है और मनकी उद्विग्नता अर्थात् मानस दुःख 'दौर्मनस्य' है। ये सभी परस्पर हेतुसे उत्पन्न होते हैं। इस परस्परमूला अविद्यादिका चक्रवत् परिवर्त्तन भूत-भौतिक सप्ततके बिना सम्भव नहीं है। इसलिए यहाँ अर्थाक्षिप्त हुआ है। अर्थात् क्षणिकवाद और अनात्मवादमें सप्तत सम्भवपर नहीं हो सकता। जिस सप्ततका आश्रय करके अविद्यादि अस्तित्वमें आते हैं, वे उसी सप्ततको जन्म क्यों देंगे?

सूत्रकार इस मतके निराकरणके लिए प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि अविद्यादिके परस्पर हेतुवश सप्तत उत्पन्न होते हैं, यह कहना सङ्गत नहीं है। अविद्यादिमेंसे पूर्व-पूर्व भाव उत्तरोत्तर भावकी उत्पत्तिके कारण हो सकते हैं, किन्तु देहादि सप्ततके निमित्त किसी भी स्थिर चेतनको कारण स्वीकार नहीं किया गया है। और बौद्ध-मतमें ही स्वीकृत है कि भोगका जन्य सप्तत है, किन्तु क्षणिक आत्मामें भोगकी सम्भावना कहाँ? भोगके जनक धर्माधर्म क्षणिक आत्मा द्वारा पहले तो सम्पादित ही नहीं होते। दूसरी बात यह है कि आत्माका स्थायित्व करनेपर सर्वक्षणिकत्व-प्रतिज्ञा भङ्ग होती है। अतः यह मत समीचीन नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

द्रव्यक्रियाहेत्वयनेशकर्तृभिर्मायागुणैर्वस्तु निरीक्षितात्मने।
अन्वीक्षयाङ्गातिशयात्मबुद्धिभिर्निरस्तमायाकृतये नमो नमः॥

(श्रीमद्भा० ५/१८/३७)

अर्थात् शब्दादि विषय, इन्द्रिय व्यापार, वागादि इन्द्रिय देवता, देह, काल और अहङ्कार—ये समस्त मायाके कार्य हैं। इस मायिक कार्य-दर्शनमें कार्यके कारण रूपमें जो वस्तु लक्षित हो रही है, आप वे ही परमात्मा हैं। आपका यह स्वरूप-मायाकी गन्धमात्रसे भी

रहित है। तत्त्व-विचार और यम-नियमादिके द्वारा जिनकी बुद्धिकी वृत्ति निश्चित हो गयी है, वे ही आपके इस रूपका साक्षात्कार करते हैं, आपको नमस्कार है॥ १९॥

अवतरणिका भाष्य—इदानीमविद्यादीनां मिथो हेतुत्वं दूषयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब अविद्या इत्यादिके परस्पर हेतुवादमें दोषारोपण करते हैं—

सूत्र—उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्॥ २०॥

सूत्रार्थ—'उत्तरोत्पादे च' दूसरे क्षण कार्यके उत्पन्न होनेपर, 'पूर्व-निरोधात्'—उस कार्यके पूर्व क्षणमें कारण विनष्ट हो जाता है। अतएव सौगत-मतमें अविद्यादिका परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता। बात यह है कि कार्योत्पत्ति-क्षणके पूर्वक्षणमें कारणकी सत्ता आवश्यक है, किन्तु वह घटित नहीं होती, क्योंकि बौद्ध-मतमें प्रत्येक भाव पदार्थके प्रथम पक्षमें उत्पत्ति, द्वितीय क्षणमें नाश स्वीकृत है, ऐसा होनेसे कार्योत्पत्तिके पूर्व क्षणमें कारण नष्ट हो जानेके कारण उसके बादके क्षणमें कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता॥ २०॥

सूत्रानुवाद—पूर्वक्षण उत्तरका हेतु भी नहीं हो सकता, क्योंकि उत्तरक्षणकी उत्पत्ति बेलामें पूर्वक्षणका विनाश हो जाता है। इस प्रकार उत्तरक्षणके प्रति हेतुत्व रूपमें पूर्वक्षणकी असिद्धि होती है॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—नेत्यनुवर्त्तते। क्षणभङ्गवादिनो मन्यन्ते उत्तरस्मिन् क्षणे उत्पद्यमाने पूर्वः क्षणो निरुध्येत इति। उत्तरक्षणवर्त्तिनि कार्ये जायमाने सति पूर्वक्षणवर्त्ति कारणं विनश्यतीति तदर्थः। न चैवमुरीकु
शक्यो विधातुं निरुद्धस्य पूर्वक्षणवर्त्तिनो निरुपाख्यत्वेनोत्तरक्षणवर्त्तिहेतुतानुपपत्तेः। कारणं हि कार्यानुस्यूतं दृष्टम्॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्व सूत्रसे 'न' पदकी अनुवृत्ति है। क्षण-भङ्गवादी बौद्धगण मानते हैं कि उत्तरक्षणके उत्पन्न होनेपर पूर्वक्षण नष्ट हो जाता है। उनका तात्पर्य यह है कि उत्तर-क्षणमें किसी कार्यके उत्पन्न होनेपर उसका पूर्वक्षणवर्त्ती कारण होना उचित है, किन्तु वह नष्ट हो जाता है। इस प्रकार स्वीकार करनेसे अविद्या इत्यादिकी

परस्पर हेतुतामें कार्य-कारण भाव (हेतुहेतुमद्भाव) की व्यवस्था हो नहीं सकती, क्योंकि विनष्ट (निरुद्ध अथवा अभावग्रस्त) पूर्वक्षणवर्त्ती कारणत्व रूपमें अभिमत वस्तुके असत्कल्प (निरुपाख्य अथवा अस्तित्वहीन) होनेके कारण उत्तरक्षणमें जायमान (उत्पन्न होनेवाले) कार्यके प्रति उसकी कारणता (हेतुता) सङ्गत नहीं होती। कारण कार्यके ठीक पूर्वक्षणमें लग्न (अनुस्यूत) रहता है, यह देखा गया है॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—उत्तरेति। ऊरीकु

सूक्ष्मा-सार—उत्तरेति सूत्रके भाष्यमें *'ऊरीकु* में *'ऊरीकु* का अर्थ है—स्वीकारकर्त्ता सौगत द्वारा॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार अब अविद्यादिके परस्पर हेतुवादमें दोष दिखा रहे हैं। क्षणभङ्गवादी बौद्धोंके मतमें परवर्त्ती क्षण (कार्य) उत्पन्न होनेपर पूर्ववर्त्ती क्षण (कारण) विनष्ट हो जाता है, फिर भी कहते हैं कि पूर्वक्षण ही परक्षणका कारण है; यदि पूर्वक्षणवर्त्ती कारण नष्ट हो जाता है, तो परक्षणवर्त्ती कार्यका हेतुत्व स्वतः असङ्गत हो जाता है। कारण कार्यका अनुगत होता है—यही देखा जाता है। घट एवं पट आदिमें कारणभूत मृत्तिका और तन्तु आदि अपने कार्यके साथ प्रत्यक्ष ही विद्यमान रहते हैं। इसलिए अविद्यादिकी परस्पर कार्य-कारण भाव व्यवस्था समीचीन नहीं है, इसी कारण यह मत खण्डित हुआ है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यत्र यने यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः॥

एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज।
आत्मनानुप्रविश्यात्मन् प्राणो जीवो बिभर्ष्यज॥

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्त्यो या परस्य ताः।
पारतन्त्र्याद् वैसादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८५/४-६)

अर्थात् घट, पट इत्यादि समस्त पदार्थ जिस देशमें, जिस कालमें, जिस प्रकारसे, जिसके द्वारा, जिससे, जिसके सम्बन्धमें और जिसके उद्देश्यसे उत्पन्न होते हैं, प्रकृति एवं पुरुषके अधीश्वर आप साक्षात् उन समस्तके स्वरूप हैं अर्थात् वे आपके ही कार्य हैं। हे अधोक्षज! हे परमात्मन्! हे अज! आप ही प्राण (क्रियाशक्ति) एवं जीव (ज्ञानशक्ति) रूपमें अपनी मायासे रचित इस विचित्र विश्वमें अन्तर्यामी सूत्रसे प्रवेश करते हुए इसका पोषण करते हैं। बाणमें जो भेदन-शक्ति देखी जाती है, वह जैसे बाण चलानेवाले पुरुषकी शक्ति है, उसी प्रकार विश्व-कारण प्राणादि पदार्थ भी पराधीन कहे जाते हैं और उनके अन्तर्गत रहनेवाली शक्ति भी परम-कारण परमेश्वरकी होती है। चेतन एवं अचेतन पदार्थोंमेंसे परस्पर विसदृशतावश अचेतन पदार्थ चेतनके समान स्वतन्त्र न होकर उसके अधीन ही रहते हैं। वायुकी शक्तिके द्वारा जिस प्रकार तृणादिकी गमन-क्रिया और पुरुषकी शक्तिके द्वारा जिस प्रकार बाणका वेग देखा जाता है, उसी प्रकार परमेश्वरकी शक्ति द्वारा प्राणादि पदार्थकी केवल चेष्टा देखी जाती है, परन्तु इनकी स्वयंकी कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है॥२०॥

अवतरणिका भाष्य—असतः सदुत्पत्तिं ते मन्यन्ते। नानुपमर्दय प्रादुर्भावादिति। तां दूषयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—असत्से सत्की उत्पत्ति होती है, क्योंकि बीजका ध्वंस (अनुपमर्दन) हुए बिना अङ्कुरकी उत्पत्ति देखी नहीं जाती। अतः कार्यके पूर्व क्षणमें विनष्ट-कारण अर्थात् असत् कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होनी चाहिये—यह बौद्धोंका मन्तव्य है। इसपर अर्थात् इस असत्से सत्की उत्पत्तिवादपर दोषारोपण करते हुए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—असदुत्पत्तिवादं दुषयति असत इत्यादिना। ते वैभाषिकाः सौत्रान्तिकाश्च तत्र तद्वाक्यं प्रमाणयति। नानुपमर्दयेति। बीजमनुपमर्द्य नाङ्कुरः प्रादुर्भवेदतोऽसतस्तदुत्पत्तिः सिद्धा।

अवतरणिकाभाष्यका टीकानुवाद—इसके बाद असत्से सत्की उत्पत्तिवादके दोषोंका निरूपण *'असतः सदुत्पत्तिमित्यादि'* वाक्य द्वारा

करते हैं। *'ते मन्यन्ते'* में 'ते' का अर्थ है—वैभाषिक और सौत्रान्तिक बौद्ध-सम्प्रदाय। असत्से सदुत्पत्तिवादमें उनके वाक्यको प्रमाण रूपमें दिखा रहे हैं—*'नानुपमर्दयं प्रादुर्भावादिति'*—इसका अर्थ है बीजका ध्वंस हुए बिना अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता। अतएव असत्से सत्कार्यकी उत्पत्ति प्रमाणित (सिद्ध) है।

सूत्र—असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा॥ २१॥

सूत्रार्थ—'असति'—यदि कहो कि उपादान कारण पूर्वमें न रहनेपर भी कार्योत्पत्ति होती है, तो 'प्रतिज्ञोपरोधः' पञ्चस्कन्धसे समुदायकी उत्पत्ति है—उनकी इस प्रतिज्ञाका भङ्ग हो जायेगा। इस दोषके निराकरणके लिए यदि कहो कि 'अन्यथोपादानात्' असत् उपादानसे कार्यकी उत्पत्ति है, तब कार्य-कारणका 'यौगपद्य' युगपत् सहावस्थान हो जायेगा अर्थात् एक ही कालमें कर्म-कारण दोनोंका अवस्थान (सत्ता) हो पड़ेगा॥ २१॥

सूत्रानुवाद—कारणके न रहनेपर कार्यकी उत्पत्ति माननेपर प्रतिज्ञा भङ्ग होती है, अन्यथा कारण और कार्यकी एक ही कालमें सत्ता माननी पड़ेगी॥ २१॥

गोविन्दभाष्य—असत्युपादाने चेत्कार्यं तदा स्कन्धहेतुका समुदायोत्पत्तिरिति प्रतिज्ञाभङ्गः। सर्वदा सर्वत्र सर्वं चोत्पद्येत उत्पन्नाञ्चासत्। अन्यथोपादानाच्चेत् कार्यं तर्हि योगपद्यं कार्यकारणयोः सहावस्थितिः स्यात् कार्यानुस्यूतस्योपादानत्वात्। तथाच भावक्षणिकत्वमतभङ्गः। तस्मान्नासतः तदुत्पत्तिः॥ २१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—उपादान पूर्वमें न रहनेपर भी यदि कार्यकी उत्पत्तिको स्वीकार करते हो, तो पञ्चस्कन्धरूप हेतुसे समुदायवादकी उत्पत्तिवादरूप प्रतिज्ञा-भङ्ग होती है अर्थात् पञ्चस्कन्ध तो असत् है, अतः असत्से सत्की उक्ति असत्य होती है और सब समय सब स्थानोंमें समस्त द्रव्य भी उत्पन्न हो सकते हैं—तब पञ्चस्कन्धसे समुदायकी उत्पत्तिकी बात किसलिए? असत्से उत्पन्न कार्य भी असत् होता है—तब समुदायकी सत् रूपमें प्रतीति किसलिए हो? (असत् पञ्चस्कन्धरूप उपादानसे समुदायकी सत् रूपमें प्रतीति क्यों हो?) यदि असत् उपादानसे कार्य उत्पन्न होता है, तब यौगपद्य अर्थात्

कार्य और कारणका सहावस्थान हो पड़ता है, क्योंकि उपादान कार्यमें अनुस्यूत रहता है। फलस्वरूप भाव-पदार्थ मात्रका क्षणिकत्ववाद भङ्ग हो जाता है। अतः असत्‌से कार्यकी उत्पत्ति नहीं कही जा सकती॥ २१ ॥

सूक्ष्मा-टीका— असतीति। बीजस्योपमर्द्धितत्वादुपादानस्य तस्यासद्रूपत्वम्। सर्वदेति। सर्वस्मिन् काले देशे चासतः सौलभ्यात् सर्वं कार्यं तत्र तत्र जायेतेत्यर्थः। उत्पन्नमिति। जातकार्यामसन्निरूपाख्यं स्यात्। तद्धेतोरसत्त्वादित्यर्थः। सहावस्थितिरेकस्मिन् कालेऽवस्थानम्॥ २१ ॥

सूक्ष्मा-सार— *'असति प्रतिज्ञोपरोध'* इत्यादि सूत्रके भाष्यका तात्पर्य है—बीज उपमर्दित (विनष्ट) होनेसे वह उपादान कारण असत्-स्वरूप है। *'सर्वदेत्यादि'* वाक्यका अर्थ है—समस्त काल और समस्त स्थानोंपर असत् पदार्थ रहेंगे ही, अतएव समस्त कार्य सर्वदा ही सर्वत्र हों—यह तात्पर्य है। *'उत्पन्नञ्चासत्'* इति अर्थात् असत्‌से उत्पन्न कार्य भी असत् होगा अर्थात् शून्य होगा। क्योंकि कारणके अनुरूप कार्य होता है। कारण असत् है अतएव उसका कार्य भी असत् होगा। *'सहावस्थितिः'* से तात्पर्य है—एक ही कालमें दोनोंका (कार्य-कारणका) अवस्थान॥ २१ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति— वैभाषिक और सौत्रान्तिकगण जो यह मानते हैं कि असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति है अर्थात् परक्षण जब उत्पन्न होता है, तब पूर्वक्षण 'असत्' हो जाता है अर्थात् रहता नहीं है—उसी असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति है। इस मतका खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि उपादान-कारण पूर्वमें न रहनेपर यदि कार्योत्पत्तिकी बात की जाती है, तो उनका प्रतिज्ञाभङ्ग दोष होता है—अर्थात् पूर्वक्षण परक्षणका हेतु है—इस प्रतिज्ञाकी रक्षा नहीं होती। इस दोषके निराकरणके लिए यदि कहते हो कि असत् उपादानसे कार्यकी उत्पत्ति है, तो कार्य-कारणका युगपद् सहावस्थान हो पड़ता है, क्योंकि कार्यमें उपादान अनुस्यूत रहता है। इससे उनका भावक्षणिकत्व मत (कार्यकी उत्पत्ति काल तक कारणका अवस्थान) भङ्ग होता है।

तुम्हारी प्रतिज्ञा है कि चार कारणोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, जैसे नील (पदार्थ) से 'आलम्बन' के कारण नीलरूप बनता है। 'समनन्तर' के कारण ही पूर्वक्षणके ज्ञानसे आकार-ग्रहणकी शक्ति

आती है। 'सहकारी' के कारण ही प्रकाशसे स्पष्टता आती है (किसी एकका स्पष्टीकरण होता है)। 'अधिपति' के कारण आँख द्वारा विषयके ग्रहणका नियन्त्रण होता है—इस प्रकार ज्ञानकी यह परम्परा (सन्तान-धारा) बराबर चलती रहती है, तो हमारा प्रश्न यह है कि अधिपति अर्थात् आँखके साथ जिस पदार्थका सम्बन्ध होता है, ज्ञानोत्पत्ति कालमें यदि वह पदार्थ विद्यमान न रहे, तो कोई भी पदार्थ ज्ञानका विषय होगा कैसे? विषयके साथ इन्द्रियोंका संयोग और तद्विषयक ज्ञान एक साथ न होनेसे क्षणिकवाद सिद्धान्तमें व्याघात होता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

कृष्ण! कृष्ण! महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः॥

त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः॥

त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजः सत्त्वतमोमयी।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१०/२९-३१)

अर्थात् हे कृष्ण, हे कृष्ण, आपका प्रभाव अचिन्त्य है। आप परमपुरुष एवं जगत्के मूल, निमित्त एवं उपादान कारण हैं। ब्रह्मविद्गण इस स्थूल-सूक्ष्मात्मक जगत्को आपका ही प्राकृतरूप मानते हैं। हे भगवन्! समस्त प्राणियोंके देह, प्राण, अहङ्कार और इन्द्रियोंके नियन्ता अथवा ईश्वर एकमात्र आप ही हैं। आप ही विष्णु, अव्यय एवं ईश्वर-स्वरूप हैं। आप ही काल (निमित्त कारण) और त्रिगुणात्मिका सूक्ष्मा प्रकृति (उपादान कारण) और महत्तत्त्व (कार्य-स्वरूप) हैं। आप ही अन्तर्यामी हैं, इसलिए समस्त प्राणियोंके चित्त-ज्ञाता एवं पुरुष आप ही हैं॥ २१॥

अवतरणिकाभाष्य—दीपस्येव घटादेर्निरन्वयं विनाशं मन्यन्ते। तं दूषयति—

अवतरणिकाभाष्यानुवाद—बौद्ध-सम्प्रदायके मतमें जिस प्रकार दीपक बुझ जानेपर वह निरवशेष (सम्पूर्ण) रूपसे विनष्ट हो जाता है,

उसी प्रकार घटादि भी सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट हो जाते हैं। इस मतमें दोष दिखाते हुए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—दीपस्येति। निरन्वयं निरवशेषम्।

अवतरणिकाभाष्यका टीकानुवाद—*'दीपस्यैव घटादेरित्यादि'* वाक्यमें निरवयवका अर्थ है—अवशेषहीन अर्थात् निःशेष।

सूत्र—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्॥ २२॥

सूत्रार्थ—'प्रतिसंख्यानिरोध'—भाव-पदार्थोंका बुद्धिपूर्वक जो ध्वंस है, उसका नाम प्रतिसंख्यानिरोध है और उसके विपरीत ध्वंसको 'अप्रतिसंख्यानिरोध' कहते हैं। इसकी 'अप्राप्ति' है अर्थात् दोनों ही निरोध असम्भव हैं। किसलिए? उत्तर है—'अविच्छेदात्'—सद्वस्तुका निरवशेष ध्वंस नहीं होता। सत् द्रव्यके अवस्थान्तर (दूसरी अवस्था)-प्राप्ति ही उत्पत्ति और विनाश है॥ २२॥

सूत्रानुवाद—स्थूल-विनाशका नाम प्रतिसंख्यानिरोध और सूक्ष्म-विनाशका नाम अप्रतिसंख्या-निरोध है। ये दोनों ही नहीं हो सकते, क्योंकि जिसका कारणके साथ किसी प्रकारका संयोग ही नहीं होता, उसके विनाशका प्रश्न ही नहीं उठता। सत्पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश तो अवस्थान्तर-प्राप्ति है॥ २२॥

गोविन्दभाष्य—भावानां धीपूर्वको ध्वंसः प्रतिसंख्यानिरोधः। तद्विलक्षणस्त्वप्रति-संख्यानिरोधः। आवरणाभावमात्रमाकाशम्। एतत्त्रयं निरुपाख्यं शून्यमितियावत्। तदन्यत् सर्वं क्षणिकम्। यदुक्तम्। *'बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत् संस्कृतं क्षणिकं च'* इति। तत्राकाशं परत्र निराकरिष्यति। निरोधौ तावन्निराकरोति प्रतिसंख्येति। एतयोर्नि-रोधयोरप्राप्तिरसम्भवः स्यात्। कु
अवस्थान्तरापत्तिरेव सतो द्रव्यस्योत्पत्तिर्विनाशश्च। अवस्थाश्रयो द्रव्यं त्वेकं स्थायीति। न च दीपनाशस्य निरन्वयत्ववीक्षणादन्यत्रापि तथास्त्विति वाच्यम् अवस्थान्तरापत्तेरेवान्यत्र नाशत्वे निश्चिते दीपेऽपि तस्या एव तत्त्वेन निश्चेयत्वात्। अनुपलम्भस्त्वतिसौक्ष्म्यादेव। सद्वस्तुनो निरन्वयश्चेद्विनाशस्तर्हि क्षणानन्तरं विश्वं निरुपाख्यं पश्येस्त्वञ्च न भवेर्न चैवमस्ति। तस्मादनुपपन्नः सः॥ २२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—घट-पटादि भावपदार्थका बुद्धिपूर्वक विनाश प्रतिसंख्या-निरोध है अर्थात् घट हमारे प्रतिकूल है, अतएव असत्-कल्प

(निरुपाख्य अथवा शून्य) होनेसे हम उसे असत् करेंगे—इस प्रकारकी बुद्धिसे जो विनाश साधित होता है, उसका नाम प्रतिसंख्या-निरोध है। इसके विपरीत अर्थात् इस प्रकारकी बुद्धिसे जब विनाश नहीं होता, वह अप्रतिसंख्या-निरोध है। आवरणका अभावमात्र ही आकाश पदार्थ है—ये तीनों निरुपाख्य—नामहीन अर्थात् शून्य हैं। इन तीनोंको छोड़कर अन्य समस्त ही क्षणिक हैं। ऐसा कहा गया है कि उक्त निरोध-द्वय और आकाश—इन तीनों पदार्थोंसे भिन्न अर्थात् परमाणु पृथ्वी इत्यादि पदार्थसमूह धीगम्य (बुद्धि-गम्य), संस्कृत और क्षणिक हैं। इनमें आकाशका खण्डन बादमें करेंगे। इस समय सूत्रकार प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध—इन दोनोंका निराकरण इस प्रतिसंख्याऽतिप्रतिसंख्येत्यादि सूत्रसे कर रहे हैं। ये जो दोनों निरोध कहे जा रहे हैं—ये असम्भव हैं। किस कारणसे? अविच्छेदात् अर्थात् अविच्छेदके कारण सत्-वस्तुका निरवशेष अर्थात् निःशेषके अभावके कारण उक्त दोनों निरोधोंकी अप्राप्ति (असम्भवता) होती है। इस प्रकार सत्-वस्तुका विनाश नहीं है, तब क्या है? अन्य-अवस्था प्राप्ति (अवस्थानन्तरका आश्रय) ही सत्-द्रव्यकी उत्पत्ति है और विनाश भी अवस्थानन्तर-प्राप्ति है। अवस्था-विशेषका आश्रय करके एक ही द्रव्य स्थितिवान है अर्थात् द्रव्य एक ही है और स्थायी है। यदि कहो, जब देखा जाता है कि दीपक बुझनेपर वह निःशेष ही लुप्त हो जाता है (शून्यत्व-दर्शन) होता है तो इस दृष्टान्तसे अन्य स्थलपर भी निरवशेष विनाश हो—यह नहीं कहा जा सकता। यदि अन्य स्थलपर अवस्थान्तर-प्राप्तिका विनाश निश्चित होता है, तो दीपनाश-स्थलपर भी उस अवस्थान्तर प्राप्तिका ही नाश रूपमें निश्चय किया जा सकता है। तब दीपककी जो उपलब्धि नहीं हो रही है, वह अति सूक्ष्मावस्था प्राप्तिके कारण ही है और यदि सत्-वस्तुका एकान्त विनाश (शून्यत्व) अर्थात् निरवशेष ध्वंस कहते हो, तब कु

और हे वादीगण (पूर्वपक्षीगण)! तब तुम स्वयं भी नहीं रह सकोगे, किन्तु ऐसा कभी होता नहीं है। अतएव वस्तुका निरवशेष ध्वंसवाद युक्तियुक्त नहीं है॥ २२॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रतिसंख्येति। प्रतिकूलासन्तं घटमसन्तं करोमीत्येवंलक्षणा संख्याबुद्धिः प्रतिसंख्या तया निरोधो नाशः प्रतिसंख्यानिरोधः तद्विलक्षणस्य इत्यर्थः। निरुपाख्यं तुच्छमवस्तुभूतमिति यावत्। बुद्धीति। त्रयात् निरोधद्वयाकाशरूपात् अन्यत् परमाणुपृथिव्यादि। बुद्धिबोध्यं धीगम्यमित्यर्थः। अवस्थान्तरेति। सतो मृत्पिण्डस्य कम्बुग्रीवाद्यवस्थायोगो घटस्योत्पत्तिस्तद्विरोधिकपालाद्यवस्थायोगस्तु तस्य विनाशः, मृत्पिण्डस्त्वेकः स्थायीत्यर्थः। न चेति। अन्यत्र घटादिविनाशे। अन्यत्र घटादौ। तस्या इति। अवस्थान्तरापत्तेरेव नाशत्वेन निश्चेतुं शक्यत्वादित्यर्थः। ननु मृद्द्रव्यस्येव दीपस्य कृतो नोपलम्भस्तत्राहातिसौक्ष्म्यादिति। दीपप्रकाशोऽपि भूततृतीये तेजसि विलीनस्तिष्ठेदेवेति भावः। निरुपाख्यभावग्रस्तम्। त्वञ्चेति। निरन्वयविनाशवादी क्षणिकस्त्वञ्च क्षणोत्तरमभावग्रस्तः स्यात् इत्यर्थः। तथाच मोक्षोपाये प्रवृत्तिस्तेऽतीवमूढतामापादयेदिति भावः। स निरन्वयविनाशः॥ २२॥

सूक्ष्मा-सार—*'प्रतिसंख्येति'* सूत्रमें—प्रतिसंख्या निरोध शब्दका अर्थ है—घट प्रतिकूल अर्थात् अनभिप्रेत है—अतएव असत्कल्प इसे असत् करेंगे—इस प्रकारकी संख्या अर्थात् बुद्धिको प्रतिसंख्या कहते हैं, इस बुद्धिसे जो नाश है, उसका नाम प्रतिसंख्या निरोध है और जो इस प्रकारकी बुद्धिपूर्वक नहीं है, ऐसे विनाशको अप्रतिसंख्या निरोध कहा जाता है। निरूपाख्य शब्दका अर्थ 'तुच्छ' है अर्थात् जो वस्तुभूत नहीं है। बुद्धि बोध्यामित्यादि वाक्यका अर्थ है—त्रयात् तीनोंसे अर्थात् पूर्वोक्त निरोधद्वय और आकाशसे अन्य अर्थात् परमाणु पृथ्वी इत्यादि। बुद्धिबोध्यम्—अर्थात् बुद्धि द्वारा प्राप्य। *'अवस्थान्तरोत्पत्तिरिति'*—घटकी उत्पत्ति कहनेपर सत्स्वरूप मृत्-पिण्डकी कम्बु-ग्रीवादिरूप अवस्थामें परिणति और उसका विनाश-कम्बु-ग्रीवादि अवस्था विरोधी कपालादि (चूर्णादि) अवस्थाकी प्राप्ति ही विनाश पद वाच्य है, किन्तु एक मृत्-पिण्ड ही स्थिर है—यह तात्पर्य है। *'न च दीपनाशस्येत्यादि .... अन्यत्रापि'* वाक्यका अर्थ है—अन्य स्थलपर भी अर्थात् घटादिके विनाशपर भी इसी प्रकारसे निरन्वय विनाश हो। *'अवस्थान्तरापत्तेरेवेत्यादि अन्यत्र'* का अर्थ है—घटादि स्थलपर। *'तस्या एव तत्त्वेन। निश्चयत्वात्'*—अर्थात् उस अवस्थान्तर प्राप्तिको ही नाश रूपमें निश्चय किया जा सकता है। प्रश्न है—घटका नाश होनेपर भी जिस प्रकार मृत्-द्रव्यकी चूर्णादि रूपमें उपलब्धि होती है, उसी प्रकार दीपककी प्रत्यक्ष उपलब्धि क्यों नहीं होती?

इसके उत्तरमें कह रहे हैं—*'अति सौक्ष्म्यात्'*—अत्यन्त सूक्ष्मताके कारण। बात यह है कि दीपका प्रकाश भी तृतीय भूत अग्निमें विलीन होकर अवस्थान करता है—यह अभिप्राय है। निरूपाख्यम्का अर्थ है—अभावग्रस्त, शून्य। *'त्वञ्च न भवेः'* का अर्थ है निरन्वय विनाश मतवादी बौद्ध। तब तुम भी नहीं रह सकोगे क्योंकि तुम भी क्षणिक अर्थात् क्षणान्तरमें अभावग्रस्त हो जाओगे। इससे मोक्ष प्राप्तिके उपायमें तुम्हारी प्रवृत्ति तुम्हारी मूर्खता ही प्रमाणित होगी यह अभिप्राय है। *'अनुपपन्न सः इति'* में 'सः' से तात्पर्य है यह निरन्वय (स्थूल) विनाश अयौक्तिक है॥ २२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बौद्ध-सम्प्रदायके मतमें यदि कहा जाता है कि दीपके निर्वाण होनेपर (बुझ जानेपर) जैसे उसका सम्पूर्ण रूपसे विनाश हो जाता है, उसी प्रकार घटादिका भी निरवशेष (सम्पूर्ण रूपेण) विनाश होता है। सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें इस मतका खण्डन किया है। बौद्ध-दर्शनमें देखा जाता है कि पदार्थके बुद्धिपूर्वक ध्वंसका नाम *'प्रतिसंख्यानिरोध'* अर्थात् बुद्धिपूर्वक किसी वस्तुको ध्वंस करना है, जैसे लकड़ीके आघातसे घटको भग्न किया जाता है। इसके विपरीत *'अप्रतिसंख्यानिरोध'* और आवरणका अभावमात्र ही आकाश है। ये तीनों ही निरुपाख्य अर्थात् शून्य अथवा अवस्तुभूत हैं। इसके अतिरिक्त अन्य समस्त क्षणिक है। सूत्रकार आकाशका निराकरण बादमें करेंगे—यह निश्चय करके इस समय दोनों निरोधके निराकरणके निमित्त कहते हैं कि उक्त दोनों निरोधकी कल्पना भ्रमपूर्ण है, क्योंकि सत्-वस्तुका निःशेष (सम्पूर्ण) विनाश नहीं है, जिसका कारणके साथ किसी प्रकारका संयोग ही न रहेगा, उसके विनाशका प्रश्न ही कहाँ उठता है? केवल अवस्थान्तर-प्राप्ति ही उस सत्पदार्थकी उत्पत्ति और विनाशका दृष्टान्त है।

श्रीमद्भगवद्गीता (२/१६) में देखा जाता है, *'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'* अर्थात् असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और नित्य वस्तुका नाश नहीं है। यदि कहो, दीप बुझ गया तो निःशेष (सम्पूर्ण) ही लुप्त हो गया, इस प्रकार अन्य स्थलपर भी होगा—नहीं, नहीं होगा, ऐसा कहा भी नहीं गया है। इसका कारण

है कि दीपनाश स्थलपर भी ऐसी अवस्थान्तर प्राप्ति होती है, तब अतिशय सूक्ष्मावस्था प्राप्तिवश दीपकी तात्कालिक उपलब्धि नहीं होती, किन्तु उस समय भी वह उपलब्धि अग्नि (दीप-ज्वाला) में विलीन रहती है। सत्-वस्तुका यदि सम्पूर्ण विनाश कहा जाता है, तो जगत् निःशेष (शून्य) हो जायेगा और वादी भी निःशेष हो जायेगा। तब बौद्ध जिसे मोक्षका अभिप्राय मानते हैं—वह भी मूढ़तामें परिणत हो जायेगा। यदि कहो तपी हुई शिलापर पड़कर नष्ट हुए जल-बिन्दुका कोई भी अन्वयीस्वरूप उपलब्ध नहीं होता, तो वहाँ भी जल-बिन्दु सूर्य-किरणों द्वारा वाष्परूप धारणकर अगले क्षणमें मेघका रूप धारण कर लेती है। अतः *'अविच्छेदात्'*—प्रवाहका निरोध नहीं होता। इस प्रकार निरन्वय विनाश युक्तियुक्त नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें श्रुति-स्तवमें देखा जाता है—

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥

(श्रीमद्भा० १०/८७/२६)

अर्थात् त्रिगुणात्मक यह प्रपञ्चसमूह मनःकल्पित एवं असत्-स्वरूप होकर भी आपमें अधिष्ठित रहकर मनुष्य पर्यन्त जितने भी जीव हैं, सभीकी सत्‌के समान प्रतीति होती है। आत्म-तत्त्वज्ञ पण्डितगण भोक्तृ-भोग्य-स्वरूप इस सम्पूर्ण विश्वको परमात्मरूप सत्-वस्तुका कार्य कहकर सत्-रूपमें दर्शन करते हैं, परन्तु परमात्म सम्बन्धके बिना इनकी पृथक् सत्ताको नहीं जानते। कनकाभिलाषी मनुष्य कु
कार्य कहकर उन्हें कनकके रूपमें ग्रहण करते हैं। अतएव आपके द्वारा रचित यह विश्व और उसमें अनुप्रविष्ट पुरुष अथवा जीवात्मा भी आपके स्वरूपज्ञानसे ही निश्चित हुए हैं।

इसी श्लोककी टीकामें श्रीधर स्वामी कहते हैं—

'तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान् यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति॥'

अर्थात् लोग पञ्चाग्नि आदि तापोंसे तप्त हों, पर्वतसे गिरकर आत्मघात कर लें, तीर्थोंका पर्यटन करें, वेदोंका पाठ करें, यज्ञोंके द्वारा यजन करें अथवा भिन्न-भिन्न मतवादोंके द्वारा आपसमें विवाद करें, परन्तु भगवान् श्रीहरिके बिना इस मृत्युमय संसार-सागरसे पार नहीं जा सकते॥ २२॥

अवतरणिकाभाष्य—अथ तदभिमतां मुक्तिं दुषयति।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद बौद्ध-समस्त मुक्तिवादमें दोषारोपण करते हैं—

सूत्र—उभयथा च दोषात्॥ २३॥

सूत्रार्थ—बौद्धगण कहते हैं कि संसारका हेतुभूत अविद्यादिका विनाश ही मोक्ष है—यह जो अभिमत है, उसमें प्रश्न यह है कि वह मुक्ति क्या साक्षात् तत्त्वज्ञानसे उद्भूत (उत्पन्न) होती है अथवा तत्त्वज्ञानकी अपेक्षा किये बिना स्वयं ही उत्पन्न होती है? 'उभयात्'—दोनों प्रकारसे 'च' ही 'दोषात्' दोष होनेसे बौद्ध-सम्मत मुक्ति सिद्ध नहीं होती॥ २३॥

सूत्रानुवाद—प्रतिसंख्या-निरोधके अन्तर्गत अविद्यादि परस्परमूलक बारह अङ्गोंका जो निरोध अथवा ध्वंस अर्थात् मोक्ष है, वह न तो तत्त्वज्ञानसे सम्भव है और न ही अपने आप। प्रथम कल्पमें निर्हेतुक विनाशवादकी हानि होती है और दूसरेमें उपदेश ही व्यर्थ हो जाता है—दोनों ही प्रकारसे दोष है॥ २३॥

गोविन्दभाष्य—त्रिषु मण्डूकप्लुत्या नेत्यनुवर्त्तते। योऽयं संसारहेतोरविद्यादेर्निरोधा बौद्धैर्मोक्षोऽभिमतः। स किं साक्षात्तत्त्वज्ञानात् स्यात् स्वयमेव वा। नाद्यः, निर्हेतुकविनाशस्वीकारवैयर्थ्यात्, नेतरः साधनोपदेशनैरर्थक्यादित्युभयथापि विचारा-सहत्वात्तदभितो मोक्षोऽपि न सिध्यति॥ २३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—उन्नीसवें सूत्रसे मण्डूकप्लुति न्याय (बीच-बीचमें छोड़कर आगे छलाङ्ग लगाना—यहाँ यह कु
पूर्ववर्त्ती सूत्रसे आपूर्ति करनेके लिए प्रयुक्त है) से अर्थात् मेंढकके लम्फन (उछल-कूद) के समान इस सूत्रसे पर-पर तीन सूत्रोंमें 'न'

पदकी अनुवृत्ति हुई है। अतएव *'उभयथा च दोषात् न'*—इस प्रकारसे सूत्र है। संसारके कारणभूत अविद्या इत्यादिके निरोधको अर्थात् विनाशको बौद्धगण मुक्तिके रूपमें स्वीकार करते हैं। यह मुक्ति क्या साक्षात् तत्त्वज्ञानसे है अथवा तत्त्वज्ञानकी अपक्षा किये बिना स्वयं ही प्राप्त होती है? इनमें प्रथम कल्प तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसमें अप्रतिसंख्यानिरोधको स्वीकार करना व्यर्थ होता है। दूसरा पक्ष भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि उससे मुक्ति-साधनका उपदेश निरर्थक हो जाता है। दोनों ही स्थलोंपर विचार विरोध उठनेके कारण दोनों ही प्रकारके मत विचारणीय नहीं हैं, इसलिए उनके द्वारा अभिमत मुक्ति अप्रमाणित है॥ २३॥

सूक्ष्मा-टीका—उभयथेति। निर्हेतुकेति। अप्रतिसंख्यानिरोधाङ्गीकारनैरर्थ-क्यादित्यर्थः॥ २३॥

सूक्ष्मा-सार—*'उभयथा चेति'* सूत्रमें *'निर्हेतुक विनाशेति'*—भाष्य है, जिसका अर्थ है—अप्रतिसंख्या निरोधको अङ्गीकार करना व्यर्थ है॥ २३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकारने बौद्ध-सम्मत मुक्तिवादका खण्डन किया है। बौद्ध-मतमें संसारकी हेतु अविद्याके विनाशको मोक्ष कहा है, वह दोनों ही प्रकारसे सङ्गत नहीं है। कारण यह है कि यह अविद्या-विनाशरूप मुक्ति क्या साक्षात् तत्त्वज्ञानसे होगी? यदि यही स्वीकार करते हो, तो पूर्वोक्त निर्हेतुक-विनाश अर्थात् जो नाश, बुद्धि द्वारा नहीं होता, वह निरर्थक हो जाता है और दूसरी ओर यदि यह कहा जाय कि यह मोक्ष स्वयं ही उदित होता है, तो बौद्ध-मतमें जिन सब साधनोंका यथा सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि (निरोध) उपदेश दिया है, वह समस्त साधनका उपदेश निरर्थक हो पड़ता है। इसलिए दोनों पक्षोंसे ही उनका मत विचारके योग्य नहीं है, क्योंकि इनमेंसे किसी भी प्रकारसे उनका अभिमत मोक्ष (मुक्ति) सिद्ध नहीं हो सकता।

श्रीशङ्कराचार्यने भी अपने भाष्यमें ही इस मतका खण्डन किया है। श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यसे भाष्यके सारसे भी अवगत हुआ जा सकता है कि जगत् उत्पन्न होकर दूसरे ही क्षण ध्वस्त हो जाता है, पुनः उत्पन्न होता है, पुनः उसका ध्वंस होता है। ध्वंस होनेसे यह जगत् बादमें शून्यसे उत्पन्न होता है, इस प्रकार कह तो दिया, पर क्या शून्यसे उत्पन्न वस्तु शून्य नहीं होगी? जगत् तो शून्यमय नहीं हैं, अतः उनका मत युक्तियुक्त नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

सङ्गं त्येजत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद्वहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः॥

(श्रीमद्भा० ९/६/५१)

अर्थात् मुक्तिकामी व्यक्तिको दाम्पत्यधर्मरत व्यक्तियोंका सङ्ग सब प्रकारसे त्याग देना चाहिये। अपनी किसी भी इन्द्रियको किसी भी प्रकारसे बाह्य विषयमें नियुक्त नहीं करना चाहिये। निर्जनमें अकेले रहकर अनन्त भगवान् श्रीहरिमें चित्तको सन्निविष्ट कर देना चाहिये। और यदि सङ्ग करना है, तो भगवत्-धर्म-परायण साधुओंका सङ्ग करना चाहिये।

शून्यवादका निराकरण भी श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
ईश्वरेण परिच्छिन्न कालेनाव्यक्तमूर्त्तिना॥
यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्॥

(श्रीमद्भा० ३/१०/१२-१३)

अर्थात् ईश्वरकी सृष्टि आदि शक्तिके साथ यह विश्व ब्रह्ममें अव्यक्त रूपसे एकीभूत था, वही पुनः अव्यक्त स्वरूप ईश्वरके प्रभावाधीन कालके द्वारा पृथक् रूपमें प्रकाशित हुआ है॥ २३॥

अवतरणिका भाष्य—अथाकाशस्य निरुपाख्यत्वं निरस्यते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब आकाशके अभाव अथवा शून्यत्ववादको निरस्त कर रहे हैं—

सूत्र—आकाशे चाविशेषात्॥ २४॥

सूत्रार्थ—'आकाशे च'—आकाश विषयमें जो निरुपाख्यता (शून्यता)—तुम्हारा अभिमत है, वह भी सम्भव नहीं है! क्यों? उत्तर है—'अविशेषात्'—पृथ्वी इत्यादि भाव पदार्थोंके समान उसकी अविशेष रूपमें ही प्रतीति हो रही है॥ २४॥

सूत्रानुवाद—आकाशकी निरुपाख्यता (तुच्छता) युक्तियुक्त नहीं है, जब पृथ्वी आदिका अस्तित्व स्वीकारते हो, उसी प्रकार आकाशकी भी तो प्रतीति है, तब आकाशका अस्तित्व भी माना जाय॥ २४॥

गोविन्दभाष्य—आकाशे या निरूपाख्यताभिमता सा न सम्भवति। कु अविशेषात्। इह श्येन उत्पततीति प्रतीत्या तत्रापि पृथिव्यादिवद्भावरूपत्वात् गन्धादिगुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्ववीक्षणाच्छब्दगुणस्याप्याकाशो वस्तुभूत एवाश्रय इत्यनुमानाच्च। वायुराकाशसंश्रय इति त्वदुक्त्यसङ्गतेश्च। अपि च आवरणाभाव-मात्रमाकाशमिति न शक्यं वक्तु
प्रागभावादित्रयमाकाशः। पृथिव्यादेरावरणस्य सत्त्वेन तदप्रतीतिप्रसङ्गात् विश्वं निराकाशं स्यात्। आकाशस्य सत्त्वेन पृथिव्याद्यप्रतीतिप्रसङ्गाच्च। नाप्यन्योन्याभावः तस्य तत्तदावरणगतत्वेन तन्मध्याकाशाप्रतीतिप्रसङ्गादिति यत्किञ्चिदेतत्। यत्रावरणाभावस्तदाकाशमिति चेत्तर्हि वस्तुभूतमेव तत् आवरणाभावेन विशेषितत्वात्। तस्मात् पृथिव्यादिवद्भावभूतमेवाकाशं न तु निरूपाख्यम्॥ २४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आकाशमें शून्यतावाद जो तुम्हारा अभिमत है, वह सम्भव नहीं है, किस कारणसे? *'अविशेषात्'* क्योंकि पृथ्वी इत्यादिके समान निर्विशेष रूपसे आकाशकी प्रतीति होती है। जैसे—आकाशमें श्येन (बाज) पक्षी उड़ता है—इस प्रकारकी प्रतीतिवश इस आकाशमें भी पृथ्वी, जल, तेज, वायुके समान भाव-स्वरूपता दृष्ट होती है। इसके अतिरिक्त यह भी देख सकते हैं कि जिस प्रकार गन्धादि गुण पृथ्वी इत्यादि वस्तुओंका आश्रय करके स्थित हैं, उसी प्रकार शब्दगुणकी भी आश्रयभूत-वस्तु आकाश है। अनुमान प्रमाणसे भी आकाश सिद्ध होता है। अनुमान प्रणाली

इस प्रकार है—*'शब्दो द्रव्य समवेतः गुणत्वात्, गन्धादिवत् शब्दो न स्पर्शवद् द्रव्यविशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायि- कारणकत्वाभावे सति अकारणगुणपूर्वकम् प्रत्यक्षत्वात् सुखवत्। नात्म कालदिङ्मनसां गुणः बहिरिन्द्रिय ग्राह्यत्वात्॥'* इस प्रकार शब्द आकाशका आश्रय करके रहता है, इससे आकाशकी सिद्धि जानें। इसके अतिरिक्त वायुराकाशसंश्रयः अर्थात् वायु आकाशको आश्रय करके रहती है—तब तुम्हारा यह कथन भी असङ्गत हो जाता है। और एक बात यह भी है *'आवरणाभाव मात्र आकाश'* (पृथ्वी आदि सत्तावान पदार्थोंका अभाव ही आकाश है)—यह कहना भी विचारपूर्ण नहीं है, क्यों? वही बताते हैं कि—तुम कहते हो अभाव तीन प्रकारका है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव—इन तीनों ही प्रकारके अभाव-स्वरूपोंके मध्य आकाशका निवेश हो नहीं सकता। पृथ्वी इत्यादि तीन भूतोंकी आवरण सत्ता रहते हुए आवरणाभावकी प्रतीति नहीं होनेसे तो विश्वको आकाशशून्य होना चाहिये अर्थात् आकाशादि यदि आवरणाभाव है अर्थात् वह किसीका भी आवरण नहीं है, इस तरहकी अभाव रूप वस्तु है तब तो यह पृथिव्यादिकों का भी आवरण नहीं होता और इस प्रकार विश्व आकाशरहित हो जाता है। पुनः पृथ्वी इत्यादिमें आकाशकी सत्ता स्वीकार करते हैं तो सत्-वस्तुकी अप्रतीतिके कारण पृथ्वी इत्यादिकी भी प्रतीतिके अभावका प्रसङ्ग घटित होता है। आवरणरूप आकाशको अन्योन्याभाव भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि पृथ्वी इत्यादि उस-उस आवरणके अन्तर्गत आवरण-भेद रहनेके कारण उस पृथिव्यादिके मध्यमें पतित-आकाशकी प्रतीतिका व्याघात होता है अर्थात् उक्त अन्योन्याभाव पृथ्वी आदिमें रहनेसे पृथ्वी इत्यादि मध्यगत आकाशकी अप्रतीतिका प्रसङ्ग कराता है। अतएव आकाशका जो आवरणाभाव-स्वरूप कहा गया है, वह कथन अतीव तुच्छ एवं निष्प्रयोजन है। जहाँ आवरणका अभाव है, वही आकाश है, यदि ऐसा कहते हो तो इस आकाशको शून्य (तुच्छ) कहनेसे चलता नहीं है, क्योंकि यह आकाश तब वस्तुस्वरूप अर्थात् भावरूप हो जाता है। आकाशका लक्षण किया गया है कि *'आवरणाभाव विशिष्ट'* अर्थात् जो आवरणाभाव द्वारा विशेषित एक

वस्तु है, वह शून्य (अवस्तुभूत) नहीं हो सकती। अतएव सिद्धान्त यह होता है कि पृथ्वी इत्यादि भाव पदार्थके समान आकाश भी एक भावपदार्थ है, उसका अभाव नहीं है॥ २४॥

सूक्ष्मा-टीका—आकाशे इति। तत्रापि आकाशेऽपीत्यर्थः। न तावदिति। प्रागभावः प्रध्वस्ताभावोऽत्यन्ताभावश्च नाकाश इत्यर्थः। तदप्रतीतिस्तस्याः प्रसङ्गात् प्राप्तेः। नापीति। अन्योन्याभावोऽपि नाकाश इत्यर्थः। तस्यान्योन्याभावस्य पृथिव्याद्यावरणवर्त्तित्वेन पृथिव्यादिमध्यगताकाशाप्रतीतेरित्यर्थः॥ २४॥

सूक्ष्मा-सार—*'आकाशे च'* इत्यादि सूत्रके भाष्यमें *'तत्रापि पृथिव्यादिवदित्यादि'* वाक्यमें तत्रापिका अर्थ है 'आकाशमें भी'। *'न तावत् प्रागभावादित्रयमित्यादि'* अभाव आपाततः दो प्रकारसे है—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। उनमें संसर्गाभाव पुनः तीन प्रकारका है, यथा प्रागभाव—जो वस्तु उत्पन्न होनेसे पहले रहती है, प्रध्वंसाभाव—जो वस्तु नष्ट होनेके बाद उत्पन्न होती है, अत्यन्ताभाव—जो सभी समय सभी स्थानोंपर रहती है। ये तीनों ही अभावस्वरूप आकाशमें सङ्गत नहीं होते। इसका कारण है कि पृथ्वी इत्यादिका आवरण रहनेसे आवरणके अभावकी प्रतीति नहीं हो सकनेसे इस आवरणाभावकी अप्रतीति हो जाती है। (अर्थात् तदनुसार जगत् आकाशशून्य होना चाहिये परन्तु ऐसा होता नहीं है।) *'नाप्यन्योन्याभावः'* इति का अर्थ है संसर्गाभावसे जिस प्रकार आकाश नहीं हुआ है, अन्योन्याभावसे भी आकाश हो नहीं सकता क्योंकि 'तस्य' अर्थात् उस अन्योन्याभावके '*तत्तदावरणगतत्वेन*' तद्तद् अन्तर्गत पृथ्वी इत्यादि आवरण रहते हैं। किस प्रकार? वही कह रहे हैं—एक आवरणका भेद दूसरे आवरणमें रहनेसे पृथ्वी इत्यादिके मध्यगत जो आकाश है, उस आकाशमें और आकाशका भेद नहीं है, इसलिए उसकी प्रतीतिका अभाव हो जाता है॥ २४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब बौद्धगणके मतमें आकाश जो निरुपाख्य अर्थात् अवस्तुभूत है, उसका खण्डन करते हैं। पृथ्वी आदि जिस कारणसे भावरूपमें स्वीकृत हैं, आकाश भी उसी अविशेष रूपमें रहनेसे (उससे विलक्षण न होनेसे) उसे अभावरूप नहीं कहा जाता।

वह भी भावरूप ही है। इस विषयपर भाष्य एवं टीकामें विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है।

एक विशेष बात यह है कि बुद्धदेवने स्वयं ही कहा है कि 'वायु आकाशको आश्रय करके रहती है' इसलिए पहले तो बौद्ध-मतमें आकाशको अवस्तुभूत अथवा अभावमात्र कहना सङ्गत ही नहीं है। तैत्तिरीयोपनिषदमें कहा है—*'तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः'* (तै॰ २/१) अर्थात् सत्य-ज्ञान-अनन्त-स्वरूप परमेश्वरसे उनके सङ्कल्पाधीन मायाशक्ति द्वारा महदादि सृष्टि क्रमसे पञ्चतन्मात्र और उससे स्थूल भूतसमूह उत्पन्न हुआ। इनमें शब्द तन्मात्रसे शब्द गुणवान आकाश उत्पन्न हुआ। और फिर शास्त्रीय नियम यह है कि किसी निषेधके बारेमें तब तक नहीं कहा जा सकता, जब तक कि उस निषेधके अधिकरणका निरूपण न हो। आवरणका अभाव अर्थात् निषेध कहनेसे उसकी अधिकरणरूप आकाशवस्तु स्वयं ही सिद्ध हो जाती है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तामसाच्च विकु
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः श्रोत्रन्तु शब्दगम्॥

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च।
तन्मात्रत्वञ्च नभयो लक्षणं कवयो विदुः॥

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/३२-३४)

अर्थात् तामस अहङ्कार कालस्वरूप भगवान्के प्रभावसे चालित होकर विकृत हुआ, तब इससे शब्द तन्मात्र उत्पन्न हुआ। उस शब्द तन्मात्रसे आकाश एवं शब्द ग्रहण करनेवाली श्रोत्रेन्द्रियकी उत्पत्ति हुई। आकाशका जो तन्मात्र है, पण्डितजन उसीको शब्दका लक्षण बतलाते हैं। शब्द अर्थका वाचक और वक्ताका ज्ञापक है। इस प्रकार अर्थका प्रकाशक होना, ओटमें रहनेपर भी वक्ताका ज्ञान करा देना तथा आकाशका सूक्ष्मरूप होना—ये तीन शब्दके लक्षण

हैं। प्राणियोंको अवकाश प्रदान करना, बाहर एवं भीतर वर्त्तमान रहना, प्राण, इन्द्रिय और मन—इनका आश्रय होना—ये आकाशकी वृत्ति (कार्य) एवं लक्षण हैं।

परम कारुणिक सौगत बुद्धने कहा है—*'आकाशस्य स्थितिर्यावत् यावच्च जगतः स्थितिः तावन्मम स्थितिर्भूयात् जगद् दुःखानि निघ्नतः'* अर्थात् जब तक आकाशकी स्थिति है और जब तक जगत्की स्थिति है, तब तक संसारके प्राणियोंको दुःखोंको दूर करते हुए मेरी स्थिति बनी रहे॥ २४॥

अवतरणिका भाष्य—अथ भावस्य क्षणिकत्वं दूषयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद बौद्धसम्मत भावपदार्थके क्षणिकत्ववादको दोषपूर्ण बतलाते हैं—

सूत्र—अनुस्मृतेश्च॥ २५॥

सूत्रार्थ—जब पूर्वानुभूत वस्तुकी स्मृति होती है, तो पदार्थके क्षणिक होनेसे वह स्मृति हो नहीं सकती, 'अनुस्मृतेः' पूर्वानुभूत वस्तुविषयक जो स्मृति है अर्थात् 'यही वह वस्तु है' इस प्रकारकी जो प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है, क्षणिक पदार्थवादमें वह अनुपपन्न है, 'च' इस युक्तिसे भी बौद्ध मत अप्रमाणित सिद्ध होता है॥ २५॥

सूत्रानुवाद—'अनुस्मृति' पदका अर्थ है—पूर्वानुभूत वस्तुविषयक ज्ञान अर्थात् प्रत्यभिज्ञा। पहले जो अनुभव किया था, इस समय भी उसका अनुभव कर रहा हूँ क्षणभङ्गवादीको इस अनुस्मृतिकी उपपत्ति नहीं होती॥ २५॥

गोविन्दभाष्य—पूर्वानुभूतवस्तुविषया धीरनुस्मृतिः। प्रत्यभिज्ञेति यावत्। समस्तं वस्तु तदेवेदमिति पूर्वानुभूतमनुसन्धीयतेऽतः क्षणिकत्वं भावस्य न। न च सेयं गङ्गा तदिदं दीपार्चिरितिवत् सादृश्यनिबन्धना न तु वस्त्वैक्यनिबन्धना सेति वाच्यं, सादृश्यग्रहीतुरेकस्य स्थायिनोऽभावेन तदयोगात्। किञ्च बाह्ये वस्तुनि कदाचित् संशयः स्यात्तदेवेदं तत्सदृशं वेति आत्मनि तूपलब्धरि न कदाचित् अन्यानुभूतेऽन्यस्मृत्यसम्भवात्। न च सन्तानैक्यं नियामकं स्थायिसन्तानस्वीकारे स एव स्थिर आत्मेति मतान्तरापत्तेः। अस्वीकारेऽन्यस्मृत्यसिद्धेः। अपि च किं नाम क्षणिकत्वम्। किं क्षणसम्बन्धः किंवा क्षणेनैवोत्पत्तिविनाशौ। न तावदाद्यः

स्थायिनः क्षणसम्बन्धसत्त्वात्। न द्वितीयः प्रत्यक्षबाधात्। एतेन दृष्टिसृष्टिरपि निराकृता। अत्राप्यर्थात् क्षणिकत्वस्वीकारात्। तस्मान्न क्षणिको भावः॥ २५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पहले जिन समस्त वस्तुओंको प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा अनुभव किया गया था, बादमें उन्हें देखकर जो स्मृति होती है अर्थात् 'यह वही (पूर्वानुभूत) वस्तु है'—इस रूपमें प्रत्यभिज्ञा होती है किन्तु भाववस्तुको क्षणिक मान लिया जाय, तो उस पूर्वानुभूत वस्तुका इस समय जो अनुसन्धान है, उसकी अनुपपत्ति (असिद्धि) होती है। संसारकी समस्त वस्तुएँ पूर्वानुभूतत्वसे अनुसन्धानको प्राप्त होती हैं। अतएव भाववस्तु अथवा भावपदार्थका क्षणिकत्व कहा नहीं जा सकता। यदि कहो 'यही वह गङ्गा है', 'यह वही दीपशिखा है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा जिस प्रकार सादृश्यताके कारण होती है, वैसी ऐक्यता (एक वस्तु-बोध्यता) के कारण नहीं है, उसी प्रकार वस्तुके क्षणिक होनेसे पूर्वानुभूत वस्तुका सादृश्य देखकर यही अनुस्मृति होगी, यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि पूर्वमें अनुभव करनेवाला और वर्त्तमानमें सादृश्य ग्रहण करनेवाला एक स्थायी व्यक्ति नहीं है। अतः उस स्थिर व्यक्तिके अभावके कारण वह सादृश्यानुसन्धान सम्भवपर नहीं है। बाह्य-वस्तु गङ्गा-प्रवाह अथवा दीपशिखा इत्यादिमें कभी-कभी संशय उत्पन्न हो सकता है, यथा—'क्या यह वही वस्तु है?' अथवा 'उसके जैसी ही कु

कभी भी यह सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य व्यक्ति द्वारा अनुभूत वस्तुमें दूसरे व्यक्तिकी अनुस्मृति असम्भव है। यदि कहो, हम सन्तानवादी हैं, इसलिए एक सन्तान अथवा ज्ञानधाराको बुद्धिमें रखकर इस नियमका निर्वाह होगा अर्थात् एक ज्ञानधारा एकजातीय अनुभूति और अनुस्मृतिकी नियामक होगी तो यह कहना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि यह सन्तान स्थायी है अथवा अस्थायी है? यदि सन्तानका स्थायित्व स्वीकार करते हो, तो आत्मा स्थिर (अक्षणिक) हुई, तब इससे तुम्हारा मत विरुद्ध होकर मतान्तर अर्थात् अन्य मत आ पड़ेगा और यदि सन्तानका स्थायीत्व स्वीकार नहीं करते हो तो अन्य व्यक्ति द्वारा अनुभूत वस्तुकी अपर (दूसरे) व्यक्ति द्वारा अनुस्मृतिकी अनुपपत्ति हो पड़ेगी। और एक बात यह भी है, क्षणिक

वस्तु है क्या? वह क्या क्षणके साथ सम्बन्धका नाम क्षणिक है? अथवा एक क्षणमें ही उत्पत्ति और विनाशका नाम क्षणिक है? इनमेंसे प्रथम अथवा क्षण-सम्बन्धको क्षणिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो पूर्वापर स्थिर पदार्थ (स्थायी वस्तु) है, उसका ही क्षण-विशेषके साथ सम्बन्ध देखनेमें आता है। द्वितीय पक्ष अर्थात् एक क्षणमें उत्पत्ति विनाश भी नहीं कह सकते हो, क्योंकि उसमें प्रत्यक्षकी बाधा आती है। अभिप्राय यह है कि जिस समय द्वितीय क्षणमें उस घटादिको प्रत्यक्ष करते हो, उस समय उसे विनष्ट किस प्रकार कहा जायेगा? यदि कहते हो कि धारावाहिक ज्ञानकी सृष्टि होना कहेंगे, तो उस क्षणभङ्गवादके खण्डन द्वारा इसका भी निराकरण हो जाता है। किस प्रकार? यह इस प्रकार कि इस मतमें दृष्टि-सृष्टिमें भी परिणामतः क्षणिकत्व स्वीकृत हुआ है, अतएव प्रतिपन्न होता है कि भाव पदार्थ क्षणिक नहीं है॥ २५॥

सूक्ष्मा-टीका—अनुस्मृतेरिति। तदयोगात् सादृश्यानुसन्धानासम्भवात्। बाह्ये वस्तुनि गङ्गाप्रवाहदीपार्चिरादौ॥ २५॥

सूक्ष्मा-सार—'*अनुस्मृतेश्च*' सूत्रमें भाष्यके अन्तर्गत '*एकस्य स्थायिनोऽभावेन तदयोगात्*' इत्यादि वाक्यमें 'तदयोगात्' का अर्थ है—सादृश्यानुसन्धान असम्भव है इस कारण। '*किञ्च बाह्ये वस्तुनि इति*' से तात्पर्य गङ्गाप्रवाह, दीपशिखा इत्यादि बाह्य पदार्थोंमें॥ २५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बौद्धगणने वस्तुभावके जिस '*सर्वं क्षणिक क्षणिकम्*'—इस क्षणिकत्ववादका स्थापन किया था, अब सूत्रकार उसी क्षणिकत्ववादका निराकरण कर रहे हैं। पूर्वानुभूत वस्तुकी स्मृति व्यक्तियोंको होती है, इसलिए क्षणिकत्ववाद अयौक्तिक है। भाव पदार्थके क्षणिक होनेसे पूर्वानुभूत वस्तुकी स्मृतिका अनुसन्धान सम्भव नहीं हो सकता। भाष्यकारने बौद्ध-मतसे सम्बन्धित युक्तियोंका एक-एक करके खण्डन किया है। इसे भाष्यमें देखना चाहिये।

शाङ्कर मतावलम्बी सोदाहरण कहते हैं कि दीप-ज्वालादि बाह्य पदार्थोंमें कई प्रकारका विप्रलम्भ (बनावट) सम्भव है, अतः वहाँ 'तदेवेदम्' (यह वही है), 'तद्सदृशं वा' (अथवा उसके जैसी है)—इस

प्रकारसे सन्देह हो सकते हैं, किन्तु प्रमाता (आत्मा–उपलब्धिकारी) के विषयमें ऐसा सन्देह कभी नहीं हो सकता कि 'स एवाहम्' (मैं वही हूँ), 'तत्सदृशो वा' (अथवा उसके जैसा हूँ) इस प्रकार यहाँ निश्चित रूपसे एकत्वकी प्रत्यभिज्ञा है। उस पाशुपताचार्यका लोग उपहास करते हैं, जो किसी नगरके भीड़ भरे गोपुर (नगर–द्वार) से नगरमें प्रवेश करता हुआ अपने शरीरपर घुँघरु आदि चिह्न इसलिए बाँध लेता है कि बाहरकी चहल–पहलमें मैं कहीं अपनेको ही न भूल जाऊँ। लोग उसकी बात सुनकर हँसते हुए यही कहते हैं कि कभी कोई अपनेको भी भूलता है? इस सब वर्णनसे क्षण–भङ्गवादकी अट्टालिका चरमराकर रह जाती है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः।
एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः॥

नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम्।
कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि॥

तेनास्य तादृशं राजन् लिङ्गिनो देहसम्भवम्।
श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति॥

(श्रीमद्भा॰ ४/२९/६३–६५)

अर्थात् जिस प्रकार इन्द्रियोंके ज्ञान और कर्मरूप दो प्रकारकी चेष्टाओंसे उनके प्रेरक चित्तका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार चित्तकी भिन्न–भिन्न वृत्तियोंके द्वारा पूर्व–पूर्व देहोंसे किये गये कर्मोंका भी अनुमान होता है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि जिस प्रकारकी वस्तुका पहले कभी भी अनुभव नहीं हुआ, जिसे कभी देखा अथवा सुना भी नहीं गया, उसका भी स्वप्नमें, वह जैसी होती है, वैसा ही अनुभव हो जाता है। अतएव हे राजन्! वासनामय लिङ्ग–देहका आश्रय करनेवाले जीवका उस प्रकारका अनुभव पूर्व जन्मके देह सम्बन्धसे जनित है। क्योंकि जिसका पहले अनुभव नहीं होता, उसकी मनमें वासना भी नहीं हो सकती॥ २५॥

अवतरणिका भाष्यम्—स्वकीयं पीताद्याकारं ज्ञाने समर्प्य विनष्टोऽप्यर्थो ज्ञानगतेन पीताद्याकारेणानुमीयते। अतोऽर्थवैचित्र्यकृतमेव ज्ञानवैचित्र्यमिति सौत्रान्तिकमतं दूषयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—सौत्रान्तिक मतमें घट-पटादि निजगत पीतादि आकारको ज्ञानमें समर्पण करके अर्थात् घट-पटादि दृश्य पदार्थ दृष्ट होनेपर निज दर्शनसे अपने घटादि आकारका ज्ञान करा देता है, उसके बाद वे घटादि पदार्थ विनष्ट होकर भी ज्ञानके द्वारा भासमान उस पीतादि आकार द्वारा घटादि रूपमें अनुमित होते हैं अर्थात् *'इदं पीतघटज्ञानं पीताकारवत्त्वात्'* (यह पीत घट है—यह पीतघट विषयके ज्ञान उसके पीताकारवत् होनेके कारण है) इत्यादि आकार भेद द्वारा विविध ज्ञान अनुमित होता है, अतएव विचित्र पदार्थके लिए विचित्र ज्ञान रचित होते हैं (अर्थ-वैचित्र्यक द्वारा ही ज्ञान-वैचित्र्य है।)—इस सौत्रान्तिक मतके दोषोंका दिग्दर्शन करते हुए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथ सौत्रान्तिकमात्रस्वीकृतमंशं दूषयति स्वकीय-मित्यादीना।

अवतरणिकाभाष्यका टीकानुवाद—अब बौद्ध-सम्प्रदाय विशेष मात्र सौत्रान्तिकों द्वारा स्वीकृत अंशके दोष *'स्वकीयमित्यादि'* वाक्य द्वारा दिखा रहे हैं।

सूत्र—नासतोऽदृष्टत्वात्॥ २६॥

सूत्रार्थ—'असत्ः' विनष्ट पीतादि पदार्थका पीतादि आकार ज्ञानमें असतः 'न' समर्पित नहीं हो सकता। किस कारणसे? उत्तर है—'अदृष्टत्वात्'—क्योंकि धर्मीके विनष्ट होनेपर धर्मकी अन्यत्र स्थिति कहीं भी देखी नहीं जाती॥ २६॥

सूत्रानुवाद—असत्में कार्य-जनन-शक्ति कदापि नहीं हो सकती। धर्म या गुण जिसके आश्रयमें रहता है, वह धर्मी यदि नष्ट हो जाय, तो उसका धर्म कहीं अन्यत्र संक्रमित होता हो, ऐसा देखा नहीं जाता॥ २६॥

गोविन्दभाष्य—असतो विनष्टस्य पीताद्यर्थस्य पीतादिराकारो ज्ञाने न सम्भवति। कु
न चानुमेयो घटादिर्न तु प्रत्यक्ष इति शक्यं भणितुम्। प्रत्यक्षेण जानामीति प्रतीत्यैव तन्निरासादिति सौत्रान्तिकासाधारणो दोषः। तस्मात् प्रत्यक्षो घटादिर्न तु ज्ञानगतेन तदाकारेणानुमीयत इति॥ २६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—असत् अर्थात् विनष्ट पीतादि—घट-पटादि वस्तुका पीत इत्यादि आकार, ज्ञानमें समर्पित (अवस्थित) होकर भासमान हो—यह नहीं हो सकता। किस कारणसे? 'अदृष्टत्वात्'—ऐसा देखा नहीं जाता अर्थात् पीतादि आकार-विशिष्ट घट-पटादि विनष्ट होनेपर उनका जो पीतादि धर्म है, उस पीतादि आकारकी अन्यत्र स्थिति देखी भी नहीं जाती। यदि वह रहता तो देखा जाता। धर्मीके विनष्ट होनेपर धर्मका अन्यत्र सम्बन्ध कहीं भी देखा नहीं जाता। इसके अतिरिक्त इस ज्ञानमें भासमान आकार द्वारा विनष्ट (ज्ञेयाकारके असाध्य होनेके बाद भी) घटादि अनुमित होते हैं अर्थात् *'ज्ञानं घटादि विषयकम् पीताद्याकारत्वात्'* (घटादि विषयक ज्ञान पीतादि आकार होनेके कारण है)—इस अनुमान द्वारा विनष्ट घटका अनुमान किया जाता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष नहीं है—यह नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा मैंने घटको जान लिया है—इस अनुव्यवसाय (प्रत्यक्षके बोध) अथवा निर्णयकी उपलब्धिके द्वारा भी यह मत खण्डित होता है—सौत्रान्तिक देवके लिए यह असाधारण दोष है। अतएव सिद्धान्त यह है—विनष्ट घटादि प्रत्यक्ष ही होते हैं, ज्ञानगत घटादिके आकार द्वारा वे घटादि अनुमानके विषय नहीं होते॥ २६॥

सूक्ष्मा-टीका—नासत इति। धर्मिणीति। पीतादिकोऽर्थो धर्मी तस्मिन् विनष्टेऽपि सति। धर्मस्य पीताद्याकारस्य ततोऽन्यत्र ज्ञाने सम्बन्धो न दृष्टो नानुभूतो यस्मादित्यर्थः। प्रत्यक्षेणेति। चाक्षुषादिना प्रत्यक्षेण घटमहं जानामीति प्रत्ययेनैवानुमान-निरासादित्यर्थः॥ २६॥

सूक्ष्मा-सार—*'नासतः'* इत्यादि सूत्रके *'धर्मिणि विनष्टे'* इत्यादि भाष्यमें पीतादि वर्ण विशिष्ट घटादि पदार्थ धर्मी है—उसके विनष्ट होनेपर भी। *'धर्मस्य'* का अर्थ है 'पीतादि आकारका' 'अन्यत्र' से तात्पर्य है—उस घटादिसे भिन्न अन्य स्थानपर अर्थात् ज्ञानमें *'सम्बन्धः'*

का अर्थ है—पीतादि आकारकी स्थिति, *'न दृष्टः'* क्योंकि अनुभूत नहीं होती—यह अर्थ है। *'प्रत्यक्षेण जानामि'* इति चाक्षुषादि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा *'घटमहं जानामि'*—'मैंने घटको जान लिया है'—इस प्रकारकी प्रतीतिके कारण सौत्रान्तिकका अनुमानवाद निरस्त हो जाता है॥ २६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सौत्रान्तिकगणोंके मतमें घट-पटादिके पीतादि ज्ञानकी प्राप्तिके बाद उनका आकार (ज्ञेयवस्तु) विनष्ट होनेपर भी उस ज्ञानके द्वारा ही घटादिका अनुमान होता है। अतः अर्थ-वैचित्र्य द्वारा ज्ञानका वैचित्र्य है, इसका निराकरण करते हुए सूत्रकारने कहा है—जो पीतादि वस्तु असत् हैं अर्थात् विनष्ट हो गयी हैं, उनका पीतादि आकार ज्ञानमें रह नही सकता, क्योंकि पीतादि वस्तु धर्मी हैं। धर्मीके नष्ट होनेपर उसके धर्म पीतादि आकारका अन्यत्र सम्बन्ध कभी नहीं देखा जाता। यदि वह रहता, तो सम्बन्ध भी होता। पुनः घटादि अनुमानके विषय हैं—यह भी नहीं कह सकते। इसका कारण है कि घटादिको प्रत्यक्ष रूपसे ही जाना जा सकता है—अतः प्रत्यक्ष प्रतीतिके द्वारा ज्ञेय वस्तुका ज्ञान होनेपर अनुमान स्वतः ही निरस्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त वे जिस व्यवहार-सिद्धिकी बात कहते हैं कि ज्ञान और विषयको लोकका व्यवहार भी मानता है, तो वह भी स्वप्नवत् है। यदि व्यवहार-सिद्धि ज्ञानके द्वारा सम्भव होती है, तो ऐसा होनेसे बाह्य पदार्थको स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कु
उपहासास्पद है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्म्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१३/३२)

जो जाग्रत अवस्थामें चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंके द्वारा बाहर दिखनेवाले बाल्य, तारुण्य आदि क्षणभङ्गुर देह आदि स्थूल विषयोंका भोग किया करता है और स्वप्न अवस्थामें हृदयमें ही जाग्रतमें देखे हुए पदार्थोंके समान ही वासनामय विषयोंका भोग करता है और सुषुप्ति अवस्थामें उन सब विषयोंको समेटकर, उनके लयको भी अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत अवस्थाके इन्द्रिय, स्वप्न अवस्थाके मन और सुषुप्तिकी संस्कारवती बुद्धिका भी वही स्वामी है। क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। 'जो मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ'—इस स्मृतिके बलपर एक परमात्म वस्तुका ही सब अवस्थाओंमें होना सिद्ध हो जाता है।

अभावसे कार्यकी उत्पत्ति माननेवाले बौद्धोंके यहाँ कारणका कोई नियम नहीं है अथवा कारणका अभाव सर्वत्र सुलभ है, जिसके द्वारा सबसे सब कार्यकी उत्पत्ति हो। आप कहते हैं कि बीजके उपमर्दन (विनाश) बिना अङ्कुर प्रादुर्भूत नहीं होता, क्षीरका उपमर्दन किये बिना दही नहीं बनता, मृत्-पिण्डका उपमर्दन किये बिना घट नहीं बनता, अतः अभाव (असत्) से भावकी उत्पत्ति होती है, तो आपका यह कहना निराधार है, क्योंकि अङ्कुर, दही और घट बीज, दूध एवं मृत्-पिण्डका रूपान्तरमात्र हैं। अविरोधी बीज द्रव्य ही अङ्कुरके आकारमें परिणत होता है। बीजजातीय अङ्कुरजातीयका ही उत्पादक है, क्रमेलक (उष्ट्र
सत् है और सत्का कार्य भी सत् है॥ २६॥

अवतरणिका भाष्य—अथोभयसाधारणदोषमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक दोनों पक्षोंके ही दोषोंकी समानताका दिग्दर्शन कर रहे हैं—

सूत्र—उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः॥ २७॥

सूत्रार्थ—'च' और 'एवं' इस प्रकार भावपदार्थमात्र ही क्षणिक होनेसे असत्से सत्की उत्पत्ति स्वीकार करनेपर 'उदासीनानाम्'—जो उदासीन अर्थात् उपायशून्य हैं, ऐसे व्यक्तियोंकी 'अपि' भी 'सिद्धिः'—कार्यसिद्धि

हो जायेगी, क्योंकि क्षणभङ्गवाद भावपदार्थमात्र ही जब पर (दूसरे) क्षणमें नहीं रहता, तब उपाय-साधन निष्प्रयोजन है, अतः उपाय-साधन न करनेपर भी उनकी कार्य-सिद्धि स्वीकार करनी होती है॥ २७॥

सूत्रानुवाद—यदि अभावसे ही भावकार्योंकी सिद्धि हो जाती है, तब जो किसी कार्यकी सिद्धिमें प्रवृत्त ही नहीं होते, ऐसे उदासीन (निष्काम और निष्क्रिय) व्यक्तियोंकी भी सर्वार्थ-सिद्धि होनी चाहिये, क्योंकि अभावमात्र तो उन्हें भी सुलभ है॥ २७॥

गोविन्दभाष्य—एवं भावक्षणिकतया असतः सदुत्पत्तौ स्वीकृतायामुदासीनानामुपायशून्यानामप्युपेयसिद्धिःस्यात्। क्षणभङ्गवादेभावमात्रस्य परक्षणस्थित्यभावादिष्टानिष्टाप्तिपरिहारयोर्लोकदृष्टयोरहेतुकत्वमतोऽनुपायवतामपि तत्प्राप्तिः स्यात्। उपेयलिप्सुः कश्चिदपि कु

चैवमस्ति सर्वस्याप्युपेयार्थिनः सोपायता तयैवोपेयलाभश्च प्रतीयते। तस्माद्विश्वप्रतारार्थमेतयोः प्रवृत्तिः। यौ किल भावभूतस्कन्धहेतुकां समुदायोत्पत्तिं स्वीकृत्यापि पुनरभावाद्भावोत्पत्तिमूचतुः क्षणिकानामप्यात्मनां स्वर्गापवर्गसाधनान्युपदिदिशतुरिति तुच्छस्तत्सिद्धान्तः॥ २७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस प्रकार भाव-पदार्थकी क्षणिकताके कारण असत्से सत्-पदार्थकी उत्पत्ति स्वीकृत होनेपर उसके फलस्वरूप उपायानुष्ठानरहित व्यक्तियोंकी कार्य-सिद्धि (उपेय-सिद्धि) हो सकती है। बौद्धमतमें क्षणभङ्ग भावपदार्थमात्र जब दूसरे क्षण नहीं रहता, तब लौकिक व्यवहारमें दृष्ट-इष्टकी प्राप्तिका उपाय और अनिष्टके परिहारके उपायके सन्धान निरर्थक हो जाते हैं। और इस प्रकार इष्ट-प्राप्तिका उपाय और अनिष्टके परिहारके उपायकी व्यवस्था न किये जानेपर भी उन उदासीनोंके पक्षमें इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहार होंगे अर्थात् उपायलभ्य पदार्थ पानेके इच्छुक (उपेयलिप्सु) कोई भी व्यक्ति किसी उपायकी चेष्टा नहीं करेगा। किसीको भी स्वर्गके लिए अथवा मुक्ति-प्राप्तिके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा, परन्तु ऐसा तो होता नहीं। सभी उपेयार्थी उपायका आश्रय तो लेते ही हैं और सोपायता-जन्य (उपाय-साधनसे साधित) उपेय वस्तुको प्राप्त भी करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। अतः यह प्रमाणित होता है कि वैभाषिक और सौत्रान्तिकोंकी प्रवृत्ति जगत्की प्रतारणाके लिए ही है। ये दोनों ही सम्प्रदाय भावभूत-स्कन्धसे जगत्रूप समुदायकी उत्पत्तिको

स्वीकार करके भी पुनः अभावसे अर्थात् शून्यसे सत्-पदार्थकी उत्पत्ति बतलाते हैं तथा आत्माओंको क्षण-विनाशी कहकर उन्हें स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्तिके उपायका उपदेश भी देते हैं। अतएव उनका सिद्धान्त अति तुच्छ है॥ २७॥

सूक्ष्मा-टीका—उदासीनानामिति। वैभाषिकाः सौत्रान्तिकाश्चोत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधादिति स्वीकु
मन्यन्ते। भावस्य क्षणादूद्ध्र्वं विनाशित्वेन कार्यारम्भे तदुपादयो हेतुरभावग्रस्त इत्यकारणिकैव तन्मते सा भवेत्। ततश्च कार्यमुत्पिपादयिषवस्ते हेतोर्विनाशाद्धेतु-रूपोपायाभावादुपायशून्या उदासीनाः कथ्यन्ते। व्यवहारोपायहीना विरक्ता यथोदासीना व्यपदिष्टो इत्थञ्चोदासीनानामुपायशून्यानामिति साधु व्याख्यातम्। तदयमर्थः— धान्यादिफलोपादेषु कर्षणादिश्वप्रवर्त्तमानानां स्ववेश्मनि तुष्णीं स्थितानां पुंसामभीष्टधान्यादिफलप्राप्तिः स्यात्। सन्न्यासिनामपि पुत्रादिकं भवेदित्यन्ये। क्षणभङ्गवादे हीष्टप्राप्त्यनिष्ठपरिहारयोर्लोकदृष्टयोरुक्तरीत्या निर्हेतुकत्वात् ताविच्छतां हेतुरूपोपाय-शून्यानामपि तद्रूपोपेयसिद्धिः स्यादित्यर्थः। यद्येष सिद्धान्तः पारमार्थिकस्तर्हि तद्ग्राहिकाणामैहिकफलसाधनेषु प्रवृत्तिर्न स्यादित्याह उपेयलिप्सुः कश्चिदिति। उपेयं फलं तल्लिप्सुः तदर्थीत्यर्थः। पारलौकिकफलसाधनेश्वपि न तेषां प्रवृत्तिः सुतरामित्याह स्वर्गायेति। नन्वस्त्वप्रवृत्तिरिति चेत् तत्राह न चैवमस्तीति। सोपायता दृश्यत इति शेषः। तयैव सोपायतयैव। एतयोर्वैभाषिकाद्योः। तथाच भ्रान्तिमूलेन एतयोः सिद्धान्तेन विरोधः समन्वयेनेति सिद्धम्॥ २७॥

सूक्ष्मा-सार— *'उदासीनानामपि'* इत्यादि सूत्रमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक बौद्ध-सम्प्रदायगण मानते हैं—बादमें किसी कार्यकी उत्पत्ति हो, इससे पहले वस्तुका विनाश होनेसे वह (कार्य) होता है, यह स्वीकार करके कार्योत्पत्तिका आरम्भ होनेपर भावभूत हेतुका क्षणिकत्वके कारण विनाश है। भावपदार्थ क्षणकालके बाद विनाशशील है, इसलिए कार्य उत्पादन करनेके लिए जो उसका हेतु उपादेय है, वह अभावग्रस्त अर्थात् शून्य है। अतः उनके मतमें कार्योत्पत्ति निष्कारण ही हो रही है। कार्य उत्पादन करनेकी इच्छा करके वे हेतुके विनाशके कारण कार्यसिद्धिके हेतुरूप उपायके अभावमें उपायशून्य हैं, अतएव उदासीन कहे जाते हैं। जो व्यवहारमें उपायहीन हैं अथवा उपाय-संग्रहमें विरक्त हैं, वे जिस प्रकार उदासीन नामसे कहे जाते हैं, इसी प्रकार उदासीनोंका व्यपदेश (नाम) उपायशून्य है। भाष्यकारकी यह व्याख्या

अति समीचिन है। अतएव संक्षेपमें प्रतिपाद्य अर्थ यह हो रहा है कि जो धान्यादि शस्योत्पादनके उपाय-क्षेत्र कर्षणादि कार्यमें अप्रवृत्त हैं और घरमें निस्तब्ध भावसे अवस्थित हैं, ऐसे लोगोंको भी स्वाभीष्ट धान्यादि शस्यकी प्राप्ति हो और जो संन्यासी अर्थात् दाराहीन हैं, उन्हें भी पुत्रादिकी प्राप्ति हो। इस प्रकारकी आपत्ति अन्य व्याख्यातागण किया करते हैं। क्षणभङ्गवाद स्वीकार करनेसे लौकिक व्यवहारमें दृश्यमान इष्ट वस्तुकी प्राप्ति और अनिष्टका परिहार उक्त रीतिसे हेतुशून्य होनेके कारण जो इष्ट-प्राप्ति और अनिष्टका परिहार करना चाहते हैं, उनके हेतुरूप उपायशून्य होनेपर भी उन्हें ये इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहाररूप कार्योत्पत्ति हो—यह समुदायार्थ है। और यदि तुम्हारा सिद्धान्त मुक्ति अथवा स्वर्गरूप परमार्थके उपयोगी रूपमें स्वीकृत है तो परमार्थलिप्सु व्यक्तियोंकी ऐहिक फल-साधनमें प्रवृत्ति न हो, इस बातको *'उपेय लिप्सुः कश्चित्'* इत्यादि ग्रन्थ (वाक्य) द्वारा कहा गया है। 'उपेयलिप्सु' शब्दका अर्थ है—उपेय अर्थात् फल उसका लिप्सु—उसका प्रार्थी। *'स्वर्गादि'* इत्यादि वाक्य द्वारा यह कह रहे हैं कि पारलौकिक फल-स्वर्गादिके साधक यज्ञादिमें उस उपेयलिप्सुकी प्रवृत्ति बिल्कु

हो, इसमें क्षति क्या है? इसके उत्तरमें कहते हैं *'न चैवमस्ति'* ऐसा किन्तु होता नहीं है। *'उपेयार्थिनः सोपायता'* का अर्थ है फलार्थीकी उपायवत्ता (अर्थात् चेष्टा) *'दृश्यते'*—देखी जाती है, यह अध्याहार (विचार) के योग्य है। *'तयैवोपेय लाभश्च'* में 'तया' का अर्थ है उस उपायवत्ताके कारण ही। *'विश्वप्रतारार्थम् एतयोः'* विश्व-प्रतारणके लिए ही वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सम्प्रदायका यह मतवाद है। फलकथा (निष्कर्ष) यह है कि इनके भ्रान्तिमूलक सिद्धान्त द्वारा उपनिषद-वाक्योंका ब्रह्मके समन्वय विषयमें कोई विरोध नहीं है॥ २७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब सूत्रकार वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों ही पक्षोंके दोषोंको दिखाते हुए कहते हैं कि क्षणिकत्ववादको स्वीकार करें और असत्से सत्की उत्पत्तिको स्वीकार करें, तो उदासीन अर्थात् उपायरहित व्यक्तिकी भी कार्य-सिद्धि हो सकती है और कोई भी व्यक्ति बिना यत्न किये इच्छानुसार द्रव्योंकी प्राप्ति कर सकता है, यथा

खेतको जोतनेका कष्ट स्वीकार किये बिना किसान धान्यादि शस्य और फलादि प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उनके मतमें शून्यसे सभीको समस्त फल प्राप्त हो सकते हैं। अतः साधनके बिना ही जब सिद्धि सम्भव हो सकती है, तो साधनके यत्नका प्रयोजन ही नहीं रहेगा, किन्तु देखा जाता है कि उक्त वादीगण भावभूत-स्कन्धसे समुदायकी उत्पत्तिको स्वीकार करते हैं और फिर अभावसे उत्पत्तिवाद बतलाते हैं। आत्माके क्षणिकत्वको स्वीकार करते हैं, फिर क्षणिक आत्माओंको स्वर्ग और अपवर्गके साधनका उपदेश देते हैं। अतः इनका सिद्धान्त अतिशय तुच्छ है, केवल विश्व-प्रतारणके लिए ही उनकी प्रवृत्ति है। कार्यकी उत्पत्तिके लिए किसी चेतनकी या कर्त्ता कारणकी आवश्यकता अवश्य ही होती है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत् तथा।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्यया॥

(श्रीमद्भा० ११/२२/५)

'जैसा तुम कहते हो, वह ठीक नहीं है, मैं जो कहता हूँ, वही यथार्थ है'—इस प्रकार जगत्‌के कारणके सम्बन्धमें विवाद इसलिए होता है कि मेरी शक्तियों—सत्त्व, रज, तम गुणों और उनकी वृत्तियोंका रहस्य लोक समझ नहीं पाते; इसलिए अपनी-अपनी मनोवृत्तिपर ही आग्रह कर बैठते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

तोमार ये शिष्य कहे कु
इहार कि दोष—एइ मायार प्रसाद॥

(चै०च०म० ६/१०७)

श्रीगोपीनाथने कहा कि तुम्हारे शिष्योंने जो नाना प्रकारके वाद प्रस्तुत किये हैं—यह सब मायाकी कृपा है—इसमें कोई दोष नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें और भी पाया जाता है—

एवमिन्द्रे हरत्यश्वं वैन्ययज्ञजिघांसया।
तद्गृहीतविसृष्टेषु पाखण्डेषु मतिर्नृणाम्॥

धर्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु।
प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु॥
(श्रीमद्भा० ४/१९/२४-२५)

अर्थात् बेण-नन्दन पृथुके यज्ञका विनाश करनेकी वासनासे इन्द्रने इस प्रकार बार-बार जिन पाखण्ड-रूपोंको ग्रहण एवं परित्याग किया था, उन-उन रूपोंमें क्रमपूर्वक मनुष्योंकी मति आसक्त हो गयी थी। दिगम्बर-जैनगण, रक्त-वस्त्र धारण करनेवाले बौद्धगण और कापालिकादि व्यक्ति सभी पाखण्ड-उपधर्मोंको आश्रित करनेवाले हैं। इनके आपात रमणीय हेतुवादमें प्रायः धर्म-भ्रमित मनुष्योंकी मति पाखण्ड धर्मके प्रति आकृष्ट हो जाती है॥ २७॥

अवतरणिका भाष्य—तदेवं वैभाषिके सौत्रान्तिके च निरस्ते विज्ञानमात्रवादी योगाचारः प्रत्यवतिष्ठते। बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेशमानान् कांश्चिच्छिष्याननुरुध्य बाह्यार्थ-प्रक्रियेयं सुगतेन रचिता। तस्यां न तस्याशयः, विज्ञानस्कन्धमात्रतात्पर्यात्। तथाहि विज्ञेयो घटाद्यर्थो विज्ञानान्नातिरिच्यते। तस्यैवार्थाकारत्वात्। न चार्थान् विना व्यवहारासिद्धिः तान् विनापि स्वप्नवत् सिद्धेः। बाह्यार्थास्तित्ववादिनापि ज्ञानेऽर्थाकारत्वं धर्मोऽवश्यं मन्तव्यः। कथमन्यथा घटज्ञानं पटज्ञानमिति व्यवहारोपपत्तिः? तथाच तेनैव तत्सिद्धौ किमर्थैः? ननु कथमान्तरं ज्ञानं घटपर्वताद्याकारकम्। मैवम्। ज्ञानं किल प्रकाशमानम्। निराकारस्य तस्य प्रकाशासम्भवात् साकारमेव तत्। ननु कथमसति बाह्येऽर्थे धीवैचित्र्यम्। वासनावैचित्र्याद्भवेत्। वासनाहेतुकस्य तद्वैचित्र्यस्यान्वय-व्यतिरेकाभ्यामवधारणात्। ज्ञानज्ञेययोः सहोपलम्भनियमादपि न ज्ञेयं ज्ञानाद्भिन्नम्। किन्तु ज्ञानात्मकमेवेति। इह संशयः। सर्वं ज्ञानात्मकमिति युज्यते न वेति। स्वप्नवद्विनाप्यर्थान् ज्ञानेनैव व्यवहारसिद्धेः पृथक् तदङ्गीकारे फलानतिरेकाच्च युज्यत इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक मतके इस प्रकार निरस्त हो जानेके बाद विज्ञानमात्र-पदार्थवादी (बुद्धि, चित्त, मन अथवा विज्ञान ही एकमात्र सत्य पदार्थ है यह माननेवाले) योगाचार बौद्धपर आक्षेप करते हैं कि बाह्य वस्तुमें अभिनिवेशसे युक्त किसी-किसी शिष्यके अनुरोधसे उन्हें उपदेश देनेके लिए सुगत-बुद्धने बाह्य वस्तुकी प्रक्रियाका इस प्रकार निर्देश किया था, किन्तु इस प्रक्रियामें उनकी सम्मति दिखायी नहीं देती क्योंकि इस प्रक्रियाके द्वारा इन योगाचारोंका तात्पर्य समस्त वस्तुओंकी विज्ञानरूपता ही

है। यह प्रक्रिया इस प्रकार है—ज्ञानके विषयीभूत घट-पटादि पदार्थ विज्ञानसे भिन्न नहीं हैं क्योंकि ज्ञान ही बाह्य पदार्थाकारमें परिणत होता है। यदि कहो, बाह्य पदार्थकी सत्ता स्वीकार न करनेसे लौकिक व्यवहारकी अनिष्पत्ति होगी, तो ऐसा भी नहीं है जिस प्रकार स्वप्नमें बाह्य पदार्थकी सत्यता नहीं रहती तो भी स्वाप्न-व्यवहार निष्पन्न होता ही है, इसी प्रकार लौकिक व्यवहारकी भी सिद्धि होगी। जो (सांख्य-योगदर्शन मतावलम्बी) बाह्य पदार्थके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं, वे भी बुद्धिके अर्थाकारत्व-धर्मको अवश्य मानते हैं, अन्यथा घट-ज्ञान, पट-ज्ञान इस प्रकारके विविध ज्ञानका व्यवहार उत्पन्न होगा कैसे? ज्ञानसे ही व्यवहार निष्पन्न होता है, तब किसी बाह्य पदार्थको स्वीकार करनेका प्रयोजन ही क्या है? आपत्ति हो सकती है कि ज्ञान अन्तरका धर्म है, वह बाह्य घट-पर्वत इत्यादि आकारोंमें आकारित होगा किस प्रकार? तो यह आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ज्ञान प्रकाशात्मक चैतन्य वस्तु है किन्तु आकार शून्य (निराकार अर्थात् वस्तुशून्य) होनेपर उसका प्रकाश असम्भव है, इसलिए साकारत्व ही कहना होगा। यदि कहो विभिन्न बाह्य वस्तु न रहनेसे तत्तदाकारमें ज्ञानका वैचित्र्य किस प्रकार घटित होगा? ऐसा भी नहीं है, विभिन्न वासनाओंसे विभिन्नाकार ज्ञानका उदय होना कहा जायेगा। वासना रूप हेतुसे विचित्र ज्ञानका उदय अन्वय-व्यतिरेक द्वारा सिद्ध है, अर्थात् घट-ज्ञानकी वासना रहनेसे घटाकार ज्ञान होता है—इस प्रकारका अन्वय और वासना न रहनेसे तदाकार ज्ञान नहीं होता है, इस प्रकार व्यतिरेकके बलपर ज्ञानके वैचित्र्यका निश्चय होता है। और भी एक कारण है कि जब ज्ञान और ज्ञेय एक साथ ही नियमित रूपसे उपलब्ध होते हैं तो ज्ञानसे ज्ञेय भिन्न नहीं होता किन्तु ज्ञेय (वस्तु) ज्ञानस्वरूप (ज्ञानात्मक) ही होती है। अतः बाह्य वस्तुको स्वीकार करनेका कोई प्रयोजन नहीं है।

इस मतपर संशय यह है कि—समस्त पदार्थ ही ज्ञानस्वरूप हैं—यह कहना युक्तियुक्त है कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि स्वाप्न-ज्ञानके समान पदार्थ-व्यतिरेक (बिना बाह्य पदार्थ) से केवल ज्ञान द्वारा समस्त व्यवहार सिद्ध होनेसे पुनः अतिरिक्त ज्ञेय पदार्थको (पृथक्

रूपसे) स्वीकार करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव समस्त ही ज्ञानात्मक है, यह युक्तियुक्त है। इस पूर्वपक्षके मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथ योगाचारं निराकर्त्तुमारभते तदेवमित्यादिना। मा भूदसङ्गतेन वैभाषिकादिसिद्धान्तेन विरोधः समन्वये विज्ञानवादेन तु स्वप्नदृष्टान्तपुष्टेन शक्यः स तस्मिन् कर्त्तुमिति प्रत्युदाहरणादाक्षेपः। विज्ञानातिरिक्तस्य बाह्यवस्तुनोऽभाव इति सिद्धान्तोऽत्र विषयः। स प्रमाणमूलो भ्रममूलो वेति सन्देहे प्रमाणमूल इति वक्तु
तस्यैवेति। विज्ञानस्यैव घटाद्याकारत्वादित्यर्थः। स्वप्नवदिति सप्तम्यन्तादिवार्थे वतिः। कथमन्यथेति। घटाकारकं ज्ञानं घटज्ञानम्। यथा घटकर्त्तुः कु
व्यवहारे सिद्धे बाह्यार्थाङ्गीकारो व्यर्थः। ननु कथमिति सूक्ष्मे मनसि पर्वताकारकस्य ज्ञानस्यासमावेशापत्तेरिति भावः। ज्ञानं किलेति। ज्ञानस्य निराकारत्वे कालादेरिव तस्य प्रकाशो न स्यादतः सूर्यादेरिव साकारस्यैव तस्य प्रकाशान्यथानुपपत्तिस्तत्त्वे मानम्। न च तत्त्वस्यासमावेशः तत्तदाकारस्य ज्ञानात्मकतया लौकिकाकारवैलक्षण्येन समावेशसिद्धेः। तस्येति ज्ञानस्य। तद्वैचित्र्यस्येति धीवैचित्र्यस्य। ज्ञानं विना ज्ञेयं न भासते अतस्तयोरभेद इत्यर्थः। इह संशय इत्यादि,—तदङ्गीकारे अर्थस्वीकारे। तथाच स्वप्रकाशात् साकारात् क्षणिकात् ज्ञानादेव व्यवहारे सिद्धे स्थिरात् ज्ञानात् सशक्तिकात् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो नास्थेयः सुधियेति प्राप्ते निरस्यति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—तदनन्तर योगाचारके मतको निरस्त करनेके लिए *'तदेवमित्यादि'* वाक्य द्वारा उपक्रम करते हैं। पूर्वपक्षी कहते हैं, अच्छा! वैभाषिक और सौत्रान्तिकके असङ्गत वाक्यों द्वारा वेदान्त-वाक्योंके ब्रह्म-समन्वयमें विरोध न हो, स्वप्न-दृष्टान्तसे परिपुष्ट अर्थात् समर्थित विज्ञानवाद द्वारा तो इस समन्वयका विरोध किया जा सकता है, इस प्रत्युदाहरणसे इस सन्दर्भमें प्रतिवाद अथवा आपत्तिरूप आक्षेपरूप सङ्गति जाननी चाहिये। विज्ञानके अतिरिक्त बाह्य घट-पटादि पदार्थोंका अभाव है—यह योगाचारका सिद्धान्त इस अधिकरणका विषय है। इसमें सन्देह यह है कि यह सिद्धान्त प्रमाणसिद्ध है अथवा भ्रान्तिमूलक? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—हाँ, यह प्रमाणमूलक है। इसे प्रमाणित करनेके लिए वह इसकी प्रक्रिया अथवा युक्ति *'तथाहि'* वाक्य द्वारा दिखा रहे हैं। *'तस्यैवार्थाकारत्वादिति'* में 'तस्य' का अर्थ है विज्ञानकी ही और *'अर्थाकारत्वात्'* का अर्थ है

घटादि बाह्य कारणताके कारण। *'स्वप्नवदिति'* का अर्थ है 'स्वप्नके समान'। *'सप्तम्यन्त 'स्वप्ने'* पदके उत्तरमें इवार्थमें तद्धित 'वति' (वत्) प्रत्यय है, जिसका अर्थ है—जिस प्रकार स्वप्नमें। *'कथमन्यथेति'* ऐसा न होनेसे घटाकारक ज्ञान घटज्ञान है, इस प्रकार प्रतीति किस प्रकार होगी? क्योंकि घटानिर्माणकर्त्ता कु
सिद्ध होता है। अतः बाह्य वस्तु स्वीकार न करनेपर भी व्यवहार चलता है। *'ननु कथमान्तरं ज्ञानमित्यादि'* वाक्यमें ज्ञान अन्तरका कार्य है, यह अन्तर (मन) अति क्षुद्र है, तात्पर्य यह है कि इस अति क्षुद्र मनमें पर्वताकार ज्ञानके समावेशका अभाव हो पड़ता है। इसके उत्तरमें कहते हैं—*'ज्ञानम् किलेत्यादि'* अर्थात् ज्ञानके निराकार होनेके कारण काल, दिक् इत्यादिके समान ज्ञान प्रकाशित नहीं हो सकता, अतएव साकार सूर्यादिके समान ही उसका प्रकाश होगा, साकारत्व स्वीकार न करनेपर ज्ञानका प्रकाश हो नहीं सकता, यह 'अन्यथानुपपत्ति' (किसीके अभावमें अन्यके अस्तित्वकी असम्भावना) ही ज्ञानके साकारत्वमें प्रमाण है। यदि ज्ञानमात्र ही स्वीकृत है, तो यह पर्वताकारमें किस प्रकारसे है? इस आशङ्कापर यदि कहते हो कि ज्ञानमें पर्वतादि आकारत्वका समावेश अथवा विषयता नहीं है, तो यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि पर्वतादि आकारके ज्ञानस्वरूप होनेके कारण लौकिक आकारसे विलक्षण रूपमें ही उस आकारका समावेश सिद्ध होता है अर्थात् लौकिक व्यवहारके मानसिक ज्ञानमें पर्वतादि आकार चाहे बाधित हो, किन्तु जब ज्ञानका विषय पर्वतादि हो गये, उसी समय ज्ञान रूपमें परिणत होकर वह विषय विलक्षण हो गया, अतएव यह आपत्ति सङ्गत नहीं है। *'निराकारस्य तस्येति'* में 'तस्य' का अर्थ है—ज्ञानका। *'तद्वैचित्र्यस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामित्यादि'* में 'तद्वैचित्र्यस्य' का अर्थ है—विचित्र ज्ञानका। *'न ज्ञेयं ज्ञानाद्भिन्नमिति'* वाक्यसे तात्पर्य है—ज्ञान व्यतिरेक ज्ञेयवस्तुका कोई प्रकाश नहीं होता, अतएव ज्ञान और ज्ञेय दोनों अभिन्न हैं, यह तात्पर्य है। 'इह संशय इत्यादि' का अर्थ है पृथक् रूपसे उसे स्वीकार करनेमें अर्थात् ज्ञानसे स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार करनेपर। अभिप्राय यह है कि स्वप्रकाश साकार और क्षणिक ज्ञानसे ही लौकिक व्यवहार सिद्ध होता

है और चिरस्थायी ज्ञानस्वरूप शक्तिविशिष्ट ब्रह्मसे जगत्-सृष्टिवादी समन्वयके लिए सुधी व्यक्ति श्रद्धा नहीं रखते। पूर्वपक्षीके द्वारा इस प्रकारसे अपने मतको सिद्ध करनेपर उनका निरास करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

४—नाभाव उपलब्ध्यधिकरणम्

सूत्र—नाभाव उपलब्धेः॥ २८॥

सूत्रार्थ—'न अभावः'—बाह्य पदार्थका अभाव कहा नहीं जा सकता, किसलिए? 'उपलब्धेः' क्योंकि 'घटस्य ज्ञानम्' अर्थात् घटका ज्ञान कहनेसे घट और ज्ञान दो पदार्थोंकी उपलब्धि होती है॥ २८॥

सूत्रानुवाद—ज्ञानके अतिरिक्त बाह्य विषयोंको अस्तित्व हीन नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञाताको जिस ज्ञानकी उपलब्धि होती है, वह अपने प्रयोजनानुरूप विशेष व्यवहारकी सिद्धिके लिए होती है॥ २८॥

गोविन्दभाष्य—बाह्यार्थस्याभावो न शक्यो वक्तु ज्ञानमित्यादौ ज्ञानान्यस्यार्थस्योपलम्भात्। न चोपलब्धमपलपन् ग्राह्यवाक् प्रेक्षावताम्। न च नाहमर्थं नोपलभे अपि तु ज्ञानान्यं नोपलभे इति वाच्यम्। उपलब्धिबलेनैव तदन्यताया गले निपातनात्। घटमहं जानामीत्यादौ ज्ञा-धात्वर्थं सकर्मकं सकर्त्तृकञ्च सर्वो लोकः प्रत्येति प्रत्याययति चान्यान्। तेन ज्ञानमात्रं साधयन् सकलोपहासहेतुरिति भिन्नोऽर्थो ज्ञानात्। ननु ज्ञानान्यश्चेद्घटादिस्तस्य प्रकाशः कथं, ज्ञाने चेत्, तर्ह्येकस्मिन् सर्वस्य प्रकाशः स्यात् अन्यत्वाविशेषादिति चेन्न। तद्भिन्नेऽपि तस्मिन् यत्र विषयताख्यः सम्बन्धस्तस्यैव नान्यस्येति व्यवस्थानात्। पीतरक्तादिविषयक-समूहालम्बनस्य विरुद्धनानापीताद्याकारासम्भवाच्च। यत्तु सहोपलम्भनियमादर्थो ज्ञानात्मेति तदसत् साहित्यस्यार्थभेदहेतुकत्वात्। ततश्च तयोस्तन्नियमो हेतुफलभावनिमित्तो मन्तव्यः। किञ्च बाह्यमर्थं निरस्यता सौगतेन तस्य पृथक्सत्त्वं स्वीकृतम्। *'यत्तदन्तर्ज्ञेयं रूपं तद्वहिर्वदवभासत्'* इति तदुक्तेः। अन्यथा वत्करणासम्भवः। न हि बन्ध्यापुत्रो बन्ध्यापुत्रवदिति कश्चिदाचक्षीत॥ २८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—बाह्य पदार्थका अभाव कह नहीं सकते। किस कारणसे? इसका उत्तर है—'उपलब्धेः' क्योंकि उसकी (पदार्थकी) उपलब्धि होती है। किस प्रकारसे? वही बता रहे हैं—*'घटस्य ज्ञानम्'* (घटका ज्ञान) इत्यादि वाक्य द्वारा ज्ञानसे भिन्न अन्य पदार्थ भी

बोधित अर्थात् उपलब्ध हो रहा है। बात यह है कि 'भेदे षष्ठी' अर्थात् दो पदार्थोंका भेद रहनेसे षष्ठी विभक्ति होती है। अतएव *'घटस्य ज्ञानम्'* वाक्यमें घट और ज्ञान दो पदार्थ प्रतिभात (प्रतीत) होते हैं, ऐसा न होता तो *'घटोज्ञानम्'* (घट ही ज्ञान है) इस प्रकारसे सामानाधिकरण्य प्रतीति होती। और एक बात भी सत्य है कि उपलब्ध वस्तुका अपलाप करनेवाले (छिपानेवाले) व्यक्तिके वाक्य समीक्षकके लिए कभी ग्रहणीय अथवा श्रद्धेय नहीं होते। यदि कहो, मैं (विज्ञानवादी) बाह्य पदार्थको अपलाप (अस्वीकार) नहीं करता अर्थात् मैं बाह्य पदार्थकी उपलब्धि नहीं करता, ऐसा नहीं है, किन्तु ज्ञानके अतिरिक्त बाह्य पदार्थकी उपलब्धि नहीं करता; यह कहना भी चलता नहीं, क्योंकि जब बाह्य पदार्थकी उपलब्धि होती है, उस समय ज्ञानसे भिन्न (अतिरिक्त) अन्य पदार्थ उपलब्धि-बलपर गलेमें उतर जाता है अर्थात् वह अन्यता कन्धेपर आ ही पड़ती है, जिसका निवारण असम्भव होता है। इसी बातको और स्पष्ट रूपसे कह रहे हैं कि *'घटमहं जानामि'* अर्थात् 'मैं घटको जानता हूँ'—इस वाक्यके अन्तर्गत *'जानामि'* पदकी प्रकृति 'ज्ञा' धातुके सकर्मक और सकर्त्तृक दोनों अर्थोंमें है—'सभी लोगोंको अवगत कराता है'—अर्थात् कोई एक जन वस्तुज्ञान करता है और दूसरे सभीको उस ज्ञानकी उपलब्धि कराता है। इसके फलस्वरूप जो केवल ज्ञानको ही साधन कर रहे हैं अर्थात् ज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य पदार्थको नहीं मान रहे हैं—वे पूर्वपक्षीय लोगोंके उपहासास्पद होंगे ही। अतएव ज्ञान भिन्न पदार्थ है, यह सिद्ध हुआ। आपत्ति है कि ज्ञानसे भिन्न यदि घटादि बाह्य पदार्थ हैं, तो उनका प्रकाश होगा किस प्रकार? यदि कहो, ज्ञानसे ही प्रकाश होगा, तो एक घटके-ज्ञानसे समस्त वस्तुएँ ही प्रकाशित हों, क्योंकि समस्त पदार्थ ही निर्विशेष ज्ञानसे भिन्न हैं। पूर्वपक्षीकी ऐसी आपत्तिके खण्डनके लिए कह रहे हैं—*'इति चेन्मैवम्'* अर्थात् यदि ऐसा कहते हो तो यह युक्तिसङ्गत नहीं है; ज्ञानसे भिन्न होनेपर भी ज्ञेय पदार्थोंमेंसे जिसमें विषयता नामक सम्बन्ध रहता है, उसका ही ज्ञानमें प्रतिभास (प्रकाश) होगा। अन्य सबका नहीं, ऐसी व्यवस्था है। अतः इस व्यवस्थाके रहते ऐसी आपत्ति हो नहीं

सकती। इसके अतिरिक्त पीत-रक्तादि विषयक जो समूहालम्बन ज्ञान है, उस ज्ञानके परस्पर विरुद्ध नील-पीतादि, नानाकारता भी असम्भव हो जाती है, क्योंकि तुम्हारे मतमें ज्ञानसे अतिरिक्त विषय असत् है। और तुमने जो एक युक्ति दिखायी है कि ज्ञान और ज्ञेय सहभावसे उपलब्ध होते हैं, अतएव ज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं है, तो यह मूर्खों जैसी बात है, क्योंकि साहित्य (सहभावसे रहनेवाला) पदार्थ दो पदार्थोंके भेद-रूपका हेतुमूलक है। जहाँ पदार्थ भेद नहीं, वहाँ साहित्य (सहार्थ) होता नहीं, तब साहित्यमें ज्ञान और ज्ञेयका बोध किस प्रकार होगा? ऐसा (साहित्यता) होनेपर ज्ञान-ज्ञेयके सहोपलब्धिके नियमको कार्य-कारण भावका निमित्तक जानना चाहिये। विज्ञानवादीके पक्षमें और एक दोष है कि बाह्य पदार्थको निरस्त करनेवाले बौद्ध इस बाह्य पदार्थके ज्ञानसे पृथक् सत्ताको स्वीकार करते हैं यथा—*'यत्तदन्तर्ज्ञेयं रूपं तद्वबहिर्दवभासते'* अर्थात् अन्तरवर्त्ती जो ज्ञेय वस्तु है, वह बाह्य वस्तुकी भाँति ज्ञानमें प्रकाश पाती है, वह बाह्य वस्तुके समान तदाकार ही है। इस प्रकारसे यह उनकी (बौद्धवादियों) की उक्ति है, यदि यह स्वीकार नहीं करते हो, तो 'बहिर्वत्' (बाह्य वस्तुके समान) और वत् (समान) इन प्रत्ययोंकी सङ्गति नहीं होती। बाह्य वस्तुके असत् होनेपर उनका दृष्टान्त भी उसी प्रकार असङ्गत होता है, जैसे कोई कहे बन्ध्यापुत्र बन्ध्यापुत्रके समान है। कोई भी ऐसा नहीं कहता॥ २८॥

सूक्ष्मा-टीका—नाभाव इति। सर्वप्रत्यक्षसिद्धस्य भावस्याभावं वदता ज्ञानमात्रस्याभावं कथयन् न शक्यो निवारयितुमिति च बोध्यम्। न चेति। उपलब्धमर्थम्। तदन्यताया इति। अर्थस्याया ज्ञानान्यताया इत्यर्थः। तेन ज्ञा-धात्वर्थेन। तर्ह्येकस्मिन्निति घटज्ञाने। एवं घटादेर्निखिलस्य भानं स्यादित्यर्थः। तद्भिन्नेऽपीति ज्ञानभिन्नेऽपि घटादावर्थे यत्र विषयताख्यो ज्ञानस्य सम्बन्धस्तस्यैवार्थस्य प्रकाशो ज्ञाने भवेत् न तु निखिलस्येति व्यवस्थितेरित्यर्थः। बाधकान्तरमाह पीतरक्तादीति। षष्ठ्यन्तं ज्ञानस्य विशेषणम्। साहित्यस्येति। न च सहभावमात्रमैक्ये तन्त्रं वागर्थयोरैक्यापत्तेः। ततश्चेति। ज्ञानज्ञेययोः सहोपलम्भनियमः कार्यकारणभावहेतुक इत्यर्थः। किञ्चेति। तस्य बाह्यार्थस्य। यद्यपायमतीव धूर्त्तस्तथापि तस्य हृद्गतार्थावेदकं यत्तदिति वाक्यं प्रमादादेव निर्गतमिति वदन्ति॥ २८॥

सूक्ष्मा-सार—*'नाभाव'* इत्यादि सूत्रमें। सभीके लिए प्रत्यक्षसिद्ध बाह्य भाव पदार्थके अभाववादी योगाचारों द्वारा जिस प्रकार बाह्य पदार्थका अभाव प्रमाणित करना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानमात्रके अभावके आपत्तिवादीका निराकरण करना भी असम्भव है, यह जानना चाहिये। *'न च नाहमर्थम् नोपलभे'*—वाक्यका अर्थ है—मैं (विज्ञानवादी) अर्थ अर्थात् उपलब्ध विषयकी जो उपलब्धि नहीं करता, ऐसा नहीं है। *'तदन्यताया गले निपातनात्'* इति अर्थात् क्योंकि बाह्य पदार्थगत ज्ञानान्यता (ज्ञानसे पार्थक्य) गलेमें आ पड़ती है, इसलिये। *'तेन ज्ञानमात्रं साधयन् इति'* में 'तेन' का अर्थ है—'ज्ञा' धात्वर्थ (धातुके अर्थ) द्वारा। *'तर्हि एकस्मिन् सर्वप्रकाशः स्यात्'* में एकस्मिन्से तात्पर्य है एक घट-ज्ञानमें ही समस्त वस्तुओंका प्रकाश हो अर्थात् ऐसा होनेसे घटादि समस्त पदार्थोंके ज्ञानमें भान (प्रकाश) हो पड़ता है। *'तद्भिन्नेऽपि तस्मिन् इति'* में 'तद्भिन्ने' का अर्थ है ज्ञानसे भिन्न होनेपर भी जिस घटादि पदार्थमें ज्ञानका विषयता नामक सम्बन्ध रहता है, उस पदार्थका ही ज्ञानमें प्रकाश होगा, उससे पृथक् समस्त पदार्थोंका नहीं—इस प्रकारकी व्यवस्थाके कारण—यही अर्थ है। एक घट-ज्ञानमें समस्त वस्तुओंका प्रकाश होनेपर और एक प्रतिबन्धक (पीतरक्तक) ग्रन्थ द्वारा दिखा रहे हैं। *'समूहालम्बनस्य'* षष्ठी विभक्तियुक्त पदमें *'ज्ञानस्य'* यह अध्याहार्य (विचारणीय) पदका विशेषण है। *'साहित्यस्येति'* का अर्थ है—केवल सहभाव ही (सह उक्ति ही) यह ऐक्यका प्रयोजक है, ऐसा नहीं है अन्यथा शब्द और अर्थका भी ऐक्य हो जाता है। *'ततश्च तयोस्तन्नियम इति'* अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय इनकी जो एक साथ उपलब्धि है, यह कार्य-कारण भाव निमित्तक नियमके कारण है। *'किञ्च बाह्यमर्थं निरस्यता सौगतेन तस्य'* में 'तस्य' का अर्थ है—बाह्य पदार्थका। यद्यपि यह योगाचार अतीव धूर्त्त है तो भी उसके हृदयस्थित भावका प्रकाश *'यत्तदन्तर्ज्ञेयम्'* इत्यादि वाक्य करा ही देता है, उनकी असावधानताके कारण उनका भाव बाहर आ ही जाता है। *'यत्तदन्तर्ज्ञेयम्'* इत्यादि वाक्यमें यद् (जो) और तद् (वह) शब्दोंके द्वारा उन्होंने बाह्य वस्तुकी पृथक् सत्ताको स्वीकार कर ही लिया है अन्यथा 'बर्हिवत्' शब्दमें वे वत् प्रत्ययान्त शब्दका प्रयोग नहीं करते॥ २८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बौद्ध मतावलम्बी वैभाषिक और सौत्रान्तिकगणोंका मत निरस्त होनेके बाद विज्ञानमात्रवादी योगाचार मतावलम्बीगण प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि विज्ञेय घट-पटादि वस्तु विज्ञानसे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि विज्ञान ही बाह्य पदार्थाकारमें परिलक्षित होता है। यदि प्रश्न है कि बाह्य पदार्थके व्यतिरेकमें उसका व्यवहार किस प्रकार सम्भव होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि बाह्य वस्तुके बिना भी व्यवहार-सिद्धि स्वप्नवत् होगी अर्थात् जैसे बाह्य वस्तुकी सत्यता न रहनेपर भी स्वप्नमें भी उसका व्यवहार होता है, इत्यादि बातें टीका और भाष्यमें द्रष्टव्य है।

अब संशय यह है कि सब कु
है कि नहीं। पूर्वपक्षवादी यह अवश्य ही कहेंगे कि पदार्थकी सत्ताके बिना जब व्यवहारकी सिद्धि स्वप्नवत् देखी जाती है, तब ज्ञान बिना किसी पदार्थको स्वीकार करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। उनके मतमें सब कु

इस मतके खण्डनके लिए सूत्रकार कह रहे हैं कि बाह्य पदार्थका अभाव कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी उपलब्धि हो रही है; 'घटका ज्ञान' यह कहनेसे घट और ज्ञान दो वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। उपलब्ध विषयका अपलाप करनेवालेके वचनोंको पण्डितगण ग्रहण नहीं करते। इस विषयमें भाष्य और टीकामें विस्तारपूर्वक वर्णन है।

श्रीशङ्कराचार्यने इस सूत्रके भाष्यमें विज्ञानवादके निराकरणमें चैतन्यस्वरूप ब्रह्मका साक्षित्व स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि कारण और कार्यका सामानाधिकरण्य बनाये रखना आवश्यक है, खदिरकी लकड़ीपर कु
नहीं है। अतः आवश्यक है—दोनों ज्ञानरूप धर्म एक अधिकरणमें अवस्थित हो। ज्ञान यदि अपने ही अंश (आकार) का ग्राहक सिद्ध होता है, तो ऐसा माननेसे क्या लाभ? इससे न तो अन्य किसीके पक्षका प्रतिकूलत्व (निराकरण) होता है और न अपने पक्षकी अनुकूलता (सिद्धि)। आलय विज्ञानकी शालीन तरङ्गावलि जब बाह्य पदार्थोंसे उद्वेलित होकर चाक्षुष, श्रवण, घ्राणज, रासन, त्वाच और मानस इन प्रवृत्तिविज्ञानकी विचित्र वीचियोंमें लहराने लगती है, तब बाह्य रूपादि विषयोंका वे स्वयं ही निमित्त बन जाती हैं और बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि हो जाती है।

विज्ञान-स्कन्धमें स्कन्ध शब्दका अर्थ है—समूह या राशि। अतः विज्ञान-स्कन्धका अर्थ विज्ञानपुञ्ज है, किन्तु प्रत्येक विज्ञान क्षण केवल अपने स्वरूपका ही ग्राहक है, विज्ञानान्तरका नहीं, तब न तो दो विज्ञान ग्रहीत होते हैं, और न ही उनका भेद, अतः विज्ञानभेद भी सिद्ध नहीं होता। पुनः तुम्हारी प्रतिज्ञा है कि *'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः'*, तब यदि कोई बाह्य भाव पदार्थ है ही नहीं, तो क्षणिकत्व धर्म कहाँ सिद्ध किया जायेगा? घटादि पदार्थोंका ज्ञान अनेक पदार्थोंके ज्ञानसे ही ज्ञात हो सकता है, जब अनेकोंकी स्थिति सम्भव नहीं है, तब अनेकोपेक्षित पदार्थका ज्ञान भी क्यों होगा?

कर्म (क्रिया) का आश्रय (कर्त्ता कारक) और क्रिया-जन्य फलका आश्रयीभूत (कर्म कारक) सदैव भिन्न-भिन्न होते हैं, तब ग्रहण क्रियाका कर्त्ता (ग्राहक) भी ज्ञान हो और ग्रहण क्रियाका कर्म (ग्राह्य) भी ज्ञान हो—यह सम्भव नहीं हो सकता। लोकमें क्रिया जैसे कभी फलरूप नहीं होती। छिदा (छेदन क्रिया) कभी छेदनका कर्म (छेद्य) नहीं होती, अपितु काष्ठादि ही छेद्य होते हैं। पाक (पाचन क्रिया) कभी पाकका कर्म नहीं होता, अपितु तण्डुलादि ही पचनीय होते हैं, वैसे ही ज्ञान कभी भी अपने ग्राहक अंशका ज्ञेय नहीं हो सकता, क्योंकि क्रियाकी प्रवृत्ति स्वयं अपने लिए नहीं होती, अपितु पाच्यभूत तण्डुल सदैव पाकसे भिन्न होते हैं। जिस अनुभवके आधारपर ज्ञानकी सिद्धि होती है, उसीके द्वारा बाह्यार्थकी भी—इस प्रकार योगाचारके विज्ञानवादमें कथित अनेक प्रतिज्ञाएँ बाधित होती हैं, सांसारिक पदार्थोंकी विचित्रतासे ही ज्ञानका भी वैचित्र्य होता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१३/२४)

अर्थात् मन, वाक्य, दृष्टि और अन्यान्य इन्द्रियोंके द्वारा जो सब विषय ग्रहण किये जाते हैं, वे सब मेरा ही स्वरूप हैं, मुझसे भिन्न नहीं हैं। यह तत्त्व विचारके द्वारा जानोगे।

इस श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामीपाद कहते हैं—*'तत्र पञ्चात्मकत्वम् प्रत्यक्षादिसिद्धमेवेति परमकारणाभेदे-नोपपादयति।'*

मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीर पञ्चभूतात्मक हैं, यह प्रत्याक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध ही है और परमकारण भगवान्से भी अभेदको प्रमाणित करता है।

श्रील चक्रवर्त्तीपादकी टीकामें भी पाया जाता है—*'तदहमेव न तु अन्यत् मच्छक्तिकार्यात्वादिति।'*

अर्थात् वह मैं हूँ, अन्य कोई नहीं, मेरी शक्तिके कार्यके कारण विजातीय भेद भी नहीं है॥ २८॥

अवतरणिका भाष्य—अथ बाह्यार्थान् विनापि वासनाहेतुकेन ज्ञानवैचित्र्येण स्वप्ने यथा व्यवहार एवं सर्वं जागरेऽपि स्यादिति दृष्टान्तेन साधितं दूषयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद बाह्य वस्तुके न रहनेपर भी वासना (संस्कार) हेतुक ज्ञान अथवा विभिन्न प्रकारके ज्ञानके प्रवाहसे जनित ज्ञान वैचित्र्य द्वारा जागरणावस्थामें व्यवहार उसी प्रकार सिद्ध हों, जिस प्रकार स्वप्न होते हैं,—इस दृष्टान्तके द्वारा जिस विषयको (मतको) साधित करते हैं उसके दोष दिखाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ननु जाग्रत्प्रत्ययाः सर्वे निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्, स्वप्नादिप्रत्ययवदित्याशक्य दृष्टान्ते वाधितविषयत्वमुपाधिरित्याह—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्रश्न है पूर्वपक्षी (विज्ञानवादी) पूर्वपक्षी बाह्य पदार्थोंकी असत्ताके विषयमें अनुमान दिखाते हैं यथा *'जाग्रत प्रत्ययाः सर्वे निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नादि प्रत्ययवत्'* अर्थात् जागत् दशामें जो समस्त ज्ञान होता है, वह सब बाह्य विषयसे शून्य (निरालम्बन अर्थात् मिथ्या) है कारण कि जो प्रत्यय (प्रतीतिका विषय अथवा ज्ञान) है, वह स्वप्नादि-ज्ञानके दृष्टान्तके समान है। यहाँ इस अनुमानमें जो व्यभिचार है, उसे दृष्टान्तमें बाधित विषयत्वरूप उपाधि द्वारा दिखाते हैं—

सूत्र—वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्॥ २९॥

सूत्रार्थ—'वैधर्म्याच्च'—जागरण दशा और स्वप्न दशामें परस्पर विरुद्ध

धर्मके कारण 'स्वप्नादिवत् न'—स्वप्न-दृष्टान्तसे जागरणके व्यवहारकी सिद्धि नहीं हो सकती॥ २९॥

सूत्रानुवाद—स्वप्न मनोरथ ज्ञानकी तरह जाग्रत अवस्थाका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जाग्रत ज्ञान उससे विलक्षण है। इन दोनोंकी तुलना नहीं हो सकती॥ २९॥

गोविन्दभाष्य—च-शब्दोऽवधारणे। स्वप्ने मनोरथे च यथा घटाद्यर्थाकारक-ज्ञानमात्रसिद्धो व्यवहारस्तथा जागरेऽपि भवेदित्येतन्न सम्भवति। कु
स्वप्नजागरप्राप्तयोर्वस्तुनोरसाधर्म्यादेव स्वप्ने खल्वनुभूतं स्मर्यते जागरे तु प्रत्यक्षेणानुभूयते। स्वप्नोपलब्धं क्षणद्वयमात्रेणान्यदन्यद्भवति बाधितञ्च बोधे। जागरोपलब्धं तु वर्षशतानन्तरमपि तद्धर्मकमबाधितञ्चेति। किञ्च स्वप्नेऽनुभूतं स्मर्यत इति प्रत्युक्तिमात्रं बोध्यम्। स्वमतन्तु स्वमात्रानुभाव्यं तावन्मात्रसमयं वस्तु स्वप्ने परेशः सृजतीति सन्ध्ये सृष्टिराह हीत्यादिना वक्ष्यते॥ २९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'च' शब्द अवधारण अर्थमें है। स्वप्नावस्था और मनोरथ (कल्पना) में जिस प्रकार बाह्य वस्तु न रहनेपर भी घटादि पदार्थके आकार ज्ञान द्वारा ही व्यवहार सिद्ध होता है, वैसे ही व्यवहार-सिद्धि जाग्रत-दशामें भी होगी। यह मत सम्भव नहीं हो सकता। किस कारणसे? वैधर्म्यात्—दोनोंके वैषम्यके कारण; अर्थात् स्वप्नमें (स्वप्नगत धर्ममें) और जागरणमें (जाग्रत धर्ममें) उपलब्ध दोनों वस्तुओंमें परस्पर साधर्म्य नहीं है? किस प्रकारसे? तो कहते हैं—स्वप्नमें जिस वस्तुका हम स्मरण करते हैं, वह पूर्वानुभूत होती है। अतएव अनुभूत पदार्थका ही स्वप्नमें स्मरण होता है और जागरण-कालमें वस्तुका प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त स्वप्नदृष्ट वस्तु दो क्षणमात्रमें ही अन्य एक वस्तु हो जाती है अर्थात् बदल जाती है। ज्ञान (बोध) होनेपर अर्थात् स्वप्नका अपगम होनेपर उसका बाधितत्व (लोप) भी प्रमाणित होता है। जिस प्रकार स्वयंके छिन्न मस्तकको स्वयं ही देखा इत्यादि। किन्तु जाग्रत-दशामें अनुभूत पदार्थ (दृष्ट वस्तुएँ) सौ वर्षके बाद भी उसी धर्मके साथ अबाधित भावसे रहते हैं—यह दोनोंमें वैषम्य है। और एक बात है—हमने जो तु
देखो, 'स्वप्नमें पूर्व अनुभूत वस्तुका स्मरण होता है', यह प्रतिवाद

(प्रत्युक्ति) मात्र है, यह सूत्रकारका निजमत नहीं है। उनके मतमें तो वे (सभी वस्तुएँ) जीव मात्रकी अनुभूतिके योग्य हैं। *'सन्ध्ये सृष्टिराह हि'* (वे॰सू॰ ३/२/१) इत्यादि सूत्रमें सूत्रकार कहेंगे कि सुखदुःखादिमय वस्तुकी परमेश्वर स्वप्नमें उतने ही समयके लिए सृष्टि करते हैं॥ २९॥

सूक्ष्मा–टीका—वैधर्म्याच्चेति। स्वप्नजागरप्रत्यययोर्बाधितविषयत्वाबाधित-विषयत्वाभ्यां वैधर्म्यात् न तेन दृष्टान्तेन जागरप्रत्ययस्य निरालम्बनत्वं साध्यमित्यर्थः॥ २९॥

सूक्ष्मा–सार—इसी बातको *'वैधर्माच्च'* इत्यादि सूत्र द्वारा कह रहे हैं अर्थात् स्वप्नकालीन प्रत्यय और जाग्रत–दशामें प्रत्यय—इन दोनोंका यथाक्रमसे बाधित विषयत्व और अबाधित–विषयत्व हेतु वैधर्म्य है, इसलिए स्वप्न दृष्टान्त द्वारा जागरणका निर्विषयत्व साधनीय नहीं है, यही तात्पर्य है॥ २९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बाह्य पदार्थके बिना स्वप्नमें जिस प्रकार व्यवहार सिद्ध होता है, उसी प्रकार वासना जनित ज्ञान–वैचित्र्यके द्वारा जाग्रत–अवस्थामें भी व्यवहार सिद्ध होता है—इस मतका सूत्रकार वर्त्तमान सूत्रमें खण्डन करते हुए कहते हैं कि स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था दोनों ही वैधर्म्यके कारण एक नहीं हो सकती अर्थात् स्वप्नका दृष्टान्त जागरणमें सम्भव नहीं है, इसका कारण है कि स्वप्नमें पूर्वानुभूत वस्तुका स्मरण होता है और जाग्रदावस्थामें वस्तु प्रत्यक्ष रूपसे अनुभूत होती है। दोनोंमें और भी वैधर्म्य यह है कि स्वप्नदृष्ट वस्तुमात्र दो क्षणोंमें ही विभिन्न रूप धारण करती है और स्वप्नके भङ्ग होनेपर वह ज्ञानसे भी बाधित होती है जब कि जाग्रदावस्थामें उपलब्ध वस्तु सौ वर्ष बाद भी उस धर्मके साथ अबाधित रूपमें प्रतीत होती है। और भी, एक बात यह है कि स्वप्नमें अनुभूत वस्तुका स्मरणमात्र होता है, यह कहना हमारा प्रत्युक्तिमात्र है। स्वप्नमें तो केवल स्वप्नद्रष्टा अनुभव करता है, किन्तु जागरण–कालकी वस्तुएँ सभीके अनुभव योग्य होती हैं अर्थात् सभी अनुभव कर सकते हैं। इस विषयमें सूत्रकार बादमें और भी विस्तारपूर्वक कहेंगे।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८६/४५)

अर्थात् निद्रित पुरुष जिस प्रकार मन-ही-मनमें आपकी मायाके द्वारा केवल स्वप्नकल्पित लोककी सृष्टि करता हुआ उसमें अनुप्रविष्ट होकर तद्-तद् दर्शनादिका अनुभव करता है, उसी प्रकार आप भी सम्प्रति (इस समय) हमारे दृष्टिमार्गमें प्राप्त हो रहे हैं (दृष्टिगोचर हो रहे हैं)।

और भी,

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१३/३१)

अर्थात् परमात्माके बिना देहादि विभिन्न भावोंके असत्त्वके कारण देहादिकृत वर्णाश्रमादि भेद, स्वर्गादि कर्मफल और कर्म, स्वप्नदर्शी पुरुषके स्वप्नदृष्ट विषयोंके समान वस्तुतः मिथ्या ही हो जाते हैं।

श्रील चक्रवर्त्तीपादकी टीकामें देखा जाता है—

'शृङ्गस्य सत्यत्वेऽपि शशस्य शृङ्गसम्बन्धाभावात् शशशृङ्गम् मिथ्यैवेत्यर्थः। स्वप्नदृशः स्वप्नदृष्टजीवस्य स्वाप्निकवस्तुनाम् मिथ्यात्वम् पुनश्च स्वप्नजनो स्वप्ने परमान्न भोजनस्य तत्साधनस्य दुग्धतण्डुलाद्यरणस्य च मिथ्यात्वम् यथा।'

अर्थात् शशकके शृङ्ग न रहनेपर भी अर्थात् शृङ्गके साथ शशकका सम्बन्ध न रहनेसे शशशृङ्ग शब्द मिथ्या है। इसी प्रकार स्वप्नद्रष्टा जीवकी स्वाप्निक वस्तुएँ मिथ्या ही हैं, जिस प्रकार स्वप्नमें परमान्न भोजन (खीर) और उसके साधन दूध, तण्डुलादिका आहरण भी मिथ्या है।

श्रीजीवगोस्वामीके सर्वसंवादिनी ग्रन्थमें परमात्म-सन्दर्भमें उल्लिखित इस सूत्रके तात्पर्यमें देखा जाता है कि स्वप्नसे जागर-ज्ञान पृथक् है, क्योंकि जागर-ज्ञान स्वप्न-ज्ञानके विरुद्ध धर्म विशिष्ट है। स्वप्नमें जो

देखा जाता है, जागरणमें वह उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जागरण-कालमें जिन समस्त वस्तुओंका ज्ञान होता है, स्वप्न-दृष्टान्तके समान उनका अन्यथाभाव नहीं होता। (अर्थात् वे बदलती नहीं।)

दृष्टान्त सदैव पक्षका समानधर्मा होता है, किन्तु यहाँ तो यह स्वप्न-रूप-दृष्टान्त विधर्मा है, इसे दृष्टान्त नहीं दृष्टान्ताभास कह सकते हैं। स्वाप्न प्रत्यय मिथ्यात्व प्रयोजक धर्मान्तर है। संस्कारमात्रसे जनित ज्ञानको स्मृति कहते हैं, स्वाप्न-ज्ञान स्मृति-ज्ञानके कारण अप्रमाणित है। निद्रा दोषके कारण यह स्मृति यथार्थ न होकर विपरीत होती है। जिस व्यक्तिने अतीत कालमें पिता-पितामहादिका दर्शन किया था, उसे उनका स्वप्नमें ऐसा स्मरण होता है, जैसे उन्हें वह वर्त्तमानमें ही देख रहा हो। इस प्रकार यह स्वाप्न स्मृति विपरीत देशकालादिकी वाहिका है। अबाधित विषयको प्रमाण कहा जाता है, प्रत्यक्षरूप अनुभवके द्वारा जब अनुमान बाधित-विषयक हो जाता है, तब वह न तो स्वयं प्रमाण रहता है और न ही प्रत्यक्षका बाधक। जागत्-कालीन स्तम्भादि प्रत्ययोंकी अनुभूति स्वतः प्रमाणभूत अबाधित विषयक है॥ २९॥

अवतरणिका भाष्य—यत्तूक्तं विनाप्यर्थान् वासनावैचित्र्याजज्ञानवैचित्र्यमुपपद्यत इति तन्निरासायाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—और जो विज्ञानवादी कहते हैं कि बाह्य पदार्थके न रहनेपर भी विभिन्न संस्कारवश (वासनावश) ज्ञान-वैचित्र्यके द्वारा विभिन्नाकार ज्ञान (ज्ञान-वैचित्र्य) प्रमाणित होता है। इस मतके खण्डनके लिए सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—न भावोऽनुपलब्धेः॥ ३०॥

सूत्रार्थ—'भावः'—वासनाका सद्भाव 'न' सम्भव नहीं है, किस कारणसे? 'अनुपलब्धेः' क्योंकि उनके मतमें बाह्य पदार्थकी उपलब्धिका अभावके कारण वासना हो ही नहीं सकती॥ ३०॥

सूत्रानुवाद—वासनाओंका भाव (सत्ता) नहीं है, क्योंकि उनके मतमें बाह्य पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं है॥ ३०॥

गोविन्दभाष्य—वासनानां भावो न सम्भवति। कु त्वन्मते बाह्यार्थाप्राप्तेः। अर्थमूला किल वासना अर्थान्वयव्यतिरेकसिद्धा। तव त्वर्थानङ्गीकारात् सा न सम्भवेत्॥ ३०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—वासना अर्थात् संस्कारकी सत्ता सम्भव नहीं है, किस कारणसे? अनुपलब्धिवशतः—क्योंकि तुम्हारे मतमें बाह्य पदार्थकी सत्ता नहीं है, तब वासना होगी कहाँ-से? वासना अर्थमूलक है। तब पदार्थके साथ अन्वय-व्यतिरेक द्वारा ही वासना सिद्ध हो सकती है—पदार्थ है तो वासना है और पदार्थ न होनेसे वासना भी नहीं है—यह पदार्थमूलक वासना तुम्हारे मतमें हो नहीं सकती, क्योंकि बाह्य पदार्थोंको तुम मानते नहीं हो। अर्थको अङ्गीकार न करनेसे वासनाका अस्तित्व ही असम्भव हो जाता है॥ ३०॥

सूक्ष्मा-टीका—न भावेति। स्पष्टम्॥ ३०॥

सूक्ष्मा-सार—'न भाव' इत्यादि सूत्रका भाष्यार्थ सुस्पष्ट है॥ ३०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—विज्ञानवादियोंके मतमें बाह्य पदार्थके बिना भी वासना-वैचित्र्यके कारण ज्ञानका वैचित्र्य उपपन्न (प्राप्त) होता है। इसका खण्डन करनेके लिए सूत्रकार कहते हैं कि वासनाकी सत्ता भी सम्भव नहीं है; क्योंकि जहाँ बाह्य पदार्थकी उपलब्धि नहीं है, वहाँ वासनाकी भी सत्ता रह नहीं सकती। अर्थमूला वासनाका अभिप्राय है कि जहाँ वस्तु है—वहीं वासना (संस्कार) है, और जहाँ वस्तु नहीं है, वहाँ वासना भी नहीं है।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका सार इस प्रकार है—

बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व समाप्त हो जानेपर केवल ज्ञानका ही अस्तित्व शेष रह जाय, ऐसा कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। जहाँ वासनाके आश्रयरूप कोई वस्तु नहीं रहती, वहाँ ज्ञानकी भी उपलब्धि हो नहीं सकती।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२२/५६)

अर्थात् जिस प्रकार विषयका ध्यान करनेवाले व्यक्तिको स्वप्नावस्थामें सर्पदंशनादि नानाविध मिथ्या विषयोंका अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्माके साथ संसार-सम्बन्ध मिथ्या होनेपर भी विषयके ध्यानके कारण सुख-दुःखकी निवृत्ति नहीं होती।

दूसरी बात यह है कि वासनाओंका आधारभूत कोई स्थिर तत्त्व अपेक्षित है, वह भी विज्ञानवादमें अभ्युपगत (स्वीकृत) नहीं है। यदि आलय विज्ञानको वासनाका आश्रय मानते हो तो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि आलय विज्ञान और वासना दोनों क्षणिक पदार्थ हैं। जब दोनों एक साथ उत्पन्न होंगे, तो उनमें आधार-आधेय भाव बन ही नहीं सकेगा, जैसे गायके सिरपर एक साथ निकले वाम और दक्षिण सींगोंमें क्या आधार होगा और क्या आधेय? वासनाके पूर्व क्षणमें उत्पन्न होकर आलय विज्ञान यदि वासनाके उत्पत्ति-क्षणमें भी रहता है, तब उसका क्षणिक भाव समाप्त हो जाता है॥ ३०॥

अवतरणिका भाष्य—किञ्च वासना नाम संस्कारविशेषः। स च स्थिरमाश्रयं विना न सम्भवतीत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—'किञ्चेति' अर्थात् और एक बात है, वासना शब्दका अर्थ संस्कार-विशेष है, किन्तु वह किसी स्थायी आश्रयके बिना सम्भव नहीं है। इसी बातको सूत्रकार कह रहे हैं—

सूत्र—क्षणिकत्वाच्च॥ ३१॥

सूत्रार्थ—'क्षणिकत्वात्' वासनाश्रय पदार्थ क्षणस्थायी होनेके कारण 'च' भी संस्कारवादमें दोषसे उद्धार नहीं हो सकता॥ ३१॥

सूत्रानुवाद—प्रवृत्ति-विज्ञानके समान आलय विज्ञान भी आधार नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी क्षणिक है॥ ३१॥

गोविन्दभाष्य—नेत्यनुवर्त्तते। वासनाश्रयः स्थिरः पदार्थो नैव तेऽस्ति। कु क्षणिकत्वात्। प्रवृत्तिविज्ञानस्यालयविज्ञानस्य च सर्वस्य क्षणिकत्वाङ्गीकारात्। न हि त्रिकालस्थिरसम्बन्धिनि चेतनेऽसति देशकालनिमित्तसापेक्षवासनाध्यानस्मरणादिव्यवहारः सम्भवेत्। तथा चाश्रयाभावान्न सा तदभावाच्च न तद्वैचित्र्यमिति तुच्छो विज्ञानमात्रवादः॥ ३१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्व सूत्रसे 'न' पदका अनुवर्त्तन हुआ है। पूर्वपक्षीके मतमें समस्त पदार्थ क्षणिक हैं। वासना जिस आत्मामें रहेगी, वह वासनाश्रय आत्मा भी क्षणिक है स्थिर नहीं हो सकती और स्थायी पदार्थ तुम्हारे मतमें अभ्युपगत (प्राप्त) नहीं है, किसलिए? *'क्षणिकत्वात्'* क्योंकि वह वासनाश्रय भी क्षणिक है। प्रवृत्ति-विज्ञान और आलय-विज्ञान सभीको तुमने क्षणिक रूपमें अङ्गीकार किया है। भूत, भविष्य और वर्त्तमान—इन तीनों कालोंमें स्थिर सम्बन्धयुक्त चेतन पदार्थकी सत्ता न रहनेपर देश-काल और निमित्त सापेक्ष वासना, ध्यान, स्मरणादि व्यवहार सम्भव नहीं हो सकते; अतएव सिद्धान्त यह है कि अधिकरणके (आश्रयके) अभावमें वासना सम्भव नहीं है और वासनाके अभावमें वासना-वैचित्र्य अथवा तज्जन्य ज्ञान-वैचित्र्य भी असम्भव है। अतः विज्ञानमात्रवाद सारहीन है॥ ३१ ॥

सूक्ष्मा-टीका—क्षणिकत्वादिति। प्रवृत्तीति। प्रवृतिविज्ञानं व्यष्टिः आलयविज्ञानं समष्टिरिति ज्ञेयम्। सा वासना। तद्वैचित्र्यं ज्ञानवैचित्र्यम्। तथा च भ्रममूलेन विज्ञानमात्रवादेन समन्वये विरोधः कर्त्तुं न शक्य इति सिद्धम्॥ ३१ ॥

सूक्ष्मा-सार—*'क्षणिकत्वात्'* इस सूत्रके *'प्रवृत्तिविज्ञानेति'* भाष्यमें प्रवृत्ति-विज्ञान वयष्टिभूत है और आलयविज्ञान समष्टिरूप। *'आश्रयाभावान्न सा इति'* में सा का अर्थ है—वह वासना, *'न तद्वैचित्र्यम्'*—ज्ञानका वैचित्र्य भी होता नहीं। अतएव स्थिर होता यह है कि भ्रममूलक केवल विज्ञानमात्र द्वारा ब्रह्म-विषयमें वेदान्तके समन्वयका विरोध नहीं किया जा सकता॥ ३१ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः कहा गया है कि वासना संस्कार-विशेष है, वह स्थायी आश्रयके बिना सम्यक् रूपसे रह नहीं सकती। बौद्धमतमें क्षणिकत्ववाद स्वीकृत होनेके कारण वासनाका आश्रय कोई स्थिर पदार्थ नहीं है, इसलिए सभी पदार्थ ही क्षणिक कहे जानेसे त्रिकालमें स्थिर वासनाश्रय चेतन पदार्थके नहीं रहनेके कारण देश, काल और निमित्त सापेक्ष वासना, ध्यान और स्मरणादि व्यवहार सम्भव नहीं होते, इसलिए आश्रयके अभावमें वासना सिद्ध नहीं

होती और वासनाके अभावमें ज्ञान-वैचित्र्य भी असम्भव होता है। अतएव विज्ञानमात्रवाद अति तुच्छ है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

आभासश्च निरोधश्च यतोऽस्त्याध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥

(श्रीमद्भा॰ २/१०/७, ९)

जिनसे सृष्टि एवं लय होता है और जिनसे यह विश्व प्रकाशित होता है, वे ही 'आश्रय' हैं। उन्हें ही शास्त्रोंमें परब्रह्म और परमात्मा कहा जाता है। इन तीनोंमें यदि एकका भी अभाव हो जाय तो दूसरेके अस्तित्वकी उपलब्धि नहीं कर सकते, तब जो इन तीनोंका साक्षी रूपमें द्रष्टा है, वही परमात्मा अपने स्वयंका आश्रय है और वही सारे जीवोंका भी आश्रय है॥ ३१॥

अवतरणिका भाष्य—एवं योगाचारेऽपि निरस्ते सर्वशून्यत्ववादी माध्यमिकः प्रतिपद्यते। बुद्धेन बाह्यार्थान् विज्ञानञ्चाङ्गीकृत्य विनेयबुद्ध्यारोहाय सोपानवत्तत्र क्षणिकत्वादि कल्पितम्। न तु ते तच्च वर्त्तन्ते। शून्यमेव तत्त्वं तदापत्तिरेव मोक्ष इत्येव तन्मतरहस्यम्। युक्तञ्चैतत्। शून्यस्याहेतुसाध्यत्वेन स्वतःसिद्धेः। सतो हेत्वपेक्षिणोऽप्युत्पत्त्यनिरूपणाच्च। तथाहि। न तावद्भावादुत्पत्तिः सतः। अनष्टाद्बीजादितोऽङ्कुराद्युत्पत्त्यदर्शनात्। नाप्यभावात्। नष्टाद्बीजादितो जातस्याङ्कुरादेर्निरुपाख्यतापातात्। न च स्वतः। आत्माश्रयतापत्तेरानर्थक्याच्च। न तु परतः। परत्वाविशेषेण सर्वस्मात् सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गात्। एवमुत्पत्त्यभावाद्विनाशाभावः। तस्मादुत्पत्तिविनाशसदसदादिकं विभ्रममात्रमतः शून्यमेव तत्त्वमिति। इह संशयः। शून्यमेव तत्त्वमिति युक्तं न वेति। शून्यस्य स्वतःसिद्धेरितरेषां पदार्थानां भ्रान्तिविजृम्भितत्वेनासत्त्वाच्च युक्तमिति प्राप्ते निरस्यति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार योगाचार बौद्ध सम्प्रदायके भी निरस्त होनेपर सर्वशून्यवादी माध्यमिक सम्प्रदायके विषयमें प्रतिपादन करते हैं—बुद्धमुनिने आपाततः बाह्य पदार्थ-सत्ता और विज्ञानको स्वीकार करके शिष्योंकी बुद्धिके विकासके लिए सोपानके समान उनके लिए क्षणिकत्व प्रवृत्तिवादकी कल्पना की; किन्तु वे शिष्यगण

इस पथपर प्रवृत्त नहीं हुए। बादमें अपना मत बना लिया कि शून्य ही वास्तविक तत्त्व है और उन शून्यतामें परिणतिका नाम मुक्ति है। उनके अनुसार यह उनके मतका रहस्य अर्थात् गम्भीर तात्पर्य है और यह युक्तियुक्त भी है। वे कहते हैं—शून्य अहेतुसाध्य है अर्थात् जब किसी हेतु द्वारा कोई पदार्थ साध्य नहीं होता तो शून्यवाद स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। जो स्वतः सिद्ध है वह तत्त्व है इसके अतिरिक्त सत् पदार्थके उत्पन्न होनेपर भी उसमें किसी न किसी हेतुकी (कारणकी) अपेक्षा रहनेसे उसकी उत्पत्तिका निरूपण नहीं किया जा सकता। बीज नष्ट न हो तो उससे अङ्कुर उत्पन्न होता नहीं, इसी प्रकार मृत्-पिण्डादि कारणका उपमर्दन किये बिना घट-पटादि भी उत्पन्न नहीं होते। और नष्ट बीज इत्यादिसे उत्पन्न अङ्कुरादिकी निरूपाख्यता अर्थात् शून्यता (मिथ्यता) सिद्ध होने लगती है। अङ्कुरादिकी उत्पत्ति स्वयंसे भी नहीं कही जा सकती क्योंकि ऐसा होनेसे उसमें आत्माश्रयत्व दोष अनिवार्य होता है और आनर्थक्य भी हो पड़ता है, अर्थात् जो स्वतःसिद्ध है, उसकी उत्पत्ति व्यर्थ है। जिस प्रकार स्वतः उत्पत्ति हो नहीं सकती, उसी प्रकार स्व भिन्न पदार्थ अर्थात् पर वस्तुसे भी उत्पत्ति हो नहीं सकती क्योंकि समस्त पदार्थ ही स्वसे भिन्न हैं। पर वस्तुसे उत्पत्ति स्वीकार करनेपर परत्वके अविशेषके कारण समस्त वस्तुओंसे किसी भी वस्तुके उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग आ पड़ता है। अतः उत्पत्तिके अभावमें विनाश भी नहीं है। तब जो घटादिकी उत्पत्ति, विनाश, सत्ता और असत्ताकी प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति (युक्ति) क्या? इसकी युक्ति अथवा समाधान यह है कि ये सब भ्रममात्र हैं, अतएव जगत्में समस्त ही शून्य है, यही तत्त्व है। इस मतमें संशय यह होता है कि शून्य ही एकमात्र तत्त्व है तो यह वाद युक्तियुक्त है कि नहीं? पूर्वपक्षी माध्यमिक कहते हैं—हाँ, यह युक्तियुक्त है क्योंकि शून्य स्वतः सिद्ध है और उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थोंकी प्रतीति भ्रान्तिका कार्य है। इस सिद्धान्तको निरस्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ननु मा भूदसङ्गतेन तेन विज्ञानवादेन समन्वये विरोधः शून्यवादेन तस्मिन् सोऽस्तु तस्य वक्षमाणरीत्या उपपन्नत्वादिति प्राग्वदाक्षेपः।

शून्यवादोऽत्र विषयः। स प्रमाणमूलो भ्रममूलो वेति सन्देहे तस्य प्रमाणमूलतां वक्तु तत्प्रक्रियां दर्शयति शून्यमेव तत्त्वमित्यादिना। शून्यस्येति। न हि शून्यं केनचित् कारणेन सिद्धमस्ति। अतस्तार्किकैर्नित्यत्वं तस्य मतम्। ये च क्षित्यङ्कुरादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते तेऽपि भ्रान्तिरूपा एव। वस्तुतः शून्यात् नेतरे क्षोदाक्षमत्वादित्याह सतो हेत्वपेक्षिणोऽपीत्यादिना। शिष्टं स्पष्टार्थम्। अयमत्र निष्कर्षः—शून्यमेव संवृत्त्यवच्छिन्नं विचित्रजगद्रूपेण विवर्त्तते। पारमार्थिकसत्त्वाभावेऽपि सांवृत्यसत्त्वेन जगति सद्बुद्धिरर्थ-क्रियाकारिताहानोपादानादयश्च स्युः। शून्यमेवावाङ्मनसाऽगोचरं परं तत्त्वम्। तच्च निर्लेपं निर्विशेषमस्तीति भावनापरिपाकात् शून्यभावापत्तिर्मोक्ष इति शून्यवादेन सर्वव्यवहारसिद्धौ भावभूतात् विज्ञानानन्दात् सार्वज्ञ्यादिगुणकात् चिदचिच्छक्त्युपेतात् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो नास्थेयः सूक्ष्मधियेत्येवं प्राप्ते प्रत्याचष्टे—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आक्षेप यह है कि इस असङ्गत विज्ञानवाद द्वारा वेदान्तवाक्योंके ब्रह्म-समन्वयमें विरोध न हो, किन्तु शून्यवाद द्वारा तो इस समन्वयमें विरोध हो, क्योंकि यह शून्यवाद बादमें वर्णित रीतिके अनुसार युक्तियुक्त होता है। इस प्रकार पूर्वाधिकरणके मतकी (योगाचार मतकी भाँति) यहाँ आक्षेप सङ्गति जाननी चाहिये। इस अधिकरणमें विषय (विचार योग्य वाक्य) है शून्यवाद। इसमें संशय यह है कि शून्यवाद प्रमाण सिद्ध है? अथवा भ्रममूलक? पूर्वपक्षी इस संशयपर शून्यवादकी प्रमाणमूलकता बतानेके लिए उसकी प्रक्रिया *'शून्यमेव तत्त्वमित्यादि'* वाक्य द्वारा दिखाते हैं। *'शून्यस्याहेतुसाध्यत्वेनेत्यादि'* वाक्यमें शून्यत्व किसी भी कारण द्वारा सिद्ध नहीं होता, इसलिए तार्किक उस शून्यको नित्य मानते हैं। युक्ति यह है कि क्षिति, अङ्कुर इत्यादि जो समस्त पदार्थ प्रतीत होते हैं, वे सब भ्रमात्मक हैं। वास्तविकतामें तो शून्यसे किसी पदार्थका होना विचारके योग्य नहीं है। इसी बातको *'सतो हेत्वपेक्षिण'* इत्यादि वाक्य द्वारा कहा जा रहा है। अवशिष्ट (शेष) भाष्य-वाक्य सुस्पष्ट हैं। इस मतका सार सिद्धान्त यह है कि जगत्में सब शून्य है किन्तु संवृत्त्यवच्छेद (अधिष्ठान-निर्धारण) में यह शून्य ही नानाकार जगत्-रूपमें विवर्त्तित (*'अध्यस्त यथा शुक्तिकेयम्, न रजतम्'* अर्थात् किसी वस्तुको अन्य वस्तु समझना) है। यद्यपि इस शून्यकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है, तो भी संवृत्ति (अधिष्ठान) की सत्यताके कारण जागतिक वस्तुकी जो सत्-रूपमें प्रतीति है, वह अर्थक्रियाकारित्व

(व्यवहार-निष्पादकत्व) अर्थात् कोई भी कार्य किसी उद्देश्य या अर्थसे किया जाता है, उक्त प्रकारके कार्य करनेकी शक्ति जब रहे, तब सत् होता है—सत्त्वमें प्रयोजनमूलक कार्य करनेकी क्षमता रहती है, यह सत्त्व नील आदि क्षणिक पदार्थोंके प्रत्यक्षसे ही सिद्ध होता है, यह *'सत् तत् क्षणिकम्'*—सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। हान (क्षमता) और उपादानादि (पृथ्वी, जलादिसे संसर्ग) व्यवस्थाओंसे सम्पन्न होती है। वाक् एवं मनके अगोचर शून्य ही परमतत्त्व है। वही निर्लेप, निर्विशेष (निरंश) सत्तावान है। इस भावनाके परिपाकके कारण शून्य भाव-प्राप्तिरूप मुक्ति होती है। इस शून्यवाद द्वारा समस्त व्यवहार सिद्ध होनेपर भावभूत अर्थात् सत्स्वरूप, ज्ञान और आनन्दमय-सर्वज्ञता-सर्वैश्वर्यतादि गुणोंसे सम्पन्न चित्-शक्ति और जड़-प्रकृति शक्तियुक्त ब्रह्मसे जगत्-सृष्टिवादी समन्वय सूक्ष्मधीसम्पन्न व्यक्तियोंके लिए श्रद्धास्पद नहीं है। सूत्रकार इस माध्यमिक सम्प्रदायके सिद्धान्तका प्रत्याख्यान (निरस्तीकरण) करते हैं।

५—सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम्

सूत्रम्—सर्वथाऽनुपपत्तेश्च॥ ३२॥

सूत्रार्थ—सर्वथा—शून्यको सत्स्वरूप, असत्स्वरूप अथवा सदसत्स्वरूप जो कु

होगा, किस कारणसे? अनुपपत्तेश्च—क्योंकि उसमें युक्तिका अभाव है॥ ३२॥

सूत्रानुवाद—आपका अभिमत सर्वशून्यवाद कदापि सम्भव नहीं है। इस मतमें सर्व पदार्थ सत् हैं या असत्? या सत्-असत्—इन सबकी प्रतिज्ञा (जिस वाक्यकी सिद्धि करनी होती है, उसका निर्देश करना) करनेवाला आपका अभीष्ट कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी उपपत्ति नहीं हो सकती॥ ३२॥

गोविन्दभाष्य—नेत्यनुवर्त्तनीयम्। शून्यमिति वदन् भावमभावं भावाभावं वा प्रतिपादयेत्। सर्वथा नाभिमतसिद्धिः। कु

आद्येऽनिष्टापत्तिः। द्वितीये प्रतिपादयितुर्भावस्य तत्साधनस्य च सत्त्वात् सर्वशून्यताहानिः।

तृतीये तु विरोधोऽनिष्ठता चेति। किञ्च येन प्रमाणेन शून्यं साध्यं तस्य शून्यत्वे शून्यवादहानिः। तस्य सत्यत्वे सर्वसत्यताप्रसङ्गश्चेति दुष्टः शून्यवादः। एवं मिथो विरुद्धत्रिमतीनिरूपणाज्जगत्प्रतारकता बुद्धस्यावसीयते। लोकायतिकादिमतानि त्वति-तुच्छत्वाद्भगवता सूत्रकारेण प्रत्याख्यातुं नोट्टङ्कितानीति वेदितव्यम्। एतेन बौद्धनिरासेन तत्सदृशो मायी च निरस्तः। क्षणिकत्वमनुसृत्य दृष्टिसृष्टिवर्णनात् शून्यवादमाश्रित्य विवर्त्तनिरूपणाच्च तस्य तत्सादृश्यम्॥ ३२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे 'न' इस पदकी अनुवृत्ति करनी होगी। समस्त प्रकारसे अनुपपत्ति प्रयुक्त होनेके कारण यह अयुक्त है। जो तत्त्वको शून्य कह रहे हैं, वे पहले यह प्रतिपादन करें कि यह शून्य पदार्थ क्या भावपदार्थ है अथवा अभाव पदार्थ? किंवा भावाभाव है अर्थात् भाव हो, अभाव हो, अथवा उभयात्मक हो, जो भी हो, किसी भी रूपमें उनका अभिमत (अभीष्ट) सिद्ध नहीं होगा, किस कारणसे? वही बता रहे हैं—अनुपपत्तेः—उपपत्ति अर्थात् युक्तिके अभावमें, किस प्रकारसे? इसका उत्तर है—प्रथम पक्षमें तो शून्यतत्त्वको भावस्वरूप अर्थात् सत्स्वरूप कहनेपर शून्यके भावरूपत्वके अभावके कारण तुम्हारे मतका अनिष्टत्व हो जाता है। द्वितीय पक्षमें शून्यतत्त्व यदि अभावस्वरूप है, तो उस शून्यतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले तुम भाव पदार्थ और शून्य तत्त्वको प्रमाण करनेवाले तुम्हारे हेतु भी भाव पदार्थ होते हैं। इन सबके वर्त्तमान रहते हुए सर्वशून्यता किस प्रकारसे हो गयी? अरे! यह तो सर्वशून्यताकी हानि हुई। भावाभावरूप तृतीय पक्ष लेनेपर भी उपाय नहीं है, क्योंकि उसमें भावाभावका परस्पर विरोध और अनिष्टापत्ति दोष आ पड़ते हैं। अर्थात् तुम्हारे मतमें सिद्ध शून्यत्व रहता नहीं है, क्योंकि उसमें भाव पदार्थ विद्यमान है। और भी एक दोष है, जिस प्रमाणको तुम शून्यत्वका साधन बनाओगे, उसी प्रमाणके शून्यस्वरूप होनेपर वह शून्यतत्त्ववाद सिद्ध नहीं होता, बल्कि इससे शून्यवादकी असिद्धि ही होती है, क्योंकि शून्यसे शून्य सिद्ध नहीं होता। और यदि यह प्रमाण सत्स्वरूप है, तो सभीमें सत्यता आ जाती है। किस प्रकारसे? वही दिखा रहे हैं, जिसके बलपर प्रपञ्चको भ्रम कहते हो, उसीको सत्य कहना होगा। कारण यह है कि अधिष्ठान न रहे तो बाध भी नहीं होगा, इस प्रकार जिसके ऊपर प्रपञ्च-भ्रम बाधनीय (बाधाका

साधनीभूत) होगा, उसीको सत्य कहना होगा और सर्वसत्यताके प्रसङ्गसे शून्यतत्त्ववाद दोषग्रस्त हो जायेगा। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध उक्त तीनों मतोंका निरूपण करनेमें बुद्धकी जगत्-प्रतारकता ही पर्यवसित हुई है। लोकायितकोंके मत (चार्वाकादि नास्तिकवाद) अति तुच्छ अर्थात् अत्यन्त सारहीन हैं, इसलिए सूत्रकार भगवान् वेदव्यासने प्रत्याख्यान करनेके लिए उनका उल्लेख किया ही नहीं है, यह जान लेना चाहिये। इस बौद्धमतके निराकरण द्वारा उन बौद्ध जैसे ही (दृष्टि-सृष्टिवादी) मायावादियोंका भी निरास हो गया। इन मायावादियोंके मतमें वस्तुके क्षणिकत्वका अनुसरण करके ही दृष्टि-सृष्टिका (दृष्टिपूर्वक सृष्टिका) वर्णन किया गया है। उन्होंने भी शून्यवादका अवलम्बन करके विवर्त्तवादका निरूपण किया है, अतएव मायावाद भी बौद्ध-मतके समान ही है। अतः मायावाद और विवर्त्तवादका पृथक् रूपसे निराकरण नहीं किया गया॥ ३२॥

सूक्ष्मा-टीका—सर्वथेति। आद्ये शून्यं भावं प्रतिपादयेदिति पक्षे शून्यस्य भावरूपत्वास्वीकारादनिष्टापत्तिः। द्वितीये शून्यमभावं प्रतिपादयेदिति पक्षे। तृतीये शून्यं भावाभावरूपं प्रतिपादयेदिति पक्षे। किञ्च प्रपञ्चभ्रमस्य बाध्यत्वे किञ्चित् सत्यमधिष्ठानं वाच्यम्। निरधिष्ठानबाधायोगात्। तच्च तव नाभिमतमिति। तथा च भ्रममूलेन शून्यवादेन वेदान्तसमन्वयो न शक्यो विरोद्धुमिति। एवमिति। ननु बुद्धस्येश्वरावतारत्वादहिंसादिधर्मोपदेशेनाप्तत्वप्रतीतेश्च तन्मतं भ्रममूलमिति तदुक्तं न शक्यं वक्तु
हरिबहिर्मुखाः स्वतः प्रबलास्ते चेत् वेदोक्तयज्ञाद्यनुतिष्ठयुस्तदातिबलिष्ठाः सन्तो दैत्यवद्वैदिकान् हरिभक्तान् बाधेरन्निति तद्वञ्चनार्था तस्य वेदावज्ञादिप्रचुरा प्रवृत्तिः। दयाप्रकाशस्तु स्वोक्तेऽन्यप्रवेशार्थः। न चानाप्तत्वदोषः स्वभक्तपरित्राणपर्यवसानकस्य तद्वञ्चनस्य गुणत्वादिति न किञ्चिदवद्यम्। लोकायतिकेति। मोक्षधर्मे जनकं प्रति पञ्चशिखेन लोकायतिकमतमनुद्य निराकृतम्। तत्र तदनुवादः—रेतोधातुर्वटकणिकाघृत-पाकाधिवासनम्। जातिस्मृतिरयस्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणमिति। अस्यार्थः। अनुमानस्य प्रामाण्ये तत एव देहादनन्यात्मसिद्धिरित्याह रेत इति। यथा वटकणायां वटपत्रपुष्पफलादिकमन्तर्हितमेवं रेतोधातौ मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तशरीराकारादिकमन्तर्हितं सदाविर्भवेत्। यथा तृणोदकादेकस्मादेव धेन्वोपयुक्तात् क्षीरघृते पृथक्स्वभावे स्याताम् यथा वा बहुद्रव्यपाकाद्वित्रिरात्रमधिवासितात् मदशक्तिरेवं पृथिव्यादिभूतचतुष्टयात् तत्रान्तर्भूतं चैतन्यमुपजायते। यथा काष्ठद्वयसंयोगात् तत्प्रकाशकस्याग्नेर्जातिर्जन्म तथा भूतसप्ततात् तत्प्रकाशकस्य चैतन्यस्य यथा जडयोरप्यात्ममनसोर्योगादजडं

स्मृत्यादिरूपं ज्ञानं न्यायनये तथैतद्द्रष्टव्यम्। यथायस्कान्तो लोहं चालयति तथा भूतसप्ततादुत्पन्नं ज्ञानं तम्। यथा सूर्यकान्तः सूर्यरश्मियोगादेवाग्निं जनयति तथा पार्थिवांशो जातिभेदादेव कार्यवैचित्रीम्। यथा वह्नेरम्बुशोषकत्वमेवं भूतसप्ततस्यैव भोक्तृत्वमिति। अथ तन्निराकरणम्—*'प्रेतीभूतेऽत्ययश्चैव देवताद्युपषाचनम्। मृते कर्मनिवृत्तिश्च प्रमाणमिति निश्चय'* इति। अस्यार्थः। देहे प्रेतीभूते सति अत्ययश्चैतन्याभावो देहादन्योऽस्त्यात्मा इत्यत्र प्रमाणम्। देहश्चेदात्मा तर्हि देहे मृतेऽपि तत्र चैतन्यमुपलभ्येत। न चैवमस्ति अतो न देहधर्मश्चैतन्यमित्यर्थः। प्रत्यभूतात्यय इति क्वचित् पाठः। तत्र प्रत्यभूतं नाश इत्यर्थः। यस्मिन् सति देहो न नश्यति यस्मिन्नसति नश्यति स देहादन्य आत्मेत्यर्थः। शीतज्वरादिविनिवृत्तये मन्त्रप्रतिपाद्या देवता लोकायतिकैरुपयाच्यते सा चेत् भूतमयी स्यात् तदा घटादिवत् दृश्यते। न च लोकान्तरसञ्चारक्षमः सूक्ष्मदेहोऽस्त्यस्वीकारात्। आदिशब्दात् भूतावेशो ग्राह्यः। यस्मिन् देहे भूतावेशस्तद्देहपीडया मुख्यो देहपतिर्न पीड्यते अपि तु तत्राविष्टो भूत एव पीड्यते तदानींतस्यैव देहाभिमानत्वात्। तस्मिन् निर्गते तु मुख्यो देहपतिः पीड्यते अतो न देह आत्मा। मृते कर्मनिवृत्तिः कृतनाशश्च-शब्दादकृताभ्यागमश्चेति। ये हि रेतोधात्वादयो दृष्टान्तास्ते जडात् जडोत्पत्तावेव न तु जडात् चैतन्योत्पत्तावतो विषमास्ते। मुत्त्यादेर्ज्ञानस्योत्पत्तौ भूम्यादिचतुष्टयादाकाशस्योत्पत्तिः स्यात्। यच्च जडाभ्यामात्ममनोभ्यां चैतन्यमुत्पद्यते इति तार्किकमतेनाप्युक्तं तत्र तन्मते विभुनात्मना मनसो नित्यं योगात् नित्यं ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्। न चैवमस्ति। अतो यत्किञ्चिदेतत्। आदिशब्दादिन्द्रियात्मवादिप्रभृतयः। अतितुच्छत्वात् दुर्बलत्वात् परीक्षायां सिकताकूपवद्विदीर्यमानणत्वादिति यावत्। एतेनेति। क्षणिकत्ववादी बौद्धः। दृष्टिसृष्टिवादी मायी। तद्वादयोः साम्यात् तयोः साम्यम्। दृष्टिसृष्टिवादे पदार्था वस्तुतः क्षणिकाः। यदैव दृष्टिस्तदैव सृष्टिः। दृष्ट्यभाव सृष्ट्यभाव इति निरूप्यते। शून्यवादी बौद्धः। विवर्त्तवादी मायी। तद्वादयोः साम्यात् तयोः साम्यम्। तच्च संवृत्तिमाययोर्व्यावहारिकसांवृत्तसत्त्वयोश्चाभेदादवगन्तव्यम्। एतच्च भाष्यपीठके विस्पष्टं द्रष्टव्यम्॥ ३२॥

सूक्ष्मा-सार— *'सर्वथानुपपत्तेश्च'* क्योंकि यह बौद्ध-मत समस्त प्रकारसे अयौक्तिक है, किस प्रकारसे? वही कह रहे हैं— *'आद्येऽनिष्टापत्तिरिति'* में 'आद्ये' अर्थात् पहले शून्यभावस्वरूप प्रतिपादन करोगे, इस प्रथमपक्षमें दोष है यह है कि शून्यको भाव स्वीकार न करनेमें तुम्हारी अनभिप्रेत वस्तुकी आपत्ति है अर्थात् अभिप्रेत वस्तुमें अनिष्टापत्ति है, द्वितीय पक्ष अर्थात् शून्यके अभावका प्रतिपादन करोगे तो इस मतमें प्रतिपादककी और प्रतिपादन साधनकी सत्ताके कारण सर्वशून्यतावादका भङ्ग हुआ। तृतीय पक्षमें अर्थात् शून्यभावाभाव प्रतिपादन करोगे तो इस मतमें

भावाभावका परस्पर विरोध और अनभिप्रेतताका दोष होगा। सूत्रस्थ 'च' कार द्वारा और एक दोषका दिग्दर्शन कर रहे हैं—*'किञ्चेति'* अर्थात् और एक बात है—प्रपञ्च भ्रमको शून्यवादमें बाधा कहनेसे उस प्रपञ्चके भ्रम इस अधिष्ठानको सत्स्वरूप कहना होता है, क्योंकि निराधिष्ठान (अधिष्ठानके बिना) भ्रम होता नहीं किन्तु सत्स्वरूप वह अधिष्ठान तुम शून्यवादियोंका अनभिप्रेत है। इसके फलस्वरूप भ्रममूलक शून्यवाद द्वारा वेदान्त समन्वयका विरोध नहीं किया जा सकता। *'मिथो विरुद्धत्रिमती निरूपणादित्यादि'* 'परस्पर विराधी तीनों मतोंके निरूपणसे' आक्षेप यह है कि—बुद्ध ईश्वरके अवतार स्वरूप हैं और वे अहिंसादि धर्मका उपदेश करनेसे आप्तपुरुष रूपमें प्रतीत होते हैं, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उनका मत भ्रममूलक है। यदि यह कहते हो तो हमारा कहना है कि भगवान् बुद्धने भ्रमवश ऐसा नहीं कहा, दूसरोंकी वञ्चना करनेके लिए उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया। उनका अभिप्राय यह है कि श्रीहरिभक्तिसे विमुख स्वतः प्रबल व्यक्ति यदि पुनः वेदोक्त यज्ञादिका अनुष्ठान करके शक्ति अर्जन करते हैं तो वे अति प्रबल होकर अर्थात् अति बलिष्ठ होकर दैत्योंके समान वैदिक हरिभक्तोंको उत्पीड़ित कर सकते हैं, इसी विचारसे उनकी वञ्चना करनेके लिए उनकी वेदावज्ञादि प्रधान चेष्टाएँ हैं, किन्तु उनका अहिंसादि द्वारा दया प्रकाश उन लोगोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये है। इसीसे वे अश्रद्धेय-वचनत्व दोषसे दूषित नहीं हैं क्योंकि इन प्रबल हरि-भक्ति-विमुखोंकी वञ्चनाका फल अपने भक्तोंके परित्राणमें पर्यवसित हुआ है। अतएव उनके सन्दर्भमें कु *'लोकायतिकेति'* का अभिप्राय है—महाभारतके शान्तिपर्वके मोक्षधर्माध्यायमें पञ्चशिखाचार्यने राजा जनकके प्रति लोकायतिक (नास्तिक) मत उठाकर उसका खण्डन किया है। प्रथम नास्तिकवाद जो महाभारतमें अनुदित हुआ है, वह इस प्रकार है—*'रेतोधातुर्वटकणिका घृतपाकाधिवासनम्। जाति स्मृतिरयस्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणम्॥'*—इसका अर्थ है—अनुमान प्रमाणका प्रामाण्य स्वीकार करनेपर उसके आधारपर देहसे अभिन्न आत्माकी सिद्धि होती है। इसी बातको 'रेतः' इस पद द्वारा कह रहे हैं। अनुमान इस प्रकार है—*'पौरुष रेतोऽन्तर्हितं शरीरमात्मा शरीरत्वात्*

वटकणिकान्तर्हित वृक्षवत्।' इसीका विश्लेषण कर रहे हैं—जिस प्रकार एक वट-बीजके कणमें उसका पत्र-पुष्प-फलात्मक वृक्ष अन्तर्हित रहता है, इसी प्रकार शुक्र-धातुमें मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और शरीरादि आकारमें अन्तर्हित रहते हैं, वही चैतन्यरूपमें (आत्मरूपमें) प्रकाश पाते हैं अथवा जिस प्रकार धेनु द्वारा भुक्त तृण, जलादिसे दुग्ध एवं घीकी उत्पत्ति होती है और उनका पृथक्-पृथक् स्वभाव सम्पन्न होता है अथवा जिस प्रकार बहुत प्रकारके द्रव्योंका पाक करके, उन्हें द्रव्य विशेषके संयोगके साथ सड़ाकर दो-तीन रातों तक रख देनेसे मद्यकी उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों भूतोंसे उनमें स्थित चैतन्य प्रकाश पाता है। जैसे दो अरणिकाष्ठके घर्षणसे उनके प्रकाशक अग्निकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पञ्चभूत समष्टिसे उसके प्रकाशक चैतन्यका उदय होता है। नैयायिकोंके मतमें आत्मा और मनके जड़ रहनेपर भी उनके संयोगसे स्मृति इत्यादि अजड़ ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार जड़ शुक्र-शोणितके मिलनसे चैतन्यमय शरीर उत्पन्न होता है। जिस प्रकार सूर्यकान्तमणि सूर्य-किरणका सम्पर्क प्राप्त करके अग्नि उत्पन्न करती है, उसी प्रकार शरीरमें स्थित पार्थिव भाग जाति भेदसे (परिणाम अनुसार) विचित्र कार्य उत्पन्न करता है—यही शरीरात्मवादियोंकी युक्ति और उक्ति है। इसमें दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार अग्निका धर्म जलशोषकत्व है, उसी प्रकार भूत समष्टिका धर्म भोक्तृत्व है; इसलिए इस मतका निराकरण हुआ है। *'प्रेतीभूतेऽत्यश्चैव देवताद्युपयाचनम् मृते कर्मनिवृतश्च प्रमाणमिते निश्चयः।'* महाभारतीय इन वचनोंका अर्थ है, यथा—देहसे प्राणोंका वियोग होनेपर चैतन्यका अभाव होता है, अतएव देहसे आत्मा भिन्न है—इस विषयमें यही प्रमाण है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि देह आत्मा होती, तो देहसे प्राणोंका वियोग होनेपर देहमें चैतन्यकी उपलब्धि होती किन्तु ऐसा तो होता नहीं। अतएव चैतन्य देहका धर्म नहीं है। किसी-किसी ग्रन्थमें *'प्रेतीभूतेऽत्यश्चैव'* स्थलपर *'प्रेत्यभूतात्यश्चैव'* इस प्रकार भी पाठ है। इसमें 'प्रेताभूतात्ययः' का अर्थ है नाश। तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थके शरीरमें रहनेसे देहका

विनाश नहीं होता। वह पदार्थ ही आत्मा है, यह देहसे भिन्न है। शीत-जरादि क्लेशकी निवृत्तिके लिए नास्तिकगण जिस मन्त्र-प्रतिपाद्य देवताकी प्रार्थना करते हैं, वह देवता यदि भूत-सप्तत-स्वरूप होता तो घटादिके समान जड़ ही दिखायी देता। और एक बात है, अन्य लोकमें (परलोकमें) सञ्चरण-समर्थ सूक्ष्मदेह भी नहीं है क्योंकि तुम्हारे मतमें यह अस्वीकृत है। *'देवताद्युपयाचनम्'* पदके अन्तर्गत 'आदि' पदसे और एक देहान्य-आत्मवादमें प्रमाण दिखा रहे है। इस 'आदि' पदसे भूतावेश ग्राह्य है। जिस देहमें भूतावेश होता है, उस देहपीड़ा द्वारा देहपति मुख्य आत्मा पीड़ित नहीं होती किन्तु उसमें आविष्ट भूत ही पीड़ित होता है, अतएव देह आत्मा नहीं है। और *'मृते कर्मनिवृत्तिश्च'* भी एक प्रमाण है। यदि देह आत्मा होती तो मृत्युके बाद उस देह-कृत कर्मकी भी निवृत्ति होती किन्तु ऐसा होता नहीं, यदि ऐसा होता तो जीवके विभिन्न जन्म और पृथक्-पृथक् कर्मभोग नहीं होते *'न कर्मनिवृत्तिश्च'* में 'च' शब्द द्वारा *'अकृताभ्यागम'* को जानना चाहिये अर्थात् जो किया ही नहीं गया है, ऐसे कर्मके फलकी उत्पत्तिको भी स्वीकार करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त जो *'रेतोधातु'* इत्यादि दृष्टान्त प्रदर्शित हुए हैं, उनमें भी विषम दृष्टान्त है क्योंकि जड़से जड़की उत्पत्तिके विषयमें ये सभी दृष्टान्त सङ्गत होते हैं, जड़से चैतन्यकी उत्पत्तिके विषयमें इनकी सङ्गति नहीं है। और शरीरादिसे यदि ज्ञानकी उत्पत्ति स्वीकार करते हो, तो भूमि इत्यादि चारों भूतोंसे आकाशकी उत्पत्ति हो। जड़, मन और आत्मासे चैतन्यकी (स्मृतिरूप ज्ञानचैतन्यकी) उत्पत्ति होती है—यह जो तार्किक मतमें कहा गया है, इसमें आपत्ति यह है कि उनके मतमें विभु आत्माके साथ मनका नित्य योग रहनेसे उससे सर्वदा ज्ञानकी उत्पत्ति हो, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतएव यह मत भी असार है। 'लोकायतिकादि मतानि' भाष्यमें उक्त इस आदि पदके द्वारा इन्द्रियात्मवादी इत्यादि मतवादियोंको ग्रहण किया जाना चाहिये। इनका निराकरण न किये जानेका कारण है—इनका अतितुच्छत्व, दुर्बलत्व अर्थात् सिकता (रेतीले) कूपादिके समान परीक्षामें विदीर्यमाणत्व अर्थात् जो परीक्षामें चकनाचूर हो जाये।

'एतेन बौद्धनिरासेन' इति बौद्ध अर्थमें क्षणिकत्ववादी। 'दृष्टि-सृष्टि' वादी-मायी, उनके (बौद्धवादी और दृष्टि-सृष्टिवादी) उन दोनोंके वादके साम्यके कारण ये दोनों वादी समान हैं। दृष्टि-सृष्टिवादमें भी पदार्थ वस्तुतः क्षणिक हैं क्योंकि इस विषयमें जब दृष्टि है, तभी सृष्टि है—दृष्टिके अभावमें सृष्टिका अभाव है, यही उनके मतमें निरूपित है। शून्यवादी बौद्ध हैं और विवर्त्तवादी मायी हैं; इन दोनोंके मत परिणामतः समान हैं, इसलिए ये मतवादी दोनों जन ही समान हैं क्योंकि संवृत्ति (अधिष्ठानकी सत्ता) और मायावादमें व्यवहारिक सांवृत्त सत्ताका अभेद है अर्थात् इस ऐक्यके कारण दोनोंका साम्य जानना होगा। इन सब बातोंको भाष्यपीठमें सुस्पष्ट किया गया है, वहीं देखना चाहिये॥ ३२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—योगाचार मत निरस्त होनेपर सर्वशून्यवादीका मत उत्थापित हुआ है। इस मतका रहस्य यह है कि शुन्य तत्त्व एवं शून्यताका ज्ञान ही मोक्ष है। इस स्थलपर संशय यह है कि शून्यवादीका यह तत्त्व युक्तियुक्त है कि नहीं? सूत्रकार-प्रस्तुत सूत्रमें इसीका खण्डन करते हुए कहते हैं कि—यह मत सभी प्रकारसे अयौक्तिक है।

इस स्थलपर यह प्रश्न उठता है कि शून्यवादीका यह शून्य पदार्थ क्या भाव पदार्थ है अथवा अभाव पदार्थ? अथवा भावाभाव-उभयात्मक पदार्थ? भाष्यकार इन तीनोंकी ही अयौक्तिकता दिखाते हैं—यह उनके भाष्य एवं टीकामें देखना चाहिये।

बुद्धदेवने युक्तिहीन एवं परस्पर विरोधी तीनों मतोंका प्रचार करके जगत्को प्रतारणाकी है। चार्वाकादि नास्तिकोंके मतवादोंको सूत्रकारने अत्यन्त असार जानकर प्रत्याख्यान पूर्वक निराकरण करनेके लिए उल्लेख तक नहीं किया। इस बौद्ध-मतके निराकरणके द्वारा प्रच्छन्न बौद्धमायावादियोंका मत भी निरस्त हुआ है। मायावादियोंने भी बौद्ध-मतका अनुसरण करते हुए शून्यवादके आश्रयमें विवर्त्तवादका स्थापन किया है। अतः मायावादियोंको बौद्ध तुल्य मानकर उनका पृथक् रूपसे निराकरण करनेका प्रयोजन नहीं है। *'किं बहुना, सर्वथानुपपत्तेः'* इस सूत्रसे यही तात्पर्य है कि शब्दतः और अर्थतः

अर्थात् बौद्धोंके द्वारा प्रयुक्त शब्दों और अर्थोंपर जैसे-जैसे विचार करते जाते हैं, वैसे-वैसे वे बालूमें खोदे गये कूपके समान विदीर्ण होते जाते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा सत् और असत् वस्तुओंका धरातल प्रस्तुत करना चाहते हैं, पर इसीके परिप्रेक्ष्यमें स्वयं ही इन प्रमाणोंकी अवहेलना करके खुल्लमखुल्ला धज्जियाँ भी उड़ाते हैं। आत्माका निषेध भी करते हैं और आलय विज्ञानके नामसे उसीको कूटस्थात्मा (अक्षर) भी मान लेते हैं। क्षणिकत्वकी सुदृढ़ प्रतिज्ञाके विरुद्ध धर्मता (कार्यता) और धर्मस्थितता (कारणता) की स्थिरता (नित्यता) का निरूपण करके अपने ही अस्त्रसे अपने सिद्धान्तका खण्डन करते हैं। इन महासाहसिक बौद्धोंका दम्भ तो देखिये—एक ओर आत्माकी सत्ता न मानकर फलका भोगमात्र बतलाते हैं, तो दूसरी ओर स्वर्गकी प्राप्तिके लिए चैत्य (पवित्र मन्दिर और मूर्त्ति) की अर्चना भी करते हैं। हे क्षणिकवादियो! युगों-युगों तक स्थित रहनेवाले विहारोंका (बौद्धमठोंका) निर्माण किसलिए? हे शून्यवादियो! शून्यका उद्‌घोष कर रहे हो और गुरुको धन देनेका आदेश भी दे रहे हो! तुम्हारा सिद्धान्त क्या और व्यवहार क्या? यह तो ढोंगकी पराकाष्ठा ही हुई न।

कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि भगवदवतार बुद्धदेवने जगत्-वञ्चना की क्यों? इसके उत्तरमें कहते हैं कि हरि-विमुख जन यज्ञादि अनुष्ठानमें अतिशय प्रबल होकर दैत्योंके समान साधुओंको पीड़ित करते हैं, इसलिए वेदको अस्वीकार करना एक छलनामात्र है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभुके वचन हैं—

वेद न मानिया बौद्ध हय त नास्तिक।
वेदाश्रये नास्तिक्यवाद बौद्धके अधिक॥

(चै॰च॰म॰ ६/१६८)

श्रीलभक्तिविनोदठाकु

शाक्यसिंह वेद-विधिको नहीं मानते थे, इसलिए वैदिक आर्यगण उनकी नास्तिक कहकर निन्दा करते हैं, किन्तु मायावादियोंने वेदका आश्रय करके जिस नास्तिक्यवादका प्रकाश किया है, वह बौद्धवादकी अपेक्षा अधिक निन्दनीय है, क्योंकि स्पष्ट शत्रुकी अपेक्षा मित्र रूपमें आया

प्रच्छन्न शत्रु अतिशय भयङ्कर होता है। मायावादियोंके सम्बन्धमें भी श्रीमहाप्रभुने कहा है—

जीवेर निस्तार लागि सूत्र कैल व्यास।
मायावादिभाष्य शुनिले हय सर्वनाश॥

'परिणामवाद' व्यास-सूत्रेर सम्मत।
अचिन्त्यशक्ति ईश्वर जगद्‌रूपे परिणत॥

मणि यैछे अविकृते प्रसवे हेमभार।
जगद्रूप हय ईश्वर, तबु अविकार॥

व्यास भ्रान्त बलि सेइ सूत्रे दोष दिया।
'विवर्त्तवाद' स्थापियाछे कल्पना करिया॥

(चै॰च॰म॰ ६/१६९-१७२)

श्रीमद्व्यासजीके सूत्रमें शुद्धभक्तिवाद है। मायावादीने इस सूत्रका जो भाष्य किया है, उसमें परब्रह्मके चिन्मय विग्रहको अस्वीकृत माना है और जीवकी ब्रह्मसे पृथक् सत्ताको भी नहीं माना है, इसलिए यह वाद शुद्धभक्ति तत्त्वका अत्यन्त विरोधी है। अतः मायावादीका भाष्य सुनसेसे जीवका सर्वनाश हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मके साथ अभेद वाञ्छारूप दुराशाप्रदत्त अभिमानसे शुद्धभक्तिका नाश होता है और वास्तवमें ईश्वरका मानना नहीं होता है। शक्तिपरिणामवाद ही श्रीमद्व्यास विरचित *'जन्माद्यस्य यतः'* सूत्रसे सम्मत है। असंख्य, अनन्त और नित्यशक्तियाँ जिनसे उत्पन्न, स्थिर और अव्यक्त हैं और ये समस्त शक्तियाँ जिनके अधीन हैं, ऐसी इन शक्तियोंके स्वामी ही ईश्वर हैं। अनन्त रूपमें विराजमान नित्य-अनित्य शक्ति, आत्म-अनात्म शक्ति इत्यादिकी ईश्वरमें युगपत् अवस्थिति किस प्रकारसे सम्भव है—जीव वर्त्तमान जड़बद्ध-अवस्था कालमें मायाशक्तिके अधीन रहते हुए इसे समझ नहीं सकता, इसलिए मानवज्ञानमें इस प्रकारसे परस्पर-विरुद्ध गुण-समाश्रय अचिन्त्य ईश्वर नित्य अवस्थित हैं, मानव जड़ज्ञान-अहङ्कारसे अपने क्षुद्र अज्ञानरूप सामर्थ्यको मिथ्या कल्पनाओंके आधारपर विपुल रूपमें मान लेते हैं, जो शक्ति-राहित्यरूप एक अवस्थाकी 'ब्रह्म' रूपमें कल्पना करते हैं, वह अवस्था चिन्त्य शक्तिका प्रकार भेदमात्र है। इसके द्वारा जगत्‌को ईश्वरका 'परिणाम'

रूपमें जाननेसे विवर्त्तवाद अवश्य ही ग्रहणीय होता है। किन्तु ईश्वरत्वमें जो अचिन्त्य नित्यशक्तिमत्ता निहित है, यह जाननेपर ईश्वरकी बहिरङ्गा मायाशक्ति-परिणत खण्डज्ञानगम्य राज्यमें जो प्रकाशित अथवा अवतीर्ण हो सकता है, उतना ही जाना जाता है। किसी मणिमें इस प्रकारकी शक्ति निहित होती है कि मणि स्वर्णकी सृष्टि करके भी अपने मणित्वको अन्य प्रकारसे परिणत अथवा परिवर्त्तित नहीं करती, स्वर्ण-सृष्टिसे पहले मणि जैसी थी, स्वर्ण-प्रसवके बाद भी वैसी ही रहती है। जिस प्रकार स्वाभाविक अन्तर्निहित शक्ति प्रभावसे मणि अपने विकारको प्राप्त न करके और मणिसे भिन्न दूसरी वस्तु (स्वर्ण) को उत्पन्न करके भी अपने मणित्वमें ही अवस्थित रह सकती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द ईश्वर अपनी मायाशक्तिका परिचालन करके, उस शक्तिको विकारयोग्य गुणमय जगत्-रूपमें परिणत कर सकते हैं। ईश्वर अपनी अन्यतम शक्तिको विकारमय जगत्-रूपमें परिणत करके भी अपने स्वरूपको विकाररहित रख सकते हैं—यह शक्ति नित्य है और उनमें नित्य वर्त्तमान रहती है। श्रीव्यासजीने *'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'* के बादमें सबसे पहले *'जन्माद्यस्य यतः'* सूत्रका वर्णन इसी उद्देश्यसे किया है। महामहिम आचार्यवर श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती पाद अपने अनुभाष्यमें आगे लिखते हैं कि शङ्कराचार्यके द्वारा परिणामवाद ग्रहण किये जानेपर बादमें *'जन्माद्यस्य यतः'* सूत्रको दूषित सूत्र और उसके लेखक श्रीव्यासदेवको भ्रान्त कहे जानेसे वे काल्पनिक-लक्षणावृत्ति वादियोंके आक्रमणके पात्र हो सकते हैं, अतः उसके प्रतिषेधके लिए तथा अपने गुरु व्यासदेव और जन्माद्यस्य सूत्रको यथाक्रमसे परिणामवादी और परिणामवाद रूपमें ग्रहण न कर सकें, इसी उद्देश्यसे काल्पनिक युक्तियोंका विस्तार करते हुए वेदके अंशविशेषमें लिखित अन्य-तात्पर्य ज्ञापक 'विवर्त्तवाद' की उन्होंने सत्य रूपमें स्थापना की है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

येन चेतयते विश्वं चेतयते न यम्।
यो जागर्त्ति शयानेस्मिन्नायं तं वेद वेद सः॥

(श्रीमद्भा॰ ८/१/९)

अर्थात् जिस चिदात्मा द्वारा विश्व चैतन्ययुक्त होता है, किन्तु विश्व जिन्हें चेतन करनेमें समर्थ नहीं है, विश्वके निन्द्रित होनेपर भी जो साक्षी स्वरूपमें वर्त्तमान रहते हैं, जीव उन्हें नहीं जानता, किन्तु वे सब कु

और भी,

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कु चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥

(श्रीमद्भा॰ ६/४/३१)

जिनकी मायाविद्या आदि शक्तियाँ जड़ीय द्वैतवाद, अद्वैतवाद एवं स्वभाववाद आदिके आश्रयमें वादी-प्रतिवादी पण्डितोंके विवाद एवं संवादकी (मतभेद एवं मतैक्य) एकमात्र कारण हैं तथा जिनकी शक्तिके प्रभावसे स्वयंको पण्डित माननेवाले व्यक्तियोंमें आत्ममोह उत्पन्न होता है, उन अनन्त सच्चिदानन्द गुणशाली सर्वव्यापी श्रीभगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ॥ ३२॥

अवतरणिका भाष्य—अथ जैना दुष्यन्ते। ते मन्यन्ते। पदार्थो द्विविधः। जीवोऽजीवश्चेति। तत्र जीवश्चेतनः कायपरिमाणः सावयवः। अजीवः पञ्चविधः धर्माधर्मपुद्गलकालाकाशभेदात्। गतिहेतुर्धर्मः। स्थितिहेतुरधर्मश्च व्यापकः। वर्णगन्ध-रसस्पर्शवान् पुद्गलः। स च द्विविधः परमाणुस्तत्सप्ततश्च वाय्वग्निजलपृथिवी-तनुभुवनादिकः सप्ततः। पृथिव्यादिहेतवः परमाणवो न चतुर्विधाः किन्त्वेकस्वभावाः। स्वभावपरिणामात्तु पृथिव्यादिरूपो विशेषः। कालस्त्वतीतादिव्यवहारहेतुरणुश्च। आकाशस्त्वेकोऽनन्तप्रदेशश्चेति। तदेवं षडमी पदार्था द्रव्यरूपास्तदात्मकमिदं जगत्। तेषु चाणुभिन्नानि पञ्च द्रव्याण्यस्तिकाया इत्याख्यायन्ते। जीवास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायः पुद्गलास्तिकायः आकाशास्तिकाय इति। अस्तिकाय-शब्दोऽनेकदेशवर्त्तिद्रव्यवाची। जीवस्य मोक्षोपयोगितया बोध्यान् सप्त पदार्थान् वर्णयन्ति। जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा इति। तेषु जीवः प्रागुक्तो ज्ञानादिगुणकः। अजीवस्तद्भोग्यजातम्। आस्रवत्यनेन जीवो विषयेस्वित्यास्रव इन्द्रियसप्ततः। संवृणोति विवेकादिकमिति संवरोऽविवेकादिः। निःशेषेण जीर्यत्यनेन कामक्रोधादिरिति निर्जरः केशोल्लुञ्चनतप्तशिलारोहणादिः। कर्माष्टकेनापादितो जन्ममरणप्रवाहो बन्धः। तदष्टकं चैवम्। चत्वारि घातिककर्माणि पापविशेषरूपाणि यैर्ज्ञानदर्शनवीर्यसुखानि स्वाभाविकान्यपि

जीवस्य प्रतिहन्यन्ते। चत्वारि त्वघातिककर्माणि पुण्यविशेषरूपाणि यैर्देहसंस्थानतदभिमान-तत्कृतसुखदुःखापेक्षोपेक्षासिद्धिः। स्वशास्त्रोक्तसाधनैस्तदष्टकाद्विमुक्तस्याविर्भूत-स्वाभाविकात्मरूपस्य जीवस्य सदोर्द्धगतिरलोकाकाशस्थितिर्वा मुक्तिः। सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्र्याख्यं रत्नत्रयं तत्साधनम्। तानेतान् पदार्थान् सप्तभङ्गिना न्यायेनावस्थापयन्ति। स यथा—स्यादस्ति १, स्यान्नास्ति २, स्यादवक्तव्यः ३, स्यादस्ति च नास्ति च ४, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च ५, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च ६, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति ७, स्यादिति कथञ्चिदित्यर्थेऽव्ययम्। सप्तानां नियमानां भङ्गा विद्यन्ते यस्मिन् प्रतिपाद्यतयेति सप्तभङ्गी। सत्त्वम् १, असत्त्वं २, सदसत्त्वं ३, सदसद्विलक्षणत्वं ४, सत्त्वे सति तद्विलक्षणत्वम् ५, असत्त्वे सति तद्विलक्षणत्वं ६, सदसत्त्वे सति तद्विलक्षणत्वम् ७, इतिवादिभेदेन पदार्थविषयाः सप्त नियमा भवन्ति। तद्भङ्गार्थमयं न्यायः। स च सर्वत्रावश्यकः सर्वस्य पदार्थस्य सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिभिर्धर्मैरनैकान्तिकत्वात्। तथाहि यद्येकान्ततो वस्त्वस्त्येव तर्हि सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मनास्त्येवेति न तदीप्साजिहासाभ्यां कथञ्चित् कदाचित् कु

हेयस्यहानासम्भवाच्च। अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चित् क्वचित् कदाचित् कस्यचित् केनचिद्रूपेण सत्त्वे हानोपादानसम्भवात् प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्चोपपद्येत्। द्रव्यपर्यायात्मकं किल सर्वं वस्तु। तत्र द्रव्यात्मना सत्त्वादिकमुपपद्येत। पर्यायात्मना त्वसत्त्वादिकम्। पर्यायास्तु द्रव्यावस्थाविशेषाः। तेषां भावाभावात्मकतया सत्त्वासत्त्वादेरुत्पत्तिरिति। इह सन्दिह्यते। आर्हतोक्ता जीवादयः पदार्थास्तथा युज्यन्ते न वेति। सप्तभङ्गिनो न्यायस्य साधकस्य सत्त्वात् युज्यन्ते इति प्राप्ते परिहरति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब जैन-मतावलम्बियोंके दोषोंको प्रकट करते हैं—उनके मतमें पदार्थ दो प्रकारके हैं—जीव एवं अजीव। पुनः इनमें जीव चेतन, शरीर परिमाण विशिष्ट और अवयवयुक्त (सावयव) है और अजीव पाँच प्रकारके हैं, यथा—धर्म, अधर्म, पुद्गल, काल एवं आकाश। इनमें सद्गतिका हेतु धर्म है और स्थितिका (संसारका) हेतु अधर्म है। यह अधर्म व्यापक है। वर्ण (रूप), गन्ध, रस, और स्पर्श—विशिष्ट पदार्थका नाम पुद्गल है। यह पुद्गल दो प्रकारका है—परमाणु और परमाणुपुञ्ज अथवा परमाणु-सप्तत वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, शरीर और भुवनादि समस्त ही पुञ्जात्मक (संघातात्मक) पुद्गल है। पृथ्वी इत्यादिके उपादान कारणभूत परमाणुसमुह पार्थिवादि भेदसे चार प्रकारके नहीं हैं, उनका स्वभाव एक ही है। तब पृथ्वी इत्यादि रूपमें जो विशेषता है, अर्थात् पृथ्वी प्रभृति जो विशेष वस्तु

है वह स्वभावके परिणामके कारण है। अतीत, भविष्यत्, वर्त्तमान, दिन, रात्रि इत्यादि व्यवहारोंका हेतु जो काल है, वह अणु परिमाण है। आकाश एक है किन्तु अनन्त-प्रदेश व्यापी है। इस प्रकार ये छह पदार्थ द्रव्यस्वरूप हैं और इनसे ही यह निखिल जगत् (द्रव्यात्मक) है। इनमें अणुभिन्न अन्य पाँच प्रकारके द्रव्योंको अस्तिकाय नामसे अभिहित किया है यथा—जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और आकाशास्तिकाय। अस्तिकाय शब्दका अर्थ है—अनेक देशों (स्थानों) में व्याप्त रहनेवाला द्रव्य। अब जीवके मोक्षोपयोगी रूपमें जिन सात पदार्थोंको जानना चाहिये, उनका वर्णन कर रहे हैं। यथा—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष। इनमें जीवका स्वरूप पहले ही कहा गया है—ज्ञानादि जीवका गुण है। उस जीवका भोग्यवस्तु समुदाय अजीव पदार्थ है। शब्दादि विषयमें जिनके द्वारा जीव आसक्त होता है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार इन्द्रियोंका समूह ही आस्रव पद वाच्य हैं। विवेकादिको जो संवृत अर्थात् रूद्ध अथवा निरोध करती हैं अथवा ढक देती हैं, इस व्युत्पत्तिके आधारपर अविवेकादिका नाम संवर है। जिनके द्वारा काम, क्रोधादि शत्रु निःशेष (सम्पूर्ण) रूपसे जीर्ण हो जाते हैं उसे निर्जर कहा जाता है यथा केशोत्पाटन (बालोंको नोंच-नोंचकर उखाडना) और तप्ताशिलारोहण इत्यादि। आठ कर्मों अर्थात् कर्माष्टक आपदित जन्म, मरण धारा चलती रहती है। इसका नाम बन्ध है। इन आठ कर्मोंमें चार घातिक कर्म हैं, जो पाप विशेष स्वरूप हैं, जिनके द्वारा ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख, जो जीवमें स्वभाव सिद्ध होनेपर भी बाधित (विनष्ट) होते हैं और जो चार पुण्य विशेष स्वरूप अघातिक कर्म हैं, उनके द्वारा देह-संस्थान (गठन), उसमें अभिमान, तज्जनित सुख-दुःख, अपेक्षा और उपेक्षाकी निष्पत्ति (सिद्धि) होती है। जैन-शास्त्र विहित साधनानुष्ठान द्वारा उक्त कर्माष्टकसे विमुक्ति प्राप्त होनेपर स्वाभाविक आत्मस्वरूप प्रकाश होता है। तत्पश्चात् जीवको सर्वदा (उर्ध्व) गति प्राप्त होती है अथवा अलोक आकाशमें स्थिति होती है। इसी स्थितिको मुक्ति कहा जाता है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सच्चारित्र्य नामक त्रिरत्न ही मुक्ति-प्राप्तिके साधन हैं।

जैनगणोंने सप्तभङ्गी न्यायके द्वारा इन समस्त पदार्थोंकी स्थापनाकी है। सप्तभङ्गी न्याय है यथा—(१) स्यात् अस्ति—यदि किसी रूपमें है, तब है—यह विवक्षा होती है, तब प्रथमभङ्ग होता है, (२) स्यान्नास्ति—यदि किसी रूपमें नहीं है, तब नहीं है—यह असत्त्व विवक्षासूचक द्वितीयभङ्ग है, (३) स्यादवक्तव्यः—यदि किसी रूपमें है तो भाषामें प्रकाश्य नहीं है—यह अवक्तव्य नामक तृतीयभङ्ग है, (४) स्यादस्ति च नास्ति च—सत्ता और असत्ता—इन दोनोंकी एकसङ्ग विवक्षा अर्थात् एक समय बोलना अशक्य है, यह समझानेके लिए चतुर्थ भङ्ग है, (५) स्यादस्ति चावक्तव्यश्च—अर्थात् किसी रूपमें है किन्तु वाक्यके अगोचर है अर्थात् अवक्तव्य है—यह पञ्चम् भङ्ग है, (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च—अर्थात् किसी रूपमें नहीं है, तब नहीं है और वाक्यका अविषय है—यह छठा भङ्ग है, (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च—यदि किसी रूपमें है, तब है, यदि किसी रूपमें है, तब नहीं है किन्तु दोनोंमेंसे किसी भी रूपमें वक्तव्य नहीं है—यह सातवाँ भङ्ग है। इन सभी वाक्योंके अन्तर्गत 'स्यात्' शब्दका अर्थ 'कथञ्चित' अर्थात् 'किसी भी प्रकारसे' है—इस अर्थमें यह एक अव्यय है। सप्तभङ्गी शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—ये सात भङ्ग अर्थात् सात नियमोंका भङ्ग जिसमें प्रतिपाद्य रूपमें है, उस अर्थमें सप्तभङ्गके उत्तरमें यह प्रत्यय है। विभिन्न वादियोंके अनुसार (१) वस्तुका सत्त्वए (२) वस्तुका असत्त्व, (३) उस वस्तुका सत्त्व और असत्त्व दोनों, (४) सदसद्विलक्षणत्व अर्थात् सत्त्व भी नहीं है, असत्त्व भी नहीं है—इसका विपरीत भाव, (५) सत्त्व रहनेपर उसका वैपरीत्य, (६) असत्त्व रहनेपर उसका वैपरीत्य, (७) सत्त्व, असत्त्व दोनोंके रहनेपर उनका वैपरीत्य—इस प्रकार पदार्थ विषयक ये सात प्रकारके नियम हैं। उनके भङ्गके कारण ही यह सप्तभङ्गीन्याय है। यह न्याय सभी क्षेत्रोंमें प्रयोज्य है, क्योंकि सभी पदार्थोंमें सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि परस्पर विरुद्ध धर्मों द्वारा व्यभिचार रहेगा ही। किस प्रकारसे? वही बता रहे हैं कि यदि वास्तविक वस्तुकी सत्ता है तो सब समय, समस्त स्थानोंपर समस्त प्रकारसे वही रहेगी। उसे पानेकी इच्छासे किसी

रूपमें किसी समय, किसी स्थानपर कोई प्रवृत्त नहीं होगा अर्थात् चेष्टा नहीं करेगा और किसी वस्तुके परिहारकी इच्छासे किसी रूपमें, किसी समय और किसी भी स्थानपर कोई निवृत्तिके लिये चेष्टा नहीं करेगा क्योंकि जो प्राप्त है, वह और चेष्टा द्वारा प्राप्त होता नहीं और जो स्वतः ही हेय है, उसकी और प्रयासके द्वारा हानि की नहीं जा सकती। अतः हेयकी हानि असम्भव है। और यदि एकान्तभावसे वस्तु असत् है तो किसी रूपमें, किसी समयमें और किसी भी स्थानपर किसी वस्तुकी सत्ता रहे तो उसका परिहार और उपादान (ग्रहण) सम्भव है, इसलिए पुरुषकी प्रवृत्ति (चेष्टा) और निवृत्ति युक्तियुक्त है। जैन-मतमें समस्त वस्तु ही द्रव्य अथवा उसका पर्याय अर्थात् अवस्था विशेष स्वरूप हैं। इनमें वस्तुकी द्रव्य स्वरूपमें सत्ता इत्यादि युक्तियुक्त है किन्तु अवस्था स्वरूपमें असत्ता इत्यादि होगी ही। पर्याय शब्दका अर्थ है—द्रव्यकी अवस्थाविशेष, जिस प्रकार स्वर्ण द्रव्य है और कटक, कु
स्वर्ण द्रव्य रूपमें सत्तावान है किन्तु कटकावस्थामें यह असत् है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना होगा क्योंकि सभी द्रव्योंका ही भाव और अभाव रूपताके कारण सत्त्व और असत्त्वकी यौक्तिकता है। अब इस जैन-मतमें सन्देह है कि आर्हत-मत सिद्ध (जैन-मत सिद्ध) जीव, अजीव इत्यादि पदार्थ यथोक्त रूपसे युक्तिसिद्ध हैं कि नहीं। यहाँ पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब सप्तभङ्गी न्याय उसके साधक रूपमें वर्त्तमान है तब उसे युक्तिसङ्गत ही कहना होगा। पूर्वपक्षीके इस मतका प्रत्याख्यान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेति। बौद्धमतनिरासानन्तरं बौद्धो मुक्तकच्छः जैनस्तु विवस्त्र इति तयोः पौर्वोत्तर्येण दूषणं युक्तमिति धीसन्निधिलक्ष्यया सङ्गत्या प्रवृत्तिः। मा भूत् प्रतारकेण बौद्धसिद्धान्तेन समन्वये विरोधो जैनसिद्धान्तेन तु स तस्मिन्नस्तु। तस्य ऋषभभगवदनुयायिनार्हतोपदिष्टत्वात्। अहिंसादेर्भाद्रपदीयोग्रव्रतस्य च योगेन प्रामाणिकत्वप्रतीतेश्चेति प्राग्वदाक्षेपः। जैनसिद्धान्तोऽत्र विषयः। स प्रमाणमूलो भ्रममूलो वेति वीक्षायां प्रमाणमूलत्वं तस्य वक्तु
इत्यादिना। पदार्थो द्विविध इत्यादिकं जगदित्यन्तं विस्फु
परमाणुपुद्गलकालेतराणि जीवधर्माधर्मसप्ततपुद्गलाकाशानीत्यर्थः। बोध्यानिति। तद्बोधे हि हेयोपादेयता सिध्यतीति भावः। तेष्विति। प्रागुक्तश्चेतनः सावयवः

कायपरिमितश्चेत्येवं पूर्वं कथितः। स्वशास्त्रोक्तेति जैनग्रन्थे इत्यर्थः। सम्यगिति। सम्यक् ज्ञानं सम्यक् दर्शनं सम्यक् चारित्र्यम्। रागद्वेषशून्यतया पदार्थानामवलोकनं सम्यक् दर्शनम्। आत्मानात्मविवेकेन पदार्थानामवगमः सम्यक् ज्ञानं। फलनैरपेक्ष्येण कर्मणामघातिनामनुष्ठानं सम्यक् चारित्र्यमिति रत्नत्रयं मुक्तिसाधनञ्चेति रत्न-वदुपादेयमित्यर्थः। सप्तभङ्गिना न्यायेनेति। न्यायो युक्तिः। केचिदेनं न्यायमेवं व्याचक्षते। वस्तुन सत्त्वविवक्षायां प्रथमो भङ्गः कथञ्चिदस्तीत्यर्थः। असत्त्वविवक्षायां द्वितीयः। क्रमादुभयविवक्षायां तृतीयः। युगपदुभयविवक्षायां सत्त्वासत्त्वयोर्युगप-द्वक्तु
वक्षायां षष्ठः। आद्यद्वितीयचतुर्थानां वाञ्छायां सप्तम इति। एवमेकत्वादिविरुद्धाद्वयमादायैष न्यायो योज्य इति। न्यायनिरस्यानि वादिनां सप्त मतानि दर्शयति सत्त्वमित्यादिना। यदीति। एकान्ततो निर्णीतस्वरूपतयेत्यर्थः। न तु दीपे सति तत्प्राप्तीच्छा-तत्त्यागेच्छाभ्यामित्यर्थः। अनेकान्तपक्षे अनिर्णीतस्वरूपत्वपक्षे। स्फु
तथाच वस्तुमात्रं सत्त्वादिधर्मकमत एकरसे ब्रह्मणि समन्वयो न वा इत्येवं प्राप्ते प्रत्याख्याति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अथ इत्यादिमें अथका अर्थ है—बौद्ध-मतके बाद। बौद्ध-सम्प्रदाय और जैन-सम्प्रदायका प्रभेद सामान्य ही है। बौद्धगण मुक्तकच्छ (बिना लाँगकी धोती पहननेवाले) हैं और जैनगण दिगम्बर (वस्त्रहीन नग्न) हैं। अतएव उनके मतका पूर्वापरी भावसे खण्डन युक्तियुक्त ही है, क्योंकि दोनों मतोंकी बुद्धिसान्निध्यरूप सङ्गति द्वारा प्रवृत्ति हुई है। जैन आपत्ति करते हैं, अच्छा! प्रतारक बौद्ध-सिद्धान्तके साथ ब्रह्म समन्वयमें विरोध न हो किन्तु जैन-सिद्धान्तके साथ तो उस समन्वयमें विरोध होगा, क्योंकि जैन-मत भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रदर्शित मार्गका अनुसरण करनेवाले अर्हत द्वारा उपदिष्ट है अतएव उसके आप्रवचनत्व रूपमें प्रमाण्य है। अहिंसा इत्यादि उनके धर्म और भाद्रमासमें करणीय उनके उग्र तप्तमुद्राग्रहणादिव्रत अनुष्ठेय होनेके कारण उनके मतका प्रमाणिकत्व (अर्थात् वैदिकत्वके कारण प्रामाण्य) सिद्ध ही है। इस प्रकार पूर्वाधिकरणके समान यहाँ भी प्रत्युदाहरण सङ्गति जानना चाहिये। इस अधिकरणके भी पाँच अङ्ग हैं—इनमें जैन-सिद्धान्त—विषय, उसके बाद वह प्रमाण सिद्ध है (अर्थात्) भ्रान्तिमूलक। इस सन्देहमें पूर्वपक्षरूप उनके प्रमाणमूलकत्व प्रतिपादनके लिए उस मतकी प्रक्रिया

'ते मन्यन्ते' इत्यादि वाक्य द्वारा दिखा रहे हैं। पदार्थ दो प्रकारके हैं इत्यादिसे *'तदात्मकामिदम् जगत्'* यहाँ तक भाष्य ग्रन्थ सुस्पष्ट है। अतएव इसका अर्थ अनुल्लेख्य (उल्लेखके योग्य नहीं) है। *'तेषु च अणुभिन्नानि'* इत्यादि वाक्यमें अणुसे भिन्न अर्थात् परमाणु-पुद्गल और कालसे भिन्न जीव, धर्म, अधर्म, इन्द्रिय-शरीर संघातात्मक पुद्गल (स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण रूपसे युक्त) और आकाश इत्यादि हैं। मोक्षोपयोगितया *'बोध्यान् सप्तपदार्थान् इति'*—इनके बोधका फल है—जगत्में कौन हेय (परित्याज्य) है और कौन उपादेय (ग्रहणीय) है, इसका निश्चय किया जाता है—कहनेका यह अभिप्राय है। *'तेषु इति जीवः प्रागुक्तः'*—पूर्ववर्णित अर्थात् जीव, चेतन, अवयवी शरीर परिमाण है। *'स्वशास्त्रोक्तसाधनैरिति'* का अर्थ है—स्वशास्त्रे-स्वशास्त्रमें अर्थात् जैन ग्रन्थमें वर्णित साधनों द्वारा। यथा—सम्यग् ज्ञानेत्यादि—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य—इनमें राग, द्वेष छोड़कर समस्त पदार्थोंको तत्त्व समझते हुए दर्शन करनेका नाम सम्यक् दर्शन है। कौन आत्मा है, कौन अनात्मा है, क्या उनके प्रभेद-बोधसे पदार्थ (तत्त्व) की अवगति होती है—यह सम्यक् ज्ञान शब्द वाच्य है। फलकी कामना न करके अर्थात् निष्काम भावसे अघाती कर्मका अनुष्ठान—यह सम्यक् चारित्र्य शब्दके द्वारा बोध्य है। ये तीन उत्कृष्ट वस्तु (रत्नमय) है और ये ही मुक्तिके साधन हैं। अतएव ये रत्नके समान संग्राह्य हैं—यह तात्पर्य है। *'सप्तभङ्गीन्यायेन'* इत्यादि न्याय अर्थात् युक्ति। कोई-कोई व्याख्याकर्त्ता इस न्यायकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं—वस्तुके सत्त्व—की विवक्षासे प्रथमभङ्ग 'स्यादस्ति' अर्थात् किसी प्रकारसे है, वस्तुके असत्त्वकी विवक्षासे 'स्यान्नास्ति' अर्थात् किसी रूपमें नहीं है, यह द्वितीय भङ्ग है। क्रमानुसार अर्थात् प्रथम और द्वितीय दोनोंकी विवक्षामें अर्थात् पहले वस्तुका कथञ्चित् (किसी भी रूपमें) सत्त्व और बादमें कथञ्चित् असत्त्व—इस प्रकारकी विवक्षामें तृतीय भङ्ग है, जिसे 'स्यादवक्तव्यः' अर्थात् यदि किसी रूपमें है, तब अवक्तव्य है—यह न्याय है, *'स्यादस्ति च नास्ति च'* किसी रूपमें है पुनः किसी प्रकारसे नहीं है—एक साथ वस्तुकी सत्त्वासत्त्व विवक्षा करनेमें अशक्यताके कारण यह चतुर्थ भङ्ग है 'स्यादस्ति',

'स्यादस्ति च नास्ति च' अर्थात् किसी प्रकार है, किसी प्रकार है और नहीं है—इन दोनोंकी यथाक्रमसे विवक्षा रहनेपर पञ्चम भङ्ग है 'स्यान्नास्ति' *'स्यादस्ति च नास्ति च'*—अर्थात् यदि किसी रूपसे नहीं है तब नहीं है अथच अवक्तव्य है—इन दो भङ्गोंकी विवक्षा रहनेसे यह छठा भङ्ग है। 'स्यादस्ति', 'स्यान्नास्ति', 'स्वादस्ति च नास्ति च'—यथा क्रमसे प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ अङ्गकी विवक्षा रहनेके कारण सप्तम भङ्ग है। इस प्रकार एकत्वादि विरुद्ध अद्वयज्ञानको ग्रहण करके उक्त सप्तभङ्ग न्याय योजनीय है। उक्त सप्तभङ्गी न्याय द्वारा निराकरण करने योग्य वादीगणोंका मत *'सत्त्वम् असत्त्वम्, सदसत्त्वम्'* इत्यादि वाक्य द्वारा दिखा रहे हैं। *'तथाहि यद्येकान्ततो'* इत्यादिमें एकान्ततः का अर्थ है निर्णीत स्वरूप होनेके कारण। *'न तदीप्सा-जिहासाभ्याम्'* इत्यादि ग्रन्थका तात्पर्य है—दीप रहनेपर उसकी प्राप्तिकी इच्छा और उसके परित्यागकी इच्छा द्वारा। 'अनेकान्तपक्षे' का अर्थ है अनिश्चित स्वरूप पक्षमें। इनके अतिरिक्त अन्यान्य वाक्योंका अर्थ सुबोध्य है। पूर्वपक्षीका सिद्धान्त यह है कि वस्तुमात्र की ही सत्ता, असत्ता, सदसत्ता इत्यादि धर्म हैं और ब्रह्म एकस्वभाव है, उनमें समन्वय होगा कि नहीं? इस आशङ्काका प्रत्याख्यान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

६—नैकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम्
जैन-मत-निरसन

सूत्र—नैकस्मिन्नसम्भवात्॥ ३३॥

सूत्रार्थ—'न'—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता अर्थात् जैनोक्त पदार्थ सप्तभङ्गी न्यायके द्वारा स्वरूप-प्राप्ति नहीं की जा सकती—किस कारणसे? 'एकस्मिन्' किसी एक धर्मी (वस्तु) में एक साथ एक ही समयमें सत्त्व, असत्त्व इत्यादि विरुद्ध धर्मोंका समावेश नहीं हो सकता, 'असम्भवात्'—असम्भव होनेके कारण॥ ३३॥

सूत्रानुवाद—सप्तभङ्गी न्यायके अनुसार एक ही वस्तुमें वैपरीत्य धर्म—अस्तित्व और नास्तित्व एक ही साथ उसी प्रकार नहीं रह सकते, जैसे कि धूप और छाँव। अतः यह मत असम्भव है॥ ३३॥

गोविन्दभाष्य—नैते पदार्थास्तेन न्यायेनात्मानमुपलब्धुं क्षमाः। कु एकस्मिन्निति। एकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशायोगादेवेत्यथ ः। न ह्येकं वस्त्वेकदा शैत्यौष्ण्यभाग्वीक्ष्यते क्वापि। किञ्च अनेकान्तपक्षे स्वर्गनरकमोक्षाणां मिथः सङ्कीर्णत्वात् स्वर्गाय नरकहानाय मोक्षाय च साधनविधिर्व्यर्थः स्यात्। एवं घटादीनामपि तथात्वादुदकार्थी वह्निना प्रवर्त्तेत गृहार्थी तु वायुना। न च तत्र भेदस्यापि सत्त्वादुदकाद्यर्थिनो वह्न्यादितो निवृत्तिरुपपद्येतेति वाच्यम् अभेदस्यापि सत्त्वेन प्रवृत्तेरप्यावश्यकत्त्वात्। अपि च निर्द्धार्याः पदार्था निर्द्धारसाधनानि भङ्गा निर्द्धारको जीवो निर्द्धारश्च तत्फलं, सर्वमेतत् स्यादस्तीत्यादिविकल्पोपन्यासेन सत्त्वासत्त्वादिधर्मकतयाऽनिश्चितवपुर्भवेदिति लूतातन्तुवत् त्रुट्यमानोऽसौ न्यायः। किमस्य परीक्षया? ॥ ३३ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जैनोंने जिन पदार्थोंका उल्लेख किया है, वे सभी सप्तभङ्गी न्यायके आधारपर स्वरूप प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हैं। कारण क्या है? इसका उत्तर है—*'एकस्मिन्नित्यादि'* अर्थात् किसी एक घट-पटादि धर्मी (पदार्थ) में एक साथ सत्त्व, असत्त्व इत्यादि विरुद्ध धर्म युगपत् नहीं रह सकते। इस सप्तभङ्गी न्यायमें ये समस्त पदार्थ व्यवस्थापित नहीं हो सकते। बात यह है कि जब कोई एक वस्तु शीतल रहती है, तब उस समय उसे कभी भी कहीं पर उष्ण होते नहीं देखा जाता। अतएव एक ही समय एक धर्मीमें दो विरुद्ध धर्मोंका समावेश नहीं हो सकता। और एक दोष है कि—सत् है या असत् है, भाव है अथवा अभाव है—इस प्रकार स्वरूपकी अनिश्चयता रहनेपर स्वर्ग, नरक और मुक्ति (मोक्ष) का परस्पर मिश्रण होनेके कारण स्वर्गकी प्राप्तिके लिए, नरककी निवृत्तिके लिए अथवा मुक्तिके पथरूपमें किसी भी साधनका विधान सार्थक नहीं होता, बल्कि सभी विधि व्यर्थ हो पड़ती हैं। इसी प्रकार सत्त्वादिके एकत्र समावेश होनेपर घटादि भी सदसत् मिश्रित स्वरूप हो पड़ेंगे, इससे क्षति यह होगी कि लोग जल लानेके प्रयोजनसे अग्नि लायेंगे, गृहके प्रयोजनसे वायुमें चेष्टा करेंगे, क्योंकि सर्वत्र ही अनिश्चय है। यदि कहो, यह होगा किस प्रकार? जब घट और अग्निका भेद है, तब जलार्थी व्यक्तिकी अग्नि इत्यादिसे निवृत्ति होगी ही, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि भेदके समान अभेदका भी तो अस्तित्व है। अतएव घट और अग्निके अभेदके कारण अग्निमें प्रवृत्तिकी

आपत्ति अवश्य ही सङ्गत होगी। और भी एक बात है, निर्धारणीय समस्त पदार्थ-समुदाय निर्धारण करनेके उपाय (साधन), सप्तभङ्ग, निर्धारणकारी जीव और निर्धारण रूपमें फल अर्थात् प्रमेय, प्रमाण, प्रमाता, प्रमिति और युक्ति सभी *'स्यात् अस्ति'*—'किसी रूपमें है', और *'स्यान्नास्ति'*—'किसी रूपमें नहीं है'—इत्यादि दो विरोधी पक्षों (विकल्पों) के उपन्यास द्वारा प्रदर्शित सत्त्व (सत्ता) और असत्त्व (असत्ता) रूप धर्म विशिष्ट होनेके कारण अनिश्चित स्वरूप ही होते हैं। इसलिए ऊर्णनाभके सूत्रके समान यह न्याय अतीव भङ्गशील है, तब इसकी और परीक्षा अथवा आलोचनासे क्या प्रयोजन है? ॥ ३३ ॥

सूक्ष्मा-टीका—नैकस्मिन्निति। एकस्मिन् परमार्थरूपवस्तुनि सत्त्वासत्त्वादि-मिथोविरुद्धधर्मयोगादनेकरूपं तदित्यर्थः। यदस्ति तदस्त्येव न तु नास्ति। यन्नास्ति तन्नास्त्येव न त्वस्ति। यन्नित्यं तन्नित्यमिति सर्वाभ्युपगतमनुभूतञ्चेदम्। तन्मतेऽपि प्रपञ्चस्य वस्तुभूतत्वात् नानेकरूपत्वम्। एकस्मिन्निति देवदत्तादौ घटादौ वैकवस्तुनीत्यर्थः। किञ्चेति। सङ्कीर्णत्वात् मिश्रितत्वात्। तथात्वान्मिथो मिश्रितत्वात्। वह्निनेति। वह्नौ घटोऽपि कथञ्चिदस्तीत्यर्थः। वायुनेति। वायावपि काष्ठेष्टकादि कथञ्चिदस्तीत्यर्थः। न च तत्रेति। वह्नौ कथञ्चिद्घटभेदोऽस्ति वायौ च काष्ठादिभेद इत्यर्थः। अभेदस्यापीति। वह्नौ घटाभेदः कथञ्चिदस्ति वायौ च काष्ठाद्यभेद इत्यर्थः॥ ३३ ॥

सूक्ष्मा-सार—नैकस्मिन्नित्यादि सूत्रकी टीकामें *'एकस्मिन्'* का अर्थ है—परमार्थतः, एकस्वरूप वस्तुमें सत्त्व, असत्त्व इत्यादि परस्पर विरोधी धर्मोंके योगसे वह वस्तु अनेकरूप हो जाती है। बात यह है कि जो है अर्थात् जो सत्स्वरूप है, वह सत्त्वस्वरूप ही रहेगा—यह नहीं हो सकता। पुनः जो नहीं है अर्थात् असत्-स्वरूप है—जो नहीं ही है, असत्-स्वरूप ही है—वह है—वह और होता नहीं। जो नित्य है, वह चिरकालके लिए ही नित्य है—यह सभीको स्वीकृत और अनुभूत है। इन जैनोंके मतमें भी जगत् प्रपञ्च वस्तुभूत है, वह अनेकरूप हो नहीं सकता। *'एकस्मिन् धर्मिणि'* इत्यादिसे तात्पर्य है कि देवदत्तादि एक ही व्यक्तिमें अथवा घट इत्यादि एक ही पदार्थमें नाना विरोधी धर्म रह नहीं सकते, यह अर्थ है। *'किञ्च अनेकान्त पक्षे'* इत्यादिमें *'मिथः सङ्कीर्णत्वात्'* का अर्थ है—स्वर्ग, नरक और मुक्तिके परस्पर मिश्रणके कारण *'घटादीनामपि तथात्वात्'* से अर्थ

है घटादि पदार्थोंके भी परस्पर मिश्रणके कारण। *'वह्निना प्रवर्त्तेतेति'* इसका अर्थ है वह्निमें भी घट किसी प्रकारसे अर्थात् अभेदवादसे है *'गृहार्थी तु वायुना'* इतिका तात्पर्य है—वायुमें गृहोपकरण ईंट, काष्ठ इत्यादि भी किसी-न-किसी रूपमें हैं। *'न च तत्र भेदस्यपि सत्त्वात्'* इति अर्थात् किसी भी रूपमें अग्निमें घट भेद है, वायुमें भी काष्ठ इत्यादिका भेद है। *'अभेदस्यापि सत्त्वेन'* इति का अर्थ है वह्निमें घटका एक प्रकारसे अभेद है और वायुमें भी काष्ठ, ईंट इत्यादिका अभेद किसी-न-किसी प्रकारसे है॥ ३३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब जैन-मतावलम्बियोंके दोषोंका दिग्दर्शन किया जा रहा है—जैन-मतमें पदार्थ दो प्रकारके हैं—जीव और अजीव। इन दोनोंमें जीव सचेतन, देहपरिमाण और अवयव-सहित है। अजीव पाँच प्रकारके हैं यथा—धर्म, अधर्म, पुद्गल, काल और आकाश। उनके मतमें जीवके मुक्तिमार्गोपयोगी (मोक्षके साधनभूत) सप्त पदार्थ अङ्गीकृत किये गये हैं। जैनोंने सप्तभङ्गी न्यायके द्वारा समस्त पदार्थोंकी स्थापना की है। यह सप्तभङ्गी न्याय इस प्रकार है—(१) यदि है, तो है; (२) यदि नहीं है, तो नहीं है; (३) यदि किसी मतमें है, तो ऐसा होनेपर वह अवक्तव्य है; (४) यदि किसी प्रकारसे है, तो ऐसा होनेपर है अथवा नहीं है (एकसाथ सत्ता भी है और असत्ता भी); (५) यदि किसी मतमें है, तो है, किन्तु वह वाक्यके अगोचर है; (६) यदि किसी मतमें नहीं है, तो नहीं है और वह वाक्यका अविषय है; (७) किसी रूपमें है तो है, यदि किसी मतमें नहीं है तो नहीं है, किन्तु किसी भी रूपमें वक्तव्य नहीं है। इस सप्तभङ्गी न्यायमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग 'कथञ्चित्' अर्थमें है। स्यादस्तिको किञ्चिदस्तिसे और स्यान्नास्ति शब्दको किञ्चिन्नास्ति पदसे संयोजित कर लेना चाहिये। सत्ता भी है, असत्ता भी है, किसी वस्तुका कोई निश्चित-स्वरूप नहीं है। कथञ्चनका प्रयोग ही बतलाता है कि सत्ता अनेकान्त (बहुत-सी सम्भावनाओंसे युक्त) है। अब संशय यह है कि जैन मतमें सिद्ध जीवादि पदार्थ युक्तिसिद्ध हैं कि नहीं? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि नहीं, ये युक्तिसिद्ध नहीं हो सकते। किसी एक वस्तुमें एक ही समय विरोधी

धर्मोंका एक साथ समावेश नहीं हो सकता, जैसे एक वस्तुमें एक ही साथ शैत्य और उष्णता दोनों नहीं रह सकते। आप कहते हो कि गणेश (गजका सिर और मनुष्यका धड़) और नरसिंह (सिंहका सिर और मनुष्यका धड़) समूचे संसारको अनेकान्त (अनिश्चित-स्वरूप) साधित करते हैं, किन्तु आपका यह कथन प्रकरणगत समस्याको सुलझाता नहीं है, क्योंकि इन दृष्टान्तोंमें देशों (भागों, खण्डों) का अन्तर है। परन्तु अनेकान्तवादमें तो देशका भेद किये बिना एक ही जगह कई पक्ष मान लिये जाते हैं, जो कभी सम्भव नहीं हो सकते। मृत्-पिण्डमें मिट्टीकी सत्ता है और घटादिकी असत्ता, घटकी अवस्थामें मिट्टीकी सत्ता है, जब कि कपालादिकी असत्ता। इस प्रकार किसी भी वस्तुको सिद्ध न कर सकनेके कारण स्याद्-वादियोंके गलेमें दोनों ओरसे फन्दा बाँधनेवाली रस्सी पड़ जाती है, वे किसी भी ओर नहीं भाग सकते। ये लोग सभी प्रकारके सिद्धान्त अपना लेते हैं और सभी विचारोंका आदर भी कर लेते हैं।

पुनः अनिश्चित सत्त्व अथवा असत्त्व पक्षमें भी स्वर्ग, नरक और मुक्तिके परस्पर सम्मिश्रणके कारण स्वर्गका उद्देश्य अथवा नरककी निवृत्तिके रूपमें अथवा मुक्तिके निमित्त किसी भी साधनका विधान सार्थक नहीं है, सभी व्यर्थ है। इनके मतमें सप्तभङ्गी न्यायसे दोनों पक्षोंके उपन्यास द्वारा पदार्थकी सत्ता और असत्ता धर्म विशिष्ट होनेके कारण सब कु
सप्तभङ्गी न्याय स्वयं ही छिन्न-भिन्न हो जाता है, इसकी परीक्षाकी आवश्यकता समझमें नहीं आती।

श्रीमन् रामानुजाचार्य कहते हैं कि आर्हत-मतके प्रवर्त्तक मूर्ख-सम्राटने अपनी शास्त्र-निर्माण शक्तिका कैसा अच्छा प्रदर्शन किया है। सभीका स्वरूप निश्चित है तो 'सब कु
और सबका स्वरूप अनिश्चित है, तो इतने प्रपञ्चकी क्या आवश्यकता है? इतने सारे तत्त्व प्रमाण, प्रमाता, फल आदिका वर्णन करके कहते हो कि सब कु
यह सिद्धान्त अपनी जड़ आप ही खोद डालता है। साधु! साधु! जब मोक्षका या मोक्ष-मार्गका कोई निश्चय ही नहीं है, तो मोक्षार्थ

शास्त्रके प्रणयन करनेवाले तीर्थङ्करको उन्मत्त नहीं तो और क्या कहें? संशयावलीकी उक्त वैतरणीमें जैन जनता डूब रही है। इसके अतिरिक्त ईश्वर-रहित परमाणु कारणवादपर जिन दोषोंका आरोपण हो चुका है, वे सब दोष इस मतमें भी उसी प्रकार आरोपित होंगे।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यद्यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं
धियाक्षभिर्वा मनसा वोत यस्य।
मा भूत् स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत्
स वै गुणापायविसर्गलक्षणः॥

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै
यद्यो यथा कु
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं
तद्ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम्॥

(श्रीमद्भा॰ ६/४/२९–३०)

अर्थात् जो वाक्य द्वारा अभिहित हैं, जो बुद्धि द्वारा निरूपित हैं, जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हैं एवं जो मनके द्वारा सङ्कल्पित हैं—ये सब तो गुणके कार्य हैं, इनमेंसे कु
गुणातीति हैं फिर भी समस्त गुणोंकी प्रलयोत्पत्तिके 'कारण' रूपमें गुण-त्रयके आदिमें और अन्तमें विराजित हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ! जो अधिकरणमें हैं जिससे, जिसके द्वारा, जिसके सम्बन्धमें, जिसे सम्प्रदानके लिए जिस अभीप्सित कर्मके जो कर्त्ता हैं, जिस प्रकारसे करते हैं अथवा अन्य द्वारा कराते हैं, उस उच्चावच कारणसमूहके परम कारण एकमात्र ब्रह्म हैं। वे समस्त वस्तुओंके कारण हैं, वे सजातीय, विजातीय भेदरहित हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ॥ ३३॥

अवतरणिका भाष्य—अथात्मनो देहपरिमाणत्वं प्रत्याचष्टे—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब आत्माका परिमाणत्व देहके समान है—जैन सम्मत इस मतका खण्डन कर रहे हैं।

सूत्र—एवं चात्माकात्स्न्र्यम्॥ ३४॥

सूत्रार्थ—'एवं च' इस प्रकारसे अर्थात् जिस प्रकार एक धर्मीमें सत्त्व, असत्त्व इत्यादि दो विरोधी धर्मोंके समावेशमें दोष है, इसी प्रकार 'आत्मा कात्स्न्र्यम्' आत्माकी भी पर्याप्ति अर्थात् पूर्णताका अभावरूप दोष आ पड़ता है॥ ३४॥

सूत्रानुवाद—एक धर्मीमें विरुद्ध धर्मके समावेश दोषकी भाँति आत्माके भी अकात्स्न्र्य एवं अपरिपूर्णत्व दोषका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है॥ ३४॥

गोविन्दभाष्य—यथैकस्मिन् सत्त्वासत्त्वादिविरुद्धधर्मयोगो दोष एवमात्मनो-ऽकात्स्न्र्यञ्च सः। तथाहि। देहपरिमाणो। जीव इति मतम्। तस्य बालदेहपरिमितस्य युवादिदेहे पर्याप्तिर्न स्यात्। मनुष्यदेहपरिमितस्य तस्यादृष्टविशेषलब्धे करिशरीरे च तथा सर्वाङ्गीणसुखदुःखानुपलम्भश्च पुनर्मशकदेहेऽसमावेशश्चेति॥ ३४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस प्रकार एक धर्ममें (वस्तुमें) सत्त्व और असत्त्व, नित्यत्व और अनित्यत्व—इस प्रकार दो विरोधी धर्मोंके सम्बन्ध (योग) से दोष होता है, उसी प्रकार आत्माको देहके परिणाम (माप) के बराबर कहनेपर उस आत्माका असम्पूर्णतारूप दोष होता है—किस प्रकारसे? वही बता रहे हैं कि जैन-मतमें जीव देह-परिणाम विशिष्ट है। परन्तु जब यह जीवात्मा बालककी देहमें रहकर बालककी देहके मापके बराबर रहेगी और जब यह बालदेह परिमित जीवात्मा युवाकी देहमें पहुँचेगी, तब उस जीवात्माकी उस युवककी देहमें पूर्त्ति (पर्याप्ति) नहीं होगी। क्षुद्र परिमाणकी अपनेसे अधिक बृहत् परिमाण वस्तुमें व्याप्ति नहीं होती; कितने ही देह-अवयव आत्मशून्य हो पड़ते हैं। इसी प्रकारसे मनुष्यदेहमें परिमित जीवात्मा अदृष्ट-विशेषके कारण जब हस्ती-शरीरको प्राप्त होगी, तो उस हस्ती-देहमें उसकी व्याप्ति न हो सकेगी। इससे क्षति यह होती है कि सुख-दुःखकी सर्वाङ्गावच्छेद (सर्वाङ्गीण) रूपसे उपलब्धिका अभाव घटित होने लगता है। आत्मा ही सुख-दुःखकी उपलब्धि करती है, तब शरीरके जिस अंशमें आत्मा नहीं है, उस अंशमें सुख-दुःखादिके उत्पन्न होनेपर भी उनका भोग न हो; यह भी हो सकता है। पुनः यह भी आपत्ति है कि यदि मशक देह

(मच्छरका शरीर) प्राप्त हो जाय, तो मनुष्यदेह परिमाण विशिष्ट जीवात्माके लिए वहाँ (मशक-देहमें) अवस्थितिका स्थान नहीं रहेगा; तब वह (जीवात्मा) कहाँ रहेगा?॥ ३४॥

सूक्ष्मा-टीका—यथेति। पर्याप्तिरिति। पूर्णता न स्यात् केचित् देहावयवा निरात्मकाः स्युरितिभावः। असमावेशश्चेति। केचिदात्मावयवा उर्वरिताः स्युः। तेन देहपरिमितत्वक्षतिरित्याशयः॥ ३४॥

सूक्ष्मा-सार—यथेत्यादि भाष्यमें 'पर्याप्तिः' का अर्थ है पूर्णता अर्थात् उन-उन देहोंमें सर्वाङ्गव्याप्ति नहीं होगी। बात यह है कि देहके सभी अंशोंमें आत्मा अपनी स्थिति प्राप्त न करे तो उसके वे-वे अंश आत्मशून्य हो पड़ेंगे हैं। *'मशकादि देहे असमावेशश्च'* इति—मशक-देहमें मनुष्यदेहपरिमाण आत्माके अवयव अवकाश हीन हो पड़ेंगे। इससे आत्माके देहपरिमितत्वकी हानि घटित हुई—यह तात्पर्य है॥ ३४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जैनमतमें जिस आत्माका देह-परिमाणत्व कहा गया है—उसका खण्डन करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि एक ही धर्मविशिष्ट वस्तुमें जिस प्रकार सत्त्व और असत्त्व इत्यादि विरोधी धर्मोंका समावेश दोषावह है, उसी प्रकार आत्माकी अपर्याप्ति भी दोषयुक्त है। जीवात्माको शरीर परिमित कहनेपर बालकदेह परिमित जीवकी युवादि-शरीरमें पर्याप्ति घटित नहीं होती। मानव-परिमित-जीवको हस्ती-देह प्राप्त होनेपर उसमें उसके सुख-दुःखकी सर्वाङ्गीण उपलब्धि नहीं होती। पुनः मशकादि देहमें उस जीवात्माके समावेशका अभाव घटित होता है। जब हस्ती आदिके बड़े शरीरको छोड़कर मशकके छोटे शरीरमें प्रवेश होगा, तब वह छोटे परिमाणमें होनेके कारण पहले शरीरमें प्रवेश करनेकी क्षमता खो बैठेगा। योगके बलसे योगीलोग एक साथ जो अनेक शरीर धारण करते हैं, उन शरीरोंमेंसे प्रत्येक शरीरमें जीवात्माका एक-एक टुकड़ा देखा जायेगा।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि।

सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/३/३८)

उक्त ब्रह्मवस्तुका जन्म, वृद्धि, ह्रास या विनाश नहीं है, क्योंकि वह प्राणकी भाँति अव्यभिचारीरूपमें, व्यभिचारी अर्थात् अगमापायी-धर्म-विशिष्ट अर्थात् बाल्य, यौवन आदि भिन्न-भिन्न दशासे ग्रस्त शरीरमें उस-उस समयमें साक्षी रूपसे वर्त्तमान रहती हैं। वे ब्रह्म इन्द्रियोंके द्वारा नाना प्रकारसे कल्पित होनेपर भी वस्तुतः सदा-सर्वदा सभी देहोंमें अवस्थित रहते हैं। वे सत्य और ज्ञानात्मक वस्तु हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रीलचक्रवर्त्तीपादने लिखा है—

'आत्मा शुद्धजीवो न जजान न जात इत्याद्यो विकारो निषिद्धः, न मरिष्यतीत्यन्तः षष्ठः। जन्माभावादेव तदनन्तरास्तितालक्षणोऽपि विकारो द्वितीयः। नैधते न वर्द्धत इति तृतीयः। वृद्धाभावादेव परिणामोऽपि चतुर्थः। न क्षीयत इत्यपक्षय इति पञ्चमः। हि यस्माद्व्यभिचारिणामागमापायिनां बालयुवादिदेहानां देवमनुष्यादिदेहानां वा सवनवित् तत्तत्कालद्रष्टा, न ह्यवस्थावतां द्रष्टा तदवस्थो भवतीति भावः॥'

इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा अर्थात् शुद्धजीव कभी जन्म नहीं लेता—इस प्रकारसे प्रथम विकार निषिद्ध हुआ है, कभी मरता नहीं है—यह छठा अन्तिम विकार निषिद्ध हुआ है। जन्मके अभावके कारण उसका परवर्त्ती जो अस्तिता (स्थिति) लक्षणरूप द्वितीय विकार है—वह भी नहीं है, वर्द्धित नहीं होता—यह तृतीय विकार भी नहीं है, वृद्धिका अभाव है, इसलिए चतुर्थ विकार भी नहीं है, क्षय भी नहीं होता—इसलिए अपक्षयरूप पञ्चम विकार भी नहीं है, क्योंकि शरीर ही व्यभिचारी है अर्थात् शरीर ही आता-जाता है। बालपन, यौवन, देव, मनुष्यादि देहके धर्म हैं—उन-उन कालका द्रष्टा यह जीवात्मा है। इन अवस्थावानोंका द्रष्टा जीव शरीर (देह) की उन-उन अवस्थाओंको प्राप्त नहीं करता। आत्मा एकमात्र ज्ञानस्वरूप है और इन्द्रिय-बलपर भिन्न-भिन्न रूपोंमें कल्पित होता है॥ ३४॥

सूत्र—न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः॥ ३५॥

सूत्रार्थ—जीवके अवयव अनन्त हैं, इसलिए बालक अथवा युवा इत्यादि जो भी देह प्राप्त हो अथवा हस्ती-अश्वादि जिस भी देहको ग्रहण करे, 'पर्यायात्'—क्रमानुसार अवयवोंके अपगम (मृत्यु), अपचय (क्षय) और उपचय (वृद्धि) के कारण वह-वह देह-परिमाण अक्षुण्ण रहेंगे, यदि ऐसा कहते हो, तो 'न' यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि यह स्वीकार करनेपर 'अपि' भी 'विकारादिभ्यः' जीवमें विकारादि दोष होंगे और अनित्यता भी अपरिहार्य हो पड़ेगी, 'च' इसके अतिरिक्त कृतकर्मकी हानि और अकृत-कर्मका आगम इत्यादि दोष भी उपस्थित होंगे, इसलिए 'अविरोधः' इससे विरोधका निवारण नहीं हो सकता; अतः यह कहना सारयुक्त नहीं है॥ ३५॥

सूत्रानुवाद—अवयवमें पदार्थके उपचय-अपचय माननेसे अविरोध है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार घटना-बढ़ना स्वीकार करनेसे आत्मामें अनित्यत्व एवं विकारत्वादि दोषोंका प्रसङ्ग होगा, तब बन्ध और मोक्ष किसके होंगे?॥ ३५॥

गोविन्दभाष्य—नन्वनन्तावयवस्य जीवस्य बालयुवादिदेहान् करितुरगादिदेहान् वा भजतः क्रमादवयवापगमोपगमाभ्यां वैपरीत्येन च तत्तद्देहपरिमितत्वमविरुद्धमिति चेन्न। कु
कृतहान्यकृताभ्यागमाभ्याञ्चेति यत्किञ्चिदेतत्। यत्तु मुक्तिकालिकेन देहाघटितेन नित्येन परिमाणेन विशिष्टे जीवे न विकारादिरिति वदन्ति तच्च मन्दम्। तस्य जन्यत्वाजन्यत्वसत्त्वासत्त्वादिविकल्पैः स्थैर्यासम्भवात्॥ ३५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अच्छा! उक्त आपत्तिका समाधान इस प्रकार तो हो सकता है कि जीव अनन्त अवयव सम्पन्न है, वह जीव यदि बालक, युवादि शरीर ग्रहण करे अथवा वह हस्ती, अश्वादि देह प्राप्त करे, तो युवादि शरीर-ग्रहण-स्थलपर पूर्व शरीरके अवयवोंका नाश और युवा शरीरमें अवयवोंकी वृद्धि द्वारा, इसी प्रकार हस्ती, तुरगादि शरीर-ग्रहण-स्थलपर अवयवोंकी वृद्धि एवं पूर्वदेहके अवयवोंके नाश द्वारा—वह-वह धृत-देह परिमाण अक्षुण्ण रहेंगे—इस वैपरीत्यके द्वारा सामञ्जस्यका बोध कर लेना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है। क्यों?

वही बता रहे हैं—इस प्रकारसे अवयवका अपगम, उपचय इत्यादि स्वीकार करनेपर जीवात्माका सविकारत्व हो पड़ता है और अनित्यता स्वीकार करनी होती है। इसके अतिरिक्त पूर्व शरीरमें कृत-कर्मका नाश और पर-शरीरमें अकृत कर्मकी हानि (आपत्ति) भी होती है। इसलिए यह समाधान सारहीन है। और, जो कोई-कोई कहते हैं कि मुक्तिकालमें जीवका परिमाण देहा-अघटित है, इसलिए नित्य (उपचय-अपचय-अपगम-रहित) है तथा तद्-विशिष्ट (इस प्रकारके देह अघटितवान्) जीवमें विकारादि नहीं होते, तो यह मत भी हेय है, क्योंकि मुक्तिकालिक परिमाणको जन्य (उत्पन्न होनेवाला) स्वीकार करनेपर उसका स्थिरत्व (नित्यत्व) कहा नहीं जा सकेगा और अजन्यत्व (उत्पन्न न होनेवाला) भी नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि तत्परिमाण-विशिष्ट देह आयी कहाँ-से? इसी प्रकार वह परिमाण सत् है अथवा असत् है—इन दोनों प्रकारके विकल्पोंमेंसे किसीका भी सामञ्जस्य घटित नहीं होता। अतएव परिमाणका स्थिरत्व (नित्यत्व) असङ्गत होता है॥ ३५॥

सूक्ष्मा-टीका—आशङ्क्य समाधत्ते न चेति। वैपरीत्येन चेति। अवयवोपगमापगमाभ्याञ्चेत्यर्थः। कृतेत्यादि पञ्चम्यन्तम्। येन पुंसा कर्म कृतं तस्य विनाशे तत्कर्मणस्तत्र हानिः तत् कर्म यत्र फलमर्पयेत् तस्याकृतं कर्माभ्यागतमित्यर्थः। तस्येति। तस्य मुक्तिकालिकपरिमाणस्य कथञ्चिज्जन्यत्वाद्यङ्गीकारे स्थैर्यं सम्भावयितुं न शक्यं भवतेत्यर्थः। किञ्च मुक्तिकालिकं परिमाणं परमाणुरूपं विभुरूपं वेति न शक्यं निर्णेतुं तत्प्रमापकदेहाभावात्। ततश्च तस्याप्यनवस्थितिरिति॥ ३५॥

सूक्ष्मा-सार—सूत्रकार आशङ्का करके अब *'न च पर्यायादित्यादि'* सूत्र द्वारा निराकरण करते हैं। भाष्यस्थ *'वैपरीत्येन च'* इतिका अर्थ है अवयवके उपगम और पूर्वावयवके अपगम—इन दोनोंके द्वारा। *'कृतहान्यकृताभ्यागमाभ्याञ्च'* यह पद पञ्चमी विभक्तिसे युक्त है। इसका तात्पर्य है—जिस पुरुषने कर्म किया है, उस पुरुषका विनाश हुआ है, इससे उस पुरुषकृत कर्मका भी विनाश हुआ है। वह कर्म जो पुरुषमें फल उत्पन्न करेगा, उसका वह अकृत कर्म (कर्म किये बिना) वहाँ उपस्थित हो जायेगा। *'तस्य जन्यत्वाजन्यत्वेत्यादि'* में 'तस्य' का अर्थ है—मुक्तिकालीन देह परिमाणका किसी रूपमें

जन्यत्व (अवयवोंसे उत्पन्न होना) अथवा अजन्यत्व (उत्पन्न न होना) स्वीकार करनेपर जीवके स्थिरत्वकी कल्पना आप नहीं कर सकते। और एक बात है कि मुक्तिकालमें जीवका परिमाण परमाणुस्वरूप है अथवा विभुस्वरूप है—यह भी निर्णय नहीं किया जा सकता, क्योंकि परिमाणसम्पन्न भेद उस समय नहीं है। अतएव यह भी अव्यवस्था है॥ ३५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कह रहे हैं कि जीवके अनन्त अवयव स्वीकार करनेपर बालक एवं युवादि शरीर अथवा हस्ती, अश्वादि शरीर, जो भी ग्रहण करो, पर्यायक्रमसे अवयवका अपगम, उपगम अर्थात् अपचय और उपचयरूप वैपरीत्य द्वारा उन-उन देहपरिमितत्वके साथ सामञ्जस्य जानना अर्थात् आत्मा पर्यायक्रमसे क्षुद्र है अथवा बृहत् है—यह कहना सङ्गत नहीं होता और इसके द्वारा पूर्वोक्त विरोधका परिहार भी नहीं होता। इसका कारण है कि ऐसा होनेसे आत्माकी विकारशीलता और नित्यता अपरिहार्य हो पड़ती है। घटने-बढ़नेवाला पदार्थ अवयवयुक्त होता है और आत्मा निरवयव, विकाररहित एवं नित्य है। यदि अवयव मानते हो तो उनकी संख्याका भी निश्चय किया जाय, उपचय और अपचय इन अवयवोंकी इयत्ताका अवधारण होगा कैसे? पुनः ये सभी अवयव चेतन हैं अथवा अवयवोंका एक समूह चेतन है। आत्माका पूर्ण ज्ञान न हो, तो अपवर्ग-प्राप्तिकी सम्भावना कहाँ? आत्माको तो आपने चर्म (चमड़ा) मान लिया, जो धूपमें सूखता है और वर्षामें फैल जाता है। आत्माका सम्पूर्ण ज्ञान न होनेसे आत्मवादकी स्थापना कैसे होगी? फिर तो रक्तवस्त्रधारी इन बौद्धोंका नैरात्म्यवाद ही आ जायेगा, जो आप विसिचगणों (विवस्त्र अथवा नग्न जैन-भिक्षुओं) के लिए अपसिद्धान्त है। 'जिन' (नैयायिक) की ये दुराग्रह रूपी कैसी विडम्बनाएँ (मायाजाल) हैं!

इसके अतिरिक्त पूर्वशरीरके कृतकर्मका नाश और परशरीरमें अकृत कर्मोंका आगम—यह आपत्ति भी आती है। जिन पुण्य-पापके फलस्वरूप सुख-दुःख मिलते हैं, उन्हें जीव बिना कर्मके ही पाने लगेगा। जीवका विनाश होनेपर किये गये कर्मका भी नाश हो जायेगा।

विनाशके बाद भोक्ता ही नहीं रहेगा, तब फल कौन भोगेगा? अतः यह मत युक्तिसङ्गत नहीं है। जो अपगत हो जाते हैं, वे अपगत ही रहते हैं। फिर उनका आत्म-सम्बन्ध नहीं होता। *'प्रधानमल्ल-निवर्हणन्याय'*—जिस प्रकार मुख्य पहलवानको पछाड़ देनेपर दूसरे पहलवान मल्ल-युद्ध करनेसे विरत हो जाते हैं, वैसे ही जैनोंके द्वारा स्वीकृत जीवस्वरूपको दूषित कर देनेपर, उनके अन्य सिद्धान्तों और पदार्थोंका स्वयमेव खण्डन हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित् परः।
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन् गुणान्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/२/२२)

अर्थात् आत्माकी मृत्यु नहीं है, वह नित्य, अपक्षयशून्य, निर्मल, सर्वगत (सर्वव्यापक), सर्वज्ञ एवं देहादिसे भिन्न है। यह आत्मा अपनी अविद्यासे ही सूक्ष्म शरीरमें सुख-दुःख इत्यादिका भोग करती है।

और भी,

जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित्।
कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कु

(श्रीमद्भा॰ १०/५४/४७)

हे सती! जन्म लेना, रहना, बढ़ना, बदलना, क्षय होना और मरना—ये समस्त विकार शरीरके ही होते हैं, आत्मामें ऐसे विकार कभी जन्मते नहीं। जैसे कृष्णपक्षमें चन्द्रमाकी कलाओंका क्षय होता है, चन्द्रमाका नहीं; चन्द्रमाका कभी भी जन्मादि नहीं होता, उसी प्रकार अमावस्याके दिन ही कलाओंका क्षय होता है, चन्द्रमाका क्षय (मृत्यु) नहीं। उसी प्रकार लोग देहके जन्म और विनाशको ही जीवका जन्म और मरण मान लिया करते हैं॥ ३५॥

अवतरणिकाभाष्य—अथ जैनाभिमतां मुक्तिं दुषयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब जैन-अभिमत मुक्तिपर दोषारोप कर रहे हैं—

सूत्र—अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषात्॥ ३६॥

सूत्रार्थ—'च' और 'अन्त्यावस्थितेः' जैनोक्त जीवकी अन्तकालीन अवस्थिति और मोक्षावस्था अभिन्न हैं, दोनोंमें कोई भी प्रभेद नहीं है अर्थात् 'अविशेषात्' संसारी अवस्थासे कोई भी विशेषत्व नहीं है, अतएव यह जैन-सिद्धान्त युक्तिसिद्ध नहीं है; किस प्रकारसे विशेषत्व नहीं है? 'उभयनित्यत्वात्'—क्योंकि दोनों ही नित्य हैं अर्थात् जीवकी सर्वदा ऊर्ध्वगति और लोकशून्य आकाशमें निराश्रय रूपसे स्थितिको तुमलोग मुक्ति कह रहे हो और इन दोनोंको मुक्तिस्वरूप हेतु नित्य रूपमें स्वीकार कर रहे हो॥ ३६॥

सूत्रानुवाद—जीवका जो मोक्षकालीन अन्तिम परिमाण होगा, वह निश्चित ही संकोच-विकास रहित स्थिर परिमाण होगा, क्योंकि उसके बाद तो देहान्तर प्राप्तिका प्रश्न ही नहीं है। आत्मा नित्य है और आत्माका मोक्षकालीन परिमाण भी नित्य है—यही आत्माका स्वाभाविक परिमाण है। अतः आत्माका परिमाण कभी देहानुसार नहीं है॥ ३६॥

गोविन्दभाष्य—न चेत्यनुवर्त्तते। अन्त्यावस्थितेर्मोक्षावस्थायाश्चाविशेषात्। संसारावस्थातो विशेषाभावान्न युक्तो जैनसिद्धान्तः। अविशेषः कु
सदोर्द्धगतिरलोकाकाशस्थितिश्च मुक्तिरुक्ता तयोरुभयोर्मुक्तित्वेन नित्यत्वाङ्गीकारात्। न हि सदोर्द्ध्वं गच्छन्निराश्रयतया वा तिष्ठन् कश्चित् सुखी भवति। न च सदेहस्य तथात्वं दुःखाय न तु निर्देहस्येति वाच्यम्। तदावयवस्य च देहवद्वारवत्त्वात्। न च सा सा च नित्येति शक्यं वक्तु
हासपाटवमवगाहयति लोकानिति। एतेन विश्वं सदसद्भिन्नम् औपनिषदमपि ब्रह्म सर्वशब्दावाच्यमित्यादिविरुद्धं जल्पन् जैनसखो मायी च दूषितः॥ ३६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सूत्रमें 'न च' की अनुवृत्ति जाननी चाहिये। *'अन्त्यवस्थिति'* अर्थात् मृत्युकालीन अवस्था और जैनोक्त मोक्षावस्थामें कोई भी प्रभेद नहीं है। अर्थात् सांसारिक (मृत्युकालीन अवस्था) से मोक्षावस्थाका कोई भेद (विशेषत्व) न रहनेके कारण जैनोंका सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है। इसमें अविशेषत्व किस प्रकारसे है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—इस सिद्धान्तमें जीवकी सर्वदा ऊर्ध्वगति और लोकशून्य (अलोक) आकाशमें स्थिति—इन दोनोंको तुम मुक्ति कह रहे हो। मुक्तिस्वरूप होनेके कारण उन दोनों (सांसारिक अवस्था

एवं मोक्षावस्था) का नित्यत्व स्वीकार करते हो तो यह नित्यत्व युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि सर्वदा ऊर्ध्वगमन करनेवाला अथवा अलोक आकाशमें निराश्रय अवस्थामें रहनेवाला कोई भी सुखी नहीं हो सकता। यदि कहो, देहके साथ ऊर्ध्वगमन और निरालम्बन आकाशमें स्थिति दुःखका कारण हो सकती है, पर देहहीनोंके लिए वह दुःखका कारण क्यों होगी? यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस समय देहके न रहनेपर भी देहावयव कथञ्चित् (किसी रूपमें) रहते हैं। इससे देहके समान देहावयव भी भावभूत रहते हैं अर्थात् अवयवोंका भाव रहता है। अतः सदेह ऊर्ध्वगति और अलोकाकाश (निराश्रय अथवा शून्य) में स्थिति दुःखका कारण होगी ही। और एक बात है—ऊर्ध्वगति और लोकशून्य आकाशमें स्थिति—ये सब नित्य भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि दोनों ही क्रियास्वरूप हैं। क्रियास्वरूप होनेसे इनका विनाश अवश्य ही है। इस प्रकार यह जैन-सिद्धान्त भ्रममूलक, अतितुच्छ और लोगोंके लिए केवल हास्यास्पद ही हो रहा है। इस सिद्धान्तके द्वारा 'विश्व सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, इन दोनोंसे विलक्षण कु
है और ब्रह्मवस्तु उपनिषद-प्रतिपाद्य होकर भी सर्वशब्दका वाच्य नहीं है' इत्यादि विरुद्ध जल्पना करनेवाले जैनसखा (जैन सदृश) मायावादियोंका सिद्धान्त भी खण्डित हुआ है॥ ३६॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्त्यावस्थितेरिति। तथात्वमिति सदोर्द्धगमनं निराश्रयत्वेनाव-स्थानञ्चेत्यर्थः। तदा मुक्तावति देहवदित्यनेनात्मावयवेषु कथञ्चित् स्थौल्यं गुरुत्वञ्चास्ति। देहावयवाश्च कथञ्चित् सन्तीत्युक्तम्। न च सेति। सा सदोर्द्धगतिः। सा त्वलोकाकाशस्थितिरित्यर्थः। तथाच भ्रममूलेन जैनसिद्धान्तेन न शक्यः समन्वयो निरोद्धुमिति। यत्तुऋषभानुयायित्वादि तस्योपादेयत्वे कारणमुक्तं तत्र पूर्ववदेव समाधानम्। तच्च पीठकादवगन्तव्यम्॥ ३६॥

सूक्ष्मा-सार—*'अन्त्यवस्थितेः'* इत्यादि सूत्रमें *'तथात्व मित्यादि'* भाष्य है—*'न च सदेहस्य तथात्वम्'*—देहधारीका तथास्वरूप अर्थात् देहधारियोंका सदा ऊर्ध्वगमन और निराश्रय रूपसे अवस्थान। तदा अर्थात् मुक्तिमें भी *'देहवद्धारवत्वात्'* इति 'देहवत्' इससे आत्माके अवयवोंमें कु
स्थूलता और भारवत्ता है क्योंकि तुमने कहा है—*'देहावयव कथञ्चित'*

(किसी रूपमें स्यात्) रहते हैं। *'न च सा सा चेति'* में प्रथम 'सा' का अर्थ है—सदा ऊर्ध्वगति—द्वितीय 'सा' का अर्थ है लोकशून्य आकाशमें स्थिति। अतएव सिद्धान्त है—इस भ्रममूलक जैन-सिद्धान्त द्वारा समन्वय (वेदान्त-वाक्योंका ब्रह्ममें समन्वय) का विरोध किया नहीं जा सकता। तब जो ऋषभदेवके मतानुसारित्वके कारण जैन-सम्प्रदायका उपादेयत्व कहा गया है। इसका भी समाधान बौद्ध-सम्प्रदायके समान है। यह समाधान भाष्य पीठकसे ज्ञातव्य है॥ ३६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—तदनन्तर सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें जैनोंके अभिमत मुक्तिमें दोषारोपणपूर्वक कह रहे हैं कि इनकी मुक्ति-प्राप्ति और मृत्युकालीन संसारावस्था एक ही प्रकारकी है। दोनों ही अवस्थाओंको नित्य कहे जानेसे कोई इतर (विलक्षण) वैशिष्ट्य देखा नहीं जाता। इनके मतमें सर्वदा ऊर्ध्वगति और अलोक (शून्य) नामक आकाशमें निराश्रय रूपसे अवस्थितिमें किसीके भी सुखी होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। इस प्रकार ऊर्ध्वगतिको भी नित्य नहीं कहा जाता, क्योंकि कर्मका विनाश अवश्य ही है। इस निराकरणसे जैनसखा मायावादी भी निरस्त हो गये हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः।
फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्त्तिना॥

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
अविक्रियः स्वदृग्हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥

एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्॥

(श्रीमद्भा० ७/७/१८-२०)

जिस प्रकार ईश्वरमूर्त्ति कालकी प्रेरणासे वृक्षोंमें फल लगते, ठहरते, बढ़ते, पकते, क्षीण होते और नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार देहमें भी जन्म, अस्तित्वकी अनुभूति, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय एवं विनाश—ये छः भाव विकार देखे जाते हैं, किन्तु आत्मामें इस प्रकारके परिवर्त्तन नहीं होते। इसका कारण यह है कि आत्मा

नित्य, अव्यय, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, सर्वाश्रय, विकाररहित, आत्मदर्शी, सर्वकारणस्वरूप, व्यापक, असङ्ग और आवरणरहित है। ये आत्माके बारह उत्कृष्ट लक्षण हैं। अतः तत्त्वदर्शियोंको चाहिये कि वे इन लक्षणोंके द्वारा आत्माको देहदिसे पृथक् मानकर मोहसे उत्पन्न 'मैं और मेरा' इस मिथ्या ज्ञानका त्याग कर दें॥ ३६॥

अवतरणिका भाष्य—इदानीं पाशुपतादिमतानि प्रत्याख्याति। तत्र पाशुपता मन्यन्ते—कारणकार्ययोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपाशविमोक्षणायेश्वरेण पशुपतिनोपदिष्टाः। तत्र पशुपतिः निमित्तकारणं महदादि कार्यं ॐङ्कारपूर्वको ध्यानादिर्योगः त्रिसवनस्नानादिर्विधिः दुःखान्तो मोक्ष इति। एवं गणपतिर्दिनपतिश्चेश्वरो निमित्तकारणं तस्मात्तस्माच्च प्रकृतिकालद्वारा विश्वसृष्टिः तदुपासनया तदन्तिकमुपागतस्य जीवस्य दुःखात्यन्तनिवृत्तिर्मोक्ष इति गाणेशाः सौराश्चाहुः। तत्र संशयः। पाशुपतादिसिद्धान्तो युक्तो न वेति। घटादिकर्त्तॄणां कु निमित्तत्वस्यैव दर्शनात्तदुक्तसाधनैर्मोक्षस्यापि सम्भवाद् युक्त इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब पाशुपत इत्यादि मतोंका प्रत्याख्यान (खण्डन) करते हैं। इनमें पाशुपत मतावलम्बियोंका मन्तव्य है कि कारण, कार्य, योग, विधि और दुःखान्त ये पाँच प्रकारके पदार्थ हैं। ईश्वर पशुपतिने पशुपदवाच्य जीवोंकी संसार-पाशसे विमुक्तिके लिए उपदेश किया है। इसीसे पशुपति निमित्तकारण हैं, महत् इत्यादि तेईस तत्त्व (पदार्थ) कार्य हैं। ॐकारपूर्ण ध्यानादिका नाम योग है। त्रिसवन (त्रैकालिक) स्नानादि विधिपद वाच्य हैं, दुःखान्तकी संज्ञा मोक्ष है। पशुपतिकी ही भाँति सौर-मतमें दिनपति सूर्य ईश्वर हैं और गाणपत्य-मतमें गणपति ईश्वर हैं। ये सूर्य, गणपति आदि भी निमित्त कारण हैं। इन पशुपति, गणेश और सूर्यसे प्रकृति एवं कालकी सहायतासे विश्वकी सृष्टि होती है। इनकी उपासना द्वारा जीव इन पशुपति इत्यादि ईश्वरोंके सन्निधानमें उपस्थित होता है अर्थात् उनके सान्निध्यको प्राप्त करता है। इसीसे दुःखोंकी एकान्त निवृत्तिरूपा मुक्ति होती है—यह गणपतिके उपासक और सूर्यके उपासकगण कहते हैं—यही विषय है, इसमें संशय यह है कि पाशुपत इत्यादि सिद्धान्त युक्तियुक्त है? कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि युक्तियुक्त हैं क्योंकि घटादिकार्यमें कु

अतएव वे भी इसी प्रकारसे निमित्त कारण हैं और इनके अर्थात् सूर्य इत्यादिके द्वारा निर्दिष्ट उपायोंसे (साधनों) से मुक्ति भी सम्भव है। इसके उत्तरमें सूत्रकार कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—इदानीमिति। पाशुपताः शैवाः। आदिना गाणेशाः सौराश्च बोध्याः। जैननिरासानन्तरं शैवनिरासस्तस्मादपि तस्यापकर्षबोधार्थः। अङ्गीकृत्यापि वेदं तदर्थानन्यथयतीति वेदार्थकदर्थनात् तस्याधमत्वम्। मास्तु निर्मूलेन जैन-सिद्धान्तेन विरोधः समन्वये शैवसिद्धान्तेन तु स तस्मिन्नस्तु। तस्येश्वरेण शिवेनोपदेशादिति प्राग्वदाक्षेपः। शैवसिद्धान्तोऽत्र विषयः। स प्रमाणमूलो भ्रममूलो वेति वीक्षायां प्रमाणमूलतां तस्य वक्तु
इत्यादिना। पशुपतिः शिवः कपाली निमित्तं महामाया तु उपादानमिति ज्ञेयम्। सा देवताऽस्येति पाशुपताः। एवं गाणेशाः सौराश्चेत्यत्र बोध्यम्। साऽस्य देवतेति सूत्रादण्। पशुपाशेति। पशवो जीवास्तेषां पाशः संसारबन्धस्तस्मात् विमोक्षणायेत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'इदानीमित्यादि'*—पाशुपत अर्थात् शैव, आदि पदसे गाणपत्य, सौर-सम्प्रदाय इत्यादि ग्राह्य हैं। जैन-मतके निराकरणके बाद जिस शैव-मतके निरासका प्रस्ताव हुआ है, उसके द्वारा सूचित होता है कि जैन-मतसे शैव-मत और भी दुर्बल है अतएव उसकी अवकृष्टता जाननी चाहिये। अपकर्षत्वका हेतु है—यद्यपि शैवगण वेद मानते हैं, परन्तु वेदार्थकी अन्य भावसे कल्पना करके उन लोगोंने वेदका कदर्थ ही कर डाला है, यह अधमता है। आपत्ति है कि अच्छा! जैनके निर्मूलक सिद्धान्तके साथ वैदान्तिक समन्वयमें विरोध स्वीकृत न हो किन्तु वेदमूलक शैव-सिद्धान्तके साथ इस समन्वयमें विरोध हो सकता है, क्योंकि शैव-सिद्धान्त ईश्वर शिव द्वारा उपदिष्ट है, अतः आप्तत्वके कारण निस्सन्देह ही यह सर्वथा प्रामाणिक है। इस प्रकार इस अधिकरणमें भी पूर्ववत् आक्षेप-सङ्गति जाननी चाहिये। इसका विषय है—शैव-सिद्धान्त। इसमें संशय यह है कि यह प्रमाणमूलक है अथवा भ्रान्तिमूलक। इस संशयपर पूर्वपक्षी अपनी प्रमाणमूलकताके प्रतिपादनके लिए शैव-सिद्धान्तकी प्रक्रिया *'तत्र पाशुपत्य'* इत्यादि वाक्य द्वारा दिखाते हैं। कपालधारी शिव पशुपति शब्द वाच्य हैं, वे जगत्की सृष्टिके निमित्तकारण हैं और महामाया उपादान कारण, यह उनका मत है। *'साऽस्य देवता'*

(अष्टाध्यायी—पा॰सू॰ ४/२/२४) सूत्रसे पशुपति शब्दके उत्तरमें अण् प्रत्ययके योगसे पाशुपत्य शब्द सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार गाणेश और सौर शब्दोंको भी जानना चाहिये। पशुपति जिनके अभीष्ट देवता हैं, वे पाशुपत हैं, गणेश जिनके देवता हैं, वे गाणेश हैं, सूर्य जिनके देवता हैं वे सौर हैं। सर्वत्र ही *'साऽस्य देवता'* सूत्रमें अण् प्रत्यय है। *'पशुपाशविमोक्षणायेति'* में पशु शब्दका अर्थ जीवात्मा है—उसका पाश अर्थात् संसार-बन्धन, उससे विमुक्तिके लिए।

७—पत्युरसामञ्जस्याधिकरणम्

पाशुपत, शैव, गाणपत्य और सौरादि मतोंका खण्डन

सूत्र—पत्युरसामञ्जस्यात्॥ ३७॥

सूत्रार्थ—'पत्युः' पशुपति, गणपति अथवा दिनपतिका सिद्धान्त, 'असामञ्जस्यात्' सामञ्जस्य न रहनेके कारण 'न उपयुज्यते' अर्थात् सङ्गत नहीं है, क्योंकि वेदके साथ विरोध है॥ ३७॥

सूत्रानुवाद—पति अर्थात् पशुपति इत्यादिका मत अनादरणीय है, क्योंकि वह असङ्गत है। परस्पर विरुद्धता और वेदविरुद्धता होनेसे इसका तालमेल नहीं बैठता॥ ३७॥

गोविन्दभाष्य—नेत्यनुवर्त्तते। पत्युः सिद्धान्तो नोपयुज्यते। कु वेदविरोधात्। वेदः खल्वेकस्यैव नारायणस्य विश्वैकहेतुतां तदन्यस्य ब्रह्मरुद्रा-देस्तत्कार्यतामभिधत्ते तदर्पित वर्णाश्रमधर्म-ज्ञानभक्तिहेतुकं मोक्षञ्च। तथा ह्यर्थर्वसु पठ्यते (महोपनिषद १-८) तदाहुः—*'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी सूर्यो न चन्द्रमाः नक्षत्राणि न स एकाकी न रमते तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दश जायन्ते। एका कन्या दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशमहङ्कारस्त्रयोदशः प्राणश्चतुर्दश आत्मा पञ्चदशः बुद्धिर्भूतानि पञ्च तन्मात्रणि पञ्च महाभूतानीत्यादि। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते बिभ्रच्छ्रि ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यमित्यादि। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायतेत्यादि च।'* तेष्वेवान्यत्र। (नारायणोपनिषद।) *'अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेत्यारभ्य नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रो जायते नारायणात् प्रजापतिः प्रजायते नारायणादिन्द्रो जायते नारायणादष्टौ वसवो जायन्ते नारायणादेकादशरुद्रा जायन्ते नारायणाद्द्वादशादित्या जायन्ते'* इत्यादि। ऋक्षु च—*'अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं*

देवेभिरुत मानुषेभिः। यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्। अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ। अहं जनाय समदं कृणोमि अहं द्यावापृथिवी आविवेश' इत्यादि। अथ यजुःषु (बृ॰आ॰ ४/४/२२) *'तमेतं वेदानुवचनेन'* इत्यादि। *'विज्ञाय प्रज्ञां कु* (बृ॰आ॰ ४/४/२२), *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य'* (बृ॰आ॰ ४/५/६) इत्यादि च। स्मृतयोऽपि वेदानुसारिण्योऽसकृदेतदर्थमाहुः। ये तु पशुपत्यादयः शब्दाः स्ववाच्यानां सर्वेशतां सर्वकारणतां च प्रकाशयन्तः क्वचिदुपलभ्यन्ते ते किल नारायणात्मकतादृशस्ववाच्यवाचिन एव स्युरुक्तश्रुत्यविरोधात्। समन्वयलक्षणनिर्णयाच्चेति सर्वमवदातम्॥ ३७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यहाँ 'न' पद पूर्व सूत्रसे अनुवृत्त हुआ है—इस 'न' के योगसे समुदायार्थ है कि पतियोंका (पाशुपतादिक) सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है। किस कारणसे? *'असामञ्जस्यात्'* सामञ्जस्यका अभाव है अर्थात् वेदके साथ विरोध घटित होता है। इसका कारण है कि वेदमें एकमात्र नारायणकी ही विश्वकारणता है, उनसे भिन्न ब्रह्मा, रुद्र इत्यादिका नारायणकी कार्यताके रूपमें अभिधान किया गया है और उन नारायणके द्वारा उपदिष्ट अथवा व्यवस्थापित वर्णाश्रम धर्म, ज्ञान और भक्तिसे मुक्ति-प्राप्तिकी बात कही गयी है। यह बात अथर्वोपनिषदोंमें वर्णित है, यथा—*'तदाहुरेको ह वै नारायण इति ... चतुर्मुखोऽजायतेत्यादि च'*—यह महोपनिषद (१/१-८) वाक्य है। यही कह रहे हैं—एक नारायण ही आदिमें थे, उस समय न ब्रह्मा थे और न ही रुद्र, जल न था, अग्नि नहीं था, ये परिदृश्यमान पृथ्वी और अन्तरिक्ष भी न थे, नक्षत्रमण्डल, सूर्य, चन्द्र कोई भी न था। भगवान् नारायण अकेले रहनेके कारण प्रसन्न नहीं थे, इसलिए वे ध्यान-मग्न हो गये, इस अवस्थाको स्तोम (यज्ञ) कहा जाता है। इन ध्यानस्थ स्तोमसे चौदह पुरुष (चौदह मन्वन्तराधिपति) उत्पन्न हुए, इसी स्तोम शरीरसे एक कन्या (प्रकृति), पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय—ये दस बहिरिन्द्रिय, ग्यारहवीं संख्यापर पहुँचा अन्तरिन्द्रिय मन, बारहवाँ महत्तत्त्व, तेरहवाँ अहङ्कार, चौदहवाँ—दस प्राण, पन्द्रहवाँ—जीवात्मा, बुद्धि; रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—ये पाँच तन्मात्राएँ और आकाश, क्षिति, जल, अग्नि और वायु—ये पाँच महाभूत उत्पन्न हुए। इन ध्यानस्थ नारायणके ललाटसे त्रिलोचन त्रिशूलधारी पुरुषने (रुद्रने) जन्म लिया। उन्होंने श्री, सत्य, ब्रह्मचर्य, तपस्या और वैराग्यका

अवलम्बन किया। इन स्तोमसे ही चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुए इत्यादि। पुनः इसी अथर्ववेदके अन्य एक स्थलपर वर्णित है—(नारायणोपनिषद) *'अथ पुरुषो ह वै नारायणः—अकामयत प्रजाः सृजेय।'* इसके बाद (रति-अभावके बोधके बाद) उन आदिपुरुष नारायणने इच्छा की—इस प्रकार उपक्रमके बाद *'नारायणाद् ब्रह्मा जायते ... आदित्या जायन्ते इति'* श्रीनारायणसे ब्रह्माने जन्म लिया, उनसे ही रुद्र उत्पन्न हुए, उन्हींसे प्रजापति, इन्द्र, अष्टवसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्योंकी सृष्टि हुई। ऋग्वेदमें भी कहा गया है—*'अहमेव स्वयमिदं ... द्यावापृथिवी अविवेशे इत्यादि'*—इसका अर्थ है मुझ परमेश्वरने स्वयं ही यह वेदशास्त्र प्रकाशित किया है, जिसका अवलम्बन करके देवगण और मनुष्यगण भी प्रवृत्त हैं।

मैं जिसे चाहता हूँ, उसे रुद्र, ब्रह्मा, मन्त्रद्रष्टा और ज्ञानी बना देता हूँ। मैंने ही वेद-द्वेषियोंके ध्वंसके लिए रुद्रको शर-योजनके लिए उपयोगी धनुष दिया है। मैं ही लोगोंको ऐश्वर्य-मदसे मत्त करता हूँ। पृथ्वी और अन्तरिक्षमें मैं ही प्रविष्ट हूँ इत्यादि ऋग्वेदोक्त वाक्योंसे नारायणमें रुद्र आदि देवताओंके जनकत्वसे अवगत हुआ जा सकता है। पुनः यजुर्वेदमें भी उनसे ही मोक्ष-कारणता व्यक्त हो रही है, यथा—*'तमेतं वेदानुवचनेन'* इत्यादि—उन परमेश्वरकी वेद-व्याख्या द्वारा, तपस्या द्वारा, प्रज्ञा द्वारा, उपवास द्वारा, उपासना करके मुक्ति प्राप्त होगी, इत्यादि। और भी है—उन्हें जानकर ध्यान करें। आत्मा ही दर्शनीय, मननीय, और ध्यातव्य है इत्यादि श्रुतियोंमें ज्ञान-भक्तिको मुक्तिकी कारणता रूपमें प्रतिपादन किया है। स्मृति-वाक्योंने वेदार्थका अनुसरण करके बहुत बार यही बात कही है। तब किसी-किसी वेद और स्मृतिमें जो पशुपति इत्यादि शब्द सुने जाते हैं और वे सर्वेश्वरत्व और सर्वकारणत्वादि अर्थोंका प्रकाश करते हैं, उनमें उपपत्ति (युक्तिसङ्गतता) यह है कि सभी पशुपति इत्यादि शब्दोंसे स्वाभिधेय अर्थमें (शिवादिको) नारायणपर ही जानना होगा, अन्यथा उक्त वेद-वाक्योंके साथ विरोध होगा। इसके अतिरिक्त वेदान्त-वाक्यमें परमेश्वरके समन्वयरूप सिद्धान्त भी रक्षणीय हैं, अतएव महेश्वरादि शब्दोंको नारायणवाचक ही जानना चाहिये॥ ३७॥

सूक्ष्मा-टीका—पत्युरिति। पशुपतेर्गणपतेर्दिनपतेश्चेत्यर्थः। तत्कार्यतां नाराय-णोत्पन्नतां मोक्षञ्चेति चादभिधत्ते इत्यन्वयः। तदाहुरिति महोपनिषद्वाक्यमेतत्। तस्मिन् पुरुषा इति। तेजो महत्तत्त्वम्। आत्मा जीवः। स्फु
ब्रह्मादीनामुत्पत्तिरभिहिता। अथ पुरुष इति नारायणोपनिषद्-वाक्यमेतत्। अर्थः प्राग्वत्। अहमित्याश्वलायनशाखीयवाक्यमेतत्। अहं परमेश्वरः। अत्रापि यमिच्छामि तं रुद्रं ब्रह्माणं वा करोमीति तत्कार्यत्वं रुद्रादीनामुक्तम्। इत्थं नारायणस्य तदितरसर्वकारणतायां श्रुतिर्दर्शिता। अथ तमेतमित्यादिना तदर्पितकर्मादीनां मोक्षकारणताभिधीयते। तमेतमित्यादिना कर्मणां मोक्षहेतुता विज्ञायेत्यादिना ज्ञानभक्त्योरिति विवेचनीयम्। स्मृतयोऽपीति। ताश्च श्रीमनुमहाभारतवैष्णवादयः पीठके वेदान्तस्यमन्तके च द्रष्टव्याः। इह विस्तरभयान्नोपात्ताः। ननु पशुपत्यादयः शब्दाश्चेद्वेदेषु क्वचित् स्युस्तर्हि तेषां का गतिरिति चेत् तत्राह ये त्विति। ते किलेति। सर्वेश्वरः सर्वहेतुर्यो नारायणः स एवास्मद्वाच्यः इति ते शब्दा वदन्तीति न काप्यसङ्गतिरित्यर्थः। तत्र हेतुरुक्तः श्रुतीत्यादि। उक्तश्रुतयश्च तदाहुरित्यादयो बोध्याः। ये खलु महेश्वरादिशब्दाः शितिकण्ठादीन् प्रकृत्य क्वचित् पठ्यन्ते तेऽपि तेषां पारमैश्वर्यं नावेदयेषुः। महेन्द्रादिशब्दवत् तेषामनधिकार्थत्वात्। इन्द्रशब्द एवेदि परमैश्वर्य इति धात्वर्थानुसारात् पारमैश्वर्यवाचकः स पुनर्महच्छब्देन विशेषितः कमतिशयमावेदयत्। तस्मान्महावृक्षशब्दवन्निरर्थिकेयं संज्ञा। तेषामापेक्षिकमेवोत्कर्षं वदिष्यन्तीति तत्त्वविदः। नारायणशब्दस्तु श्रीपतेरेव संज्ञा पूर्वपदात् संज्ञायामग इति सूत्रेण तस्यां णत्वविधानात्॥ ३७॥

सूक्ष्मा-सार— *'पत्युरित्यादि'* सूत्रका अर्थ है—पत्युः—पशुपति, गणपति और दिनपतिके। तत्कार्यताम्—अर्थात् नारायणसे उत्पत्ति और मोक्ष है। *'मोक्षञ्च'* इस पदमें 'च' शब्दका 'अभिधत्ते' (उपदेश किया है) इस क्रियाके साथ अन्वय है। तदाहुरित्यादि वाक्य महोपनिषदसे उद्धृत है। *'तस्मिन् पुरुषा'* इत्यादि वाक्यमें 'तेजः' से अर्थ है महत्तत्त्व और आत्मासे अर्थ है जीव। अन्यांश सुस्पष्ट है। इस श्रुतिमें एक नारायणसे ब्रह्मादिकी उत्पत्ति कही गयी है। *'अथ पुरुषोऽकामयत'* इत्यादि वाक्य नारायणोपनिषदका है। इसका अर्थ पूर्ववत् है। *'अहमेव स्वयमिदम्'* इत्यादि वाक्य आश्वलायन-शाखाके अन्तर्गत है। इस श्रुतिके अन्तर्गत 'अहम्' पदका अर्थ परमेश्वर है। इसमें कहा गया है—मैं जिसे चाहता हूँ, उसे रुद्र, ब्रह्मा आदि बना देता हूँ—इस वाक्य द्वारा उन परमेश्वरसे ही रुद्रादिकी उत्पत्ति कही गयी है। इस प्रकार नारायणमें ही उन्हें छोड़कर समस्त वस्तुओंकी कारणताका

प्रमाण श्रुतियाँ दिखा रही हैं। इसके बाद *'तमेतम्'* इत्यादि श्रुति द्वारा कहा गया है कि परमेश्वरमें समर्पित कर्मादि ही मुक्तिके कारण हैं। *'तमेतम्'* इत्यादि वाक्यसे कर्मको मुक्तिका कारण कहा है। *'विज्ञाय प्रज्ञाम् कु* इत्यादि वाक्य द्वारा ज्ञान और भक्तिको मोक्षका कारण कहा गया है—इसे जानना चाहिये। *'स्मृतयोऽपीत्यादि'* से तात्पर्य है मनुसंहिता, महाभारत और विष्णुपुराण स्मृतियोंके वाक्य, पीठक और वेदान्तस्यमन्तक नामक ग्रन्थ देखने चाहिये। विस्तार भयसे यहाँ उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं। प्रश्न है—पशुपति इत्यादि शब्द यदि वेदमें किसी-किसी अंशमें रहते हैं—तब उनकी उपपत्ति क्या? यह यदि कहते हो तो इसका उत्तर 'ये तु' इत्यादि वाक्य द्वारा दे रहे है। *'ते किलेत्यादि'* से तात्पर्य है—सर्वेश्वर, सर्वकारण श्रीनारायण, वे ही हमारे (पशुपति इत्यादि शब्दोंके) अभिधेय (वर्ण्य-विषय) हैं—इन शब्दोंसे यही कहा जा रहा है, अतः कोई असङ्गति नहीं है, यही तात्पर्य है। इस विषयमें श्रुतिका अविरोधरूप हेतु *'श्रुत्य विरोध'* इत्यादि वाक्य द्वारा कहा गया है। उक्त श्रुतिके अर्थमें *'तदाहुरित्यादि'* श्रुतिको जानना चाहिये। सिद्धान्त यह है कि शितिकण्ठादिको अधिकार करके इस प्रकरणमें जो महेश्वरादि शब्दोंका उल्लेख है—इन शब्दोंसे शितिकण्ठादि परमेश्वरत्वको नहीं समझना है। जिस प्रकार महेन्द्र इत्यादि शब्दोंसे इन्द्रादिको जाना जाता है, उनसे उत्कृष्ट और किसी देवताको नहीं क्योंकि इन्द्र शब्दमें *'इदि परमैश्वर्य'* इदि धातुका अर्थ परमेश्वर है, इदिके उत्तरमें 'र' प्रत्ययके योगसे इन्द्र शब्दकी निष्पत्ति हुई है, अतः इसका अर्थ परमेश्वर है और महत् शब्द द्वारा विशेषित होनेके कारण उनसे अधिक किसी और को जानना होगा। अतएव महावृक्षादि शब्दके समान इस संज्ञा (नाम) का कोई अर्थ नहीं है। शब्दतत्त्वविद्गण कहते हैं—महेश्वरादि शब्द अन्य देवताओंकी अपेक्षा शिव प्रभृति (इत्यादि) के उत्कर्षवाचक हैं किन्तु नारायण शब्द श्रीपतिका ही नाम है। इस नामसे जाना जाता है कि *'पूर्वपदात् संज्ञायामगः'* (पा॰सू॰ ८/४/३) अर्थात् समास निबद्ध पदमें पूर्वपदस्थनत्वके कारण र, ष, वर्ण रहनेपर परपदस्थ 'न' कारका णत्व होता है—इस सूत्रानुसार णत्व हो सकता है॥ ३७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जैनमत निरसनके बाद अब पाशुपत मतादिका निराकरण कर रहे हैं। आदि शब्दसे यहाँ शैव, गाणपत्य और सौर इत्यादि सभी सम्प्रदायोंको जानना चाहिये। इसका तात्पर्य है कि जैनमतकी अपेक्षा इन सभी मतोंका अपकर्ष ही प्रदर्शन करेंगे। सर्वप्रथम, पाशुपत मतावलम्बियोंके मतमें पाँच पदार्थ स्वीकृत हुए हैं यथा कारण, कार्य, योग, विधि एवं दुःखान्त। जीवगणोंका पाश पशु शब्द वाच्य है अर्थात् बन्धन मोचनके लिए ही पशुपति द्वारा यह मत प्रवर्त्तित हुआ है, इसलिए यह मत पाशुपत नामसे विख्यात है। इस मतमें पशुपति ही संसारके निमित्त कारण हैं, महदादि पदार्थ उनके कार्य हैं। ॐकार पूर्वक ध्यानादिका नाम ही योग और त्रैकालिक स्नानादि ही विधि है एवं दुःखकी निवृत्ति ही मुक्ति है। शैवगणोंके मतमें शिव, गाणपत्यगणोंके मतमें गणेश और सौरगणोंके मतमें सूर्य ही प्रकृति और कालकी सहायतासे जगत्‌की सृष्टि करते हैं। ये ही जगत्कर्त्ता हैं और इन्हींकी उपासनासे जगदीश्वरका सामीप्य और दुःख-निवृत्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है।

इन सब स्थलोंपर पूर्वपक्ष यह है कि इन सब मतोंका सिद्धान्त युक्तियुक्त है कि नहीं? पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि घटादि कार्यमें कु

कारण होंगे और इनके द्वारा भी निर्दिष्ट-उपाय-मतोंके द्वारा मुक्ति सम्भव होगी। इन्हीं पूर्वपक्षवादियोंके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि पशुपति इत्यादिका सिद्धान्त सङ्गत नहीं है, क्योंकि यह सामञ्जस्यहीन है अर्थात् सारा सिद्धान्त ही वेदविरुद्ध है। वेदमें एकमात्र नारायणका ही जगत्-कर्त्तृत्व स्वीकृत हुआ है और अन्यान्य देवताओंका कार्य विष्णुकी अधीनतामें निष्पन्न होता है। विष्णु द्वारा आदिष्ट वर्णाश्रमधर्म, ज्ञान और भक्ति ही मुक्तिके उपाय रूपमें निर्णीत हुए हैं। इस विषयमें विस्तृत व्याख्या भाष्य और टीकामें देखनी चाहिये।

श्रीमद्भागवत (६/१६/३५) में देखा जाता है—

तव विभवः खलु भगवन् जगदुदयस्थितिलयादीनि।
विश्व सृजस्तेऽंशांशास्तत्र मृषा स्पर्धन्ते पृथगभिमत्या॥

अर्थात् हे भगवन्! जगत्में उत्पत्ति, स्थिति, लय और प्रवेश नियमादि जो कु
है। वह विश्वस्रष्टा ब्रह्मादि देवगण—आपके ही अंशांश हैं अर्थात् आपका अंश जो पुरुषावतार है—उनके अंश हैं। सृष्टि आदि कार्यमें पृथक्-पृथक् ईश्वरके रूपमें जो अभिमान करते हैं, वह वृथा है।

और भी,

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥

(श्रीमद्भा॰ २/६/३२)

हरिकी आज्ञासे ही नियुक्त होकर मैं संसारका सृजन करता हूँ। उनके ही अधीन होकर शिव इस विश्वका संहार करते हैं। त्रिगुणमायाशक्तिधर (अन्तरङ्गा चित्-शक्ति, बहिरङ्गा मायाशक्ति एवं तटस्था जीवशक्तिको धारण करनेवाले) श्रीहरि विष्णुरूपमें विश्वका पालन करते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

परम ईश्वर कृष्ण स्वयं भगवान्।
ताँते बड़ ताँर सम केइ नाहि आन॥

ब्रह्मा-विष्णु हर एइ सृष्ट्यादि ईश्वर।
तिने आज्ञाकारी कृष्णेर, कृष्ण अधीश्वर॥

(चै॰च॰म॰ २१/३४, ३६)

अर्थात् कृष्ण स्वयं-भगवान् परम ईश्वर हैं। कोई भी उनसे न बड़ा है और न ही कोई इनके समान। वे त्र्यधीश हैं—अर्थात् गोलोक, परव्योम और देवीधामके अधीश्वर अथवा गोकु
अधीश, कारण और समष्टि, हिरण्यगर्भ अथवा व्यष्टि, विराट् अथवा तीनों सर्गके अधिपति, सत्त्व-रज एवं तमोगुणके अधिष्ठाता, विष्णु, ब्रह्मा और शिवके ईश, चित्-जीव और माया शक्तियोंके अधिदेव भू, भुवः और स्वः व्याहृतियोंके अधिनाथ और स्वर्ग, मर्त्त्य और पातालके अधिष्ठानेश्वर हैं।

जगत्-सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, जगत्-पालन कर्त्ता विष्णु और जगत्-संहारकर्त्ता शिव—ये तीनों ही कृष्णके आज्ञाकारी सेवक हैं। कृष्ण ही एकमात्र सर्वेश्वर हैं।

श्रीमद्भागवतमें और भी वर्णन प्राप्त है—

एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते अविद्ययात्मन्युपधीयमाने।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥
(श्रीमद्भा॰ ५/५/६)

पूर्वोक्त प्रकारसे जीवात्मा एवं परमात्माका विवेक अविद्या द्वारा आच्छादित हो जाता है, जिससे मन कर्मोंके अधीन हो जाता है और पुरुष कर्मनिष्ठ हो जाता है। अतः जब तक मुझ सर्वेश्वर भगवान् वासुदेवमें प्रीति नहीं होती, तब तक जीवको देह-बन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता॥ ३७॥

अवतरणिका भाष्य—अथ वेदविरोधिनां तेषामनुमानेनैव निमित्तमात्रेश्वरकल्पना। तथा सति लोकदृष्ट्यनुसारेण सम्बन्धादि वाच्यम्। तच्च विकल्पासहमित्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—वेदविरोधी इन सब वादियोंकी विश्वके निमित्तकारण रूपमें ईश्वरकी कल्पना एकमात्र अनुमान प्रमाण द्वारा है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण उसमें नहीं है। इसमें क्षति यह है कि इस प्रकारके अनुमानमें लौकिक न्यायानुसार व्याप्ति इत्यादि सम्बन्ध बताने होते हैं, फिर भी ये सम्बन्धादि विचारणीय नहीं होते। अब सूत्रकार इसी बातको कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—इत्थञ्च वेदार्थं त्यजन्तस्ते वेदविरोधिनो वस्तुतोऽनुमानपरा एव भवेयुः। ततश्च प्रत्यक्षोपजीवकेनानुमानेनैव निमित्तमीश्वरं कल्पयन्तु। तथा च सति लोकदृष्टरीत्या तस्येश्वरस्य जगति कार्ये कर्त्तृत्वं संवध्नन्त्वित्युपक्षिपति अथेत्यादिना। त्तमिति चेत् तत्राह तच्चेति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस प्रकारसे वेदार्थत्यागी ये वादीगण परिणामतः वेदविरोधी हैं, अतएव अनुमान प्रमाण सहायमात्र होंगे, इसके बाद प्रत्यक्षमूलक अनुमान द्वारा ईश्वरकी निमित्त कारण रूपमें कल्पना करेंगे—इस कल्पनाके आधारपर लौकिक नियमानुसार उन ईश्वरका जगत्-कार्यमें कर्त्तृत्व सम्बन्ध बताना होगा—*'अथेत्यादि'*

ग्रन्थ (वाक्य) द्वारा यही उपक्रम किया है। यहाँ यदि कहते हो, हाँ, सम्बन्ध इत्यादि अवश्य वाच्य हैं, इसके उत्तरमें 'तच्च' इत्यादि कहकर प्रतिवाद करते हैं।

सूत्र—सम्बन्धानुपपत्तेश्च॥ ३८॥

सूत्रार्थ—'सम्बन्धानुपपत्तेः'—पशुपति इत्यादिमें केवल पतिका ही असामञ्जस्य है, ऐसा नहीं है, इस अनुमानमें पतिका जगत्-कर्त्तृत्व सम्बन्ध 'च' भी युक्तियुक्त नहीं है, इसका कारण उसका देहहीनत्व है॥ ३८॥

सूत्रानुवाद—पशुपति इत्यादि वादीगणोंके मतमें पशुपति आदि देहरहित हैं। शरीररहित होनेके कारण उनके प्रधान आदिसे सम्बन्धकी उपपत्ति नहीं हो सकती, अतएव उनके द्वारा सृष्टि रचना भी नहीं हो सकती। लोकमें शरीरधारी तन्तुवाय (जुलाहा) का ही तन्तु आदिके साथ सम्बन्ध देखा जाता है॥ ३८॥

गोविन्दभाष्य—पत्युर्जगत्कर्त्तृत्वसम्बन्धो नोपपद्यते अदेहत्वादेव। सदेहस्यैव कु

गोविन्दभाष्यानुवाद—पतिका (पशुपति, गणपति, दिनपतिका) जगत्-कर्त्तृत्व सम्बन्ध अनुपपन्न (युक्तिरहित) है, क्योंकि उनका शरीर नहीं है। देखा जाता है, घटादिकर्त्ता कु
मृत्तिकादिके साथ सम्बन्ध है, हस्तपदादि न रहनेपर वह मृत्तिकादि ले नहीं सकेगा। इसी प्रकार शिवादिके भी हाथ-पैर न रहनेके कारण उनका जगत्-कर्त्तृत्व सम्भव नहीं हो सकता॥ ३८॥

सूक्ष्मा-टीका—स्पष्टम्॥ ३८॥

सूक्ष्मा-सार—सुस्पष्ट है॥ ३८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त वेदविरोधी वादीगणों द्वारा संसारकी निमित्तकारणतामें इस प्रकार अनुमानमात्रके द्वारा ही ईश्वरकी कल्पना की गयी है। उक्त कल्पनाको स्वीकार करनेपर उन्हें लौकिक दृष्टान्तके अनुसार सम्बन्ध भी बताना होगा। किन्तु ये सम्बन्धादि भी

विचारसङ्गत नहीं हैं। सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि वादीगणों द्वारा कल्पित जगदीश्वरगणोंका विश्व-कर्त्तृत्व सम्बन्ध भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि इनके द्वारा कल्पित ईश्वरोंके शरीर नहीं हैं। वे जो कु
उनमें दोनोंके ही शरीर हैं—इसी रूपमें उनका मृत्तिका, तन्तु आदिके साथ सम्बन्ध घटित होता है और घट-पटादिका निर्माण होता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

कालवृत्त्यात्ममायायां गुणमय्यामथोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात्।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/५/२६-२७)

चिच्छक्तियुक्त अतीन्द्रिय पुरुष भगवान्ने कालशक्ति द्वारा क्षोभित अपनी बहिरङ्गाशक्ति मायामें अपने अंश पुरुष रूपसे उसमें चिदाभासरूप बीज स्थापित किया। इसके बाद कालके द्वारा प्रेरित अव्यक्त मायासे तमका नाश करनेवाला, विशिष्ट ज्ञानस्वरूप महत्तत्त्व आविर्भूत हुआ। वह अपनेमें सूक्ष्म रूपसे स्थित विश्वको प्रकाशित करके विराजित हुआ (जिस प्रकार बीजगत अङ्कुर विशाल वृक्षको प्रकटित करता है)।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

घटेर निमित्त—हेतु यैछे कु
तैछे जगतेर कर्त्ता पुरुषावतार॥

कृष्ण-कर्त्ता, माया ताँर करेन सहाय।
घटेर कारण चक्र-दण्डादि उपाय॥

दूर हइते पुरुष करे मायाते अवधान।
जीव रूप वीर्य ताते करेन आधान॥

(चै॰च॰आ॰ ५/६३-६५)

अर्थात् घट-निर्माणमें जैसे चक्र-दण्डादि एवं कु
कारण हैं, उसी प्रकार कु

श्रीनारायण निमित्त कारण हैं। वे ही जगत्‌के कर्त्ता हैं। माया चक्रदण्डादि स्थलीय गौण निमित्त कारण हैं। जिस प्रकार कु
निर्मित नहीं होता, उसी प्रकार नारायणके बिना भी जगत्‌का सृजन नहीं होता। चक्रदण्डस्थलीय गौणरूप निमित्त-कारण मूलनिमित्त-कारण नारायणके सहायक रूपमें कार्य करते हैं। कारणाब्धिशायी पुरुष दूरसे ही मायाके प्रति दृष्टिपात करके उसमें जीवरूप वीर्यका आधान करते हैं॥ ३८॥

सूत्र—अधिष्ठानानुपपत्तेश्च॥ ३९॥

सूत्रार्थ—'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च'—अधिष्ठान अर्थात् आश्रयकी अनुप-पत्तिवश ईश्वरका (पतिका) जगत्-कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है अर्थात् देहधारी व्यक्ति किसी भी एक स्थानपर अधिष्ठान करके सृष्टिकार्य करता है, किन्तु इस ईश्वरका देहादि न रहनेके कारण कहीं भी अधिष्ठान नहीं है, वे फिर सृष्टि कैसे करेंगे?॥ ३९॥

सूत्रानुवाद—कु
हैं, वैसे पशुपति प्रधानसे निर्माण नहीं कर सकते, क्योंकि वे शरीरी नहीं हैं। शरीरवाले कु

गोविन्दभाष्य—इयमप्यदेहत्वादेव। सदेहो हि कु
कु

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस अधिष्ठानकी अनुपपत्तिमें भी ईश्वरकी (शितिकण्ठादि पतिकी) देहहीनता कारण है। देखा जाता है कि घटादिका निर्माणकर्त्ता कु
अनुष्ठानोंमें अधिष्ठान करके (अवस्थित होकर) ही घटादि कार्य करते हैं। अतएव किसी भी अधिष्ठानमें देहधारण आवश्यक है। शिवमें यदि ऐसा नहीं है, तो उनका जगत्-कर्त्तृत्व भी सम्भव नहीं है॥ ३९॥

सूक्ष्मा-टीका—अधिष्ठानेति। इयमिति सूत्रस्थस्त्रीलिङ्गपदार्थो निर्दिष्टः॥ ३९॥

सूक्ष्मा-सार—अधिष्ठानेत्यादि सूत्रके भाष्यमें 'इयमपि' इस स्त्रीलिङ्ग पदका अर्थ सूत्रोक्त अधिष्ठाननुपपत्ति निर्दिष्ट हुआ है॥ ३९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त मतावलम्बियों द्वारा कल्पित जगदीश्वरके देहादिके अभाववश एवं कोई अधिष्ठान न होनेके कारण उनके विश्वस्रष्टृत्वकी उपपत्ति नहीं होती। प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार यही घोषणा कर रहे हैं। इनके पूर्वोक्त दृष्टान्तानुसार भी निराकारका जगत्-सृष्टत्व सम्भव नहीं है। कु
रहनेसे ही घटादि निर्माण-कार्य होते हैं। इस प्रकार पशुपतिका मत कल्याणवादीके लिए आदरणीय नहीं है, क्योंकि यह सिद्धान्त वेदबाह्य है। पुनः उनमें जन्यत्व भी तो है, तब उनके जगत्-कारणत्वकी सम्भावना कहाँ? *'तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात्त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोजायते'* से पशुपतिका जन्यत्व ज्ञात हो रहा है। भगवान् श्रीपुरुषोत्तम ही जगत्के अभिन्न निमित्तोपादन कारण हैं—उनसे भिन्न समस्त भूतजात उनके उपादेय हैं।

श्रीमद्भागवत (३/२६/१९) में द्रष्टव्य है—

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥

जीवोंके अदृष्टवश क्षोभधर्मको प्राप्त सम्पूर्ण जीवोंके उत्पत्ति-स्थान प्रकृतिमें जब परमपुरुष परमात्माने चित्-रूप जीवशक्तिका आधान किया, उससे ही प्रकाश बहुल तेजोमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ॥ ३९॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वदेहस्यैव जीवस्य देहेन्द्रियादि यथाधिष्ठानमेवं पत्युरपि तादृशस्य प्रधानं तत् स्यादिति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आक्षेप है कि जीवका कोई अपना देह नहीं है, किन्तु ऐसा होनेपर भी वह देह और इन्द्रियादिको आश्रय करके जिस प्रकार रहता है तो इसी प्रकार ईश्वर पशुपति इत्यादि भी प्रकृतिको अधिष्ठान करके रह सकते हैं—ऐसा यदि कह रहे हो, तो इसमें असङ्गति दिखा रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। तादृशस्यादेहस्य। तत् करणम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति है कि यदि जीव देहहीन ही है तो उस प्रकारके जीवका। *'प्रधानम् तत् स्यादिति'* में तत् का अर्थ है—इन्द्रिय।

सूत्र—करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ—करणवच्चेन्न—इन्द्रियोंके समान प्रधानको अधिष्ठान करके ईश्वर (पति) जगत्‌की सृष्टि करते हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। कारण? 'भोगादिभ्यः'—ऐसा होनेसे सुख-दुःख भोग, जन्म-मरण इत्यादि सम्बन्धके कारण ईश्वरका अनीश्वरत्व अर्थात् जीवतुल्यता हो पड़ती है॥ ४० ॥

सूत्रानुवाद—यदि कहें कि अशरीरी जीवमें जैसे इन्द्रियादि करण एवं देह (कलेवर) आदिका अधिष्ठातृत्व होता है, उसी प्रकार पशुपतिमें प्रधानादिका अधिष्ठातृत्व सम्भव है, तो ऐसा नहीं कह सकते। इससे तो पुण्यादि योगसे पतिके ईश्वरत्वकी हानि हो जायेगी॥ ४० ॥

गोविन्दभाष्य—प्रलये प्रधानमस्ति। तच्च करणमिव क्रियोपकारकमधिष्ठाय पतिर्जगत् कु
प्रधानोपादानहानादिना जन्ममरणप्राप्त्या सुखदुःखभोगादनीश्वरत्वप्रसङ्गात्॥ ४० ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रलयकालमें प्रकृति (प्रधान) विद्यमान रहती है, वह इन्द्रियके समान क्रियाकी निष्पादिका है। इसी क्रियोपकारक (क्रिया-साधना) को अधिष्ठान करके पति (पशुपति इत्यादि) जगत्‌की सृष्टि करते हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे तो उनके भोग, जन्म, मरण-प्राप्ति इत्यादि हेतुओंसे ईश्वरत्वकी हानि घटित होती है। किस प्रकार? वही कह रहे हैं—प्रधान इन्द्रियस्थानीय है, उसे ग्रहण करनेपर जन्म और त्याग करनेपर मृत्युकी प्राप्ति होती है। अतएव ईश्वरके जन्म-मरण जनित सुख-दुःख भोगके कारण उनका अनीश्वरत्व प्रसङ्ग हो पड़ता है॥ ४० ॥

सूक्ष्मा-टीका—करणवदिति। करणस्थानीयेति। अयमर्थः। वस्तुतो देहेन्द्रियैः शून्योऽपि जीवो यथा तानि गृहीत्वा तैः कर्म करोति मृत्युकाले तानि त्यजतीति जातो मृतश्च सुखी दुःखी च भवतीति सोऽभिधीयते तथा देहेन्द्रियरहितोऽपि पतिः प्रधानमुपादाय तेन सर्गं करोति प्रलये तत् त्यजतीति चेदभिधेयं तर्हि सोऽपि जीव इव जातो मृतश्च सुखी दुःखी च भवेदिति शक्यतेऽभिधातुम्। प्रधानग्रहणं तस्य जन्म सुखित्वञ्च तत्त्यागस्तु तस्य मरणं दुःखित्वञ्चेति बोध्यम्। तथाच पतिरीश्वर इति मतक्षतिरिति॥ ४० ॥

सूक्ष्मा-सार—ननु इत्यादि अवतरणिका भाष्यके *'तादृशस्य'* का अर्थ है देहरहित जीवका *'तत् स्यात्'* इतिमें तत् अर्थात् करण (इन्द्रिय) होगा। करणवदित्यादि सूत्रके भाष्यमें *'करणस्थानीय प्रधानो पादानहानादिना'* इत्यादिका तात्पर्य है—वास्तवमें तो जीव देह एवं इन्द्रिय शून्य है, तो भी जिस प्रकार वह समस्त ग्रहण करके उनकी सहायतासे कर्मका निर्वाह करता है और मृत्युके समय उनका त्याग कर देता है, उसी प्रकार जीव जात और मृत, सुखी और दुःखी नामोंसे अभिहित होता है, इसी प्रकार पति देहेन्द्रियादि रहित होकर भी प्रधानको ग्रहण करके उसकी सहायतासे जगत्‌की सृष्टि करते हैं और प्रलयका समय उपस्थित होनेपर उस प्रधानका त्याग कर देते हैं—इस प्रकारसे यदि तुम्हारा (पतिकर्त्तृत्ववादीका) वक्तव्य है तो वे भी (पति भी) जीवके समान जात और मृत, सुखी और दुःखी होंगे—यह कहा जा सकता है। किस कारणसे? प्रकृतिका ग्रहण करनेपर उनका जन्म और सुख भोग है और प्रकृतिका त्याग करनेपर उनका मरण स्थानीय और दुःख प्राप्ति जाननी चाहिये। इसमें क्षति यह है कि पति ईश्वर हैं—इस मतकी हानि हुई है॥ ४०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पाशुपत मतवादी यदि कहते हैं कि देहरहित जीवके जिस प्रकार देह और इन्द्रियाँ अधिष्ठान होते हैं, इसी प्रकार उनके द्वारा कथित जगत्-पतिका अधिष्ठान प्रधान रहता है। इसके उत्तरमें सूत्रकार कह रहे हैं कि जीवेन्द्रियके समान प्रधानको अधिष्ठान अर्थात् आश्रय करके उनके ईश्वर भी जगत्‌की सृष्टि करते हैं—यह कहना सङ्गत नहीं होता। ऐसा होनेसे तो ईश्वरोंको भी जीवके समान सुख-दुःख भोग और जन्म-मरण स्वीकार करना पड़ जायेगा और बड़ी अनहोनी-सी बात हो जायेगी। पशुपतिका अधिष्ठानत्व कभी भी सम्भव नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद् यथाग्निः पृथगुल्मुकात्॥

भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२८/४०-४१)

जिस प्रकार अग्नि चिनगारियोंके साथ जलती हुई लकड़ीके साथ (अपनेसे ही उत्पन्न हुए) धूएँके साथ आपाततः एक रूपमें प्रतीयमान होनेपर भी इन दोनोंसे पृथक् है, उसी प्रकार पञ्चभूत, इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीव संज्ञक आत्मासे सर्वोपादानरूप भगवान् नित्य पृथक् हैं॥४०॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वदृष्टानुरोधेन पत्युः किञ्चिद्देहादिकं कल्प्यम्। दृश्यते ह्युग्रपुण्यो राजा सदेहः साधिष्ठानश्च राष्ट्र
चेत् तत्र दूषणं दर्शयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यदि कहो अदृष्टके अनुरोधसे पतिके किसी रूपमें देह, इन्द्रिय इत्यादि कल्पित हो सकते हैं। देखा जाता है कि अत्युग्र तपस्याके पुण्यसे कोई राजा देहवान रहकर और कु
अधिष्ठान करके राष्ट्र
व्यक्तिको राष्ट्र
दिग्दर्शन कर रहे हैं।

सूत्र—अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा॥४१॥

सूत्रार्थ—'अन्तवत्त्वम्'—यह कहनेसे उनका (पशुपति आदिका) विनाश स्वीकार करना होता है, यहाँ 'वा' शब्द 'च' अर्थमें है (अतः) और 'असर्वज्ञता' सर्वज्ञता न होनेका दोष भी होता है॥४१॥

सूत्रानुवाद—पशुपति आदिमें पुण्य-पापादिरूप अदृष्टका भोग माननेपर उनमें भी जीवके समान अन्तवत्त्व एवं असर्वज्ञतारूप दोष उपस्थित हो पड़ते हैं॥४१॥

गोविन्दभाष्य—एवं सति देहादिसम्बन्धघटितमन्तवत्त्वं तस्य जीवस्य स्यात् असार्वज्ञ्यञ्च। न हि कर्माधीनस्य सार्वज्ञ्यं युज्यते। तथा चाविनाशी सर्वज्ञश्चेत्यभ्युपगमक्षतिः। न चैवं ब्रह्मवादे कोऽपि दोषः तस्य श्रुतिमूलत्वात्। दर्शितं चेदं श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादित्यत्र। पतीनां स्वातन्त्र्यमिह निरस्तम्। तदीयत्वेन सत्कारस्त्वङ्गीक्रियते। एवञ्च पाशुपतादित्रिमतीपरिहारार्थमेषा पञ्चसूत्री परिहारहेतु-

सामान्यात्। अतः पत्युरित्यविशेषोल्लेखः। तार्किकादिसम्मतेश्वरकारणतानिरासार्थं सेत्यन्ये॥४१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यदि अदृष्टके अनुरोधसे पतिका देहादि सम्बन्ध होता है, तो जीवके समान उनका देहादि सम्बन्धसे घटित (होनेवाला) विनाशित्व (अन्तवत्त्व) हो पड़ेगा और उनकी सर्वज्ञताकी भी हानि होगी, क्योंकि जो कर्माधीन है, उस व्यक्तिकी सर्वज्ञता युक्तिसङ्गत नहीं होती। इसके फलस्वरूप तुम्हारे द्वारा सम्मत कि पति अविनाशी और सर्वज्ञ है—इस अभ्युपगम (प्रतिज्ञा अर्थात् अपने वाक्यकी सिद्धिके लिए तुमने जिस सिद्धान्तका निर्देश किया था) की भी हानि घटेगी। ब्रह्म-कर्त्तृत्ववादमें ऐसे किसी भी दोषका अवकाश नहीं है, क्योंकि वह श्रुतिमूलक है। *'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्'* (ब्र॰सू॰ २/१/२७) सूत्रमें ब्रह्मकर्त्तृत्वादिको श्रुतिमूलकरूपमें दिखाया गया है। इस प्रबन्धमें पतिगणोंकी स्वाधीनतामात्र ही खण्डित हुई है, किन्तु तदीयत्व (उन ब्रह्मके सम्बन्ध) रूपमें उनकी पूजनीयता स्वीकृत है। इस प्रकार पाशुपतादि तीन मतोंके निराकरणके लिए ये पाँच सूत्र प्रस्तुत हुए हैं। पाशुपत-मतके समान सौर-गणपत भी समान हेतुओंके आधारपर परिहरणीय है। इसीलिए सूत्रकारने पत्युः कहकर निर्विशेष भावसे सामान्य 'पति' का उल्लेख तीनोंके लिए ही किया है। दूसरे लोग कहते हैं—तार्किकादियों (पतञ्जलि आदि) द्वारा सम्मत ईश्वरके जगत्कारणतावादके निराकरणके लिए यह पञ्चसूत्री है॥४१॥

सूक्ष्मा-टीका—अस्तवत्त्वमित्यादि स्फु

तत्राह पतीनामिति। न हि देवता वयमवजानीमः। किन्त्वज्ञैः समर्थितं तासां पारमैश्वर्यं निरस्यामः, भागवतीयास्ताः सत्कु

आदिना पतञ्जलिर्ग्राह्यः। तत्पक्षे दृष्टान्तोऽत्र सङ्गतिः। सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र विरोधादसम्भवो विहितः प्राक्। तद्वदुपादानत्वकर्त्तृत्वयोरेकत्र विरोधादसम्भवो भवतीति निमित्तकारणेश्वरवादेन समन्वये विरोधः स्यादिति। समाधानन्तु श्रुतिशरणत्वादाचार्यस्य भविष्यतीति॥४१॥

सूक्ष्मा-सार—अन्तवत्त्वमित्यादि सूत्रका अर्थ स्पष्ट है। यदि कहो, इससे देवताओंका अनादर है, यह दोष है, तो इसपर कहा है *'पतीनां स्वातन्त्र्यमिह निरस्तम्'* इति इसका तात्पर्य यह है कि हम देवताओंकी अवज्ञा नहीं कर रहे है—तो क्या कर रहे हैं? अज्ञजनों द्वारा

समर्थित इन सब देवताओंके परमेश्वरत्वको निरस्त कर रहे है—इतना ही बस। वे सभी भगवदीय हैं—भगवान्से सम्बन्धित हैं—इसलिए हम उनका सम्मान करते हैं। अतएव कु
'तार्किकादीति' आदि पद द्वारा पतञ्जलि (योगदर्शनकार) ग्रहणीय है। इस पक्षमें इस प्रकरणमें यह दृष्टान्त सङ्गति है। एक धर्मीमें सत्त्व और असत्त्व दो धर्म विरोधके कारण एक साथ रह नहीं सकते—यह पहले भी कहा गया है, इसी प्रकार उपादानकारणत्व और कर्त्तृत्वके विरोधके कारण एक धर्मीमें उनकी स्थिति असम्भव है। इस प्रकार निर्मित-कारण ईश्वरमें इस वादके साथ समन्वयमें विरोध हो सकता है, इसका समाधान आचार्यने श्रुतिको आश्रय करके किया है॥ ४१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पाशुपत-मतावलम्बीगण यदि कहते हैं कि अदृष्टके अनुरोधसे उनके द्वारा कथित जगदीश्वरकी किञ्चित् देह, इन्द्रियादि कल्पना की जा सकती है। दृष्टान्त स्थलपर देखा जाता है कि अतिशय उग्र पुण्यवान कोई राजा शरीर धारण करके कु
अधिष्ठान करते हुए राज्यका अधिपति हो सकता है। सूत्रकार इस प्रकार पूर्वपक्षकी युक्तियोंका निराकरण करते हुए कहते हैं कि इस प्रकारसे कहनेपर जीवके समान उस पतिका भी अन्तवत्व अर्थात् विनाशित्व और असर्वज्ञत्व उपस्थित हो जाता है। जो सर्वशक्तिमान है, वह ऐसा कभी हो नहीं सकता। इसका कारण है कि शास्त्रमें उन्हें अविनश्वर और सर्वज्ञ कहकर निर्धारित किया है। इसलिए श्रुतिमूलक सिद्धान्तका अनुयायी ब्रह्म-कर्त्तृत्ववाद ही निर्दोष एवं युक्तिसङ्गत है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः,
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः,
पूर्णोद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/२३)

अर्थात् आप ही एकमात्र सत्य हैं, क्योंकि आप ही सबके आत्मा—परमात्मा हैं। आप इस परिदृश्यमान जगत्से भिन्न हैं। आप जगत्के जन्मादिके मूलकारण, पुराण-पुरुष एवं सनातन हैं। आप

पूर्ण, नित्यानन्दमय, कूटस्थ, विनाशरहित होनेके कारण अमृतस्वरूप, निरञ्जन अर्थात् मायिक गुणरहित, विशुद्ध, अनन्त अर्थात् अपरिच्छिन्न और अद्वय हैं।

इस प्रकार वेद और वेदार्थ-विरुद्ध होनेसे यह पाशुपत-मत उपेक्षणीय और अनादरणीय है। जिस मतमें ईश्वर भी अनन्त और सर्वज्ञ हो और प्रधान एवं जीव भी अनन्त हो, तो ईश्वर उनका अन्त नहीं पा सकेगा और ईश्वर सर्वज्ञ हो पायेगा और उनके सम्बन्धमें ईश्वर सब कु
हो जायेंगे॥ ४१ ॥

अवतरणिका भाष्य—अथ शक्तिवादं दूषयति। सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पादिगुणवती शक्तिरेव विश्वहेतुरिति शाक्ता मन्यन्ते। तत् सम्भवेन्न वेति विचिकित्सायां तया विश्वसृष्ट्युपपत्तेः सम्भवादिति प्राप्ते प्रत्याचष्टे—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद (वेद-विरुद्ध मतोंके खण्ड) क्रममें शक्तिवादके दोषोंका प्रदर्शन करते हैं। शाक्तगण मानते हैं कि शक्ति सर्वज्ञा है। वह सत्यसङ्कल्पता इत्यादि गुणोंसे विशिष्ट है, इसलिए शक्ति ही विश्वकी रचयित्री (शक्तिकर्त्री) है। इसमें सन्देह यह है कि यह सम्भव है कि नहीं है। इसमें पूर्वपक्षी कहते हैं—हाँ, यही सम्भव है, क्योंकि शक्ति यदि सर्वज्ञा और सत्यसङ्कल्पा है, तो उससे विश्वकी सृष्टि हो सकती है। सूत्रकार इस मतका खण्डन करते हुए कहते हैं कि—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ननु मास्तु शैवादिराद्धास्तेन समन्वये विरोधास्तस्य वेदविरुद्धत्वात् शाक्तसिद्धान्तेन तु स तत्रास्तु उपपत्तेः। सर्वोऽपि कर्त्ता शक्तिं विना कर्त्तुं न प्रभवति। यद्धेतुकं यत्र यत्कर्त्तृत्वं तत् तस्यैव हेतोः शक्यं वक्तु
हेतुश्च शक्तिरतः शक्तिरेव जगद्धेतुरिति प्राग्वदाक्षेपः। शाक्तसिद्धान्तोऽत्र विषयः। स मानमूलो भ्रममूलो वेति संशये तस्य मानमूलतां वक्तु
सार्वज्ञ्येत्यादिना। तयेति शक्त्या।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति है कि अच्छा शैवादि सिद्धान्त द्वारा ब्रह्म समन्वयमें विरोध नहीं है, न हो क्योंकि ये वेद-विरुद्ध हैं, किन्तु शाक्त-सिद्धान्त द्वारा ब्रह्म-समन्वयमें विरोध

होगा, क्योंकि शक्तिके कर्त्तृत्व सम्बन्धमें युक्ति है। यह युक्ति इस प्रकार है कि सभी कर्त्ताशक्तिके बिना कोई कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते क्योंकि कारणको लेकर जिस कार्यमें जिनका कर्त्तृत्व है, उस कार्यमें उस हेतुका भी कर्त्तृत्व कहा जा सकता है, जिस प्रकार तप्त लौहमें दाह कर्त्तृत्व है, वह अग्निका जन्य ही है, अतएव इस दाह-कार्यमें अग्निका ही कर्त्तृत्व है—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक द्वारा (अग्निके होनेपर दाह है—इस प्रकारका अन्वय और अग्निके अभावमें दाहका अभाव है—इस प्रकारका व्यतिरेक सिद्ध होता है। इसी प्रकार यहाँ यह हेतुशक्ति है, अतएव वही जगत्की सृष्टिका कारण है, इस प्रकार पूर्वके समान आक्षेप अथवा प्रत्युदाहरण सङ्गति इस प्रकरणमें भी जाननी चाहिये। इस अधिकरणका विषय शाक्त-सिद्धान्त है। इसमें संशय यह है कि यह भ्रममूलक है अथवा प्रमाणसिद्ध? इस संशयपर पूर्वपक्षवादी अपनी प्रमाणमूलकता बतानेकी प्रक्रिया दिखा रहे हैं—*'सार्वज्ञा सत्यसङ्कल्पादीत्यादि'* वाक्य द्वारा। *'तादृश्या तया विश्वसृष्ट्युपपत्तेः'* में 'तया' का अर्थ है—उस शक्तिके द्वारा।

८—उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम्

शाक्तेय-मतका खण्डन

सूत्र—उत्पत्त्यसम्भवात्॥ ४२॥

सूत्रार्थ—चेतन द्वारा अनधिष्ठित होनेके कारण 'उत्पत्ति'—शक्ति द्वारा जगत्की उत्पत्ति होना 'असम्भवात्' सम्भव नहीं होनेके कारण शक्तिकी जगत्-कारणता नहीं कही जा सकती॥ ४२॥

सूत्रानुवाद—शक्ति विश्वकी हेतु नहीं हो सकती, क्योंकि केवल शक्तिसे जगत्की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। पुरुष संसर्गके बिना शक्तिके द्वारा विश्वकी उत्पत्ति असम्भव है। साथ ही जीवकी उत्पत्ति सर्वथा अनुपपन्न है, क्योंकि आत्मा अज, नित्य, शास्त्रवत और पुराण (चिरन्तन) है॥ ४२॥

गोविन्दभाष्य—नेत्याकर्षणीयम्। इहापि वेदविरोधादनुमानेनैव शक्तिकारणता कल्पनीया। तेन लोकदृष्ट्यैव युक्तिर्वक्तव्या। ततश्च शक्तिर्विश्वजनयित्रीति

नोपपद्यते। कु
स्त्रीभ्यः पुत्रादयः सम्भवन्तो वीक्ष्यन्ते लोके। सार्वज्ञ्यादिकं त्वप्रेक्ष्याभिहितं लोकेऽदर्शनात्॥ ४२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्व सूत्रसे 'न' पदका आकर्षण करना होगा। इस पक्षमें (शक्तिवाद पक्षमें) भी प्रत्यक्ष श्रुति नहीं है। परमेश्वरके जगत्-कर्त्तृत्वकी ज्ञापक प्रत्यक्ष श्रुतिके साथ विरोध रहनेके कारण अनुमान-प्रमाण द्वारा शक्तिके कर्त्तृत्वकी शाक्तगण कल्पना कर लेते हैं। इसमें लौकिक दृष्टान्तके अनुसार युक्तिका प्रयोग करना उचित है। इस युक्तिमें कहते हैं शक्ति ही विश्वजनयित्री (जननी) है, पर इस कथनसे युक्ति सिद्ध नहीं होती। क्यों? वही कह रहे हैं कि चेतन (शक्तिवान्) का सम्बन्ध न रहनेके कारण केवल शक्तिसे जगत्की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। दृष्टान्त है कि यदि स्त्रीजाति पुरुषसे संयोग प्राप्त न करे, तो उससे पुत्रादिको जन्म-ग्रहण करते नहीं देखा जाता। यह जो कहते हो कि शक्तिमें सर्वज्ञत्वादि धर्म हैं, तो यह अप्रेक्ष्याभिहित है अर्थात् बिना विचार किये कहा गया है, क्योंकि लोक-व्यवहारमें ऐसा कोई दृष्टान्त देखा नहीं जाता। अतः सिद्ध होता है कि वेद-विरोधी शक्तिगत सर्वज्ञत्वादिके द्वारा शक्तिका जगत्-कर्त्री रूपमें अनुमानमात्र है, क्योंकि चेतन-अनधिष्ठित शक्ति लोकमें देखी नहीं जाती। अतएव यह जो उक्ति कही गयी, वह शक्तिवादकी पक्षपातिताके कारण ही कही गयी है॥ ४२॥

सूक्ष्मा-टीका—दूषयत्युत्पत्त्यादिना। केवलायाः पुरुषसंसर्गरहितायाः। एतदेव विशदयति न हीत्यादिना। अप्रेक्ष्य अविचार्य। लोकेऽदर्शनादिति वेदविरोधिभिस्तैर्लोक-दृष्ट्यैव शक्तिर्मन्तव्या। न हि तादृशी लोके दृश्यते। ततो रभसाभिधानमेतत्॥ ४२॥

सूक्ष्मा-सार—पूर्वपक्षीके इस शाक्त मतका *'उत्पत्त्यसम्भवात्'* सूत्र द्वारा सूत्रकार खण्डन करते हैं—*'केवलायाः इति'* का अर्थ है—पुरुष-सम्बन्धसे रहित स्त्रीसे सन्तानकी उत्पत्ति नहीं होती। इसीको *'न हीत्यादि'* वाक्य द्वारा विशद (विस्तृत) रूपसे विवृत कर रहे हैं। 'अप्रेक्षा' का अर्थ है बिना विचार किये। *'लोकेऽदर्शनादिति'*—वेद विरोधी इस सार्वज्ञयादि द्वारा लौकिक दर्शनानुसार ही शक्तिका अनुमान करना होगा। किन्तु

लोक-व्यवहारमें शक्तिकी सर्वज्ञता देखी नहीं जाती अतएव यह उक्ति अविमृश्यवादितासे अतिरिक्त अन्य कु

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब शाक्तेय मतवादका खण्डन आरम्भ करते हैं। शाक्तगण मानते हैं कि शक्ति ही सार्वज्ञ्य, सत्यसङ्कल्पादि गुणोंसे युक्त है एवं वह विश्व-जननी है अर्थात् उसीसे जगत्की सृष्टि आदि होती है। किन्तु इस स्थलपर विचारणीय विषय यह है कि क्या यह सम्भव है अथवा नहीं है। पूर्वपक्षी-शाक्त-मतावलम्बी कहते हैं कि शक्ति जब इस प्रकार गुणयुक्ता रूपमें प्रसिद्ध है, तब उसीसे जगत्की उत्पत्ति सम्भव हो अर्थात् युक्तियुक्त हो। इस पूर्वपक्षके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि केवल शक्तिके द्वारा जगत्की उत्पत्ति असम्भव है। यह वेद-विरुद्ध है और इसकी कल्पना अनुमानके आधारपर है। लौकिक दृष्टान्तमें भी देखा जाता है कि पुरुषके संसर्गके बिना केवल स्त्रियोंसे पुत्रादिकी उत्पत्ति किसीने भी कभी नहीं देखी। और एक बात है—शक्ति सर्वज्ञता, सत्यसङ्कल्पादि गुणोंसे युक्त है, यह जो कहा कहा जाता है, वह विमृश्यकारियों एवं प्रेक्षावानोंका मन्तव्य नहीं हो सकता। कारण जगत्में यह देखा नहीं जाता।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें देखा जाता है—

वासुदेव सङ्कर्षण प्रद्युम्नानिरुद्ध।
द्वितीय चतुर्व्यूह एइ—तुरीय विशुद्ध॥

ताँहा ये रामेर रूप महासङ्कर्षण।
चिच्छक्ति आश्रय तिंहो कारणेर कारण॥

(चै॰च॰आ॰ ५/४१-४२)

इस विषयमें परमाराध्यतम हमारे श्रीलप्रभुपाद द्वारा लिखित अनुभाष्यमें वर्णन है—ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके द्वितीयपादमें *'उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण'* में श्रीशङ्कराचार्यने अपने भाष्यमें चतुर्व्यूह विषयमें जिस भ्रमपूर्ण विचारका उत्थापन किया है, उसकी मीमांसाके लिए ग्रन्थकारने ४१एवं ४२वीं संख्यामें उक्त मतवादका निराकरण किया है। अद्वयज्ञान विष्णुवस्तुको दृश्यजगत्के अन्यतम वस्तुज्ञानमें

श्रीपादने जो भ्रान्ति प्रस्तुत की है, उसे पञ्चरात्रमें श्रीनारायणने स्वयं उन्हें समझा दिया है, किन्तु बद्ध और आसुर प्रकृति जीवोंके मोहनके लिए उन्हें जिस विप्रलिप्सा (प्रतारणेच्छा अथवा छल) का अवलम्बन करना पड़ा, उसीके फलस्वरूप अद्वैतपन्थी अप्पयदीक्षित आदि भ्रान्तिकी चरम सीमामें पहुँच गये हैं। बद्ध जीवोंकी योग्यतामें चतुर्व्यूह ज्ञान सम्भव नहीं है। उनकी निबुर्दिता-वर्द्धनक लिए आचार्यकी इस प्रकारकी दुरुक्ति है। चतुर्व्यूह शुद्धसत्त्वमय, चिच्छक्ति-विलासी एवं षड्विध ऐश्वर्यसम्पन्न हैं। उन्हें दरिद्र एवं निःशक्तिक कहना और समझना मूढ़ जीवका धर्म है। ऐसे जीव मायासे मोहित होनेके ही योग्य हैं। वैकु

इस प्रकारकी भ्रान्तिकी सम्भावना है। श्रीपाद शङ्कराचार्यने ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायमें द्वितीय पाद ४२ से ४५ संख्यक-सूत्रोंके भाष्यमें इस चतुर्व्यूहवादका निरास करनेका व्यर्थ प्रयास किया है। श्रीपाद शङ्कराचार्यके भाष्यसे चतुर्व्यूहके सम्बन्धमें उनके द्वारा कथित विकृत धारणामूलक वाक्य उद्धृत किये जा रहे हैं—

उत्पत्त्यसम्भवात् (४२) *(शाङ्करभाष्य) ××× तत्र भागवता मन्यन्ते, भगवानेवैको वासुदेवो निरंजनो ज्ञानस्वरूपः परमार्थ-तत्त्वम्। स चतुर्द्धात्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितो वासुदेव व्यूहरूपेण सङ्कर्षण व्यूहरूपेण प्रद्युम्न व्यूहरूपेणानिरुद्ध—व्यूहरूपेण च। वासुदेवो नाम परमात्मोच्यते, सङ्कर्षणो नाम जीवः, प्रद्युम्नो नाम मनः, अनिरुद्धो नामाहङ्कार। तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिः इतरे सङ्कर्षादयः कार्यम्। तमित्थंभूतं परमेश्वरं भगवन्त-मभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैर्वर्षशतमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यते इति। तत्र यत्तावदुच्यते, योऽसौ नारायणः परः अव्यक्तात् प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा, स आत्मनात्मानमेकधा व्यूहावास्थित इति, तन्न निराक्रियते। यत् पुनरिदमुच्यते—वासुदेवात् सङ्कर्षण उत्पद्यते, सङ्कर्षणात् प्रद्युम्नः, प्रद्युम्नाच्चनिरुद्धः इति अत्र क्रमः—न वासुदेव—संज्ञकात् परमात्मनः, सङ्कर्षण संज्ञस्य जीवस्योत्पत्तिः सम्भवति, अनित्यत्वादि दोष—प्रसङ्गात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्, ततश्च नैवास्य भगवत प्राप्तिर्मोक्षः स्यात् कारणाप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलय प्रसङ्गात्। प्रतिषेधिष्यते चाचार्यो जीव-स्योत्पत्ति 'नात्माश्रुतेर्नित्यात्वाच्च ताभ्यः'—इति तस्मादसङ्गतैषां कल्पना।*

अर्थात् भागवतगणोंका मत है कि भगवान् वासुदेव एक हैं, वे निरञ्जन, ज्ञानवपु हैं और वे ही परमार्थतत्त्व हैं। वे स्वयं अपने आपको चतुर्धा स्वरूपसे विभाजित करके विराजमान हैं। ये चार प्रकारके व्यूह इस प्रकार हैं, प्रथम वासुदेवव्यूह, द्वितीय सङ्कर्षणव्यूह, तीसरा प्रद्युम्नव्यूह और चौथा अनिरुद्धव्यूह—ये चारों प्रकारके ही व्यूह उनका शरीर हैं। वासुदेवका दूसरा नाम 'परमात्मा' है, सङ्कर्षणका अन्य नाम 'जीव' है, प्रद्युम्नका नामान्तर 'मन' है और अनिरुद्धका और एक नाम 'अहङ्कार' है। इस व्यूह-चतुष्टयमें वासुदेवव्यूह ही पराप्रकृति अर्थात् मूलकारण है, सङ्कर्षण इत्यादि वासुदेवव्यूहसे समुत्पन्न हुए हैं, इसलिए सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध पराप्रकृतिके कार्य हैं। जीव दीर्घकाल तक भगवान्‌के मन्दिरमें गमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योगसाधनमें रत रहकर निष्पाप होते हैं और पुण्यशरीरी होकर पराप्रकृति भगवान्‌को प्राप्त करते हैं। महात्मा भागवतगण जो यह कहते हैं कि नारायण प्रकृतिसे परे और परमात्मा नामसे प्रसिद्ध तथा सर्वात्मा हैं, वह भी श्रुतिविरुद्ध नहीं है और वे अपने अनेक प्रकारके व्यूहभावमें अवस्थित अथवा विराजमान हैं। *'स एक धा भवति त्रिधा भवति'* (छा॰ ७/२६/२) वह भी हम स्वीकार करते हैं। अतएव भागवत-मतके उस अंशका निराकरण इस सूत्रका अभिप्राय नहीं है। भागवतवृन्द जो यह कहते हैं कि वासुदेवसे सङ्कर्षणका, सङ्कर्षणसे प्रद्युम्नका एवं प्रद्युम्नसे अनिरुद्धका प्रादुर्भाव हुआ है, इस अंशके निषेधके लिए आचार्यने यह सूत्र ग्रथित किया है।

वासुदेव-संज्ञक परमात्मासे अनित्यत्वादि दोषग्रस्त सङ्कर्षण संज्ञक जीवकी उत्पत्ति नितान्त असम्भव है। जीव यदि उत्पत्तिमान होता है, तो उसमें अनित्यत्वादि दोष अपरिहार्य (अवश्य ही) होंगे। जीवका स्वभाव नश्वर होनेसे उसका भगवत्-प्राप्ति रूप मोक्ष हो नहीं सकता। कारणके विनाशसे कार्यका विनाश अवश्यम्भावी है। आचार्य वेदव्यासने जीवकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें द्वितीय अध्यायके तीसरे पादके *'नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः'* (ब्र॰सू॰ २/३/१६) सूत्रके द्वारा निषेध किया है एवं उत्पत्तिके निषेध द्वारा नित्यता प्रमाणित करेंगे। अतएव यह कल्पना असङ्गत है।

श्रीमद्भागतवतमें द्रष्टव्य है—

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः॥

कालवृत्त्यात्ममायायां गुणमय्यामथोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/५/२५-२६)

अर्थात् द्रष्टारूप परमेश्वरकी दृष्ट-दृश्यानुसन्धानरूप अथवा कार्य-कारणरूपा शक्ति ही माया है। हे महाभाग्! इस मायाशक्तिके द्वारा ही परमेश्वरने परिदृश्यमान इस विश्वकी सृष्टि की है। चिच्छक्तियुक्त अतीन्द्रिय पुरुष भगवान्ने कालशक्ति द्वारा क्षोभित अपनी बहिरङ्गाशक्ति मायामें अपने अंश पुरुष रूपसे उसमें चिदाभासरूप बीज स्थापित किया।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें और स्पष्ट किया है—

सेइ त मायार दुइ विध अवस्थिति।
जगतेर उपादान प्रधान, प्रकृति॥

जगत् कारण नहे प्रकृति जड़रूपा।
शक्ति सञ्चारिया तारे कृष्ण करे कृपा॥

कृष्णशक्त्ये प्रकृति हय गौण-कारण।
अग्निशक्त्ये लौह यैछे करये जारण॥

अतएव कृष्ण मूल-जगत्कारण।
प्रकृति-कारण, यैछे अजागलस्तन॥

(चै॰च॰आ॰ ५/५८-६१)

अर्थात् इस मायाकी दो प्रकारकी अवस्थिति है, जगत्के उपादान कारणके रूपमें 'प्रधान' एवं जगत्के निमित्त कारणके रूपमें प्रकृति। गुणमाया प्रकृति कभी भी जगत्का कारण नहीं हो सकती। श्रीकृष्ण कृपा करके उसमें अपनी शक्तिका सञ्चार करते हैं। जिस प्रकार अग्निकी शक्तिसे लोहामें जलानेकी शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके ईक्षणके प्रभावसे प्रकृति जगत्की गौण-कारण-स्वरूप होती

है। अतएव श्रीकृष्ण ही जगत्‌के मूल कारण-स्वरूप हैं और प्रकृति अजागलस्तन (दुग्ध प्रदानमें असमर्थ स्तनाकार माँस-पिण्ड) अर्थात् गौण-कारण है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी श्रीकृष्णने कहा है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥
(श्रीगीता ९/१०)

अर्थात् हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षतामें बहिरङ्गा-प्रकृति या मायाशक्ति चर-अचर सहित सम्पूर्ण जगत्‌को प्रसव करती है, इसी कारणसे यह जगत् पुनः-पुनः परिवर्त्तित (उत्पन्न) होता है।

अन्ततः सङ्कर्षण नामके जीवको कारणवान (उत्पद्यमान) माननेपर अनित्य मानना होगा। जीव यदि यहीं नष्ट हो जाता है, तब परलोक जानेवाला कोई न होनेपर परलोकका भी अभाव हो जायेगा। अतएव स्वर्ग, नरक और अपवर्गादिके अभावमें नास्तिकताका साम्राज्य हो जायेगा॥ ४२॥

अवतरणिकाभाष्य—अथास्ति शक्तेरनुग्रहकर्त्ता पुरुषस्तेनानुगृहीता तु सा तद्धेतुरिति मतम्। तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस चर्चित (उक्त) विषयपर शक्तिवादी समाधान करते हैं कि अच्छा! शक्तिका अनुग्रहकर्त्ता अर्थात् अधिष्ठाता चेतन पुरुष (रुद्र) है, तो उसीसे अनुग्रहीता होकर शक्ति (दुर्गा) जगत् सृष्टिका हेतु होगी, यह हमारा मत है, तो इसपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथास्तीति। पुरुषः कपाली रुद्रः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'अथास्तीत्यादि'* से तात्पर्य है—अवतरणिका भाष्यस्थ पुरुष अर्थात् नरकपालधारी रुद्र।

सूत्र—न च कर्त्तुः करणम्॥ ४३॥

सूत्रार्थ—यदि शक्तिका परिचालक किसी एक चेतन पुरुषको स्वीकार करते हैं, तो 'कर्त्तुः' उन कर्त्ताका भी तो 'न च करणम्'

अर्थात् देह, इन्द्रियादि नहीं हैं, तब वे शक्तिकी परिचालना किस प्रकार करेंगे? ॥ ४३ ॥

सूत्रानुवाद—यदि कहें कि उस शक्तिका पुरुषके साथ संसर्ग है, तो इसपर कहते हैं कि कर्त्ताका भी शरीर इन्द्रियादि करणके अभाव होनेसे उसमें अनुग्राहकत्वकी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं है। अतः शक्तिकारणवाद शास्त्र-सम्मत नहीं है॥ ४३ ॥

गोविन्दभाष्य—यदि शक्त्यनुग्राहकः पुरुषोऽप्यङ्गीकार्यस्तर्हि तस्यापि विश्वोत्पत्त्युपयोगिदेहेन्द्रियादि करणं नास्तीति नानुग्रहोपपत्तिः। सति च तस्मिन् प्रागुक्तदोषानतिवृत्तिः॥ ४३ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यदि शक्तिके अनुग्राहक (उपजीव्य) अथवा अधिष्ठाता पुरुष अर्थात् नरकपालधारी रुद्रको स्वीकार करते हो, तो विश्व-सृष्टि करनेके लिए उपयोगी देह-इन्द्रियादि करण उनके भी होने चाहिये, किन्तु ऐसा तो है नहीं, तब वे शक्तिकी परिचालना (अनुग्राहकता) किस प्रकार करेंगे? अतएव अनुग्राहकताकी उपपत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहते हो कि देह, इन्द्रियादि करण उनके होते हैं, तो भी पूर्वोक्त (पहले कहे हुए) दोषोंसे निष्कृति (उद्धार) नहीं होती॥ ४३ ॥

सूक्ष्मा-टीका—न चेति। सति चेति। तस्मिन् करणेऽङ्गीकृते करणवच्चेदिति सूत्रोक्तदोषप्रसङ्ग इत्यर्थः॥ ४३ ॥

सूक्ष्मा-सार—*'न च कर्त्तुःकरणम्'* इस सूत्रमें भाष्यस्थ *'सति च तस्मिन्'* इत्यादि वाक्यमें तस्मिन् अर्थात् करण अर्थात् देहेन्द्रियादि स्वीकार करनेपर *'करणवच्छेद'* (ब्र॰सू॰ २/२/४०) इत्यादि सूत्र द्वारा प्रदर्शित दोषसे अव्याहति नहीं होगी। अभिप्राय यह है कि वहाँ कहा गया है कि ईश्वरका देह, इन्द्रियादि स्वीकार करनेपर जन्म-मरणादि होते हैं और इससे अनित्यत्व और जीवके समान सुख-दुःखादिके भोगके कारण अनीश्वरत्व आ जाता है॥ ४३ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—शाक्तमतवादी यदि कहें कि शक्तिका अनुग्रहकर्त्ता पुरुष (रुद्र) नहीं है, यह स्वीकार किया जाय, तो उस पुरुष द्वारा

अनुग्रहीता शक्ति ही जगत्-सृष्टि आदिका हेतु होगी। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि शक्ति-परिचालक चेतन पुरुषको स्वीकार करनेपर भी उनके देह, इन्द्रियादि नहीं हैं, अतएव वे शक्तिकी परिचालना किस प्रकार करेंगे? यदि देह, इन्द्रियादिको स्वीकार करते हैं, तो पूर्वोक्त दोष अर्थात् जगदीश्वरके देह, इन्द्रियादि स्वीकार करनेसे जन्म-मृत्यु प्रसङ्ग आता है और जीवके समान अनित्यत्व और सुख-दुःखाभागित्व होनेके कारण ईश्वरका व्याघात घटित होता है, तब इन सब दोषोंका निराकरण तो नहीं होगा।

इस सूत्रके शाङ्करभाष्यमें जो कहा गया है, उसका भी उद्धार करते हुए हमारे परमाराध्यतम श्रीलप्रभुपादने अपने भाष्यार्थमें जो लिखा है, उसे उद्धृत किया जा रहा है—भाष्यार्थ इस प्रकारसे है—इस प्रकारकी कल्पना जो असङ्गत है, उसका कारण है। लोकमें देवदत्तादि कर्त्तासे दात्रादि (दाँती, हँसिया आदि अथवा कु

नहीं देती, फिर भी भागवतगण वर्णन करते हैं कि सङ्कर्षण नामक कर्त्ता जीवसे प्रद्युम्न संज्ञक करण—मनका जन्म हुआ है, फिर उसी कर्त्तृजात (कर्त्तासे उत्पन्न) प्रद्युम्नसे (मनसे) अनिरुद्ध नामक अहङ्कारकी उत्पत्ति हुई। भागवतगण इस बातको यदि दृष्टान्त द्वारा न समझायें तो फिर उसे किस प्रकारसे इसे ग्रहण किया जा सकता है। इस तत्त्वका अवबोधक (सूचक) श्रुति-वाक्य भी सुना नहीं जाता।

इन सभी सूत्रोंके शाङ्करभाष्यका खण्डन श्रीलप्रभुपाद द्वारा लिखित अनुभाष्यको उद्धृत करते हुए बादमें किया जायेगा।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं साऽसूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥

(श्रीमद्भा० ३/२६/१९)

जीवोंके अदृष्टवश क्षोभधर्मको प्राप्त सम्पूर्ण जीवोंके उत्पत्ति-स्थान प्रकृतिमें जब परमपुरुष परमात्माने चित्-रूप जीवशक्तिका आधान किया, उससे ही प्रकाश बहुल तेजोमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ॥ ४३॥

अवतरणिका भाष्य—ननु नित्यज्ञानेच्छादिगुणकोऽसाविति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यदि कहो, इस शक्तिके परिचालक पुरुषके ज्ञान, इच्छादि गुण नित्य हैं, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—

सूत्र—विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः॥ ४४॥

सूत्रार्थ—'विज्ञानादिभावे' यदि उन कपाली पुरुष रुद्रके सृष्टिकार्यके उपयोगी नित्यज्ञान और नित्य-सङ्कल्पादि गुण कहते हो, तो 'वा'—निःसन्देह, 'तदप्रतिषेधः' हम उनका निषेध नहीं करते, क्योंकि यह कहना ब्रह्मवादके ही अन्तर्भूत है। इसमें हमारा कोई विवाद नहीं है॥ ४४॥

सूत्रानुवाद—कर्त्तामें प्राकृत करणका अभाव होनेपर उसमें स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया और इच्छादि करण हैं। विज्ञानादि (सबका कारणीभूत परब्रह्म) भावमें उसका प्रतिषेध नहीं है। ब्रह्मवादके अन्तर्गत होनेके कारण उसके विश्वहेतुत्वका प्रतिषेध नहीं है॥ ४४॥

गोविन्दभाष्य—तस्य पुरुषस्य नित्यज्ञानेच्छादिकरणमस्तीति चेत्तर्हि तदप्रतिषेधो ब्रह्मवादान्तर्भावः। तत्र तादृशात् पुरुषाद्विश्वसृष्ट्यङ्गीकारात्॥ ४४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'वा' पद पूर्वपक्षकी आपत्तिका निवारक है। शक्तिके अनुग्राहक पुरुष अर्थात् कपाली रुद्रमें जगत्-सृष्टि करनेके लिए उपयोगी नित्यज्ञान, नित्यसङ्कल्प एवं नित्य ऐश्वर्य स्वीकार करते हो, तो हम उसका निषेध नहीं करते, क्योंकि यह मत ब्रह्मवादके ही अन्तर्गत है। कारण यह है कि ब्रह्मके जगत्-कर्त्तृत्ववादमें इसी प्रकारके नित्यज्ञान एवं नित्य इच्छादिमान पुरुषसे (परमेश्वरसे) इस जगत्-सृष्टिको हम अङ्गीकार करते हैं॥ ४४॥

सूक्ष्मा-टीका—नन्विति। नित्यज्ञानेच्छादिः स पुरुषस्त्रिगुणशक्त्या जगत् निर्मातीति चेद्ब्रूयास्तर्हि नाममात्रेणैव विवादः भाषान्तरेण ब्रह्मवादमेव प्रस्तौषीति समुदायार्थः। तत्र तादृशात् पुरुषादिति विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तमित्यत्र निरूपितं तद्वीक्षणीयम्॥ ४४॥

सूक्ष्मा-सार—'ननु' इत्यादि अवतरणिकास्थ आशङ्का है कि नित्यज्ञान और इच्छादिमान वे पुरुष सत्त्व, रज और तम इन गुणोंकी शक्ति

द्वारा जगत्‌की सृष्टि करते हैं इस प्रकार यदि कहते हो तो हमारे साथ तुम्हारा नाममात्रका विवाद है अर्थात् तुम सृष्टिकर्त्ता, शक्ति परिचालक रुद्रको कहते हो और हम परमेश्वर श्रीहरिको कहते हैं। अतएव तुम भाषान्तर द्वारा ब्रह्मवादको ही समर्थन कर रहे हो, यह समस्त वाक्योंका तात्पर्य है। भाष्यान्तर्गत *'तत्र तादृशात् पुरुषात्'* इति का तात्पर्य *'विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्'* (ब्र॰सू॰ २/१/३१) द्वारा विवृत्त किया गया है, वहाँ देखना चाहिये॥ ४४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि शक्तिवादी कहें कि शक्तिके परिचालक पुरुषके नित्य-ज्ञान और नित्य इच्छादि गुण हैं, तो इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि यदि उस पुरुषमें नित्य ज्ञानेच्छादि गुणोंको स्वीकार करते हो, तो कोई प्रतिषेध अर्थात् निषेध नहीं है, क्योंकि यह मत तो ब्रह्मवादके अन्तर्गत ही है; ब्रह्मवादमें तादृश (उस प्रकारके) पुरुषसे जगत्‌की सृष्टि आदि अङ्गीकृत हुए हैं।

श्रीमद्भागवतमें श्रुति-स्तवमें देखा जाता है—

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/१४)

अर्थात् हे अजित! आप अपने सर्वोत्कर्षत्वका आविष्कार करें। आप स्थावर, जङ्गम शरीरधारी जीवोंके देहादिके आवरक गुण-विशिष्ट अविद्याका नाश करें, कारण आप स्वरूप द्वारा ही समस्त ऐश्वर्यको सम्यक् रूपसे प्राप्त कर चुके हैं। हे अखिल शक्त्यवबोधक! आप सृष्टि आदिके समयमें जब माया एवं चिच्छक्तिके साथ क्रीड़ा करते हैं, तब ही वेद आपका प्रतिपादन करते हैं।

इस सूत्रके शाङ्करभाष्यमें जो कहा गया है, उस भाष्यार्थको हमारे श्रीलप्रभुपादने स्वरचित अनुभाष्यमें उद्धृत करते हुए जो कु है, उसीको यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

भाष्यार्थ—भागवतोंका ऐसा अभिप्राय भी हो सकता है कि उक्त सङ्कर्षणादि जीव-भावान्वित नहीं हैं, वे सभी ईश्वर हैं, सभी

ज्ञानशक्ति और ऐश्वर्यशक्तिसे युक्त हैं, बल, वीर्य और तेजसे सम्पन्न सभी वासुदेव हैं, सभी निर्दोष, (रागादि दोषोंसे शून्य) निरधिष्ठान (उपादानरूप अधिष्ठानरहित) और निरवद्य (अनित्यत्वादि दोषशून्य) हैं। इसलिए उनके सम्बन्धमें उत्पत्तिका असम्भवरूप दोष नहीं है। इस अभिप्रायके उत्तरमें कहा जा रहा है कि इस प्रकारका अभिप्राय रहनेपर उत्पत्यसम्भव दोषका पूरी तरह निवारण नहीं होता, अन्य प्रकारसे यह दोष रह ही जाता है। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—ये परस्पर भिन्न हैं, एकात्मक नहीं, फिर भी सभी समदर्शी और ईश्वर हैं। यह अर्थ अभिप्रेत होनेपर अनेक ईश्वरोंको स्वीकार करना होता है। अनेक ईश्वरोंको स्वीकार करनेका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि एक ईश्वर स्वीकार करनेसे ही अभिलाषा पूर्ण होती है। और भी, भगवान् वासुदेव एक अर्थात् अद्वितीय परमार्थ तत्त्व हैं, इस प्रकार प्रतिज्ञा रहनेके कारण सिद्धान्त-हानि दोष भी प्रासङ्गिक हो उठता है। यह चतुर्व्यूह भगवान्का ही है और वे सभी समधर्मी हैं, इस प्रकार होनेपर भी उत्पत्त्यसम्भव अर्थात् उत्पत्तिके असम्भव दोषका परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी भी प्रकारकी अतिशय (अतिशयता अथवा न्यूनाधिक्य) न रहनेपर वासुदेवसे सङ्कर्षणका, सङ्कर्षणसे प्रद्युम्नका और प्रद्युम्नसे अनिरुद्धका जन्म (उत्पत्ति) नहीं हो सकता। कार्य-कारणके बीच कोई वैशिष्ट्य (भेद-औत्कर्षण) भी है, यह स्वीकार करना होगा, जैसे मिट्टी और घटमें अतिशय है अर्थात् मिट्टीसे घट (घड़ा) बनता है। अतिशयता (उत्कृष्टता) के न रहनेसे कार्य क्या है, कारण क्या है—इसका निर्देश अर्थात् पृथक् व्यवहार नहीं किया जा सकता। और भी देखिये, पञ्चरात्र सिद्धान्तीगण (पञ्चरात्रके सिद्धान्तको माननेवाले) वासुदेवादिकमेंसे ज्ञान एवं ऐश्वर्यादिकृत तारतम्य अर्थात् न्यूनाधिक्य भेदको स्वीकार नहीं करते हैं बल्कि व्यूह-चतुष्टयको अविशेष (भेदरहित) रूपसे वासुदेवके समान मानते हैं अर्थात् ये सब व्यूह-निर्विशेष वासुदेव ही हैं। यहाँ हमारी जिज्ञासा यह है कि भगवान्का व्यूह क्या चतुःसंख्यामें पर्याप्त अर्थात् स्थिर है। अवश्य ही नहीं है। ब्रह्मादिसे स्तम्ब पर्यन्त समस्त

जगत्-समुदाय भगवत्-व्यूह ही है—यह श्रुति, स्मृति दोनोंसे प्रमाणित होता है। इस विचारका खण्डन बादमें किया जायेगा॥ ४४॥

अवतरणिका भाष्य—शक्तिमात्रकारणतावादस्तु निःश्रेयसकामैरनादरणीय एवेत्युपसंहरति—

इति श्रीश्रीव्यासरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादे
श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—शक्तिमात्रकारणतावाद अर्थात् केवल शक्तिको ही जो जगत्-कर्त्री कहते हैं, उनका मत मुक्तिपथके पथिकोंके लिए आदरणीय नहीं है। यह कहकर द्वितीयपादका उपसंहार करते हैं।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादके
श्रीबलदेवकृत श्रीगोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

अवतरणिकाभाष्य टीका—शक्तिमात्रेति। न हि शक्तिः केवला किन्त्वीश्वरोपसृष्टा सेति देवात्मशक्तिमित्यादिश्रुतिराह। मार्कण्डेयोऽपि तामसकृन्नारायणीमवोचत्।

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादे
श्रीबलदेवकृत-अवतरणिका-भाष्यस्य सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'शक्तिमात्रकारणता वादस्तु'* इत्यादि अवतरणिका भाष्य है। श्रुति कह रही है केवल शक्ति रह नहीं सकती, किन्तु ईश्वर सम्पृक्त होकर ही वह रह सकती है— *'देवात्मशक्तिम्'* इत्यादि। मार्कण्डेयमुनिने भी स्वरचित मार्कण्डेयपुराणकी सप्तशतीमें इस नारायणीशक्तिके विषयमें बहुत बार वर्णन किया है।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादके
श्रीबलदेवकृत अवतरणिका भाष्यकी टीकाका अनुवाद समाप्त॥

सूत्र—विप्रतिषेधाच्च॥ ४५॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादे
सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—*'विप्रतिषेधात्'*—समस्त श्रुति, स्मृति और युक्तिके साथ विरोध (असामञ्जस्य) रहनेके कारण 'च' भी शक्तिवाद ग्रहणीय नहीं है॥ ४५॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—श्रुति एवं स्मृतिके साथ विरोध होनेसे यह शक्तिवाद कल्याणकारी लोगोंके लिए किसी भी प्रकारसे आदरणीय नहीं है॥ ४५॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—सर्वश्रुतिस्मृतियुक्तिविरोधात्तुच्छः शक्तिवादः। *'श्रुतयः स्मृतयश्चैव युक्तयश्चेश्वरं परम्। वदन्ति तद्विरुद्धं यो वदेत्तस्मान्न चाधम'* इति हि स्मृतिः। चशब्देनोत्पत्त्यसम्भवादिति हेतुः समुच्चितः। तदेवं सांख्यादिवर्त्मनां दोषकण्टकवैशिष्ट्यात् तद्रहितं वेदान्तवर्त्मैव श्रेयोऽर्थिभिरास्थेयमिति॥ ४५॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादे श्रीबलदेवकृतं मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—शक्तिवाद अति तुच्छ है, क्योंकि इस वादमें सभी श्रुति, स्मृति और युक्तियोंका विरोध घटित होता है। स्मृति-वाक्य है—*'श्रुतयः स्मृतयश्चैव युक्तयश्चेश्वरं परं वदन्ति तद्विरुद्धं यो वदेत्तस्मान्नचाधमः'* अर्थात् श्रुतिवाक्यनिचय (श्रुतिसमूह), स्मृति-वाक्य और युक्ति-समुदायने जिस परमेश्वरको जगत्-कारण कहकर निर्देश किया है, इसका जो भी विरोध करता है, उससे अधम और कोई व्यक्ति नहीं है। यह स्मृति (पद्मपुराण-वाक्य) अन्य वादकी निषेधक है। *'स्मृतयश्चैव'* में 'च' शब्द द्वारा '*उत्पत्त्यसम्भवात्*' अर्थात् जगत्की उत्पत्तिका कर्त्तृत्व शक्तिके द्वारा होना सम्भव नहीं है—यह हेतु भी ग्राह्य है। अतएव इस प्रकार सांख्यादि प्रस्थानमें बहुत दोष-कण्टक रहनेके कारण यह निष्कण्टक वेदान्तमार्ग ही श्रेयस्कामी व्यक्तियोंके लिए श्रद्धेय और आश्रयणीय है॥ ४५॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादके श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—विप्रतिषेधादिति। *'अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत'* *'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'* इत्यादि श्रुतिः *'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते'* (श्रीगीता ७/४८) इत्यादि स्मृतिश्च स्वरूपमेव विश्वकारणमाह। अत्र मनुः— *'या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कु*
प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृता' इति। युक्तिश्च—शक्तिवादः सत्यः सशक्तित्वात् ज्वालादिवदिति तथैव प्रत्याययति। सर्वेति। तदेतन्निखिलविरोधात् प्रहेयस्तन्मात्रवाद इत्यर्थः। श्रुतय इति पाद्मे। तदेवमिति। तथाच भ्रममूलेन शाक्तसिद्धान्तेन समन्वयो न शक्यो विरोद्धुमिति॥ ४५॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार— *'विप्रतिषेधादित्यादि'* सूत्र है, भाष्यस्थश्रुति है यथा *'अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत्'* प्रलयके बाद सृष्टिके प्रारम्भमें उन आदि पुरुष श्रीनारायणने इच्छा की इत्यादि। पुरुषसूक्त है *'पुरुष एवेदं सर्वम् यद्भूतं यच्च भाव्यम्'* अर्थात् अतीत (भूत), भविष्यत् और वर्त्तमानमें जो कु
उपादानस्वरूप हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा गया है— *'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते'* अर्थात् मैं समस्त विश्व-प्रपञ्चका उत्पत्ति कारण हूँ, मुझसे समस्त वस्तुकी स्थिति है इत्यादि स्मृति-वाक्य भी भगवत्-स्वरूपको विश्वका कारण बतला रहे है। इस विषयमें मनु कहते हैं—जो समस्त स्मृतियाँ वेद-बहिर्भूत अर्थात् वेद-विरुद्ध हैं और जो कु
और दर्शन मृत्युके बाद फलदायक नहीं होते, क्योंकि वे सब तमोगुणका कारण हैं। शक्तिवादके पक्षमें युक्ति यह है कि— *'शक्तिवादः सत्यः सशक्तित्वात् ज्वालादिवत्'* अर्थात् शक्तिवाद अभ्रान्त है, क्योंकि प्रत्येक कारण ही शक्त्यान्वित होकर कार्यका सम्पादन करता है। दृष्टान्त है जिस प्रकार अग्निकी शिखा दाहशक्ति विशिष्ट होकर ही दाहशक्तिका कारण होती है। यही युक्ति लोगोंमें ऐसी प्रतीति भी उत्पन्न कराती है। सर्व श्रुति इत्यादि भाष्यका सारार्थ यह है कि इन श्रुति, स्मृति, युक्ति विरोधके कारण केवल शक्तिका कारणतावाद हेय है। *'श्रुतयःस्मृतयश्चैव'* इत्यादि वाक्य पद्मपुराणमें उक्त है। *'तदेवं*

सांख्यादिवर्त्मनामित्यादि' भ्रममूलक शाक्त सिद्धान्त द्वारा वेदान्त-वाक्यका ब्रह्म-समन्वयमें विरोध घट नहीं सकता॥ ४५॥

श्रीश्रीव्यादेवसरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब शक्तिकारणतावाद, जो श्रेयकामी अर्थात् मोक्षकामी व्यक्तिमात्रके लिए अनादरणीय है, उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें उपसंहार करते हुए कहते हैं कि समस्त श्रुति, स्मृति एवं युक्तियोंसे विरुद्ध होनेके कारण यह शक्तिवाद अन्यन्त तुच्छ है। श्रुति, स्मृति एवं युक्ति परमेश्वरको ही जगत्-कारण कहती हैं, उनका विरोध करनेवालेकी अपेक्षा अधम कोई और हो नहीं सकता। 'च' शब्द द्वारा भाष्यकार समझा रहे हैं कि शक्तिका कर्त्तृत्व स्वीकार करनेपर जगत्की उत्पत्तिकी असम्भावना ही समुच्चित (सम्यक्रूपेण उचित) होती है। इसलिए जो अपने श्रेयकी कामना करते हैं, वे दोषरूप कण्टकोंसे युक्त सांख्यादि मतका परिहार करते हुए वेदान्तमार्गका ही अवलम्बन करेंगे।

श्रीमद्भागवतमें भगवदवतार श्रीकपिलदेवने अपनी मातासे कहा—

नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२५/४१)

अर्थात् हे जननी! मैं ही भगवान् हूँ, मैं ही प्रकृति हूँ, और मैं ही पुरुषावतारादिका नियन्ता भी हूँ। मैं समस्त भूतोंकी आत्मा हूँ। जीववृन्दका निदारुण संसार-भय मेरे अतिरिक्त और किसीके द्वारा निवृत्त नहीं होता।

श्रीपाद शङ्कराचार्यके इस मतवादके उत्तरमें श्रीरूपगोस्वामीने अपने लघुभागवतामृतमें (चतुर्व्यूहके वर्णन प्रसङ्गमें ८०-८३ श्लोकमें) जो लिखा है, उसका मर्मानुवाद हमारे श्रीलप्रभुपादने अपने पूर्वोक्त अनुभाष्यमें प्रदान किया है, उसीको इस स्थलपर उद्धृत किया जा रहा है—

परव्योम महावैकु 'महावस्थ' नामक विख्यात चतुर्व्यूहमें वासुदेव 'आदिव्यूह' हैं एवं चित्तमें उपास्य हैं, क्योंकि ये चित्तके अधिष्ठातृदेवता एवं विशुद्धसत्त्वमें अधिष्ठित हैं (श्रीमद्भ० ४/३/२३)। श्रीसङ्कर्षण इनके स्वांश अर्थात् विलास हैं, सङ्कर्षणको द्वितीय व्यूह एवं सभी जीवोंके प्रादुर्भावके आस्पद (अधिष्ठान) होनेके कारण 'जीव' भी कहा जाता है। असंख्य शारदीय पूर्ण शशधरों (चन्द्रमाओं) की शुभ्र किरणोंकी अपेक्षा उनकी अङ्गकान्ति और भी अधिक समधुर है। वे अहङ्कार तत्त्वके उपास्य हैं; उन्होंने अनन्तदेवमें अपनी आधारशक्तिका निधान किया है एवं वे स्मराराति रुद्र एवं अधर्म, अहि, अन्तक एवं असुरोंके अन्तर्यामीके रूपमें जगत्का संहार-कार्य सम्पादन करते हैं। उन सङ्कर्षणकी विलासमूर्त्ति प्रद्युम्न तृतीय व्यूह हैं। बुद्धिमानगण बुद्धितत्त्वमें इन प्रद्युम्नकी उपासना करते हैं। लक्ष्मी देवी इलावृत-वर्षमें उनका जयगान करती हुई उनकी परिचर्या कर रही हैं। किसी स्थानपर उनकी अङ्गकान्ति तप्त जाम्बूनद (स्वर्ण) की भाँति और किसी स्थानपर नवीन-नील जलधरकी भाँति है। वे विश्व-सृष्टिके निदान हैं और उन्होंने निज स्रष्टृत्व-शक्तिको कन्दर्पमें निहित किया है। वे विधाता, समस्त प्रजापतियों, विषयानुरक्त देव-मानवादि प्राणियों और कन्दर्पके अन्तर्यामीके रूपमें सृष्टिकार्य सम्पादन करते हैं। चतुर्थ व्यूह अनिरुद्ध इनकी विलास-मूर्त्ति हैं। मनीषीगण मनस्तत्त्वमें इन्हीं अनिरुद्धकी उपासना करते हैं। इनकी अङ्गकान्ति नील-नीरद जैसी है। ये विश्वरक्षणमें तत्पर हैं। वे धर्म, मनु, देवता एवं नरपतियोंके अन्तर्यामीके रूपमें जगत्का पालन करते हैं। मोक्षधर्ममें प्रद्युम्नको मनके अधिदेवता एवं अनिरुद्धको अहङ्कारके अधिदेवताके रूपमें निर्देशित किया गया है। पूर्वोक्त प्रकिया (अर्थात् प्रद्युम्न बुद्धिके एवं अनिरुद्ध मनके अधिदेवता हैं) सभी पञ्चरात्रों द्वारा सम्मत हैं।

श्रीभगवान्के विलास और अचिन्त्यशक्तिके सम्बन्धमें लघुभागवतामृत (श्लोक सं० ४४ से ४६) में श्रीलरूपगोस्वामीपादने जो लिखा है, उसके सारानुवाद रूपमें श्रीलप्रभुपादने जो लिखा है, उसे भी उद्धृत किया जा रहा है—

इस स्थानपर इस प्रकारकी आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं कि महावराहपुराणमें तो यही सुननेमें आता है कि उन परमात्मा हरिके सर्वविध देह ही नित्य हैं एवं सर्वविध देह ही जगत्में बार-बार अविर्भूत होते हैं। वे सभी देह हानोपादान (विकार) रहित हैं, अतः कभी भी प्रकृतिका कार्य नहीं है। सभी देह ही घनीभूत परमानन्दमय, चिदेकरस-स्वरूप, सर्वविध चिन्मयगुणयुक्त एवं सर्वदोष विवर्जित हैं। फिर नारदपञ्चरात्रमें भी कहा है कि—

मणिर्यथा विभागेन नील-पीतादिभिर्युतः।
रूप भेदमवाप्नोति ध्यान भेदात् तथाच्युतः॥

"अर्थात् वैदूर्यमणि जैसे स्थान भेदसे नील-पीतादि छवि धारण करती है, उसी प्रकार भगवान् अच्युत उपासना भेदसे अपने स्वरूपको विविधाकारोंमें प्रकाशित करते हैं।"

अतः किस कारणसे उन्हीं सब अवतारोंके तारतम्यकी व्याख्या करते हैं? उक्त आशङ्काके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि अचिन्त्य अनन्तशक्तिके प्रभावसे, एकाधारमें (उसी एक ही पुरुषोत्तममें) एकता एवं पृथक्ता, अंशत्व और और अंशित्व—ये सब कु
अथवा अयुक्त नहीं है। इनमें एकत्व होनेपर भी पृथक् प्रकाश विद्यमान है, जैसे दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भ० १०/६९/२) में नारदजीकी उक्ति है—"बड़े ही आश्चर्यका विषय है कि एक ही श्रीकृष्णने एक ही समयपर अलग-अलग गृहमें सोलह हजार महिषियोंका पाणिग्रहण किया है। पृथक् होनेपर भी एकरूपतापत्ति जैसे पद्मपुराणमें—वे ही निर्गुण, निर्दोष आदिकर्त्ता पुरुषोत्तमदेव हरि वे ही बहुरूप होकर पुनर्वार एकरूपमें शयन करते हैं।" एकका ही अंशांशित्व एवं विरुद्धशक्तित्व जैसे श्रीदशममें (श्रीमद्भ० १०/४०/७) में कहा है—आप बहुमूर्त्ति होकर भी एकमूर्त्ति हैं, आपके भक्तगण आपमें आविष्ट-चित्त होकर आपकी पूजा करते हैं। फिर कूर्मपुराणमें भी कहा है कि भगवान् सर्वतोभावेन अस्थूल होकर भी स्थूल हैं, अनणु होकर भी अणु हैं, अवर्ण होकर भी श्यामवर्ण और रक्तान्तलोचन हैं। ये सभी गुण परस्पर विरुद्ध होनेपर भी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे भगवान्में नित्य ही अवस्थित हैं, फिर भी परमेश्वरमें अनित्यत्व इत्यादि किसी भी प्रकारके

दोषका आहरण (समावेश) नहीं करना चाहिये, बल्कि इन सब गुणोंके परस्पर विरोधी होनेपर भी उनमें सर्वतोभावसे समाहार (सामञ्जस्य) करना उचित है। श्रीषष्ठ स्कन्धीय गद्य (श्रीमद्भ० ६/९/३४-३७) में भी परस्पर विरुद्ध अचिन्त्यशक्तिका वर्णन है, यथा—हे भगवन्! आपका अप्राकृत लीला-विहार अथवा क्रीड़ा दुर्बोध्यकी भाँति प्रकाशित होते हैं अर्थात् साधारण कार्य-कारण भाव आपमें दिखायी नहीं देता है; क्योंकि आप आश्रयरहित, शरीर-चेष्टारहित एवं स्वयं निर्गुण होकर एवं हम सबकी सहायताकी अपेक्षा किये बिना निज स्वरूपके द्वारा ही इस सगुण विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं, फिर भी इस कारणसे आपमें किसी प्रकारका विकार नहीं है। हे प्रभो! क्या आप देवदत्त नामधारी प्राकृत व्यक्तिकी भाँति इस संसारके देवासुररूप गुणविसर्गमें पतित होकर पराधीनतावशतः स्वीय देवताकृत सुख-दुःखादि फलको अपना मानकर स्वीकार करते हैं? अथवा अप्रच्युत (अप्रतिहत) चिच्छक्तिमान रहकर ही आत्माराम एवं उपरामशीलरूपमें इन सब विषयोंसे उदासीन अर्थात् साक्षी रूपमें ही अवस्थान करते हैं? हम इसे नहीं जानते। जो षडैश्वर्य परिपूर्ण हैं, जिनके गुणोंकी गणनाको कभी परिसमाप्त नहीं किया जा सकता, जो ईश्वर हैं, सभीके शासनकर्त्ता हैं, जिनका माहात्मय किसीकी भी बुद्धिका विषय नहीं हो सकता। और भी, वस्तु-स्वरूपके अबोधक अर्वाचीन विकल्प, वितर्क, विचार, प्रमाणाभास एवं कु
शास्त्रों द्वारा जिनकी बुद्धि विक्षिप्त है, उन वादियोंका विवाद जिनका स्पर्श करनेमें असमर्थ है, ऐसे अचिन्त्यशक्तिशाली आपमें पूर्वोक्त उभय गुण ही अविरोधी हैं। समस्त प्राकृत ज्ञानातीत केवल शुद्धज्ञानमय आपमें आपकी इच्छाशक्तिके द्वारा कौन-सा विषय दुर्घट हो सकता है? निर्विशेष एवं सविशेष अथवा चिद्गुणमय एवं निर्गुण, ये दोनों आपके दो भिन्न स्वरूप हैं; ऐसी बात नहीं, ये तो भावनाभेदसे आपके एक ही स्वरूपकी दो प्रकारकी प्रतीतिमात्र हैं। तब जिनकी बुद्धिका विषय सर्पादि हैं, उन सबके समक्ष जैसे एक रज्जुखण्ड ही सर्पादि भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकाशित होता है, उसी प्रकार जिन लोगोंकी बुद्धि सम और विषम अर्थात् अनिश्चित है, आप उन सबके अभिप्रायका

अनुसरण अथवा उन सबमें भिन्न-भिन्न मतवादोंका प्रकाशन करते हैं। इस स्थानपर कारिका (शास्त्रमें पद्य-संग्रह) है—

विना शरीर चेष्टत्वं विना भूम्यादिसंश्रयम्।
विना सहायांस्ते कर्मविक्रियस्य सुदुर्गमम्॥

इस कारिकामें देवताओंने कहा है—शारीरिक चेष्टाओं जैसे भूमि आदिका आश्रय एवं दण्ड-चक्रादिकी सहायताके बिना ही विकाररहित आपका कर्म अतिशय दुर्गम एवं गहन है। उपर्युक्त गुण-विसर्ग शब्दोंके द्वारा देवासुरके युद्धादिके बारेमें कहा गया है। इसमें पतित अथवा आसक्त होना—इसीको पारतन्त्र्य अर्थात् पराधीनता कहते हैं, क्योंकि आश्रित देवताओंके निकट आपका पारतन्त्र्य कृपाजनित है (अर्थात् उससे आपकी स्वतन्त्रताकी हानि नहीं होती), आप इसीलिए स्वकृत, आत्मीयकृत (अपनाये हुए) अर्थात् स्वीय देवताओं द्वारा अर्जित सुख-दुःखादि रूप शुभाशुभ फलोंको क्या अपना कहकर मानते हैं अथवा आत्मरामता होनेके कारण इसमें सम्पूर्णरूपेण उदासीनताका अवलम्बन करते हैं—यह हम नहीं जानते, किन्तु (विरुद्ध गुणशाली) आपमें दोनों ही विरुद्ध-भावोंका रहना असम्भव नहीं है। 'भगवति' इत्यादि दोनों विशेषण एवं 'ईश्वरे' आदि पाँच विशेषण इसमें हेतु हैं। इसमें 'भगवत्' शब्दके द्वारा सर्वज्ञता, 'अपरिगणित' आदि विशेषणोंके द्वारा भक्तवत्सलता, भक्तदुःखहारिता और दुष्ट-विनाशकता इत्यादि रूप सद्गुणशीलताका श्रीभगवान्में होना सिद्ध होता है एवं केवल पद द्वारा ब्रह्मत्वकी सुस्पष्ट उपलब्धि होती है। ब्रह्मत्व हेतुसे सर्वत्र उदासीनताकी सम्भावना रहनेपर भी 'भगवति' इत्यादि दो गुणोंके द्वारा भक्तपक्षपातिताकी सम्भावना है (अर्थात् श्रीभगवान्में भक्तके प्रति पक्षपात रहता है)। यदि कहो कि एक ही स्वरूपमें युगपत् द्विरूपता (सर्वकर्त्तृत्व और औदासीन्य) किस प्रकारसे सम्भव है? इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं—'अर्वाचीन' इत्यादि अर्थात् जो लोग वस्तु-स्वरूपको नहीं जान पाते हैं, आप उन वादियोंके विवादोंके अनवसर अर्थात् अगोचर हैं। अतएव अचिन्त्य आत्मशक्तिको दृष्टिमें रखकर (स्वीकार करके) विरुद्ध होनेपर भी आपमें कौन-सा विषय दुर्घट हो सकता है? आपका स्वरूप अभक्त विवादियोंके लिए अचिन्त्य है, आपकी

शक्ति भी उसी प्रकार अचिन्तनीय (तर्कसे परे) हैं। आप नाना प्रकारके विरुद्ध कार्योंके आश्रय हैं, यह देखकर अनुमान किया जा सकता है कि आप और आपकी शक्ति तर्कातीत हैं। ब्रह्मसूत्रकारने कहा है—*'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्'* अर्थात् अचिन्त्य सेव्य विषय एकमात्र श्रुति अर्थात् शब्द-प्रमाणक गोचरीभूत रहते हैं। स्कन्दपुराणमें भी कहा है—'अचिन्त्य विषयके बारेमें तर्ककी उद्भावना (तर्कको उठाना) सङ्गत नहीं है।' प्राकृत मणि-महौषधादिमें भी इस प्रकार अचिन्त्य प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐसी अचिन्त्यशक्तिके बिना परमेश्वरका परमेश्वरत्व सिद्ध नहीं हो सकता। इस अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे ही ईश्वरका माहात्म्य दुःखग्राह्य (दुर्बोध्य) के रूपमें कीर्त्तित हुआ है। अज्ञान एवं इन्द्रजाल-विद्या जहाँ-तहाँ दिखायी देते हैं, उनके द्वारा परमेश्वरका पारमैश्वर्य प्रतिपन्न (प्रतिष्ठित) नहीं हो सकता, क्योंकि 'उपरत' इत्यादि विशेषणोंके द्वारा ईश्वरमें उन दोनोंका अभाव ही प्रतिपादित हुआ है। ईश्वरमें अज्ञान एवं इन्द्रजालको स्वीकार किया जाय, तो 'भगवति' इत्यादि छह प्रकारके विशेषणोंके प्रयोगका तात्पर्य निष्फल हो जायेगा। अतएव अचिन्त्यशक्ति निरूपक शास्त्र एवं युक्तिके द्वारा विश्वपालकत्व एवं इसमें उदासीनता, ये दोनों गुण विरुद्ध हो नहीं सकते। जिनका मन अज्ञानवश सर्पादि भावोंसे भावित है, उन सबकी बुद्धिमें रज्जुखण्ड (रस्सीका टुकड़ा) जिस प्रकारसे सर्पादिके रूपमें प्रतिभात होता है, उसी प्रकार जिनकी मति नाना भावोंसे भावित है और जो वास्तव तत्त्वज्ञानसे रहित हैं, आप उनके मतानुसार उन-उन भावोंमें प्रकाशित होते हैं। यदि कहो कि केवल (निर्विशेष) ज्ञानको ब्रह्म एवं नाना धर्माश्रय वस्तुको 'भगवान्' कहनेसे उनमें दो भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखायी देते हैं? इस आशङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं—*'स्वरूपद्वयाभावात्'*—उनके स्वरूपमें कभी भी द्वैतत्व स्वीकार नहीं किया गया है, केवल एक ही स्वरूपके दो धर्म निर्णीत हुए हैं। अतः उनके शक्ति-विलासमें जो विरोध प्रतीत होता है, उसे ही अचिन्त्य ऐश्वर्य कहते हैं; यह उनका भूषण ही है, दूषण नहीं। तृतीय-स्कन्ध (श्रीमद्भ० ३/४/१६) में भी इस प्रकारका विरोध कहा गया है—प्राकृत चेष्टारहित होकर भी कर्म करना, अज होकर भी

जन्म लेना, कालस्वरूप होकर भी शत्रुके भयसे दुर्गमें आश्रय लेना एवं मथुरासे भाग जाना और आत्माराम होकर भी सोलह हजार रमणियोंके साथ विलास—इन सब विषयोंसे तत्त्वज्ञानियोंकी बुद्धि भी भ्रमित (भ्रान्त) हो जाती है। अतएव भगवान्‌की अचिन्त्यशक्ति ही समस्त लीलाओंकी कारणस्वरूपा है। उनकी जैसी-जैसी इच्छाओंका प्रकाशन होता है, अचिन्त्यशक्ति भी उसी-उसी रूपमें ही लीलाओंका आविष्कार (प्राकट्य) करती रहती है।

आचार्य श्रीरामानुजाचार्यने भी अपने श्रीभाष्यमें शाङ्कर-युक्तियोंका खण्डन किया है। हमारे परमाराध्यतम श्रीलप्रभुपादने अपने अनुभाष्यमें उसका मर्मानुवाद भी प्रदान किया है, यह बादमें वर्णित होगा। इस समय श्रीलप्रभुपादने पूर्वोक्त शाङ्करभाष्यका खण्डन करते हुए अपने अनुभाष्यमें जो लिखा है, उसे उद्धृत किया जा रहा है।

पञ्चरात्र-शास्त्र सम्पूर्ण रूपसे वेदानुमोदित उपासना काण्डमय वेद-विस्ताररूप ग्रन्थ है। यह राजस अथवा तामस ग्रन्थ नहीं है, परन्तु 'सात्वतसंहिता' नामसे सूरिगणोंके निकट परिचित है। इसके वक्ता स्वयं श्रीमन्नारायण हैं, इस बातका महाभारतके शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व (अध्याय ३४९) के श्लोक (६८) में विशेष रूपसे उल्लेख है। भ्रमादि दोष-चतुष्टयसे रहित श्रीनारदादि दिव्य सूरिवृन्द इसके प्रवर्त्तक हैं। श्रीभागवत ग्रन्थ भी 'सात्वतसंहिता' नामसे परिचित है। इस पाञ्चरात्रिक-मतके पूर्णतः विपरीत एवं विरुद्ध भावमयी कथाओंको पाञ्चरात्रिक-मतके रूपमें पूर्वपक्ष मानकर तर्क उठाते हुए इसका खण्डन करनेका प्रयास न्याय एवं सत्यका निरतिशय प्रयास—न्याय अपलापमात्र (व्यर्थ बकवाद) है। इसका संक्षेपमें खण्डन किया जाता है—

(१) बयालीसवें सूत्रके भाष्यमें श्रीपाद शङ्करने सङ्कर्षणको 'जीव' कहा है, वास्तवमें भागवतगणोंने सङ्कर्षणको कभी भी 'जीव' नहीं कहा। वे स्वयं अधोक्षज, अच्युत, विष्णु-वस्तु, जीवोंके अधिष्ठातृ-देवता, पूर्ण, अंशी, विभु चैतन्य, सम्पूर्ण प्राकृत-अप्राकृत सर्ग (सृष्टि) के कारण हैं—अणु चैतन्य, अंश जीव नहीं है। जीवात्माका जन्म एवं मृत्यु नहीं है—यह बात भागवतगण, सभी श्रौतपन्थी, शास्त्रद्रष्टा और शास्त्रश्रोता स्वीकार करेंगे।

(२) तैंतालीसवें सूत्रके भाष्यके उत्तरमें मूलसङ्कर्षणसे अन्यान्य सम्पूर्ण विष्णुतत्त्वके प्राकट्यके विषयमें ब्रह्मसंहितामें इस प्रकार कहा है—

दीपार्च्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य,
दीपायते विवृतहेतु समान धर्मा।
यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(ब्र॰सं॰ ५/४६)

अर्थात् एक मूल प्रदीपकी दीपरश्मियाँ (शिखाएँ) जिस प्रकार भिन्न आधारमें पृथक् दीपकी भाँति कार्य करती हैं (प्रकाशित होती हैं) अर्थात् पूर्वदीपकी ही भाँति समान-धर्मा होती हैं, इसी प्रकार जो आदिपुरुष गोविन्द मूल-विष्णु-कारणवारिमें शयन करनेवाले महाविष्णुका रूप ग्रहण करते हैं, मैं उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका भजन करता हूँ।

(३) चौवालीसवें संख्यकसूत्रके भाष्यमें ये सब परस्पर भिन्न हैं, एकात्मक नहीं हैं—श्रीपादके इस पूर्वपक्षको पाञ्चरात्रिकगण कभी भी निजमतके रूपमें स्वीकार नहीं करते हैं। श्रीपाद शङ्करके अपने ही बयालीसवें सूत्रके भाष्यमें पूर्वोल्लिखित स्वीकृत मतानुसार (*'स आत्मात्मानमनेकधा व्यूहावस्थित इति, तन्न निराक्रियते'* अर्थात् वे जो स्वयं ही अपने अनेक प्रकारके व्यूहरूपमें अवस्थित अथवा विराजमान हैं, उन्हें भी हम श्रुति-सङ्गतके रूपमें स्वीकार करते हैं) उनका यह सूत्र पूर्वपक्षकी आपत्तिका विरोधी है, अर्थात् उनके चौवालीसवें सूत्रके भाष्य और बयालीसवें सूत्रके भाष्यका वक्तव्य परस्पर विरोधी है; जो उन्होंने पहले स्वीकार कर लिया है, उसे ही अब पूर्वपक्षके रूपमें रखकर खण्डन करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। ऐसा नहीं है कि भागवत-वृन्दने नारायणको चतुर्व्यूह स्वीकार करनेसे *'बह्वीश्वरवाद'* को स्वीकार किया है—वे सब तत्त्व-वस्तुको अद्वयज्ञान भगवान्के रूपमें ही जानते हैं—भागवतगण कभी भी वेदविरोधी बह्वीश्वरवादी नहीं हैं। वे सब श्रीनारायणकी अचिन्त्य-शक्तिमत्तामें दृढ़-विश्वासी हैं। लघुभागवतामृतका मर्मानुवाद द्रष्टव्य है—वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन चारों तत्त्वमें कार्य-कारण भाव विद्यमान नहीं

है—*'नान्यत् यत् सदसत्-परम्, देह-देही-विभेदोऽयं नेश्वरे विद्यते क्वचित्'* (कूर्मपुराण), ये सभी मायाधीश तत्त्व, शुद्धसत्त्वके अधिष्ठाता एवं तुरीय हैं, उन सबके प्रकाशमें मायाका कोई विक्रम अथवा विकार या परिणाम अथवा खण्डता नहीं रह सकती। वे सब एक ही अद्वयज्ञान, अधोक्षज एवं पूर्णवस्तु हैं। श्रुति प्रमाण है—*'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'* (बृ॰आ॰ ५/१) आब्रह्मस्तम्ब (ब्रह्मसे लेकर स्तम्ब तक) अथवा भगवान् विष्णुके स्थूल बहिरङ्गाको शक्ति-त्रयाधीश श्रीचतुर्व्यूहके साथ एक या समानज्ञान करना चिदचित्-समन्वयवादीका वृथा प्रयास एवं नितान्त भगवत्-विरोधी-मूलक नास्तिक्यवादमात्र है। आब्रह्मस्तम्ब अथवा विश्वरूप विष्णुका बहिरङ्ग वैभव—एकपाद विभूति, माया या प्रकृतिके साथ सम्बन्धयुक्त है, अतः प्राकृत है। उसके साथ चिदचित्के ईश्वर चतुर्व्यूहका साम्य ज्ञान अथवा इसका प्रयास—मायावादियोंका धर्म है।

(४) पैंतालीसवें भाष्यके उत्तरमें लघुभागवतामृतमें उल्लिखित भगवद्गुणोंके अप्राकृतत्त्व वर्णनके प्रसङ्गमें (९७-९९ संख्या) उद्धृत वचनोंका मर्मानुवाद इस प्रकार है, यथा—यदि कहो कि गुणमात्र ही प्रकृतिका कार्य है, अतएव मरीचिका-सदृश है—इसकी गिनती नहीं की जा सकती—इसमें और आश्चर्य करनेकी बात क्या है? आप ऐसा नहीं कह सकते। भगवान्के गुण कभी भी प्राकृत नहीं हो सकते; उनके समस्त गुण ही उनके स्वरूपभूत हैं और स्वरूपभूत होनेसे निश्चय ही सुखस्वरूप हैं। ब्रह्मतर्कमें कहा है—भगवान् हरि स्व-स्वरूपभूत गुणोंसे गुणवान हैं—अतः विष्णु एवं मुक्त जीवोंके गुण कभी भी स्व-स्वरूपसे पृथक् नहीं हैं। श्रीविष्णुपुराणमें—'जिन परमेश्वरमें सत्त्वादि प्राकृतगुणोंका संसर्ग नहीं है, वही परम शुद्ध आदिपुरुष श्रीहरि प्रसन्न हों।' इसी विष्णुपुराणमें और भी—हेय अर्थात् प्राकृत गुणके बिना समग्र ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—ये सभी भगवत्-शब्दके अभिधेय हैं। पद्मपुराण (उत्तरखण्ड २५५/३९-४०) में भी—परमेश्वर जिन शास्त्रोंमें *'निर्गुण'* के रूपमें कीर्त्तित हैं। इसके द्वारा उनमें हेय अथवा प्राकृत गुणोंका अभाव ही परिलक्षित हुआ है। प्रथम-स्कन्धके प्रथम अध्याय (१/१६/३०) में भी—हे धर्म! हमने जिन गुणोंका कीर्त्तन किया है, वह सम्पूर्ण गुण-परम्परा एवं

अन्यान्य महान गुण-राशि जिन श्रीकृष्णमें नित्य रूपमें विराजमान है, महानताके अभिलाषी (महत्त्वाकांक्षी) व्यक्ति उन गुणोंके लिए प्रार्थना करते हैं—ये समस्त गुणावलियाँ श्रीकृष्णसे कभी वियुक्त (अलग) नहीं होतीं। अतएव श्रीकृष्ण असंख्य-अप्राकृत-गुणशाली-अपरिमित-शक्ति विशिष्ट एवं पूर्णानन्द विग्रहस्वरूप हैं। इस सन्दर्भमें श्रीमद्भागवतके ३/२६/२१, २५, २७ और २८ श्लोक भी द्रष्टव्य हैं।

श्रीरामानुजाचार्यने स्वरचित श्रीभाष्यमें शाङ्कर-युक्तिका जिस प्रकारसे खण्डन किया है—उसका मर्मानुवाद श्रीचैतन्यचरितामृतके आदिलीला खण्डके पञ्चम परिच्छेद ४७-४८ पयारोंके श्रीलप्रभुपाद कृत अनुभाष्यसे उद्धृत किया जा रहा है—

भगवान्‌के द्वारा उक्त परम मङ्गल साधन पञ्चरात्र-शास्त्रके भी किसी-किसी अंशको कपिलादि शास्त्रकी भाँति श्रुति-विरुद्ध जानकर अप्रामाणिकताकी आशङ्का करके श्रीशङ्करने इसका निराकरण किया है। पञ्चरात्र-शास्त्रमें कथित है कि—परम कारण ब्रह्मस्वरूप वासुदेवसे 'सङ्कर्षण' नामक जीवकी उत्पत्ति हुई है, सङ्कर्षणसे 'प्रद्युम्न' नामक मनकी उत्पत्ति और मनसे 'अनिरुद्ध' नामक अहङ्कारकी उत्पत्ति हुई है, परन्तु इस स्थलपर 'जीवोंकी उत्पत्ति'—यह कहना सङ्गत नहीं है, क्योंकि यह श्रुति विरुद्ध है। कठोपनिषद (२/१८) में कहा है कि 'चिन्मय जीवात्मा' का कभी भी जन्म अथवा मृत्यु नहीं है। इसी प्रकारके वचनोंसे सारी श्रुतियोंने जीवोंके अनादित्व अथवा उत्पत्ति-राहित्यके बारेमें कहा है; अतएव यहाँ जीव, मन और अहङ्कारके अधिष्ठातृ देवोंका आविर्भाव ही उद्दिष्ट हुआ है। (वे॰सू॰ २/२/४२)

सङ्कर्षणसे प्रद्युम्न नामक मनकी उत्पत्ति कही गयी है। यहाँ भी कर्त्ता जीवसे करण अर्थात् मनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि 'परमात्मासे ही प्राण, मन एवं इन्द्रिय सभीकी उत्पत्ति होती है'—श्रुतिने ऐसा ही कहा है। अतएव यदि जीवसे मनकी उत्पत्ति कथित है, तो 'परमात्मासे ही इन सबकी उत्पत्ति होती है'—इस प्रकार श्रुति-वचनके साथ उसका विरोध होता है। अतएव ऐसे वचन श्रुति-विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करते हैं—इस कारण इनकी प्रामाणिकताका प्रतिषेध (निषेध) हो रहा है। (वेदान्तसूत्र २/२/४३)

सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन सबमें परब्रह्म भाव विद्यमान रहनेके कारण तत्-प्रतिपादक शास्त्रोंकी प्रामाणिकता कभी भी प्रतिषिद्ध (निषिद्ध) नहीं हो सकती अर्थात् ये सङ्कर्षणादि व्यूह साधारण जीवोंकी भाँति मायावश्य रूपमें अभिप्रेत नहीं हैं—ये सभी ईश्वर हैं—सभी ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य एवं तेज आदि षडैश्वर्यसम्पन्न हैं, अतएव पञ्चरात्रका मत अप्रामाणिक नहीं है। जो लोग पञ्चरात्र अथवा भागवत-प्रकियासे अनभिज्ञ हैं—उन सबके लिए ही 'जीवोत्पत्ति' रूप—विरुद्ध वचन अभिहित हुए हैं—इस प्रकारसे अशास्त्रीय वचन कहना सम्भव हुआ है। भागवत-प्रक्रिया इस प्रकार है—जो स्वाश्रित भक्तवत्सल हैं, वासुदेव नामक परब्रह्मके रूपमें कथित हैं, वे अपनी इच्छानुसार स्वाश्रित एवं समश्रेणीयताके लिए चार प्रकारसे अवस्थान करते हैं। जैसे 'पौष्करसंहिता' में कहा है कि—जहाँ (शास्त्रोंमें) ब्राह्मणोंके द्वारा चातुरात्म्य (चतुर्व्यूह) क्रमानुसार संज्ञाओंसे अवश्य कर्त्तव्यके रूपमें उपासित होते हैं, वे सब शास्त्र ही 'आगम' हैं। उन चातुरात्म्यकी उपासना वासुदेवाख्य परब्रह्मकी ही उपासना है—यह सात्वत-संहितामें कहा गया है। वासुदेव नामक परब्रह्म, सम्पूर्ण षड्गुणशाली-श्रीअङ्ग, सूक्ष्म, व्यूह एवं विभव—वे सब भेद-भिन्न हैं और अपने-अपने अधिकारानुसार भक्तोंके द्वारा ज्ञानपूर्वक कर्ममार्गसे अर्चित होकर सम्यक् रूपसे लब्ध होते हैं। विभव अर्थात् नृसिंह, रघुनाथ अथवा मत्स्य-कूर्मादि अवतारोंके अर्चनसे सङ्कर्षणादि व्यूहकी प्राप्ति होती है और व्यूहके अर्चनसे वासुदेव नामक सूक्ष्मतत्त्व परब्रह्मकी प्राप्ति होती है। (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध चतुर्व्यूह हैं, सूक्ष्म तो केवल षड्गुणसम्पन्न वासुदेव नामक परब्रह्म ही हैं।) पौष्करसंहितामें कहा गया है कि—शास्त्रोपदिष्ट ज्ञानपूर्वक कर्मके द्वारा वासुदेव नामक अव्यय परब्रह्मकी प्राप्ति होती है। इसलिए सङ्कर्षणादिका भी परब्रह्मत्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि वे सभी अपनी इच्छानुसार विग्रह-विशिष्ट हैं। वे प्राकृतकी भाँति जन्म-ग्रहण किये बिना बहु-रूपोंमें अवतीर्ण अथवा प्रकटित होते हैं—यही श्रुतिसिद्ध है। आश्रितों (शरणागतों) पर वात्सल्यके निमित्तसे ये स्वेच्छानुसार मूर्त्ति परिग्रह (धारण) करते हैं—इस तथ्यके अभिधायक (प्रतिपादक)

पञ्चरात्र-शास्त्रकी प्रामाणिकता प्रतिषिद्ध नहीं है। पाञ्चरात्रिक-शास्त्रमें सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध क्रमानुसार जीव, मन और अहङ्कार इन सत्त्वोंके अधिष्ठातृदेव हैं—इसलिए इन सबको 'जीवादि' शब्दसे उसी प्रकार अभिहित किया गया है, जिस प्रकार 'आकाश' एवं 'प्राणादि' शब्दोंसे ब्रह्मका अभिधान (उल्लेख) होता है, इसमें विरोध नहीं है। (वेदान्तसूत्र २/२/४४)

जीवकी उत्पत्ति तो नारदपञ्चरात्र-तन्त्रादि शास्त्रोंमें प्रतिषिद्ध (अस्वीकार) की गयी है। जैसा कि परमसंहितामें कहा गया है, अचेतन, परार्थ-साधिका (पुरुषकी भोग-साधिका), नित्य-निरन्तर विकारशील, त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जीवोंकी कर्मभूमि अथवा कर्मक्षेत्र है—यही प्रकृतिका रूप है। व्यापक होनेसे प्रकृतिके साथ पुरुषका सम्बन्ध व्याप्ति रूपमें सर्वव्यापी है, जो अनादि, अनन्त और सत्य-सा प्रतीत होता है। इस प्रकारसे सभी संहिताओंमें 'जीव' के नित्यता बोधक वाक्य है, इसी कारण पञ्चरात्रके मतानुसार इसकी (जीवकी) उत्पत्ति प्रतिषिद्ध हुई है। श्रीलप्रभुपाद आगे कहते हैं—जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है—जीवोंकी उत्पत्तिको स्वीकार करनेपर उसके विनाशको भी स्वीकार करना होगा, परन्तु 'जीव' जब नित्य है, तब नित्यताके कारण उसकी उत्पत्ति स्वयं ही निषिद्ध हो जाती है। परमसंहितामें पहले ही कह दिया है—'प्रकृतिका रूप सदैव विकारयुक्त है' अतएव उत्पत्ति एवं विनाश आदिको 'सतत विकार' के अन्तर्भुक्त जानना होगा। अतः सङ्कर्षण आदि जीवरूपमें उत्पन्न होते हैं, कहकर शङ्कराचार्यने जो दोष लगाया है, उसका सम्यक् रूपसे निराकरण हो गया है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जो यह कहते हैं कि शाण्डिल्य ऋषिने 'साङ्गोपाङ्ग वेदोंमें पुरुषार्थ निष्ठा न देखकर पाञ्चरात्र-शास्त्रका अध्ययन किया'—इस कथनमें वेद-वेदाङ्गमें पुरुषार्थ-निष्ठाकी अनुपलब्धि बतायी गयी है, इसलिए यह तन्त्र वेद-विरुद्ध है। इन कहनेवालोंने वस्तुतः वेदोंको सूँघा तक नहीं और न वे वेदानुकूल युक्तियोंसे परिचित हैं, उनमें श्रद्धाका केवल अङ्कुरमात्र ही है, जिसके आधारपर वे वेदकी दुहाई देते हुए प्रायः अनर्गल प्रलाप करते हैं। वेदान्त-वेद्य,

अपार–करुणावात्सल्यमय, सत्यसङ्कल्प परब्रह्म वासुदेवने वेदोंको दुर्विज्ञेय समझकर सुबोध्य पञ्चरात्र–शास्त्रका स्वयं ही निर्माण किया है। श्रीपाद शङ्कराचार्यकी व्याख्या सूत्रार्थ और सूत्रकारके अभिप्रायके विरुद्ध है। सूत्रकारने वेदान्त नियमके प्रकाशक ब्रह्मसूत्रोंकी रचना करके वेदोंका यथार्थ विवेचन करनेवाली एक लाख श्लोकोंकी महाभारत–संहिता बनायी और इसीके मोक्षधर्मके ज्ञान–काण्डमें कहा है—दहीसे निःसृत नवनीत, द्विजातिमें श्रेष्ठ ब्राह्मण, वेदोंमें आरण्यक और समुद्रसे निकले अमृतके समान अपनी बुद्धिरूपी मथानीकी सहायतासे यह पाञ्चरात्र–शास्त्र उद्धृत किया है। वेदज्ञोंमें अग्रगण्य भगवान् बादरायण ही ऐसा कहें और स्वयं वे ही वेदान्त–वेद्य परब्रह्म–स्वरूप भगवान् वासुदेवकी अर्चनाके प्रतिपादनमें तत्पर सात्वत–शास्त्रको अप्रामाणिक बतलावें—यह कैसे सम्भव है? वेदवेद्य–तत्त्व नारायण हैं, नारायण ही सम्पूर्ण पञ्चरात्रके वक्ता हैं। उनका प्रणीत शास्त्र उनका ही स्वरूप है और उनकी उपासनाका विधायक है। महाभारतमें वहीं यह भी कहा है कि—सांख्य (ज्ञान) और योग (कर्म) तथा वेद और आरण्यक अङ्गाङ्गिभावसे एक ही तत्त्वके प्रतिपादक हैं। ये शास्त्र ही संगठित होकर पाञ्चरात्र नामक एक शास्त्र कहलाते हैं। निष्कर्षतः सब ब्रह्मस्वरूप है, सारा जगत् नारायणस्वरूप है और नारायण ही परम निष्ठा (तत्त्वकी परम सीमा) हैं।

श्रीपाद शङ्कराचार्यके इस चतुर्व्यूहवाद-खण्डनके निराकरणको जो विस्तृत रूपसे जानना चाहते हैं, उन्हें श्रीभाष्यके श्रीमद्सुदर्शनाचार्यकृत ‘श्रुतप्रकाशिका’ टीकाकी आलोचना करनी चाहिये॥ ४५॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



तृतीयः पादः

मङ्गलाचरणम्

व्योमादिविषयां गोभिर्विमतिं विजधान यः।
स तां मद्विषयां भास्वान् कृष्णः प्रणिहनिष्यति॥

जगदुत्पत्ति-विषयमें आकाशादिगत कारणतारूप जो विरुद्ध मत हैं, उस अन्धकारका जिन्होंने नानावाक्यरूप किरणों द्वारा निराकरण किया है, वे कृष्णावतार श्रीकृष्णद्वैपायन सूर्य हमारी भी भगवत्-विषयक वैमुख्यमति तमोराशिका हरण करें।

मङ्गलाचरण टीका—द्विपञ्चशत्सूत्रकमूनविंशत्यधिकरणकं तृतीयं पादं व्याचक्षाणः श्रीकृष्ण-स्मृतिव्यञ्जकं तत्प्रभाववर्णनं मङ्गलमाचरति व्योमादीति। यः कृष्णो गोविन्दो भास्वान् सूर्यः व्योमादिविषयामाकाशादिगतां विमतिं संहृत्य-कार्यकारिताभावरूपां विरुद्धबुद्धिमित्यर्थः गोभिः प्रभावरश्मिभिर्विजघान निरास्थत्। स्वतेजसा संहतैराकाशादिभिरण्डं रचयाञ्चकारेत्यर्थः। पक्षे यः कृष्णो वादरायणो व्योमादिविषयामाकाशादिषु जातां नित्यत्वादिरूपां तार्किकादीनां विमतिं वेदविरुद्धां बुद्धिं गोभिर्वाग्भिर्ब्रह्मसूत्रैरिति यावत् विजघान परिजहार, तेषां सर्वेषां ब्रह्मकार्यत्वरूपां सम्मतिं निर्णिनायेत्यर्थः। कीदृशः? भास्वान् सार्वज्ञ्येन तपसा च भ्राजमानः स च स च मद्विषयां विमतिं मद्गतां तद्वैमुख्यरूपां तां प्रणिहनिष्यति स्वसामुख्यभाजं मां करिष्यतीत्यर्थः।

मङ्गलाचरण टीकानुवाद—५२ सूत्र और १९ अधिकरणोंमें गठित तृतीयपादके प्रारम्भमें व्याख्याकर्त्ता भाष्यकार श्रीमन्‌बलदेवप्रभु श्रीकृष्ण-स्मृति-सूचक भगवान्‌की महिमाका वर्णन करनेवाला मङ्गलाचरण *'व्योमादि विषयामित्यादि'* वाक्य द्वारा प्रस्तुत करते हैं। इसका अर्थ है कि श्रीगोविन्द—सूर्य, आकाशादि विषयक विप्रतिपत्ति—विरुद्ध-मतिको अर्थात् मिलित होकर कार्य-कारिताकी अभावरूपा विरुद्ध बुद्धिको, गोभिः अर्थात् निज प्रभावरूप रश्मियों द्वारा निराकृत करते हैं—किस प्रकारसे? भगवान् अपने प्रभाव द्वारा आकाशादिको मिलित कराके उनके द्वारा ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। पक्षान्तरमें अर्थ है—जिन

श्रीकृष्ण-वेदव्यासने व्योमादि विषयक अर्थात् आकाशादिमें उत्पन्न तार्किकोंकी नित्यत्वादि रूप वेदविरुद्ध बुद्धिका गोभिः अर्थात् वाक्यों द्वारा—ब्रह्मसूत्र-वाक्यों द्वारा परिहार किया है अर्थात् उन आकाशादि समस्त भूतोंके ब्रह्मकार्यत्वरूप सिद्धान्तका निर्णय किया है, वे कैसे हैं? वे भास्वान् हैं अर्थात् सर्वज्ञता एवं तपस्या द्वारा द्योतमान हैं—ऐसे वे श्रीहरि एवं बादरायण हममें विद्यमान अपने प्रति विमुखता रूप विमतिका निश्चय ही विनाश करें अर्थात् हमें अपने प्रति अनुरक्त करें।

अवतरणिका भाष्य—प्रधानादिवादानां युक्त्याभासमयता द्वितीये पादे प्रदर्शिता। तृतीये तु सर्वेश्वरात् तत्त्वानामुत्पत्तिस्तेनैव तेषां विलयो, जीवानां त्वनुत्पत्तिर्ज्ञानवपुषां तेषां ज्ञानाश्रयत्वं, परमाणुता, ज्ञानद्वारा व्याप्तिः, कर्त्तृत्वं, ब्रह्मांशता, मत्स्याद्यवताराणां साक्षादीश्वरत्वमदृष्टादिहेतुका जीववैचित्री चेत्ययमर्थनिचयो विरोधिवाक्यपरिहारेणोपपाद्यते। इह प्रधानमहदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियवियदादिरूपेण सृष्टिक्रमः सुबालादिश्रुतिसिद्धो मुख्यः। तैत्तिरीयादिक्रमेण वियदादितस्तद्विचारस्तु विसंवादविनाशायेति स्पष्टमुपरिष्टाद्भविष्यति। छान्दोग्ये *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* (६/२/३) इत्युपक्रम्य *'तदैक्षत रहु स्यां प्रजायेय'* (६/२/३) इति *'तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय'* इति *'तदपोऽसृजत ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहि'* इति *'ता अन्नमसृजन्त'* इति पठ्यते। (६/२/३-४) अत्र तेजोऽवन्नानि प्रजातानीत्युक्तम्। इह भवति विमर्शः—वियत् प्रजायते न वेति श्रुत्यभावान्न प्रजायत इति शङ्कते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इससे पूर्व द्वितीयपादमें प्रधानादिके कारणतावादमें प्रदर्शित युक्तिकी दोषपूर्णता दिखायी थी। तृतीय पादका संक्षिप्त प्रतिपाद्य विषय है—परमेश्वरसे चौबीस तत्त्वोंकी उत्पत्ति, उनके द्वारा ही उन तत्त्वोंका लय, जीवकी उत्पत्तिका अभाव, ज्ञानात्मक (ज्ञानस्वरूप) जीव निचय (जीवसमूह) का ज्ञानाश्रयत्व, परमाणु-परिमाणत्व, ज्ञान द्वारा समस्त वस्तुओंकी व्याप्तिरूप विभुता, कर्त्तृत्व, जीवकी ब्रह्मांशता, मत्स्यादि अवतारोंका साक्षात् ईश्वरत्व, शुभाशुभ अदृष्टवश जीवकी विचित्रता इत्यादि अर्थसमूह और उसके विरोधी वाक्योंका युक्तियुक्त खण्डन।

सुबालादि श्रुति प्रतिपादित जगत्-सृष्टिक्रम इस प्रकार है प्रकृति, महान (महत्तत्व), अहङ्कार, पञ्च तन्मात्र, ग्यारह इन्द्रियाँ, आकाशादि

पञ्चभूत यथाक्रमानुसार। इस प्रकारका सृष्टिक्रम ही मुख्य (प्रधान) है। तैत्तिरीयोपनिषदमें वर्णित सृष्टिक्रम अन्य प्रकारसे है यथा वहाँ आकाशादिसे क्रमपूर्वक जगत्-सृष्टि है। इसका विचार केवल विरोध परिहारमात्रके लिए है—इस समस्त विषयका स्पष्ट रूपसे बादमें विचार किया जायेगा। छान्दोग्योपनिषद (छा॰ ६/२/३) में देखा जाता है—*'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* अर्थात् हे सौम्य श्वेतकेतो! प्रलयकालमें एकमात्र सत् ब्रह्म ही थे—इस प्रकारसे उपक्रम करके *'तदैक्षत अन्नमसृजन्ते इति'* (छा॰ ६/२/३०) अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भमें उन सत्ब्रह्म (परमेश्वर) ने ईक्षण (सङ्कल्प) किया 'मैं बहुत होऊँ', 'मैं प्रजाकी सृष्टि करूँ'—*'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति'* (६/२/३)—इस प्रकार सङ्कल्प करके सद्ब्रह्मने तेज (अग्नि) की सृष्टि की, बादमें उस तेज ने (तेजोऽभिमानी चैतन्यने) ईक्षण किया, मैं बहुत हो जाऊँ, मैं उत्पन्न होऊँ, तब उसी ब्रह्मने तेज होकर जलकी सृष्टिकी तब उस जलने ईक्षण किया मैं बहुत रूपोंमें व्यक्त होऊँ, मैं जन्म प्राप्त करुँ, तब उस जलने अन्न (पृथ्वी) की सृष्टि की। अतः श्रुतिमें तेज, जल और अन्नका उत्पन्न होना कहा गया है। इस प्रसङ्गमें समीक्षाका विषय यह है कि आकाशकी उत्पत्ति है? कि नहीं है? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं, नहीं, आकाशकी उत्पत्ति नहीं है क्योंकि इसकी ज्ञापक कोई श्रुति नहीं है। सूत्रकार इसी शङ्काका दिग्दर्शन करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अत्रेश्वरान्निखिलतत्त्वसृष्टिवर्ण्येति ... व्यज्यते। उपलक्षणमेतत् जीवस्वरूपनिरूपणादेः। धीप्रवेशाय संक्षिप्य पादार्थं दर्शयति तृतीये त्वित्यादिना। तेनैव सर्वेश्वरेणैव। तेषामिति जीवानाम्। ननु वियदारभ्य तत्त्वोत्पत्तिचिन्तनात् निखिलानां तत्त्वानां सर्वेश्वरादुत्पत्तिरित्येतत् कथं श्रद्धीयते तत्राह—इह प्रधानेत्यादि। विसंवादेति। विरोधपरिहारायेत्यर्थः। पूर्वपादे परपक्षाणां श्रुतिविरोधादप्रामाण्यमुक्तम्। तर्हि श्रुतिनां मिथो विरोधप्रतीतेर्ब्रह्मकारणतावादस्यापि तत् स्यादिति शङ्कानिरासाय तृतीयादिपादद्वयं प्रारभ्यते। द्वयोरपि पादयोर्मिथः श्रुतिविरोधनिरासेन समन्वयदार्ढ्यकरणात् श्रुत्यध्यायसङ्गतिः। इह पूर्वपक्षिणा श्रुत्योर्विरोधं पूर्वपक्षं कृत्वा समन्वयशैथिल्यं तत्फलमुपक्षिप्यते। सिद्धान्तिना तु तयोरविरोधं समर्थ्य तत्फलं समन्वयदार्ढ्यं स्थापयिष्यते। तत्रादौ सर्गवाक्यविरोधादाकाशमाश्रित्य विमर्शः। आकाशस्योत्पत्तिरस्ति नास्ति वा। यद्यपि

न हि श्रुत्योर्विरोध इति वक्तु
सौम्य हे शोभन श्वेतकेतो इदं जगत् अग्रे सृष्टेः प्राक् सदेव ब्रह्मैवासीत् सौक्ष्म्यात् तत्र विलीनमासीदित्यर्थः। तदैक्षत तच्छब्दवाच्यं ब्रह्म सङ्कल्पमकरोत्। तमाह बहु स्यामिति। स्फु

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस अध्यायमें वर्णनीय विषय है कि ईश्वरसे प्रधानादि समस्त तत्त्वोंकी सृष्टि है—यह सूचित होता है। मात्र तत्त्वोंकी सृष्टिकी ही बात नहीं है, जीवके स्वरूपका निरूपण इत्यादि भी इसमें वक्तव्य हैं। बुद्धिके सरलतापूर्वक प्रवेशके लिए भाष्यकार सर्वप्रथम संक्षेपमें इस पादका प्रतिपाद्य विषय हैं—*'तृतीये तु'* इत्यादि वाक्य द्वारा दिग्दर्शित करते हैं। *'तेनैव तेषां विलय इति'* में 'तेनैव' का अर्थ है—उन सर्वेश्वर द्वारा, 'तेषाम्' का अर्थ है 'जीवोंका'। यदि कहो, आकाशसे आरम्भ करके समस्त तत्त्वोंका उत्पत्तिक्रम निरूपित हुआ है, तब सृष्टिकी उत्पत्ति सर्वेश्वरसे है—यह किस प्रकार विश्वास करें? इसपर कहते हैं—*'इह प्रधानमहदङ्कारेत्यादि'*—अर्थात् सुबालादि श्रुतिमें प्रकृति, महत्तत्त्वादि क्रमपूर्वक सृष्टि प्रसिद्ध है। पुनः तैत्तिरीयश्रुतिमें आकाशादि क्रमसे सृष्टि कही गयी है, अतएव उसका विचार-विसंवाद विनाशके लिए अर्थात् विरोध परिहारके लिए है। पूर्वपादमें अर्थात् द्वितीयपादमें परपक्षियोंके श्रुति विरोधके कारण अप्रामाण्य कहा गया था, अतः श्रुति-वाक्योंकी परस्पर विरोध-प्रतीति होनेके कारण ब्रह्मकी सृष्टिके कारणतावादका भी अप्रामाण्य हो सकता है, इस शङ्काके खण्डनके लिए तृतीय एवं चतुर्थपादका आरम्भ हो रहा है। उन दोनों पादोंके परस्पर श्रुति-विरोधका निराकरण करके समन्वयकी दृढ़ताके स्थापनके लिए श्रुति और अध्यायकी सङ्गति हो रही है। इस अधिकरणमें पूर्वपक्षी दोनों श्रुतियोंके विरोधको पूर्वपक्ष करके समन्वयका शैथिल्यरूप फल उत्थापित करेंगे और सिद्धान्ती दोनों श्रुतियोंके अविरोधको युक्ति द्वारा समर्थन करके उसके फल-समन्वयकी दृढ़ता स्थापित करेंगे। यहाँ प्रथमतः सृष्टि-वाक्यके विरोधका हेतु आकाशको लेकर किया गया विचार है यथा—आकाशकी उत्पत्ति है? कि नहीं है? यदि उत्पत्ति है तो दोनों श्रुतियोंमें विरोध नहीं है, यह बतलानेके लिए अग्निकी उत्पत्ति वाचक श्रुति प्रदर्शित करते हैं *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।'* इसका अर्थ है—हे सौम्य! शोभन

मूर्त्ति श्वेतकेतु! यह दृश्यमान जगत्-सृष्टिके पूर्व 'सदेव' ब्रह्मरूपमें ही था अर्थात् सूक्ष्मताके कारण उन ब्रह्ममें विलीन (मिला हुआ) था। *'तदैक्षत इति'* में 'तत्' अर्थात् 'तत्' शब्दके वाच्य ब्रह्मने 'ऐक्षत' सङ्कल्प किया, क्या सङ्कल्प किया? *'बहु स्याम्'*—मैं बहुत रूपोंमें व्यक्त होऊँ। शेष भाष्यांश सुस्पष्ट है।

१—वियदधिकरणम्

परमेश्वरसे समस्त तत्त्वोंकी उत्पत्ति

सूत्र—न वियदश्रुतेः॥ १॥

सूत्रार्थ—'वियत्'—आकाश नित्य है, 'न'—उत्पन्न नहीं होता? किस कारणसे? अश्रुतेः—छान्दोग्योपनिषदके उत्पत्ति प्रकरणमें आकाशकी उत्पत्ति नहीं सुनी जाती॥ १॥

सूत्रानुवाद—आकाशकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उसकी उत्पत्ति-बोधिका श्रुतिका अभाव है॥ १॥

गोविन्दभाष्य—नित्यं वियन्न प्रजायते। कु भूतोत्पत्तिप्रकरणे तस्याश्रवणात्। तत्र तदैक्षतेत्यादिना त्रयाणामेव तेजोऽवन्नानामुत्पत्तिः श्रूयते न तु वियतोऽतस्तन्नोत्पद्यत इत्यर्थः॥ १॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आकाश नित्य पदार्थ है, उसकी उत्पत्ति नहीं है। कारण क्या है? कारण यह है कि छान्दोग्योपनिषदमें भूतोंत्पत्तिके वर्णन प्रकरणमें आकाशकी उत्पत्तिकी बात नहीं सुनी जाती। उसी छान्दोग्यके इसी भूतोत्पत्ति प्रकरणमें *'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'* (छा० ६/२/३) (उन्होंने ईक्षण द्वारा सङ्कल्प किया—मैं प्रजासृष्टिके लिए बहुत होऊँगा) इत्यादि वाक्य द्वारा अग्नि, जल और पृथ्वी—इन तीनोंकी उत्पत्ति तो सुनी जाती है, किन्तु आकाशकी नहीं। तात्पर्य यह है कि आकाश नित्य है, वह उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार *'न वियत्'* इत्यादि सूत्र द्वारा सूत्रकारने पूर्वपक्षीय शङ्का व्यक्त की है॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—अत्र शङ्कते न वियदिति। तस्य वियतः। तत्र छान्दोग्ये॥ १॥

सूक्ष्मा-सार—*'न वियत्'* इस सूत्र द्वारा सूत्रकार शङ्का करते हैं—*'प्रकरणे तस्या श्रवणात्'* इतिमें 'तस्य' का अर्थ है 'आकाशकी',

उत्पत्ति श्रुत न होनेके कारण *'तत्र तदैक्षतेत्यादि'* में 'तत्र' का अर्थ है छान्दोग्योपनिषदमें॥ १॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इससे पहले द्वितीय पादमें भाष्यकारने प्रधानादि कारणतावादकी युक्तियोंका दोष दिखाया था। अब इस तृतीय पादमें सर्वेश्वरसे समस्त तत्त्वोंके उद्भवादिके वर्णन क्रममें छान्दोग्य वर्णित जगत्-सृष्टिके विषयमें बता रहे हैं कि प्रलयकालमें एकमात्र सद्वस्तु ब्रह्म ही थी, उन्होंने सङ्कल्प किया—मैं बहुत हो जाऊँ। इसके बाद उन्होंने तेजकी सृष्टि की, जलकी सृष्टि की, अन्नकी सृष्टि की इत्यादि।

'तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम् प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्तेति।' (छा॰ ६/२/३-४)

इस श्रुतिमें तेज, जल और अन्नकी सृष्टिकी बात तो की जा रही है, किन्तु आकाशका उल्लेख नहीं है। इस कारण संशय यह है कि आकाशकी उत्पत्ति है अथवा नहीं है? इस प्रकारकी आशङ्कामें सूत्रकार प्रथम सूत्रमें पूर्वपक्ष रूपसे कह रहे हैं कि आकाशकी उत्पत्तिका जब श्रुतिमें उल्लेख नहीं है तो आकाशकी उत्पत्ति नहीं है—वह नित्य है। श्रुतिमें उसीका उल्लेख किया जाता है, जो वस्तु सम्भावित होती है। असम्भावित गगन-कु
आदि कभी शब्दोल्लेखके योग्य नहीं हो सकते। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि यह सूत्र पूर्वपक्षके उदाहरणके लिए कहा है, जिसका उत्तर परवर्त्ती सूत्रमें पाया जा सकता हैं॥ १॥

अवतरणिका भाष्य—एवं प्राप्तौ निरस्यति।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'एवं प्राप्तौ इति'* यह पूर्वपक्षीकी जो शङ्का है उसका निराकरण करते हैं—

सूत्र—अस्ति तु॥ २॥

सूत्रार्थ—'अस्ति तु'—हाँ, आकाशकी उत्पत्ति अन्य श्रुतिमें है॥ २॥

सूत्रानुवाद—आकाशकी उत्पत्ति वेदमें कही गयी है॥ २॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्कापनोदनार्थः, अस्त्युत्पत्तिर्वियतः। छान्दोग्ये तस्याश्रवणेऽपि *'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुर्वायो-रग्निरग्नेरापोऽद्भ्यो महती पृथिवी'* इति तैत्तिरीयके (२/१/३) श्रवणात्॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'तु' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निरासके लिए है। आकाशकी उत्पत्ति है। छान्दोग्योपनिषदमें इसका उल्लेख न रहनेपर भी तैत्तिरीयोपनिषदमें सुना जाता है—*'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ... अद्भ्यो महती पृथिवी'* इति—उन परमात्मासे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे यह विशाल (महती) पृथ्वी प्रकाशित अर्थात् उत्पन्न हुई है॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—अस्तीति। तस्य वियतः॥ २॥

सूक्ष्मा-सार—*'अस्तीति'* सूत्र—*'छान्दोग्ये तस्या श्रवणेऽपि'* इतिमें 'तस्य' का अर्थ है 'उस आकाशका'॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार पूर्वमें उल्लिखित पूर्वपक्षरूप सूत्रके उत्तरमें कह रहे हैं कि आकाशकी उत्पत्ति है, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रह सकता। कारण है कि छान्दोग्यमें आकाशका उल्लेख न रहनेपर भी तैत्तिरीय श्रुतिमें कहा है—*'तस्माद्वां एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्-वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यो महती पृथिवीति'* (तैत्तिरीय द्वितीयवल्ली, प्रथम अनुवाक्-३)।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

तामसाच्च विकु
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः श्रोत्रं तु शब्दगम्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२६/३२)

अर्थात् श्रीभगवान्के वीर्यके द्वारा प्रेरित होकर तामस अहङ्कार विकारको प्राप्त हुआ। विकृत होनेपर उससे शब्द तन्मात्र उत्पन्न हुआ और उस शब्द तन्मात्रसे आकाश उत्पन्न होकर श्रवणेन्द्रिय रूपमें शब्द ग्रहण करने लगा॥ २॥

अवतरणिका भाष्य—पुनः शङ्कते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पुनरिति। पूर्वोक्तेनासन्तोषादिति ज्ञेयम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'पुनरित्यादि'* अवतरणिका भाष्य—पूर्व प्रदर्शित 'अस्ति तु' इस वाक्यमें असन्तोषवश पूर्वपक्षीकी पुनः शङ्काको समझना चाहिये।

सूत्र—गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च॥ ३॥

सूत्रार्थ—'गौणी' आकाशकी उत्पत्तिकी बात जो श्रुतियों द्वारा वर्णित है, उसे गौणी लक्षणा मूलक कहेंगे, क्योंकि 'असम्भवात्' निराकार और विभु आकाशकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है 'च' और 'शब्दात्' उसके विपक्षमें बृहदराण्यकीय (२/३/३) श्रुति भी है। यथा—'वायुश्चान्तरीक्षञ्चैदतमृत' वायु एवं आकाश ये नित्य हैं॥ ३॥

सूत्रानुवाद—आकाशकी उत्पत्ति श्रुति गौण है। निरवयव विभु आकाशकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। श्रुति द्वारा आकाशको अमृत कहनेसे भी उसका अजत्व सिद्ध होता है॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—न खलु वियदुत्पत्तिः सम्भावयितुमपि शक्या जीवत्सु श्रीमत्कण-भक्षाक्षचरणचरणोपजीविषु। या तूत्पत्तिः श्रुतिभिरुदाहृता सा किल *'कु जातमाकाशम्'* इत्यादिलोकोक्तिवद्गौणी भविष्यति। कु निराकारस्य विभोर्वियतः सम्भवेदुत्पत्तिः कारणसामग्रीविरहात् शब्दाच्च। *'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्'* (२/३/३) इति बृहदारण्यकवाक्याच्च तस्योत्पत्तिर्नास्तीति मन्तव्यम्॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी आकाशकी उत्पत्तिको श्रुतिके विपक्षमें कहते हैं। वैशेषिक-दर्शनकार श्रीमान् महर्षि कणाद और न्याय-दर्शनके प्रणेता श्रीमान् अक्षपाद गौतमके रहते हुए तुमलोग आकाशकी उत्पत्तिकी कल्पना भी नहीं कर सकते अर्थात् वे आकाशकी उत्पत्तिको स्वीकार नहीं कर सकते। तब जिन श्रुतियों द्वारा आकाशकी उत्पत्तिका वर्णन हुआ है कि—'आकाश करो', 'आकाश उत्पन्न हुआ है' इत्यादि वाक्य लौकिक वाक्योंके समान गौणी लक्षणाके आधारपर कहे गये हैं अर्थात् इनका प्रयोग लाक्षणिक है। किस कारणसे? कारण यह है कि आकृतिशून्य (निराकार), निरवयव, विभुस्वरूप

(विश्वव्यापक) आकाशकी कारण-सामग्रीके अभावमें उत्पत्ति नहीं हो सकती। (आकाश कार्य है तो उसका कारण भी होना चाहिये और कारण-सामग्रीका अभाव है।) तद्भिन्न (इसके अतिरिक्त) बाधक श्रुति भी है यथा—*'वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतम्'* इति अर्थात् वायु और आकाश—ये दोनों अमृत और शास्त्रवत (नित्यरूप) हैं, इस बृहदराण्यक उक्तिसे भी अवगत हुआ जाता है कि आकाशकी उत्पत्ति नहीं है—यह मानना ही होगा॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—गौणीति। कु

करणेनाकाशे जायमाने सति जातमाकाशमित्युत्पद्यते बुद्धिः। नैतावताकाशस्योत्पत्तिः शक्यते वक्तु

सूक्ष्मा-सार— *'गौणीति'* *'कु*　　　　इति 'आकाश करो' कहनेपर लोगोंकी भीड़ दूर करके अवकाश उत्पन्न होता है, तब ज्ञात होता है कि आकाश हुआ है। केवल इतना कह देने भरसे आकाशकी उत्पत्ति कही नहीं जा सकती। तब जो वहाँ उत्पत्ति श्रुत होती है, तो वह लाक्षणिक उत्पत्ति है—यह तात्पर्य है॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः आशङ्का किये जानेपर पूर्वपक्ष होता है कि निराकार आकाशकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है और जो समस्त श्रुतियाँ आकाशकी उत्पत्ति कह रही हैं, वह गौणी भावको लेकर है। विशेष रूपसे बृहदारण्यकमें पाया जाता है—*'अथामूर्त्तम् वायुश्चान्त-रिक्षञ्चैतदमृमेतत्'* (बृ॰आ॰ २/३/३) अर्थात् वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त हैं, ये अमृत हैं अर्थात् नित्य हैं, और भी वैशेषिक और नैयायिकगण भी आकाशकी उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते। यह सूत्र भी पूर्वपक्ष रूपमें स्थापित हुआ है॥ ३॥

अवतरणिकाभाष्य—यदि कश्चिद्ब्रूयादेक एव सम्भूतशब्दोऽग्निप्रभृतावनुवर्त्तमानो मुख्य आकाशे पुनर्गौणः कथमिति, तं प्रत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यदि कोई प्रतिवादी कहे कि तैत्तिरीय उपनिषदमें उक्त श्रुतिमें जो 'सम्भूत' शब्द है, वह अग्नि, जल, पृथ्वीमें मुख्य रूपसे अन्वित है फिर वही आकाश, वायुमें गौणार्थ रूपमें वाचक होगा, यह कैसी बात है? इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—यदीति। कश्चित् प्रतिवादी वैदिकः। मुख्य इति मुख्यतयोत्पत्तिवाचीत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अवतरणिका भाष्यस्यथ *'कश्चित्'* पदका अर्थ है—कोई भी प्रतिवादी वैदिक। *'मुख्य इति'* अभिधाशक्तिके आधारपर 'सम्भूत' शब्द मुख्य रूपमें उत्पत्तिवाचक है।

सूत्र—स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्॥ ४॥

सूत्रार्थ—'एकस्य' एक ही शब्द दो स्थलोंपर दो रूपोंसे (मुख्य एवं गौण रूपसे) 'स्यात्' अन्वित हो सकता है—इसमें कोई बाधा नहीं है, 'ब्रह्मशब्दवत्' जिस प्रकार ब्रह्म शब्द एक ही वाक्यमें ब्रह्म-विज्ञान-साधन-तपस्यामें गौणार्थवाचक है और विज्ञेय-ब्रह्मके मुख्यार्थमें प्रतिपादक है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—एक ही पद अपनी योग्यताके आधारपर कहीं मुख्य और कहीं औपचारिक (गौण) होता है—ब्रह्म शब्दकी तरह॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—यथा भृगुवल्ल्यां *'तपसा ब्रह्म जिज्ञासस्व तपो ब्रह्म'* (तै० ३०५/१) इत्येकस्मिन्नेव वाक्ये एकस्यैव ब्रह्मशब्दस्य ब्रह्मविज्ञानसाधने तपसि गौणत्वं विज्ञेये ब्रह्मणि तु मुख्यत्वमेवं सम्भूतशब्दस्यापि स्यात्। तस्माच्छान्दोग्याश्रवणादितः क्वाचित्की वियदुत्पत्तिश्रुतिर्बाध्यते॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस प्रकार भृगुवल्लीमें *'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म'* तपस्याके द्वारा ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करो—इस अंशमें 'ब्रह्मन्' शब्दसे परमात्माको विज्ञेय बताया जा रहा है—अतएव यह मुख्यार्थका वाचक है और फिर 'तपो ब्रह्म' तपस्या ही ब्रह्म है अर्थात् तपस्या ही ब्रह्म-प्राप्तिका साधन है—इस अंशमें 'ब्रह्मन्' शब्द गौणार्थवाचक है। इसी प्रकार 'सम्भूत' शब्दमें भी *'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोस्तेजः, तेजस आपः, अद्भ्यः पृथिवी'* इत्यादि श्रुतिके अन्तर्गत 'सम्भूत' शब्द 'वायोस्तेजः' इत्यादि अंशमें मुख्यार्थका प्रकाशक है, *'आकाशः सम्भूतः', 'आकाशाद् वायुः'* इस अंशमें गौण अर्थ बोधक होगा। अतएव जब छान्दोग्यादि श्रुतिमें आकाशकी उत्पत्ति सुनी नहीं

जाती, तब तैत्तिरीयक इत्यादि श्रुतिमें जो आकाशकी उत्पत्ति सुनी जाती है, वह बाधित होगी ही॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—स्यादिति। मुख्यत्वमिति। मुख्यतया प्रयोगो भवेदित्यर्थः। क्वाचित्की तैत्तिरीयकादिदृष्टा॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार—*'स्याच्चैकस्य'* इत्यादि सूत्रके भाष्यमें स्थित *'मुख्यात्वमिति'* का अर्थ है मुख्य रूपमें ही प्रयोग होगा। *'क्वाचित्की'* अर्थात् किसी-किसी तैत्तिरीयक इत्यादि श्रुतिमें प्राप्त होता है॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई कहे कि तैत्तिरीयश्रुति (२/१/३) में वर्णित है कि आत्मासे आकाश सम्भूत है, आकाशसे वायु, वायुसे जल और जलसे पृथ्वी—इस स्थलपर यदि 'सम्भूत' शब्द अग्नि, जल और पृथ्वीमें अभिधा शक्तिके आधारपर मुख्य रूपसे अन्वित हुआ है, तो पुनः वह आकाशमें गौण रूपसे किस प्रकार अन्वित होगा? इसके उत्तरमें पूर्वपक्ष रूपमें प्रस्तुत सूत्र उत्थापित हुआ है कि एक ही शब्द दो स्थलोंपर दो रूपोंसे अन्वित हो सकता है। जिस प्रकार 'ब्रह्मन्' शब्दका दो स्थानोंपर दो प्रकारसे व्यवहार देखा जाता है—भृगुवल्लीमें है कि तपस्या द्वारा ब्रह्मकी जिज्ञासा करो और तपस्या ही ब्रह्म है। इन दोनों स्थलोंपर एक 'ब्रह्मन्' शब्द रहनेपर भी 'विज्ञेय ब्रह्ममें' मुख्य भावसे और 'तपस्या ही ब्रह्म है' इस स्थलपर उसी ब्रह्मन् शब्दका गौण भावसे व्यवहार हुआ है। इस प्रकार तैत्तिरीयश्रुतिमें उल्लिखित 'सम्भूत' शब्द भी मुख्य एवं गौण रूपसे व्यवहृत हुआ है, यह समझना होगा, क्योंकि छान्दोग्यादि श्रुतिमें आकाशकी उत्पत्ति सुनी नहीं जाती। यह सूत्र भी पूर्वपक्षका सूचक है॥ ४॥

अवतरणिका भाष्य—एवं प्राप्तौ पुनः परिहरति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार आकाशकी अनुत्पत्ति विषयमें पूर्वपक्षीका सिद्धान्त स्थिर होनेपर पुनः उसका परिहार करते हैं—

सूत्र—प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः॥ ५॥

सूत्रार्थ—जिसे जाननेसे अज्ञात वस्तु भी ज्ञात हो जाती है, जिसे सुनसेसे अश्रुत पदार्थ भी श्रुत हो जाता है इत्यादि श्रुतियों द्वारा जो

प्रतिज्ञा (जिस वाक्यकी सिद्धि करनी है, उसका निर्देश करना) की गयी है, उसकी रक्षा हो सकती है—क्या होनेपर? 'अव्यतिरेकात्'—यदि समस्त प्रपञ्च ब्रह्मसे अव्यतिरिक्त (वियुक्त अथवा पृथक् नहीं) हो, अन्यथा 'प्रतिज्ञाहानिः' वह प्रतिज्ञा भङ्ग होती है। ब्रह्मको जगत्का उपादान स्वीकार करें, तब उस ब्रह्मसे अव्यतिरेक होता है, अन्य आकाशादिको उपादान कहनेपर तो व्यतिरेक होगा। मात्र हतना ही नहीं, 'शब्देभ्यः'—ब्रह्मकी उपादान-कारणताके सम्बन्धमें श्रुति भी है, यथा—'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'—समस्त ही ब्रह्मसे अव्यतिरिक्त था, इत्यादि द्वारा सृष्टिके पूर्वमें आकाशादिकी उत्पत्ति नहीं थी, यह प्रतिपादित हुआ है॥ ५॥

सूत्रानुवाद—'जिससे अश्रुत भी श्रुत होता है', इत्यादि वाक्यसे ब्रह्मके ज्ञानसे समस्तके ज्ञानकी प्रतिज्ञा की गयी है, इससे निर्णय होता है कि ब्रह्मसे यदि आकाशकी उत्पत्ति मानी जाय, तो ब्रह्मका कार्य आकाश ब्रह्मसे अभिन्न ही सिद्ध होता है। इस प्रकार ब्रह्मके अव्यतिरेकमें प्रतिज्ञाकी हानि नहीं होती है॥ ५॥

गोविन्दभाष्य—*'येनाश्रुतं श्रुतं भवति'* इत्यादि छान्दोग्यश्रुत्या कृता या प्रतिज्ञा तस्या अहानिः कृत्स्नस्यार्थस्य ब्रह्माव्यतिरेकात् सम्पद्यते। व्यतिरेके तु सति सा विहीयेतैव। तदव्यतिरेकस्तु तदुपादानकत्वनिबन्धनः। तस्मादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिजानन्त्या तया वियदुत्पत्तिरङ्गीकृता। तथा शब्देभ्यश्च *'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* इत्यादिभ्यस्तदतेभ्यः प्राक् सर्गादेकत्वं परत्र तादात्म्यञ्च निरूपयद्भ्यः सा स्वीकार्या॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—छान्दोग्य-धृत श्रुतिकी प्रतिज्ञा है कि 'जिन्हें सुननेसे और कु
इस प्रतिज्ञाकी रक्षा तभी होती है, जब समस्त जागतिक पदार्थोंका ब्रह्मके साथ अभेद हो अर्थात् ब्रह्म समस्तके उपादान हों और यदि व्यतिरेक रहे अर्थात् ब्रह्म उपादान-कारण न रहें, तो उस प्रतिज्ञाकी हानि होगी ही। ब्रह्मसे विश्व-प्रपञ्चका अव्यतिरेक (अभिन्नता) ब्रह्मको उसका उपादान-कारण माननेसे ही है। अतएव एकके विज्ञानसे समस्त वस्तुओंका विज्ञान होता है, इस प्रतिज्ञाकारिणी श्रुति द्वारा प्रतिपादित होता है कि आकाशकी उत्पत्ति है। इसके अतिरिक्त

अन्य श्रुति वाक्योंसे भी आकाशकी उत्पत्ति अवधारित (निश्चित) होती है, यथा—*'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'*—हे सौम्य! शोभन-मूर्त्ति श्वेतकेतु! इस दृश्यमान जगत्की सृष्टिके पूर्व एकमात्र सद्ब्रह्म ही थे अर्थात् सूक्ष्मताके कारण यह जगत् उन ब्रह्ममें विलीन था, *'एकमेवाद्वितीयम्'*—वे एकमात्र ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदरहित हैं, *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'*—यह परिदृश्यमान कार्यभूत समस्त जगत् ही उन ब्रह्मसे अभिन्न है इत्यादि। ये सभी श्रुति-वाक्य निरूपण करते हैं कि छान्दोग्यश्रुति-बोधित तेज, जल और अन्न सृष्टिके पूर्व एक थे अर्थात् ब्रह्मके साथ अभिन्न थे एवं सृष्टिकालमें भी थे, कारण-ब्रह्म उपादानकारणीभूत ब्रह्म के साथ अव्यतिरिक्त रहते हैं। इस प्रकार ये श्रुतियाँ आकाशकी उत्पत्तिको स्वीकार करती है॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रतिज्ञाहानिरिति। सा प्रतिज्ञा। तदव्यतिरेको ब्रह्माभेदः। तदुपादानकत्वनिबन्धनः ब्रह्मोपादानकत्वहेतुकः। तया छान्दोग्यश्रुत्या। तथेति। तद्गतेभ्यः छान्दोग्यस्थेभ्यः। परत्र सर्गकाले। तादात्म्यं कारणब्रह्माभेदम्। सा वियदुत्पत्तिः॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—*'प्रतिज्ञाहानिरित्यादि'* सूत्रके भाष्यमें *'सा विहीयेतैव'* इति सा अर्थात् प्रतिज्ञा, *'तदव्यतिरेकश्च तदुपादानकत्वनिबन्धन'* इति में *'तदव्यतिरेक'* अर्थात् ब्रह्मसे अभेद। *'तदुपादानकत्वनिबन्धन इति'* अर्थात् ब्रह्मके उपादान कारणता जनित अर्थात् ब्रह्मको उपादान कारण कहनेपर ही कार्यभूत जगत्का उनके साथ अभेद होगा, अन्यथा नहीं। 'तया' का अर्थ है—उस छान्दोग्यश्रुति द्वारा आकाशकी उत्पत्ति स्वीकृत हुई है। *'तथा शब्देभ्यश्च'* इति तद्गतेभ्यः छान्दोग्योपनिषदमें वर्णित *'परत्र तादात्म्यञ्च इति'* में 'परत्र' का अर्थ है 'सृष्टिकालमें'। 'तादात्म्य' का अर्थ है—उपादान कारणीभूत ब्रह्मके साथ अभेदको *'सा स्वीकार्या'*—में 'सा' अर्थात् उस आकाशकी उत्पत्ति स्वीकार करनी होती है॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस पूर्वपक्षके सिद्धान्तके खण्डनके अभिप्रायसे सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रकी अवतारणा करते हुए कह रहे हैं कि श्रुतिकी प्रतिज्ञाकी हानि तब नहीं होगी, जब समस्त प्रपञ्च ब्रह्मसे अव्यतिरिक्त

हो अर्थात् ब्रह्म समस्त जगत्के उपादान-कारण हों, इस प्रकार श्रुति-प्रमाणसे भी ब्रह्मकी उपादान-कारणता सिद्ध होती है।

छान्दोग्यश्रुति (६/१/३) में देखा जाता है—*'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति'*—जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत (बिना विचार किया हुआ) मत (विचारा हुआ) हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूपसे ज्ञात हो जाता है। बृहदारण्यक (४/५/६) में भी पाया जाता है—*'आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदम् सर्वम् विज्ञातम् भवतीति'*—अरी मैत्रेयि! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और निदिध्यासन (ध्यान) करने योग्य है। हे मैत्रेयि! निश्चय ही आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जानेपर इन सबका ज्ञान हो जाता है, मुण्डकोपनिषद (१/१/३) में भी—*'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति'*—शौनक नामक प्रसिद्ध महागृहस्थने अङ्गिराके पास विधिवत् (शास्त्रानुसार) जाकर पूछा, 'भगवन्! किसे जान लिये जानेपर यह सब कु

श्रुतियोंकी प्रतिज्ञाकी रक्षा ब्रह्मके ही एकमात्र हेतु होनेसे हो सकती है। इनके अतिरिक्त अन्यान्य श्रुतियोंमें भी ब्रह्मका मूलकारणत्व और उन ब्रह्मसे ही आकाशादिकी उत्पत्ति स्वीकृत हुई है।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

स एवेदं ससर्ज्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः॥

(श्रीमद्भा॰ १/२/२९)

ऐसे भगवान् स्वयं निर्गुण हैं और उनकी बहिरङ्गाशक्ति भी निर्गुणमयी है। प्रपञ्चकी दृष्टिसे यह गुणमयी है, परन्तु यथार्थतः निर्गुणा है। वे कारणोदकशायी प्रथम पुरुष रूपमें सर्गके आदिमें प्रथमतः कार्य-कारणात्मिका मायाके प्रति ईक्षणकर इस विश्वकी सृष्टि करते हैं।

और भी,

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्य पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१०/२९)

अर्थात् हे कृष्ण! हे कृष्ण! आपका प्रभाव अचिन्त्य है। आप परमपुरुष हैं। आप ही जगत्के मूल-निमित्त एवं उपादान कारण हैं। ब्रह्मविद्गण इस (*'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्'* (छा॰ ३/१४/१)— सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है, तज्जलान् अर्थात् तज्जम्, तल्लम् और तदनम् अर्थात् यह जगत् उन ब्रह्मसे उत्पन्न, उनमें ही लीन और उन्हींमें अवस्थित होकर विविध क्रियाएँ करता है) स्थूल सूक्ष्मात्मक जगत्को आपका ही (प्राकृत) रूप कहते हैं।

और भी,

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३२)

अर्थात् सृष्टिके पूर्व एकमात्र मैं ही था; स्थूल, सूक्ष्म और उन दोनोंका कारणभूत प्रधान अथवा प्रकृति पर्यन्त मुझसे पृथक् रूपमें अन्य कु

प्रलयमें भी एकमात्र मैं ही अवशिष्ट रहूँगा॥५॥

अवतरणिका भाष्य—ननु वाचकाभावात् कथमत्र सा वक्तु

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आक्षेप हो सकता है कि छान्दोग्यश्रुतिमें आकाशके उत्पत्तिवाचक शब्दका उल्लेख न रहनेसे आकाशकी उत्पत्तिकी बात किस प्रकार कही जा सकती है? तो इसके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। अत्र छान्दोग्ये।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—'अत्र' का अर्थ है—इस 'छान्दोग्योपनिषद' में।

सूत्र—यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत्॥६॥

सूत्रार्थ—तु—तथा ('तु' 'च' अर्थमें प्रयुक्त है) 'यावद्विकारम्'— ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्—इस श्रुतिमें जितने भी विकार हैं, सबकी 'विभागः'—उत्पत्तिका निरूपण किया गया है, दृष्टान्त है 'लोकवत्' लौकिक व्यवहारकी भाँति अर्थात् जिस प्रकार ये चैत्रके पुत्र हैं

कहकर उनमेंसे कु
चैत्र-पुत्र रूपमें बोधित होते हैं, इसी प्रकार महदादि विकारोंमें आकाशका उल्लेख करके 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' समस्त विकारोंका ब्रह्मोपादानक कहनेसे आकाशका भी ब्रह्मसे जन्यत्वका प्रतिपादन होता है॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्काप्रहाणाय। *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* (छा० ६/८/७) इत्यत्र यावद्विकारं विभागो निरूपितः। प्रधानमहदादयो यावन्तो विकाराः सुबालादिश्रुत्यन्तरोक्तास्तेषां सर्वेषामेव विभागस्तयापि बोधित इत्यर्थः। दृष्टान्तमाह लोकेति। लोके यथैते सर्वे चैत्रात्मजा इत्युक्ता तेषु केषाञ्चिदेव चैत्रादुत्पत्तौ कीर्त्तितायां तस्मादेव सर्वेषामुत्पत्तिर्विदिता स्यात्तथेहाप्यैतदात्म्यमिदं सर्वमित्यनेन सर्वाणि प्रधानमहदादीनि तत्त्वानि सदुत्पन्नान्युक्त्वा तेषु तेजोऽवन्नानां सत उत्पत्तौ कीर्त्तितायां सर्वेषां तेषां तस्मादुत्पत्तिर्विदिता भवतीति। तथाच वाचकाभावेऽप्यार्थिकी वियदुत्पत्तिरत्र गम्येति। विभाग उत्पत्तिः। यत्तु गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्चेत्युक्तं तन्न अचिन्त्यशक्तेरुत्पादकसामग्र्याः श्रवणात्। अमृतत्वन्त्वापेक्षिकमेवो (बृ०आ० २/३/३) त्पत्तिविनाशश्रवणात्। एवमनुमानाच्च तस्योत्पत्तिविनाशौ निश्चिनुमः। वियदुत्पद्यते भूतत्वाद्विनश्यति चानित्यगुणाश्रयत्वादग्निवदित्युभयत्रान्वयदृष्टान्तः। यन्नैवं तन्नैवं यथात्मेत्युभयत्र व्यतिरेकदृष्टान्तश्च। एतेन स्याच्चैकस्येत्यपि निरस्तम्। तस्मान्नव्यो न व्योमजन्माभ्युपगमः॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'तु' शब्द पूर्वोक्त आक्षेप अथवा शङ्काके निराकरणके उद्देश्यसे प्रयुक्त है। *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'*—'यह सब कु
आत्म्य है'—इस श्रुतिमें प्रकृति-महदादि सभी विकार पदार्थ ब्रह्मसे उत्पन्न कहकर अवधारित हुए हैं (आकाश भी विकृत रूपमें सब तत्त्वोंमें सम्मिलित बताया गया है—जिससे ब्रह्मसे आकाशकी भिन्नता और उत्पत्ति स्पष्ट हो गयी है)। प्रधान, महान्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत—ये सभी विकारके रूपमें सुबालादि श्रुति एवं अन्यान्य श्रुतियोंमें वर्णित हैं और इन सभीकी उत्पत्ति इसी छान्दोग्यश्रुति द्वारा बोधित हैं—यह अर्थ है। *'लोकवत्'* (लौकिक व्यवहारमें जैसे देखा जाता है) इस उक्ति द्वारा दृष्टान्त दिखाते हैं। लौकिक व्यवहारमें जिस प्रकार 'ये सभी चैत्रके पुत्र हैं'—यह कहकर उनमेंसे कु
सभीकी उत्पत्तिका परिचय प्राप्त हो जाता है, ठीक इसी प्रकार इस

स्थलपर भी *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* (यह समस्त ही ब्रह्मस्वरूप है)—इस कथन द्वारा प्रधान, महत्, अहङ्कार इत्यादि सभी तत्त्व सद्ब्रह्मसे उत्पन्न हैं। यह कहनेपर इन प्रधानादि तत्त्वोंमें अग्नि, जल एवं पृथ्वी आदि सभी तत्त्वोंकी उत्पत्ति यदि सद्ब्रह्मसे वर्णित है तो समस्त विकार तत्त्वोंकी सद्ब्रह्मसे उत्पत्ति स्वयं ही विदित एवं निर्धारित हो जाती है। इस निर्धारणके फलस्वरूप छान्दोग्यमें आकाशका उत्पत्ति-वाचक शब्द न रहनेपर भी अर्थाधीन होनेसे आकाशकी उत्पत्तिका बोध हो सकता है। सूत्रमें स्थित 'विभागः' शब्दका अर्थ है 'उत्पत्ति'। तब जो तृतीय सूत्र *'गौण्यसम्भवात् शब्दच्च'* में कहा गया है कि आकाशकी उत्पत्तिकी सम्भावना नहीं की जा सकती तथा बृहदारण्यकमें भी 'वायु, आकाश, अमृत (शास्त्रवत) हैं' कहकर आकाशकी उत्पत्तिको नहीं कहा गया है, अतः कहीं जो आकाशकी उत्पत्ति सुनी जाती है, उसे गौणी उत्पत्ति मानना चाहिये, मुख्य नहीं तो देखो, आकाशकी उत्पत्तिको गौणी कहना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि भगवान्‌की अचिन्त्यशक्ति ही आकाशकी उत्पादन-सामग्रीके रूपमें श्रुत है, तब उत्पत्तिका होना असम्भव कैसे हो सकता है? तो भी उस आकाशका जो अमृतत्व अर्थात् नित्यत्व कहा जाता है, वह भी आपेक्षिक है अर्थात् अन्यान्य भूतोंसे आकाश अधिक काल तक स्थायी रहता है, इस अर्थमें है, अन्यथा उसका उत्पत्ति-विनाश कैसे सुना जा सकता था? जिसकी उत्पत्ति और विनाश है, वह नित्य नहीं हो सकता है। इस प्रकार अनुमान-प्रमाणसे भी हम उसकी उत्पत्ति एवं विनाशका अवधारण (निश्चय) कर सकते हैं—यथा *'वियत् उत्पद्यते भूतत्वात्'* अर्थात् आकाश महाभूतोंमेंसे एक भूतके रूपमें गण्य है, अतएव यह भी उत्पत्तिशाली है और *'आकाशं विनाशवत् अनित्यगुणाश्रयात्'* क्योंकि आकाश अनित्य शब्दगुणका आधार है, अतएव विनाशी है। (जो अनित्य गुणका आश्रय है, उसका नाश भी है) दृष्टान्त है—*'अग्निवत्'*—'अग्निके समान' जिस प्रकार पञ्चभूतोंके अन्तर्गत अग्नि एक भूत है, अतएव भूत होनेसे वह उत्पत्तिमान है और इसीलिए अनित्य गुणका आश्रय है तथा उष्ण-स्पर्श-विशिष्ट होनेसे विनाशशील भी है। यह दृष्टान्त आकाशकी उत्पत्ति और

विनाश—दोनों ही स्थलों अर्थात् अनुमानोंमें प्रयोज्य है। तात्पर्य यह है कि यह अग्निका दृष्टान्त अन्वयी दृष्टान्त है अर्थात् हेतु होनेपर साध्यसत्ताका अनुमापक दृष्टान्त है, और व्यतिरेकी अनुमानमें भी दृष्टान्त है, यथा—'आत्मा'। व्यतिरेकी अनुमान है जैसे *'यन्नैवं, तन्नैवम्'*—जो साध्यवान नहीं है, वह हेतुमान नहीं है; जिस प्रकार आत्मा उत्पत्तिमान नहीं है, अतः वह भूत भी नहीं है। इसके द्वारा अर्थात् इस अनुमानके द्वारा इस पादके चतुर्थ सूत्र—*'स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्'* द्वारा पूर्वपक्षीने आकाशकी अनुत्पत्तिके विषयमें जो युक्ति (गौण-प्रयोग) दिखायी थी, वह भी खण्डित होती है। इस प्रकार आकाशकी उत्पत्तिको स्वीकार करना कोई नई बात नहीं है अर्थात् स्व-कपोल-कल्पित नहीं है, पूर्व सिद्ध है॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—यावदिति। यावद्विकारमित्यव्ययीभावः समासः। यावदवधारण इति सूत्रात्। यावच्छ्लोकं हरिप्रणामा इतिवत्। यावन्तो विकारास्तावतां विभागश्छान्दोग्यश्रुत्या विज्ञापित इत्यर्थः। तत्र तावत्पदं वृत्तावन्तर्भूतं दध्योदनमित्यत्र उपसिक्तपदवत्। तस्मादेव चैत्रादेव। इहापि छान्दोग्यवाक्येऽपि। तस्मात् सच्छब्दवाच्यात् ब्रह्मणः। अथ छान्दोग्यवाक्ये आपेक्षिकममृता दिवौकस इतिवत्। तस्मादिति। व्योमजन्माभ्युपगमो नव्यो नवीनो न किन्तु पूर्वसिद्ध एव॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार— *'यावद् विकारं विभागः'* इत्यादि सूत्रके अन्तर्गत *'यावद् विकारम्'* पद अव्ययीभाव समाससे निष्पन्न हुआ है। इसका सूत्र है *'यावदवधारणे'* अर्थात् (अवधारण अर्थमें वर्त्तमान) अवधारण द्योतित होनेपर 'यावत्' इस अव्ययके सुबन्त पदके साथ अव्ययीभाव समास होता है। इसका विग्रह वाक्य है यथा *'यावन्तो विकारास्तावस्तो विभागाः'* जिस प्रकार *'यावच्छलोकं हरिस्तवाः'* कहनेपर *'यावन्तः श्लोकाः तावन्तो हरिस्तवाः'*, जितने भी श्लोक हैं, सभी हरि-स्तव हैं, इसीके समान जितने प्रधान, महदादि विकार हैं, प्रत्येकको ही उत्पत्ति है। छान्दोग्यश्रुति द्वारा यही बोधित होता है—यह तात्पर्य है। यदि कहो कि सूत्रमें तो *'तावत्'* पद नहीं है, केवल 'विभाग' है, तो ऐसा ही हो किन्तु वह 'दध्यादने' शब्दके समान लुप्त है अर्थात् दधि द्वारा उपसिक्त (माखन) ओदन (भात)—इस अर्थमें समासमें जिस

प्रकार उपसिक्त पदका लोप हुआ है। *'तस्मादेव सर्वेषामुत्पत्तिरिति'* में 'तस्मात्' का अर्थ है 'चैत्रसे ही'। *'तथा इहापीति'* में इहापि का अर्थ है—छान्दोग्योपनिषद वाक्यमें भी। *'तेषां तस्मादुत्पत्ति र्विदितेति'* में 'तस्मात्' का अर्थ है 'सत्शब्दके वाच्य ब्रह्मसे'। 'आपेक्षिकमिति'—जिस प्रकार छान्दोग्योपनिषदमें *'अमृता दिवौकसः'* इस उक्तिके अन्तर्गत अमृत शब्दमें देवतादियोंका अमृतत्व आपेक्षिक समझा जाता है, उसी प्रकार शब्दसे आकाश—अन्यकी अपेक्षा अधिक अमृत (नित्य) है—यह जानना चाहिये। *'तस्मान्नव्यो न व्योमजन्माश्युपगमः'* अर्थात् नवीन नहीं किन्तु पूर्व-सिद्ध है॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि श्रुतिमें आकाशके उत्पत्तिवाचक शब्दका अभाव होनेके कारण यहाँ आकाशका उद्भव किस प्रकार कहा जा सकता है—इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि श्रुतिमें समस्त विकारोंका विभाग अर्थात् उत्पत्तिका निरूपण हुआ है। इसमें संशयका कोई अवकाश नहीं है। लौकिक दृष्टान्तमें भी देखा जाता है कि 'ये सब अमुकके पुत्र हैं' उनमेंसे कु

'ब्रह्मसे सब उत्पन्न हुए हैं' कहनेपर ब्रह्मसे व्योमादिका (आकाशादिका) भी उद्भव उसी प्रकार जान लिया जाता है, जिस प्रकार दुग्धपूर्ण घटमें प्रक्षिप्त कतिपय जल-कणोंका ज्ञान दुग्धके ज्ञानसे हो जाता है। 'वायु, आकाश, अमृत (अमर) हैं'—बृहदारण्यककी यह श्रुति देवताओंके समानमात्र चिरकाल स्थितिकी ही द्योतक है।

इस विषयमें भाष्यकारने अपने भाष्य और टीकामें विभिन्न युक्तियोंका प्रदर्शन किया है, जिसे वहीं देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिर्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४०/२)

अर्थात् हे देव! जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्त्व, प्रकृति, पुरुष, मन, दस इन्द्रियाँ, समस्त इन्द्रियोंके विषय एवं समस्त

देवतागण इत्यादि जो-जो इस जगत्के कारणस्वरूप हैं, वे समस्त पदार्थ आपके श्रीअङ्गसे उत्पन्न हुए हैं॥ ६॥

अवतरणिका भाष्य—वायौ पूर्वोक्तमर्थमतिदिशति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'वायौ इति'* अब वायुमें पूर्व वर्णित सिद्धान्तका अतिदेश (एक धर्मका दूसरेके धर्ममें आरोपण करते हैं)—

अवतरणिकाभाष्य टीका—वायाविति। अतिदेशत्वान्नात्र पृथक् सङ्गत्यपेक्षा।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'वायौ इत्यादि'* अवतरणिका भाष्यमें—इस प्रकरणमें आकाशका अतिदेश (सादृश्य-कथन) रहनेके कारण स्वतन्त्र सङ्गतिका प्रयोजन रहता ही नहीं है।

२—मातरिश्वव्याख्यानाधिकरणम्

सूत्र—एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः॥ ७॥

सूत्रार्थ—'एतेन' इसके द्वारा अर्थात् आकाशकी उत्पत्तिकी व्याख्या द्वारा 'मातरिश्वा' वायु भी 'व्याख्यातः' कार्य रूपमें व्याख्यात हो गयी है अर्थात् आकाशाश्रित वायुको भी उत्पत्तिशाली कहा गया है॥ ७॥

सूत्रानुवाद—उक्त विवेचनसे मातरिश्वा (वायु) की उत्पत्तिकी भी व्याख्या हो गयी है॥ ७॥

गोविन्दभाष्य—एतेन वियज्जन्मव्याख्यानेन मातरिश्वा तदाश्रितो वायुरपि कार्यतयोक्त इत्यर्थः। इहाप्येवमङ्गानि बोध्यानि। वायुर्नोत्पद्यते छान्दोग्येऽनुक्तेः। अस्त्युत्पत्तिः *'आकाशाद्वायुः'* (तै॰ २/१) इत्युक्तेस्तैत्तिरीयके गौण्युत्पत्तिरमृतत्वश्रुतेः प्रतिज्ञानुपरोधात् *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* (छा॰ ६/८/७) इति सर्वेषां ब्रह्मकार्यत्वोक्तेश्च छान्दोग्येऽपि वायोरुत्पत्तिर्बोध्येति सिद्धान्तः। अमृतत्वं त्वापेक्षिकमित्युक्तम्। योगविभागस्तेजः-सूत्रे मातरिश्वपरामर्शार्थः॥ ७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इसके द्वारा अर्थात् आकाशकी उत्पत्तिके (कार्यके) वर्णन द्वारा मातरिश्वा—यह आकाशाश्रित वायु भी कार्यरूपमें निरूपित हुई है। इस अधिकरणमें भी इस प्रकारसे पञ्चाङ्ग योजनीय है। यथा—वायु—यह विषय है (यह प्रथम अङ्ग है), संशय—*'वायुः उत्पद्यते न वा'*—वायु उत्पन्न होती है कि नहीं (यह द्वितीय अङ्ग

है)। पूर्वपक्ष—वायुर्नोत्पद्यते—वायु उत्पन्न नहीं होती (यह तृतीय अङ्ग है) हेतु—(कारण) है कि छान्दोग्ये अनूक्तेः—छान्दोग्यमें वायुकी उत्पत्ति नहीं कही गयी है। यदि कहो, हाँ, आकाशसे वायुकी उत्पत्ति है, तो प्रमाण क्या है? *'आकाशाद् वायुः'* (तै० २/१) आकाशसे वायु सम्भूत (उत्पन्न) हुई है—यह तैत्तिरीयक श्रुति है, वह भी नहीं है, क्योंकि यह उत्पत्ति श्रुति गौणी अर्थात् लाक्षणिक है, मुख्य नहीं है; इसका प्रमाण—*'वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतम्'* (बृ०आ० २/३/३) वायु और अन्तरिक्ष—ये अमृत हैं—यह बृहदारण्यकश्रुति है। इसी प्रकारसे *'सैषानस्तमिता देवता यद् वायुः'* (बृ०आ० २/३/३) यह जो वायु है, अस्त न होनेवाला देवता है—इसमें सिद्धान्त यह है—नहीं, गौणी उत्पत्ति नहीं है (यह चतुर्थ अङ्ग हुआ)। *'येन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति'*—इस प्रतिज्ञाकी रक्षाके अनुरोधसे वायुकी उत्पत्ति माननी होगी; इसके अतिरिक्त *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'*—प्रधान इत्यादि समस्त विकार ही ब्रह्मस्वरूप हैं—इस श्रुति-वाक्य द्वारा समस्त विकारोंकी ब्रह्मसे उत्पत्ति कही गयी है। अतएव छान्दोग्यश्रुति मतमें भी वायुकी उत्पत्ति बोद्धव्य अर्थात् सूचित है। तब जो वायुके सम्बन्धमें अमृतत्व कहा गया है—यह आपेक्षिक है अर्थात् अन्यान्य विकारोंके समान नहीं है—इस अभिप्रायसे इसे अमृत कहा है—इसी बातको आकाशके निरूपणमें भी कहा गया था। इस सूत्रको पूर्व सूत्रके साथ युक्त न करके जो पृथक् रूपसे कहा है, अर्थात् जो योग विभाग है, उसका उद्देश्य है—*'तेजोऽतस्तथा ह्याह'* (ब्र०सू० २/३/९)। इस सूत्रमें मातरिश्वा शब्दकी अनुवृत्ति और सम्बन्धके कारण यह सङ्गति (निर्णय) रूप पञ्चम अङ्ग है। यह योग-विभाग मातरिश्व परामाशार्थ है॥ ७॥

सूक्ष्मा-टीका—एतेनेति। छान्दोग्ये वायोरुत्पत्तिर्नश्रुता। तैत्तिरीयके तु श्रूयते। अतस्तयोर्विरोधः। समाधानस्त्वत्र व्यक्तीभावि। तस्मादविरोधः॥ ७॥

सूक्ष्मा-सार—*'एतेनेत्यादि'* सूत्रकी व्याख्या द्वारा—छान्दोग्योपनिषदमें वायुकी उत्पत्ति श्रुत नहीं होती, किन्तु तैत्तिरीयकमें तो वह श्रुत होती है। अतएव इन दोनों श्रुतिका विरोध, इसका समाधान—इस सूत्रमें व्यक्त होगा। अतएव विरोध नहीं है॥ ७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—छान्दोग्योपनिषदमें वायुकी उत्पत्ति सुनी नहीं जाती, किन्तु तैत्तिरीयक श्रुतिमें इसके विषयमें सुना जाता है, इस प्रकार दोनों श्रुतियोंका विरोध उपस्थित होनेपर सूत्रकारने उसका समाधान इस सूत्रमें व्यक्त कर दिया है कि आकाशकी उत्पत्ति-कथनसे तदाश्रित वायुकी उत्पत्ति भी कह दी गयी है। अतः कोई विरोध नहीं है। एक-विज्ञानसे सर्व-विज्ञानकी प्रतिज्ञा सर्वोपरि है। वायुके सम्बन्धमें अमृत और अनस्तमितत्व आपेक्षिक मात्र है, जैसा कि आकाश-वर्णनमें निरूपण हुआ था।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

नमसोऽथ विकु स्पर्शगुणोऽनिलः।
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम्॥
(श्रीमद्भा॰ २/५/२६)

अर्थात् इसके बाद विकृत आकाशसे स्पर्श गुणयुक्त वायुकी उत्पत्ति हुई और कारणरूप आकाशका सम्बन्ध रहनेसे उस वायुमें भी शब्द गुण वर्त्तमान है। वायु ही देह-धारण, इन्द्रिय, मन और शरीरकी पटुता-विधानका हेतु है।

और भी,

इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि।
नान्यद्भगवतः किञ्चिद् भाव्यं सदसदात्मकम्॥
(श्रीमद्भा॰ २/६/३३)

अर्थात् हे तात! तुमने मुझसे जिस प्रकारसे प्रश्न किये थे, मैंने उसी प्रकारसे बतलाया है। सत् (कार्य), असत् (कारण) एकपादात्मक या त्रिपादात्मक कोई भी वस्तु उन भगवान्‌से पृथक् है—ऐसी भावना कभी नहीं करना॥ ७॥

अवतरणिका भाष्य—अथ सदेव सौम्येदमित्यादौ (छा॰ ६/२/१) सन्देहान्तरम्। सद्ब्रह्माप्युत्पद्यते न वेति। कारणानामपि प्रधानमहदादीनामुत्पत्त्याभिधानात् सदप्युत्पद्यते तस्यापि कारणत्वाविशेषादित्येवं प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* इस श्रुतिमें कहे गये विषयपर दूसरा सन्देह भी आ पड़ता है

यथा—सद्ब्रह्म भी उत्पन्न होता है? कि नहीं? पूर्वपक्ष कहता है कि हाँ, सद्ब्रह्म उत्पन्न होता है क्योंकि प्रधान, महत्, इत्यादि कारणोंकी भी उत्पत्ति कही गयी है। अतएव सत्का भी उत्पन्न होना स्वीकार किया जायेगा। युक्ति समान ही है। कारणत्वरूप धर्म दोनोंका समान ही है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—प्रागसम्भावितोत्पत्तिकयोरपि वियद्वायोरुत्पत्तिः श्रुतिबलादुक्ता। तद्वत् *'जातो भवसि विश्वतोमुख'* इति श्रुत्या ब्रह्मापि उत्पन्नं सहेतुत्वात् वियद्वतित्यनुमानपुष्टया ब्रह्मणोऽपि कु
सदेवेत्यादि। अत्र ब्रह्माजत्वादिश्रुतेर्ब्रह्मोत्पत्तिश्रुतेश्च विरोधोऽस्ति न वेति संशये ब्रह्मोत्पत्तिश्रुतेरनुमानपोषेण प्राबल्यादस्ति तया सह विरोध इति प्राप्ते निरस्यति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व प्रकरणमें जिनकी उत्पत्ति असम्भव है, उन वायु एवं आकाश की भी उत्पत्ति श्रुतिके आधारपर निरूपित हुई। इसी प्रकार *'जातो भवसि विश्वतोमुखः'* (श्वे॰ ४/३) तुम उत्पन्न हुए हो, तुम विश्व-व्यापक हो—इस श्रुति द्वारा *'ब्रह्मादि उत्पन्नं सहेतुत्वात् वियद्वत्'* अर्थात् ब्रह्म भी उत्पन्न है क्योंकि उसका कारण है, जैसे आकाश। इस अनुमानको सहयोग करनेवाली उक्त श्रुतिके द्वारा सद्ब्रह्मकी भी किसी एक कारणसे उत्पत्ति स्वीकृत हो; इस दृष्टान्त सङ्गति द्वारा कहते हैं—*'सदेव सौम्येदम्'* इत्यादि ग्रन्थमें उक्त ब्रह्म विषय है। इसमें संशय यह है कि कोई श्रुति कहती है कि ब्रह्म अज, उत्पत्तिरहित है, और कोई श्रुति कहती है कि ब्रह्मकी उत्पत्ति है, तब दोनों श्रुतियोंका विरोध हुआ? कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि जो श्रुति ब्रह्मोत्पत्तिकी साधक है, अनुमानकी सहायतासे दृढ़ होनेपर प्रबलतावश उस श्रुतिका इस अजत्व श्रुतिके साथ विरोध होगा, इस पूर्वपक्षीके सिद्धान्तका निराकरण करते हुए कहते हैं।

३—असम्भवाधिकरणम्

ब्रह्म-तत्त्व किसीसे भी उत्पन्न नहीं है

सूत्र—असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः॥ ८॥

सूत्रार्थ—'तु' यह शङ्काकी नहीं जा सकती अथवा यह निश्चित है कि 'सतोऽसम्भवः' सत्की अर्थात् ब्रह्मकी उत्पत्ति नहीं है, किस

कारणसे? 'अनुपपत्तेः' असङ्गतिके कारण—किस प्रकारसे? क्योंकि कारण न रहनेपर उत्पत्ति नहीं होती और ब्रह्मका कोई भी कारण नहीं है, अतएव उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह तात्पर्य है॥ ८॥

सूत्रानुवाद—सत् ब्रह्मकी उत्पत्ति असम्भव है, क्योंकि उसे सबका कारण बताकर उसके किसी भी कारणका निषेध किया गया है॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्काच्छेदे निश्चये वा। सतो ब्रह्मणः सम्भवः उत्पत्तिर्नैवास्ति। कु
श्रुतिराह *'स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'* (श्वे॰ ३०६/९) इति। न च कारणत्वादुत्पत्तिमदित्यनुमातुं शक्यं श्रुत्यानुमानबाधात्। मूलकारणस्य स्वीकार्यत्वात्तदभावेऽनवस्थापाताच्च। यन्मूलकारणं तत्त्वमूलमेव। मूले मूलाभावादिति। इह ब्रह्मोत्पत्तिशङ्कापरिहारेणैवं ज्ञाप्यते। ब्रह्मैव परमकारणत्वादुत्पत्तिशून्यं तदन्यदव्यक्तमहदादिकन्तु सर्वमुत्पत्तिमदेव। खादिजन्मनिरूपणं तूदाहरणार्थमिति॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'असम्भवात्'* इत्यादि सूत्रमें सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निराश एवं निश्चयार्थक के लिए है। 'सतः' इत्यादि—नित्य ब्रह्मकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। कारण क्या है? अनुपपत्तेः—अयौक्तिक होनेके कारण—(युक्ति अर्थात् प्रमाण न होनेके कारण)। भाष्यमें कहा है—*'हेतुविरहिणस्तस्य'* अर्थात् जो हेतु (कारण) रहित है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती; वह नित्य है। सद्ब्रह्मका हेतु अयुक्त है—इस कारण श्रुति इस प्रकार कह रही है—*'स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप'* (श्वे॰ ६/९)—वे परमेश्वर सबके कारण हैं और समस्त कारणाधिपतियोंके अधिपति हैं। उनका न तो कोई उत्पादक है और न ही कोई अधिपति। यदि कहो *'सद् उत्पत्तिमत् कारणत्वात्'*—इस अनुमान द्वारा सत्की उत्पत्तिका अनुमान किसी कारणसे किया जायेगा, तो ऐसा भी नहीं, क्योंकि श्रुति द्वारा यह अनुमान बाधित होता है। एक आदि (मूल) कारण अवश्य ही स्वीकार्य है, उसे स्वीकार न करनेपर अनवस्था आ पड़ती है। जो मूल-कारण होंगे, उनका और कोई कारण नहीं रहता है। सूत्रकार वही कह रहे हैं—*'मूले मूलाभावात्'*—मूल-कारणका और कारण रह नहीं सकता। इस अधिकरणमें ब्रह्मकी उत्पत्ति-विषयमें शङ्काके परिहार द्वारा यह बोधित होता है कि ब्रह्म ही प्रधान

(परम) कारण हैं, इसलिए वे उत्पत्तिरहित हैं और उन ब्रह्मसे भिन्न प्रधान, महत् इत्यादि सभी तत्त्व उत्पत्ति-विशिष्ट हैं। आकाशादिकी उत्पत्तिका जो निरूपण किया गया है, उसका उद्देश्य अन्यान्य तत्त्व, जो उत्पत्तिमान हैं, उनके उदाहरणके लिए है॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—असम्भवस्त्विवति। हेतुर्विरहिणस्तस्येति। यद्धि हेतुविरहितं सद्रूपं तन्नित्यम्। यदुक्तम्—सदकारणं यत् तत् नित्यमिति। सतो ब्रह्मणो हेतुविरहे श्रुतिमाह स कारणमिति। एतया श्रुत्यानुमानबाधात् जातो भवसीति श्रुतिस्तु दुर्बला सती शक्तिद्वयद्वारा जगदाकारपरिणतिमेव ब्रूयान्न तु स्वरूपैक्यचिद्विकारलेशमपीति न कोऽपि विरोधगन्धः। विप्रतिपत्तौ समभावयोर्दूषणमित्याह मूलकारणस्येत्यादि॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार— *'असम्भवस्त्वित्यादि'* सूत्रमें हेतुविरहिणस्तस्येत्यादि भाष्यमें—जो कारणरहित सत्स्वरूप है, वह नित्य है। कथित है—जो सत् है और फिर कारणरहित भी है, वह नित्य है। सद्ब्रह्मका जो कारण नहीं है, उसीको प्रमाणस्वरूप श्रुति बतला रही है— *'स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'* (श्वे॰ ६/९) वे सबके कारण हैं और समस्त कारणाधिपतियोंके अधिपति हैं—इस श्रुति द्वारा उनकी उत्पत्तिका अनुमान बाधित होता है और *'जातो भवसि विश्वतोमुखः'* यह श्रुति दुर्बल हो पड़ती है, तब इस जातो इत्यादि श्रुतिकी गति क्या? तो भाष्यमें वही बतलाया है कि दो शक्तियों—प्रधानशक्ति और जीवशक्ति द्वारा ब्रह्म जात हैं अर्थात् जगदाकारमें परिणत हैं, यही समझना होगा। जो स्वरूपतः ऐक्य-विशिष्ट चित्-शक्ति है, उसका लेशमात्र भी विकार नहीं है। इस तात्पर्यमें विरोधकी कोई गन्ध नहीं है। विप्रतिपत्तिमें अर्थात् विरोधमें वादी-प्रतिवादी—हम दोनोंका समान ही दोष है, तो इसके उत्तरमें *'मूलकारणस्य स्वीकार्यत्वादित्यादि'* ग्रन्थको भाष्यकार बतला रहे हैं अर्थात् मूल कारण ही स्वीकृत है, उसका अनुसन्धान नहीं हो सकता॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति— *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* (छा॰ ६/२/१) श्रुतिको लेकर यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि ऐसा होनेपर सत्स्वरूप ब्रह्म उत्पन्न होते हैं कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि महदादि कारणसमूह जब उत्पन्न होता है, तब कारणके अनुसार अविशेष ब्रह्मकी भी उत्पत्ति

हो। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर उसका निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ब्रह्मकी उत्पत्ति असम्भव है, क्योंकि इसकी उपपत्ति नहीं है अर्थात् युक्तियुक्तताका अभाव है।

क्योंकि ब्रह्मकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इसपर भाष्यकारकी युक्ति है कि कारण बिना कार्य नहीं होता, ब्रह्म समस्त करणोंके कारण हैं, इसलिए उनका कारण अथवा प्रभु कोई नहीं है। श्वेताश्वतरोपनिषद (६/९) में जो यह कहा कि *'स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'*—वे सबके कारण हैं और समस्त कारणाधिपतियोंके अधिपति हैं—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।
आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः।
(तै॰ २/१/१)

अर्थात् उन परब्रह्म (सत्यज्ञान अनन्त ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर) से प्राकृत आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु और वायुसे अग्नि उत्पन्न हुई—इस प्रकार ब्रह्म किसीसे उत्पन्न हुए हों—ऐसी कोई श्रुति कहीं देखी नहीं जाती।

श्रीमद्भागवतमें वर्णन है—

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन॥
सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/१४/५६-५७)

अर्थात् वस्तुतः जो कृष्णतत्त्वसे अवगत हैं, उनके मतमें स्थावर और जङ्गमात्मक यह समस्त ब्रह्माण्ड कृष्णका रूप है अर्थात् कृष्ण ही समस्त कारणोंके कारण हैं और (कार्य एवं कारणसे अभिन्न) कृष्णके बिना अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह स्थिर (निर्णीत) हुआ है कि सम्पूर्ण वस्तुओंका कारण प्रधान है और भगवान् श्रीकृष्ण उस प्रधानके भी कारणस्वरूप हैं। अतएव कृष्ण-सम्बन्धसे रहित क्या वस्तु है? उसका निरूपण किया जा सकता है क्या?

और भी,

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८५/४)

अर्थात् घट-पट आदि पदार्थ जिस देशमें, जिस कालमें, जिस रूपमें, जिनके द्वारा, जिनसे, जिनके सम्बन्धसे और जिनके उद्देश्यसे निर्मित हुए हैं, उन प्रकृति एवं पुरुषके स्रष्टा आप ही हैं। आप ही साक्षात् उन समस्तके स्वरूप हैं अर्थात् ये सब आपके ही कार्यरूप हैं।

ब्रह्मसंहितामें पाया जाता है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारण कारणम्॥

(ब्र॰सं॰ ५/१)

अर्थात् सच्चिदानन्द-विग्रह गोविन्द कृष्ण ही परमेश्वर हैं। वे स्वयंरूप अनादि, सबके आदि और समस्त कारणोंके कारण हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी द्रष्टव्य है—

परम ईश्वर कृष्ण—स्वयं भगवान्।
सर्व-अवतारी, सर्व कारण प्रधान॥

(चै॰च॰म॰ ८/१३४)

अर्थात् श्रीकृष्ण ईश्वरोंके भी ईश्वर, सर्वेश्वर एवं स्वयं-भगवान् हैं। वे समस्त अवतारोंके अवतारी, समस्त कारणोंके आदि कारण हैं॥ ८॥

अवतरणिका भाष्य—एवं प्रासङ्गिकं समाप्य तेजोविषयकं श्रुतिविरोधं परिहरति। *'तत्तेजोऽसृजत'* (छा॰ ६/२/३) इति ब्रह्मजत्वं तेजसः श्रुतम्। वायोरग्निरिति (तै॰ २/१/३) तु वायुजत्वम्। तत्र वायोरिति पञ्चम्या आनन्तर्यार्थत्वस्यापि सम्भवात् ब्रह्मजं तदिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार इस प्रसङ्गके अन्तर्गत मत-विरोधकी मीमांसा करके अग्नि विषयमें जो श्रुति विरोध है, उसका परिहार करते हैं—अग्नि ब्रह्मसे उत्पन्न है अथवा वायुसे उत्पन्न

है, इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि दोनों पक्षोंमें ही श्रुतिके प्रमाण प्राप्त हैं। ब्रह्मजात (ब्रह्मसे उत्पन्न) पक्षमें *'तत्तेजोऽसृजत'* उन सद्ब्रह्मने अग्निकी सृष्टि की—इसके द्वारा अग्निकी ब्रह्मसे उत्पत्ति श्रुत है पुनः *'वायोरग्निः'* इत्यादि श्रुति 'वायुसे अग्निकी उत्पत्ति' कह रही है। इस विरोधपर पूर्वपक्षी अपना पक्ष रखते हुए कहते हैं कि *'वायोरग्निः'*—इस श्रुतिमें वायुके अपादान कारणमें पञ्चमी नहीं है अर्थात् वायुसे तेज उत्पन्न हुआ—ऐसा नहीं है, किन्तु आनन्त्यार्थमें (अनन्तर अर्थमें) पञ्चमी प्रयुक्त है अर्थात् वायुके पश्चात् तेज हुआ है। अतएव आनन्त्र्य अर्थमें भी वाचकत्वके सम्भव होनेसे तेज (अग्नि) को ब्रह्मज कहा जायेगा। पूर्वपक्षीके इस कथनपर सिद्धान्ती कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—छान्दोग्ये ब्रह्मजं तेजः तैत्तिरीयके तु वायुजं तदित्यनयोर्विराधोऽस्ति न वेति वीक्षायां वाचनिकत्वादस्तु विरोध इति प्रत्युदाहरण-सङ्गत्यारभ्यते एवमित्यादि। वक्ष्यमाणेन तेजसः प्राक् वायोः स्थापनेन तु न कश्चित् विरोध इति बोध्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—छान्दोग्योपनिषदमें तेजको ब्रह्मज कहा गया है और तैत्तिरीयक उपनिषदमें वायुज कहा गया है। इन दोनों उक्तियोंका विरोध है? कि नहीं? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—जब दोनों वाचनिक हैं अर्थात् श्रुति-वचन प्राप्त हैं, तब विरोध हो, इस प्रत्युदाहरण सङ्गतिके अनुसार इस अधिकरणका आरम्भ *'एवमित्यादि'* वाक्य द्वारा हो रहा है। इस स्थलपर जो बोद्धव्य है, वह बादमें कहेंगे—तेजके पहले वायुके स्थापनसे फिर कोई विरोध रहता नहीं।

४—तेजोधिकरणम्

सूत्र—तेजोऽतस्तथा ह्याह॥ ९॥

सूत्रार्थ—'अतः'—उस वायुसे 'तेजः' तेज या अग्नि उत्पन्न हुआ है, 'तथा हि आह'—यही बात अन्यत्र श्रुतिमें भी कही गयी है॥ ९॥

सूत्रानुवाद—वायुसे तेजकी उत्पत्ति होती है। यहाँ 'हि' पद निश्चय अर्थमें है। श्रुति भी वही कह रही है—'वायोरग्निः'॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—अतो मातरिश्वनः सकाशात्तेज उत्पद्यते। तथाहि श्रुतिराह—*'वायोरग्निः'* इति। (तै॰ २/१/३) इदमत्र बोध्यम्। अनुवर्त्तमानसम्भूतशब्दान्वितत्त्वेन वायोरिति पञ्चम्या अपादानार्थत्वमेव मुख्यं क्लृप्तत्वात्। आनन्तर्यार्थत्वं तु भाक्तं कल्प्यत्वात्। ततश्च मुख्यमेव न्याय्यत्वाद् ग्राह्यम्। एवमपि वक्ष्यमाणयुक्त्या ब्रह्मजत्वञ्च न विरुध्यते॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अतः—इस वायुसे तेज (अग्नि) उत्पन्न होता है। यही बात श्रुति कह रही है—*'वायोरग्निरिति'*—वायुसे अग्निकी उत्पत्ति होती है। यहाँ इस प्रकारसे विवेचना करनी चाहिये—*'तस्माद् वा एतस्मादात्मनः सकाशादाकाशः सम्भूतः'*—इस श्रुतिमें कहा हुआ 'सम्भूत' पदका इस सूत्रमें अनुवर्त्तन है और इसके साथ 'वायोः' पदका अन्वय है, इसलिए यहाँ अपादान अर्थमें पञ्चमी विभक्ति ही सङ्गत है। क्योंकि यह क्लृप्तत्व (सिद्धत्व) के कारण है, इसलिए मुख्य है और आनन्तर्यार्थमें यह पञ्चमी कल्पनीय है। कल्पनीयकी अपेक्षा क्लृप्तत्वका गुरुत्व होता है। अतएव कल्पनाके कारण आनन्तर्यार्थ गौण (अप्रधान) है, इसके गौण होनेपर मुख्य अर्थ ही ग्राह्य है, क्योंकि यह युक्तिसङ्गत है। ऐसा होनेपर बादमें कही जानेवाली युक्तिके अनुसार तेजको ब्रह्मजत्व (ब्रह्मसे उत्पत्ति) कहनेपर विरोध नहीं रहेगा॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—तेज इति। अनुवर्त्तमानेति। तस्मात् वा एतस्मादात्मन आकाश इत्यादौ पृथिव्या ओषधय इत्यन्ते हेतुपञ्चम्या दर्शनात् मध्ये कस्मात् क्रमार्था पञ्चमीत्यसङ्गतमेवेत्यर्थः। आनन्र्तयार्थत्वमिति। भाक्तं गौणम्। वाय्वनन्तरं तेज इति पदान्तरकल्पनप्रसङ्गादित्यर्थः। एवमपीति। वक्ष्यमाणपञ्चमीत्यसङ्गतमेवेत्यर्थः। वक्ष्यमाण-युक्तिस्तु तदभिध्यानादिति सूत्रोक्ता द्रष्टव्या॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार— *'तेज'* इत्यादि सूत्र। *'अनुवर्त्तमान सम्भूत शब्दान्वितत्वेन इति'*—*'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'* (तै॰ २/१) इत्यादि से *'पृथिव्या ओषधयः'* पर्यन्त श्रुति-वाक्यमें हेतु वाचक पञ्चमी ज्ञात होनेके कारण उनके मध्य पतित वायु शब्दमें क्या पञ्चमी युक्तिपूर्वक आनन्त्यार्थमें प्रयुक्त होगी? यह तो असङ्गत ही है—यह तात्पर्य है। *'आनन्तर्यार्थमेव भोक्तम्'* गौण (अप्रधान) अर्थात् उसमें *'वाय्वनन्तरं तेजः'* इस प्रकार अनन्तर पदकी कल्पना हो पड़ती है—यह अर्थ

है। *'एवमपि'*—'हेतौ पञ्चमी' हेतु वायु तेजका कारण है—यह पञ्चमी वक्ष्यमाण (आगे कही जानेवाली) युक्तिके अनुसार असङ्गत है॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकार प्रासङ्गिक मत-विरोधमें मीमांसा करते हुए तेज (अग्नि) के विषयमें जो श्रुतिविरोध है—उसका निरास करते हैं। छान्दोग्यमें पाया जाता है—*'तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत'* (छा॰ ६/२/३)—सत्‌ने ईक्षण कर तेज उत्पन्न किया, उस तेजने ईक्षण किया ...। इस स्थलपर ब्रह्मसे तेजकी उत्पत्ति मानी जा रही है और फिर तैत्तिरीयश्रुति (२/१/१) में पाया जाता है, *'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः'* (तै॰ २/१/३) वायुसे तेजकी उत्पत्ति है। अब इस स्थलपर संशय यह है कि तेज ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है अथवा वायुसे उत्पन्न हुआ है। पूर्वपक्षी कहते हैं—तेजको ब्रह्मसे ही उत्पन्न कहा जायेगा, क्योंकि वायुमें जिस पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग है, वह अपादानमें नहीं है, बल्कि अनन्तर अर्थमें है। इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं—वायुसे तेजकी उत्पत्ति हुई है—यह वेदमें कहा है यथा—*'वायोरग्निः।'* छान्दोग्यके इस सूत्रमें *'सम्भूतः'* पदके साथ सभीका अन्वय है। पहले ही कह दिया गया है कि 'आत्मासे आकाश है'—यहाँ अपादान अर्थमें ही पञ्चमी *'अपादाने पञ्चमी'* (पा॰सू॰ २/३/२८) विभक्ति ली गयी है। अतएव 'वायुसे अग्नि' *'जनिकर्त्तुः प्रकृतिः'* (पा॰सू॰ १/४/३०) सूत्रके द्वारा वायुकी अपादान संज्ञा हुई है—अतः यहाँ अपादान अर्थ ही मुख्य है, आनन्तर्यार्थ गौण है। न्यायसङ्गत विचारसे मुख्यार्थ ही ग्रहणीय है। ऐसा होनेपर वक्ष्यमाण युक्तिके अनुसार ब्रह्मसे तेजको उत्पन्न कहनेपर भी विरोध रहता नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

वायोरपि विकु
उदपद्यत वै तेजो रूपवत् स्पर्शशब्दवत्॥

(श्रीमद्भा॰ २/५/२७)

काल, कर्म एवं स्वभावसे वायुमें विकार उत्पन्न हुआ, जिससे तेजकी उत्पत्ति हुई। तेजका प्रधान गुण रूप है। आकाश एवं वायु

तेजके कारण हैं। इसलिए स्वाभाविक रूपवान तेजमें आकाश और वायुके सम्बन्धसे शब्द एवं स्पर्श गुण भी विराजित रहते हैं।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतका निम्नलिखित श्लोक भी आलोच्य है—

भूस्तोयमग्निः पवनः खमादि-र्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि।
सर्व्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे, ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः॥
(श्रीमद्भा० १०/४०/२)

हे देव! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्-तत्त्व, प्रकृति, पुरुष, मन, दस इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय और इनके अधिष्ठातृ देवता, जो जगत्के कारणस्वरूप हैं, वे सारे-के-सारे आपके ही श्रीअङ्गसे उत्पन्न हुए हैं॥ ९॥

अवतरणिका भाष्य—अथापामुत्पत्तिमाह। तत्र यद्युभयत्राप्यग्नेरेव तदुत्पत्तिरुक्ता तथापि विरुद्धात् तस्मात् सा न युज्येतेति कस्यचित् शङ्का स्यात्। तामपनेतुं सूत्रारम्भः—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद जलकी उत्पत्ति कहते हैं—इस विषयमें यद्यपि दोनों श्रुतियों में अर्थात् छान्दोग्य और तैत्तिरीयकमें अग्निसे जलकी उत्पत्ति कही गयी है, परन्तु मुण्डकोपनिषदमें ब्रह्मसे जलकी उत्पत्ति कहनेके कारण विरोध होता है अर्थात् दाहक तेजसे जलकी उत्पत्ति युक्तियुक्त नहीं है—इस प्रकारकी शङ्का कोई भी कर सकता है। ऐसी ही शङ्काकी निवृत्तिके लिए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथोत्तरयोर्न्याययोर्धीसन्निधिलक्षणा सङ्गतिस्तेजसो वायुजत्वोक्त्यनन्तरं जलपृथिव्योरेव धीस्थत्वात् अथेत्यादि। तस्मादिति। मुण्डकेऽपां ब्रह्मजत्वमुक्तम्। छान्दोग्यतैत्तिरीयकयोस्तु तेजोजत्वम्। तदनयोर्विरोधो न वेति सन्देहे वाचनिकत्वाद्विरोध इति प्राप्ते आप इति वक्ष्यमाणयुक्त्यापामपि ब्रह्मजत्वादविरोधो बोध्यः। यत्त्वपामग्निदाह्यत्वान्न तज्जत्वं सम्भवेदित्याहुस्तन्न त्रिवृत्कृतयोस्तयोर्दाहकदाह्यभावे सत्यप्यत्रिवृत्कृतयोस्तदभावात्। उभयत्र तैत्तिरीयके छान्दोग्ये च। विरुद्धादिति दाहकत्वेनेति ज्ञेयम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इसके बाद वक्ष्यमाण दोनों अधिकरणोंमें बुद्धि सान्निध्यरूप सङ्गति है, क्योंकि अग्निकी वायुसे

उत्पत्तिके बाद जल एवं पृथ्वीकी उत्पत्तिके विषयमें भी प्रश्न उठता है, इसलिए दोनोंका बुद्धि सान्निध्य है। *'अथेत्यादि'* अवतरणिका भाष्यमें *'तस्मात् सा न युज्यते'* इसका तात्पर्य है—मुण्डकोपनिषदमें जलकी उत्पत्ति ब्रह्मसे कही गयी है किन्तु छान्दोग्य और तैत्तिरीयकमें जलकी उत्पत्ति अग्निसे श्रुत है—अतएव उन दोनों प्रकारकी उक्तियोंका विरोध है? कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं, हाँ विरोध होगा ही, क्योंकि दोनोंकी उत्पत्ति वाचनिक अर्थात् श्रुति प्रतिपादित है—पूर्वपक्षीके इस मतके प्रति सिद्धान्ती 'आपः' इस सूत्र द्वारा और अनन्तर प्रदर्शित युक्ति 'कि जलका ब्रह्म-भवत्व है' का प्रतिपादन होनेके कारण पूर्वपक्षी कोई भी विरोध नहीं ज्ञात करेंगे। तब जो कोई-कोई वादी कहते हैं कि जल क्योंकि अग्निके द्वारा दाह्य है अर्थात् शोषणीय है अतएव उन दोनोंमें कार्य-कारणता भाव रह नहीं सकता; क्योंकि जो एक प्रकृतिसम्पन्न (स्वभावयुक्त) हैं, उनका ही कार्य-कारण भाव ज्ञातव्य है—यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि त्रिवृत्कृत (तीन भागवाला—पृथ्वी जल एवं अग्निका योग) स्थलपर उनका दाह्य-दाहक भाव रह सकता है। किन्तु जब आत्रिवृत्कृत अवस्थामें रहता है, तब उनका दाह्य-दाहक भाव नहीं है। 'उभयत्र' का अर्थ है—तैत्तिरीयक और छान्दोग्यमें। *'विरूद्धात् तस्मात् इति'* दाहकत्वके कारण विरुद्ध अग्निसे—यह अर्थ जानना चाहिये।

५—अवधिकरणम्

सूत्र—आपः॥ १०॥

सूत्रार्थ—आपः—'तदपोऽसृजत' श्रुति कहती है कि अग्निसे जल उत्पन्न होता है॥ १०॥

सूत्रानुवाद—इस तेजसे आप (जल) की उत्पत्ति होती है॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—अतस्तथाह्याहेत्यनुवर्त्तते। आपोऽतस्तेजस उत्पद्यन्ते। हि यतस्तथा श्रुतिराह *'तदपोऽसृजतेत्यग्नेराप'* (छा॰ ६/२/३ एवं तै॰ २/१/१) इति च। न हि वाचनिकेऽर्थे न्यायोऽवतरति। छान्दोग्ये तूपपादिका युक्तिरपि दृश्यते। *'तस्मात् यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्त'* इति॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्व सूत्र *'तेजो अतस्तथाह्याह'* से *'अतस्तथाह्याह'* इस अंशकी अनुवृत्ति लेकर समुदायार्थ होता है—इस अग्निसे जल उत्पन्न होता है। श्रुतिमें कहा गया है यथा *'तदपोऽसृजत'* (छा॰ ६/२/३)—उन्होंने जलकी सृष्टिकी तथा *'अग्नेरापः'* अग्निसे जल उत्पन्न हुआ (तै॰ २/१/१)—यह श्रुति भी है। ये श्रुतियाँ प्रत्यक्ष हैं, इनमें अभिहित (कहे हुए) विषयमें न्याय (अधिकरण) की अवतारणा नहीं हो सकती। मात्र इतना ही नहीं, छान्दोग्योपनिषदमें अग्निसे जलकी उत्पत्तिके विषयमें तदुपपदादिका युक्ति भी देखी जाती है, यथा—*'तस्मात् यत्र क्व च शोचति'* इत्यादि—इस कारण आत्मा जिस किसी क्षेत्रमें शोक करती है अथवा स्वेदाक्त होती है, वह अग्निसे ही है—अतएव उस अग्निको अधिकार करके ही जल उत्पन्न हुआ है॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—आप इति। स्फु

सूक्ष्मा-सार—'आपः' सूत्र एवं उसके भाष्यका—दोनोंका ही अर्थ सुस्पष्ट है॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इसके बाद जलके विषयमें कह रहे हैं कि यद्यपि तैत्तिरीय श्रुतिमें *'अग्नेरापः'* (तै॰ २/१/३) है और छान्दोग्यमें *'तदपोऽसृजत'* (छा॰ ६/२/३) है, किन्तु मुण्डकोपनिषद (२/१/३) में देखा जाता है—*'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी'* (मु॰ २/१/३) उन नित्य विग्रह सच्चिदानन्द पुरुषसे मुख्य प्राण, मन, अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सारे संसारको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न हुई है—इस प्रकार विरुद्ध श्रुति रहनेके कारण तेजसे जलकी उत्पत्तिके विषयमें किसीको भी आपत्ति रह सकती है, इसके खण्डनके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि अग्निसे जल उत्पन्न होता है, श्रुतिका भी वही कहना है। छान्दोग्य एवं तैत्तिरीय श्रुति प्रत्यक्ष रूपसे अग्निसे जलकी उत्पत्ति बतला रही है। इस स्थलपर वाचनिक (श्रुति-प्रतिपादित) विषयपर न्यायकी अवतारणा नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त छान्दोग्यमें तदुपपादिका युक्ति भी देखी जाती है कि जिस समय कोई पुरुष शोक करता है, उस

समय उसके अश्रु पतित होते हैं तो यह अश्रु-पतन अग्निसे ही होता है—इसलिए जलकी उत्पत्ति अग्निसे हो सकती है। तब यदि कोई वादी कहे कि जल तो अग्निके द्वारा दाह्य अर्थात् शोषणीय है, अतएव दोनोंमें कार्य-कारण रह नहीं सकता—जल एवं अग्नि विरुद्ध पदार्थ हैं—दाह्य एवं दाहक सम्बन्ध विशिष्ट हैं; इसलिए एक प्रकृति सम्पन्न न रहनेपर कार्य-कारण भाव रह नहीं सकता, तो यह विचार भी सङ्गत नहीं है। मरु-मरीचिका और जलका वैसा ही विरोध रहनेपर भी वहाँ जलका प्रादुर्भाव माना जाता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तेजसस्तु विकु
रूपवत् स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात्॥
(श्रीमद्भा॰ २/५/२८)

अर्थात् तेजके विकारसे रसात्मक जलकी उत्पत्ति हुई। जलमें आकाश, वायु एवं तेजका कारणतारूप सम्बन्ध रहनेसे यथाक्रमानुयायी उनके धर्म शब्द, स्पर्श एवं रूप रसात्मक जलमें भी पाये जाते हैं॥ १०॥

अवतरणिका भाष्य—*'ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति, ता अन्नमसृजन्त'* इत्यत्र विचारान्तरम्। किमनेनान्नशब्देन यवादिकं ग्राह्यं किंवा पृथिवीति। *'तस्मात् यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायत'* (छा॰ ६/२/४) इति तत्रैव युक्तिप्रदर्शनाद्रूढेश्च यवादिकमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'ता आप ऐक्षन्तस्याम् प्रजायेमहीति वा'* (छा॰ ६/२/४) अर्थात् जलने ध्यान अर्थात् सङ्कल्प किया—मैं बहुत होकर व्यक्त होऊँ, उत्पन्न होऊँ, इसके बाद जलने अन्नकी सृष्टि की। इस श्रुतिमें और एक समीक्षा होती है कि श्रुतिमें उक्त 'अन्न' शब्दका वाच्य अर्थ क्या है? 'यवादि शस्य' अथवा पृथ्वी (भूमि) इस संशयपर पूर्वपक्षी सिद्धान्त करते हैं कि यह यवादि शस्य अर्थमें प्रयुक्त है क्योंकि इस विषयमें श्रुतियुक्ति बतलाती है, *'तस्मात् यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यदभ्य एव तदध्य न्नाद्यं जायत'* (छा॰ ६/२/४) अर्थात् जिस भूमिपर देवता वर्षण करते हैं, वहीं

प्रचुर परिमाणमें अन्न होता है, इसलिए जलसे अन्नकी उत्पत्ति होती है। इस जलका आश्रय करके अन्न इत्यादिका जन्म होता है—इस प्रकार दोनोंके कार्य-कारण भावसे अवगत हो सकते हैं। रूढ़िवश भी अन्न शब्दसे यवादिकको जानना चाहिये। अतः अन्न शब्दका अर्थ यवादि शस्य है। इस पूर्वपक्षके मतपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ता आप इति। तस्मादिति। मुण्डके पृथिव्या ब्रह्मजत्वं तैत्तिरीयके त्वब्जत्वम्। तदनयोर्विरोधोऽस्ति न वेति संशये वाचनिकत्वात् विरोधे प्राप्ते वक्ष्यमाणयुक्त्या तस्याश्च ब्रह्मजत्वादविरोधो भाव्यः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—'ता आप' इत्यादि। *'तस्माद् यत्र क्वचन'* इत्यादि मुण्डकोपनिषदमें पृथ्वीको ब्रह्मसे उत्पन्न कहा गया है जब कि तैत्तिरीयकमें पृथ्वीको जलजात कहकर निर्दिष्ट किया गया है, अतएव इन दोनों उक्तियोंका विरोध है? कि नहीं? इस सन्देहकी मीमांसापर पूर्वपक्षी कहते हैं—जब दोनों ही श्रुतियाँ उक्त हैं तब विरोध है ही। इस मतके समाधानके लिए बादमें कथित युक्तिके अनुसार पृथ्वीकी ब्रह्म-भवता ही है, इस कारण विरोध नहीं है, यह जानें।

६—पृथिव्यधिकरणम्

सूत्र—पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः॥ ११॥

सूत्रार्थ—'पृथिवी'-अन्न शब्दका अर्थ पृथ्वी ही ग्रहणीय है, क्योंकि 'अधिकाररूपशब्दान्तरेभयः'—'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुति द्वारा पञ्च महाभूतोंकी उत्पत्तिकी बात अधिकृत (प्रासङ्गिक) हुई है और अन्नमें पार्थिव रूपताके कारण 'अद्भ्यः पृथिवी' इस प्रकार स्पष्ट रूपसे श्रुतिमें 'पृथ्वी' शब्दका उल्लेख है॥ ११॥

सूत्रानुवाद—'अद्भ्यः पृथिव्युत्पद्यते' जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है, 'ता अन्नमसृजन्त' यह श्रुति है॥ ११॥

गोविन्दभाष्य—पृथिव्येव ग्राह्या न तु यवादिः। कु *'तत्तेजोऽसृजत'* इति महाभूतानामेवाधिकारात् यत् कृष्णं तदन्नस्येति (छा॰ ५/४/४) पार्थिवरूपत्वात् *'अद्भ्यः पृथिवी'* (तै॰ २/१) इति श्रुत्यन्तराच्चेत्यर्थः। एवं सति तस्मात् यत्र क्वचनेत्यादिकं तु हेतुफलयोरैक्यविवक्षया सङ्गमनीयम्॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'अन्न'* शब्दका अर्थ पृथ्वी (भूमि) ही ग्राह्य है, यव इत्यादि शस्य नहीं। किस कारणसे? उत्तर है— *'अधिकार-रूपशब्दान्तरेभ्यः'*—अधिकार, रूप एवं शब्दानन्तर इन तीन हेतुओंसे अन्न शब्द पृथ्वीपरक है, यथा— *'तत्तेजोऽसृजत'*—'उन सद्ब्रह्मने अग्निकी सृष्टि की' इत्यादि रूपसे महाभूतोंकी उत्पत्तिका अधिकार (प्रसङ्ग) वर्णित है (क्रमसे प्राप्त पृथ्वी ही अन्न शब्दका बोध्य है)। *'यत् कृष्णं तदन्नस्य'* जो कृष्णरूप है, वह अन्नका पार्थिव रूप कहा गया है—इस प्रकार रूप-विभाग द्वारा पृथ्वीका रूप प्रतीत हो रहा है और अन्य श्रुति है, यथा— *'अद्भ्यः पृथिवी'* जलसे पृथ्वी हुई—इससे भूमिको ही बताया जा रहा है। ऐसा होनेपर *'तस्मात् यत्र क्वचन इत्यादि'* श्रुति-वाक्य समुदाय हेतु और फल अर्थात् 'कारण-कार्यके अभेद (ऐक्य) की विवक्षा' से सङ्गमनीय (योजनीय) हैं अर्थात् अन्न शब्दसे पृथ्वीका व्यपदेश समीचीन है॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—पृथिवीति। यत्तु ता अन्नमसृजन्तेत्यत्रान्नशब्दो यवादिपरो भवतीति पूर्वपक्षे तस्मात् यत्रेति श्रौतौ युक्तिर्दर्शिता तां समादधाति एवं सतीति। हेतुफलयोः कारणकार्ययोः पृथिवीयवादिकयोरभेदं विवक्षित्वेत्यर्थः। ततश्च पृथिव्याः स्थाने यवादेः कथनेऽपि सा लभ्येतैवेति न कोऽपि विरोधलेश इति भावः॥ ११॥

सूक्ष्मा-सार— *'पृथिव्याधिकार'* इत्यादि सूत्र है। यहाँ पूर्वपक्षी जो कहते हैं कि *'ता अन्नमसृजन्त'* तो इस श्रुतिमें उक्त 'अन्न' शब्द यवादि शस्यका वाचक होगा और श्रौती युक्ति भी दिखाती है यथा *'यत्र क्वचन वर्षतीत्यादि।'* इसका समाधान *'एवं सतीत्यादि'* वाक्य द्वारा करते हैं। *'हेतुफलयोः'* कारण-कार्यका अर्थात् पृथ्वीरूप कारणका और यवादि शस्य रूपकार्यका अभेद (ऐक्य) विवक्षा (कहनेकी इच्छा) करके, यह तात्पर्य है। इसके फलस्वरूप पृथ्वी पदके स्थानपर यवादिका उल्लेख करनेपर भी पृथ्वी ही गृहीत होगी, इस कारण विरोधका लेशमात्र भी हेतु नहीं है॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति— *'ता आप बहव्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त।'* (छा॰ ६/२/४) अर्थात् उस जलने ईक्षण किया, 'हम बहुत हो जायें'—अनेक रूपसे उत्पन्न हों। उसने अन्नकी रचना की।

अन्न शब्दका भक्षण अर्थ होनेपर ब्रीहि यवादि प्राप्त हैं, तब यह अन्न पृथ्वीवाचक कैसे हुआ? इसपर कहते हैं कि छान्दोग्योपनिषदमें वर्णन है कि श्वेतकेतुने पिता उद्दालकके निकट उपदेशकी प्रार्थना की, तब उन्होंने कहा—हे सौम्य! आरम्भमें यह जगत् एक अद्वितीय सत्–रूपमें ही वर्त्तमान था। उन सत्–स्वरूप ईश्वरने दर्शन किया और सङ्कल्प किया—मैं बहुत हो जाऊँ, मैं जन्म-ग्रहण करूँ—इस प्रकार ईक्षण करके उन्होंने तेजकी सृष्टि की। तेजसे जल और जलसे अन्न सृष्ट हुआ। और मुण्डकोपनिषद (२/१/३) में देखा जाता है—*'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी'* अर्थात् अक्षरसे भी श्रेष्ठ वस्तुसे ही समस्त वस्तुओंकी उत्पत्ति है।

तैत्तिरीयश्रुति तो है ही—*'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।'* (तै० २/१/३)

पूर्वपक्षी यदि 'अन्न' शब्दसे यवादि शस्यको ग्रहण करना चाहते हों, तो उसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि अधिकार, रूप एवं अन्य शब्दसे अन्न शब्दमें यहाँ पृथ्वीका ही ग्रहण होता है। इस स्थलपर महाभूतोंका अधिकार (प्रसङ्ग) है, इसलिए प्रकरण प्रमाणसे पृथ्वी ग्रहण होती है, अन्नका कृष्णरूप है, जैसे कि कहा गया है *'यदग्ने रोहितं रूपम्'*—जो तेज है, उसका लाल रूप है, *'यच्छुक्लम्'*—जो शुक्ल है, वह जलका रूप है और यत्कृष्णं, तदन्नस्य—जो कृष्ण रूप है, वह पृथ्वीका है (छा० ६/४/३) तथा *'अद्भ्यः पृथिवी'* शब्दान्तर इत्यादि द्वारा अर्थात् दूसरी श्रुतियोंमें भी अन्न शब्दसे पृथ्वीको ग्रहण किया गया है, यथा—

तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्।
(बृ०आ० १/२/२)

अर्थात् उस जलका जो शर (स्थूल भाग) था, वह एकत्रित हो गया। वह पृथ्वी हो गयी। इसी प्रकारसे—

'पृथिव्या औषधय औषधिम्योऽन्नम्।'

भाष्यकारका कहना है कि उपर्युक्त अवधिकरणम् और पृथिव्यधिकरणम् दोनोंमें बुद्धि-सान्निध्यरूप सङ्गति है, क्योंकि अग्निसे वायु इत्यादिकी उत्पत्तिके बाद जल और पृथ्वी इत्यादिके विषयमें भी प्रश्नोंका जमावड़ा रहता है। इन प्रश्नोंके समाधान कल्पमें वक्ष्यमाण युक्तिके अनुसार पृथ्वीके ब्रह्म-भवता-निबन्धनमें कोई विरोध नहीं रहेगा। ब्रह्मकी कारणता स्वीकारनेसे सब श्रुतियोंकी सङ्गति हो जाती है।

श्रीमद्भागवत (३/२६/४४) में द्रष्टव्य है—

रसमात्राद्विकु
गन्धमात्रमभूत्तस्मात् पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः॥

रस-तन्मात्ररूप जल कालसे प्रेरित होकर जब विकृत हुआ, तब उससे गन्ध तन्मात्र उत्पन्न हुआ। इस गन्ध तन्मात्रसे भूमिरूप महाभूत उत्पन्न हुआ। घ्राणेन्द्रिय गन्ध तन्मात्रकी ग्राहक है॥११॥

अवतरणिका भाष्य—वियदादिक्रमेण तत्त्वसृष्टिविमर्शो विसंवादपरिहारायैव कृतः? प्रधानमहदादिरूपेण तद्विमर्शस्तु जन्मादिसूत्रेणैव सिद्धः। अथ तस्मिन् विशेषं वक्तु　　*'तदाहुः किं तदासीत् तस्मै स होवाच न सन्नासन्न सदसदिति तस्मात् तमः संजायते तमसो भूतादिर्भूतादेराकाश-माकाशाद्वार्युर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी तदण्डमभवत्'* इति। इह तमआकाशयोरन्त-रालेऽक्षराव्यक्तमहद्भूतादितन्मात्रेन्द्रियाणि क्रमेण बोध्यानि। सन्दग्ध्वा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यप्सु प्रलीयते। आपस्तेजसि लीयन्ते। तेजो वायो विलीयते। वायुराकाशे विलीयते। आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते। भूतादिर्महति विलीयते महानव्यक्ते विलीयते। अव्यक्तमक्षरे विलीयते। अक्षरं तमसि विलीयते। तम एकीभवति परस्मिन्। परस्मात् न सन्नासन्न सदसत् (सु॰उ॰ २/४) इत्यग्रिमलयवाक्यानुरोधात्। एतच्चापाततो वस्तुतस्तु भूतादिशब्देनाहङ्कारस्त्रिविधः। तस्मात् सात्त्विकात् मनो देवताश्च। राजसादिन्द्रियाणि। तामसात् तु तन्मात्रद्वाराकाशादीनीति बहुव्याख्यानुसारात्। श्रीगोपालोपनिषदि (गो॰ता॰ ७१-७२) च—*'पूर्वं ह्येकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत्। तस्मादव्यक्तं व्यक्तमेवाक्षरं तस्मादक्षरात् महान् महतो वा अहङ्कारस्तस्माद-हङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि तेभ्यो भूतानि तैरावृतमक्षरं भवति'* इति। तत्र संशयः। प्रधानादीनि स्वानन्तरतत्त्वादुपजायन्ते उत साक्षादेव सर्वेश्वरादिति। शब्दस्वारस्यात् स्वानन्तरतत्त्वादेवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—विरुद्धवादकी मीमांसाके लिए आकाशादि क्रमसे तेईस तत्त्वोंकी उत्पत्तिको लेकर विचार किया जाता है।

वास्तवमें तो *'जन्माद्यस्य यतः'* सूत्र द्वारा प्रकृति, महान, (महत्) अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र एवं पञ्च महाभूतादिका क्रमपूर्वक सृष्टिका विचार सिद्ध होता है, तो भी तद्विषयक वैशिष्ट्य बतलानेके लिए सूत्रकार प्रकरणान्तरका आरम्भ करते हैं। सुबालोपनिषद (१/१/२-३) में पठित है *'तदाहुः किम् तदासीत्'* इत्यादि। शिष्यगणोंने गुरुसे जिज्ञासा की प्रलयकालमें (सृष्टिसे पूर्व) क्या था? गुरुने शिष्योंसे कहा, उस समय सत् नहीं था, असत् नहीं था, सदसत् नहीं था—इसी सदसत्-विलक्षण तत्त्वसे तमः उत्पन्न हुआ। तमःसे भूतादि अर्थात् त्रिविध अहङ्कार उत्पन्न हुआ। उससे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुए। ये समस्त एकीभूत होकर एक अण्डमें परिणत हो गये। इस श्रुतिमें तमः (प्रधान) और आकाश तत्त्वकी उत्पत्तिके मध्य अक्षर, अव्यक्त, महान्, भूतादि (अहङ्कार), पञ्चतन्मात्र, इन्द्रियसमूह इन सबकी भी यथाक्रमसे उत्पत्ति जान लेनी चाहिये। प्रलयकालमें जब सङ्कर्षणाग्नि द्वारा समस्त प्राणियोंका दाह हुआ, उसके बाद पृथ्वी अपने कारण जलमें प्रलीन हुई। इसी प्रकार जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश इन्द्रियवर्गमें, इन्द्रियवर्ग शब्दादि पञ्चतन्मात्रमें, पञ्चतन्मात्र अहङ्कारमें, अहङ्कार महत्-तत्त्वमें और महत्-तत्त्व (महान्) अव्यक्तमें लीन हो गया। इसी प्रकार अव्यक्त अक्षरमें, अक्षर तमः में और तमः परब्रह्ममें एकीभूत हो गया। उन परमपुरुषके अतिरिक्त कोई सत् नहीं है, असत् नहीं है, सदसत् भी नहीं है। आगे वक्ष्यमाण (कहे जानेवाले) लय-वाक्यके अनुरोधसे तमः और आकाशके बीच अक्षरादिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। यह तो उत्पत्ति क्रम बतलाया गया है वह आपात् अनुसार अर्थात् नीचेसे ऊपरकी ओर सृष्टि-प्रलय-क्रम है। वास्तवमें तो भूतादि शब्दसे सात्त्विक, राजसिक और तामसिक—ये त्रिविध अहङ्कार वाच्य हैं। इनमें सात्त्विक अहङ्कारसे मन और दस इन्द्रियाधिष्ठात्री देवताओंकी उत्पत्ति है। राजसिक अहङ्कारसे दस इन्द्रियाँ, तामस अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्र और आकाशादि पञ्चमहाभूतकी उत्पत्ति इत्यादि ऐसी बहुत-सी व्याख्याओंमें जो देखा जाता है, उन्हींके अनुसार यह उत्पत्ति कही गयी है। श्रीगोपालोपनिषद (७१/७२) में भी इसी प्रकार

कहा गया है—यथा *'पूर्वं ह्येकमेवाद्वितीयमित्यादि'* अर्थात् सृष्टिके पूर्व एक अद्वितीय अर्थात् सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदरहित एकमात्र ब्रह्म थे। सृष्टिके प्रारम्भमें उन ब्रह्मसे अव्यक्त अक्षर रूपमें व्यक्त हुआ। अस अव्यक्त अक्षरसे महान्, महान्से अहङ्कार, अहङ्कारसे पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) और पञ्च महाभूत (क्षिति, आप्, तेज, मरूद् एवं व्योम)—अक्षर इन पञ्चमहाभूतोंसे वेष्टित होकर रहते हैं। अब इस विषयमें संशय यह है कि प्रधानसे आरम्भ करके पञ्च महाभूत पर्यन्त तत्त्व क्या ठीक ही अपने-अपने अव्यवहित पूर्ववर्त्ती तत्त्वसे उत्पन्न होते हैं अथवा साक्षात् परब्रह्म सर्वेश्वरसे उत्पन्न होते हैं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—श्रुति शब्दके अभिप्रायके अनुसार यह समझा जाता है कि अपने तत्त्वके अव्यवहित (व्यवधानरहित) पूर्ववर्त्ती तत्त्वसे ही क्रमपूर्वक ये उत्पन्न होते हैं। पूर्वपक्षके इस मतके उत्तरपक्षमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वैरधिकरणैर्महाभूतश्रुतीनामविरोधप्रतिपादनात् तुल्य-विषयता। अथ तेष्वाकाशादीनां स्वातन्त्र्येण वाय्वादिस्रष्टृत्वं प्रतीतम्। तदपवादेन हरेरेव तत्तत्सर्वस्रष्टृत्वं वर्ण्यमित्यपवादसङ्गत्येदमारभ्यते। तथाहि किमवाद्यभिमानिन्यो देवता एव स्वतन्त्राः प्रधानादीनि सृजन्त्यत हर्यधिष्ठितास्ता इति सन्देहे तदाहुरिति। सुबालश्रुत्या स्वातन्त्र्येण तास्तानि सृजन्तीति प्रतीयते। एतस्मादिति मुण्डकश्रुत्या तु हरिरेव तत् सर्वं सृजतीति ज्ञातम्। तदेतया सुबालश्रुत्या सह मुण्डकश्रुतेर्विरोधे प्राप्ते सुबालश्रुतावपि तत्तदधिष्ठातृतया हरेर्विवक्षितत्वादविरोध इत्येतमर्थं हृदि निधायेदमुच्यते अथेत्यादि। तदाहुरिति। तत् गुरुं शिष्याः पृच्छन्तीत्यर्थः। प्रष्टव्यमाह किं तदिति। सृष्टेः पूर्वमविनाशि वस्तु किमासीदित्यर्थः। एवं पृष्टो गुरुराह। तस्मै स हेति। तस्मै शिष्यवर्गाय स गुरुर्ह स्फु
आसीत् तत् सत् स्थूलं तेजोऽवन्नरूपं नासीत्। नाप्यसत् सूक्ष्मं प्रधानादिरूपमासीत्। न च सद्सद्द्वयरूपमासीदित्यर्थः। तर्हि किमासीदिति चेत् तत्तद्विलक्षणं तमःशक्तिकं ब्रह्मैव तदासीदित्युक्तिबोध्या। एतदेव स्फु
बुभुक्षाभुदितदयात् इक्षिततमःशक्तिकात् ब्रह्मणस्तमः सञ्जायते तेनाधिष्ठितं सत् प्रधानशरीरकाक्षरशब्दितक्षेत्रज्ञाभिव्यञ्जकदशाभिमुखं भवतीत्यर्थः। तस्मादक्षरात् क्षेत्रज्ञात् त्रिगुणमव्यक्तं सञ्जायते अव्यक्तात् महानित्यादि व्यक्तीभावि। प्रलयश्रुत्यनुसारेण सर्गश्रुतावूनानि तत्त्वानि निवेश्यापि तेन निष्कर्षमनुपलभ्याहैतच्चापातत इति। निष्कर्षं दर्शयन्नाह वस्तुतस्त्विवति। अयमत्र क्रमः। उपलक्षणात् तमः सञ्जायते। तमसोऽक्षरशब्दितोऽव्यक्तशरीरकः क्षेत्रज्ञः।

तस्मादभिव्यक्तात् त्रिगुणमयमव्यक्तम्। तस्मात् त्रिविधो महान्। *'सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्'* इति श्रीविष्णुपुराणात्। महतस्त्रिविधोऽहङ्कारः। सात्त्विकादिन्द्रियाधिष्ठात्र्यो देवता मनश्च। राजसात् दशेन्द्रियाणि। तामसात् तु तन्मात्रद्वाराकाशादीनि। तत्र शब्दतन्मात्राद्वारा तामसात् तस्मादाकाशः स्पर्शतन्मात्रद्वाराकाशाद्वायुः रूपतन्मात्रद्वारा वायोरग्निः रसतन्मात्रद्वाराग्नेरापः गन्ध-तन्मात्रद्वाराद्भ्यः पृथिवीति बोध्यम्। अधिष्ठातृत्त्वं ब्रह्मणः सर्वत्र निर्विशेषं ज्ञेयम्। संहतैरेतैरण्डम्। तत्र वैराजः पुरुषः। तत्र तदन्तर्यामी नारायणः। तन्नाभिपद्मे वैराजस्य भोगविग्रहश्चतुर्मुखः। ततः क्षेत्रज्ञानां यथावसरं जन्मेति। न चैतत् कपोलकल्पनं सर्वज्ञव्याख्यानुसारित्वादित्याह बहुव्याख्येति। यथोक्तमेकादशे— *'आसीज्ज्ञानमथो अर्थ एकमेवाविकल्पितमित्यारभ्य ततो विकु*
विमोहनः। वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत्। तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः। अर्थस्तन्मात्रिकाज् जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च। तैजसाद्देवता आसन्नेकादश च वैकृतात्' इति। तामसादर्थः पञ्चभूतलक्षणः तैजसाद्राजसादिन्द्रियाणि दश वैकृतात् सात्त्विकादेकादश देवताः, चान्मनश्चेत्यर्थः। तृतीये च— *'महत्तत्त्वाद्विकु*
भगवद्वीर्यचोदितात्। क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत। वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः। मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च भूतानां महतामपि' इति। मनसश्चेति चात् देवतानाञ्चेति बोध्यम् क्रमादिति च। प्रलयश्रुत्यनुसारादक्षरादित्रिकवत् बहुस्मृत्य-नुसारादहङ्कारत्रिकादिकल्पनमिह ज्ञेयमिति व्याख्यातारः। श्रुत्यन्तरमाह गोपालेति। पूर्वं सृष्टेः प्राक् तस्मात् तादृशात् ब्रह्मणः अव्यक्तं त्रैगुण्यशरीरकमक्षरं जीवचैतन्यं व्यक्तं व्यक्त्यभिमानि (व्यक्त्यभिमुखं वा) आसीत् तस्मादक्षरात्तच्छरीरात् त्रैगुण्यात् त्रिविधो महान् महतोऽहङ्कारस्त्रिविधस्तस्मात् सात्त्विकाद्देवता मनश्च राजसादिन्द्रियाणि तामसात् तु तन्मात्रद्वारकाणि खादीनीति प्राग्वत्। तैः पञ्चीकृतैर्भूतैरक्षरं जीवचैतन्यमावृतं तल्लब्धशरीरकं भवतीत्यर्थः। स्वानन्तरतत्त्वादव्यवहितस्वपूर्वतत्त्वादित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व-पूर्व अधिकरणोके द्वारा महाभूतोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें श्रुतियोंका अविरोध प्रतिपादित हुआ, अतः यहाँ भी विषय-भेद कु
समस्त तत्त्वोंमें आकाशादिकी ईश्वर-निरपेक्षता एवं वायु इत्यादिका सृष्टि-कर्त्तृत्व प्रतीत हुआ है। इस सबके निराकरण द्वारा श्रीहरिका ही उन-उन समस्त तत्त्वोंका सृष्टि-कर्त्तृत्व वर्णन करना होगा—इस अपवाद-सङ्गतिके अनुसार यह प्रकरण आरम्भ हो रहा है। उक्त विषयमें संशय यह है कि जल इत्यादिके अभिमानी (अधिष्टात्री) देवता ही क्या स्वाधीन रूपसे प्रधानादिकी सृष्टि करते हैं। अथवा

श्रीहरिसे परिचालित होकर वे इन अप् इत्यादिकी सृष्टि करते हैं। इस सन्देहके उत्तरमें पूर्वपक्षीका मत—*'तदाहुरित्यादि'* वाक्य द्वारा बतलाते हैं। सुबालश्रुतिमें प्रतीत होता है कि ये सब जलादिके अभिमानिनी देवता स्वाधीन रूपसे प्रधानादि तत्त्वकी सृष्टि करते हैं, पुनः *'एतस्मादित्यादि'* मुण्डकश्रुतिसे जाना जाता है कि श्रीहरि उन समस्त तत्त्वोंकी सृष्टि करते हैं। सुतरां (इसलिए) उक्त सुबालश्रुतिके साथ मुण्डकश्रुतिका विरोध अनिवार्य है, इस मतपर सिद्धान्ती कहते हैं—सुबालादि श्रुतिमें जो 'अप' इत्यादि क्रमपूर्वक प्रधानादि तत्त्वोंका सृष्टि कर्त्तत्व सुना जाता है, उसमें भी जलादिके अधिष्ठातृ रूपमें श्रीहरि विवक्षित हैं, इसलिए विरोध नहीं है—इस पञ्चाङ्ग (विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष या सिद्धान्त, तथा सङ्गति) अधिकरणका हृदयमें ध्यान रखकर बादमें कहते हैं—*'अथ तस्मिन् विशेषं वक्तु*

(तदनन्तर उस विषयमें विशेष कु

आरम्भ करते हैं) *'तदाहुरिति'*—शिष्यगण उस तत्त्वकी गुरुसे जिज्ञासा करते हैं—जिज्ञास्य विषय है—*'किम् तदिति'*—वह क्या है? अर्थात् सृष्टिके पहले अविनाशी वस्तु क्या थी? इस प्रकार जिज्ञासा किये जानेपर गुरुने उत्तर दिया—*'तस्मै स होवाच'* इत्यादि 'तस्मै' अर्थात् उस शिष्यवर्गको, 'सः' अर्थात् गुरुदेवने, 'ह' अर्थात् सुस्पष्ट रूपसे, *'उवाच'* अर्थात् कहा, *'न सदिति'* सृष्टिके पूर्व जो वस्तु थी वह सत् अर्थात् तेज, जल, पृथ्वी इत्यादि स्थूल स्वरूप नहीं थी *'नाप्यसदिति'*—और असत् भी नहीं था अर्थात् प्रधानादि तत्त्वरूप सूक्ष्मस्वरूप भी नहीं थी अर्थात् सत्, असत् ये दोनों ही स्वरूप वस्तुएँ नहीं थीं। यह सब नहीं था तो फिर क्या था? यह यदि कहते हो तो बतलाते हैं—सत्-असत्से व्यतिरिक्त तमः-शक्तिसम्पन्न ब्रह्म ही उस समय थे। गुरुकी उक्तिका यह तात्पर्य है समझना चाहिये। इसीको विस्तारपूर्वक कहते हैं—*'तस्मात् तमः सञ्जायत इति'* अर्थात् प्रलयकालमें परमेश्वरमें अपनेमें विलीन क्षेत्रज्ञ जीवकी भोगकी इच्छाके कारण दया उदित हुई तब सङ्कल्पित (इच्छित) तमः-शक्तिके सहयोगसे ब्रह्मसे तमः उत्पन्न हुआ अर्थात् परमेश्वर द्वारा अधिष्ठित होकर तमः अक्षर पद वाच्य और प्रकृति शरीरधारी क्षेत्रज्ञ पुरुषकी जिसमें अभिव्यक्ति होती है, उस

अवस्था (दशा) की ओर अभिमुख हुआ। उस अक्षर क्षेत्रज्ञ पुरुषसे सत्त्व, रज और तम त्रिगुण-विशिष्ट अव्यक्त उत्पन्न हुआ। अव्यक्त (प्रधान) से महान् (बुद्धि-तत्त्व) व्यक्त-भाव-विशिष्ट वस्तु उत्पन्न हुई। प्रलय-श्रुतिके अनुसार सृष्टि-प्रक्रियाका वर्णन करनेवाली श्रुतिमें जो भी तत्त्व न्यून (अकथित) हैं, उनका भी उसमें निवेश करके स्पष्ट रूपसे कोई निष्कर्ष प्राप्त नहीं होता—यह देखकर भाष्यकार कहते हैं—*'एतच्चापाततः'* यह मत आपाततः बतला दिया किन्तु यह सम्पूर्ण निष्कर्ष नहीं है। *'वस्तुस्तु'* कहकर निष्कर्ष दिखाते हैं कि—इस विषयमें सृष्टिक्रम इस प्रकारसे है—जीवकी बुभुक्षा (भोगकी इच्छा) से प्रेरित दयालु भगवान्ने सृष्टिका सङ्कल्प लेकर सर्वप्रथम तमः सृष्टिका सङ्कल्प किया, उससे तमः उत्पन्न हुआ, तमःसे अक्षर शब्दवाच्य प्रकृति शरीरधारी क्षेत्रज्ञ पुरुष अभिव्यक्त हुआ, अभिव्यक्त उस क्षेत्रज्ञसे सत्त्वादि त्रिगुणात्मक प्रधान अथवा अव्यक्त अथवा अव्याकृत तत्त्व व्यक्त हुआ। उस त्रिगुणात्मक अव्यक्तसे त्रिविध महान् उत्पन्न हुआ। विष्णुपुराणमें कहा है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकारके महान् हैं। उस महान्से त्रिविध अहङ्कार उत्पन्न हुआ। इसमें सात्विक अहङ्कारसे इन्द्रियाधिष्ठात्री देवतागण तथा मन, राजस अहङ्कारसे पाँच कर्मेन्द्रिय एवं पाँच ज्ञानेन्द्रिय—ये दस इन्द्रियाँ, तामस अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति एवं पञ्च-तन्मात्रसे आकाशादि पञ्चभूतोंका जन्म हुआ। इनमें शब्द-तन्मात्राके द्वारा तामस अहङ्कारसे आकाश, स्पर्श-तन्मात्राके द्वारा आकाशसे वायु, रूप-तन्मात्राके द्वारा वायुसे अग्नि, रस-तन्मात्राके द्वारा अग्निसे जल, गन्ध-तन्मात्राके द्वारा जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। इस प्रकारसे सृष्टिकी प्रक्रिया और क्रम जानना चाहिये। परन्तु उन आकाशादिमें सर्वत्र ही ब्रह्मका अधिष्ठान (अधिष्ठातृत्व) निर्विशेष रूपसे ज्ञातव्य है। जब ये समस्त प्रधानादि तत्त्व मिल गये तब उनके द्वारा ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई। उस ब्रह्माण्डमें वैराज पुरुष हैं, उसमें (उस ब्रह्माण्डमें) उनके (वैराज पुरुषके) अन्तर्यामी नारायण हैं, उनके नाभिपद्ममें विराट् पुरुषका चतुर्मुख-विशिष्ट भोगशरीर विद्यमान है। उन चतुर्मुख ब्रह्मासे भोग-कालानुसार क्षेत्रज्ञ पुरुषोंका जन्म होता है। ये सब बातें स्वकपोल-कल्पित नहीं हैं, ऋषियोंकी व्याख्याएँ

सर्वत्र ऐसी ही दिखायी देती हैं—उन्हींके अनुसार यह कहा गया है *'बहुव्याख्यानुसारात्'* से यही तात्पर्य समझना चाहिये। श्रीमद्भागवत (११/२४/२-६) के एकादश-स्कन्धमें वर्णन है कि सबसे पहले ज्ञानमय ब्रह्म थे। उनमें सङ्कल्प पदार्थका उदय हुआ। वह एक अविभक्त थे इस प्रकार उपक्रम (आरम्भ) करके कहा गया है कि वह महत्तत्त्व विकृत हुआ, उससे विश्व-विमोहनकारी अहङ्कार उदित हुआ, वह अहङ्कार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक—इन तीन आवरणोंसे आवृत है। तीन अवयवोंसे विशिष्ट यह अहङ्कार तन्मात्र, इन्द्रिय और मनका उपादान-कारण, चेतन और जड़ात्मक है। तन्मात्र द्वारा तामस अहङ्कारसे आकाशादि स्थूलपदार्थ उत्पन्न हुए, राजस अहङ्कारसे दस इन्द्रियाँ, सात्त्विक अहङ्कारसे मन और इन्द्रियाधिष्ठात्री ग्यारह देवता उत्पन्न हुए। तामस अहङ्कारसे अर्थ—पञ्च भूतात्मक पदार्थ, तैजसात् अर्थात् राजससे दस इन्द्रियाँ, वैकृत अर्थात् सात्त्विक अहङ्कारसे ग्यारह इन्द्रियाधिष्ठात्री देवताओंने जन्म लिया और *'एकादश च वैकृतात्'* इस वचनके अन्तर्गत 'च' शब्दके द्वारा 'मन' ग्रहण किया जाता है। भागवतके तृतीय-स्कन्ध (३/२६/२३-२४) में वर्णित है—महत्तत्त्वके विकृत होते ही उससे भगवान्‌की शक्ति-प्रेरणासे क्रिया-शक्ति-स्वरूप त्रिविध अहङ्कार उत्पन्न हुआ। इसीसे वैकारिक, तैजस और तामस पदार्थकी सृष्टि हुई। मन, इन्द्रियाँ एवं पञ्चमहाभूतोंका भी इसीसे उद्भव हुआ। *'मनसश्च'* इस *'चकार'* से अधिष्ठातृ देवताओंका ग्रहण हुआ है। *'एवं क्रमात्'*—इस प्रकार क्रमके अनुसार यह भी जानना चाहिये। प्रलय-श्रुतिके अनुसार अक्षर, अव्यक्त और तम—इन त्रि-अवयवीय कल्पनाके समान बहुत-से स्मृति-वाक्योंके अनुसार त्रि-अवयव-विशिष्ट अहङ्कार इत्यादिकी कल्पना जानें। व्याख्या-कर्त्ता इसी प्रकारकी व्याख्या करें। सृष्टि विषयमें अन्य श्रुतिका मत भी बतलाते हैं—गोपालोपनिषद इति। 'पूर्वम्'—सृष्टिके पूर्व, तस्मात्—उस प्रकार एक अद्वितीय ब्रह्मसे, 'अव्यक्तम्'—त्रिगुणात्मक शरीर-विशिष्ट, अव्यक्तका अर्थ है प्रधान, अक्षरका अर्थ है—जीव चैतन्य, व्यक्तं का अर्थ है—अभिव्यक्ति-अभिमानी अथवा अभिव्यक्तिके अधिमुख। 'तस्मात् अक्षरात्' अर्थात् चैतन्य शरीर-व्यक्त-अभिमुख अक्षरके

शरीरसे त्रिगुणात्मक त्रिविध महान्, उससे त्रिविध अहङ्कार, उससे सात्त्विक अहङ्कार, उससे इन्द्रियाधिष्ठाता देवतागण एवं मन, राजस अहङ्कारसे पञ्च कर्मेन्द्रिय (वाक् पाणि, पाद, पायु और उपस्थ), पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (चक्षुः, कर्ण, जिह्वा, नासिका और त्वक्) तामस अहङ्कारसे पञ्च-तन्मात्र और उससे आकाश इत्यादि पञ्च महाभूत उत्पन्न हुए—यह वर्णन सुबालोपनिषदके समान ही है। जब ये पञ्चमहाभूत पञ्चीकृत्त हुए, तब उनके द्वारा अक्षर-जीव-चैतन्य आवृत्त हुआ अर्थात् यह शरीर धारण किया। *'स्वानन्तर तत्त्वात्'* अर्थात् स्वयंके अव्यवहित पूर्ववर्त्ती तत्त्वसे।

७—तदभिध्यानाधिकरणम्

सूत्र—तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः॥ १२॥

सूत्रार्थ—'तु' नहीं, ऐसा नहीं है, तमः इत्यादि शक्तिसम्पन्न परमेश्वर, प्रधानादिसे पृथ्वी पर्यन्त समस्त चौबीस तत्त्वोंके साक्षात् स्रष्टा हैं। किस कारणसे? 'तदभिध्यानादेव लिङ्गात्'—परमेश्वरके ही 'अभिध्यान'—सङ्कल्प (मैं बहुत हो जाऊँ) रूप 'लिङ्ग' प्रमाणसे यह अवगत हुआ जाता है॥ १२॥

सूत्रानुवाद—प्रधानादि कार्योंके वे परमेश्वर ही कारण हैं, उनका स्रष्टृत्व ज्ञापक अभिध्यान (सङ्कल्प) इस बातकी प्रमाण रूपमें पुष्टि करता है॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—शङ्काच्छेदाय तु-शब्दः। स तम-आदिशक्तिकः सर्वेश्वर एव प्रधानादीनां पृथिव्यन्तानां कार्याणां साक्षाद्धेतुः। कु *'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'* (तै॰ २/६) इत्यादौ तस्यैव तच्छक्तिकस्य सर्वेश्वरस्य प्रधानादिबहुभवन-सङ्कल्पात् लिङ्गात्, ब्रह्मैव तमःप्रभृतीनि प्रविश्य प्रधानादिरूपेण तानि परिणमयति। *'यस्य पृथिवी शरीरम्'* (बृ॰आ॰ ३/७/३) इत्यादिश्रुतेरन्तर्यामिब्राह्मणाच्च॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'तु' शब्द पूर्वोक्त संशयका निवर्त्तक है। तमः इत्यादि शक्तिसम्पन्न वे सर्वेश्वर ही प्रधानसे आरम्भ करके पृथ्वी पर्यन्त समस्त कार्योंके साक्षात् रूपसे कारण हैं अर्थात् तत्त्व (परमेश्वर अथवा ब्रह्म) सृष्टिक्रम द्वारा नहीं है और पूर्वजात तत्त्वसे भी नहीं है। कारण क्या है? वही बता रहे हैं—*'तदभिध्यानादेव*

लिङ्गात्'—उनका अभिध्यान अर्थात् सङ्कल्प ही इसका ज्ञापक अथवा प्रमाण है यथा—*'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय'* इत्यादि (तै॰ २/६) उन्होंने (परमेश्वरने) कामना (सङ्कल्प) की, 'मैं बहुत रूपोंमें व्यक्त हो जाऊँ, मैं जन्म-ग्रहण करूँ' इत्यादि श्रुति-वाक्योंसे यह ज्ञात होता है कि उन तमः इत्यादि शक्तियोंसे संवलित परमेश्वरका ही प्रधानादि बहुत-से रूपोंमें उत्पत्तिका सङ्कल्प होता है—उस सङ्कल्पसे ही सृष्टि होती है यह ज्ञापक है। ब्रह्म ही तमः इत्यादि शक्तियोंमें प्रवेश करके उन सब तत्त्वोंको प्रकृति इत्यादि रूपोंमें परिणत कराते हैं। इसके अतिरिक्त और भी श्रुति है यथा *'यस्य पृथिवी शरीरम्'*—'पृथ्वी जिन परमेश्वरका शरीर है' यह श्रुति अन्तर्यामी ब्राह्मण-वाक्यमें कथित है॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—तदभिध्यानादिति। स्पष्टम्॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार—*'तदभिध्यानात्'* इत्यादि सूत्र एवं भाष्य सुस्पष्ट हैं, इसलिये उनकी टीका निष्प्रयोजन है॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—आकाशादि क्रमसे तेईस तत्त्वोंकी उत्पत्तिके विचारसे सम्बन्धित विवादके निरसनके लिए इस अधिकरणका प्रारम्भ है। वास्तवमें तो पहलेसे ही *'जन्माद्यस्य यतः'* सूत्रके द्वारा यह विवाद रहा ही नहीं है।

सुबालोपनिषदमें पाठ है कि शिष्यगण गुरुसे जिज्ञासा करते हैं कि सृष्टिके पहले ऐसी क्या वस्तु थी, जो अविनाशी थी? तो घोराँगिरस न उन शिष्योंमें प्रमुख रैक्य ऋषिसे कहा कि सृष्टिके पहले सत्, असत्, सदसत् अर्थात् तेज आदि स्थूल-वस्तु अथवा प्रधानादि सूक्ष्म वस्तु अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म कु
तत्त्व (ब्रह्म) ही विराजमान था। उसीसे तमः अर्थात् माया उत्पन्न हुई और उसी तत्त्वसे भूतादि अर्थात् त्रिविध अहङ्कार उत्पन्न हुआ, उसीसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुए। इन सबके मिलनेपर एक अण्ड प्रकाशित हुआ। प्रथमोक्त तमः और शेषोक्त आकाश—इन दोनोंके मध्यमें अक्षर, अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्रा और इन्द्रियादिकी यथाक्रम

उत्पत्तिसे अवगत हुआ जाता है। प्रलयमें भी इसी प्रकार विपरीत क्रम देखा जाता है—पृथ्वी जलमें, जल तेजमें, तेज वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश इन्द्रियोंमें, इन्द्रियाँ तन्मात्रामें, तन्मात्राएँ अहङ्कारमें, अहङ्कार महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व अव्यक्तमें, अव्यक्त अक्षरमें, अक्षर तमः शक्तिमें और तमः-शक्ति परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं।

यहाँ संशय यह अवस्थित होता है कि प्रधानादि तत्त्व क्या अपने-अपने अव्यवहित पूर्ववर्त्ती तत्त्वसे उत्पन्न हैं? अथवा परमेश्वरसे साक्षात् रूपसे उत्पन्न हैं? पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि श्रुतिके अभिप्रायके अनुसार कि सभी तत्त्व अपने-अपने अव्यवहित पूर्ववर्त्ती तत्त्वसे उत्पन्न होते हैं, यह स्पष्ट ही जाना जाता है—इसी पूर्वपक्षके निरसनार्थ सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि तमः इत्यादि शक्तिसम्पन्न परमेश्वरको ही प्रधानादि तत्त्वका साक्षात् स्रष्टा कहा गया है। इसका कारण है कि उनके अभिध्यान अर्थात् सङ्कल्पसे इन सबकी सृष्टि होती है। यह लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक प्रमाणसे स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है।

तैत्तिरीयश्रुति है—*'सोऽकायत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च॥'* (तै॰ २/६/१) *'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत।'* (तै॰ २/६/२)

अर्थात् उन आनन्दमय परमात्माने इच्छा की कि मैं देव, मनुष्यादि बहुत रूपोंमें अभिव्यक्त होऊँ, अतः आकाशादि रूपमें उत्पन्न होऊँ, इस प्रकारसे व्यष्टि-समष्टिरूप चेतन और अचेतन सृष्टि विषयक सङ्कल्प किया। सङ्कल्प-सिद्धिके निमित्त उन परमात्माने सृष्टव्य वस्तुकी आलोचना रूप तपस्या की। (वे आप्तकाम हैं, अतएव उनकी तपस्या साधारण नहीं हो सकती।) उन्होंने सृष्टव्य वस्तुका सृष्टि विषयक चिन्तन करके इस परिदृश्यमान समस्त जगत्की जीवोंकी उनके कर्मानुसार सृष्टि की। यह जगत् जो नाम-रूपसे अनभिव्यक्त था, उसे नाम-रूपमें व्याकृत कर दिया।

बृहदारण्यकमें भी देखा जाता है—

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।' (बृ॰आ॰ ३/७/३)

अर्थात् जो पृथ्वीमें रहनेवाले पृथ्वीके भीतर हैं, जिन्हें पृथ्वी नहीं जानती, जिनका पृथ्वी शरीर है और जो पृथ्वीके भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करते हैं, वे तुम्हारे आत्मा अन्तर्यामी अमृत हैं।

श्रीगोपालोपनिषदमें कहा है—

'पूर्वं ह्येकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत्। तस्मादव्यक्तं व्यक्तमेवाक्षरं तस्मादक्षरात् महान् महतो वा अहङ्कारस्मादहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि तेभ्यो भूतानि तैरावृतमक्षरं भवति॥' (गो॰ता॰ ७१/७२)

अर्थात् पहले एक अद्वितीय अर्थात् सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदरहित एकमात्र ब्रह्म थे। सृष्टिके प्रारम्भमें उन ब्रह्मसे अव्यक्त अक्षर-रूपमें व्यक्त हुआ, उस अक्षरसे महत् (महान्), महत्से अहङ्कार और उस अहङ्कारसे पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) तथा पञ्च महाभूत (क्षिति, अप्, तेज, मरुद् और व्योम) उत्पन्न हुए। इन पञ्चीकृत महाभूतोंके द्वारा अक्षर (जीव-चैतन्य) वेष्टित रहता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

कालवृत्त्यात्ममायायां गुणमय्यामधोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात्।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/५/२६-२७)

अर्थात् चिच्छक्तियुक्त अतीन्द्रियपुरुष भगवान्ने कालशक्ति द्वारा क्षोभित अपनी बहिरङ्गाशक्ति मायामें अपने अंश पुरुष रूपसे उसमें चिदाभासरूप बीज स्थापित किया। इसके बाद कालके द्वारा प्रेरित अव्यक्त मायासे तमका नाश करनेवाला, विशिष्ट ज्ञानस्वरूप महत्-तत्त्व आविर्भूत हुआ। वह अपनेमें सूक्ष्म रूपसे स्थित विश्वको प्रकाशित करके विराजित हुआ (जिस प्रकार बीजगत अङ्कुर विशाल वृक्षको प्रकटित करता है)।

और भी,

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥
(श्रीमद्भा० २/९/३२)

अर्थात् सृष्टिके पूर्व एकमात्र मैं ही था। स्थूल, सूक्ष्म और इन दोनोंका कारणभूत प्रधान अथवा प्रकृतिपर्यन्त मुझसे पृथक् रूपमें दूसरा कु
प्रलयमें भी एकमात्र मैं ही अवशिष्ट रहूँगा।

आसीज्ज्ञानमथो अर्थ एकमेवाविकल्पितम्।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे॥
तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्बृहत्॥
तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते॥
तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च॥
तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः।
ततो विकु
(श्रीमद्भा० ११/२४/२-६)

अर्थात् युगोंसे पूर्व प्रलयकालमें और आदि सत्ययुगमें जिस समय विवेक-निपुण मनुष्य विद्यमान थे उस समय भी समग्र-ज्ञान और निखिल ज्ञेय विषय विकल्पशून्य एक रूपमें ही अवस्थित थे अर्थात् एकमात्र परब्रह्म ही थे। तदनन्तर वाणी और मनसे अगोचर, निर्विकल्प, केवल भावयुक्त परमसत्य ब्रह्म ही माया अर्थात् दृश्य और फल दो भावोंमें विभक्त हो गये। उन दो अंशोंमेंसे भेद-अंश प्रकृति है, वह कार्य-कारणात्मिका है और दूसरा अंश ज्ञान है, वही पुरुषके नामसे अभिहित होता है। तदनन्तर मुझ पुरुषके द्वारा प्रकृतिका क्षोभ उत्पन्न करनेसे उससे सत्त्व, रजः, और तमः इन तीनों गुणोंकी अभिव्यक्ति हुई। उन सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे

क्रियाशक्ति प्रधान सूत्र और ज्ञानशक्ति प्रधान महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। वे दोनों परस्पर मिले हुए भी हैं। तदनन्तर महत्तत्त्वसे जीवोंका मोहजनक अहङ्कार तत्त्व उत्पन्न हुआ।

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ॰ ५/४६) में पाया जाता है—

याँहा हैते विश्वोत्पत्ति याँहाते प्रलय।
सेइ पुरुषेर सङ्कर्षण समाश्रय॥

अर्थात् जिनसे विश्वकी उत्पत्ति होती है और जिनसे विश्वका प्रलय होता है, उन कारणार्णवशायी पुरुषका आश्रय अर्थात् मूल श्रीसङ्कर्षण हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये प्रधानादि तत्त्व (विकार) स्वतन्त्र रूपसे एक दूसरेके कारण-कार्य नहीं हैं, सबकी रचना करनेवाले एकमात्र परमेश्वर हैं॥ १२॥

८—विपर्ययाधिकरणम्

सूत्र—विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च॥ १३॥

सूत्रार्थ—'विपर्ययेण तु'—सुबालादि श्रुतिमें वर्णित जो सृष्टिक्रम अर्थात् प्रधान-महदादि क्रम है, उससे मुण्डकोपनिषदमें वर्णित क्रम विपरीत है अर्थात् उसमें साक्षात् रूपसे सर्वेश्वरके बाद ही प्राणादि पृथ्वी पर्यन्त समस्त तत्त्वोंका सृष्टिक्रम प्रतीत होता है, 'अतः' उन सर्वेश्वरसे ही 'क्रम'—सृष्टिक्रम, 'उपपद्यते' युक्तियुक्त होता है, 'च' ऐसा न होनेपर शब्द-प्रयोगका अभिप्राय भङ्ग होता है॥ १३॥

सूत्रानुवाद—सृष्टिक्रमसे विपरीत प्रतिलोम भावसे लयका क्रम जानना चाहिये। यही युक्तियुक्त है कि जिससे जिसकी उत्पत्ति है, उसीमें उसका लय होता है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दोऽवधारणे। *'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।* (मु॰ २/१/३) *खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी'* इति मुण्डकादिश्रुतौ सुबालश्रुत्यादिदृष्टात् प्रधानमहदादिक्रमात् विपर्ययेण यः क्रमः साक्षात् सर्वेश्वरानन्तर्यरूपः सर्वेषां प्राणादिपृथिव्यन्तानां प्रतीयते स खल्वतः सर्वेश्वरादेव तत्तद्वस्तुशक्तिकात् तत्तत्कार्योत्पत्तेरुपपद्यते। अन्यथा

शब्दस्वारस्यभङ्गः। सर्वेश्वरस्य सर्वोपादानत्वं सर्वस्त्रष्टृत्वं तद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानं व्याकु
एव सर्वत्र साक्षाद्धेतुरिति॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'तु' शब्द अवधारण अर्थात् निश्चयार्थमें प्रयुक्त है। मुण्डकादि श्रुति (२/१/३) में जो क्रम वर्णित हुआ है अर्थात् *'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'* इत्यादि—उन परमेश्वरसे प्राण, मन, समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्वधारिणी पृथ्वी उत्पन्न हुई। इससे भिन्न क्रम सुबालश्रुतिमें देखा जाता है, यथा—प्रधान, महान्, अहङ्कार, मन, दस इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता, दस इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राओं द्वारा पञ्चमहाभूतोंकी यथाक्रमसे उत्पत्ति है। सुबालोपनिषद दृष्ट प्रधान महदादि क्रमके विपर्ययसे मुण्डकोक्त जो क्रम है, उसमें साक्षात् सर्वेश्वरका आनन्तर्य रूप—प्राणसे पृथ्वी पर्यन्त समस्त तत्त्वोंका जो उत्पत्ति क्रम प्रतीयमान हो रहा है, यह क्रम ही निश्चित रूपसे तद्-तद् वस्तु शक्तिसम्पन्न सर्वेश्वरसे तद्-तद् कार्यकी उत्पत्तिवश उपपन्न अर्थात् युक्तियुक्त है। (सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्मात्मक है, सबकी ब्रह्मसे ही साक्षात् उत्पत्ति है।) यह यदि स्वीकार नहीं किया जाय अर्थात् प्रधानादिसे उत्पत्ति स्वीकार की जाय, तो श्रुतिमें कथित शब्दोंकी स्वरसता अर्थात् अभिधा शक्तिका भङ्ग होता है और सर्वेश्वर जो समस्त वस्तुओंके उपादान-कारण, समस्तके स्त्रष्टा हैं और जिनकी अनुभूतिसे (विज्ञानसे) समस्त वस्तुओंका विज्ञान होता है—वह सब विरुद्ध हो जाता है। इसके अलावा जड़-प्रकृति इत्यादि तत्त्वों द्वारा महत्-तत्त्व इत्यादि रूपमें जो परिणाम है, वह भी असम्भव हो जाता है। इन समस्त दोषोंकी आपत्तिको सूत्रकारने 'च' शब्द द्वारा ज्ञात कराया है। अतएव सिद्धान्त यह है कि परमेश्वर ही साक्षात् रूपसे समस्त तत्त्वोंकी उत्पत्तिके हेतु अर्थात् कारण हैं॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—विपर्ययेणेति। ज्योतिरग्निः। जडैरिति। यद्यपि प्रधानाद्यधिष्ठात्र्यो देवताश्चेतनास्तथापि परमात्मप्रेरणेन बलेन विना ता जडतुल्या भवन्तीत्याशयः। स सर्वेश्वरः॥ १३॥

सूक्ष्मा सार—*'विपर्ययेण'* इत्यादि सूत्रमें भाष्योक्त 'ज्योतिः' शब्दका अर्थ 'अग्नि' है। *'जडैः प्रधानादिभिरित्यादि'*—अर्थात् यद्यपि प्रधानादि

जड़ हों तथापि तदाधिष्ठातृ देवतागण तो चेतन हैं। अतएव उक्त आपत्ति नहीं है। फिर भी परमेश्वरकी प्रेरणारूप शक्तिके बिना ये देवता भी जड़तुल्य होते हैं—इस अभिप्रायसे उक्त आपत्ति दिखायी गयी है। *'तस्मात् स एव सः'* में 'सः' का अर्थ है—परमेश्वर॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार और भी कह रहे हैं कि (विपर्यय रूपसे जो क्रम देखनेमें आता है उससे भी ब्रह्मका कारणत्व सिद्ध होता है। सुबालोपनिषदमें वर्णित सृष्टिक्रमसे मुण्डकोपनिषदमें वर्णित विपरीत क्रम साक्षात् परमेश्वरमें ही देखा जाता है। मुण्डकमें पाया जाता है *'एतस्माज्जायते प्राणो मनः'* इत्यादि, तदनुसार समस्त वस्तुओंकी उत्पत्ति सर्वेश्वरसे प्रतिपन्न होती है। इस क्रमको स्वीकार करनेसे शब्दका और स्वारस्य भङ्ग नहीं होता अर्थात् अभिधाशक्ति बनी रहती है। सर्वेश्वरका सर्वोपादानत्व, सर्वस्रष्टृत्व एवं उनके विज्ञानसे समस्त विज्ञानकी प्राप्ति इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध घटित नहीं होता। इसके अतिरिक्त जड़-प्रकृति इत्यादिसे सृष्टि परिमाण भी असम्भव है। परमेश्वरकी प्रेरणारूप शक्तिके बिना ये देवता भी जड़तुल्य ही रहते हैं। अतएव सर्वेश्वर ही सभीके साक्षात् कारण हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२६/३)

अर्थात् अनादि परमात्मा ही पुरुष हैं। वे प्रकृतिसे पृथक्-असङ्ग रूपमें प्राकृत गुणोंसे रहित हैं; वे सर्वेन्द्रियोंसे अगम्य कारणार्णव-धामपति-स्वप्रकाश वस्तु हैं; यह विश्व उनके ही ईक्षण-प्रभावसे प्रकाशित है।

और भी,

व्यक्तादयो विकु
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२२/१८)

अर्थात् पुरुषके ईक्षणसे प्रकृतिसे उत्पन्न महत्तत्त्व आदि धातुएँ परस्पर मिलित होकर प्रकृतिके आश्रयमें ब्रह्माण्डकी रचना किया करती हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी—

जगत् कारण नहे प्रकृति जड़रूपा।
शक्ति सञ्चारिया तारे कृष्ण करे कृपा॥

कृष्ण शक्त्ये प्रकृति हय गौण कारण।
अग्नि शक्त्ये लौह यैछे करये जारण॥

अतएव कृष्ण मूल जगत् कारण।
प्रकृति-कारण यैछे अजागलस्तन॥

(चै०च०आ० ५/५९-६१)

अर्थात् जड़रूपा प्रकृति जगत्का कारण नहीं है। श्रीकृष्ण कृपा करके उसमें अपनी शक्ति सञ्चार करते हैं। श्रीकृष्णकी शक्तिसे प्रकृति जगत्की गौणकारणस्वरूप है, जैसे अग्निकी शक्तिसे लोहामें जलानेकी शक्ति आ जाती है। अतएव श्रीकृष्ण ही जगत्के मूलकारणस्वरूप हैं और प्रकृति अजगलस्तन अर्थात् (बकरीके गलेमें लटकनेवाले स्तनकी भाँति) गौणकारणस्वरूप है॥ १३॥

अवतरणिका भाष्य—आशङ्का परिहरति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—सूत्रकार उक्त विषयमें स्वयं ही आशङ्का करके उसका परिहार करते हैं—

९—अन्तराविज्ञानाधिकरणम्

सूत्र—अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्॥ १४॥

सूत्रार्थ—'चेत्'—यदि कहो, 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुति द्वारा बोधित भगवान्के सङ्कल्पपूर्वक समस्त तत्त्वोंकी साक्षात् (सीधे-सीधे, बीच-बीचमें, दूसरोंके द्वारा नहीं) सर्वेश्वरसे उत्पत्ति 'एतस्मात्' इत्यादि श्रुति द्वारा जो निर्णीत हुई है, वह सम्भव नहीं

हो सकती, क्योंकि 'क्रमेण' वह एक प्रकारसे क्रम-बोधक है, किन्तु 'अन्तरा विज्ञानमनसी' विज्ञान अर्थात् आत्मा और इन्द्रियोंको पाञ्चभूत और प्राणके अन्तराल (मध्य) में रखकर उसी क्रमसे विज्ञान और मन उत्पन्न हुए हैं, यह 'तल्लिङ्गात्' अर्थात् उन श्रुतियोंके साथ पाठरूप प्रमाणसे अवगत हो जाता है। अतः तुम (सिद्धान्तवादी) श्रुति प्रमाणकी सहायतासे समस्त तत्त्वोंका साक्षात् सर्वेश्वरसे उत्पन्न होनेका निश्चय नहीं कर सकते हो। पूर्वपक्षी जो यह कहते हैं, वह ठीक नहीं है, कारण क्या है? 'अविशेषात्'—मुण्डकश्रुतिमें प्राणसे पृथ्वी पर्यन्त समस्त तत्त्वोंकी साक्षात् रूपसे सर्वेश्वरसे उत्पत्तिका वर्णन अन्य श्रुतियोंके समान है, कोई पार्थक्य नहीं है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—विज्ञान, मन और आकाशादिकी जो साक्षात् सम्बन्धसे उत्पत्ति है, वह प्राणसे लेकर पृथ्वी तक सभीके लिए समान रूपसे अभिधेय है, क्रमशः ही हो ऐसी कोई विशेष बात नहीं है। परमेश्वर ही सबके निमित्त एवं उपादान कारण हैं॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—विज्ञानशब्देनात्मेन्द्रियाणि भण्यन्ते। सर्वेषां तत्त्वानां साक्षात् सर्वेशादुत्पत्तिरमिध्यानलिङ्गादवगता एतस्मादिति (मु॰ २/१/३) श्रुत्या निश्चीयते इति न सम्भवति तस्याः क्रमविशेषपरत्वात्। आकाशादिषु श्रुत्यन्तरसिद्धः क्रमस्तयापि खं वायुरित्यादिना प्रतीयते। तल्लिङ्गात् तैः सह पाठलिङ्गात्। भूतप्राणयोरन्तराले तेनैव क्रमेण विज्ञानमनसी च प्रजायेते इत्यवबुध्यते। अतस्तया श्रुत्या सर्वेषां तत्त्वानां साक्षात् सर्वेषादुत्पत्तिर्निश्चेतुं न शक्येति चेन्न। कु
प्राणादिपृथिव्यन्तानां साक्षात् सर्वेशजातत्वाभिधानस्य समानत्वादित्यर्थः। एतस्मादि-त्यनेन हि सर्वे प्राणादयः सम्बध्यन्ते। अयं भावः (तै॰ २/६)—*'सोऽकायमत बहु स्याम्'* इत्यादेः *'एतस्मात् जायते प्राण'* इत्यादेश्च श्रवणात्। *'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते', 'तत्र तत्र स्थितो विष्णुस्तत्तच्छक्तिं प्रबोधयेत्। एक एव महाशक्तिः कु* (वा॰पु॰) इत्यादि स्मृतेश्च सर्वाणि प्रधानादीनि साक्षात् सर्वेशोद्भवानीति मन्तव्यम्। न चैवं सुबालश्रुत्यादिदृष्टक्रमविरोधः। तम-आदि-शक्तिमान् प्रधानादिकार्यहेतुरिति तत्र विवक्षितत्वात्। तथाचोभयं सूपपन्नम्। तदेवं सति तत्तेजोऽसृजतेत्यत्र तत्तमःप्रभृतिशक्तिकं ब्रह्म प्रधानादिवायन्तं सृष्ट्वा तेजोऽसृजतेति तस्माद्वा (तै॰ २/५) इत्यत्र तत्तस्मात् तमःप्रभृतिशक्तिकात् सम्भावितप्रधानादिकादात्मनः सर्वेशादाकाशः सम्भूत इति सङ्गमनीयम्॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त विज्ञान शब्दके द्वारा आत्मा और मन (इन्द्रियसमूह) अभिहित (कहे गये) हैं। पूर्वपक्षी कहते हैं—समस्त तत्त्वोंकी साक्षात् रूपमें परमेश्वरसे उत्पत्ति *'सोऽकामयत'* द्वारा बोधित सङ्कल्प (अभिध्यान-लिङ्ग) रूप प्रमाणसे अवगत है और वही *'एतस्मात्'* इत्यादि श्रुति द्वारा निर्णीत है—यह कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि मुण्डकश्रुति क्रम-विशेषके बोधके लिए प्रयुक्त है। आकाश इत्यादिको लेकर श्रुत्यन्तर अर्थात् सुबालादि श्रुतिमें जो क्रम उक्त है, वही मुण्डकश्रुति द्वारा भी *'खं वायुः'* इत्यादि वाक्य द्वारा प्रतीत होता है। ज्ञापक प्रमाण अर्थात् उन सबके एकत्र पाठरूप प्रमाणसे अवगत हो जाता है कि पञ्चभूत और प्राण-वर्गकी उत्पत्तिके मध्यमें (अन्तरालमें) उक्त क्रमसे ही विज्ञान और मन उत्पन्न हुए हैं; अतएव तुम निश्चित नहीं कर सकते हो कि इस मुण्डकश्रुति द्वारा समस्त तत्त्वोंकी साक्षात् रूपसे सर्वेश्वरसे उत्पत्ति हुई है—क्योंकि उस श्रुतिमें सर्वेश्वरसे उत्पत्ति विषयक कु

यदि यह कहते हैं, तो यह ठीक नहीं है; क्यों? क्योंकि यहाँ कोई भी पार्थक्य नहीं है अर्थात मुण्डकश्रुतिमें प्राणादिसे पृथ्वी पर्यन्त समस्त तत्त्वोंकी साक्षात् परमेश्वरसे उत्पत्ति-कथनके साथ उसका साम्य ही है। क्योंकि *'एतस्मात्'* में इस 'एतद्' शब्दसे वाच्य परमेश्वरके साथ प्राणादि सभीका उपादानकारक सम्बन्ध है। बात यह है कि *'सोऽकामयत बहु स्याम्'* इत्यादि श्रुति और *'एतस्माज्जायते प्राणः'* (मु॰ २/१/३) इत्यादि श्रुतियोंके कारण परमेश्वरसे ही सबकी उत्पत्ति पुष्ट होती है। इसी प्रकार *'अहं सर्वस्य प्रभवः'*—मैं सबकी उत्पत्तिका क्षेत्र हूँ, इसी प्रकार *'तत्र तत्र विष्णो विष्णुस्तत्तच्छक्तिम् प्रबोधयेत्। एक एव महाशक्तिः कु* (श्रीवामनपुराण) विष्णु उन-उन तत्त्वोंमें रहकर अपनी उत्पादिनीशक्तिको उद्बुद्ध (प्रबोधित) करते हैं। 'उस एक ही महाशक्तिसे सम्पन्न परमेश्वर ही वास्तवमें समस्तकी सृष्टि करते हैं' इत्यादि स्मृति-वाक्योंसे जाना जाता है कि प्रधानादि समस्त तत्त्व साक्षात् सर्वेश्वरसे उद्भूत हैं—यह मानना होगा। यदि कहो, इस प्रकार कहनेपर तो सुबालादि श्रुतिमें वर्णित क्रमके साथ विरोध हो पड़ेगा। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि उसमें कहा गया है

कि तमः इत्यादि शक्तियोंसे सम्पन्न सर्वेश्वर प्रधानादि कार्योंके कारण हैं। इससे दोनों श्रुति-वाक्य ही सम्यक् रूपसे युक्तियुक्त होते हैं। इस आधारपर *'तत्तेजोऽसृजत्'* (छा० ६/२/३)—'उस वायुतत्त्वने तेजकी सृष्टि की'—इस श्रुतिमें भी 'तत्' पदसे तमः प्रभृति शक्तिसम्पन्न ब्रह्म ग्रहणीय हैं। उन्होंने प्रधानादिसे वायु पर्यन्त सृष्टि करके तेजकी सृष्टि की और *'तस्माद्वा आत्मन-आकाशः सम्भूतः'* (तै० २/१) श्रुतिके अन्तर्गत 'तस्माद्' शब्दका अर्थ है—वे तमः इत्यादि शक्तिसम्पन्न ब्रह्म, जो प्रधानादि कार्योंके उत्पादक हैं, उन्हीं 'आत्मनः' अर्थात् सर्वेश्वरसे आकाश उत्पन्न हुआ—इस प्रकारसे अर्थ योजित करना होगा॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्तरेति। अभिध्यानलिङ्गात् *'सोऽकामयत बहु स्याम्'* इत्येवं-लक्षणात्। तस्या इति मुण्डकश्रुतेः। सुबालादिश्रुतिदृष्टक्रमविशेषबोधितत्वादित्यर्थः। श्रुत्यन्तरसिद्धः सुबालादिश्रुत्युक्तः। तयापि मुण्डकश्रुत्यापि। प्रतीयते प्रत्यभिज्ञायते। तल्लिङ्गादिति। तैः प्रलयनिरूपिकया सुबालश्रुत्योक्तैः। प्राणादिपृथिव्यन्तैः सह मुण्डकश्रुत्युक्तानां तेषां पाठतौल्यालिङ्गादित्यर्थः। तेनैव सुबालश्रुतिदृष्टेनैव क्रमेण। अतस्तयेति। मुण्डकश्रुत्येत्यर्थः। ननु भूतप्राणयोर्मध्य इन्द्रियमनसी च तेनैव सुबालश्रुतिदृष्टेन स्वपूर्वतत्त्वजातत्वक्रमेणोत्पद्येते इति पूर्वपक्षः कथं सङ्गतिमान् स्यात्? एवमपि तत्क्रमालाभादिति चेदुच्यते। मुण्डकश्रुतौ प्राणशब्देन महत्तत्त्वोपलक्षकः सूत्रात्मा प्रथमविकारो ग्राह्यः मनःशब्देन तद्धेतुः सात्त्विकाहङ्कारश्च इन्द्रियशब्देन तद्धेतुरासाहङ्कारश्च खादिशब्देन तद्धेतुस्तामसाहङ्कारश्चेति। तस्यामपि सुबालादिश्रुतिदृष्टः क्रमोऽवबुद्ध इति न कोऽपि क्षतिलेश इति। मैवमेतत्। कु इत्यपेक्ष्याहाविशेषादिति। तस्यां मुण्डकश्रुतौ। समानत्वादैकरूप्यात्। एतस्मादिति। अपादानपञ्चम्यन्तेनानेन सर्वेषां प्राणादीनाम् एतस्मात् प्राण एतस्मान्मन इत्यादिरूपः सम्बन्धो निर्विशेषो दृश्यत इत्यर्थः। हिशब्दो हेतौ। अयमिति। अहमिति श्रीगीतासु। तत्र तत्रेति वामने। छान्दोग्यतैत्तिरीयकयोः सुबालश्रुत्या सह विरोधायाह तदेवमिति। प्रधानादिवाय्वन्तमिति। प्रधानमहदहंतन्मात्रेन्द्रियवियद्वायुनुत्पाद्येत्यर्थः॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार—*'अन्तरा विज्ञान मनसौ'* इत्यादि सूत्रके भाष्यमें *'सर्वेश्वरादुत्पत्तिरभिध्यानलिङ्गात्'* इति में 'अभिध्यानलिङ्गात्' अर्थात् 'सोऽकामयत बहुस्याम' इत्यादि—इसका अर्थ है ब्रह्मके सृष्टि-सङ्कल्परूप अभिध्यान (उत्कट इच्छा) से। *'तस्याः क्रमविशेषपरत्वादिति'* में 'तस्याः' का अर्थ है उस मुण्डकश्रुतिका क्रमविशेष अर्थमें तात्पर्य है इस हेतु। अभिप्राय यह है कि सुबालादि श्रुतिमें प्राप्त जो क्रम-विशेष है, वही

उस श्रुति मुण्डकश्रुतिके द्वारा बोधित होनेके कारण। *'श्रुत्यन्तरासिद्धः'* अर्थात् सुबालादि अन्य श्रुति द्वारा कथित। *'तयापि खं वायुरित्यादि'* में 'तयापि' का अर्थ है मुण्डकश्रुति द्वारा भी। *'प्रतीयते'* अर्थात् प्रत्यभिज्ञात होता है। *'तल्लिङ्गात् तैः सहेति'* अर्थात् प्रलय-ज्ञापिका सुबालश्रुति द्वारा बोधित प्राणसे पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वके साथ मुण्डकश्रुति वर्णित तत्त्वोंका पाठ-क्रम समान ही है—यह ज्ञापक प्रमाणसे कारण स्पष्ट है। *'भूतप्राणयोरन्तराले तेनैव क्रमेण'* में 'तेनैव' से अर्थ है—सुबालश्रुति दृष्ट क्रमानुसार ही। *'अतस्त्वयेति'* अर्थात्—अतएव उस मुण्डकश्रुति द्वारा। अब आपत्ति यह है कि पञ्चभूत और प्राणके मध्य इन्द्रिय और मन सुबालादि श्रुति वर्णित जो निज अव्यवहित तत्त्वसे जातत्व क्रम है, उसके अनुसार उत्पन्न हुए हैं अर्थात् इन्द्रिय और मनकी उत्पत्ति जो पञ्चभूत और प्राणके मध्य हुई है तो यह जातत्व क्रमानुसार पूर्वोक्त भूतोंकी उत्पत्ति-क्रमका भङ्ग हो जाना स्वाभाविक है और *'आत्मनः आकाशः सम्भूतः'* यह क्रम टूटता है—तो इस पूर्वपक्षकी सङ्गति किस प्रकार होगी? इन्द्रिय-मनकी उत्पत्ति माननेपर उक्त क्रम रहेगा ही नहीं। इस आपत्तिका समाधान यह है कि मुण्डकश्रुतिमें 'प्राण' शब्दके द्वारा महत्-तत्त्वको जानेंगे इसीको जगत्-सूत्र-स्वरूप कहा जाता है और यही प्रकृतिका प्रथम विकार है—यह जानने योग्य है। 'मनस्' शब्दके द्वारा मनका कारण सात्त्विक अहङ्कार है और इन्द्रिय शब्दके द्वारा इन्द्रियका कारण राजसिक अहङ्कार ग्राह्य हैं *'खं वायुरित्यादि' (स प्राणमसृजत प्राणाच्छैदधां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रिय मनोऽन्नम्)* में 'ख' इत्यादि शब्द द्वारा आकाशादिका कारण तामस अहङ्कार अर्थ जानना चाहिये। इस प्रकार मुण्डकश्रुमिमें वही क्रम प्राप्त है जो सुबालादि श्रुतिमें देखा जाता है। अतः किसी भी प्रकारसे लेश मात्र भी हानि नहीं है। *'मैवमेतत्'*—यह जो पूर्वपक्षीका मत है, वह हो नहीं सकता, क्यों? उत्तर है—*'अविशेषात्'* जिस कारणसे 'तस्याम्' का अर्थ है—मुण्डकश्रुतिमें, *'सर्वेशाजातत्वभिधानस्य समानत्वात्'* का अर्थ है—सर्वेश्वरसे उत्पत्ति-कथनका साम्य है। किस प्रकारसे? वही दिखाते हैं—*'एतस्मात्'*—इस पदमें जो पञ्चमी है, वह आनन्त्यार्थ में

नहीं है। *'अपादानार्थे'* उस *'एतस्मात्'* पदके साथ समस्त प्राणादिका सम्बन्ध करना चाहिये यथा—*'एतस्मात् प्राणः'*—उन परमेश्वरसे प्राण, *'एतस्मात् मनः'* उन परमेश्वरसे मन, इसी प्रकार निर्विशेषके सम्बन्धमें देखा जा रहा है, अतएव अविशेष है। *'एतस्मादित्यनेन हि'* यहाँ 'हि' शब्द हेतु अर्थमें है। अयमित्यादि। अहमित्यादि श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता (१०/८) का है *'तत्र तत्रेति'* वामनपुराणमें तत्र पदका अर्थ है—उन-उन स्थलोंपर। छान्दोग्य-तैत्तिरीय श्रुतिका सुबालश्रुतिके साथ विरोध है, इसलिए कहते हैं—तदेवमित्यादि। *'प्रधानादि वाय्वन्तमिति'*—प्रधान-प्रकृतिसे वायु पर्यन्त अर्थात् प्रधान महत् अहङ्कार, तन्मात्र, इन्द्रिय, आकाश एवं वायुका उत्पादन करके॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें और एक दूसरी आशङ्का उठाकर उसका खण्डन कर रहे हैं। पूर्वपक्षी यदि कहें कि श्रीभगवान्के अभिध्यान अर्थात् सङ्कल्पसे समस्त तत्त्वोंकी उत्पत्ति हुई है, तो यह सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी एक प्रकारसे क्रम-विशेष है। सुबालश्रुति और मुण्डकश्रुतिमें आकाशादि-क्रम एक ही प्रकारसे सिद्ध होता है। अतः सहपाठरूप लिङ्ग (प्रमाण) से जाना जाता है कि पञ्चभूत और प्राणवर्गकी उत्पत्तिके अन्तरालमें उक्त क्रमसे ही आत्मा, इन्द्रिय और मनकी उत्पत्ति है। इसलिए साक्षात् सर्वेश्वरसे समस्त तत्त्वोंका उद्भव है, यह निर्णय नहीं किया जा सकता। इस पूर्वपक्षका निराकरण करते हुए सूत्रकार कह रहे हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि मुण्डकश्रुतिमें कहा है कि प्राणादिसे पृथ्वी पर्यन्त समस्त तत्त्व साक्षात् परमेश्वरसे उत्पन्न हुए हैं, इस *'एतस्मादात्मनः'* श्रुतिके अन्तर्गत 'एतद्' शब्दमें भी समस्त वस्तुओंकी उत्पत्ति परमेश्वरसे है। यह अर्थ कहनेमें उनका ही अपादान कारक सम्बन्ध रहता है यथा—*'एतस्माज्जायते प्राणः', 'एतस्माज्जायते मनः'* और *'एतस्माज्जायते सर्वेन्द्रियाणि'* इत्यादि, इसलिए परमेश्वरसे सबका सम्बन्ध निर्विशेष है, अतएव यह सम्बन्ध अविशेष है अर्थात् यह स्पष्ट हुआ कि श्रुतिमें किसी क्रम-विशेषका वर्णन नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—*'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वम् प्रवर्त्तते'* (श्रीगीता १०/८) यहाँ पूर्वपक्षी यदि कहते हैं कि ऐसा होनेसे

तो सुबालश्रुतिके साथ विरोध होता है तो यह कहना सङ्गत नहीं है, क्योंकि यहाँ भी तमः इत्यादि शक्तिसम्पन्न सर्वेश्वरको प्रधानादि कार्योंका कारण कहा गया है। अतः दोनों ही श्रुतियाँ युक्तियुक्त हैं। छान्दोग्य (६/५/४) में श्रुति है—*'अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति'*—मनको अन्न (पृथ्वी) का, प्राणको जलका और वाक् (इन्द्रिय) को तेजका विकार कहा गया हैं। इस श्रुतिके आधारपर क्रमसे विरोध नहीं हो सकता। परमेश्वरने प्रधानसे वायु पर्यन्त अर्थात् प्रधान, महत्, अहङ्कार, तन्मात्र, इन्द्रिय, आकाश एवं वायुको उत्पन्न करके तेजकी सृष्टि की।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिर्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि।
सर्वेन्द्रियार्थो विबुधाश्च सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४०/२)

अर्थात् हे देव! भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्त्व, प्रकृति, पुरुष, मन, दस इन्द्रिय, इन्द्रियोंके समस्त विषयसमूह और इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवता जो भी इस जगत्का कारणस्वरूप है, वे समस्त पदार्थ ही आपके (श्रीभगवान्) श्रीअङ्गसे उत्पन्न हुए हैं।

और भी,

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्य पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/१०/२९)

अर्थात् हे सर्वाचित्ताकर्षक! हे बाल्यलीलावेशमें उदूखलाकर्षक! हे अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन! आप ही समस्त जगत्के आदि हैं, प्रकृति अन्तर्यामी, ब्रह्माण्डके अन्तर्यामी एवं समस्त जीवोंके अन्तर्यामी पुरुष आपके ही अंश हैं। तत्त्वज्ञ व्यक्ति इस कार्य-कारणात्मक जगत्को आपके ही अधिष्ठान रूपमें जानते हैं॥१४॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वेवं सर्वेश्वरो हरिरेव चेत् सर्वात्मकस्तर्हि सर्वेषां चराचरवाचिनां शब्दानां तद्वाचकतापत्तिः। न च सा तेषां समस्ति चराचरेषु मुख्यव्युत्पन्नत्वात्। स्वीकृतायाञ्च तस्यां गौणी तेषां तस्मिन् प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का यह है कि यदि इसी प्रकार सर्वेश्वर श्रीहरि सर्वतत्त्वस्वरूप (सर्वात्मक) हैं तो चराचरवाचक घट-नरादि समस्त शब्द ही ईश्वरवाचक हों किन्तु यह ईश्वरवाचकता तो समस्त शब्दोंमें सम्भव नहीं है। मुख्य रूपसे अभिधावृत्ति द्वारा घट-नरादि शब्दोंसे घट-नरादिको ही जाना जाता है, ईश्वरको तो नहीं जाना जाता। यदि ईश्वरमें मुख्यवृत्ति स्वीकार करते हैं तो घट-नरादि चराचर पदार्थोंमें गौणीवृत्तिकी प्रवृत्ति होगी। यह आशङ्का करके सूत्रकार उसका परिहार करते हैं।

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। सर्वेश्वरश्चिज्जडात्मकशक्तिद्वयस्वामी। तद्वाचकतेति। सर्वेश्वरहरिवाचकतापत्तिरित्यर्थः। सा तद्वाचकता। तस्यां तद्वाचकतायाम्। तेषां चराचरवाचिशब्दानाम्। तस्मिन् सर्वेश्वरे हरौ—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—'ननु' इत्यादि भाष्य—सर्वेश्वर अर्थात् चित् और जड़स्वरूप दोनों शक्तियोंके अधिपति। *'तद्वाचकेति'* सर्वेश्वर हरि वाचक हों, यह तात्पर्य है। 'सा' का अर्थ है 'वही हरिवाचकता'। 'तस्याम्' अर्थात् उन सर्वेश्वरकी हरिवाचकताके विषयमें। 'तेषामिति' का अर्थ है—चराचरवाचक शब्दोंका। 'तस्मिन्निति' का अर्थ है—उन सर्वेश्वर हरिमें।

१०—चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम्

सूत्र—चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशोऽभाक्तस्तद्भाव-भावित्वात्॥ १५॥

सूत्रार्थ—'चराचरव्यपाश्रयः'—जङ्गम (गतिशील नरादि) स्थावर (वृक्षादि) शरीरवाचक 'तु' नहीं होंगे, किन्तु 'तद्व्यपदेशः' वे-वे नर-वृक्षादि शब्द भगवान्में 'अभाक्तः स्यात्' मृख्यवृत्ति रूपमें वाचक होंगे—कैसे? क्योंकि 'तद्भावभावित्वात्' समस्त शब्दोंकी भगवत्-वाचकता शास्त्रमें सुनी जाती है, इसलिए। वह किस प्रकारसे है? क्योंकि शास्त्र-श्रवणके बाद ही अर्थात् वेदान्त-अध्ययनके बाद ही समझेंगे कि समस्त ही भगवत्-स्वरूप है—यह अर्थ बादमें उदित होगा॥ १५॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मसे जो चराचरका व्यपदेश है, वह अभाक्त अर्थात् मुख्य है, गौण नहीं, क्योंकि तद्भावभावित्व अर्थात् ब्रह्मभावसे भावित होनेसे ही समस्त शब्दोंकी वाचकता है, यह भगवान्‌की नाम-रूपमें व्याकृत होनेवाली श्रुतिसे ज्ञात होता है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्कानिरासार्थः। चराचरव्यपाश्रयस्तद्व्यपदेशो जङ्गम-स्थावरशरीरवाचकस्तत्तच्छब्दो भगवत्यभाक्तो मुख्यः स्यात्। कु
तद्भावस्य सर्वेषां शब्दानां भगवद्वाचकभावस्य शास्त्रश्रवणादूर्द्ध्वं भविष्यत्वात्। तद्‌बुद्धेरुदेश्यत्वादिति यावत्। श्रुतिश्चैवमाह। *'सोऽकामयत बहुस्यां स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति'* इत्यादिना। (गो॰ता॰ ४५) स्मृतिश्च *'कटकमुकु
कनेकमभेदमपीष्यते यथैकम्। सुरपशुमनुजादि कल्पनाभिर्हरिरखिलाभिरुदीर्यते तथैक'* (वि॰पु॰ ३/७/१६) इत्याद्या। अयं भावः। शक्तिवाचकाः शब्दाः शक्तिमति पर्यवस्यन्ति शक्तीनां तदात्मकत्वादिति॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'तु' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निराकरणके लिए है। जङ्गम और स्थावर शरीर वाचक वे-वे शब्द जङ्गमादि शरीरोंको मुख्यवृत्ति द्वारा ज्ञात नहीं करायेंगे, किन्तु वे भगवान्‌में ही मुख्य होंगे—किस कारणसे? *'तद्भावभावित्वात्'*—समस्त शब्दोंका भगवत्-वाचकता ज्ञान वेदान्त-शास्त्रके अध्ययनके (श्रवण) बाद और उसके अर्थबोधके बाद ही होगा अर्थात् ये—स्थावर-जङ्गमवाचक समस्त शब्द भगवान्‌के ही वाचक हैं—ऐसी बुद्धि शास्त्र-श्रवणके बाद ही उदित होगी। श्रुतियाँ भी इस प्रकार कहती हैं—*'सोऽकामयत बहुस्यां 'स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति'*—उन्होंने सङ्कल्प किया—मैं बहुत रूपोंमें व्यक्त होऊँ, वे वासुदेव ही परपुरुष हैं, उनके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है—यह गोपालोपनिषदमें कहा गया है। स्मृति (विष्णुपुराण) में भी कहा है—अर्थात् कटक (हस्ताभरण) मुकु
कर्णिका (कर्णाभरण) इत्यादि भेदसे विभिन्न आभरण एक कनक रूपमें जिस प्रकार अभिन्न माने जाते हैं, उसी प्रकार देव, पशु और मनुष्यादि रूपमें विभिन्न सृष्टियोंके साथ एक श्रीहरि अभिन्न रूपमें कहे जाते हैं। बात यह है कि ये सभी भगवान्‌की ही शक्तियाँ हैं, ये शक्तिवाचक शब्द शक्तिमानमें ही पर्यवसित हो जाते हैं अर्थात्

उनका तात्पर्य शक्तिमानमें ही होता है, क्योंकि शक्तियाँ तत्स्वरूप हैं अर्थात् शक्ति और शक्तिमान अभिन्न हैं॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—चराचरेति। शास्त्रश्रवणादूर्द्धमिति वेदान्ताध्ययनात् तदर्थानुभवात् चोत्तरस्मिन् काले इत्यर्थः। तद्बुद्धेस्तादृशज्ञानस्य। श्रुतिश्चैवमिति। स वासुदेव इति गोपालोपनिषदि। कटकेति श्रीवैष्णवे शक्तिमतोऽत्र ब्रह्मणः कनकं दृष्टान्तस्तथैव निष्कर्षात्। तदात्मकत्वादिति शक्तिमद्ब्रह्माभेदादित्यर्थः। लोकेऽपि गवादिशब्दानां गोत्वादिवाचिनां तद्वति पर्यवसानं दृष्टम्। अत्र पृथिव्यादिशब्दानां गन्धवद्द्रव्यादि-वाचकत्वव्युत्पत्तिर्बालार्था बोध्या। पृथिव्यादिशक्तिमद्ब्रह्मवाचकतापि तेषामस्ति सा तु तात्त्विकीति दर्शितम्। स्मृत्यन्तराणि चात्र मृग्याणि—वासुदेवः सर्वमिति वचसां वाच्यमुत्तममिति सर्वनामाभिधेयश्च सर्ववेदेडितश्च स इति चैवमादीनि॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार—चराचरेति सूत्रके भाष्यमें *'शास्त्रश्रवणादूद्ध्र्वमिति'* इसका अर्थ है वेदान्त-शास्त्रके अध्ययनके और वेदान्त-वाक्यार्थके ज्ञानके परवर्त्ती कालमें। *'तद्बुद्धेरूदेश्यत्वात्'* इति में 'तद्बुद्धेः' का अर्थ है—उस प्रकारके ज्ञानका उदय होगा—इसलिए। *'स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति'* (वासुदेव ही परपुरुष हैं, उनके अतिरिक्त कु है) यह गोपालोपनिषदमें कहा गया है। *'कटकमुकु* श्लोक विष्णुपुराणमें कथित है। यहाँ शक्तिमान ब्रह्मके लिए सुवर्णका दृष्टान्त है—सिद्धान्त भी इसी प्रकारका है। *'तदात्मकत्वादिति'* अर्थात् शक्तिमान ब्रह्मके साथ अभेद है—यह तात्पर्य है। लौकिक प्रयोगमें भी देखा जाता है कि गो इत्यादि शब्दोंकी गोत्व इत्यादि जातिमें शक्ति होनेपर भी जिस प्रकार वे गोत्वादि-विशिष्टमें पर्यवसित होते हैं अर्थात् आक्षेपके आधारपर गोत्वसे गायको ही समझा जाता है, कारण गोके बिना गोत्व जाति रह नहीं सकती, इसी प्रकार यहाँ पृथ्वी इत्यादि शब्दोंका गन्ध-विशिष्ट द्रव्यादि वाचकत्व शक्ति (व्युत्पत्ति) को बालकोंके (अज्ञोंके) बोधनार्थ ही जानना चाहिये अर्थात् पृथ्वी इत्यादि शक्तिमान ब्रह्मकी वाचकता पृथ्वी इत्यादि शब्दोंकी है, वही तात्त्विक अर्थात् यथार्थ है, यही देखा गया है। अन्य अनेक स्मृति-वाक्य भी इसके प्रतिपादक हैं, उनका अन्वेषण करना होगा। *'वासुदेवः सर्वमिति वचसां वाच्युमुत्तमम्'*—यह वाक्य और *'सर्वनामाभिधेयश्च सर्ववेदेऽतिश्च सः'* अर्थात् वासुदेव समस्त पदार्थोंके स्वरूप हैं, समस्त शब्दोंके वे

ही श्रेष्ठ वाच्य हैं। जितना प्रतिपादिक है, उन समस्तका वाच्यार्थ वे वासुदेव हैं, जितने भी वेदमन्त्र हैं, उन सबके द्वारा वे ही स्तुत हैं। इस प्रकारसे और भी अनेक स्मृति-वाक्य हैं। इस सम्बन्धमें श्रुति और स्मृतिका प्रमाण भाष्य और टीकामें देखनी चाहिये॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब यदि पूर्वपक्ष है कि चित् और जड़स्वरूप दोनों शक्तियोंके अधिपति श्रीहरि यदि सर्वस्वरूप हैं तो चराचरवाचक समस्त शब्दोंको तद्-वाचकतामें आपत्ति आती है, क्योंकि 'घट-नरादि-शब्द' मुख्य रूपसे ईश्वरको ज्ञात नहीं कराते, अपितु उनसे घट-नरादिको ही मुख्य रूपसे जाना जाता है। यदि यह स्वीकार किया जाता है, तो ईश्वरमें गौणीवृत्तिकी प्रवृत्ति आ पड़ती है। इस प्रकारकी आशङ्काका परिहार करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि चराचर वाचक समस्त शब्द ईश्वरमें मुख्यवृत्तिसे ही वाचक होंगे, गौणीवृत्तिसे नहीं, क्योंकि शब्दोंकी भगवत्-वाचकता शास्त्र-श्रवणके बाद ही उदित होती है। इस सम्बन्धमें श्रुति और स्मृतिका प्रमाण भाष्य और टीकामें देखनी चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन॥
(श्रीमद्भा० १०/१४/५५)

अर्थात् वस्तुतः जो कृष्ण-तत्त्वसे अवगत हैं, उनके मतमें स्थावर और जङ्गमात्मक यह निखिल ब्रह्माण्ड कृष्णका रूप है और कृष्ण ही समस्त कारणोंके कारण (कार्य और कारणसे अभिन्न) हैं, कृष्णके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है।

और भी,

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम्।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्॥
(श्रीमद्भा० ११/३/३७)

अर्थात् सृष्टिके पूर्व अनेक शक्तियोंसे विशिष्ट एकमात्र ब्रह्म थे। इसके बाद वे ब्रह्म सत्त्व, रज और तम—ये त्रिगुणात्मक प्रकृति रूपमें परिणत हुए। सत् और असत् एवं सत् और असत्से परे वे परब्रह्म ज्ञान, क्रिया अर्थ और फल रूपमें सूत्र, महत् एवं अहङ्कारात्मक उपाधि-विशिष्ट जीव रूपमें कहे जाते हैं॥ १५॥

अवतरणिका भाष्य—सर्वं यस्मादुत्पद्यते यस्य मूलकारणत्वादुत्पत्तिर्नास्ति स परमात्मेतीश्वरो निरूपितः। अथ जीवं निर्णेतुमुपक्रमते। तस्य तावदुत्पत्तिर्निरस्यते। *'यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिस्तोयेन जीवान् व्यससर्जभूम्याम्'* इति तैत्तिरीयके, *'सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजा'* इति चान्यत्र श्रूयते। अत्र जीवस्योत्पत्तिरस्ति न वेति संशये चिज्जडात्मकस्य जगतः कार्यत्वावगमात् व्यतिरेके प्रतिज्ञाभङ्गाच्चास्तीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—जिनसे समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और आदि (मूल) कारण होनेके कारण जिनका जन्म (उत्पत्ति) नहीं है, वे ही परमात्मा हैं—उन्हें ही ईश्वर कहकर उनका निरूपण किया गया है। अब जीव-स्वरूपका निर्णय आरम्भ किया जाता है। श्रुति जीवकी उत्पत्तिका निरास करती है यथा—*'यतः प्रसूतां जगतः प्रसूतिस्तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्यामिति'* इत्यादि अर्थात् तमः-शक्तिसम्पन्न जिन ब्रह्मसे जगत्-प्रसूति अर्थात् ब्रह्मशक्ति प्रकृतिने उत्पन्न होकर तोय द्वारा अर्थात् स्वयंसे उत्पन्न महत्, अहङ्कार, तन्मात्रसे पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वसमूह द्वारा ब्रह्माण्डमें (जगदाण्डमें) देह-विशिष्ट जीवोंकी सृष्टिकी—इस तैत्तिरीयक श्रुतिसे जीवोंकी उत्पत्तिसे अवगत होता है और भी अन्यान्य श्रुतियाँ हैं यथा हे सौम्य! सत्स्वरूप ब्रह्मसे ये समस्त जीव उत्पन्न हैं—*'सन्मूलाः सौम्येयाः सर्वाः प्रजाः'* (छा॰ ६/८/४)। अब संशय यह है कि जीवकी उत्पत्ति है? कि नहीं है? यहाँ पूर्वपक्षी कहते हैं कि जगत् चित् और जड़ उभयस्वरूप है। यह जगत् कार्यरूपमें ज्ञात होता है। व्यतिरेकमें अर्थात् इसे कार्यरूपमें स्वीकार न करनेपर; एकके विज्ञान द्वारा (विशिष्ट रूपसे) जान लेनेसे समस्त कार्यका विज्ञान हो जाता है (*'आत्मानं खल्वरे दृष्टे, श्रुते, मते, विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्'* बृ॰आ॰ ४/५/६) यह प्रतिज्ञा भङ्ग होती है। अतः जीवकी उत्पत्ति है—पूर्वपक्षके मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—चिदचिच्छक्तिमान् हरिः सर्वहेतुस्तत्रैव शास्त्रस्य समन्वयो दर्शितः। तत्राचिद्विषयकश्रुतिविरोधो निरस्तः। अथ चिद्विषयक श्रुतिविरोधनिराकरणेन तत्स्वरूपं निरूपणीयं यावत् पादपूर्त्तिः। तत्र चितो जीवाः। तत्र जीवजन्मविनाशनिरूपकजातेष्ट्यादिशास्त्राणां जीवनित्यत्वादिनिरूपकशास्त्राणां च मिथो विरोधोऽस्ति न वेति संशये जातो मृतश्च देवदत्त इति लोकव्यवहारपुष्टत्वात् पूर्वेषां परैरस्ति विरोध इति प्रत्युदाहरणादाक्षेपे पूर्वेषां देहजन्मादिनिमित्तत्वेन नेयार्थत्वात् परैः सहैकार्थ्यादविरोधः। अचिद्विषयकः श्रुतिविरोधो मास्तु चिद्विषयकस्तु सोऽस्त्विति प्रत्युदाहरणस्वरूपमूह्यम्। यत इति। तमःशक्तिकात् ब्रह्मण इत्यर्थः। जगतः प्रसूतिः प्रधानशक्तिः तोयेन महदादिभूपर्यन्तेन स्वोत्पन्नेन तत्त्वगणेनेत्यर्थः। भूम्यां जगदण्डे। व्याससर्जेति छान्दसम्। देहेन्द्रियवैशिष्ट्योनोत्पादितवतीत्यर्थः। सन्मूलाः ब्रह्मोत्पन्नाः। प्रजाः जीवाः। प्रतिज्ञा एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इससे पूर्व दिखाया गया था कि चेतन और जड़ शक्तिमान श्रीहरि ही समस्त विश्वप्रपञ्चके कारण हैं और उन श्रीहरिमें ही वेदान्त-शास्त्रका समन्वय है। इस समन्वयमें जड़ प्रधानादिविषयक जिस श्रुतिका विरोध है, उसका भी खण्डन हुआ है। अब चित्-विषयमें (जीव-विषयमें) श्रुतिके विरोधका निरास करके जीवके स्वरूपका निरूपण करना होगा—इस तृतीय पादकी समाप्ति पर्यन्त यही दिग्दर्शन है। चित् शब्दका अर्थ है 'जीवात्म-समुदाय'। इस जीव-विषयमें जातेष्टि-जातकर्म यज्ञ इत्यादि शास्त्र जीवके जन्म-मृत्युका निरूपण करते हैं तथा श्रुति एवं स्मृति-शास्त्र जीवके नित्यत्व-चेतनत्वादिका निरूपण करते हैं। अतएव इन दोनोंका परस्पर विरोध है? कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षीके मतमें 'देवदत्त उत्पन्न हुआ अथवा देवदत्त मर गया' इस प्रकार लोक व्यवहार द्वारा पुष्ट जातेष्टि इत्यादि शास्त्रके नित्यत्व बोधक श्रुतिका विरोध है ही, इस प्रत्युदाहरणसे लब्ध आक्षेपकी मीमांसामें विरोधका परिहार दिखाया गया है कि जातेष्टि इत्यादि शास्त्र एवं लौकिक व्यवहार-देहके जन्म-मृत्युको लेकर हैं—इस प्रकारके अर्थकी विवक्षामें श्रुति इत्यादिके साथ एकार्थताके कारण विरोध नहीं होगा। प्रत्युदाहरणका अर्थात् आक्षेपका स्वरूप इस प्रकारसे होता है—जड़-विषयक श्रुतिका विरोध न हो, चित्-विषयमें विरोध हो। *'यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिरिति' में* 'यतः' का अर्थ है (तमः) शक्तिसम्पन्न ब्रह्मसे, प्रसूता—उत्पन्ना, जगतः

प्रसूतिः—प्रधानशक्ति, तोयेन—अर्थात् महत्तत्त्वसे पृथ्वी पर्यन्त निजसे उत्पन्न तत्त्वों द्वारा, भूम्याम् का अर्थ है—जगत् रूप ब्रह्माण्डमें, *'व्यससर्ज'* पद वैदिक प्रयोग है, विससर्ज होना भी उचित है। इसका अर्थ है—देह-इन्द्रिय विशिष्ट रूपमें उत्पादन किया है। सन्मूलाः—ब्रह्मसे उत्पन्नः प्रजाः अर्थात् जीवसमूह, *'व्यतिरेके प्रतिज्ञाभङ्गात्'*—प्रतिज्ञा अर्थात् एक ब्रह्मरूप कारणको जाननेपर समस्त कार्यका ज्ञान हो जाता है यह प्रतिज्ञा अर्थात् इस उक्तिका भङ्ग होता है, इसलिए।

११—आत्माधिकरणम्
जीव-तत्त्वका निरूपण

सूत्र—नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः॥ १६॥

सूत्रार्थ—'न आत्मा'—जीवात्मा उत्पन्न नहीं होती, किस कारणसे? क्योंकि 'श्रुतेः'—श्रुति वही कहती है, यथा 'न जायते म्रियते वा विपश्चित् ... हन्यमाने शरीरे' (कठ० १/२/१८) कठोपनिषदकी इस उक्तिके कारण और 'नित्यत्वाच्च'—'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' (श्वेताश्वतर १/९)—दोनों आत्माएँ नित्य हैं—उनमें एक ईश्वर है और दूसरा अनीश्वर जीव है—इस उक्तिसे नित्यत्वकी अवगति (ज्ञान) के कारण और 'ताभ्यः' इस प्रकार ऐसी सभी श्रुतियों-स्मृतियोंसे भी जीवका नित्यत्व और चेतनत्व प्रतीत होता है॥ १६॥

सूत्रानुवाद—'न जायते म्रियते वा' इत्यादि श्रुतियों एवं स्मृतियोंसे आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन किया गया है। अतः जीवात्माकी उत्पत्ति मानी नहीं जा सकती॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—आत्मा जीवो नैवोत्पद्यते। कु *'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कु*
न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इति काठके। (१/२/१८) *'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ'* इति श्वेताश्वतरश्रुतौ (१/९) चाजत्वश्रवणात्। तथा ताभ्यः श्रुतिस्मृतिभ्यो नित्यत्वप्रतीतेश्च। चेतनत्वं चशब्दात्। तास्तु *'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'* (श्वे० ६/१३) *'अजो नित्यः शास्त्रवतोऽयं पुराण'* इत्याद्याः। एवं सति जातो यज्ञदत्तो मृतश्चेति योऽयं लौकिको व्यवहारो, यश्च जातकर्मादिविधिः, स तु देहाश्रित एव भवेत्। *'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाण'*

इति बृहदारण्यकात्। (४/३/८) *'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत'* इति छान्दोग्याच्च। (६/११/१३) कथं तर्हि श्रुतिप्रतिज्ञानुपरोधः। इत्थं जीवस्यापि कार्यत्वात् तदुत्पत्तिरिति। सूक्ष्मोभयशक्तिकं ब्रह्मैवावस्थान्तरापन्नं कार्यं नाम। इयांस्तु विशेषः। प्रधानादेरचेतनस्य भोग्यजातस्य स्वरूपेणान्यथाभावो जीवस्य तु भोक्तु सङ्कोचविकाशात्मनेति। उभयत्रापि कार्यहेत्वोरैक्यात् सा नोपरुध्यते। श्रुतयश्चाञ्जस्यं भुञ्जीरन्। तस्मात् जीवस्योत्पत्तिर्नेति॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आत्मा अर्थात् जीवात्मा उत्पन्न नहीं होती। किस कारणसे? उत्तर है कि श्रुति उन्हें नित्य कहती है—*'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कु*
शास्त्रवतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥' (कठ० १/२/१८) श्रुतिस्थ 'विपश्चित्' का अर्थ है—सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला जीवात्मा जन्म-ग्रहण नहीं करता अथवा मृत भी नहीं होता, यह आत्मा किसी स्थानसे आती भी नहीं है और पहले भी उसका जन्म नहीं था। आत्मा अज (जन्मसे रहित), नित्य (शास्त्रवत), निर्विकार, अति प्राचीन (पुरातन) है तथा शरीरके मारे जानेपर भी स्वयं नहीं मरती। यह श्रुति कठोपनिषदमें है और *'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौज्ञ'* (श्वे० १/९) में 'ज्ञ' परमात्मा सर्ववित् है और जीवात्मा अज्ञ है—ये दोनों ही जन्मरहित हैं। इनमें परमात्मा ईश्वर अर्थात् नियन्ता हैं और दूसरा जीव अनीश्वर है—इस श्वेताश्वतरश्रुतिमें भी जीवात्माके जन्मका अभाव (नित्यत्व) श्रुत होता है। इस प्रकार अन्यान्य श्रुति-स्मृतियोंसे भी आत्माके नित्यत्वके बारेमें सुना जाता है। इसलिए भी एवं सूत्रोक्त 'च' पदसे जीवका चेतनत्व भी ज्ञात होता है। श्रुति और स्मृति-वाक्य यही सब वर्णन करते हैं, यथा—*'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'* (श्वे० ६/१३) वह आत्मा नित्योंका नित्य और चेतनोंका चेतन है अर्थात् चैतन्यको सम्पादन करनेवाला है, और *'अजो नित्यः शास्त्रवतोऽयं पुराणः'* (कठ० २/१८) इत्यादि श्रुति भी है। इस प्रकारसे होनेपर अर्थात् आत्माके नित्य, अर्थात् जन्मरहित और विकार रहित होनेपर 'यज्ञदत्त नामक मनुष्यका जन्म हुआ है' अथवा 'यज्ञदत्त मर गया है', इस प्रकारसे लौकिक व्यवहार होता है और पुत्रके उत्पन्न होनेपर जातकर्म संस्कारादि विधियाँ उस जीवके देहका आश्रय करनेपर होती हैं। बृहदारण्यकश्रुतिमें कहा है—*'स वा अयं*

पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाण' (बृ॰आ॰ ४/३/८) यह जीव जब जन्म-ग्रहण करता है, उस समय वह शरीर ग्रहण करता है और जब शरीरका त्याग करता है, उस समय वह मर गया है, ऐसा माना जाता है। छान्दोग्यमें (१/११/१३) कहा गया है कि जीव द्वारा परित्यक्त होनेपर शरीर मृत होता है, किन्तु जीव नहीं मरता। यदि कहो, तब श्रुति-स्मृतिका भङ्ग किस प्रकार नहीं हुआ? *'येन विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति'* (बृ॰आ॰ २/४/१३) इसके द्वारा जीवको कार्य रूपमें जाना जाता है। अतएव जीवकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इसका उत्तर है कि सूक्ष्म उभय शक्तिसम्पन्न (तमः शक्तिसम्पन्न और अदृष्ट-विशिष्ट जीवशक्तिसम्पन्न) ब्रह्म ही अवस्थान्तर प्राप्त होनेपर कार्यस्वरूप (कार्य-ब्रह्म) कहे जाते हैं। प्रभेद (पार्थक्य) इतना ही है कि प्रधान इत्यादि अचेतन भोग्य-वस्तुसमूहके स्वरूपका अन्यथा-भाव (परिणति अर्थात् परिणाम) होता है, किन्तु जीवका वैसा नहीं होता। भोक्ता जीवका जन्म कहनेपर उसके (जीवके) ज्ञानका विकास और मरण कहनेपर उसका सङ्कोच रूपमें परिणाम होता है, प्रधानका परिणाम और जीवका परिणाम—दोनों ही क्षेत्रोंमें कार्य (जीव) और कारण (प्रधान) के ऐक्य कारण उक्त श्रुति प्रतिज्ञा (येन विज्ञानेन इति) भङ्ग नहीं होती। श्रुतियाँ भी मुख्यार्थता अर्थात् यथार्थ भावको प्राप्त होती है। अतएव जीवकी उत्पत्ति नहीं है॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—नात्मेति। विपश्चिदत्र जीवः विविधानि सुखदुःखानि पश्यत्यनुभवतीति व्युत्पत्तेः। ननु नित्यश्चेजीवस्तर्हि लोकव्यवहारो जातकर्मादिशास्त्रार्थश्च कथं सम्भवेत् तत्राहैवं सतीति। देहसम्बन्धो जीवस्य जन्म तत्त्यागस्तु मरणमित्यर्थः। जीवापेतमिति। अपेतं त्यक्तम्। इदं शरीरम्। सूक्ष्मोभयेति। तमःशक्तिर्जीवशक्ति-श्चादृष्टवतीति द्वयं तद्विशिष्टं ब्रह्मैव प्रधानाद्यवस्थान्तरापन्नं कार्यमुच्यत इत्यर्थः। अन्यथाभावः परिणामः। सा प्रतिज्ञा। आञ्जस्यं मुख्यार्थताम्। भृञ्जीरन् प्राप्नुयुः॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार—नाना श्रुतेरित्यादि सूत्रके भाष्यमें 'विपश्चित' शब्द यहाँ जीव अर्थमें प्रयुक्त है। इसकी व्युत्पत्ति है—यथा-वि-विविध-सुख-दुःख-समुदाय, *'पश्चित'*—पश्यति पद पृषोदरादिमें पतित है इसलिए अक्षर

परिवर्त्तनादि द्वारा सिद्ध है। इसका अर्थ है—अनुभव करो। इसमें आपत्ति है कि यदि जीव नित्य अर्थात् जन्म-मृत्युसे रहित है तो लौकिक व्यवहार और जातकर्मादि शास्त्र विधि कैसे सङ्गत होगी? इस विषयमें उत्तर कहते हैं—एवं सति इत्यादि—जीवका देह-सम्बन्ध (देह-धारण) जन्म, देहसे सम्बन्ध-त्याग (मरण) यही तात्पर्य है। *'जीवोपेतमिति'* जीव द्वारा अपेत अर्थात् परित्यक्त। *'वाव किलेदम्'* इति 'वाव' अर्थात् प्रसिद्ध है, इदं अर्थात् *'जीवगृहीत शरीर'*। *'सूक्ष्मोभयशक्तिकम् ब्रह्मैवेति'* अर्थात्—तमः-शक्ति और अदृष्ट-विशिष्ट जीवशक्ति—ये दोनों सूक्ष्मशक्ति-विशिष्ट ब्रह्म ही प्रधानादि अवस्थान्तर प्राप्त होनेपर उसीको कार्य-ब्रह्म कहा जाता है। *'स्वरूपेनान्यथा-भावः'*—अर्थात् स्वरूपतः अन्य प्रकार हो जाता है अर्थात् परिणाम होता है। *'सा नोपरूध्यते'* इति 'सा' से तात्पर्य है कि प्रतिज्ञा बाधित नहीं होती। *'श्रुतयश्च आञ्जस्यं भुञ्जीरन् इति'* में आजस्यम् अर्थात् मुख्यार्थता यथार्थता रूपको। *'भुञ्जीरन्'* अर्थात् प्राप्त होगी॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—भाष्यकार कहते हैं कि जिनसे सम्पूर्ण वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, वे ही मूलकारण हैं, उनका जन्म नहीं है अर्थात् वे नित्य हैं, उनका ही परमात्मा, परमेश्वर रूपमें निरूपण किया गया है। अब जीवके स्वरूपका निर्णय करनेके लिए उन्होंने अपनी टीकामें इस प्रकारका उपक्रम किया है। वे यहाँ सर्वप्रथम यही स्थापन कर रहे हैं कि ईश्वरके समान जीवकी भी उत्पत्ति नहीं है।

पूर्वपक्षी कहते हैं कि किसी-किसी श्रुतिमें जीवकी उत्पत्तिकी बात सुनी जाती है; इसमें संशय यह है कि जीवकी उत्पत्ति है कि नहीं? पूर्वपक्षकी जो यह युक्ति है कि चित् और जड़ात्मक जगत्का कार्यत्व अवगत हो जाता है और व्यतिरेकमें अर्थात् जगत्का कार्यत्व स्वीकार न करनेपर प्रतिज्ञा भङ्ग होती है अर्थात् 'एक (ब्रह्मस्वरूप कारण) विज्ञानसे समस्त कार्यका ज्ञान होता है' इस प्रकार प्रतिज्ञाकी हानि घटती है, इसलिए जीवकी उत्पत्ति है, यह कहा जायेगा, तो श्रीमन् वेदव्यास पूर्वपक्षवादीके इस उक्तिके प्रतिवादमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि जीवात्माके नित्य और चेतन होनेके कारण उसकी उत्पत्तिको स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रुति एवं स्मृति

सभी जीवात्माके नित्यत्वका वर्णन करती है इस विषयमें श्रुति एवं स्मृतिके प्रमाण भाष्यमें उद्धृत किये गये हैं।

पूर्वपक्ष कहता है कि यज्ञदत्त, देवदत्त आदि नाम भी जीवात्माके होते हैं, शरीरके नहीं, क्योंकि शरीरको नामधारी माननेसे यज्ञदत्तादिके उद्देश्यसे श्राद्धादि कर्म उपपन्न नहीं हो सकेंगे। श्राद्धादि कर्म परलोकमें विद्यमान जीवात्माके उद्देश्यसे किये जाते हैं, शरीर तो यहीं भस्मीभूत हो जाता है, उसके उद्देश्यसे श्राद्ध क्यों किये जायेंगे? अतः *'जातो देवदत्तः, मृतो देवदत्तः'*—इत्यादि व्यवहार गौण नहीं, मुख्य हैं। शास्त्रविहित कर्मों एवं उनके फलोंका सम्बन्ध जीवात्माके साथ ही सम्भव है, शरीरके साथ नहीं।

उनकी आपत्तिको दूर करते हुए कहते हैं—*'यज्ञदत्तो जातः, यज्ञदत्तो मृतः, सस्यमुत्पन्नम्, सस्यं मृतम्'* इत्यादि व्यवहार चर (जङ्गम) और अचर (स्थावर) शरीरोंके लिए ही किये जाते हैं अतः उक्त व्यवहार शरीरमें ही मुख्य और शरीरस्थ आत्मामें औपचारिक (गौण) हैं, क्योंकि उक्त व्यवहारोंका अन्वय और व्यतिरेक शरीरके साथ ही घटता है। आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता है। अतः जात कर्म (जन्मके समय होनेवाले वैश्वानरेष्टि आदि) एवं मृत-कर्म (श्राद्धादि) का आत्माके साथ मुख्य (सीधा) सम्बन्ध न होकर भाक्त (गौण) ही होता है। गौणतासे तात्पर्य है कि इनका व्यवहार उत्पाद-विनाश शरीर संयुक्त आत्मामें होता है। याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें कहा गया है कि *'एवमेनः शमं याति' 'बीजगर्भ समुद्भवम्'* जात-कर्मादि संस्कारोंके द्वारा जिन पापोंका नाश होता है, वे पाप, बीजाश्रयीभूत गर्भसे सम्बन्धित होते हैं, आत्माके जन्मसे उत्पन्न नहीं होते।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/३/३८)

अर्थात् उक्त ब्रह्मवस्तुका जन्म, वृद्धि, ह्रास अथवा विनाश नहीं है क्योंकि वे प्राणके समान अव्यभिचारी रूपसे व्यभिचारी अर्थात् आगमपायी धर्म-विशिष्ट बाल्य, यौवनादि भिन्न-भिन्न दशाग्रस्त शरीरमें तत्-तत् कालके साक्षीरूपमें वर्त्तमान रहते हैं। वे इन्द्रियोंके द्वारा विविध रूपोंमें कल्पित होनेपर भी वस्तुतः सर्वदा समस्त देहोंमें अनुवर्त्तमान, सत्य एवं ज्ञानात्मक वस्तु हैं।

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित् परः।
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन् गुणान्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/२/२२)

अर्थात् आत्माकी मृत्यु नहीं है, वह नित्य है, अपक्षयसे रहित, निर्मल, सर्वगत, सर्वज्ञ एवं देहादिसे भिन्न है। आत्मा अपनी अविद्या द्वारा सूक्ष्म-शरीरमें सुख एवं दुःख इत्यादिका भोग करती है, इसलिए आत्माको मृत, कृश इत्यादि मानकर शोक करना उचित नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शास्त्रवतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(श्रीगीता २/२०)

अर्थात् हे पार्थ! यह जीवात्मा नित्य है, वर्त्तमान, भूत और भविष्यमें भी न तो इसका जन्म है और न ही मृत्यु। पूर्वकालमें भी यह जीवात्मा वर्त्तमान था। यह सर्वकालमें विद्यमान है अर्थात् तीनों ही कालमें इसका विनाश नहीं है। यदि प्रश्न हो कि दीर्घकालसे स्थायी रहनेके कारण जीवात्मा जराग्रस्त (बुढ़ा) हो सकता है तो श्रीभगवान् कहते हैं—ऐसा नहीं है क्योंकि यह पुराण है—प्राचीन होनेपर भी नवीन रहता है, जन्मादि छह विकार (जन्म, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश) उसके नहीं हैं। यदि पूर्वपक्ष हो कि शरीरके मरनेपर औपचारिक रूपसे भी यह क्यों नहीं मरेगा, तो इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कहते हैं—नहीं, शरीरके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। बृहदारण्यकमें भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है—

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयः॥

(बृ॰आ॰ ४/४/२५)

अर्थात् यह आत्मा निश्चित रूपसे महान, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत और अभय है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

जीवतत्त्व—शक्ति, कृष्णतत्त्व—शक्तिमान्।
गीता-विष्णुपुराणादि ताहाते प्रमाण॥

(चै॰च॰आ॰ ७/११७)

जीवतत्त्व शक्ति है, कृष्णतत्त्व शक्तिमान हैं। परमाराध्यतम श्रील भक्तिविनोद ठाकु
प्रकारकी प्रवृत्तियाँ हैं—असीम क्रियाप्रवृत्ति और अणु क्रियाप्रवृत्ति। असीम क्रियाप्रवृत्तिसे ईश्वरस्वरूप और चित्-जगत्-रूप वैकु
प्रकाशन है, इस प्रवृत्तिको चिच्छक्ति कहा जाता है और अणु क्रियाप्रवृत्तिसे अणुचैतन्यरूप अनन्त जीवोंका प्रकाशन होता है, जिसे जीवशक्ति कहते हैं॥ १६॥

अवतरणिका भाष्य—अथास्य स्वरूपं विचारयति। *'यो विज्ञाने तिष्ठन्'* (बृ॰आ॰ ३/७/२२) इति *'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्'* इति च श्रूयते। तत्र ज्ञानमात्रस्वरूपो जीवः उत ज्ञानज्ञातृस्वरूप इति संशये ज्ञानमात्रस्वरूपः सः, यो विज्ञाने तिष्ठन्नित्यत्र तथैव प्रत्ययात्। ज्ञानं तु बुद्धेरेव धर्मस्तया सम्बन्धे तत्राध्यस्यते सुखमहमस्वाप्समिति। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इस जीवके स्वरूपका विचार करते हैं। श्रुति है—*'यो विज्ञाने तिष्ठन्'* (बृ॰आ॰ ३/७/२२) अर्थात् जो ज्ञानस्वरूपमें रहनेवाला किसीके द्वारा विज्ञात नहीं होता—इस श्रुतिसे जीवकी ज्ञानरूपता बोधित होती है और *'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्'* (श्रीमद्भा॰ स्वामी-टीका ६/१६/५५) अर्थात् मैं बहुत सुखपूर्वक सोया, कु
अर्थात् ज्ञानका आश्रय प्रतीत होता है। अतः संशय यह है कि जीव क्या केवल ज्ञानस्वरूप है? अथवा ज्ञान एवं ज्ञाता उभयस्वरूप है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि जीव केवल ज्ञानस्वरूप है क्योंकि *'यो विज्ञान*

तिष्ठन्' इस श्रुतिमें जीव ज्ञानाकार अर्थात् ज्ञानस्वरूप प्रतीत होता है, तब जो *'सुखमहमस्वाप्सन्'* इत्यादि वाक्यमें जीव ज्ञातास्वरूपमें बोधित होता है, तब इस वाक्यकी उपपत्ति क्या? इस पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि ज्ञान बुद्धिका धर्म है, इस बुद्धिके साथ जब जीवका अभेद ज्ञान रूप अध्यास (किसी वस्तुको अन्य वस्तु समझना) होता है तब 'मैं सुखपूर्वक सोया'—इस प्रकारकी प्रतीति होती है। अतएव यह ज्ञातृत्व-स्वरूपमें ज्ञान (बोध) भ्रम है—इस पूर्वपक्षके इस मतपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथास्येति। पूर्वत्र जीव-विषयकयोर्जातेष्टादि-नित्यत्वादिश्रुत्योर्विषयभेदादस्त्वविरोधः। इह तु तद्विषयकयोर्निर्गुणसगुणश्रुत्योर्मास्त्वविरोध एक विषयत्वादिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याक्षेपः। *'यो विज्ञाने'* इत्यत्र ज्ञानमात्रो जीवः प्रतीतः सुखमहमस्वाप्समित्यत्र तु ज्ञानीति द्वयोर्वाक्ययोर्विरोधः प्रतिभाति। रविविम्बन्यायेन ज्ञानमात्रश्रुतेरपि ज्ञातृतया व्याख्यानादविरोधो बोध्यः। तया बुद्ध्या। तत्र जीवे।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व अधिकरणमें जीव विषयमें जातेष्टि इत्यादि कार्यत्वबोधिका श्रुति और *'न जायते म्रियते वा'* इत्यादि नित्यत्वबोधिका श्रुतिका विरोध विषय-भेदसे है अर्थात् कार्यत्वश्रुति देहको आश्रय करके है एवं नित्यत्व श्रुति जीवके स्वरूपका आश्रय करके है, इस प्रकार परिहृत (खण्डन) होनेके कारण वह विरोध न हो, न सही, किन्तु इस अधिकरणमें जीव-विषयमें निर्गुण एवं सगुण दोनों श्रुतियोंमें विरोधाभाव (विरोधका अभाव) न रहे, क्योंकि एक ही जीवका आश्रय करके ये दोनों श्रुति कही गयी है—यह प्रत्युदाहरण-सङ्गतिके अनुसार आक्षेप हुआ। *'यो विज्ञाने तिष्ठन्'*—इस श्रुतिमें जीवका स्वरूप ज्ञानमात्र प्रतीत होता है और *'सुखमहमस्वापमस्'* इत्यादि वाक्यमें जीवका बोध ज्ञाता स्वरूपमें होता है। अतः इन दोनों वाक्योंमें बहुत विरोध प्रकाश पा रहा है। *'रविबिम्बन्यायानुसार'* ज्ञानमात्र-स्वरूपता-बोधक श्रुतिकी भी ज्ञातृ (ज्ञाता) स्वरूपमें व्याख्याके आधारपर विरोधका परिहार जानना चाहिये। *'तया सम्बन्धे तत्राध्यस्थते'* में 'तया' का अर्थ है—उस बुद्धिके सहित अभेद-सम्बन्ध युक्त तथा 'तत्र' का अर्थ है—उस जीवमें धर्मका अध्यास किया है—

१२—ज्ञाधिकरणम्
जीवका स्वरूप-विचार

सूत्र—ज्ञोऽत एव॥ १७॥

सूत्रार्थ—'ज्ञः' आत्मा ज्ञाता ही है, क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप होनेपर भी ज्ञातास्वरूप ही है, प्रमाण क्या है? 'अतएव' श्रुतिबल ही प्रमाण है यथा षट्प्रश्नी श्रुति है—'एष ही द्रष्टा, स्प्रष्टा' इत्यादि, विज्ञानात्मा पुरुष यह जीव ही दर्शन॥ १७॥

सूत्रानुवाद—यह आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञातृत्व धर्मवान है। अत एव—पूर्वोल्लिखित श्रुतियोंके द्वारा वह आत्मा ज्ञातृत्व धर्मवान सिद्ध होती है॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—ज्ञ एवात्मा, ज्ञानरूपत्वे सति ज्ञातृस्वरूप एव। *'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष'* इति षट्प्रश्नीश्रुतेरेवेत्यर्थः। (४/६) श्रुतिबलादेव तथा स्वीकृतं, न तु युक्तिबलात्। *'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्'* (ब्र॰सू॰ २/१/२७) इति हि नः स्थितिः। *'ज्ञाता ज्ञानस्वरूपोऽयम्'* इति स्मृतेश्च। न चात्मा ज्ञानमात्रस्वरूपः सुखमहमिति सुप्तोत्थितपरामर्शानुपपत्तेः ज्ञातृत्वश्रुतिविरोधाच्च। तस्मात् ज्ञानस्वरूपो ज्ञातेति॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आत्मा ज्ञातृस्वरूप है। ज्ञानरूपत्व रहनेपर भी ज्ञातृस्वरूप ही होगी। इसमें प्रमाण दिखाते हैं कि—अतएव—षट्प्रश्नी-श्रुतिमें आत्माको ज्ञाता ही कहा गया है—*'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष'* अर्थात् यह जीव दर्शन करता है, स्पर्श करता है, श्रवण करता है, रसास्वादन करता है, आघ्राण करता है, मनन अर्थात् सङ्कल्प करता है, बोध अर्थात् निश्चय करता है, प्रयत्न करता है, इस प्रकार यही विज्ञानस्वरूप आत्मा है। श्रुतिके प्रभावसे ही जीवको उभयस्वरूप कहा गया है, युक्ति-बलपर नहीं। श्रुति शब्दमूलक है और यही शब्दमूलत्व हमारा सिद्धान्त है। स्मृतिमें भी वही कहती है कि जीव ज्ञानस्वरूप और ज्ञातृस्वरूप है। आत्मा मात्र ज्ञानस्वरूप है—यह कहनेसे चलता नहीं है, क्योंकि यह स्वीकार करनेपर 'मैं बहुत सुखसे सोया था' निद्रासे उठे व्यक्तिकी यह जो स्मृतिकी उपलब्धि है—उसकी असङ्गति होती

है और *'एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा'* इत्यादि ज्ञातृत्व-बोधिका श्रुतिका भी विरोध होता है। अतएव ज्ञानस्वरूप होकर भी आत्मा (जीव) ज्ञातास्वरूप है॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—ज्ञ इति। एष हीति। एष जीवः। न चात्मेति। स्वापादुत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति विमर्शासिद्धेः मोक्षे मुक्तः सुखी अहमस्मीति पुमर्थ-साक्षात्कारासिद्धेश्चेत्यर्थः॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार—'एष हि' इत्यादि श्रुतिमें 'एषः' का अर्थ है यह जीव। 'न चात्मा ज्ञानमात्र स्वरूप इत्यादि' निद्रासे उठे हुए पुरुषकी 'मैं बहुत सुखपूर्वक सोया' इस स्मृतिकी अनुपपत्ति होती है और मुक्ति होनेपर जीव मनमें सोचता है 'मैं मुक्त हूँ, मैं सुखी हूँ'। इस प्रकार पुरुषार्थ साक्षात्कार की भी असिद्धि होती है, अतएव ज्ञातृस्वरूप ही कहा जाता है॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्व अधिकरणमें जीवके विषयमें *'स वा अयं पुरुषो जायमानः'* (बृ॰आ॰ ४/३/८) इत्यादि श्रुति देहका आश्रय निरूपण करनेके कारण कार्यत्वकी बोधिका है और *'न जायते म्रियते वा'* (कठ॰ १/२/१८) श्रुति नित्यत्व स्वरूपको आश्रय करनेके कारण नित्यत्वकी बोधिका है—इस प्रकार परिहार किया गया था। किन्तु इस अधिकरणमें जीव विषयमें निर्गुण एवं सगुण दोनों श्रुतियोंमें विरोधका अभाव नहीं है, यथा *'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरम्'* (बृ॰आ॰ ३/७/२२) और युक्ति भी है—*'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्।'* यहाँ पूर्वपक्षी संशय करते हैं कि जीव ज्ञानमात्रस्वरूप है अथवा ज्ञान और ज्ञाता उभयस्वरूप। पूर्वपक्षी कहते हैं कि जीवको ज्ञानस्वरूप ही कहना होगा, तब जो 'मैं सुखपूर्वक सोया' इत्यादि वाक्यमें जीवके ज्ञातृस्वरूपका ही वर्णन किया है, उनकी उपपत्ति यह है कि ज्ञान बुद्धिका धर्म है—बुद्धिके साथ जीवका अध्यास होनेके कारण इस प्रकार प्रतीति घटती है। कि मैं सुखपूर्वक सोया इत्यादि। इस प्रकारके पूर्वपक्षी उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रुति प्रमाणके बलपर आत्मा ज्ञानस्वरूप होनेपर भी ज्ञातास्वरूप है। रविबिम्बन्यायानुसार ज्ञानमात्र-स्वरूपता

बोधक श्रुतिका ज्ञातृस्वरूप व्याख्याके आधारपर विरोधका परिहार जानना चाहिये।

छान्दोग्यमें भी पाया जाता है—

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा।

(छा० ८/१२/५)

और जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ, वह आत्मा है, यदि आत्माको ज्ञानस्वरूप ही माना जाय तो 'मैं मुक्त हूँ', 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार पुरुषार्थ साक्षात्कारकी भी असिद्धि होती है, अतएव आत्माको उभय स्वरूप कहना होगा।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(श्रीगीता ६/९९)

अर्थात् सर्वत्र समदर्शी योगयुक्त पुरुष सभी भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सभी भूतोंको अवस्थित देखते हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद्देहादात्मेक्षिता स्वदृक्।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः॥

(श्रीमद्भा० ११/१०/८)

अर्थात् जिस प्रकार जलाने और प्रकाशित करनेवाली आग जलनेवाली लकड़ीसे पृथक् है, उसी प्रकार आत्मा स्वप्रकाश, नित्य और चेतन है, और वह पाञ्चभौतिक स्थूल-शरीर और मन, बुद्धि, अहङ्कार आदिसे बने सूक्ष्म-शरीरसे पृथक् है, अर्थात् देहसे आत्मा भिन्न है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्॥

(श्रीमद्भा० ३/२८/४२)

अर्थात् जगत्में जिस प्रकार समस्त भूत-समुदायको महाभूतोंके अनुवर्ती रूपमें देखा जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगी भी समस्त प्राणियोंमें परमात्माको और परमात्माको समस्त प्राणियोंमें अनन्यभावसे देखे॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—अथास्य परिमाणं चिन्तयति। मुण्डके *'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश'* (मु॰ ३/१/९) इति पठ्यते। इह संशयः—जीवो विभुरणुर्वेति। तत्र विभुरेव जीवः। *'तं प्रकृत्य महान्'* इति (बृ॰आ॰ ४/४/२२) श्रुतेस्तथैव वादिभिरभ्युपगमाच्च। अणुत्वं तु बुद्धिगतं तत्रोपचर्यते। एवं प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब जीवके परिमाण सम्बन्धमें आलोचना करते हैं मुण्डकोपनिषदमें कहा गया है—*'एषो अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश'* (मु॰ ३/१/९) अर्थात् यह जीवात्मा अणु परिमाण है, इसे विशुद्ध ज्ञानकी सहायतासे जानना—इसमें (इस जीव शरीरमें) पाँच प्रकारकी प्राणवायुने प्रवेश किया है। इस श्रुति-वाक्यमें जो विषय कहा गया है—इसमें संशय यह है कि जीव अणु-परिमाण है? अथवा विभु-परममहत् (महान्) परिमाण? इस विषयमें कोई-कोई सिद्धान्त करते हैं कि जीव विभु है क्योंकि जीवका उपक्रम करके श्रुति *'तं प्रकृत्य महान्'* (वह महान्) इति (बृ॰आ॰ ४/४/२२) यह कहती है—गौतमादि वादीगण भी यही मत स्वीकार करते हैं। तब जो *'अणोरणीयान्'* इत्यादि श्रुतिमें जीवको अणु कहा गया है, वह बुद्धिका धर्म है, यह अणु-परिमाण आत्मा (जीव) में आरोपित अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग है उपचरित्रमात्र है। इस मतके ऊपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ननु निर्गुणसगुणवाक्ययोः प्राग्दर्शितोऽविरोधः स्यान्निर्गुणवाक्यस्यापि सगुणपरतया नीतत्वात्। इह तु विभ्वणुवाक्ययोर्विरोधो दुष्परिहरः तयोर्जीवमुद्दिश्य पाठादिति प्राग्वदाक्षेपे विभुवाक्यं परमात्मानमधिकृत्य पठितमिति निर्णीतत्वादविरोध इति हृदि कृत्वाह अथास्येति। वादिभिर्गौतमादिभिः। तत्र विभौ जीवे।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आशङ्का है कि इससे—पूर्व जीवात्माके निर्गुणत्व और सगुणत्व बोधक दोनों वाक्योंमें पूर्वोक्त

युक्तिके अनुसार विरोधका परिहार हो सकता था, क्योंकि निर्गुण वाक्यको भी सगुण तात्पर्यमें लिया गया है किन्तु जीव विषयमें अणु–परिमाण और विभु–परिमाण सम्बन्धमें विरोध परिहरणीय नहीं है (परिहारके अयोग्य है) क्योंकि अणु–परिमाण और विभु–परिमाणका उल्लेख जीवको उद्देश्य करके ही है—इस प्रकार पहलेके समान ही आक्षेप जानना चाहिये। इसकी मीमांसामें कहना होगा कि विभुत्व बोधक वाक्य परमेश्वरको विषय करके पठित है। इस प्रकारसे निर्णीत होनेके कारण विरोध परिहृत (खण्डित) होगा; यह विचार करके *'अथास्य परिमाणं चिन्तयति'* इत्यादि आरम्भ किया गया है। *'तदैव वादिभिरभ्युपगमाश्च इति'* में 'वादिभिः' का अर्थ है—गौतमादि दार्शनिकोंके द्वारा। *'तत्रोपचर्यते'* इतिमें तत्रका अर्थ है—जीवमें विभुपरिमाण उपचरित रूपमें है।

१३—उत्क्रान्त्यधिकरणम्

जीवका परिमाण विचार

सूत्र—उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्॥ १८॥

सूत्रार्थ—जीव अणुपरिमाण है क्योंकि उसका देहसे 'उत्क्रान्ति'—निष्क्रमण, 'गति'—दूसरे लोकोंमें गमन, 'आगति'—कर्मफलके भोग निमित्त पुनः इस लोकमें आगमन सुना जाता है। जीवको विभु अर्थात् सर्वव्यापक माननेपर उसके लिए यह सब सम्भव नहीं है॥ १८॥

सूत्रानुवाद—जीवात्मा अणु–परिमाण वाला ही है, क्योंकि मुक्तिकी आकाङ्क्षा रखनेवाला जीव इस शरीरसे उत्क्रमण करता है, चन्द्रलोक आदिमें जाता है और फिर कर्मफल भोगके निमित्त इस लोकमें आता है—इत्यादि श्रुति कथित उत्क्रान्ति (बहिर्गमन) गति तथा आगति विभु–परिमाणमें सम्भव नहीं है॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—अत्राणुरिति पदमूह्यम् नाणुरिति पूर्वपक्षत्वात्। पञ्चम्यर्थे षष्ठी। परमाणुरेवायं जीवो न विभुः। कु *'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते। तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्द्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः'* (बृ॰आ॰ ४/४/२) इति। *'अनन्दा नाम ते लोका*

अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोबुधो जना' (बृ॰आ॰ ४/४/ ११) इति। *'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किञ्चेह करोत्ययम्। तस्मात् लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे'* (बृ॰आ॰ ४/४/६) इति च बृहदारण्यकश्रुत्या जीवस्योत्क्रान्त्यादयो निगदिताः। न च सर्वगतस्य तस्य ताः सम्भवेयुः। *'अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा'* (श्रीमद्भ॰ १०/८७/६०) इत्यादिका हि स्मृतिः। परेशस्य तु विभोरपि गत्यादिकमचिन्त्यत्वात् न विरुद्धम्॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सूत्रमें 'अणु' पदको ग्रहण करना होगा, क्योंकि बादमें पूर्वपक्षी ने 'नाणुः' 'जीव अणु-परिमाण नहीं है' कहकर प्रतिवाद किया है। यहाँ जीवको अणु नहीं कहनेसे यह आपत्ति सङ्गत नहीं होती। सूत्रस्थ *'उत्क्रान्ति गत्यागत्यादीनाम्'* पदमें षष्ठी विभक्ति पञ्चमी अर्थमें है—यह आर्ष प्रयोग है। अतएव सूत्रार्थ यह है कि जीव अणु-परिमाण ही है, विभु नहीं है। किस कारणसे? तो इसका उत्तर है—उत्क्रान्ति, गति और आगति क्रियाओंके कारण। उत्क्रान्ति विषयमें श्रुति कहती है—*'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते। तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्द्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।'* (बृ॰आ॰ ४/४/२) अर्थात् प्रसिद्ध है कि मृत्युके समय उस जीवके हृदयका अग्रभाग (बाहर जानेका मार्ग) विकसित होता है (प्रकाशित होने लगता है), उसी विकसित पथके द्वारा यह जीव नेत्र पथसे, मूर्द्धा (मस्तक) से अथवा ऐसे ही शरीरके अन्यान्य प्रदेशसे बाहर निकल आता है। लोक-गमनके सम्बन्धमें भी श्रुति कहती है—*'अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधो जनाः।'* (बृ॰आ॰ ४/४/११) ये सभी स्थान आनन्दहीन, घोर अन्धकार (तमोगुण) से आच्छन्न हैं, जो तत्त्वज्ञानसे शून्य मायाबद्ध हैं, ऐसे विषय-भोगमें मत्त जीव मृत्युके बाद वहीं गमन करते हैं। इस लोकमें आगमनके सम्बन्धमें भी बृहदारण्यकश्रुति है—*'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्मात् लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे।'* (बृ॰आ॰ ४/४/६) अर्थात् इस लोकमें जीव-दशामें जीव जो कु

बाद वहाँसे इस मर्त्यलोकमें कर्म करनेके लिए पुनः आते हैं। इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुतियोंमें जीवके उत्क्रमण, परलोकमें गमन

और वहाँसे पुनरागमनकी बातें कही गयी हैं, किन्तु जीव यदि विभु परिमाण हो गया, तो उस सर्वव्यापकके लिए ये सब क्रियाएँ सम्भव नहीं हो सकतीं। इस विषयमें श्रीमद्भागवत (१०/८७/६०) की उक्ति प्रमाण-रूपमें दिग्दर्शित कर रहे हैं—हे ध्रुव! हे नित्यस्वरूप स्वभाव! हे भगवन्! जीव यदि अनन्त अर्थात् विश्वव्यापक और नित्य है, तो आपमें और जीवमें कोई भी प्रभेद नहीं रहेगा और आप उसके शास्ता अर्थात् नियन्ता हैं और जीव शास्य और नियम्य है, यह शास्त्रीय नियम रह नहीं सकेगा, अनियम हो जायेगा। जीवके अणु-परिमाण होनेपर इस नियमका फिर भङ्ग नहीं होता। परमेश्वर विभु होनेपर भी अपनी अचिन्त्यशक्तिके कारण गमनागमनादि कर सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—उत्क्रान्तीति। अनन्दाः सुखशून्याः। अविद्वांसस्तत्त्वज्ञानशून्याः। बुधो विषयभोगपण्डिताः। तस्य जीवस्य। ताः उत्क्रान्त्यादयः। अपरिमिता इति श्रीभागवते। हे ध्रुव नित्यस्वरूपस्वभाव भगवन् अपरिमिता अनन्ता ध्रुवा नित्याश्च तनुभृतो जीवा यदि सर्वगता विभवो भवेयुस्तर्हि भवान् शान्ता जीवाः शास्या इति यः शास्त्रीयो नियमः स न स्यात् तेषां तव च मिथः साम्यात्। इतरथा तेषामणुत्वे सति सोऽनियमो न किन्तु नियम एव तिष्ठेदित्यर्थः। अत्र विभुत्वं जीवानां प्रत्याख्यातम्। परेशस्येति। अचिन्त्यशक्त्या तत् सिध्यतीति॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार— *'उत्क्रान्ति गता'* इत्यादि सूत्रके भाष्यमें *'अनन्दा नाम ते लोकाः'* इत्यादिमें 'अनन्दाः' का अर्थ है आनन्दरहित, सुखरहित, अविद्वासः का अर्थ है तत्त्वज्ञानरहित, 'बुधः' का अर्थ है 'विषय भोगमें पण्डित'—मत्त। *'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य'* इत्यादि में 'तस्य' का अर्थ है जीवका। *'ताः सम्भवेयुः'* इतिमें 'ताः' का अर्थ है वे उत्क्रान्ति, गति, आगति क्रियाएँ *'अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतः'* इत्यादि यह श्लोक श्रीमद्भागवत (१०/८७/३०) का हैं ध्रुव नेतरथा' इति अर्थात् हे ध्रुव! हे नित्यस्वरूप नित्यस्वभाव भगवन्! 'अपरिमिताः'—परिमाणशून्य अर्थात् अनन्त, ध्रुव एवं नित्य। 'तनुभृतः' अर्थात् समस्त जीव। यदि सर्वगत अर्थात् विभु परिमाण है तो 'न शास्यता'—शास्य-शासक भाव रहता नहीं अर्थात् आप जीवके शास्ता हैं और जीव शास्य है—इस शास्त्रीय नियमका भङ्ग होता है क्योंकि इसमें आपका (भगवान्का)

और जीवका परस्पर साम्य है। 'इतरथा' अर्थात् किन्तु जीवका अणु-परिमाण कहनेपर यह अनियम नहीं होता, बल्कि नियम बना रहता है। इस श्लोकमें जीवके विभुत्वका खण्डन हुआ है। 'परेशस्य तु' इत्यादि परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्तिसे सबकु

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब जीवके परिमाणके विषयमें विचार किया जा रहा है। मुण्डकश्रुतिमें कहा है—*'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'* (मु॰ ३/१/९) यह जीवात्मा अणु-परिमाण है, इसे विशुद्ध ज्ञानकी सहायतासे जानना। इसमें (जीव-शरीरमें) पाँच प्रकारकी प्राणवायु प्रविष्ट है और बृहदारण्यकमें पाया जाता है—*'स एष महानज आत्मा'* (बृ॰आ॰ ४/४/ २४-२५) (वह यह महान् अजन्मा आत्मा)—यहाँ कोई-कोई संशय करते हैं कि जीवात्मा अणु-परिमाण है अथवा विभु? पूर्वपक्षी कहते हैं कि जीवको विभु ही कहा जायेगा, क्योंकि गौतमादि दार्शनिकोंने भी यही स्वीकार किया है। तब यदि कोई (सिद्धान्ती) कहे कि कठोपनिषदने उसे (जीवको) *'अणोरणीयान्'* (कठ॰ १/२/२०) कहा है, तो इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि बुद्धिगत अणुत्व जीवमें उपचार रूपसे है अर्थात् बुद्धि आदि उपाधिके सम्बन्धानुसार जीवमें अणुत्व उपचरित है। (उपचरित अर्थात् लक्ष्यार्थमें प्रयोग देखकर भी सिद्धान्ती उसे वाच्चार्थ कहते हैं।)

सूत्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि उत्क्रान्ति, गति और आगति दर्शनमें जीवका अणुत्व ही स्वीकार होगा। विस्तृत आलोचना भाष्य और टीका देखनी चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषदमें पाया जाता है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥
(श्वे॰ ५/९)

एक केशके अग्रभागको सौ भागोंमें विभक्त करके उस अंशको पुनः सौ भागोंमें विभक्त करनेपर उसके एक भागका जितना परिमाण है, उतना ही जीवका परिमाण है। किन्तु स्वरूपतः वह जीव अपने धर्ममें आनन्तत्यका अधिकारी है अर्थात् धर्मतः वह अनन्तत्वको प्राप्त हो सकता है।

बृहदारण्यक (२/१/२०) में कहा है—*'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फु व्युच्चरन्ति।'* अर्थात् जैसे अग्निसे अनेक क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती हैं।

श्रीमद्भागवतमें श्रुति-स्तवमें भी पाया जाता है—

अपरिमितो ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/३०)

अर्थात् श्रुतियोंने कहा—हे नित्यस्वरूप! शरीरधारी जीवोंकी संख्याका अन्त नहीं है। जीव 'अनन्त' है—इस प्रकार शब्दको प्राप्त होकर यदि कोई कहे कि 'जीव ब्रह्मके समान व्यापक अर्थात् सर्वगत है'—तो इस प्रकारका सिद्धान्त भ्रमात्मक है, क्योंकि शास्त्रमें यह निर्दिष्ट हुआ है कि 'जीव' ईशितव्य अर्थात् शास्य है और आप 'ईश्वर' अर्थात् उसके शासक हैं। पूर्वोक्त सिद्धान्तमें अर्थात् (ब्रह्मके समान ही जीव व्यापक है) जीव सेवक है और आप सेव्य हैं—यह नियम स्थिर नहीं रहता है। अतः जीव व्यापक नहीं, व्याप्य ही है अर्थात्—अणु-परिमाण है। 'सर्वग' इत्यादि शास्त्र-वाक्यका तात्पर्य यह है कि जीव स्व-स्वरूपमें व्यापक है और आप सर्वव्यापक हैं। आप अग्नि अथवा सूर्य-सदृश हैं, जीव स्फु
वस्तु है। अतएव चिन्मय स्वरूप आपसे उद्भूत रूपमें अर्थात् आपके विभिन्नांश-रूपमें जीव आपमें नित्यकाल ही अवस्थित है। इस कारण उस जीवको स्व-तत्त्वसे बाहर न करनेसे आपका नियन्तृत्व सिद्ध होता है। जो जीवको समस्त विषयोंमें समान ज्ञान करते हैं, उनका मत मतवादोंसे दूषित है।

और भी,

'सूक्ष्मााामप्यहं जीवो'

(श्रीमद्भा॰ ११/१६/११)

अर्थात् 'सूक्ष्म वस्तुओंमें मैं जीव हूँ।'

श्रीमद्भवतद्गीतामें—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥
(श्रीगीता १३/३४)

अर्थात् हे भारत! जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार परमात्मा समग्र देहको प्रकाशित करते हैं, अर्थात् उसे चेतन-धर्मसे युक्त करते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें देखा जाता है—

तत्त्व येन ईश्वरेर ज्वलित ज्वलन।
जीवेर स्वरूप यैछे स्फु
(चै॰च॰आ॰ ७/११६)

अर्थात् ईश्वर-तत्त्व ज्वलित ज्वलनस्वरूप है और जीवोंका स्वरूप स्फु

इस प्रकार श्रुतियोंके आधारपर जीवका अणु-परिमाण सिद्ध हुआ और *'स वा एष महानज आत्मा'* में प्रतिपादित महत्त्व और श्रुति-स्तवादिमें प्रतिपादित अनन्तत्वका सीधा सम्बन्ध ब्रह्ममें ही निश्चित हुआ॥ १८॥

अवतरणिका भाष्य—अत्र विभोरचलतोऽप्युत्क्रान्तिर्देहाभिमाननिवृत्तिमात्रेण ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवत् कदाचित् संभाव्येत गत्यागती तु नाचलतः सम्भवेतामित्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस अधिकरणमें गति क्रियाहीन (अचल) होनेपर भी विभु पदार्थ आत्माकी उत्क्रान्ति (देहसे उत्क्रमण) देहाभिमान-निवृत्ति मात्रके लिए ही किसी प्रकारसे सम्भव हो सकती है जिस प्रकार राजाके ग्रामके आधिपत्यकी निवृत्ति द्वारा राजत्व-त्याग सङ्गत होता है किन्तु गमनागमनकी उक्ति निष्क्रियपक्षमें (अचल वस्तुमें) तो सम्भव नहीं हो सकती, इसी बातको परवर्त्ती सूत्रमें कहा जा रहा है—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अत्रेति। विभोः सर्वदेशस्य।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'विभोरचल'* इतिमें 'विभोः' का अर्थ है 'सर्वदेशव्यापी'।

सूत्र—स्वात्मना चोत्तरयोः॥ १९॥

सूत्रार्थ—'स्वात्मना च'—स्वयंके द्वारा अर्थात् स्वयं ही, 'उत्तरयोः' गति और आगति कार्यमें आत्माका सम्बन्ध है, क्योंकि क्रिया कर्त्तामें रहती है। बात यह है कि 'तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति' इति श्रुतिमें गच्छन्ति क्रियाका अन्वय 'ते' कर्त्तृ (कर्त्ता) पदके साथ है, अतएव आत्माका गमन और 'पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' श्रुति द्वारा आत्माका आगमन बोधित होता है, इसलिए आत्माका स्वतः ही गमन (जाना)-आगमन (लौट आना) कहना होगा॥ १९॥

सूत्रानुवाद—जीवात्माकी अन्यान्य लोकोंमें गति और आगति—दोनों ही क्रियाओंकी सिद्धि आत्माके स्वरूपसे ही साध्य है, और यह आत्माके अणुत्वसे ही सिद्ध हो सकती है॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—चाऽवधारणे। उत्तरयोर्गत्यागत्योः स्वात्मनैव सम्बन्धो वाच्यः कर्त्तृस्थक्रियात्वात्। सत्योश्च तयोरुत्क्रान्तिरपि देहप्रदेशादेव मन्तव्या। *'तेन प्रद्योतेन'* (बृ॰आ॰ ४/४/२) इत्यादि श्रवणात्। *'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वेतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्'* इत्यादि स्मरणाच्च। यत्तूत्क्रान्त्यादिकमुपाध्युत्-क्रान्त्यादिभिर्व्यपदिष्टमित्युच्यते तन्मन्दम्। *'स यदाऽस्मात् शरीरात् समुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति'* (३/३) इति कौषीतकीब्राह्मणश्रुतसहशब्दविरोधात्। स हि प्रधानाप्रधानयोः समानामेव क्रियां बोधयति, पुत्रेण सह पिता भुङ्क्त इतिवत्। वायुदृष्टान्ते ग्रहिग्राहयोरसामञ्जस्याच्च। एतेन घटाकाशवदज्ञदृष्ट्यभिप्रायमेतदिति-बालकोलाहलोऽपि निरस्तः॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'च' शब्द अवधारण अर्थमें है। 'उत्तरयोः' उत्क्रान्ति शब्दके बाद निर्दिष्ट गति और आगतिका स्वरूपतः जीव (आत्मा) के साथ ही सम्बन्ध कहना होगा, क्योंकि क्रिया कर्त्तामें रहती है। यदि ऐसा है, तो देहसे उत्क्रमणकी उक्ति भी स्वरूपतः देह रूप-स्थानसे (प्रदेशसे) कहना उचित है, क्योंकि इस विषयमें श्रुति भी प्रमाण है। यथा—*'तेन प्रद्योतेनैषआत्मा निष्क्रामति'* (बृ॰आ॰ ४/४/२)—अर्थात् उस विकसित प्रदेशसे ही आत्मा देहसे बाहर हो जाती है। स्मृति-वाक्य भी इसी प्रकार कहता है *'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः'* इत्यादि (गीता १५/८) आत्मा शरीर ग्रहण

करती है और उस शरीरसे निकल जाती है, यथा वायु जिस प्रकार सुगन्धित पुष्पोंसे गन्ध लेकर गन्धके साथ गमन करती है, उसी प्रकार आत्मा भी देहसे प्राण एवं इन्द्रियोंको साथ लेकर चली जाती है। तब जो कोई-कोई (अद्वैतवादी) कहते हैं कि जीवका उत्क्रमण, गमन, आगमन इत्यादि उपाधियोंका अर्थात् बुद्धिके उत्क्रमणादिका बोधक है, तो यह बात बड़ी मूर्खतापूर्ण है क्योंकि *'स यदाऽस्मात् शरीरात् समुत्क्रामति सहैवैतैः'*—यह आत्मा जब इस पाञ्चभौतिक देहसे निकल जाती है—तब वह समस्त प्राण-इन्द्रियोंके साथ निष्क्रान्त होती है, इत्यादिमें कौषीतकी ब्राह्मणमें प्रयुक्त 'सह' शब्दकी उक्तिका विरोध होता है, क्योंकि यह 'सह' शब्द प्रधान और अप्रधान दोनों ही कर्त्ताओंकी समान क्रियाका बोध कराता है। दृष्टान्त है—यथा—*'पुत्रेण सह पिता भुङ्क्ते'*—पुत्रके साथ पिता भोजन करता है कहनेपर पुत्र और पिता दोनोंका ही भोजन करना जाना जाता है। यदि बुद्धिका उत्क्रमणादि है, तो इन्द्रिय-प्राणादिके साथ आत्माकी गतिका कथन सङ्गत नहीं होता, अतएव आत्माका ही उत्क्रमण, गति, आगति जानना होगा। इसके अतिरिक्त वायु दृष्टान्तमें भी जो 'ग्रह' धातु है और ग्राह्य-पदार्थ गन्धकी बात कही गयी है, उसका भी असामञ्जस्य होता है। इस तथ्य द्वारा—मूर्खजन जो कोलाहल करते हैं कि जिस प्रकार घटके टूट जानेपर आकाश ही रहता है, उसी प्रकार देहके नाश होनेपर भी आत्माका उत्क्रमण नहीं है, अपितु उपाधि-त्याग ही उत्क्रमण है, आत्मा स्वरूपमें ही रहती है, केवल अज्ञ-दृष्टिके अभिप्रायसे यह माना जाता है कि आत्मा चली गयी है तो अब इस प्रकार उनका यह बाल-कोलाहल (अज्ञतावश कथन) भी खण्डित हो गया है॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—स्वात्मनेति। शरीरमिति श्रीगीतासु। ईश्वरो देहेन्द्रियनियन्ता जीवः प्रकरणात् ईष्टे इति व्युत्पत्तेर्देहादिस्वामिनि तस्मिन् सम्भवाच्च। एतानि प्राणेन्द्रियाणि। आशयात् पुष्पगर्भात्। यत्त्विति। उपाधिरत्र बुद्धिर्ज्ञेया। स यदेति। स जीवो यदा अस्मात् शरीरात् उत्क्रामति निर्गच्छति तदेतैः सर्वैः प्राणैरिन्द्रियैश्च सहैव समुत्क्रामतीत्युक्तेर्जीवस्य प्राणादीनाञ्च तुल्यैवोत्क्रान्तिरागता तथैव सहशब्दार्थात्। स हि सहशब्दः। दृष्टान्तेन विशदयति पुत्रेणेति। अन्यद्विशदार्थम्॥ १९॥

सूक्ष्मा-सार— *'स्वात्मनेति'* सूत्रके भाष्यमें शरीर मित्यादि श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता (१५/८) का है। इस श्लोकके अन्तर्गत ईश्वरः का अर्थ है—देह एवं इन्द्रियका नियन्ता जीव-जीवके प्रकरणके कारण यहाँ ईश्वर शब्द परमेश्वर अर्थमें नहीं है। 'ईश्वर' शब्द 'ईष्टे' अर्थात् जो संयत करता है—इस अर्थ में 'ईश' धातुमें वरच् प्रत्यय संयोगसे लभ्य अर्थ देहादि स्वामी जीवात्माको भी जाना जा सकता है। *'गृहीत्वैतानि इति'* में एतानि का अर्थ है—प्राण एवं इन्द्रियाँ। *'इवाशयात्'*—आशयात्—अर्थात् पुष्पके अभ्यन्तरसे *'यत्तूत्क्रान्त्यादिकमुपाध्यु त्क्रान्त्यादिभिर्व्यपदिष्टमीति'*—यहाँ पर उपाधि शब्दका अर्थ बुद्धि लेना चाहिये। *'स यदास्मात् शरीरात् इति'* में 'स' का अर्थ है—वह जीव, जब इस शरीरसे निर्गत होता है, तब इन समस्त प्राणवायु एवं इन्द्रियोंके साथ निर्गत होता है, यह कथन कहनेसे जीवात्माका एवं प्राण-इन्द्रिय-सभीका समान रूपसे ही उत्क्रमण ज्ञात होता है, सह शब्दका इसी प्रकारसे अर्थ है। *'स हि प्रधानाप्रधानयोरिति'* में 'स हि' का अर्थ है वही 'सह' शब्द। दृष्टान्त द्वारा उसे विवृत्त करते हैं—*'पुत्रेण सह पिता भुङ्क्ते।'* अन्य अंश तो विवृत ही हैं॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्व सूत्रमें जीवकी जिस उत्क्रान्ति, गति एवं आगतिके विषयमें कहा गया है, उस सम्बन्धमें पुनः कहते हैं कि विभु आत्माके अचल अर्थात् क्रियाहीन होनेपर भी देहाभिमान निवृत्तिमात्र राजाके ग्रामाधिपत्यकी निवृत्तिके समान देहसे उत्क्रमण किसी प्रकार सङ्गत होनेपर भी निष्क्रिय वस्तुकी गति और आगति सम्भव नहीं है। इस सम्बन्धमें सूत्रकार कहते हैं कि गति और आगति कार्यको जीवात्माके सहित सम्बन्धयुक्त जानना होगा। बृहदारण्यक (४/४/११) में पाया जाता है कि *'तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जनाः'* अर्थात् अविद्वान और अज्ञानी लोग उन अन्धतमावृत लोकोंको प्राप्त होते हैं। पुनः देखा जाता है *'तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति'* (बृ०आ० ४/४/६) अर्थात् उस (कृत) कर्मका फल प्राप्तकर उस लोकसे कर्म करनेके लिए पुनः इस लोकमें आ जाते हैं—इसमें जीवात्माके गमनागमनका कर्त्तृत्व स्पष्ट देखा जाता है। जीवके

उत्क्रमण विषयमें भी श्रुतियों और स्मृतियोंके प्रमाण भाष्यमें दिये गये हैं। कौषीतक्युपनिषदमें भी है—*'स यदा अस्मात् शरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति'* (३/४)—यह आत्मा जब इस पाञ्चभौतिक देहसे निकल जाती है, तब वह समस्त प्राण-इन्द्रियोंको अपने साथ ले जाती है। यदि अज्ञ (मूर्ख) लोग कहते हैं कि घटके भङ्ग होनेपर जिस प्रकार आकाश रहता है, उसी प्रकार उपाधिका त्याग ही उत्क्रान्ति है, तो भाष्यकारने इसे मूर्खोंका कोलाहल कहकर निराकरण कर दिया है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/३१/४३)

अर्थात् कपिलदेव कहते हैं—पुरुष आत्मा उपाधिस्वरूप लिङ्ग-शरीरके साथ एक लोकसे अन्य लोकमें जाते हुए कर्मफलका निरन्तर भोग करता है, तो भी पुनः वह कर्ममें ही प्रवृत्त होता है। इस श्लोककी श्रील चक्रवर्त्ती ठाकु
लिङ्ग-शरीरको लेकर ही मर्त्त्यलोकसे स्वर्ग-नरकादिमें भ्रमण करता है। उपाधिस्वरूप (उपहित) लिङ्ग-शरीरके गमन द्वारा ही उपहित जीव कर्म करता है, उपहित (उपाधियुक्त) गमनमें ही उपहित (उपाधियुक्त) जीवका गमन सम्भव है। लिङ्ग-देह द्वारा ही जीव कर्म करता है और लिङ्ग-देह द्वारा ही कर्मोंका भोग करता है।

और भी,

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्त्तते॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२२/३७)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! मनुष्योंका कर्म संस्कार युक्त मन ही पञ्चेन्द्रियोंके साथ एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमन करता है। आत्मा उससे पृथक् होनेपर भी वह अहङ्कार द्वारा उसी मनका अनुगमन करता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

'कृष्ण भुलि' सेई जीव—अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार—दुःख॥

कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।
दण्ड्यजने राजा, येन नदीते चुबाय॥

(चै॰च॰म॰ २०/११७-११८)

अर्थात् नित्य मुक्त जीव कभी भी कृष्णको विस्मृत नहीं करते, अनादि कालसे कृष्णोन्मुख रहकर हरिसेवारूप नित्यवृत्तिमें अधिष्ठित रहते हैं। किन्तु जो समस्त जीव कृष्ण-सेवाधिकारसे विस्मृत होकर अनादि कर्म-फल-भोग-वासना क्रमसे मायाका अनुशीलन करके स्वयंको कर्मफल-भोक्ता समझते हैं, उनका माया द्वारा कर्मफल-भोग ही निर्दिष्ट होता है। राजाके पुरस्कार और दण्डके समान बद्धजीव पुण्यकर्मके प्रभावसे स्वर्गमें देवपदपर आरूढ़ होकर सुख भोग करता है, और पाप-फलके फलस्वरूप नरकादिमें क्लेश प्राप्त करता है॥ १९॥

सूत्र—नाणुरतच्छ्र

सूत्रार्थ—पूर्वपक्षी आपत्ति करते हैं कि 'नाणुः'—जीव अणु-परिमाण नहीं है, 'अतच्छ्र
महत्-परिमाणरूप ही सुना जाता है 'इति चेत्' यह यदि कहते हो तो 'न' ऐसा नहीं है। कारण क्या है? उत्तर है—'इतराधिकारात्' जीवसे इतर परमात्माधिकारमें ही महत्-परिमाण है क्योंकि यही सुना जाता है॥ २०॥

सूत्रानुवाद—'इन्द्रियोंमें जो यह विज्ञानमय है' इत्यादिमें जीवको प्रस्तुत करके 'यह महान अज आत्मा है' में जीवकी स्वरूपगत महत्ता दिखानेसे जीवकी अणुरूपमें प्रतीति नहीं होती, तो इसका उत्तर है कि उस 'महान' शब्दका प्रयोग परमात्माके लिए है, जीवके लिए नहीं॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—ननु नाणुर्जीवः, बृहदारण्यके (४/४/२२) *'स वा एष महानज आत्मा'* इति तद्विपरीतस्य महत्परिमाणस्य श्रुतत्वादिति चेन्न। कु तत्रेतरस्य परमात्मनोऽधिकारात्। यद्यपि *'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु'* (बृ॰आ॰ ४/३/७) इति जीवस्योपक्रमस्तथापि *'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा'* (बृ॰आ॰ ४/४/१३) इति मध्ये जीवेतरं परेशमधिकृत्य महत्त्वप्रतिपादनात् तस्यैव तत्त्वं न जीवस्येति॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आपत्ति है कि जीव परमाणु-परिमाण नहीं है, क्योंकि बृहदारण्यकमें *'स एष महानज आत्मा'*—वह आत्मा महत्-परिमाण एवं नित्य है—इत्यादि वाक्यसे क्योंकि आत्माका अणु-परिमाणके विपरीत महत्-परिमाण सुना जा रहा है, अतएव जीव अणु-परिमाण नहीं है; ऐसा नहीं कहा जा सकता क्यों? बात यह है कि इस स्थलपर आत्मन् शब्दमें परमात्माका ही अधिकार है, जीवात्माका अधिकार नहीं है, अतएव जीवात्मा अणु-परिमाण ही है। यद्यपि बृहदारण्यकमें *'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु'*—'जो प्राणमें विज्ञानमय पुरुष है'—इस प्रकारसे जीवका विषय आरम्भ किया गया है (अतएव *'महानज आत्मा'* (अर्थात् यह अज आत्मा महान) इस श्रुतिमें उक्त आत्माको जीवात्मापरक कहेंगे)। जीवका उपक्रम होनेपर भी *'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा'* (बृ॰आ॰ ४/४/१३) जिनके (श्रीहरिके) ज्ञानसे जीवात्मा प्रतिबुद्ध अर्थात् ज्ञानी होता है, इत्यादि वाक्यको मध्यमें पढ़े जानेके कारण पूर्वोक्त आत्मा (*स एष महानज आत्मा*) श्रुति परमेश्वर रूपमें ही ग्राह्य है, जीवरूपमें नहीं। अतएव जीवसे भिन्न परमेश्वरको अधिकार करके उनका ही महत्त्व प्रतिपादन करनेके कारण परमेश्वर ही महत्-परिमाण हैं, जीव नहीं॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—नाणुरिति। तद्विपरीतस्याणुपरिमाणेतरस्य। यस्येति। यस्योपास-कस्य। प्रतिबुद्धः सर्वज्ञ आत्मा हरिरनुवित्तो ज्ञातो भवति तस्य स उ प्रसिद्धो हरिर्लोक एव लोको भवतीत्युत्तरेणान्वयः। तत्त्वं महत्त्वम्॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार— *'नाणुरिति'* सूत्रके भाष्यमें 'तद्विपरीतस्य' इतिका अर्थ है अणु-परिमाणसे भिन्न का। *'यस्यानुवित्तः'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—जो उपासकके सम्बन्धमें सर्वज्ञ आत्मा श्रीहरि ज्ञात होते हैं, उनके लिए

प्रसिद्ध वे हरि लोकस्वरूप हैं—यह परवर्त्ती अंशके साथ अन्वित है। *'तत्त्वं न जीवस्य'* इतिमें 'तत्त्वम्' का अर्थ है महत्व॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी यदि कहें कि श्रुति जीवको महत्–परिमाण कह रही है, इसलिए जीवको अणु नहीं कहा जाता। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, पूर्वपक्षवादियोंका यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि बृहदारण्यकश्रुति जिस महत्–परिमाणके विषयमें कहती है, वह जीवात्माको अधिकार करके नहीं है, वह तो अन्तर्यामी परमात्माको ही अधिकार करके कहती है। बृहदारण्यकमें पाया जाता है—*'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः'* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) अर्थात् वह यह महान् अजन्मा आत्मा, जो कि यह प्राणोंमें विज्ञानमय है, जो यह हृदयमें आकाश है, उसमें शयन करता है। वह सबको वशमें रखनेवाला, सबका शासन करनेवाला और सबका अधिपति है, और इस प्रकरणके मध्यमें पाया जाता है—*'विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः'* (बृ॰आ॰ ४/४/२०) अर्थात् यह ब्रह्म विरज (निर्मल), (अव्याकृतरूप) आकाशसे भी सूक्ष्म (अथवा व्यापक), अजन्मा, आत्मा, महान और ध्रुव (अविनाशी) है। पुनः *'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कु*   ' (बृ॰आ॰ ४/४/२१) अर्थात् बुद्धिमान ब्राह्मणको उसे ही जानकर उसीमें प्रज्ञा करनी चाहिये। इस प्रकार इस महान पदसे जीवात्माको न समझकर परमात्माको ही जानना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—*'सूक्ष्माणामप्यहं जीवः'* (श्रीमद्भा॰ ११/१६/११) अर्थात् सूक्ष्म पदार्थोंमें मैं जीव हूँ।

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/११/४)

हे महामते! मैं अद्वितीय स्वरूपवाला हूँ। मेरे अंशसे (विभिन्नांशसे) जीव प्रकट होकर अविद्याके द्वारा बन्धनको प्राप्त होता है तथा विद्याके द्वारा उसकी मुक्ति हुआ करती है।

श्रीमद्भागवतके ही *'अनर्थोपशमं साक्षात् भक्तियोगमधोक्षजे'* (अर्थात् इन्द्रियज्ञानातीत विष्णुमें अव्यवहित भक्ति (प्रबल प्रेमभाव) अनुष्ठित होनेपर संसार भोग-दुःखकी निवृत्ति होती है)(श्रीमद्भ० १/७/६) श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्त्ती ठाकु

'ईशः स्वतन्त्रश्चित्सिन्धुः सर्वव्याप्येक एव हि। जीवोऽधीनश्चित्कणोऽपि स्वोपाधिर्व्यापिशक्तिकः। जीवोऽधीनश्चित्कणोऽपि स्वोपाधिर्व्यापिशक्तिकः। अनेकोऽविद्ययोपात्तस्त्यक्ताविद्योऽपि कर्हिचित्। मायात्वचित्प्रधानञ्चाविद्याविद्येति सा त्रिधा।'

अर्थात् सर्वतत्त्व-प्रकाशिका श्रीभागवत नामक संहिता प्रकाशित करती है कि स्वतन्त्र, चित्समुद्र, सर्वव्यापी, एकजन ही ईश्वर हैं और जीव उनके अधीन, अणु चित्कण, सोपाधिक, व्याप्य शक्तिक और अनेक हैं। कहीं वह अविद्या द्वारा गृहीत और कहीं अविद्यारहित भी है, किन्तु माया अचित्-प्रधान, अविद्या एवं विद्या रूपसे तीन प्रकारकी है॥२०॥

सूत्र—स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च॥२१॥

सूत्रार्थ—'स्व-शब्द' अणुत्ववाचक शब्द और 'उन्मान' परमाणु तुल्यता (कोई वस्तु दिखाकर उसका परिमाण बताना) इन दोनोंके द्वारा 'च' भी जीवकी परमाणु-तुल्यता है॥२१॥

सूत्रानुवाद—जीवके अणुत्वका प्रतिपादन स्व-वाचक 'अणु' शब्दके द्वारा किया गया है। उन्मान—अर्थात् बालके अग्रिम भागके सौवेंके भी सौवें हिस्सेके बराबर इसका स्वरूप बताया है॥२१॥

गोविन्दभाष्य—स्व-शब्दोऽणुत्ववाची शब्दः श्रूयते *'एषोऽणुरात्मा'* (मु० ३/१/९) इति। तथोन्मानञ्च परमाणुतुल्यम् वस्तु निदर्श्य तन्मानत्वं जीवस्योच्यते। *'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते'* इति श्वेताश्वतरैः (श्वे० ५/९) ताभ्यामणुरेव सः। आनन्त्यशब्दो मुक्त्यभिधायी। अन्तो मरणं तद्राहित्यमानन्त्यमित्यर्थात्॥२१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जो 'स्व' शब्द अर्थात् अणुत्ववाचक शब्द जो सुना जाता है, यथा— *'एषोऽणुरात्मा' इति*—यह जीवात्मा अणु-परिमाण

है; इसके द्वारा एवं उन्मान द्वारा अर्थात् परमाणुके समान आकारवाली किसी (उपमा वाचक) वस्तुका निदर्शन करके (दृष्टान्त-स्वरूपमें दिखाकर) उसके परिमाणके तुल्य जीवके परिमाणकी उक्तिके द्वारा भी जीवका अणु-परिमाण जाना जाता है। यह निदर्शन वाक्य है, यथा—श्वेताश्वतरोपनिषद-पाठकगण कहते हैं—एक केशके अग्रभागको शत-भागोंमें विभक्त करके पुनः उसे सौ भागोंमें विभक्त करनेपर जो परिमाण होता है, जीव वही भाग-विशिष्ट है। श्रुतिस्थ अनन्त शब्दका अर्थ है 'नाशहीन रूपमें कल्पित'। इन दोनों प्रमाणोंसे जीव 'अणु' रूपमें प्रमाणित होता है। इस स्थलपर 'आनन्त्य' शब्द मुक्तिका अभिधायक है। मृत्यु-राहित्य ही आनन्त्य शब्दका अर्थ है॥ २१॥

सूक्ष्मा-टीका—स्वशब्देति। उन्मानमिति। उद्धृत्य मानमुन्मानम्। एतदेव विशदयति परमाणुतुल्यमिति॥ २१॥

सूक्ष्मा-सार—'*स्वशब्देत्यादि*' सूत्रके भाष्यमें उन्मानमिति (तौल-वजन) करके परिमाण करनेका नाम उन्मान है—इसीको विस्तारपूर्वक कहते हैं—'*परमाणुतुल्यमिति*'—फलतः परमाणुतुल्य परिमाण॥ २१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—स्व-शब्द अर्थात् अणु वाचक शब्द द्वारा और उन्मान (उद्धरणपूर्वक उपमा रूपमान) अर्थात् परमाणु तुल्य किसी वस्तुके समान परिमाण कथनके द्वारा जीवके अणु परिमाणसे अवगत हुआ जा सकता है। मुण्डकमें है—'*एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः*' (मु॰ ३/१/९) और श्वेताश्वरोपनिषदमें भी पाया जाता है—'*बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च*' (श्वे॰ ५/९)। तब यदि कहा जाय कि 'अनन्त' शब्दका फिर उल्लेख क्यों किया है? इसके उत्तरमें भाष्यकार कहते हैं कि यह मुक्त पुरुषके सम्बन्धमें कहा गया है। 'आनन्त्य' शब्दका अर्थ है 'मरण-राहित्य'।

श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट उल्लेख है—'*सूक्ष्मानाप्यहं जीवो*' (श्रीमद्भा॰ ११/१६/११)।

श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

चित्कण जीव, किरणकण सम।
षडैश्वर्यपूर्ण कृष्ण हय सर्वोपम॥

जीव, ईश्वरतत्त्व कभु नहे सम।
जलदग्निराशि यैछे, स्फु

(चै॰च॰म॰ १८/११२-११३)

जीव नारायणादि कु
कृष्ण-सूर्यके समान हो नहीं सकता। वह चित्कणमात्र है, अतएव जीव कृष्ण-सूर्यकी किरण सम है, इन जीवोंको कभी भी 'नारायण' कहकर प्रणाम करना उचित नहीं है। चाहे वह मुक्त हो अथवा बद्ध, सभी अवस्थाओंमें वह मायाधीश परमेश्वर नारायणके नित्य वश्य है, जीव कभी भी नारायण शब्द वाच्य नहीं हो सकता। जो जीवको विष्णुके 'समान' अथवा विष्णुसे 'एक' कहते हैं अथवा ज्ञान करते हैं, ऐसे मायावादी बड़े ही अपराधी हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद (५/८) में और भी कहा है, *'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः'* अर्थात् आराग्रमात्र जिसका अर्थ है चर्मभेदी सुईके अग्रभागके समान जीव अणु है। इस प्रकार जीव यदि अणु-परिमाणवाला नहीं होता, तो उसकी गति आदिका किस प्रकार उपदेश होता? ॥ २१ ॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वणोरेकदेशस्थस्य सकलदेहगतोपलब्धिर्विरुध्येतेति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि यदि जीवका परिमाण परमाणु तुल्य है तो एकांशमें स्थित आत्माकी समस्त देहमें उपलब्धि है—इसका विरोध होगा। यह यदि कहते हो तो इस पर कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। जीवस्याणुत्वे गङ्गान्बुनिमग्नसर्व-शरीरव्यापिशैत्योपलब्धिर्विरुद्धेति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—जीव यदि अणु-परिमाण है तब तो गङ्गाजलमें अवगाहन करनेवाले व्यक्तिके सकल शरीरमें व्याप्त होनेवाली शैत्यकी अनुभूतिका विरोध होता है, यह यदि कहते हो तो उसीके समाधानके लिए कहते हैं।

जीवका सर्वदेहव्याप्तित्व

सूत्र—अविरोधश्चन्दनवत्॥ २२॥

सूत्रार्थ—'चन्दनवत्' हरिचन्दनके समान एकांशमें स्थित आत्माकी समस्त देहमें उपलब्धि है, 'अविरोधः'—कोई विरोध नहीं है॥ २२॥

सूत्रानुवाद—जैसे मलयाचल-चन्दनकी एक बिन्दु देहके एक स्थानमें स्थित होकर सारे शरीरको आह्लादित करती है, उसी प्रकार आत्मा देहके एक स्थानमें ठहरकर भी सम्पूर्ण शरीरको सुख-दुःखकी उपलब्धि करा सकती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है॥ २२॥

गोविन्दभाष्य—एकदेशस्थस्यापि हरिचन्दनबिन्दोः सकलदेहाह्लादवदनुभूतस्यापि तस्य सा न विरुध्यत इत्यर्थः। स्मृतिश्च—*'अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति। यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्रुषः'* इति॥ २२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—हरिचन्दनकी एक बिन्दु शरीरके एक देशमें लिप्त होकर भी शरीरके सभी अंशोंमें (अवयवोंमें) आनन्दकी अनुभूति करा देता है, उसी प्रकार अणु-परिमाण होनेपर भी जीवात्माकी समस्त शरीरमें उपलब्धि होती है, कोई विरोध नहीं है। यही बात स्मृतियोंमें (ब्रह्माण्ड पुराणादिमें) भी कही गयी है कि जिस प्रकार हरिचन्दन-बिन्दु एक स्थानपर अवस्थित होकर भी समस्त शरीरमें व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार जीव भी अणु-परिमाण होकर भी और एक स्थानपर रहकर भी समस्त देहमें व्याप्त हो जाता है॥ २२॥ (ब्रह्माण्डपुराण)

सूक्ष्मा-टीका—अविरोध इति। सा उपलब्धिः। स्मृतिश्चेति ब्रह्माण्डोक्तिः। विप्रुषः कणाः॥ २२॥

सूक्ष्मा-सार—*'अविरोध'* इत्यादि सूत्रके भाष्यके अन्तर्गत *'सा न विरुद्ध्यते'* इति सा का अर्थ है वही उपलब्धि स्मृतिश्च—*'अणुमात्रोऽप्ययम्'* इत्यादि श्लोक ब्रह्माण्डपुराणमें कथित है। *'हरिचन्दनविप्रुषः'* इतिमें 'विप्रुषः' का अर्थ है—कण॥ २२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पूर्वपक्ष यदि इस प्रकार है कि जीवका परिमाण अणु होनेके कारण समस्त शरीरमें उसकी उपलब्धि विरुद्ध

हो पड़ती है, इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—यहाँ हरिचन्दनके समान अविरोध जानना होगा। भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार हरिचन्दनकी एक बिन्दु एकस्थानमें अवस्थान करके भी समस्त शरीरके लिए आनन्दप्रद होती है, इसी प्रकार जीव भी एक देशमें रहकर समस्त शरीरमें व्याप्ति (सम्बन्ध) की उपलब्धि करता है।

यदि प्रश्न करें कि अणु-परिमाण होनेसे जीव गङ्गाजलमें अवगाहन करे तो शैत्यानुभूति जो उसके समस्त शरीरमें होती है, वह विरुद्ध हो पड़ती है तो आचार्य श्रीरामानुज इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि एकदेशवर्त्ती होकर भी जीवात्माकी कार्य-क्षमता सर्वदेहव्यापी है। आत्मा हृदयमें स्थित है, जहाँ एक सौ नाड़ियाँ हैं, यह आत्मा विज्ञानमय इन्द्रियोंके मध्य एक ज्योति स्वरूपमें स्थित है। *'सूक्ष्माणामप्यहं जीवः'* (श्रीमद्भा॰ ११/१६/११) श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्त्तीपाद कहते हैं—*'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः। इति, आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः इत्यादि श्रुतिः। अत्र जीवस्य परमाणुप्रमाणत्वेऽपि सम्पूर्णदेहव्यापि शक्तिमत्वं जतु-जटितस्य महामणेर्महौषधिखण्डस्य च शिरसि धृतस्य पूर्णदेह-पुष्टिकविष्णुशक्तित्वमिव न विरुद्धम्।'*

अर्थात् केशके अग्रभागके सौ भाग करके पुनः उसके एक भागके सौ भागोंकी कल्पना करनेपर जो एक भाग होता है, उसे ही जीवका परिमाण जानना चाहिये। तीर (आरे) के अग्रभागसे भी जीवतत्त्वको क्षुद्र जानना चाहिये। जीवका परिमाण परमाणु तुल्य होनेपर भी उसकी शक्तिमत्ता सम्पूर्ण देहव्यापी है। जिस प्रकार गाला (लाख) द्वारा आवृत्त महामणि और महौषधि खण्डको मस्तकपर धारण करनेसे भी सम्पूर्ण देहमें पोषणकारिणी शक्ति प्रकाशित होती है, उसी प्रकार जीवके क्षुद्रत्वमें भी कोई विरोध नहीं है॥ २२॥

सूत्र—अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमात् हृदि हि॥ २३॥

सूत्रार्थ—आपत्ति यह है कि चन्दन-बिन्दुकी शरीरके एकांशमें तिलकादि रूपमें अवस्थिति प्रत्यक्ष सिद्ध है, किन्तु जीवका तो ऐसा नहीं है, 'अवस्थितिवैशेष्याद्' इस प्रकार अवस्थितिमें वैषम्य होनेके

कारण चन्दनका दृष्टान्त युक्तिसङ्गत नहीं है, 'इति चेत्' यह यदि कहते हो तो ऐसा नहीं है, 'हि' क्योंकि 'अभ्युपगमात्' चन्दनके समान जीवका भी शरीरके एकांशमें अवस्थान-विशेष है—यह स्वीकृत है, वह अवस्थान कहाँ है वह अवस्थान है 'हृदि' हृदय—इसमें जीव रहता है॥ २३॥

सूत्रानुवाद—यदि कहें कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें विषमता है, क्योंकि चन्दन-बिन्दुकी देहके एक देशमें अवस्थिति-विशेष प्रत्यक्ष दिखायी देती है, इसलिए उसका सम्पूर्ण देहव्यापी आह्लाद-जनकत्व तो ठीक है, किन्तु आत्माकी तो देहमें स्थिति प्रत्यक्ष नहीं है, तो ऐसा नहीं कह सकते। आत्माकी भी शरीरके एक देश विशेष हृदयमें स्थितिको स्वीकार किया गया है॥ २३॥

गोविन्दभाष्य—ननु तद्बिन्दोः शरीरैकदेशेऽवस्थितिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धो न तु जीवस्य। न चानुमेयोऽसौ खादिदृष्टान्तेन विपरीतानुमानस्यापि सम्भवादतो विषमो दृष्टान्त इति चेन्न। कु
तद्विशेषस्वीकारादित्यर्थः। ननु कोऽसौ देशो यत्र जीवस्तिष्ठतीति चेत् तत्राह हृदि हीति। *'हृदि ह्येष आत्मा'* इति (३/६) षट्प्रश्नीश्रुतेरेवेत्यर्थः॥ २३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि चन्दन-बिन्दुकी शरीरके एकांशमें अवस्थिति प्रत्यक्ष सिद्ध है, किन्तु जीवकी अवस्थिति विशेष तो प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है। यदि कहो कि इसके लिए अनुमान करेंगे, यथा—*'जीवः शरीरैकदेशस्थितः अणुपरिमाणत्वात् चन्दनवत्'* (जीव अणु-परिमाण होनेसे चन्दनके समान शरीरके एक देशमें स्थित है) तो ऐसा भी नहीं है। इसके विपरीत आकाशादि दृष्टान्तके द्वारा विपरीत अनुमान भी सम्भव है, यथा *'जीवो निष्प्रदेशो विभुत्वात् आकाशादिवत्'* (जीव आकाशादिके समान विभु होनेसे निष्प्रदेश है) अतएव दृष्टान्त-वैषम्य होता है, यह यदि कहते हो तो वह भी ठीक नहीं है। किस कारणसे? 'अभ्युपगमात्' अर्थात् हरिचन्दनके समान जीवात्माका भी शरीरके एक देशमें अवस्थान-विशेष स्वीकृत है—इस कारणसे। प्रश्न है कि यह स्थान शरीरके किस अंश (भाग) में है, जहाँ यह जीव अवस्थान करता है, तो इसके उत्तरमें कहते

हैं—हृदय ही उसका अवस्थान (ठहरनेका स्थान) है। षट्प्रश्नी श्रुति कहती है—*'हृदि ह्येष आत्मा'* यह आत्मा हृदयमें रहती है॥ २३॥

सूक्ष्मा-टीका—दृष्टान्तवैषम्यमाशङ्क्य परिहरति अवस्थितीति। असौ दैहिकदेशोऽनुमातुं न शक्यः। तत्र हेतुः खादीति। जीवो निष्प्रदेशो विभुत्वात् खादिवदित्यनुमानसत्त्वात्। निरस्यति नाभ्युपेति। तद्विशेषोऽवस्थितिविशेषः। देहमध्यं हृदाक्रम्य सर्वेन्द्रियाध्यक्षेण मनसा सहितो जीवस्तिष्ठतीत्येवंलक्षणः। वक्षसि ललाटे वा तद्विन्दोः पिण्डाकारेण यथावस्थितिरिति बोध्यम्॥ २३॥

सूक्ष्मा-सार—सूत्रकार पूर्वपक्षी द्वारा उद्भावित दृष्टान्त-वैषम्यकी आशङ्का करके उसका परिहार करते हैं—*'अवस्थिति वैशेष्यादित्यादि'*—अर्थात् आत्माका देहके मध्यमें अवस्थान-देश (अवस्थितिके स्थान) का अनुमान नहीं किया जा सकता, इस विषयमें कारण है क्योंकि आकाशादिके दृष्टान्तको लेकर उसके विपरीत अनुमान भी सम्भव नहीं है यथा *'जीवो निष्प्रदेशो विभुत्वात् खादिवत्'* इस प्रकार अनुमान हो सकता है। सूत्रकार इस आशङ्काका निराकरण करते हैं, *'न अभ्युपगमात्'* ऐसा नहीं है, देहमें स्थिति-विशेष स्वीकृत ही है। *'तद्विशेषाङ्गीकारात्'* इति 'तद्विशेषः' अर्थात् अवस्थिति विशेष। वह किस प्रकारसे है? देहमें स्थित हृदयको अधिकार करके जीव समस्त इन्द्रियोंक परिचालक मनके साथ अवस्थान करता है। इस प्रकार वक्षःस्थलमें अथवा ललाटपर पिण्डाकारमें अवस्थित चन्दन-बिन्दुकी जिस प्रकार चर्चा होती है, उसी प्रकारसे जानना होगा॥ २३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस स्थलपर सूत्रकार पूर्वपक्षवादीके दृष्टान्त-वैषम्यकी आशङ्का करके उसका परिहार करते हुए प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि अवस्थितिके वैषम्यके कारण चन्दनके दृष्टान्तका स्थान रहता नहीं है—ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहते हैं तो यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि जीव देहके मध्य स्थित हृदयमें समस्त इन्द्रियोंके परिचालक मनके साथ अवस्थान करता है—इस प्रकारकी अवस्थिति अङ्गीकृत हुई है। प्रश्नोपनिषद (३/६) में देखा जाता है—*'हृदि ह्येष आत्मा'* आत्माका अवस्थान हृदयमें है और छान्दोग्य (८/३/३) में भी है—*'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तम् हृद्यमिति'* अर्थात्

वह आत्मा हृदयमें है 'हृदि अयम्' (यह हृदयमें है) यही इसका निरुक्त (व्युत्पत्ति) है, इसीसे यह 'हृदय' है। अतः दृषान्त (चन्दन) और दार्ष्टान्तिक (आत्मा) में अविषमता ही है।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद (४/३/७) में कहा है—*'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तज्योर्तिः'* अर्थात् आत्मा कौन है, यह पूछनेपर याज्ञवल्क्य ऋषिने कहा है—प्राणोंमें हृदयके अन्तर्गत जो यह विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती-
र्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः॥

(श्रीमद्भा॰ ५/११/१२)

अर्थात् ऐसा होनेपर भी मनसे क्षेत्रज्ञका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो मायाके द्वारा रचित अशुद्ध मन जीवकी उपाधिस्वरूप है, इसलिए यह भगवत्-विमुख कर्म कराता हुआ संसार-बन्धनमें डाल देता है। इस मनकी अनन्त विभूतियाँ हैं, जो अनादिकालसे वर्त्तमान हैं। ये जाग्रत एवं स्वप्नावस्थामें आविर्भूत होती हैं और सुषुप्ति एवं समाधि अवस्थामें तिरोहित हो जाती हैं। संसारसे मुक्त क्षेत्रज्ञ जीवात्मा मनकी इन वृत्तियोंको साक्षी रूपसे देखता है (मुक्तजीव बद्धजीवके समान इन वृत्तियोंका भोग नहीं करते)।

श्रीधर स्वामीपाद कहते हैं—*'अवस्थात्रय साक्षी क्षेत्रज्ञ आत्मा तत्त्वमित्यर्थः। क्षेत्रज्ञो हि द्विविधः—त्वम् पदार्थो जीवः, तत्पदार्थ ईश्वरश्च। अर्थात् तीनों अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्तिका साक्षी क्षेत्रज्ञ तत्त्व आत्मा है। क्षेत्रज्ञ दो प्रकारका है—त्वम् पदार्थ जीव एवं तत्पदार्थ ईश्वर।'*

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी देखा जाता है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

(श्रीगीता १३/२)

अर्थात् श्रीभगवान्ने कहा—हे कौन्तेय! यह शरीर 'क्षेत्र' नामसे अभिहित होता है तथा जो इसे जानते हैं, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानसे सम्पन्न व्यक्तिगण उन्हें 'क्षेत्रज्ञ' नामसे अभिहित करते हैं।

इस श्लोककी टीकामें भाष्यकार श्रीबलदेव प्रभु कहते हैं—*'शरीरात्मावादी तु क्षेत्रज्ञो न, क्षेत्रत्वेन तज्ज्ञानाभावात्'* अर्थात् बद्धजीवोंके भोगायतन (विषयोंको भोगने योग्य) प्राण तथा इन्द्रियोंके साथ इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं। जो इस देहको दोनों अवस्थाओंमें स्थित अर्थात् बद्ध अवस्थामें भोगसाधक तथा मोक्षसाधकके रूपमें जानता है, उस जीवको ही क्षेत्रज्ञ कहा जाता है, किन्तु इस देहमें आत्मबुद्धि रखनेवाले जीव देहके तत्त्वको नहीं जानते हैं, इसलिए वे क्षेत्रज्ञ नहीं कहलाते॥ २३॥

अवतरणिका भाष्य—सिद्धायां चाणुतायामित्थमप्यविरोधः स्यादिति मुख्यं मतमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार जीवका अणु-परिमाण सिद्ध होनेपर उसके देहव्यापित्वका अविरोध हो सकता है—इस अभिप्रायसे मुख्य सिद्धान्त कहते हैं—

सूत्र—गुणाद्वा आलोकवत्॥ २४॥

सूत्रार्थ—'वा'—अथवा, 'आलोकवत्'—सूर्य-प्रभाके समान जीव-देहके एक देशमें रहकर भी 'गुणाद्' प्रकाशकत्व गुण द्वारा समस्त शरीरको व्याप्त करता है॥ २४॥

सूत्रानुवाद—आत्मा अणु होनेपर भी अपने गुणस्वरूप ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण देहको व्याप्त करके स्थित है॥ २४॥

गोविन्दभाष्य—अणुरपि जीवश्चेतयितृत्वलक्षणेन चिद्गुणेन निखिलदेहव्यापी स्यात् आलोकवत्। यथा सूर्यादिरालोक एकदेशस्थोऽपि प्रभया कृत्स्नं खगोलं व्याप्नोति तद्वत्। आह चैवं भगवान्। *'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत'* (श्रीगीता १३/१३) इति। न च सूर्यात् विशीर्णाः परमाणवः सूर्यप्रभेति वाच्यम्। तथा सति तस्य ह्रासप्रसङ्गात्। पद्मरागादिमणयोऽपि प्रभया निजपरिसरान् रञ्जयन्तो दृष्टाः। न च तेभ्यः परमाणवश्च्यवन्ते इति शक्यं वक्तु

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीव अणु-परिमाण होनेपर भी चेतना-सम्पादकत्व (चेतनता-लक्षण) रूप चिद्गुणके द्वारा आलोकके समान समस्त देहव्यापी होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्यादि ज्योतिः पदार्थ आकाशके एकदेशमें रहकर भी अपनी प्रभा द्वारा समस्त आकाशमण्डलको व्याप्त करते हैं, उसी प्रकार जीव भी एकदेशमें रहकर समस्त शरीरको व्याप्त करता है। इस बातको भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार कहा है—*'यथा प्रकाशयत्येकः .... भारत॥'* (श्रीगीता १३/३३)—'हे भरत-कु
ही सूर्य अपनी प्रभा द्वारा समस्त जगत्को आलोकित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ जीव समग्र क्षेत्र अर्थात् देहको चैतन्यमय करता है।' यदि कहो कि सूर्यका दृष्टान्त यहाँ सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्य एक अवयवी पदार्थ है, उसकी प्रभा परमाणु-स्वरूप है। ये परमाणु सूर्यसे च्युत होकर समस्त जगत्में बिखर जाते हैं, किन्तु जीव अणु-परिमाण है, उसका कोई अंश तो है नहीं, जो समस्त शरीरमें बिखरकर उसे चैतन्यमय बनायें, तो यह भी कहा नहीं जा सकता क्योंकि सूर्य-प्रभा सूर्यका परमाणुस्वरूप नहीं है, यदि ऐसा होता तो सूर्य क्षीण हो जाता। इसी प्रकार पद्मरागादि-मणि भी अपनी प्रभा द्वारा अपने समीप स्थित स्थानोंको आलोकित करती देखी जाती है, किन्तु उन मणियोंसे परमाणु क्षरित होते हों, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा होना अत्यन्त असम्भव है। यदि ऐसा होता (अर्थात् परमाणुओंका क्षरण होता) तो उन मणियोंका परिमाण घट जाता। अतएव प्रभा परमाणु नहीं हो सकती, वह तो गुण-विशेष है॥ २४॥

सूक्ष्मा-टीका—गुणादिति। चिद्गुणेन जीवधर्मेण। यथेति श्रीगीतासु। क्षेत्री जीवः। न चेति। तस्य सूर्यस्य। निजेति स्वनिकटभूदेशानित्यर्थः। तेभ्यः पद्मरागादिभ्यः। अत्यन्तेति। पद्मरागादीनां परमाणुक्षरणात्यन्तानुपपत्तेः सति च तत्क्षरणे तेषां न्यूनपरिमाणतापत्तेश्चेत्यर्थः॥ २४॥

सूक्ष्मा-सार—*'गुणाद्वा'* इत्यादि सूत्रके भाष्यमें 'चिद्' गुणके द्वारा अर्थात् जीवधर्म द्वारा—*'यथा प्रकाशयत्येकः'* इत्यादि श्लोक

श्रीमद्भगवद्गीतामें (१३/३३) में कहा गया है। 'क्षेत्री' का अर्थ है 'जीवात्मा'। *'न च सूर्यात् विशीर्णाः'* इत्यादि। *'तथा सति तस्य'* ऐसा होनेपर सूर्यका! *'निज परिसरान्'* इति अर्थात् निज निकट स्थित स्थान—यह अर्थ है। *'न च तेभ्यः'* इतिमें 'तेभ्यः' अर्थात् पद्मरागादिसे *'अत्यन्तासम्भवात्'* इति पद्मरागादिसे परमाणु-क्षरण (पृथक्) होना अत्यन्त असम्भव है, इसलिए। और यदि परमाणु-क्षरण होना कहते हो तो उनका परिमाण कम हो जाता है॥ २४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार जीवका अणु-परिमाणत्व सिद्ध है—इस प्रकारका विचार पूर्वसूत्रमें दिखाकर भी वर्त्तमान सूत्रमें पुनः उसे दृढ़ करनेके लिए अन्य दृष्टान्त बता रहे हैं कि जीव अपने गुणसे ही आलोकके समान शरीर-व्यापी होकर रहता है। जो लोग ऐसा मान रहे थे कि चन्दन-बिन्दु एक सावयव पदार्थ है, उसके अणु पूरे शरीरमें व्याप्त होकर अपना सौरभ और शैत्य प्रदान करते हैं, किन्तु अणु-परिमाण निरवयव आत्माके अणुओंका सञ्चार पूरे शरीरमें सम्भव नहीं हो सकता। अतः इस चन्दन-दृष्टान्तकी सङ्गति नहीं है, ऐसे ही लोगोंको दृष्टिमें रखकर सूत्रकारने यह सूत्र प्रस्तुत किया है। भाष्यकार सूर्य, मणि आदिके दृष्टान्त द्वारा इसकी पुष्टि कर रहे हैं। घरके एक स्थानपर रखा हुआ दीपक भी पूरे घरको प्रकाशित कर सकता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

बुध्यते स्वेन भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत्॥

(श्रीमद्भा० ११/७/५१)

सूर्य अपनी किरणमण्डलके सहित अभिन्न रूपमें लक्षित होनेपर भी जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जलपात्रोंमें प्रतिबिम्बित होकर स्थूलबुद्धिविशिष्ट मनुष्योंको वह अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा स्वरूपमें अवस्थित रहते हुए अभिन्न रूपमें ही लक्षित हुआ करता है, किन्तु भिन्न-भिन्न देहरूप उपाधिमें प्रवेश करनेपर प्रतिबिम्बित सूर्यकी भाँति स्थूलबुद्धिपरायण पुरुष उसे पृथक् रूपमें देखते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता (१३/३३) में पाया जाता है—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

इस श्लोककी टीकामें भाष्यकार श्रीमद् बलदेव प्रभु लिखते हैं— *'देहधर्मेणालिप्त एवात्मा स्वधर्मेण देहं पुष्णातीत्याह—यथेति यथैको रविरिमम् कृत्स्नं लोकं प्रकाशयति प्रभया, तथैकः क्षेत्री जीवः कृत्स्नमापादमस्तकमिदं क्षेत्रं देहं प्रकाशयति चेतयति चेतनयेत्येवमाह सूत्रकारः—गुणाद्वालोकवत् इति।'*

अर्थात् देह-धर्ममें अलिप्त आत्मा अपने धर्मके द्वारा ही देहका पोषण करती है। दृष्टान्त द्वारा बता रहे हैं कि जिस प्रकार एक ही सूर्य उदित होकर समस्त लोकको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्री जीव भी आपाद-मस्तक समस्त क्षेत्रको प्रकाशित करता है अर्थात् देहमें चैतन्यका सम्पादन करता है। इस सम्बन्धमें ब्रह्मसूत्रकारने कहा है— *'गुणाद् लोकवत्'* अर्थात् जीव अपने गुणसे आलोकके समान (लौकिक व्यवहारके समान) देहव्यापी होता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

अनन्त स्फटिके यैछे एक सूर्य भासे।
तैछे जीवे गोविन्देर अंश प्रकाशे॥

(चै॰च॰आ॰ २/१९)

अर्थात् अनन्त स्फटिक मणियोंमें जैसे एक ही सूर्य प्रतिभात होते हैं, वैसे ही जीवोंमें श्रीगोविन्दके अंश प्रकाशित होते हैं॥ २४॥

अवतरणिका भाष्य—गुणस्य गुण्यतिरिक्ते देशे वृत्तिरुक्ता। तां दृष्टान्तेन बोधयति।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—गुण-गुणीके स्थानसे भिन्न स्वतन्त्र स्थानमें रहता है, यह पहले कहा गया है, इसी स्थितिको दृष्टान्त देकर कहते हैं—

सूत्र—व्यतिरेको गन्धवत् तथाहि दर्शयति॥ २५॥

सूत्रार्थ—'व्यतिरेकः'—आश्रयसे व्यतिरिक्त (पृथक्) स्थलपर 'गन्धवत्' जिस प्रकार गन्धादि प्रसर्पित (समस्त दिशाओंमें व्याप्त) होते हैं, उसी प्रकार जीवका चेतयितृत्व (चेतनता) गुण हृदयसे अतिरिक्त स्थलपर भी प्रसर्पित होता है। 'तथाहि दर्शयति'—कौषीतकी उपनिषद वही दिग्दर्शित कर रहा है—'प्रज्ञया शरीरं समारुह्येत्यादि'—आत्मा चेतयितृत्व गुणसे समस्त शरीरको अधिकार करती है॥ २५॥

सूत्रानुवाद—आत्मा चैतन्यरूप अपने गुणके द्वारा उसी प्रकार शरीरमें व्याप्त रहती है, जिस प्रकार गन्ध गुण होनेपर भी गुणी द्रव्य (पृथ्वी आदि) से अतिरिक्त देशमें रहता है॥ २५॥

गोविन्दभाष्य—यथा कु
चेतयितृत्वस्य जीवगुणस्य तत्प्रदेशे हृद्व्यतिरिक्ते शिरोऽङ्घ्र्यादौ वृत्तिः स्यात्। तथाहि दर्शयति। *'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य'* (कौ॰ ३/६) इति कौषीतक्युपनिषद्। गन्धः खलु दूरं प्रसर्पन्नपि स्वाश्रयात् न भिद्यते मणिप्रभावत्। उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद्ब्रूयुरनैपुणाः। पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुञ्च संश्रितमितिस्मृतेः॥ २५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस प्रकार पुष्पादिके गुण-गन्धको गुणवान (गुणी) द्रव्य पुष्पादिसे भिन्न स्थलपर ही अवस्थिति होती है, उसी प्रकार जीवके चेतयितृत्व-गुण भी हृदयसे भिन्न मस्तक-चरणादि अंशमें अवस्थित होते हैं। कौषातकी उपनिषदसे भी इसी प्रकार जाना जाता है यथा—*'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य'* इति—जीव चेतयितृत्व गुणके द्वारा समस्त शरीरको अधिकार करके रहता है। जिस प्रकार मणि-प्रभा दूर-दूर बिखरनेपर भी मणिसे पृथक् नहीं रहती, उसी प्रकार कु
गन्ध दूर-दूर तक फैलते हुए भी अपने आश्रयसे विच्युत (पृथक्) नहीं होती। जलमें गन्धकी उपलब्धि करके कोई अज्ञ व्यक्ति उसे जलका गुण कह बैठे, किन्तु वास्तवमें यह गुण पृथ्वीका है—जल एवं वायुका आश्रय करनेसे यह ऐसा प्रतीत होता है। स्मृति-वाक्य (श्रीमहाभारत) में भी यही कहा गया है॥ २५॥

सूक्ष्मा-टीका—व्यतिरेक इति। प्रज्ञयेति। अत्रात्मज्ञानयोः कर्त्तृकरणभावेन प्रत्ययः स्फु
उपलभ्येति बादरायणवाक्यं स्फु
विशेषहेतुकभेदकार्यसत्त्वात् न तस्याणुत्वक्षतिरित्याहुः। एवमन्यत्र च बोध्यम्॥ २५॥

सूक्ष्मा-सार— *'व्यतिरेक'* इत्यादि सूत्रके भाष्यमें 'प्रज्ञया' इत्यादि कौषीतक उपनिषद (३/६) में आत्माका कर्त्तृरूपमें और प्रज्ञाका करण रूपमें ज्ञान हुआ है—यह स्पष्ट ही है। *'स्वाश्रयात् न भिद्यते'* इसका भावार्थ है कि उससे (गुणी पदार्थसे) पृथक् नहीं होता—यह गुणीके स्वभाववश है। *'उपलभ्येत्यादि'* बादरायण (वेदव्यास) की उक्ति है (श्रीमहाभारत) इसका अर्थ सुस्पष्ट है। आत्माके धर्मस्वरूप ज्ञानका आत्माके साथ 'पार्थक्य न रहनेपर भी वैशेष्यवश (विशिष्टताके कारण) भेद-कार्य होता है, इसीलिए जीवके अणु सम्बन्धमें कोई हानि नहीं है, यही बात बतला रहे हैं। इस प्रकार अन्य स्थलपर भी जानें॥ २५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—गुणसमूह जो गुणीसे दूर अवस्थान कर सकते हैं—उसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि व्यतिरेक अर्थात् जिस स्थलपर गुणी नहीं रहता, उस स्थलपर भी गुण रह सकता है। जिस प्रकार जिस स्थानपर पुष्प नहीं है, उस स्थलपर भी पुष्पके गुण गन्धका अनुभव होता है, उसी प्रकार जीवका चेतयितृत्व गुण भी जीवके आधार हृदयसे अतिरिक्त स्थान अर्थात् मस्तक-चरणादिमें भी अवस्थित रह सकता है। इस विषयमें कौषीतकी उपनिषद (३/६) में पाया जाता है—

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य शरीरेण सुख-दुःख आप्नोति' इत्यादि—अर्थात् आत्माको कर्त्तारूपमें और प्रज्ञाको करण रूपमें जानना चाहिये। जैसे दीपक अपनी प्रभा द्वारा सम्पूर्ण घरको व्याप्त करता है, उसी प्रकार आत्मा अपने चैतन्यरूप गुणके द्वारा शरीरपर समारूढ़ होता है और उस शरीरके द्वारा सुख-दुःख प्राप्त करता है।

छान्दोग्यश्रुति भी चैतन्य-गुणका प्रतिपादन कर रही है—

'भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरुपमिति'।

(छा॰ ८/८/१)

अर्थात् प्रजापतिके पूछनेपर इन्द्र और विरोचनने उत्तर दिया—'भगवन्! हम अपने इस समस्त आत्माको लोभ और नख पर्यन्त ज्यों-का-त्यों देखते हैं।'

आचार्य श्रीरामानुजने भी इस प्रसङ्गमें कहा है कि जिस प्रकार पृथ्वीका गुण गन्ध पृथ्वीसे अतिरिक्त अन्य स्थानपर भी अनुभूत होता है, उसी प्रकार ज्ञातास्वरूप आत्माका गुण-ज्ञान-आत्मज्ञानसे अतिरिक्त समस्त देहमें भी अनुभूत होता है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः।
नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः॥
(श्रीमद्भा॰ ४/२०/८)

अर्थात् जो पुरुष (जीव) देहस्थ आत्माको पूर्वोक्त प्रकारसे जानते हैं, वे देहमें स्थित होकर देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होते, बल्कि मुझ परमेश्वरमें ही अवस्थित रहते हैं॥ २५॥

अवतरणिका भाष्य—एष हि द्रष्टेत्यादौ (प्र॰उ॰ ४/६) संशयः। जीवस्य धर्मभूतं ज्ञानमनित्यं नित्यं वेति। पाषाणकल्पे जीवे मनसा संयुक्ते ज्ञानमुत्पद्यते। सुखमहमित्यादिश्रुतेः। ज्ञानत्वं तस्य ज्ञानसम्बन्धात् बोध्यम्। वह्नित्वमिव वह्निसम्बन्धादयसः। यदि ज्ञानं नित्यं तर्हि सुषुप्त्यादौ तत् स्यात् करणव्यर्थता चेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता'* इत्यादि श्रुतिको विषय करके संशय होता है कि जीव जो नित्य है, उसका धर्मभूत अर्थात् गुणभूत ज्ञान नित्य है अथवा अनित्य है। इस सन्दर्भमें पूर्वपक्षी मीमांसा करते हैं कि जीवात्मा पाषाणके समान एकत्र (एक स्थानपर) स्थिर, निष्क्रिय है। जब उसका मनके साथ संयोग होता है, तब ज्ञान उत्पन्न होता है। *'सुखमहमस्वाप्सम्'*—'मैं बहुत सुखपूर्वक सोया'—यह प्रतीति जिस क्षण होती है, उसी क्षण मन पुरीतत् नाड़ीसे लौट आता है उसी क्षण। अतएव ज्ञान अनित्य है—यह श्रुति यही कहती है। तब जो आत्माका ज्ञानत्व अर्थात् ज्ञानस्वरूपता कही जाती है, वह ज्ञानत्व ज्ञानसे सम्बन्ध रहनेके कारण है—यह जानना होगा। इसके लिए दृष्टान्त है—जिस प्रकार लोहेमें अग्नि स्वरूपता नहीं होनेपर भी अग्निके संयोगसे उसकी अग्निस्वरूपता बोध होती है, इसी प्रकारसे। यदि ज्ञान नित्य होता तो सुषुप्तिकालमें भी ज्ञान

रहता केवल इतना ही नहीं, मनके संयोग होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है, यह कहनेसे मनकी (इन्द्रियोंकी) करणता भी व्यर्थ होती है क्योंकि नित्य वस्तुकी उत्पत्तिके अभावमें करण समूहका (इन्द्रियसमूहका) प्रयोजन नहीं रहता। पूर्वपक्षीकी इस मीमांसापर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्राणुत्वमहत्त्वावाक्ययोरेकत्र विरोधे महत्त्वं ब्रह्मगतं व्यवस्थाप्याणुत्वं जीवस्य प्रतिपादितमिति यथा तयोर्विरोधःपरिहृतस्तथेह धर्मभूतज्ञानविषयकयोर्नित्यत्वानित्यत्ववाक्ययोर्विरोधे धर्मनित्यत्ववाक्यस्याविनाशीत्यादे-र्नैर्गुण्यानुरोधेन व्याख्याने द्वयोरविरोधान्निर्गुणाणुचैतन्यमात्रो जीवोऽस्त्विति दृष्टान्तोऽत्र सङ्गतिः। सुखमहमित्यत्रानित्यं ज्ञानं प्रतीतम्। अविनाशीत्यत्र तु नित्यं तत्। तदनयोर्विरोधसंशये अनित्यनित्यगुणविषयकत्वाद्विरोधे प्राप्ते द्वयोरपि नित्यगुण-विषयकत्वादविरोधः। स चेत्थं चिन्त्यः—सुखमहमित्यत्र सुषुप्तिसाक्षिण्यपि ज्ञानमस्त्येव। कथमन्यथोत्थितस्य सुखविमर्शः। अनुभूतमेव हि सर्वं स्मरति। न च साक्षी ज्ञानशून्यः साक्षित्वानुपपत्तेः। अविनाशीत्यत्र तु स्वरूपतोऽविनाशी जीवः स पुनरनुच्छित्तिधर्मेति उच्छेदरहितो धर्मो यस्येति धर्मतोऽप्यविनाशीत्यर्थः। व्याख्यान्तरे पौनरुक्त्यम्। यथा न क्रियते ज्योत्स्नेत्यादि बलादिदं व्याख्यानं बोध्यम्। एतमर्थं हृदि निधाय न्यायमाह एष हीत्यादिना। काणादनयेन पूर्वपक्षो बोध्यः। तज्ज्ञानम्—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वाधिकरणमें अणुत्व एवं महत्त्व बोधक दोनों वाक्योंको एकत्र करनेके पक्षमें विरोध उपस्थित होनेके कारण ब्रह्मके महत्त्वको निर्धारित करके जीवके अणुत्वका प्रतिपादन किया गया था जिस प्रकार अणुत्व एवं महत्त्वका विरोध है, इसी प्रकार इस अधिकरणमें ब्रह्म एवं जीवके धर्मभूत ज्ञान विषयक नित्यत्व एवं अनित्यत्व बोधक दोनों वाक्योंका विरोध है इस कारण नित्यत्व धर्म बोधक अविनाशी इत्यादि वाक्योंके निर्गुणत्वानुरोधसे व्याख्या करनेपर फिर उन वाक्योंका विरोध नहीं रहता। अतएव जीवात्मा निर्गुण, अणुपरिमाण, चित्स्वरूप हो, इस प्रकार की दृष्टान्त सङ्गति इस अधिकरणमें जाननी चाहिये। *'सुखमहमस्वाप्सम्'* इत्यादि वाक्यमें ज्ञान अनित्य प्रतीत होता है, *'अविनाशी'* इत्यादि वाक्यमें ज्ञान नित्य प्रतीयमान होता है। अतएव इन दोनोंका ज्ञान विरोध है? कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षीके मतमें अनित्य एवं नित्य गुण विषयको एकत्र करनेमें विरोध होगा ही, समाधान करते हुए दोनोंको ही नित्य-गुण विषय करनेमें विरोधका अभाव कहेंगे—यह इस रूपसे विचारणीय

है। *'सुखमहमस्वाप्सम्'* इत्यादि वाक्यसे जाना जाता है कि जो ज्ञान अनित्य है, किन्तु वह नहीं है क्योंकि सुषुप्तिके साक्षी आत्मामें उस समय ज्ञान है ही, अन्यथा जागरणके बाद किस प्रकारसे सुखकी स्मृति होती है? जो अनुभव किया जाता है, उसीकी स्मृति होती है। पुनः उस कालमें साक्षी आत्मा ज्ञानरहित है यह भी कहा नहीं जाता, ऐसा होनेपर उसका (आत्माका) साक्षित्व भी युक्तियुक्त नहीं होता। अविनाशी इत्यादि वाक्यमें जो अविनाशीत्व कहा गया है, उसका तात्पर्य है कि स्वरूपतः जीव अविनाशी है, यह तो है ही पुनः धर्मतः भी वह उच्छेदरहित अर्थात् अनुच्छित्ति धर्मा है अर्थात् जिसका धर्म उच्छेद (नाश) रहित है। अन्य प्रकारकी व्याख्यामें पुनरुक्ति दोष घटित होता है। जिस प्रकार मणिकी ज्योत्स्ना (मल) को धोकर नहीं की जाती, इत्यादिके समान बलपूर्वक (जोर देकर) यह व्याख्या होती है, यह जानें। इस तात्पर्यको मनमें रखकर यह अधिकरण कहते हैं—*'एष हि'* इत्यादि वाक्य द्वारा। वैशेषिक-मतमें पूर्वपक्ष जानना चाहिये। *'ततस्यात्'* इत्यादिमें 'तत्' का अर्थ है ज्ञान।

सूत्र—पृथगुपदेशात्॥ २६॥

सूत्रार्थ—'पृथक्'—बृहदारण्यकोपनिषदमें ज्ञानके अविनाशित्वके सम्बन्धमें एक स्वतन्त्र वाक्य है, जिसमें 'उपदेशात्'—ज्ञानका नित्यत्व कहा गया है॥ २६॥

सूत्रानुवाद—आत्मा नित्य है और उसका ज्ञानरूपी धर्म भी नित्य है, श्रुतिमें जीवात्माके धर्मभूत ज्ञानका पृथक् उपदेश है॥ २६॥

गोविन्दभाष्य—धर्मभूतं ज्ञानं नित्यम्। कु
पृथग्भूते *'अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा'* (४/५/४) इत्यादि बृहदारण्यकवाक्ये तत्त्वेन तस्योपदेशात्। न च मनसा संयोगादात्मनि ज्ञानोत्पत्तिः, निरवयवयोस्तयोः संयोगासिद्धेः। भगवद्वैमुख्येनावृतमिदं तत्साम्मुख्येन तस्मिन् विनष्टे सत्याविर्भवतीति स्मृतिराह—*'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः। दोषप्रहाणान् न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा॥ यथोदपानखननात् क्रियते न जलान्तरम्। सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कु*
प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते' इति॥ २६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आत्माका धर्मभूत जो ज्ञान है, वह नित्य है, किस कारणसे? *'एष हि'* इत्यादि वाक्यसे पृथक्‌भूत *'अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा'* इत्यादि अर्थात् 'अरे मैत्रेयि! यह आत्मा विनाशरहित है एवं इसका धर्म है ज्ञान, यह उच्छेदरहित अर्थात् अनित्य है', बृहदारण्यक (४/५/४) वाक्यमें ज्ञानका नित्यरूपमें उपदेश है, अतएव ज्ञान नित्य है। यदि कहो, आत्माका मनके साथ संयोग होनेपर ज्ञान उत्पन्न होता है—यह कथन है तो वह भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि मन भी अणु है, आत्मा भी अणु-परिमाण है। अतएव अवयवहीन (निरवयव) इन दोनोंका संयोग नहीं हो सकता, तब इस कथनका मूल क्या? वह भी बता रहे हैं कि जिस समय भगवान्‌से विमुखता रहती है, उस समय यह ज्ञान आवृत रहता है, इसलिए इसे अनित्य रूपमें माना जाता है। पुनः जब वह भगवत्-विमुखतारूप आवरण नष्ट होता है अर्थात् भगवान्‌के प्रति साम्मुख्य होता है, तब ज्ञान प्रकाशित होता है। यही बात स्मृति-वाक्य भी कहते हैं—*'यथा न क्रियते'* इत्यादि। जिस प्रकार मलसे आवृत मणिकी प्रभा एवं आलोक मल-प्रक्षालन द्वारा उत्पन्न नहीं होते, अपितु उस मलसे आवृत उसकी सिद्ध प्रभा (आवरण प्राप्त स्वाभाविक ज्योत्स्ना) मलापसरण (मलके अपगम) द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, इसी प्रकार आत्माका भी नित्य सिद्ध ज्ञान आवरणके नष्ट हो जानेपर ही प्रकाशित होता है, दोषसे च्युति (दोष-नाश) उस ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता। और भी एक दृष्टान्त है—यथेत्यादि—जिस प्रकार कु खोदनेसे नूतन जलकी सृष्टि नहीं होती, उसके मध्य स्थित मृत्तिका द्वारा आवृत्त जलका ही आविर्भाव होता है, इसी प्रकार सिद्ध वस्तु ही अभिव्यक्त होती है। जो वस्तु है ही नहीं, उस असत् वस्तुकी उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? इसी प्रकार आत्माके उपाधिस्वरूप देवत्व, मनुष्यत्वादि हेय गुणोंके ध्वंस होनेपर ही जीवका आवृत गुण सच्चिदानन्द स्वरूप प्रकाशित होता है, वह कोई उत्पन्न नहीं होता। अभिप्राय यह है कि आत्माके ज्ञानादि गुण नित्य हैं, वैमुख्यके कारण आवृत रहते हैं॥ २६॥

सूक्ष्मा-टीका—पृथगिति। तत्त्वेन नित्यत्वेन। तयोरात्ममनसोः। भगवदिति। इदं धर्मभूतं ज्ञानम्। तस्मिन् भगवद्वैमुख्ये। यथा नेति शौनकवाक्यम्। आत्मनो जीवस्य। सदेव विद्यमानमेव जलं व्यक्तिं प्राकट्यं नीयते। तथेति। हेया गुणास्तु देवत्वमनुष्यत्वादयो बोध्याः॥ २६॥

सूक्ष्मा-सार— *'पृथगुपदेशात्'* इस सूत्रके भाष्यमें *'तत्त्वेन तस्योपदेशात्'* इति तत्त्वके द्वारा अर्थात् नित्यत्व रूपमें, तस्य अर्थात् ज्ञानका। *'निरवयवयोस्तयोः'* इतिमें 'तयोः' अर्थात् आत्मा एवं मनका। *'भगवद्वैमुख्येन'* इत्यादिमें इदं का अर्थ है—यह धर्मस्वरूप ज्ञान। *'तस्मिन् विनष्टे सतीति'* अर्थात् यह भगवत्-वैमुख्य विनष्ट होनेपर *'यथा न क्रियते'* (विष्णुधर्मे १०४/५५-५७) इत्यादि वाक्य शौनक-उक्ति है। *'आत्मनः क्रियते'* इतिमें 'आत्मनः' अर्थात् जीवात्माका, *'सदेव नीयते व्यक्तिम्'* इति अर्थात् कु
होता है। तथा इत्यादि *'हेयगुणाः'* से देवत्व, मनुष्यत्व इत्यादि गुणोंको जानें॥ २६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस समय पुनः पूर्वपक्षवादियोंने एक संशय उठाया है। वे कहते हैं कि उपनिषदोंने कहा है—*'एष हि द्रष्टा, स्रष्टा, श्रोता'* इत्यादि (प्र॰उ॰ ४/९)—यहाँ सन्देह यह है कि जीवका धर्मभूत ज्ञान नित्य है अथवा अनित्य? यदि नित्य है, तो सुषुप्ति आदिमें भी इस प्रकारसे बोध हो सकता है और दूसरी बात है—नित्य वस्तुकी उत्पत्तिके अभावमें मनरूप करणकी भी व्यर्थता होती है। पूर्वपक्षीके इस संशयके निरसनके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पृथक् उपदेशके कारण जीवका धर्मभूत ज्ञान नित्य ही है। बृहदारण्यकश्रुतिमें कहा है—यह आत्मा अविनाशी है और इसका धर्मभूत ज्ञान उच्छेद रहित है, इसलिए नित्य ही है।

मनके साथ आत्माके संयोगसे ज्ञानोदय होता है, यह कहना सङ्गत नहीं है, क्योंकि मन और आत्मा दोनों ही अवयवरहित हैं। इनका परस्पर संयोग असम्भव है। भगवत्-विमुखता क्रमसे जीवका नित्य ज्ञान आवृत रहता है; पुनः भगवत्-साम्मुख्य क्रमसे उक्त आवरण दूरीभूत होनेपर नित्यज्ञान उदित होता है। दृष्टान्त स्थलपर कहा जाता है—जिस प्रकार मणिका मैल दूर हो जानेपर उसका

स्वाभाविक तेज प्रकाश पाने लगता है और कूप खनन करनेपर मिट्टीके अन्दर स्थित जल ऊपर आने लगता है, इसी प्रकार जीवका धर्मभूत ज्ञान स्वतःसिद्ध और नित्य है। हेयगुणके ध्वंस होनेपर नित्य गुणका प्राकट्य साधित हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत् तं, भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२/३७)

अर्थात् कृष्णसे इतर जो माया है, उसमें अभिनिवेश होनेके कारण जीवको भय उपस्थित होता है और उन ईशसे बहिर्मुख होनेके कारण माया जनित विपरीत स्मृति होती है, इस कारण पण्डित व्यक्ति गुरुको देवता और आत्मस्वरूप जानकर भक्तिके साथ परमेश्वरका भजन करें।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

कृष्ण भुलि सेइ जीव-अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

(चै॰च॰म॰ २०/११७)

अर्थात् नित्यमुक्त जीव कभी भी कृष्ण-विस्मृत नहीं होते, अनादिकालसे कृष्णोन्मुख रहकर हरिसेवारूप नित्यवृत्तिमें अधिष्ठित होते हैं, किन्तु जो जीव कृष्ण सेवाधिकारसे विस्मृत होकर अनादि कर्मफल भोगवासना क्रमसे मायाका अनुशीलन करके स्वयंको कर्मफल-भोक्ता रूपमें बुद्धि करते हैं, उनके लिए ही माया द्वारा कर्मफल भोग निर्दिष्ट होता है। 'मैं कृष्णका नित्य दास हूँ' यह भूलनेसे ही जीवका माया-बन्धन है।

तटस्थशक्तिरूप जीवका चिज्जगत और मायिक जगत्की सन्धि-सीमाके अवस्थिति कालमें माया-भोग-वासना करनेसे उसका माया-प्रवेश होता है। माया-प्रवेशसे मायिक-कालकी गणना होती है। उस काल-गणनाके पहलेसे ही बहिर्मुखता होनेके कारण जीवको अनादि बहिर्मुख कहा जाता है, क्योंकि उसकी यह बहिर्मुखता मायिक कालके पूर्वसे है।

और भी देखा जाता है—

कृष्ण नित्यदास जीव ताहा भुलि गेल।
एइ दोषे माया तार गलाय बान्धिल॥

ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।
मायाजाल छुटे, पाय कृष्णेर चरण॥

(चै॰च॰म॰ २२/२४-२५)

अर्थात् जीव जो 'कृष्णका नित्यदास' है—इस सत्यसे विस्मृत होनेमें ही माया जीवको नाना प्रकारसे प्रलुब्ध एवं विमोहित करके त्रिगुणात्मक शृङ्खलाको गलदेशसे आबद्ध कर देती है। इससे उस बद्धजीवका भोग-वासनारूप मायिक-शृङ्खला बन्धनसे परित्राण पाना दुर्घट हो जाता है। गुरु-सेवा और कृष्ण-भजन बलसे ही बद्धजीव मायाजालसे मुक्त होकर कृष्णपादपद्म प्राप्त करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(श्रीगीता ७/१४)

अर्थात् मुझ परमेश्वरकी अलौकिकी वैष्णवी सत्त्वरज-तमोमयी बहिरङ्गाशक्ति भुक्ति-मुक्ति-वासनाबद्ध जीवोंके लिए दुरतिक्रम्य है। जो मुझ स्वरूपशक्तिसे युक्त स्वयं-भगवान् कृष्णका सर्वात्मना (सम्पूर्णरूपेण) से आश्रय करते हैं, वे ही इस जीव विमोहिनी प्रकृतिको पराजित कर सकते हैं।

और भी,

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

(श्रीगीता २/१७)

अर्थात् जो इस सारे शरीरमें व्याप्त है, उसे ही तुम अविनाशी जानो।

इस श्लोकके भाष्यमें श्रीमद् बलदेव प्रभु कहते हैं—*'येन सर्वमिदं शरीरं ततं धर्मभूतेन ज्ञानेन व्याप्तमस्ति; ... तादृशस्य निखिल देहव्याप्तिस्तु धर्मभूतज्ञानेनैव स्यात्॥'*

अर्थात् इस अविनाशी तत्त्व जीवात्माके द्वारा यह समस्त शरीर व्याप्त है, धर्ममूलक ज्ञानके द्वारा इसकी परिव्याप्ति है। इस अव्यय (नित्य) परमाणुस्वरूप आत्माका विनाश नहीं है। इसका विनाश कोई कर ही नहीं सकता। पापपूर्ण शरीरका ही विनाश सम्भव है। इस जीवात्माका देहरूपमें परिणाम है, यह कभी सोचना मत। इस अणु आत्माको चित्तके द्वारा जानो। इसमें पाँच प्रकारके प्राण (प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान) प्रविष्ट हैं। इस प्रकारकी आत्माकी निखिल-देह-व्यापिता धर्ममूलक ज्ञानके द्वारा ही होगी॥ २६॥

अवतरणिका भाष्य—यो विज्ञाने तिष्ठन्नित्यादि (बृ०आ० ३/७/२२) श्रुतेर्गतिमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'यो विज्ञाने तिष्ठन्'* अर्थात् 'जो विज्ञान रूपमें रहता हुआ' इत्यादि श्रुतिकी उपपत्ति कहते हैं—

सूत्र—तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्॥ २७॥

सूत्रार्थ—'तद्व्यपदेशः' आत्माका ज्ञाता होनेपर ही उसका ज्ञानरूपमें निर्देश है, 'तद्गुणसारत्वात्' क्योंकि आत्माका ज्ञानरूप धर्म स्वरूपानुबन्धी है—दृष्टान्त है 'प्राज्ञवत्' जिस प्रकार प्राज्ञ (ज्ञाता) रूपमें उक्त विष्णुको 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुति ज्ञानस्वरूपमें निर्देश करती है॥ २७॥

सूत्रानुवाद—ज्ञात होना जीवका सारभूत अर्थात् स्वरूपानुबन्धी गुण है, इसलिए श्रुति 'यो विज्ञाने तिष्ठन्'—'जो विज्ञानमें अवस्थान करते हुए' कहकर इस जीवका ज्ञानस्वरूपमें निरूपण करती है, जैसे प्राज्ञ (प्रकृष्ट ज्ञानवान) परमात्माको सत्यज्ञान गुण होनेके कारण सत्यज्ञान कहा जाता है॥ २७॥

गोविन्दभाष्य—ज्ञातुरपि जीवस्य ज्ञानस्वरूपत्वेन व्यपदेशः। कु स ज्ञानलक्षणो गुणः सारो यत्र तथात्वात्। सारो व्यभिचाररहितः स्वरूपानुबन्धीति यावत्। प्राज्ञवत् यथा—*'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'* (मु० १/१/९) इति प्राज्ञत्वेनोक्तस्य विष्णोः *'सत्यं ज्ञानम्'* (तै० २/१/१) इति ज्ञानस्वरूपव्यपदेशस्तद्वत्। अत्र ज्ञाता ज्ञानस्वरूपो निर्दिष्टः॥ २७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीवके 'ज्ञातास्वरूप' होनेपर भी जीवका 'ज्ञानस्वरूप' में व्यपदेश (उल्लेख) क्यों नहीं होता। इसका उत्तर

है—*'तद्‌गुणसारत्वात्'* यह ज्ञानस्वरूप गुण (धर्म) उसके सारको लेकर है—अव्यभिचारी (व्यभिचाररहित) स्वरूपानुबन्धी धर्म (गुण) ही सार है। इस विषयमें दृष्टान्त है—प्राज्ञवत्—ज्ञाता विष्णुके समान अर्थात् श्रुति विष्णुको ही 'सर्वज्ञः' 'सर्ववित्' कहकर भी—उन्हें 'सत्यं ज्ञानम्' ब्रह्म सत्य और ज्ञानस्वरूप हैं—यह कहती है, उसी प्रकार जीवको ज्ञाता और ज्ञानस्वरूप जानना। उक्त दोनों ही श्रुतियोंमें ज्ञाताजीवको ही ज्ञानस्वरूप कहकर निदर्शन किया है॥ २७॥

सूक्ष्मा-टीका—तद्‌गुणेति प्राज्ञत्वेनेति प्रकृष्ट ज्ञानशालित्वेनेत्यर्थः॥ २७॥

सूक्ष्मा-सार—*'तद्गुणेत्यादि'* सूत्रमें *'प्राज्ञत्वेनोक्तस्य विष्णोरित्यादि'* भाष्यमें प्राज्ञत्वेन अर्थात् प्रकृष्ट (सर्वाधिक) ज्ञानवान होनेके कारण॥ २७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब बृहदारण्यकोपनिषदमें उक्त *'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानम्'* (बृ॰आ॰ ३/७/२२) इत्यादि—(जो विज्ञानमें रहनेवाला विज्ञानके भीतर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता) इत्यादि श्रुतिकी उपपत्ति करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं—ज्ञातृस्वरूप जीवके गुणकी सारवत्ताके कारण प्राज्ञ-श्रुतिके समान उसके ज्ञानस्वरूपका व्यपदेश होता है। यह उसका स्वरूपानुबन्धी अव्यभिचारी गुण है। जिस प्रकार विष्णु सर्वज्ञ, सर्ववित् शब्दसे उद्दिष्ट होकर भी सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप रूपमें कहे जाते हैं, उसी प्रकार जीव भी ज्ञाता होनेसे ज्ञानस्वरूपमें निर्दिष्ट होता है।

श्रीरामानुज भी कहते हैं—कई बार षण्डको भी 'गो' शब्द द्वारा निर्देशित किया जाता है। जब तक षण्डत्व (साँड़त्व) रहता है, तब तक गोत्व भी रहता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका।
ज्ञान त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२४/४)

अर्थात् उन दोनों अंशोंमें प्रकृति एक अंश है, वह कार्य-कारणात्मिका है और ज्ञान दूसरा अंश है, वह पुरुष नामसे अभिहित है।

इस श्लोकको टीकामें श्रील चक्रवर्त्तीपाद कहते हैं—*'तयोर्द्विधा-भूतयोरंशयोर्मध्ये एकतरो मायाख्यो ह्यर्थः प्रकृतिः। सा चोभयात्मिका कार्य-कारणरूपिणी अन्यतमोऽर्थः ज्ञानं ज्ञानस्वरूपः। स च पुरुषो जीवः।'*

अर्थात् दो शक्तियोंके दो भाग होनेके कारण इन दोनों अंशोंके मध्य एक माया नामका पदार्थ प्रकृति है, वह भी उभयरूपा अर्थात् कार्य और कारणरूपिणी है। इनमेंसे दूसरा और एक पदार्थ है, जो ज्ञानस्वरूप है, वह जीव है।

और भी,

यर्ह्यब्जनाभचरणै-षणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद्गुण-कर्म्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद्यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/३/४०)

जिस समय जीव श्रीहरिके पादपद्मकी सेवाकी अभिलाषासे उत्पन्न परम प्रेमभक्तिके बलसे गुण और कर्मसे उत्पन्न काम आदि अन्तःकरणकी मलराशिको विनाश करनेमें समर्थ होता है, तभी अपने निर्मल नेत्रोंके द्वारा सूर्यदेवके प्रकाशकी भाँति विशुद्ध अन्तःकरणमें आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करता है॥ २७॥

अवतरणिका भाष्य—अथ ज्ञानस्वरूपो ज्ञाता निर्द्देश्य इत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति है कि ज्ञाता यदि ज्ञानस्वरूपमें निर्देश्य है तो वह है किस प्रकार? इसे प्रतिपन्न करना उचित है, इसीको प्रतिपन्न करते हैं—

जीव—ज्ञानस्वरूप और ज्ञाता

सूत्र—यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्॥ २८॥

सूत्रार्थ—'यावदात्मभावित्वाच्च'—और भी एक कारण है, आत्मा जितने समय तक व्याप्त रहती है, ज्ञान भी उतने ही समय तक स्थायी रहता है अर्थात् ज्ञानके बिना ज्ञाता कभी भी प्रतीत नहीं होता,

अतएव ज्ञाता ज्ञानस्वरूप है—'न दोष'—यह निर्देश करना दोषावह नहीं है, 'तद्दर्शनात्'—श्रुतिमें यह देखा जाता है॥ २८॥

सूत्रानुवाद—ज्ञानस्वरूप आत्माकी ज्ञाता रूपमें प्रतीति है, इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह प्रतीति समान-काल-भाविनी है। जीवात्माका अनादिकालसे अनन्तकाल तक अवस्थान है, अतः उसका ज्ञाता गुण भी ज्ञानस्वरूपताके साथ अविच्छिन्न रूपसे रहता है॥ २८॥

गोविन्दभाष्य—ज्ञानस्वरूपो जीवो ज्ञातेति व्यपदेशो न दोषः निर्दोष इत्यर्थः। कु
खल्वनाद्यन्तकालः संप्रतिपन्नः, प्रकाशरूपोऽपि रविः प्रकाशयितेति वीक्षणाच्च। यावद्रविर्भावी ह्येष व्यपदेशः, निर्भेदेऽपि वस्तुनि द्वेधा भाति विशेषादित्याहुः॥ २८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ज्ञानस्वरूप जीवको ज्ञाता कहकर निर्देश करनेमें कोई दोष नहीं है अर्थात् यह निर्दोष है। किस कारणसे? उत्तर है *'तद्दर्शनात्'* अर्थात् इसी प्रकारसे प्रतीति होती है—इस कारण तात्पर्य यह है कि आत्मा जितने समय तक स्थितिमान है, तब तक ज्ञानकी भी सत्ता है, इसलिए यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञाता है—इस निदर्शनमें कोई बाधा नहीं है। जीवात्मा अनादि अनन्तकालसे ज्ञानविशिष्ट (ज्ञानसम्पन्न) रही है इस कारण। जैसे सूर्यको प्रकाशस्वरूप होकर भी प्रकाशक होते देखा जाता है। जब तक सूर्य रहेगा, तब तक उस प्रकाशात्मक सूर्यका प्रकाशक रूपमें भी निर्देश होगा। यद्यपि दो अभिन्न वस्तुएँ दो रूपोंमें प्रतीत नहीं हो सकतीं, किन्तु आत्मा अथवा सूर्य धर्म-धर्मी भेदसे रहित (निर्भेद) होनेपर भी द्विधा (विभिन्न) रूप प्रतिभात होते हैं, इसका कारण इनका स्वगत विशेषत्व ही है। यह बात प्राचीन जन कहते हैं॥ २८॥

सूक्ष्मा-टीका—यावदात्मेति। तथा प्रतीतेरिति। ज्ञानस्वरूपस्य ज्ञातृत्वेन प्रतीतेरित्यर्थः। स व्यपदेशः। विशेषादिति। अहिकु

सूक्ष्मा सार—*'यावदात्मभावित्वादित्यादि'* सूत्रकी तथा *'प्रतीतेरात्म-समानकालभावित्वादि' भाष्यमें* 'तथा प्रतीतेः' अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्माकी ज्ञातृत्वरूपमें प्रतीति होनेके कारण। *'न स बाध्यते इति'* में 'सः' का

अर्थ है वह व्यपदेश (निर्देश) *'द्वेधा भाति वैशेष्यादित्याहुः'* अर्थात् यह विशेषत्व अहि-कु

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जीव ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञाता किस प्रकारसे है? सूत्रकार वही कह रहे हैं कि ज्ञानस्वरूप जीवका ज्ञातृत्व (ज्ञाता) रूपमें व्यपदेश (कथन) दोषावह नहीं है। इसका कारण आत्माका समान काल भावी ज्ञान प्रतीत होता है अर्थात् जब तक आत्मा व्यापी है, तब तक ज्ञानका भी स्थायित्व है। इस विषयमें दृष्टान्तस्वरूप कहा जाता है—प्रकाशस्वरूप होकर भी सूर्य जिस प्रकार प्रकाशक है—इसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञाता है। आत्मा एवं सूर्यका धर्म-धर्मी भेदरहित होकर भी विभिन्न रूपमें प्रतिभात होनेके कारण उनका स्वगत विशेषत्व है—यह प्राचीन लोगोंका कहना है। ज्ञान जैसे स्वप्रकाश है, आत्मा भी वैसे ही स्वप्रकाश है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिदो निरहंक्रियः॥

मन्यमानस्तदाऽऽत्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः॥

एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः॥

(श्रीमद्भा० ३/२७/१४-१६)

अर्थात् सूक्ष्मभूत इन्द्रिय, मन और बुद्धि निद्रावश असत् प्रकृतिमें जब लीन हो जाते हैं, उस समय जो विनिद्र और अहङ्कारशून्य होकर अवस्थान करते हैं, वे ही मुझे प्राप्त होता है। भूत, इन्द्रियादिके असत् प्रकृतिमें लीनावस्थानके समय वह द्रष्टा जीव विनष्ट नहीं होता, किन्तु जैसे कोई धनवान् धन नष्ट होनेपर स्वयंको ही नष्ट रूपमें अभिमान कर लेता है, उसी प्रकार उपाधिभूत अहङ्कारके नष्ट हो जानेपर वह जीव भी अकारण (भ्रमवश) अपनेको नष्ट हुआ मान लेता है। इस प्रकार विशेष रूपसे विचार करते हुए (मनन करते हुए)

पूर्वोक्त भावयुक्त विवेकी पुरुष उन परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं, जो समस्त कार्य एवं कारणके प्रकाशक एवं आश्रय (अधिष्ठान) हैं॥ २८॥

अवतरणिका भाष्य—ननु गुणभूतं ज्ञानं नात्मनो नित्यं सुषुप्तावसत्त्वाज्जागरे सामग्र्याः सम्भवाच्चेति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि अच्छा! ज्ञान नित्यस्वरूप आत्माका गुण अर्थात् धर्म है किन्तु वह नित्य तो नहीं है क्योंकि सुषुप्तिकालमें वह रहता नहीं है और जागरण-कालमें ज्ञानकी कारण-सामग्रीके रहनेपर यह उत्पन्न होता है। इस प्रकार जाग्रत-अवस्था मात्रमें ही उद्भूत होनेके कारण यह ज्ञान अनित्य ही है—यदि यह कहते हो तो इस पर कहते हैं—

सूत्र—पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्॥ २९॥

सूत्रार्थ—'तु'—यह शङ्का सङ्गत नहीं है अर्थात् सुषुप्तिकालमें अविद्यमान ज्ञानकी जाग्रत दशामें उत्पत्ति है—ऐसा नहीं है, किस कारण से? 'सतः'—पहलेसे ही विद्यमान 'अस्य'—इस ज्ञानकी सुषुप्तिकालमें अवस्थिति रहनेपर भी उसकी जाग्रत दशामें 'अभिव्यक्तियोगात्' अभिव्यक्ति होती है, इसलिए इसकी अनित्य रूपमें प्रतीति होती है, दृष्टान्त है—'पुंस्त्वादिवत्'—जिस प्रकार बाल्यावस्थामें जीवात्माके साथ सूक्ष्मभावसे अवस्थित पुरुषत्वकी कैशोर दशामें अभिव्यक्ति होती है॥ २९॥

सूत्रानुवाद—सुषुप्ति आदिमें ज्ञान रहता ही है, परन्तु उस समय वह अनभिव्यक्त रूपमें रहता है, जाग्रत अवस्थामें उसकी अभिव्यक्ति सम्भव होती है। यह यावदात्मभावी गुण (जब तक आत्मा है, तब तक ज्ञान है) पुंस्त्वादिके समान है॥ २९॥

गोविन्दभाष्य—तुशब्दः शङ्काच्छेदार्थः। नेत्यनुवर्त्तते। सुषुप्तावसतो ज्ञानस्य जागरे सम्भव इति न। कु
जागरेऽभिव्यक्तेरित्यर्थः। दृष्टान्तः—पुंस्त्वादिवत्। बाल्ये जीवात्मना सत एव पुंस्त्वादेः कैशोरे यथाभिव्यक्तिस्तद्वत्। सुषुप्तौ ज्ञानप्रसङ्गस्तु श्रुत्यैव परिहृतः। सुषुप्तं प्रकृत्य बृहदारण्यके पठ्यते—*'यद्वै तन्न विजानाति विजानन् वैतद्विज्ञेयं न विजानाति न*

हि विज्ञातुर्विज्ञानात् विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात् न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' (बृ॰आ॰ ४/३/३०) इति। इह तदा सदपि ज्ञानं विषयितया नाभ्युदेति विषयाभावादेवेति प्रतीयते। इतरथा सुषुप्तौ स्थितस्यापरामर्शप्रसङ्गः स्यात्। इन्द्रियसंयोगरूपा कारणसामग्री तु तदभिव्यञ्जिका। असतः सम्भवे तु क्लीवस्यापि तदापत्तिः। तस्मात् ज्ञानस्वरूपोऽणुर्जीवो नित्यज्ञानगुणकः सिद्धः॥ २९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द शङ्काकी निवृत्तिके लिए पठित है। 'न' इस निषेधार्थक नकारकी पूर्वसूत्रसे अनुवृत्ति है। सुषुप्तिकालमें जो ज्ञान अविद्यमान था, उसकी जाग्रत-दशामें उत्पत्ति हुई है—यह कहना ठीक नहीं है—किस कारणसे? *'अस्य सतोऽभिव्यक्ति-योगात्'*—अर्थात् यह ज्ञान उस समयमें (सुषुप्तिकालमें) में भी रहता है, जाग्रत-दशामें उसकी अभिव्यक्ति होती है—इस कारणसे। इसका दृष्टान्त है—*'पुंस्त्वादिवत्'*—जिस प्रकार बाल्यकालमें पुरुषत्व (जननशक्ति) विद्यमान रहनेपर भी उसकी कैशोरमें अभिव्यक्त होती है, इसी प्रकार जीवका ज्ञान है यदि कहो, सुषुप्तिकालमें ज्ञान रहनेपर ज्ञानका प्रसङ्ग क्यों नहीं रहता? तो यह कहा नहीं जा सकता। बृहदारण्यकके सुषुप्ति प्रकरणमें सुषुप्तिको अधिकार करके जो श्रुति पठित है, उसके द्वारा 'तत्कालीन ज्ञान' का प्रसङ्ग परिहृत (खण्डित) हुआ है, यथा *'यद्वैतन्न विजानाति ... यद्विजानीयादिति'* (बृ॰आ॰ ४/३/३०) अर्थात् 'सुषुप्तिकालमें जो ज्ञान रहता है, उसे विज्ञाता पुरुष (जीव) जान नहीं पाता। सुषुप्तिकालमें जीवके चैतन्य रहनेपर भी उसकी चेतनता अभिव्यक्त नहीं रहती है। इसका कारण है—विषयका अभाव अर्थात् ज्ञाता उस विज्ञेय वस्तुको विषय नहीं करता, इसी कारण विज्ञाताके विज्ञानका नाश नहीं होता क्योंकि विज्ञान विज्ञातासे विज्ञान अविनाशी है विज्ञातासे पृथक् द्वितीय पदार्थ नहीं है, जिसे विज्ञाता विशेष रूपसे जाने।'—इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि सुषुप्तिकालमें ज्ञान विद्यमान रहनेपर भी वह ज्ञान किसी विषय (पदार्थ) को विषय करके अर्थात् विषयी रूपसे उदित नहीं होता अर्थात् प्रकाशित नहीं होता। इसका कारण है—उस समय उसके ज्ञेय विषयका अभाव रहता है। ऐसा ही प्रतीत होता है। यदि ऐसा नहीं मानते हैं, तो सुषुप्तिकालमें स्थित उस विज्ञानात्मक आत्माका अनवस्थान हो पड़ता है। जाग्रत-दशामें जो उसका प्रकाश है, इसका

कारण है इन्द्रिय-संयोगरूप कारण सामग्री अर्थात् कारण-कूट—यह सामग्री ही संवलित (मिलित) ज्ञानकी अभिव्यञ्जक है उस समय उसका अभाव रहनेके कारण ज्ञानकी स्फूर्ति नहीं होती है। यदि अभिव्यक्ति न कहकर असत्की उत्पत्ति कहें, तो किशोरावस्थामें क्लीव (नपुंसक) पुरुषकी भी प्रजोत्पादन शक्ति (पुंस्त्व) उत्पन्न हो। अतएव सिद्धान्त यह है जीव ज्ञानस्वरूप और अणुपरिमाण है, ज्ञान उसका नित्य गुण है॥ २९॥

सूक्ष्मा-टीका—पुंस्त्वादिवदिति। यद्वै तदिति। तत् जीवचैतन्यम्। विज्ञानादिति। धर्मभूतस्य ज्ञानस्येत्यर्थः। सूत्रां सुलुगित्यादिना ङस आत्। तदभीति। इन्द्रिसंयोगो हि ज्ञानस्य व्यञ्जक एव न तु जनकः कैशोरसम्बन्धो यथा पुंस्त्वस्य॥ २९॥

सूक्ष्मा-सार— *'पुंस्त्वादिवत्त्वेत्यादि'* सूत्रके भाष्यमें *'यद्वैतन्नविजानाति'* इत्यादि श्रुतिमें स्थित 'तत्' शब्दका अर्थ है—जीव चैतन्य, *'विज्ञातुर्विज्ञानाद्विपरिलोपः'* इतिमें *'विज्ञानात्'* यह पद षष्ठी विभक्त्यन्त जानना होगा अर्थात् विज्ञानस्य षष्ठीङस स्थानपर आत् आदेश *सुपां सुलुक* (पा॰सू॰ ७/१/३९) इत्यादि वैदिक सूत्रके अनुसार है। इसका अर्थ है—आत्माके नित्य धर्मभूत ज्ञानका। *'तद्भिव्यञ्जिकेति'*— विषयके साथ इन्द्रियका संयोग ज्ञानका व्यञ्जक है, ज्ञानका जनक नहीं, जैसे कि कैशोर वयसका सम्बन्ध पुरुषत्वका अभिव्यञ्जक है॥ २९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस स्थलपर और एक पूर्वपक्ष होता है कि सुषुप्ति दशामें जब जीवका ज्ञान देखा नहीं जाता है, उस समय जीवका गुणभूत (धर्मभूत) ज्ञान नित्य नहीं है अर्थात् जागरणकालमें ज्ञानकी विद्यमानताकी सम्भावना होती है और यह जागरणकाल मात्र ही स्थायी होता है, इसलिए नित्य नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर उसके खण्डनके लिए सूत्रकार कहते हैं कि बाल्यावस्थामें सूक्ष्मभावसे अवस्थित पुरुषत्वादि जिस प्रकार कैशोर अथवा यौवनमें प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार जीवका नित्य धर्मभूत ज्ञान भी सुषुप्ति अवस्थामें सूक्ष्म रूपमें रहता है, जाग्रत अवस्थामें वह विशेष रूपसे प्रकाशित होता है। बृहदारण्यकमें देखा जाता *'यद्वै तन्न'* इत्यादि—इस

श्रुतिकी व्याख्या भाष्यमें द्रष्टव्य है। सुषुप्तिमें यदि ज्ञानका अस्तित्व न रहता, तो जीवका भी अवस्थान न होता। पुनः असत् वस्तुकी उत्पत्ति सम्भव होने लगे, तो क्लीवका भी बाल्यावस्थामें क्लीवत्व अथवा पुरुषत्व प्रकाशित हो। इसलिए जीव ज्ञानस्वरूप अणुचैतन्य है और नित्य ज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न है—यही सिद्ध होता है।

श्रीपाद रामानुजाचार्यने भी कहा है—बाल्यावस्थामें जिस प्रकार पुरुषत्व (शुक्रत्व) का अस्तित्व रहनेपर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती, प्रत्युत् यौवन वयसके सम्बन्धमें ही उसकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार सुषुप्ति कालमें भी उस विज्ञाति (विज्ञानशक्ति) की उपलब्धि नहीं होती, वह रहती अवश्य है, पर जाग्रत-दशामें उसकी उपलब्धि होती है। विषयके साथ इन्द्रियका संयोग ही ज्ञानका व्यञ्जक है, उसे ज्ञानका जनक नहीं समझ लेना चाहिये।

और भी, *'न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखताम्। सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वदा'*, अर्थात् मुक्तजीव मृत्यु नहीं देखता, न रोग और दुःख ही देखता है, अन्य सब कु
और सब कु

'नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्' अर्थात् उस मुक्त पुरुषको अतिनिकटस्थ इस शरीरका भी स्मरण नहीं रहता, वह मनसे ही समस्तको देखता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१३/२७)

अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों वृत्तियाँ गुणोंसे उत्पन्न हैं और जीव इन सबका साक्षीके रूपमें इनसे सर्वथा विलक्षण है, यही सिद्धान्त श्रुति, युक्ति और अनुभूतिसे युक्त है।

और भी,

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्म्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।

स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥
(श्रीमद्भा० ११/१३/३२)

अर्थात् जो जाग्रत अवस्थामें चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंके द्वारा बाहर दिखनेवाले बाल्य, तारुण्य आदि क्षणभङ्गुर देह आदि स्थूल विषयोंका भोग किया करता है और स्वप्न अवस्थामें हृदयमें ही जाग्रतमें देखे हुए पदार्थोंके समान ही वासनामय विषयोंका भोग करता है और सुषुप्ति अवस्थामें उन सब विषयोंको समेटकर, उनके लयको भी अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत अवस्थाके इन्द्रिय, स्वप्न अवस्थाके मन और सुषुप्तिकी संस्कारवती बुद्धिका भी वही स्वामी है। क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। 'जो मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ'—इस स्मृतिके बलपर एक परमात्म वस्तुका ही सब अवस्थाओंमें होना सिद्ध हो जाता है॥ २९॥

अवतरणिका भाष्य—अथैतत्प्रतिपक्षभूतान् सांख्यान् दूषयति। अत्र ज्ञानमात्रो विभुरोत्मेति युक्तं न वेति विषये सर्वत्र कार्योपलम्भात् युक्तं तत्। अणुत्वे सर्वाङ्गीणसुखदुःखानुपलम्भः। मध्यमत्वे त्वनित्यतापत्तिः। कृतहान्यकृताभ्यागमश्चेत्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद इस मतके प्रतिपक्षमें सांख्यवादियोंके मतमें दोष उपस्थित करते हैं। प्रस्तुत अधिकरणका विषय है, 'ज्ञानस्वरूप आत्मा विभु है' इसमें संशय यह है कि यह वैदान्तिक मत युक्तियुक्त है? कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं—जीवात्मा विभु ही है और यही मत युक्त है क्योंकि आत्माकी कार्य-अनुभूतिकी उपलब्धि समस्त स्थानोंपर होती है। यह आत्मा अणु-परिमाण नहीं है; यदि ऐसा होता तो सर्वाङ्गमें सुख-दुःखकी उपलब्धि बाधित होती। पुनः यदि इसे मध्यम-परिमाण कहें तो जीवात्माका अनित्यत्व होता है और ऐसा होनेसे कृतकर्मका नाश और अकृतकर्मकी उपस्थितिरूप दोष घटित होते हैं। पूर्वपक्षीय इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ज्ञानस्वरूपस्य जीवस्याणुत्वं नित्यज्ञानगुणकत्वञ्च पूर्वमुक्तं तदाक्षिप्य समाधानादोक्षेपोऽत्र सङ्गतिरित्यभिप्रायेणाहाथैतदित्यादिना—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—ज्ञानस्वरूप जीवका अणु-परिमाण और नित्यज्ञान-गुणवत्ता पहले भी प्रतिपादित हुई थी—अब इसके ऊपर जो आक्षेप है, उसके समाधानके लिए इस अधिकरणमें आक्षेप-सङ्गति है। इस अभिप्रायसे भाष्यकार कहते हैं। अथैदतित्यादि ग्रन्थ द्वारा कहते हैं—

सूत्र—नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा॥ ३०॥

सूत्रार्थ—'अन्यथा'—अन्य प्रकारसे होनेपर अर्थात् जीवात्माको ज्ञाता न मानकर केवल ज्ञानस्वरूप और विभु (परम महत्-परिमाण विशिष्ट) कहनेपर 'नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः'—मनुष्योंकी नित्य एवं एक ही कालमें विषयोपलब्धि अथवा विषयकी अनुपलब्धिका प्रसङ्ग होता। 'अन्यतर नियमो वा'—अथवा उपलब्धि या अनुपलब्धिका प्रतिबन्ध नित्य ही होता॥ ३०॥

सूत्रानुवाद—यदि उपर्युक्त सिद्धान्त (जीव नित्य ज्ञाता एवं ज्ञानस्वरूप और अणु-परिमाण है) नहीं मानें, तो जीवकी विभुता और ज्ञानमात्र स्वरूपताकी एक साथ एक ही कालमें सदा उपलब्धि अथवा सदा अनुपलब्धि होगी—या तो नित्य उपलब्धि होगी या नित्य अनुपलब्धि होगी। इस प्रकार अनियमता स्वीकार करनी पड़ेगी॥ ३०॥

गोविन्दभाष्य—अन्यथा ज्ञानमात्रो विभुरात्मेति मते नित्यमुपलब्ध्यनुपलब्ध्याः प्रसङ्गः स्यात्। अन्यतरस्य नियमः प्रतिबद्धो वा नित्यं स्यात्। अयमर्थः। लोकसिद्धोपलब्धिरनुपलब्धिश्चास्ति। तयोर्विभुरात्मा चिन्मात्रश्चेत् कारणं, तर्हि नित्यं युगपच्च ते सर्वस्य लोकस्य प्राप्नुयाताम्। अथोपलब्धेरेव चेत् कारणं तदा कस्यापि कु
कु
करणैः सर्वदा संयोगात्। किञ्च तन्मते सर्वात्मनां विभुतया सर्वशरीरैर्योगात् सर्वत्र भोगप्राप्तिः। एतेनादृष्टविशेषात् भोगव्यवस्थेति सङ्कल्पविशेषाददृष्टव्यवस्थेति प्रत्युक्तम्। मतान्तरेऽप्येतत् समं दूषणम्। अस्माकं त्वात्मनामणुत्वेन प्रतिशरीरं भेदान्न कश्चिदधिक्षेपः। अणोरपि सर्वत्र कार्यक्रमेणैव न युगपदित्यदोषः। सर्वाङ्गीणसुखाद्युपलम्भस्तु गुणेन व्याप्तेरित्युक्तम्॥ ३०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अन्यथा अर्थात् जीवात्मा यदि केवल ज्ञानस्वरूप और विभु होती, तब उस मतानुसार नित्य ही उपलब्धि और नित्य ही अनुपलब्धि दोनों ही होते। अथवा उपलब्धि-अनुपलब्धिमें किसी एकका नियम अथवा प्रतिबन्ध (बाधा) नित्य ही होता। बात यह है कि विषयकी उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि लोकप्रसिद्ध वस्तु है। चित्-स्वरूप आत्मा यदि इन दोनोंके कारण विभु होती, तो सब मनुष्योंकी सर्वदा और एक साथ ही उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनों ही घटित होते। किन्तु ऐसा होता नहीं। और यदि विभु आत्मा केवल उपलब्धिका ही कारण होती है, तो किसीकी भी किसी भी समय किसी भी विषयकी अनुपलब्धि न होती। और यदि यह विभु आत्मा केवल अनुपलब्धिका ही कारण होती, तो किसी व्यक्तिको किसी भी समय किसी भी विषयकी उपलब्धि न होती। यदि कहो करण (इन्द्रियों) की आत्माके साथ सम्बन्ध-अधीनताके कारण उपलब्धि-अनुपलब्धिकी व्यवस्था होती है अर्थात् करणके सम्बन्धके योगसे उपलब्धि है और करणका सम्बन्ध न रहनेसे अनुपलब्धि है—ऐसी व्यवस्था है, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि आत्माको तो आपलोग विभु मानते हैं, अतएव समस्त शरीरमें उसका सर्वदा ही करण (इन्द्रियोंके) साथ सम्बन्ध रहेगा और इस सम्बन्धसे संयोग रहनेके कारण समस्त आत्मामें ही सर्वत्र ही भोगकी प्राप्ति होगी। और यदि कहो, अदृष्ट-विशेषसे भोगकी व्यवस्था होती है एवं जीवका सङ्कल्प देखकर अदृष्ट-विशेषकी व्यवस्थाकी कल्पना करनी होती है, तो भी समस्त आत्माओंका सब समय भोग हो नहीं सकता—इस कथनके द्वारा इस (व्यवस्था-सम्बन्धित) युक्तिका भी प्रत्युत्तर दे दिया गया है। मतान्तर (गौतमादिके मत) में भी यह दोषारोपण समान ही है अर्थात् न्याय-वैशेषिकके मतमें आत्माको विभु कहा गया है—तो विभु माननेपर समस्त शरीरोंकी समस्त इन्द्रियोंके साथ आत्माका योग है—यह मानना होगा और समस्त आत्माओंके अदृष्ट-उपार्जन एवं सङ्कल्पोंमें भी समान योग मानना होगा। इसलिए समस्त आत्माओंकी एक साथ सुख-दुःखादि भोगकी आपत्ति होना अनिवार्य है। हमारे मतमें जीवात्मा बहु एवं अणु परिमाण हैं। अतः

आत्माओंके भेदवश जिस देहान्तर्वर्त्ती आत्माका जिन देहस्थ इन्द्रियोंके साथ संयोग है, उसका ही भोग है, अन्यका नहीं। आत्माके अणु होनेपर भी सर्वत्र अर्थात् समस्त लोगोंमें कार्यक्रमके कारण युगपत् किसी भी उपलब्धिकी सम्भावना नहीं है अतएव कोई भी आक्षेप अथवा दोष नहीं है। अणुत्वके कारण सर्वाङ्गीण सुखोपलब्धि भी ज्ञानरूप धर्म द्वारा उसकी व्याप्तिके कारण सिद्ध होगी, यह पहले भी बताया गया है। जीवका जो शरीर अदृष्ट द्वारा रचित है, उस शरीरमें उसी आत्माका भोग होगा, अन्यका नहीं॥ ३०॥

सूक्ष्मा-टीका—नित्योपलब्धीति। न चेति। तयोरुपलब्ध्यनुपलब्ध्योः करणायत्ता व्यवस्थेत्यन्वयः। करणयोगे सत्युपलब्धिः तदयोगे त्वनुपलब्धिरित्यर्थः। न चैतत् सम्भवेदित्यर्थः। तत्र हेतुरात्मन इति। तन्मते सांख्यमते। एतेनेति। यच्छरीरं यददृष्टेन रचितं तत्र तस्यैवात्मनो भोगो नान्यस्येति। येन सङ्कल्प्य कर्म कृतमस्यैव तददृष्टमिति च सांख्या व्यवस्थापयन्ति। तच्च परिहृतम् अदृष्टोपार्ज्जने सङ्कल्पे च सर्वेषामात्मनां सम्बन्धादित्याशयः। मतान्तरे गौतमादिनये। अस्माकं वेदान्तिनाम्। सर्वत्र सर्वेषु लोकेषु॥ ३०॥

सूक्ष्मा-सार— *'नित्योपलब्ध्यनुपलब्धीत्यादि'* सूत्रमें *'करणायत्ता तयोर्व्य-वस्थेति'* भाष्यमें 'तयोः' का अर्थ है उपलब्धि तथा अनुपलब्धि का। *'करणायत्ता व्यवस्वस्था'* इसके साथ अन्वय है। इसका अर्थ है—इन्द्रियके साथ योग होनेपर उपलब्धि होगी और ऐसा नहीं हुआ तो उपलब्धि नहीं होगी। *'न च इति'*—यह सम्भव नहीं होगा—यही अर्थ है? इस विषयमें (असम्भवमें) जो हेतु है; वह बताते हैं— *'आत्मनो विभुत्वनेति'*। *'किञ्च तन्मते इति'* में 'तन्मते' का अर्थ है 'सांख्य-मतमें' *'एतेनादृष्ट विशेषादिति'*—यह जीवका शरीर जो अदृष्ट द्वारा रचित है, उस शरीरमें ही इस आत्माका भोग होगा, अन्यका नहीं। आत्माने सङ्कल्पके साथ जो कार्य किया है, उसीके उस अदृष्टकी कल्पना करनी होती हैं, यह व्यवस्था सांख्यवादी करते हैं। *'तच्च परिहृतामिति'*—उसका खण्डन किया गया है—यथा—अदृष्टके उत्पादनमें और सङ्कल्पमें समस्त आत्माके ही (विभुत्वके कारण) सम्बन्धके कारण—यह अभिप्राय है। मतान्तरे—गौतमादि दर्शनमें। *'अस्माकम्'*—वेदान्तियोंका, *'सर्वत्र कार्यक्रमेणैवेति'* में सर्वत्र का अर्थ है—समस्त लोकोंमें॥ ३०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब इस वैदान्तिक सिद्धान्तके प्रतिपक्षमें सांख्यवादी इत्यादिका दोष प्रदर्शित कर रहे हैं। इस स्थलपर संशय यह है कि ज्ञानस्वरूप आत्माका विभुत्व (व्यापकत्व) युक्तियुक्त है कि नहीं? पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जीवात्मा विभु ही है, क्योंकि सभी स्थानोंमें उसके कार्यकी उपलब्धि है। वे और भी कहते हैं कि जीवात्माके अणुस्वरूप होनेपर सर्वाङ्गीण सुख-दुःखकी अनुपलब्धि घटित होती है। मध्यम परिमाण माने जानेपर जीवात्माका अनित्यत्व प्रसङ्ग घटित होता है, जिससे कृतकर्मकी हानि और अकृतकर्मका अभ्यगम (उपस्थिति) प्रसङ्ग दोष घटित होते हैं। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सूत्रकारने उत्तरमें यह सूत्र प्रस्तुत किया है, इसमें वे कहते हैं कि जीवको अणु स्वीकार न करनेपर अर्थात् आत्माको ज्ञानमात्र और विभु कहनेपर वस्तुकी उपलब्धि और अनुपलब्धिसे कोई भी एक नित्य निरन्तर घटेगी। इस विषयमें विस्तारपूर्ण व्याख्या भाष्यकारके भाष्य एवं टीकामें देखनी चाहिये।

श्रीपाद रामानुजाचार्यके भाष्यका सार भी यही है कि यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप और विभु होती, तो एक व्यक्तिको जो उपलब्धि होती, सभीको वह उपलब्धि होती, क्योंकि प्रत्येक आत्मा समस्त व्यक्तियोंके करण (इन्द्रियों) के साथ संयुक्त रहती। और एक बात है कि प्रत्येक आत्मा यदि विभु अर्थात् सर्वव्यापक होती, तो एक विशेष अदृष्टके साथ एक विशेष आत्माके सम्बन्धका भी कोई हेतु नहीं रहता।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्॥

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि।
तदन्यकल्पनापार्थी ज्ञानञ्च प्रकृतेर्गुणः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२२/१०-११)

अर्थात् अनादि अविद्याके द्वारा युक्त वा अयुक्त पुरुष या जीवको अपने आप आत्मतत्त्व ज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिए अपनेसे श्रेष्ठ सर्वतत्त्वज्ञ परमेश्वरका (जीवसे) भेद ही होगा—वे पृथक् ही होंगे, यह वैष्णवका विचार है। पचीस तत्त्व माननेवाले इस शरीरमें जीव

और ईश्वर दोनोंका ही चित्-स्वरूप होनके कारण उनमें कोई भेद नहीं मानते। इसलिए उनमें भेद कल्पना व्यर्थ है। इस मतमें ज्ञान भी सत्त्वगुणकी वृत्ति होनेके कारण प्रकृतिकी अपेक्षा भिन्न नहीं है।

श्रील चक्रवर्त्तीपादकी टीकामें पाया जाता है—*'पुरुषेश्वरयो- जीवात्मपरमात्मनोः अत्र उक्तलक्षणे भेदे वर्त्तमानेऽपि न वैलक्षण्यमपि अभेदोऽपि, कीदृशं अणु अल्पमात्रं चिद्रूपत्वेन शक्तिमत्त्वेन वा ऐक्यात् तयोभेदेऽप्यल्पमात्रः खल्वभेदो वर्त्तत एवेति भावः।'*

अर्थात् जीवात्मा और परमात्माका उक्त रूपसे भेद रहनेपर भी पार्थक्य नहीं है, अभेद ही है—किस प्रकारसे? उत्तरमें कहते हैं कि अणु अर्थात् अल्पमात्र चित्-रूपके कारण जीवशक्ति है, परमेश्वर शक्तिमान हैं, इसी कारण दोनोंमें ऐक्य है, दोनोंके भेदमें भी अल्पमात्र अभेद ही है—यही भावार्थ है, जीव विभुचैतन्यका अणुमात्र है।

और भी प्राप्त होता है—

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्म्मभिः प्रभो।
उच्चावचान् यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च॥
(श्रीमद्भा० ११/२२/३५)

अर्थात् श्रीउद्धवजीने कहा—जो आपसे विमुख है, वे अपने कर्मानुसार जिस प्रकार ऊँच और नीच नाना प्रकारके शरीरोंको धारण करते हैं और त्याग करते हैं।

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्॥
(श्रीमद्भा० ३/३१/४३)

अर्थात् देवि! पुरुष उपाधिस्वरूप लिङ्ग-शरीरके साथ एक लोकसे दूसरे लोकमें भटकता हुआ निरन्तर कर्मफलोंका भोग करता है, किन्तु फिर भी वह दूसरी देहोंकी प्राप्तिके लिए उन कर्मोंमें ही लगा रहता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

कृष्ण भूलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।
दण्ड्यजने राजा येन नदीते चुबाय॥
(चै॰च॰म॰ २०/११७-११८)

सार-संक्षेप यह है कि आत्मा जब तक शरीरमें रहेगी, तब तक उसकी शरीर रूपसे उपलब्धि होती रहेगी, कोई बाधा नहीं रहेगी। विषयोपलब्धिको इन्द्रियाधीन माननेसे भी समस्त आत्माएँ विभु और इन्द्रियोंसे सदा संयुक्त रहतीं, उनका व्यवस्थापक कोई नहीं रहता, तब फिर वही बात होती, जो कि सर्वथा दोषपूर्ण है॥ ३०॥

अवतरणिका भाष्य—इदमिदानीं विचारयति। *'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च'* इति तैत्तिरीयाः (२/५) पठन्ति। इह सन्देहः—विज्ञानशब्दितो जीवः कर्त्ता न वेति। *'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते'* (१/२/१९) इति कठश्रुत्या तस्य कर्त्तृत्वप्रतिषेधान्न स कर्त्ता किन्तु प्रकृतिरेव कर्त्री। *'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते'* (श्रीगीता ३/२७) *'कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'* (श्रीगीता १३/३०) इत्यादि स्मृतिभ्यः। तस्मात् न जीवस्य कर्त्तृत्वं प्रकृतिगतं तत्त्वविवेकात् स्वस्मिन् सोऽध्यस्यति भोक्ता तु कर्मफलानामिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब कर्त्तृत्वके सम्बन्धमें इस प्रकारसे विचार करते हैं। तैत्तिरीयोपनिषदमें पाठकगण पाठ करते हैं कि *'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च'* (तै॰ २/५) विज्ञान (विज्ञानवान पुरुष) यज्ञका अनुष्ठान करता है और वही अन्यान्य समस्त कर्मोंका आचरण करता है। इस विषयमें सन्देह यह है कि विज्ञान शब्दका वाच्य जीवात्मा कर्त्ता है? कि नहीं? इस पर पूर्वपक्षी कहते हैं—काठकश्रुति (१/२/१९) में है—आत्मा कोई काम नहीं करता यथा हन्तचिन्मन्यते इत्यादि—यदि हत्या करनेवाला अपनेको हनन क्रियाका कर्त्ता मानता है अर्थात् मैं हनन का कर्त्ता हूँ और मारा हुआ व्यक्ति यदि मानता है मैं उसके द्वारा मारा गया हूँ तो वे दोनों ही ठीकसे नहीं जानते क्योंकि मारनेवाला स्वयं मारता नहीं है और मारा हुआ व्यक्ति भी किसीके द्वारा मारा नहीं गया है—इस श्रुतिके द्वारा हनन-कर्त्तृत्वके निषेधके कारण जाना जाता है

कि जीव कर्त्ता नहीं है, अपितु प्रकृति ही कर्त्री है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी यही घोषणा हुई है—*'प्रकृतेः क्रियेमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते'* (श्रीगीता ३/२७) प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम—ये ही समस्त कार्य करते हैं किन्तु जीवात्मा अहम् बुद्धिसे आच्छन्न मति होकर 'मैं कर्त्ता हूँ' यह मान लेता है। और भी, कार्य, कारण और कर्त्तृत्व विषयमें प्रकृति हेतु कही जाती है। आत्मा (पुरुष) सुख-दुःखके भोक्तृत्व विषयमें हेतु नामसे अभिहित है—इत्यादि स्मृति-वाक्योंसे प्रकृतिका कर्त्तृत्व और पुरुष भोक्तृत्वमात्र प्रतीत होता है। अतएव जीवका कर्त्तृत्व नहीं है किन्तु वह कर्मफलका भोक्ता है। पुरुष प्रकृतिके उस कर्त्तृत्वको अविवेकवश अपने ऊपर आरोपित (अध्यस्त) कर लेता है। पूर्वपक्षीके इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्वस्तूक्तव्याख्यानाज्ज्ञानस्वरूपस्य जीवस्य स्वरूपानुवद्विज्ञानगुणकत्वं तस्य स्वरूपाविरोधित्वात्। कर्त्तृत्वन्तु तस्य मास्तु अधिष्ठानादिपञ्चकापेक्षिणा तेन स्वरूपे ग्लानिप्रसङ्गादित्याक्षिप्य समाधानादाक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। तत्र विज्ञानं यज्ञमित्यादिवाक्यं जीवस्य कर्त्तृत्वं ब्रूते हन्ता चेदित्यादिकं तु तस्याकर्त्तृत्वं तदनयोर्विरोधोऽस्ति न वेति सन्देहे अर्थभेदादस्तीति प्राप्ते विधिशास्त्रसाफल्याद्धन्ता चेत्यादेरपि कर्त्तृत्वानुगुणार्थत्वादविरोधः स्वरूपानुबन्धि-कर्त्तृत्वस्याग्लानिकरत्वाच्चेत्येतमर्थं हृदि निधाय न्यायमाहेदमित्यादिना। प्रकृतेरिति श्रीगीतासु। प्रकृतेर्गुणैः सत्त्वादिभिः कर्माणि क्रियमाणानि भवन्तीति गुणानां कर्त्तृत्वं विस्फु
पूर्वपक्षेऽर्थः। सिद्धान्ते तु व्यावहारिकं यत् पुंसः कर्त्तृत्वं तत् स्वरूपहेतुकमपि तदा गुणवृत्तिप्राचुर्यात् गुणहेतुकमित्युपचर्यत इत्यर्थः। इत्थमेव वक्ष्यति। यथा च तक्षोभयथेत्यस्य व्याख्याने प्रकृतिगतं तत्त्विति प्रकृतिगतं कर्त्तृत्वं प्रकृत्यविवेकात् स जीवः स्वस्मिन्नध्यस्यति मन्यत इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति है कि उक्त व्याख्यासे ज्ञानस्वरूप जीवका स्वरूपानुबन्धी ज्ञान-गुण अवगत हो गया है, क्योंकि ज्ञान आत्मस्वरूपका अविरोधी है अर्थात् अव्यभिचरित स्थितिमान है अर्थात् विरोध रहित, अपवाद रहित स्थितिमें रहनेवाला है। जीवका कर्त्तृत्व नहीं है क्योंकि यह कर्त्तृत्व शरीर, कर्त्ता, करण, प्राणादि

चेष्टा एवं दैव—इन पाँच अधिष्ठानोंकी अपेक्षा करके रहता है। जीवका कर्त्तृत्व माननेपर वह जीवके स्वरूपके लिए हानिकर हो पड़ता है। आपत्ति करके समाधान करनेसे इस अधिकरणमें आक्षेप नामक सङ्गति है। इसमें संशयका कारण है—*'विज्ञानं यज्ञं तनुते'*—यह श्रुति जीवका कर्त्तृत्व कहती है और काठकश्रुति (१/२/१९) *'हन्ताचेन् मन्यते हन्तुम्'* इत्यादि वाक्यमें आत्मा (जीव) के कर्त्तृत्वका निषेध करती है, अतएव इन दोनों श्रुतियोंका विरोध है या नहीं? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं, हाँ विरोध है क्योंकि दोनों श्रुतियाँ दो विरोधी अर्थ प्रकाशित करती हैं। इसपर सिद्धान्तीका मन्तव्य है—*'स्वर्गकामोयजेत'* (बृ॰आ॰ १/४/१५) इत्यादि विधि-वाक्योंके साफल्य-रक्षणके लिए (सार्थकताके लिए) कर्त्तृत्व है और *'हन्ताचेन्मन्यते'* इत्यादि कर्त्तृत्व-विरोधी श्रुतिका भी कर्त्तृत्व-अनुकूल चेष्टाहीनत्व है—इस अर्थके कारण विरोध नहीं है लेकिन जीवका स्वरूपानुबन्धी कर्त्तृत्व अक्षत है—यह विचार करके इस अधिकरणको *'इदमिदानीं विचारयति'* कहकर आरम्भ करते हैं। *'प्रकृतेः क्रियमाणानि'* (श्रीगीता ३/२७) एवं *'कार्यकारण-कर्त्तृत्वे'* (श्रीगीता १३/२१) दोनों श्लोक श्रीमद्भगवद्गीतामें कहे गये हैं। प्रकृतिके सत्त्वादि गुणों द्वारा कर्म किये जाते हैं, अतएव *'प्रकृतेः क्रियमाणानि'* में प्रकृतिके द्वारा गुणोंका कर्त्तृत्व स्पष्ट रूपसे बोधित हो रहा है। किन्तु (सांख्य-मतमें) पुरुषके कर्त्ता न होनेपर भी वह जीव अध्याशवश विमूढ़ होकर इस गुणकृत कर्त्तृत्वको अपनेमें मान लेता है—यह व्याख्या पूर्वपक्षीय है। सिद्धान्तपक्षीय व्याख्या अन्य प्रकारसे है व्यावहारिक पुरुषका जो कर्त्तृत्व है—वह स्वरूप-हेतुक होनेपर भी व्यवहार-कालमें गुण-वृत्तिके आधिक्यके कारण गुण-हेतुक होता है—जो कि लाक्षणिक है। यह तात्पर्य है। इसीको भाष्यकार *'यथाच तक्षोभयथा'* (२/३/३८) सूत्रकी व्याख्यामें कहेंगे। *'प्रकृतिगतं तत्त्व'* इति प्रकृतिगत कर्त्तृत्व-प्रकृतिके साथ आत्माकी भेद-बुद्धिके अभावमें वह जीव स्वयंमें अध्यास कर लेता है अर्थात् प्रकृतिके अविवेकसे अपनेमें मिथ्या ज्ञानका आरोप कर लेता है।

१४—कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वाधिकरणम्
जीवके कर्त्तृत्वका विचार

सूत्र—कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्॥ ३१॥

सूत्रार्थ—'कर्त्ता' जीव ही कर्त्ता है, प्रकृतिके सत्त्वादिगुण नहीं, इसका कारण, 'शास्त्रार्थवत्त्वात्' क्योंकि शास्त्रमें यही कहा है, यथा 'स्वर्गकामो यजेत' और 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' अर्थात् 'स्वर्गकी कामना करनेवाले यज्ञ करें' और 'मुक्तिकामी आत्मलोक (आत्मा संज्ञक लोक) की उपासना करें' इत्यादि—ये शास्त्र निहित विधि वाक्य 'चेतन' कर्त्तामें ही प्रयुक्त होनेसे युक्तियुक्त हैं, किन्तु गुणका कर्त्तृत्व स्वीकार करनेपर गुणके जड़त्वके कारण यह कृतिमत्त्वरूप शास्त्रार्थ बाधित होता है॥ ३१॥

सूत्रानुवाद—आत्मा ही कर्त्ता है, गुण नहीं—शास्त्रसे ऐसा ही निश्चित होता है। शास्त्रोंमें फलके भोक्ताको ही कर्त्ता कहा है॥ ३१॥

गोविन्दभाष्य—जीव एव कर्त्ता, न गुणाः। कु *'स्वर्गकामो यजेतात्मानमेव लोकमुपासीत'* (बृ०आ० १/४/१५) इत्यादिशास्त्रस्य चेतने कर्त्तरि सति सार्थक्यात् गुणकर्त्तृत्वेन तदनर्थकं स्यात्। शास्त्रं किल फलहेतुताबुद्धिमुत्पाद्य कर्मसु तत्फलभोक्तारं पुरुषं प्रवर्त्तयते। न च तद्बुद्धिर्जडानां गुणानां शक्योत्पादयितुम्॥ ३१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीवात्मा ही कर्त्ता अर्थात् कार्य करता है, गुण कर्ता नहीं है, किस कारणसे? वही कहते हैं—*'शास्त्रार्थवत्त्वात्'*—जीवका कर्त्तृत्व स्वीकार करनेपर ही शास्त्रार्थकी सङ्गति होती है, यथा *'स्वर्गकामो यजेत',* (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १०/२/१) *'आत्मानमेव लोकमुपासीत'* (बृ०आ० १/४/१५) अर्थात् स्वर्गकामी व्यक्ति यज्ञ करेंगे, (यह कर्म-उपासना है) आत्मलोकको ही उपासना करनी चाहिये। (यह श्रवण-उपासना है) इत्यादिमें शास्त्रार्थकी सार्थकता तभी होती है, जब कर्त्ता चेतन हो। गुणको कर्त्ता कहनेपर वह शास्त्रार्थ अनर्थक (असङ्गत) होता है, क्योंकि शास्त्र ही कर्मकी निश्चय-फलहेतुता (यागादि कर्म स्वर्गादि फल प्रदान करनेवाले हैं, ऐसी) बुद्धि उत्पन्न

कराके अर्थात् ऐसा ज्ञान कराके उस शास्त्रोक्त कर्मफलके भोक्ता पुरुषको कर्ममात्रमें प्रवृत्त कराते हैं, किन्तु गुण जड़ हैं, वे अपना फलहेतुता–ज्ञान उत्पन्न नहीं करा सकते॥ ३१ ॥

सूक्ष्मा–टीका—कर्त्तेति। प्रयत्नाश्रय इत्यर्थः। फलेति। फलप्रदानि कर्माणि भवन्तीति धियं जनयित्वेत्यर्थः। कर्मसु यागदानादिषु श्रवणादिषु चोपासनेष्वित्यर्थः। उभयेषां कृतिसाध्यत्वेन तौल्यात्॥ ३१ ॥

सूक्ष्मा–सार— *'कर्त्ता'* इत्यादि सूत्र। कर्त्ता अर्थात् कृतिमान्—प्रयत्नका आश्रय *'फलहेतुताबुद्धिमुत्पाद्य इति'* अर्थात् कर्मसमूह स्वर्गादि फलप्रद हैं—यह ज्ञान उत्पन्न करके। कर्मषु–याग, दान इत्यादि कर्ममें और श्रवणादि उपासनामें। ये दोनों प्रकारके कर्म ही प्रयत्न साध्य हैं, इसलिए समान हैं॥ ३१ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस समय अन्य एक प्रकारका विचार उपस्थित हुआ है—कोई यदि कहे कि तैत्तिरीयश्रुतिमें पाया जाता है—*'विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च।'* (तै॰ २/५/१) विज्ञान (विज्ञानवान पुरुष) यज्ञका अनुष्ठान करता है और वही अन्यान्य समस्त कर्मोंका आचरण करता है और काठकश्रुति (१/२/१९) में देखा जाता है *'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते'* यदि वध करनेवाला स्वयंको हनन–कार्यका कर्त्ता मानता है अर्थात् मैं हनन करनेवाला हूँ और मारा हुआ व्यक्ति यह मानता है कि मैं उसके द्वारा मारा गया हूँ तो वे दोनों ही ठीकसे नहीं जानते, क्योंकि मारनेवाला स्वयं मारता नहीं है और मारा हुआ व्यक्ति भी किसीके द्वारा मारा नहीं गया है। अतः इस स्थलपर एक संशय यह है कि विज्ञान–शब्दित जीव कर्त्ता है कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि ऐसी अवस्थामें जीवको कर्त्ता न कहकर प्रकृतिको ही कर्त्ता कहेंगे।

श्रीमद्भगवद्गीता में इसका समर्थन पाया जाता है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥

(श्रीमद्गी॰ ३/२७)

अर्थात् सभी प्रकारके कर्म प्रकृतिके गुणोंके द्वारा किये जाते हैं, परन्तु अहङ्कारसे मोहित चित्तवाला व्यक्ति ऐसा मान लेता है कि मैं कर्त्ता हूँ। इस प्रकार पूर्वपक्षके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि जीवको ही कर्त्ता कहना होगा, प्रकृतिके गुणको नहीं। क्योंकि शास्त्रने जीवके कर्त्तृत्वको स्वीकार किया है। शास्त्र कहते हैं—'स्वर्गकामी यज्ञ करें', 'मुमुक्षु आत्मलोकको उपासना करें' इत्यादि श्रुतियोंसे स्पष्ट होता है कि शास्त्रने चेतन जीवको ही कर्त्ताके रूपमें विचार किया है, यही माननेसे ही शास्त्रकी सङ्गति देखी जा सकती है। यदि जड़ गुणका कर्त्तृत्व कहें तो अनर्थक अर्थात् शास्त्रार्थकी असङ्गति हो पड़ती है।

श्रीरामानुज भी कहते हैं कि शास्त्र शब्दका अर्थ है—'जो शासन करता है।' यदि जीव कर्त्ता न होता तो उसका शासन किस प्रकार किया जा सकता था? जीवात्मा कर्त्तव्य-कर्ममें प्रवृत्त कराना ही शास्त्रका प्रयोजन है, अचेतन प्रकृतिको कर्ममें प्रवृत्त नहीं कराया जा सकता। कार्यके करने वालेको ही शास्त्रोक्त क्रियाका फल मिलता है—*'शास्त्र फलं प्रयोक्तरि'* सूत्रमें प्रयोक्ताका अर्थ है—कार्य करनेवाला। शास्त्रमें जो विधि निषेधका उपदेश करते हैं, तो यदि जीवमें कर्त्तापन न रहे तो ये वचन निरर्थक होते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां क्षेमस्य सध्र्यग्निमृशेषु हेतुः।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि दृढारतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या॥
(श्रीमद्भा॰ ४/२२/२१)

अर्थात् आत्मासे पृथक् देहादि अनात्म वस्तुमें जो आसक्ति-राहित्य (वैराग्य) तथा आत्मा और निर्गुण ब्रह्म-स्वरूपमें जो दृढ़ रति है, वही शास्त्रोंके सुष्ठु विचारमें जीवके कल्याण-प्राप्तिके रूपमें निश्चित है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें पाया जाता है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥
(श्रीगीता ३/१९)

अर्थात् हे अर्जुन! तुम अनासक्त होकर निरन्तर कर्त्तव्य कर्मका आचरण करो, क्योंकि अनासक्त होकर कर्मका आचरण करनेसे पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ २०/१२०) में देखा जाता है—

साधु शास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय।
सेइ जीव निस्तरे, माया ताहारे छाड़य॥

उक्त पयारोंकी टीका करते हुए हमारे परमाराध्यतम श्रीपाद भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकु

जीव कृष्णविमुख होनेके कारण संसारमें सुख-भोगमें व्यस्त हो जाते हैं। वैष्णव-कृपा और शास्त्रानुग्रहसे कर्मफल भोगवासनासे निर्मुक्त होकर वे कृष्णसेवामें उन्मुख होते हैं और भुक्ति एवं मुक्ति दोनोंकी ही कामनासे मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। कृष्णसेवापरा बुद्धि होनेपर विषय-भोगवासना रूप माया उन्हें छोड़ देती है। कृष्णसेवोन्मुख होनेपर उस समय जीव फिर और अहंग्रहोपासनामें मत्त होकर मुक्तिकामी-ज्ञानी अथवा विषय-भोगवासना क्रमसे फलभोगकामी होकर कृष्णेतर वस्तुमें आबद्ध नहीं होता, बल्कि मायाके हाथोंसे निस्तार पा लेता है॥ ३१॥

अवतरणिका भाष्य—वास्तवमेव कर्त्तृत्वं जीवस्येत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—जीवका कर्त्तृत्व ही यथार्थ (वास्तव) है, अब यही बात कहते हैं—

सूत्र—विहारोपदेशात्॥ ३२॥

सूत्रार्थ—'विहार' मुक्त जीव इस लोकमें विहार करता है, भोग करता है, हँसता है, खेलता है—इस प्रकार आनन्दपूर्वक परिभ्रमण करता है, 'उपदेशात्' इत्यादि श्रुति द्वारा मुक्तजीवकी भी क्रीड़ा कहे जानेसे बद्धजीवके कर्त्तृत्वमें कोई सन्देह नहीं रह जाता॥ ३२॥

सूत्रानुवाद—जीव अपनी कामनानुसार इस लोकमें परिभ्रमण करता है—इस श्रुतिके द्वारा विहारका उपदेश होनेसे जीवात्माका कर्त्ता होना सिद्ध होता है॥ ३२॥

गोविन्दभाष्य— *'स तत्र पर्यैति जक्षन् क्रीडन् रममाण'* (छा॰ ८/१२/३) इत्यादिना मुक्तस्यापि क्रीडाभिधानादित्यर्थः। अतः कर्त्तृत्वमात्रं न दुःखावहं किन्तु गुणसम्बन्धएव तस्य स्वरूपग्लानिकरत्वात्॥ ३२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—वह मुक्तजीव वहाँ भोग करता हुआ, हँसता हुआ, क्रीड़ामें रत रहता हुआ नाना स्थानोंमें परिभ्रमण करता है इत्यादि श्रुति-वाक्य द्वारा मुक्तजीवकी भी क्रीड़ा कही जानेसे उसका कर्त्तृत्व कहना होगा। अतएव जीवका कर्त्तृत्वमात्र दुःखावह नहीं है, अपितु गुणसे सम्बन्ध होना ही दुःखजनक है, क्योंकि यह गुण सम्बन्ध जीवके स्वरूपके लिए हानिकर है; अर्थात् ग्लानि उत्पन्न करानेवाला है॥ ३२॥

सूक्ष्मा-टीका—विहारेति स इति। स मुक्तो जीवः। पर्यैति परितः सरति। जक्षन् भुञ्जानो हसंश्चेत्यर्थः। तस्येति गुणसंसर्गिणः कर्त्तृत्वस्य॥ ३२॥

सूक्ष्मा-सार— *'विहारेत्यादि'* सूत्रमें 'स तत्र' इत्यादि श्रुति-वाक्यमें 'सः' का अर्थ है—वह मुक्तजीव। पर्यैति—नाना स्थानोंमें भ्रमण करता है, जक्षन्—अर्थात् भोजन करता है और हास-परिहास करता है। *'तस्य स्वरूपग्लानिकरत्वात् इति'* में 'तस्य' का अर्थ है गुण-सम्बन्धके कारण कर्त्तृत्व ही स्वरूपके हानिकरत्व हेतु है॥ ३२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जीवके वास्तव कर्त्तृत्वके सम्बन्धमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि विहारका उपदेश होनेसे जीवका कर्त्तृत्व स्वीकार करना होगा।

छान्दोग्यश्रुतिमें पाया जाता है—*'स तत्र पर्यैति जक्षन् क्रीडन् रममाणः'* (छा॰ ८/१२/३) 'उस (मुक्त) अवस्थामें वह हँसता, क्रीड़ा करता और रमण करता हुआ' इत्यादि इस स्थलपर मुक्तजीवकी भी क्रीड़ाका उल्लेख देखा जाता है। अतएव कर्त्तृत्वमात्र ही दूषणीय है, ऐसा नहीं है, तब गुण-सम्बन्धके कारण ही दुःख उपस्थित होता है, क्योंकि वह गुण-संसर्ग स्वरूपके लिए ग्लानिकर है।

बृहदारण्यकोपनिषदमें—

'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते'

(बृ॰आ॰ २/१/१८)

यह आत्मा भी अपने शरीरमें यथेच्छ विहार करता है कहकर आत्माकी कर्त्तृताका उपदेश दिया गया है।

मुण्डकोपनिषदमें,

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।

(मु॰ ३/१/४)

यह आत्मामें क्रीड़ा करनेवाला और आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही क्रियावान पुरुष ब्रह्मवेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।

(श्रीगीता ३/१७)

अर्थात् जो व्यक्ति आत्माराम है और आत्मामें ही तृप्त रहनेवाले और आत्मामें ही सन्तुष्ट है।

ऐसे महापुरुष दो प्रकारके हैं—केवल आत्म-अनुसन्धान करनेवाले ज्ञानयोगी यथा सनक, सनन्दनादि चारों कु
अनुशीलन करनेवाले भक्तियोगी यथा—देवर्षि नारद आदि।

श्रीमद्भागवतमें—

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद्गुणचेतसाम्॥

अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम्।
विद्वान् निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१३/२८-२९)

क्योंकि यह बुद्धि-बन्धन ही जीवको विषय-वृत्ति प्रदान करता है, इसलिए तुरीय चैतन्यस्वरूप मुझमें प्रतिष्ठित होकर इस बुद्धि-बन्धनका परित्याग कर दे तभी उसी समय ही विषय एवं चित्तके परस्पर सम्बन्धका परित्याग कर दे। अहङ्कारका बन्धन ही जीवके आनन्द आदि गुणोंका आवरण करता है और उसीसे अनर्थ होता है। वही अनर्थोंकी जड़ है। यह जानकर उनसे विरक्त होकर अपने तीनों अवस्थाओंमें अनुगत तुरीय-स्वरूपमें होकर संसारकी चिन्ता छोड़

दे। अर्थात् पूर्वजनित बुद्धिके द्वारा उत्पन्न अभिमान और भोगकी चिन्ताको त्याग देना चाहिये॥ ३२॥

सूत्र—उपादानात्॥ ३३॥

सूत्रार्थ—'उपादानात्'—प्राण-ग्रहणके कारण भी जीवका कर्त्तृत्व मानना होगा॥ ३३॥

सूत्रानुवाद—प्राण-ग्रहण, इन्द्रिय-ग्रहण, विज्ञानसे बुद्धि आदिमें ज्ञान ग्राहकत्वादि (कर्त्तृत्वादि) की सामर्थ्यके कारण भी जीवका कर्त्ता होना निश्चित होता है॥ ३३॥

गोविन्दभाष्य— *'स यथा महाराज* (बृ॰आ॰ २/१/१८) *इत्युपक्रम्यैवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तत'* इति श्रुतौ *'गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्'* (श्रीगीता १५/८) इति स्मृतौ च जीवकर्त्तृकस्य प्राणोपादानस्याभिधानात् लोहाकर्षकमणेरिव चेतनस्यैव जीवस्य कर्त्तृत्वं बोध्यम्। अन्यग्रहणादौ प्राणादि-करणं, प्राणग्रहणादौ तु नान्यदस्तीति तस्यैव तत्॥ ३३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'स यथा महाराज'*—यह जो आत्मा है, वह महाराजके समान है—इस प्रकार उपक्रम करके, *'एवमेष परिवर्त्तते'*—यह आत्मा प्राण-ग्रहण करके अपने शरीरमें अधिष्ठित होकर अपनी इच्छानुसार विहार (गमन) करता है। इस श्रुतिमें प्राणका ग्रहण कहा गया है और *'गृहीत्वैतानि संयाति'* इत्यादि स्मृतिमें वायुके गन्ध-ग्रहणके समान ही जीव द्वारा प्राणोंका ग्रहण कहे जानेके कारण लोहाकर्षक मणि (चुम्बक प्रस्तर) की भाँति चेतन जीवका कर्त्तृत्व जानना चाहिये। अन्य वस्तुके ग्रहणमें प्राणादि करण (कारक) हैं, किन्तु प्राणोंका ग्रहण किसके द्वारा किया जायेगा? उसका दूसरा कोई कारण नहीं है। अतएव शुद्धजीवमें ही चैतन्यका कर्त्तृत्व है॥ ३३॥

सूक्ष्मा-टीका—उपादानादिति। स यथेति। परिवर्त्तते विहरति। लोहाकर्षकेति। चुम्बकस्य यथा लोहाकर्षणे स्वतः कर्त्तृत्वं तथा प्राणोपादाने जीवस्य स्वतस्तदित्यर्थः। तस्यैव शुद्धस्य जीवचैतन्यस्यैवेत्यर्थः। तदिति कर्त्तृत्वम्॥ ३३॥

सूक्ष्मा-सार— *'उपादानात्'* इस सूत्रमें *'स यथा महाराज'* (बृ॰आ॰ २/१/१८) इत्यादि भाष्यमें 'परिवर्त्तते'—विहार करता हैं *'लोहाकर्षक-*

मणेरित्यादि' चुम्बक-प्रस्तरका जिस प्रकार लौहा-आकर्षणमें स्वतः कर्त्तृत्व है, अन्य सापेक्षता नहीं है, उसी प्रकार प्राणके ग्रहणमें जीव-चैतन्यका स्वतः-कर्त्तृत्व है, यह तात्पर्य है। *'तस्यैव तत् इति'* में 'तस्यैव' का अर्थ है शुद्ध (अन्य-निरपेक्ष) जीव-चैतन्यका 'तत्' अर्थात् कर्त्तृत्व॥ ३३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जीवके कर्त्तृत्व विषयमें सूत्रकार कहते हैं कि उपादानसे भी जीवका कर्त्तृत्व स्वीकार होता है। बृहदारण्यकश्रुतिमें देखा जाता है कि—*'स यथा महाराजो जानपदान्गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामे परिवर्तेतैवमेवैष एतन्प्राणान्गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते'*—जिस प्रकार कोई महाराज अपने प्रजाजनोंको लेकर (स्वाधीन कर) अपने देशमें यथेच्छ विचरता है, उसी प्रकार वह (जीव) प्राणोंको ग्रहणकर अपने शरीरमें यथेच्छ विचरता है (बृ॰आ॰ २/१/१८)—इस श्रुतिके वाक्यानुसार जीवका प्राणादिके साथ गमन जाना जाता है, अतः अन्य पदार्थके ग्रहणादिमें प्राणादि करण हैं, किन्तु प्राणादिके ग्रहणमें अन्यनिरपेक्ष शुद्ध जीवके कर्त्तृत्वके बिना अन्यकी सम्भावना नहीं है। चुम्बक जैसे लोहेको स्वतः ही आकर्षित कर लेता है, अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार प्राणोंके ग्रहणमें भी जीव-चैतन्यका स्वतः कर्त्तृत्व है।

बृहदारण्यकोपनिषदमें ही—*'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय'* (बृ॰आ॰ २/१/१७)—इस श्रुतिमें भी कहा है कि आत्मा इन प्राणों (इन्द्रियों) के विज्ञान (ग्रहणशक्ति) का विज्ञान (बुद्धि) के द्वारा आदान करके सो जाता है। जब आदान क्रियामें आत्मा स्वतन्त्र है, फिर उसे अकर्त्ता कैसे कह सकते हैं?

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्म्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१३/३२)

अर्थात् जो जाग्रत अवस्थामें चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंके द्वारा बाहर दिखनेवाले बाल्य, तारुण्य आदि क्षणभङ्गुर देह आदि स्थूल विषयोंका भोग किया करता है और स्वप्न अवस्थामें हृदयमें ही जाग्रतमें देखे हुए पदार्थोंके समान ही वासनामय विषयोंका भोग करता है और सुषुप्ति अवस्थामें उन सब विषयोंको समेटकर, उनके लयको भी अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत अवस्थाके इन्द्रिय, स्वप्न अवस्थाके मन और सुषुप्तिकी संस्कारवती बुद्धिका भी वही स्वामी है। क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। 'जो मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ'—इस स्मृतिके बलपर एक परमात्म वस्तुका ही सब अवस्थाओंमें होना सिद्ध हो जाता है॥ ३३॥

अवतरणिका भाष्य—युक्त्यन्तरञ्चाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस विषयमें अन्य युक्ति दिखाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—युक्त्यन्तरञ्चेति। तृतीयाविभक्त्यापत्तिरूपां युक्तिमित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—युक्त्यन्त अर्थात् तृतीया विभक्तिकी आपत्ति रूप युक्ति बता रहे हैं—

सूत्र—व्यपदेशाच्च क्रियाणां न चेन्निर्देशविपर्ययः॥ ३४॥

सूत्रार्थ—क्रियायां—वैदिक क्रियामें और लौकिक क्रियामें, 'व्यपदेशात् च'—'विज्ञानं यज्ञम् तनुते, कर्माणि तनुते'—जीव यत्न करे, अन्यान्य कर्म करे—इस प्रकारके उल्लेखसे जीवात्माका ही कर्तृत्व है, 'न चेत्' ऐसा न होता तो अर्थात् यदि विज्ञान अर्थमें जीवात्मा न कहकर बुद्धिका कर्तृत्व कहते। तब 'निर्देश विपर्ययः' विभक्ति-निर्देशका व्यतिक्रम होता अर्थात् 'विज्ञानम् तनुते' प्रथमान्त 'विज्ञानम्' न कहकर 'विज्ञानेन'—इस तृतीयान्त पदका निर्देश (उल्लेख) होता॥ ३४॥

सूत्रानुवाद—यदि कहें कि विज्ञान शब्दसे बुद्धिका व्यपदेश है, जीवका नहीं, तब निर्देशमें विपर्यय होता तो—बुद्धिके करण होनेपर 'विज्ञानेन' का निर्देश होना चाहिये था॥ ३४॥

गोविन्दभाष्य—विज्ञानं यज्ञमित्यादिना (तै० २/५) वैदिक्यां लौकिक्याञ्च क्रियायां मुख्यत्वेन व्यपदेशात् जीवः कर्त्ता। अथ चेत् विज्ञानशब्देन जीवो नाभिधीयते किन्तु बुद्धिरेव तर्हि निर्द्देशविपर्ययः स्यात्। विज्ञानमिति प्रथमान्तकर्त्तृनिर्द्देशस्य विज्ञानेनेति तृतीयान्तकरणनिर्द्देशो भवेत्, बुद्धेः करणत्वात्। न चात्र तथास्ति। किञ्च बुद्धेः कर्त्तृत्वे तस्याः करणमन्यत् कल्प्यं सर्वस्य करणस्यैव कर्मषु प्रवृत्तिदर्शनात्। ततश्च नाममात्रेण विसंवादः करणाभिन्नस्य कर्त्तृत्वस्वीकारात्। ननु जीवकर्त्तृत्वे हितस्यैव न तु अहितस्य सृष्टिः स्यात्, स्वतन्त्रस्य कर्त्तृत्वात्। मैवम्। हितमेव सिसृक्षोरपि सहकारिकर्मवैचित्र्येण क्वचिदहितस्याप्यापातात्। तस्मात् जीव एव कर्त्ता। एवं सति क्वचिदकर्त्तृत्ववचनमस्वातन्त्र्यात्। कर्त्तृत्वे क्लेशसम्बन्धदर्शनात् न तत्र श्रुतेस्तात्पर्यमित्यादिकु
र्निरसनीयाः॥ ३४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुते'* इत्यादि श्रुति द्वारा वैदिक यज्ञादि क्रियाओं और लौकिक क्रियाओंमें मुख्य रूपसे जीवके कर्त्तृत्वका उल्लेख रहनेके कारण कारण जीव ही कर्त्ता कहा जायेगा। और यदि कहें कि इस श्रुतिमें कथित विज्ञान शब्दके द्वारा जीव अभिधेय नहीं है, बुद्धि ही अभिहित है (कारण सांख्यवादी वही कहते हैं) तब श्रुतिमें विभक्ति निर्देशका (विपर्यय) व्यतिक्रम रहता अर्थात् 'विज्ञानम्' इस प्रथमान्त कर्त्तृपदके निर्देशके बदले 'विज्ञानेन' यह तृतीयान्त करके करण कारणका निर्देश होता। यदि कहो बुद्धि कर्त्तृकारक है, ऐसा नहीं है, बल्कि बुद्धि करण कारक है; आप कह तो रहे हो परन्तु श्रुतिमें तो करण बोधक तृतीयान्तका उल्लेख नहीं है। और भी एक बात है, बुद्धिको कर्त्री कहनेपर उसके एक अन्य करण कारककी कल्पना करनी होगी, क्योंकि समस्त कर्त्ताओंके करण कारक की ही कर्ममें प्रवृत्ति देखी जाती है अर्थात् कारणको ही कार्यका निर्वाह करते हुए देखा जाता है। यदि कहो *'विज्ञानं यज्ञं तनुते'* इस श्रुतिमें यदि विज्ञान कर्त्ता है तो उसका करण कौन है? जिसका करण नहीं है, उस करणरहितके कर्त्तृत्वको कैसे स्वीकार किया जाय। इसका समाधान यह है कि यह विवाद नाममात्रका है अर्थात् विज्ञान ही करण है, वही कर्त्ता भी है, करणके साथ अभिन्न रहनेसे कर्त्तृत्व स्वीकार किया जाता है। आपत्ति यह है कि अच्छा! जीव कर्त्ता ही हो, परन्तु ऐसा होनेसे तो बस हित अथवा

प्रिय वस्तुकी ही सृष्टि हो, अहित अथवा अप्रियकी सृष्टि ही न हो, क्योंकि जो स्वाधीन है, उसीका कर्त्तापन सम्भव है। इसका उत्तर यह है कि नहीं, ऐसा नहीं है जैसा तुम कहते हो। देखो, कर्त्ता प्रिय वस्तुकी ही सृष्टि करनेका अभिलाषी होता है, किन्तु कृतकर्म उसका सहकारी कारण होता है—इस कर्मके सदसद्रूप वैचित्र्यके कारण किसी-किसी स्थलपर अहित भी आ सकता है। अतएव जीव ही कर्त्ता है। किसी-किसी श्रुतिमें जीवको जो अकर्त्ता कहा गया है। उसका यही अर्थ है कि वह जीव परमेश्वरके अधीन होकर कार्य करता है, यहाँ उसकी अस्वाधीनता है। कोई-कोई कहते हैं कि *'विज्ञानं यज्ञं तनुते'* इत्यादि श्रुतियोंमें जीवके कर्त्तृत्वका तात्पर्य नहीं है, क्योंकि उसमें जीवका क्लेश (कष्ट) से सम्बन्ध हो पड़ता है, इत्यादि ऐसे अनेक कु
दर्श पौर्णमासादि (क्लेश-बहुल याग) में श्रुतिके तात्पर्यके अभावकी आपत्तिके आधारपर निरस्त हो जाती हैं॥ ३४॥

सूक्ष्मा-टीका—व्यपदेशादिति। सर्वेस्येति कर्त्तुरित्यर्थात् सिसृक्षोरिति जीवस्येत्यर्थात् अहितस्यार्थस्य। एवं सतीति। कर्त्तापि जीवः परमात्माधीनः सन् करोतीति क्वचित् सोऽकर्त्तेत्युच्यते। वस्तुतस्तु कर्त्तैव स इत्यर्थः। कर्त्तृत्वे क्लेशसम्बन्धेत्यादि। ननु कर्त्तुर्दुःखसम्बन्धवीक्षणात् तत्त्वे श्रुतेस्तात्पर्यं नेति चेन्न दर्शादिश्वप्यतात्पर्यापत्तेः लीलोच्छ्वासादेरकरण एव क्लेशदर्शनाच्च। ननु सुषुप्तावन्तःकरणाभावे कर्त्तृत्वादर्शनादन्तःकरणमेव कर्त्तृ स्यादिति चेन्न तदा तदभावेऽपि उच्छ्वासादिकर्त्तृत्वस्य सत्त्वात्। न च निष्क्रियत्वश्रुतिर्जीवस्य कर्त्तृत्वं वाधेत अस्ति-ज्ञादिधात्वर्थानां सत्ताज्ञानादीनामात्मनि सत्त्वेन तदसिद्धेः। धात्वर्थः खलु क्रियोच्यते। न च निर्विकारत्वश्रुतिस्तस्य तद्वाधेत सत्ताज्ञानभानधर्माश्रयत्वेऽपि द्रव्यान्तरतापत्तिरूपस्य विकारस्य तस्मिन्नप्रसक्तेः॥ ३४॥

सूक्ष्मा-सार—व्यपदेशादित्यादि सूत्रके भाष्यमें *'सर्वस्य करणस्यैव क्रियासु'* इत्यादिमें सर्वस्य अर्थात् सबका—समस्त कर्त्ताओंका, *'हितमेव सिसृक्षोरपि'* इतिमें 'सिसृक्षोः' अर्थात् सृष्टि करनेके इच्छुक जीवका, अहितस्य-अप्रिय-अनिष्टकारी वस्तुका *'एवं सति क्वचिदकर्त्तृत्व-वचनमिति'*—जीव कर्त्ता नहीं है—इस उक्तिके किसी-किसी श्रुतिमें

रहनेपर भी परमात्माके अधीनत्वके कारण स्वतः-कर्त्तृत्व-अभाव उक्तिमें कोई विरोध नहीं है। वास्तवमें तो जीव ही कर्त्ता है, कर्त्तृत्वे क्लेश सम्बन्धेत्यादि—कर्त्तृत्वमें क्लेश सम्बन्ध इसका तात्पर्य है कि यदि जीवको कर्त्ता कहा जाता है, तब उसका दुःख-योग होता है। अतः जीवके कर्त्तृत्व विषयमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है—ऐसा कोई-कोई कहते हैं—तो वह कहा नहीं जा सकता। दशपौर्णमास याग क्लेश-बहुल है, क्योंकि श्रुति उसमें जीवका कर्त्तृत्व बोध कराती है अतएव वहाँ भी श्रुतिके तात्पर्यका अविषय हो पड़ता है। इससे भिन्न लीलाके आमोदमें और श्वास-प्रश्वासमें भी अकरण रहनेपर जीवका क्लेश ही देखा जाता है। पुनश्च आपत्ति है सुषुप्तिकालमें अन्तःकरणके अभावमें जीवका कर्त्तृत्व नहीं देखा जाता, अतएव अन्तःकरण ही कर्त्ता हो, ऐसा यदि कहते हो, ऐसा नहीं है क्योंकि उस समय (सुषुप्तिकाल) में अन्तःकरणके अभावमें भी श्वास-प्रश्वास कर्त्तृत्व रहता है। यदि कहो, श्रुति आत्माका निष्क्रियत्व ज्ञापित करके जीवके कर्त्तृत्वको बाधा देती है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अस्तिमें 'अस्' धातुका अर्थ है—सत्ता, 'ज्ञा' अर्थात् 'जानना' इत्यादि धातुकी क्रिया आत्मामें रहनेके कारण अकर्त्तृत्व हो नहीं सकता क्योंकि धात्वर्थ (धातुके अर्थ) को क्रिया कहते है। क्रिया जिसमें रहती है, वह कर्त्ता है, अतएव कर्त्तृत्व जीवमें रहेगा ही। यहाँ यदि कहते हो कि जो श्रुति जीवको निर्विकार कहती है, फिर भी कर्त्ता होनेपर सविकार होता ही है, अतएव वह जीवके कर्त्तृत्वकी बाधक है तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि विकार शब्दका अर्थ है—द्रव्यान्तरकी परिणति। सत्ता, ज्ञान, प्रकाश इत्यादि क्रियाएँ जीवमें रहनेपर भी ये विकार जीवमें रहते नहीं हैं, अतः निर्विकारत्वमें भी श्रुतिकी कोई असङ्गति नहीं है॥ ३४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जीवके कर्त्तृत्व विषयमें और भी एक युक्ति दिखाते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि लौकिक एवं वैदिक क्रियाओंमें मुख्य रूपसे उल्लेखके कारण जीवका ही कर्त्तृत्व स्थिर (निश्चय) होता है, यह स्वीकार न करनेपर निर्देशका विपर्यय

घटित होता है। यहाँ अन्तःकरणकी अङ्गरूप बुद्धिका व्यपदेश मान लें, तो कथनका तात्पर्य ही विपरीत हो जायेगा। इस विषयमें विस्तृत आलोचना भाष्यकारके भाष्य एवं टीकामें देखना चाहिये। तैत्तिरीयश्रुतिमें पाठ है—*'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।'* (तै॰ २/५/१) अर्थात् विज्ञान (विज्ञानवान पुरुष) यज्ञका विस्तार करता है और वही कर्मोंका भी विस्तार करता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम्।
श्रद्धयाऽऽत्मविशुद्ध्यर्थम् यज्जाताः सह वृत्तिभिः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/६/३४)

अर्थात् ये समस्त ब्राह्मणादि वर्ण अपनी-अपनी वृत्तियोंके साथ भगवान्से उत्पन्न हुए हैं, आत्मविशुद्धिके लिए श्रद्धाके साथ स्वधर्म-पालन द्वारा वे अपने गुरु श्रीहरिकी पूजा करते हैं॥ ३४॥

अवतरणिका भाष्य—अथ प्रकृतिकर्त्तृत्ववादे दोषान् दर्शयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद अब प्रकृतिके कर्त्तृत्ववादमें दोष दिखाते हैं—

सूत्र—उपलब्धिवदनियमः॥ ३५॥

सूत्रार्थ—'उपलब्धिवत्' जिस प्रकार जीवात्माको विभु कहनेपर व्यक्तिगत उपलब्धिकी असङ्गति है, उसी प्रकार प्रकृतिको कर्त्री कहनेपर भी 'अनियमः' कर्मका भी अनियम होता है, अर्थात् प्रकृति विभु है इसलिए समस्त जीव साधारण हैं, अतएव एक मनुष्य कर्म करे तो वह कर्म सभी मनुष्योंके भोगका कारण होगा अथवा जीवको कर्मका कारण न कहनेपर किसी भी आत्मामें भोग नहीं हो सकता, अतएव प्रकृति कर्त्री नहीं है॥ ३५॥

सूत्रानुवाद—आत्माका अकर्त्तृत्व और प्रकृतिका कर्त्तृत्व माननेसे भोगकी विषमतामें कोई नियम न रह जायेगा जैसे कि आत्माको विभु माननेपर उपलब्धिकी अनियमितता (नित्य उपलब्धि और नित्य अनुपलब्धि) कही गयी थी॥ ३५॥

गोविन्दभाष्य—आत्मनो विभुत्वादुपलब्धेरनियमो दर्शितः प्राक्। तथा प्रकृतेरपि विभुत्वेन सर्वपुरुषसाधारण्यात् कर्मणोऽप्यनियमः स्यात् सर्वं कर्म सर्वस्य भोगाय यथा स्यात् नैव वा स्यात्। न चासन्निधिकृता व्यवस्था विभूनामात्मनां सर्वत्र सान्निध्यात्॥ ३५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आत्माके विभुत्ववादमें उपलब्धिकी अव्यवस्था (अनियम) पहले भी दिखायी गयी थी, इसी प्रकार प्रकृतिके कर्त्तृत्ववादमें भी उसके विभुत्वके कारण कर्मका भी अनियम होता है, क्योंकि प्रकृतिकी विभुताके कारण समस्त पुरुषोंमें सम्बन्ध (प्रकृतिका संयोग) साधारण रह जायेगा। ऐसा होनेसे एक पुरुषीय (पुरुषसे सम्बन्धित) प्रकृति कर्म करे तो समस्त पुरुषोंका उस कर्मके साथ सम्पर्क हो पड़ेगा। और इससे समस्त कर्म समस्त आत्माओंके भोगके कारण हो जायेंगे अथवा भोगके कारण नहीं होंगे यह असन्निधि कृत व्यवस्था भी स्थापित नहीं हो सकती। यदि कहो, इस विषयमें भी इस प्रकारकी व्यवस्था हो सकती है कि आत्माका प्रकृतिके साथ संयोग (सन्निधि) है, उसका ही कर्म है—उसके ही भोगका कारण है तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके मतमें आत्मा विभु है, अतएव प्रकृतिका सान्निध्य (संयोग) सर्वत्र ही समान रूपसे घटेगा॥ ३५॥

सूक्ष्मा-टीका—उपलब्धिवदिति। प्राक् नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि सूत्रे॥ ३५॥

सूक्ष्मा-सार— *'उपलब्धिवदित्यादि'* सूत्रके भाष्यमें दर्शितः प्राक् इतिमें प्राक्का अर्थ है— *'नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि'* (२/३/३०) सूत्रमें॥ ३५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब इसके बाद प्रकृतिके कर्त्तृत्ववादमें भी दोष दिखा रहे हैं। प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार जीवको विभु कहनेपर उपलब्धियोंकी असङ्गति प्रकट होती है, उसी प्रकार प्रकृतिको कर्त्री कहनेपर भी अनियम अर्थात् असङ्गति होती है।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका सार यह है कि जीव कर्त्ता न होकर यदि प्रकृति कर्त्ता (कर्त्री) होती, तो एक व्यक्तिके कर्मका फल समस्त जीवोंको ही भोग करना पड़ता। परन्तु देखा जाता है कि

जीव अपने-अपने कर्मफलका भोग करते हैं, दूसरेके कर्मफलका नहीं। और भी एक बात है, प्रकृति एक है और उसका समस्त जीवोंके साथ समभावसे युक्त सम्बन्ध है। यही प्रकृति यदि समस्त कर्मोंकी कर्त्री होती तो समस्त कर्मोंके साथ समस्त जीवोंका सम्बन्ध एक जैसा ही होता, अन्तःकरणोंके विषयोंकी कोई विशेषता न रहती।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यदात्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम्।
पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक्॥
गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कु
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथाकर्माभिजायते॥
(श्रीमद्भा॰ ४/२९/२६-२७)

अर्थात् जीव स्वरूपतः स्व-प्रकाश-स्वभाव होनेपर भी जब परमगुरु सर्वज्ञान-प्रकाशक श्रीभगवान्‌की उपलब्धि न करके प्रकृतिके गुणोंमें अत्यन्त आसक्त हो जाता है, उस समय प्राकृत गुणाभिमानके कारण देहादि परतन्त्र होकर कभी भी पुण्यजनक सात्त्विक कर्म, कभी शोकजनक तामसी कर्म और कभी दुःखमय राजस कर्म करता है और जैसे-जैसे कर्म करता है, उन-उन कर्मोंके अनुसार (तदनुरूप) जन्म प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रकृतिका कर्त्तृत्व असङ्गत है॥ ३५॥

सूत्र—शक्तिविपर्ययात्॥ ३६॥

सूत्रार्थ—'शक्तिविपर्ययात्'—प्रकृतिका कर्त्तृत्व माननेपर पुरुषकी भोक्तृत्व-शक्तिका विपर्यय (हानि) घटता है अर्थात् भोक्तृत्व-शक्ति प्रकृतिगामी हो पड़ती है, इससे 'पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्'—भोक्तृत्वके कारण ही पुरुषका अस्तित्व है—इस सांख्यसूत्रोक्त मतका व्याघात होता है, अतएव प्रकृतिको कर्त्री नहीं कहा जा सकता॥ ३६॥

सूत्रानुवाद—कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनोंका ही सामानाधिकरण्य है अर्थात् एकनिष्ठत्व है, कभी भी कर्त्ताके कर्मफलको दूसरा व्यक्ति भोग नहीं करता। अतः प्रकृतिका कर्त्तृत्व माननेपर जीवकी भोक्तृत्व-शक्तिका विपर्यय हानि होता है॥ ३६॥

गोविन्दभाष्य—प्रकृतेः कर्त्तृत्वे पुरुषनिष्ठाया भोक्तृत्वशक्तेर्विपर्ययात् प्रकृतिगामितापत्तेः पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावादि (सां॰का॰ १७) त्यभिमतहानिरितिशेषः। कर्त्तुरन्यस्य भोक्तृत्वासम्भवात् तच्छक्तिरपि प्रकृतिगता मन्तव्या॥ ३६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रकृतिका कर्त्तृत्व माननेपर पुरुषनिष्ठ भोक्तृत्व-शक्तिका व्यतिक्रम (विपर्यय) होकर प्रकृतिगामिता हो पड़ती है, अतः 'भोक्तृत्वभावके कारण पुरुष स्वीकार है' इस सांख्य-अभिमतकी हानि होती है—यह अंश पूरणीय है। एक मनुष्य कर्त्ता हो और उस कर्त्ताके अतिरिक्त अन्य कोई कर्मका भोक्ता हो—यह असम्भव है। अतएव पुरुषकी भोक्तृत्व-शक्ति भी प्रकृतिनिष्ठ जाननी होगी। कर्त्तृत्व प्रकृतिनिष्ठ है तो भोक्तृत्व भी प्रकृतिनिष्ठ होना चाहिये॥ ३६॥

सूक्ष्मा-टीका—शक्तीति। प्रकृतिगामितापत्तेरिति। कर्त्तृत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधि-करण्यादितिभावः। अत उक्तं श्रीमहाभारते। *'नान्यः कर्त्तुः फलं राजन्नुपभुङ्क्ते कदाचन'* इति। ननु का क्षतिरिति चेत् तत्राह पुरुषोऽस्तीति। उक्तं विशदयति कर्त्तुरन्यस्येत्यादिना॥ ३६॥

सूक्ष्मा-सार—*'शक्तिविपर्ययात्'* इस सूत्रके भाष्यमें प्रकृतिगामितापत्तेः इति—इसका तात्पर्य है—क्योंकि कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व—दोनोंका समानाधिकरण्य अर्थात् एकनिष्ठत्व रहता है। इसलिए श्रीमहाभारतमें कहा गया है *'नान्यः कर्त्तुः फलं राजन्नुपभुङ्क्ते कदाचन'* इति—भीष्म युधिष्ठिरसे कहते हैं—'हे महाराज! कर्त्ताके फलका कभी भी किसी भी समय अन्य व्यक्ति भोग नहीं करता।' प्रश्न है कि यदि प्रकृतिको ही कर्त्री और भोगकर्त्री दोनों ही कहें, तो इसमें हानि क्या है? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'पुरुषोऽस्तीत्यादि'* इति इसी बातको *'कर्त्तृरन्यस्य'* इत्यादि वाक्य द्वारा विशद करते हैं॥ ३६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि प्रकृतिका कर्त्तृत्व स्वीकार करनेपर पुरुषकी भोक्तृत्व-शक्तिका ही विपर्यय घटित होता है। अतएव प्रकृतिका कर्त्तृत्व स्वीकार्य नहीं है। कर्म करे कोई, और फलका भोग करे कोई और—यह तो सम्भव नहीं हो सकता। जो कर्मका कर्त्ता है, वही कर्मका भोक्ता भी होगा—यही युक्तियुक्त है। सांख्यकारिकामें पाया जाता है, *'पुरुषः अस्ति भोक्तृभावात्'* (सांख्यकारिका २७) अर्थात् जीवका अस्तित्व है, क्योंकि उसका भोक्तृभाव है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

कार्यकारणकर्त्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्॥
(श्रीमद्भा० ३/२६/८)

अर्थात् देह, इन्द्रिय और तदधिष्ठात्री देवता-विषयमें प्रकृति ही कारण है और सुख-दुःखादि भोक्तृत्व विषयमें प्रकृतिसे विलक्षण जीव ही कारण है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें पाया जाता है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
(श्रीगीता १३/२२)

पुरुष अर्थात् जीव प्रकृतिमें अवस्थित होकर ही। प्रकृतिजात सुख-दुःखादि विषयोंका भोग करता है, प्रकृतिके गुणोंकी आसक्तिके कारण उसका उच्चावच योनियोंमें जन्म हुआ करता है॥ ३६॥

सूत्र—समाध्यभावाच्च॥ ३७॥

सूत्रार्थ—'समाध्यभावाच्च'—मोक्षका साधन समाधि प्रकृति-पुरुषकी अन्यथाख्याति है अर्थात् पुरुष प्रकृतिसे भिन्न है—यह ज्ञान है। प्रकृतिका कर्त्तृत्व माननेपर इस समाधिका अभाव होता है, इसलिए भी प्रकृति-कर्त्तृत्ववाद दोषग्रस्त है॥ ३७॥

सूत्रानुवाद—जीवका कर्त्तृत्व न माननेपर मोक्षमें साधनभूत समाधिका अभाव होगा॥ ३७॥

गोविन्दभाष्य—मोक्षसाधनस्य समाधेरप्यभावाच्च दुष्टः प्रकृतिकर्त्तृत्ववादः। प्रकृतेरन्योऽहमस्मीत्येवंविधः खलु समाधिः। स च न सम्भवति स्वस्य स्वान्यत्वाभावात् जाड्याच्च। तस्मात् जीव एव कर्त्ता सिद्धः॥ ३७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—समाधिसे मुक्ति होती है—इस मुक्तिसाधनभूत समाधिका अभाव घटता है—इसलिए भी प्रकृतिका कर्त्तृत्ववाद दोषावह है। बात यह है कि 'मैं प्रकृतिसे भिन्न हूँ'—इस प्रकारके ज्ञानका नाम

समाधि है, यह समाधि प्रकृतिके कर्त्तृत्वमें सम्भव नहीं है क्योंकि 'जो मैं कर्म करता हूँ, वह मैं नहीं हूँ' यह अन्यत्व ज्ञान, कर्त्ता (कर्त्री) प्रकृतिको स्वयंसे स्वयंके भेदके अभाव-ज्ञान एवं जड़ताके कारण होता नहीं है। इसलिए जीव ही कर्त्ता है, यह सिद्ध हुआ॥ ३७॥

सूक्ष्मा-टीका—समाध्यभावाच्चेति। च-शब्दः श्रवणमननध्यानाभावसमुच्चायकः। प्रकृतेः कर्त्तृत्वे श्रवणादीनामपि सैव कर्त्री स्यात्। सा खलु प्रकृतेरन्याहमिति शृणुयान्मन्वीत ध्यायेत समादध्याच्च। न चैवमस्ति स्वस्य स्वभेदाभावात् जडायास्तत्तदसम्भवाच्च॥ ३७॥

सूक्ष्मा-सार—*'समाध्यभावाच्येति'* इस सूत्रमें 'च' शब्दका प्रयोग श्रवण, मनन और ध्यानके अभावको भी बता रहा है अर्थात् समाध्याताके श्रवण, मनन और निदिध्यासनके अभावके कारण भी प्रकृति कर्त्री नहीं है। बात यह है कि प्रकृतिका कर्त्तृत्व स्वीकार करनेपर श्रुति-बोधित मोक्षके उपाय श्रवण-मनन-ध्यान इत्यादिकी कर्त्री भी यही प्रकृति हो पड़ती है। वह कर्त्री अर्थात् प्रकृति—मैं प्रकृतिसे भिन्न होकर श्रवण करूँ, मनन करूँ, ध्यान करूँ और समाधि करूँ इस प्रकारसे हो नहीं सकता क्योंकि स्वयंसे स्वयंका भेद होता नहीं, प्रकृति अपनेको प्रकृतिसे निवृत्त नहीं कर सकती—यह सब छोड़ भी दो, जड़ा प्रकृतिमें ये ज्ञानादि असम्भव हैं॥ ३७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें भी प्रकृतिके कर्त्तृत्ववादमें दोषारोपण करते हैं। प्रकृतिका कर्त्तृत्व स्वीकार करनेपर मोक्षकी साधनभूत समाधिका भी अभाव घटता है तथा मोक्षके उपायभूत श्रवण-मनन-ध्यान इत्यादिकी कर्त्री भी यह प्रकृति हो पड़ती है। 'मैं प्रकृतिसे भिन्न हूँ'—इस प्रकारके ज्ञानमें ही समाधि प्राप्त होती है और प्रकृतिको कर्त्री मान लेनेसे यह सम्भव नहीं होता, क्योंकि प्रकृतिमें स्वयंसे स्वयंके भेद-विचारका अभाव है और प्रकृति जड़ कही गयी है। अतएव जीवके कर्त्तृत्वमें ही मोक्षके साधनके उपाय अनुष्ठित होते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना।
सर्वत्र जातवैराग्य आ—ब्रह्मभुवनान्मुनिः॥
मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम्॥
प्राप्नोनीहाञ्जसा धीरः स्वदृशा च्छिन्नसंशयः।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाविनिर्गमे॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२७/२७-२९)

इस प्रकार पुरुष बहुत-से जन्म-ग्रहण करके बहुत-सी योनियोंमें भ्रमण करता हुआ जिस समय आत्म-चिन्तनमें निमग्न रहकर भगवदाश्रयसे ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त प्रकारके भोगोंसे वैराग्य प्राप्त कर लेता है, तब वह धैर्यवान भक्त मेरे प्रति प्रीतिके साथ मेरे भक्तियोगसे मेरी कृपासे आत्माका अनुभव कर लेता है, तब इसी जन्ममें ही अतिशीघ्र मेरे ही आश्रित अपने स्वरूपभूत, नित्यानन्द नामक ब्रह्म-स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। इस स्थितिमें आत्मज्ञान होनेके कारण उसके सारे संशय छिन्न हो जाते हैं और लिङ्ग-शरीरके नाश होनेपर उस मङ्गलमय स्थानको जाता है, जहाँसे कभी जीवका पुनरागमन नहीं होता॥ ३७॥

अवतरणिका भाष्य—अथ तस्य कर्त्तृत्वं करणयोगेन स्वशक्त्या चास्तीति दृष्टान्तेन बोधयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—जीवात्माका कर्त्तृत्व करण (इन्द्रियादि) की सहायता और अपनी स्वाभाविक शक्तिके कारण होता है—इस कथनको दृष्टान्त द्वारा समझा रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेति। तस्य जीवस्य। करणयोगेनेति। अधिष्ठाना-देरुपलक्षणम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अथेत्यादि तस्य कर्त्तृत्वमिति में 'तस्य' का अर्थ है—उस जीवका, इन्द्रिय सम्बन्ध द्वारा एवं निज शक्ति द्वारा। करणयोगसे तात्पर्य है अधिष्ठानादिका संग्राहक अर्थात् केवल इन्द्रिय-योग नहीं पूर्वोक्त अधिष्ठानादि (देहादि) के सम्बन्धवश भी जानें।

१५—तक्षाधिकरणम्

सूत्र—यथा च तक्षोभयथा॥ ३८॥

सूत्रार्थ—'च'—और, 'यथा'—जिस प्रकार 'तक्षा' काष्ठ तक्षणकारी (मिस्त्री, बढ़ई अथवा सूत्रधर) 'उभयथा'—दोनों ही प्रकारसे कर्त्ता होता है अर्थात् वास्या (कु
करता है और अपनी शक्तिसे बसूला इत्यादि (कुठारादि) अस्त्र भी धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी प्राणादिकी सहायतासे कार्य करता है और प्राणादिको अपनी शक्तिसे धारण करता है॥ ३८॥

सूत्रानुवाद—जिस प्रकार बढ़ई अपनी इच्छानुसार कभी कार्य करता है और कभी नहीं करता है, इस प्रकार वह दोनों ही प्रकारसे कर्त्ता है, इसी प्रकार जीवात्माका भी कर्त्तृत्व समझना चाहिये॥ ३८॥

गोविन्दभाष्य—तक्षा यथा तक्षणे वास्यादिना कर्त्ता वास्यादिधारणे तु स्वशक्त्यैवेत्युभयथापि कर्त्ता भवेदेवं जीवोऽप्यन्यग्रहणादौ प्राणादिना कर्त्ता प्राणादि ग्रहणे तु स्वशक्त्यैवेत्यर्थः। इत्थं प्राकृतदेहादिना यत् कर्त्तृत्वं तत् किल शुद्धादेव पुरुषात् प्रवृत्तमपि गुणवृत्तिप्राचुर्यात् तद्धेतुकमित्युपचर्यते। *'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मषु'* (श्रीगीता १३/२१) इति तत्रैवोक्तेः। एतेन गुणकर्त्तृत्ववचांसि व्याख्यातानि। मौढ्याद्युक्तिस्तु पञ्चापेक्षेऽपि स्वैकापेक्षेत्वमननात्। (श्रीगीता १८/१४) न चैषामापातविभातोऽर्थः शक्यो नेतुं तत्रत्यमोक्षसाधनोक्तिविरोधात्। *'नायं हन्ति न हन्यते'* (कठ॰ १/२/१९) इत्यादिवाक्यन्तु हन्तिफलमेव च्छेदं प्रतिषेधति नित्यस्यात्मनस्तदयोगात्। न तु कर्त्तृत्वमपि, तस्य पूर्वं सिद्धेः। एवञ्च भागवतानां यदिहामुत्र च तदर्च्चनादिकर्त्तृत्वं तन्निर्गुणमेव पूर्वत्र गुणान् विमर्द्य चिच्छक्तिवृत्तेर्भक्तेः प्राधान्यात् परत्र कैवल्यात्। एतदभिप्रेत्योक्तं श्रीभगवता—*'सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः। तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः'* (श्रीमद्भा॰ ११/२५/२६) इति। भोक्तृत्वं तु शुद्धस्य पुंसः। *'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'* (श्रीगीता १६/२०) इत्यादि स्मृतेः। गुणसङ्गेनापि भवतस्तस्य संवेदनरूपत्वात् चिद्रूपपुंप्राधान्यं न तु गुणप्राधान्यं तत्त्वेन तद्विरोधित्वात्। स्वरूपसंवेदनसुखादौ तु सुसिद्धं तत्। स्वस्मै स्वयं प्रकाशत्वादिति। तस्मात् तदुभयं जीवस्यैव मन्तव्यम्। *'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता'* (प्र॰उ॰ ४/९) इत्यादि श्रुतेश्च। तक्षदृष्टान्तेन कर्त्तृत्वं सातत्यञ्च निरस्तम्॥ ३८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस प्रकार बढ़ई बसूला (कु अस्त्रकी सहायतासे काष्ठ-तक्षण-कार्य (बढ़ईगिरी) का कर्त्ता है और अपनी ही इसी बसूलादिके धारण करनेकी शक्तिसे भी कर्त्ता है—दोनों ही प्रकारसे वह कर्त्ता है, इसी प्रकार जीव भी दूसरी वस्तुके ग्रहणादि विषयमें प्राणादिके द्वारा कर्त्ता है और प्राणादिके धारणमें अपनी शक्तिके द्वारा कर्त्ता है। इस प्रकार प्रकृतिसे उत्पन्न स्थूल-देहादिकी सहायतासे जीवात्माका जो कर्त्तृत्व है, वह निरुपाधिक (शुद्ध) आत्मासे सम्पन्न होनेपर भी उसमें प्रचुर गुणवृत्ति (देहादिकी प्रचुर सहायता) रहती है, इस कारण लाक्षणिक प्रयोगानुसार जीवके कर्त्तृत्वको देहादिका कार्य कहकर उल्लेख किया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी यही कहा गया है—*'कारणं गुणसङ्गः'* इत्यादि। इस जीवकी जो सत्-असत् (अच्छी-बुरी) योनियों (देव-मनुष्य-कीटादि रूप) में उत्पत्ति है, इसका कारण है—'गुणोंका सङ्ग' अर्थात् 'गुणोंका सम्पर्क'। प्रकृतिके सत्त्वादि गुण जो करते हैं, मौग्ध्यके कारण उनका वह आत्मामें आरोप (अभेद-ज्ञान) कर लेता है। कर्त्तृत्व जीवनिष्ठ ही है, किन्तु गुणोंको जो हेतु (कर्त्ता) कहा जाता है, वह औपचारिक है। इस कथनसे श्रीगीतावर्णित *'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'* (सभी प्रकारके कर्म प्रकृतिके गुणों द्वारा किये जाते हैं) इत्यादि वाक्य, गुण-कर्त्तृत्वके बोधक कहे जानेपर भी उन्हें गुणकर्त्तृत्व रूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि जीवकर्त्तृत्वको ही गुणवृत्तिकी प्रचुर सहायता रहनेके कारण गुणहेतुक कहा जाता है। तब जो जीवका कर्त्तृत्वाभिमान मूढ़ता (मूर्खता) प्रयुक्त (अहङ्कारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते—अहङ्कारसे मोहित चित्तवाला व्यक्ति ऐसा मान लेता है कि मैं कर्त्ता हूँ) इत्यादि उक्तियाँ हैं—इनकी सङ्गति किस प्रकार होगी? यह भी बताया जा रहा है अधिष्ठान (देह), कर्त्ता (जीवात्मा), इन्द्रियादि करण, करणादिकी नानाविध चेष्टाएँ और अदृष्ट (दैव) इन पाँचोंकी सहायता रहनेपर भी केवल स्वापेक्ष (आत्म-सापेक्ष) बोधक वाक्योंका आपाततः (ऊपर-ऊपर-से) प्रतीत होनेवाला—गुणकर्त्तृत्व-अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा होनेसे मुक्ति-साधनसे सम्बन्धित वाक्योंकी असङ्गति होती है अर्थात् गुणोंका कर्त्तृत्व मुख्य होनेपर

जीवात्माके मुक्तिसाधनके उपायोंका उल्लेख असङ्गत होता है, आत्माके कर्त्तृत्वका अभाव सूचित होता है। क्योंकि जिसका कर्त्तृत्व-कारण बन्द है, उसकी ही मुक्ति सम्भव है। तब जो श्रीभगवान्‌की उक्ति है—*'नायं हन्ति न हन्यते'*—जीव मारता भी नहीं है, मरता भी नहीं है—इससे जीवके कर्त्तृत्वके निषेधका बोध होता है तो इसका भी अभिप्राय अन्य प्रकारसे है, यथा—हनन क्रियाका फल जो छेदन है, वह आत्माका नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य है—उसका नाश किस प्रकार हो सकता है? तब क्या आत्मा नाशका कर्त्ता नहीं है, क्योंकि 'नायं हन्ति' कहा गया है। इसके उत्तरमें कहते हैं—*'न तु कर्त्तृत्वमपि प्रतिषेधेति'* अर्थात् यहाँ शुद्ध आत्माके कर्त्तृत्वका निषेध नहीं किया गया, बल्कि आत्माके पूर्व-सिद्ध कर्त्तृत्वका ही स्थापन किया गया है। इस प्रकार भगवत्-भक्तोंका इहलोक और परलोकमें जो भगवान्‌का अर्चनादि-कर्त्तृत्व है, वह निर्गुण (गुणातीत) है, क्योंकि पहले उसमें इहलोकमें गुणोंका अभिमान छोड़कर चिच्छक्तिकी वृत्ति भक्तिका प्राधान्य है और बादमें अर्थात् परलोकमें कैवल्यके कारणभूत गुण सम्पर्कका अभाव है। इसी अभिप्रायसे श्रीभगवान्‌ने भागवतमें कहा है—*'सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी'* इत्यादि अर्थात् सात्त्विककर्त्ता गुणसङ्गहीन (असङ्ग) हैं, राजसकर्त्ता गुणोंके अनुरागमें अन्ध हैं, तामसकर्त्ता स्मृति-भ्रष्ट हैं और जो मेरे भक्त हैं, वे निर्गुण हैं। भोक्तृत्व अर्थात् सुख या दुःख—इनमेंसे किसी एकका जो अनुभव (ज्ञान विशेष पदार्थ) है, वह गुणाभिशून्य जीवात्माका है, क्योंकि अनुभव आत्माका धर्म है, ज्ञान उसका स्वरूपानुबन्धी है। स्मृति-वाक्य है—*'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'* (श्रीगीता १३/२१)—जीवात्मा सुख-दुःखके भोक्तृत्व (अनुभव) का हेतु है। पुनः गुण-सम्पर्कसे जो भोक्तृत्व है—वह भोग संवेदनात्मक अनुभूतिस्वरूप है, इसलिए इसमें चित्-स्वरूप जीवका प्राधान्य है, गुणका प्राधान्य नहीं हो सकता। क्योंकि अनुभूतिके संवेदनमें स्वरूपताके कारण यह गुण विरोधी होता है। स्वरूप-संवेदन-सुखादिके आनन्दमें जीवका भोक्तृत्व सुप्रसिद्ध है। इसका कारण है कि जीव स्वयं ही स्वयंका प्रकाशक है। अतएव गुण-सहायमें कर्त्तृत्व एवं स्वशक्तिमें कर्त्तृत्व—ये दोनों—जीवके ही जानने चाहिये। श्रुति भी

वही कहती है—*'एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता'* इत्यादि। 'तक्षा' दृष्टान्त द्वारा जीवके स्वाधीनकर्त्तृत्व और सर्वव्यापित्वका खण्डन हुआ भी जान लेना चाहिये॥ ३८॥

सूक्ष्मा-टीका—यथा चेति। तक्षा वर्द्धकिः। कारणमिति। गुणसङ्गो गुणाध्यासः। अस्य जीवस्य। एतेनेति। जीवनिष्ठमेव कर्त्तृत्वं गुणत्वं गुणवृत्तिप्राचुर्यात् गुणहेतुकमितिव्याख्यानेनेत्यर्थः। गुणकर्त्तृत्ववचांसि प्रकृतेः क्रियमाणानीत्यादीनि। ननु कर्त्तृत्वं चेज्जीवनिष्ठं तर्हि तन्मन्तुर्मौढ्योक्तिः कथम्। कथं वा *'तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः'* (श्रीगीता १८/१६) इति दुर्धीत्वोक्तिश्चेति चेत् तत्राह मोढ्याद्युक्तिरिति। *'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्। विविधा च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्'* इति। (श्रीगीता १८/१४) पञ्चापेक्षे हि कर्त्तृत्वं स्मृतम्। दैवं परेशः। नन्वेतत् कर्त्तृत्वं मोक्षे जीवस्य न स्यात् तस्य देहेन्द्रियप्राणानां विगमात्। मैवम्। तदा सङ्कल्पसिद्धानां दिव्यानां तेषां भावात्। न चैषामिति। एषां गुणकर्त्तृत्ववचसाम् आपातविभातो गुणकर्त्तृत्वरूपोऽर्थः नेतुं ग्रहीतुं न शक्यः। तत्र हेतुस्तत्रत्येति। श्रीगीतान्तर्वर्त्तिमुक्ति-साधनवचनासङ्गतेरित्यर्थः। तानि च *'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कु निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्द्ध्वं न संशयः॥'* (९/३४) *'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥'* (श्रीगीता १८/५५) इत्येवमादीनि बोध्यानि। एषु भगवद्ध्यानकर्त्तूर्जीवस्य मुक्तिरुक्ता। नायमिति। तदयोगात्। छेदासम्भवात्। एवञ्चेति। इह पूर्वत्र इति चोभयत्र प्रपञ्चे इत्यर्थः। अमुत्रेति परत्रेति चोभयत्र भगवद्धाम्नीत्यर्थः। सात्त्विक (श्रीमद्भा॰ ११/२५/२६) इति श्रीभागवते। कारकः कर्त्ता। भोक्तृत्वमिति। सुखदुःखान्यतरानुभवो हि भोगः। अनुभवस्तु धर्मभूतं ज्ञानं स्वानुबन्धीत्युक्तम्। गुणेति। भवतो—वर्त्तमानस्य भोक्तृत्वेस्येत्यर्थः। तत्त्वेनेति। संवेदनरूपत्वेन गुणविरोधित्वादित्यर्थः। तत् भोक्तृत्वम्। तक्षेति। स्वेच्छानुसारेण तक्षा कदाचित् करोति न करोति च स्ववेश्मन्यक्लेशां निर्वृतिं च लभते तद्वत् जीवोऽपीत्यर्थः॥ ३८॥

सूक्ष्मा-सार—*'यथा च तक्षेत्यादि'* सूत्रके भाष्यमें 'तक्षा' का अर्थ है बढ़ई अर्थात् सूत्रघर। *'कारणं गुणसङ्गोऽस्य'* इत्यादि श्लोकमें *'गुणसङ्गः'* से तात्पर्य है—गुणका अध्यास (मिथ्या ज्ञान) अर्थात् आत्मामें सत्त्वादि गुणोंका अभेद ज्ञान—इस प्रकारसे मिथ्या—ज्ञान, 'अस्य' का अर्थ है—जीवका, *'एतेन गुणकर्त्तृत्व वचांसि'* इत्यादिमें 'एतेन' का अर्थ है—इसके द्वारा अर्थात् कर्त्तृत्व जीवनिष्ठ ही है, तब जो गुणकी

कर्त्तृत्वोक्ति है, वह गुणकी वृत्ति बहुल (प्रचुर) रूपमें रहनेके कारण गुण हेतुक है—इस प्रकारकी व्याख्याके द्वारा। *'गुणकर्त्तृत्ववचांसि'* इतिका अर्थ है—गुणके कर्त्तृत्व-बोधक वाक्यसमूह यथा *'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः'* इत्यादि। प्रश्न है कि यदि जीवका कर्त्तृत्व वास्तव है अर्थात् कर्त्तव्य जीवनिष्ठ है तो गुणको ऊपर (लेकर) अभिमानी आत्माकी मूढ़ता—यह कैसे (वहा) गया और *'तत्रैवं सति'* (श्रीगीता १८/१६) इत्यादि किस प्रकारसे वह व्यक्ति उस गुणका कर्त्तृत्व रहनेपर भी शुद्ध आत्माको कर्त्ता कहकर विचार करता है, वह मूर्ख अविवेकके कारण यथार्थ दर्शन नहीं करता। इसी प्रकारसे आत्माके कर्त्तृत्व उक्तिकी निन्दा है। ऐसा यदि कहते हो तो इस पर कहते हैं—*'मौढ्याद्युक्तिस्तु'* इत्यादि। आत्माके कर्त्तृत्वका अधिष्ठान (शरीर), कर्त्ता (जीव) अर्थात् चित् और जड़की ग्रन्थि अहङ्कार अनेक प्रकारके करण (इन्द्रियाँ) विविध चेष्टाएँ (विविध प्राण और अपान आदिकी पृथक् चेष्टाएँ) दैव अर्थात् परमेश्वर (अन्तर्यामी) इन पाँचोंकी अपेक्षा करके, इस अपेक्षाके रहनेपर भी केवल आत्म-सापेक्ष माननेके लिए मूढ़ताकी उक्ति जानें (शुद्ध आत्माका कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है) अर्थात् शरीरके भीतर आत्मा कार्य करनेके कारण कर्त्ता कहलाता है। शुद्ध आत्माका इन कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। पुनश्च प्रश्न है कि जीवका यह कर्त्तृत्व सर्वजीव साधारण किस प्रकारसे होगा? क्योंकि मुक्तिके बाद जीवका वह कर्त्तृत्व रहता नहीं क्योंकि उस समय उसकी देह, इन्द्रिय इत्यादि समस्त ही चला जाता है। यह कहनेसे हो नहीं सकता क्योंकि उस समय भी सङ्कल्प-सिद्ध दिव्य (अलौकिक) इन्द्रियादिकी सत्ता रहती है। *'न चैषा-मायातविभातोऽर्थ'* इतिमें 'एषाम्' का अर्थ है—उन गुणकर्त्तृत्व बोधक वाक्योंका, *'आपात विभातः'* अर्थात् आपाततः प्रतीयमान गुणकर्त्तृत्व अर्थ, नेतुं-ग्रहण (करनेमें) 'न शक्यः' नहीं किया जा सकता। इस विषयमें हेतु है *'तत्रत्य मोक्षासाधनोक्ति विरोधात्'*—श्रीगीताके अन्तवर्ती मुक्तिसाधन-वाक्योंकी उसमें असङ्गति होती है—यह अर्थ है। ऐसे वाक्य हैं—*'मन्मना-भव मद् भक्तो, अथ ऊर्ध्वं न संशयः'* अर्थात् मेरा मनन करो, मेरा भजन करो, मेरी पूजा करो, मुझे प्रणाम करो, इस प्रकार

करनेपर अहे अर्जुन! तुम इस देहपातके बाद निश्चित रूपसे मुझमें वास करोगे। इस प्रकारसे भक्त भक्तिकी महिमासे मेरे स्वरूपको जान सकते हैं कि मेरा यथार्थतः जो परिमाण है, जो मेरा स्वरूप है, उसके बाद मेरा तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मुझमें प्रवेश करो—इत्यादि वाक्य मोक्षके साधन हैं। इन समस्त वाक्योंमें भगवान्‌का ध्यान करनेवाले जीवकी मुक्ति कही गयी है। गुणका कर्त्तृत्व कहनेपर तो आत्माके कर्त्तृत्वका अभाव होता है इस कारण मुक्तिका कथन असङ्गत होता है। *'नायं हन्ति इत्यादि नित्यस्यात्मनस्तद योगात्'* इति अर्थात् नित्य आत्माका छेदन नहीं हो सकता—इसलिए 'एवञ्च' इति अर्थात् इस स्थलपर और पूर्व प्रबन्ध—दोनों क्षेत्रोंमें। *'भोगवतानां यदिहामुत्र च'*—इस लोकमें और परलोकमें—दोनों स्थलोंपर ही भगवत्-भजन करनेवालोंका—यह अर्थ है। *'सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी'* इत्यादि श्लोक (श्रीमद्भा॰ ११/२५/२६) का है। कारकः अर्थात् कर्त्ता। *'भोक्तृत्वं तु इति'* में भोक्तृत्व अर्थात् भोग-कर्त्तृत्व, भोग अर्थात् सुख अथवा दुःख किसी एकको अनुभूति, अनुभव-पदार्थ है—ज्ञान विशेष, जो कि आत्माका धर्म-स्वरूप, स्वरूपानुबन्धी है, यह बात पहले भी कही गयी है, *'गुणसङ्गेनापि भवतस्तस्य'* इतिमें 'भवतः' अर्थात् विद्यमान, तस्य अर्थात् उस भोक्तृत्वका, *'तत्त्वेन तद्विरोधात् इति'* अनुभव क्योंकि तत्त्वज्ञानस्वरूप है, इसलिए गुण-विरोधी है—यह तात्पर्य है। *'सुसिद्धम् तत्'* इतिमें 'तत्' का अर्थ है भोक्तृत्व। *'तक्षदृष्टान्तेनेति'* का अर्थ है—तक्षाके दृष्टान्तके द्वारा अर्थात् जिस प्रकार तक्षा (बढ़ई) निज इच्छानुसार किसी समय कोई काम करता है और कभी नहीं करता और अपने ही घरमें रहकर क्लेशरहित स्वस्ति प्राप्त करता है, इसी प्रकार जीवात्मा भी॥ ३८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जीवका कर्त्तृत्व करण-योगसे और अपनी शक्तिके द्वारा होता है। इसीको सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें दृष्टान्त द्वारा समझा रहे हैं कि तक्षा अर्थात् सूत्रधर जिस प्रकार दोनों ही प्रकारसे कर्त्ता होता है। उसी प्रकार सूत्रधर जैसे बसूला इत्यादि अस्त्रके द्वारा छेदन क्रियाका कर्त्ता है और इस बसूलादिको धारण करनेमें अपनी शक्तिके द्वारा भी कर्त्ता है, वैसे ही जीव दूसरी वस्तुके ग्रहण-विषयमें

प्राणादिके द्वारा कर्त्ता है और प्राणादि-ग्रहणमें अपनी शक्तिके द्वारा कर्त्ता रहता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें मुक्ति-साधनसे सम्बन्धित वाक्य है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कु

(श्रीगीता ९/३४)

अर्थात् मेरा मनन करो, मेरा भजन करो, मेरी पूजा करो, मुझे प्रणाम करो, इस प्रकार हे अर्जुन! तुम इस देहपातके बाद निश्चित रूपसे मुझमें ही वास करोगे। इस प्रकार भक्त भक्तिकी महिमासे मेरा स्वरूप जान सकते हैं कि मेरा यथार्थतः क्या परिमाण और क्या स्वरूप है। इसके बाद मेरा तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मुझमें प्रवेश करो—ये सभी वाक्य मोक्षके साधन हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/८)

हे माताजी! कार्यसे शरीर, कारणसे इन्द्रियाँ तथा कर्त्तासे इन्द्रियाधिष्ठात्री देवताओंमें पुरुष जो अपनेपनका आरोप कर लेता है—इस भावापत्ति विषयमें पण्डितजन प्रकृतिको ही कारण बताते हैं। किन्तु सुख-दुःखादिके कर्मफलको भोगनेमें प्रकृतिसे परे पुरुषको ही कारण मानते हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रीलचक्रवर्त्तीपाद कहते हैं—

'कर्मफलदाता च परमेश्वर एवेति जीवस्य कर्मफलभोक्तृत्व-मीश्वराधीनमेवेत्याह—भोक्तृत्वे जीवस्य कर्मफलानां भोगे पुरुषं कारणं विदुरित्यन्वयः।'

अर्थात् कर्मफलके प्रदाता परमेश्वर ही हैं, इस कारण जीवके कर्मफलका भोक्तृत्व ईश्वरके अधीन है—इसीसे कहते हैं—भोक्तृत्वमें अर्थात् जीवके (सुख-दुःखरूप) कर्मफलके भोगमें (प्रकृतिसे भिन्न) पुरुष (ईश्वर) को ही कारण कहा जाता है।

जीवके कर्त्तृत्व विषयमें और भी प्राप्त होता है—*'सात्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।'*

पूर्वमें भी उल्लेख किया गया है कि अनासक्त कर्त्ता 'सात्विक', रागान्ध कर्त्ता 'राजस' स्मृतिश्रेष्ठ कर्त्ता 'तामस' एवं मुझमें आश्रित कर्त्ता 'निर्गुण' नामसे अभिहित है॥ ३८॥

अवतरणिका भाष्य—अथ तत्रैव विमर्शान्तरम्। इदं जीवस्य कर्त्तृत्वं स्वायत्तं वेति संशये *'स्वर्गकामो यजेत'* (आपस्तम्व श्रौतसूत्र १०/२/१, यतुर्वेद ८/५/५) *'तस्मात् ब्राह्मणः सुरां न पिवेत्'* (बृ॰आ॰ ३/५/१) *'पाप्नानोत्संसृजा'* इत्यादिविधिनिषेधशास्त्रार्थवत्त्वात् स्वायत्तं तत्। स्वबुद्ध्या प्रवर्त्तितुं निवर्त्तितुञ्च शक्तो हि नियोज्यो दृश्यते। तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इस जीव विषयमें एक अन्य प्रकारसे समीक्षा की जाती है कि जीवका यह कर्त्तृत्व क्या स्वाधीन है? अथवा पराधीन है? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जीवका कर्त्तृत्व स्वायत-स्वाधीन ही है क्योंकि *'स्वर्गकामो यजेत'* (आपस्तम्व श्रौतसूत्र १०/२/१, यतुर्वेद ८/५/५)—स्वर्गकी कामनासे यज्ञ करे इत्यादि विधि वाक्य और *'तस्मात् ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्'* (बृ॰आ॰ ३/५/१) अतएव ब्राह्मण सुरापान न करें; *'पाप्मनोत्संसृजे'* पापका उत्सर्जन करे (पापसे निर्मुक्त हों) इत्यादि निषेध वाक्य (शास्त्रार्थ) जीवके स्वायत्तमें ही रहते हैं। जो अपनी बुद्धिके अनुसार प्रवृत्त एवं निवृत्त हो सकता है, वही व्यक्ति शास्त्रकी प्रेरणाका पात्र होता देखा जाता है। इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेति। कर्त्तृत्वं जीवस्यास्तु तत्पुनरीश्वराधीनं मास्त्वित्याक्षिप्य समाधानादाक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। विधिवाक्यात् जीवः स्वाधीनः करोति अन्तर्यामिब्राह्मणात् तु पराधीनः करोतीति च प्रतीयते। तदनयोर्विरोधो न वेति सन्देहेऽर्थभेदात् विरोधे प्राप्ते विधिवाक्येऽप्यन्तर्यामिप्रेरणाया विवक्षितत्वादविरोध इत्येतमर्थं हृदि कृत्वा न्यायमाहाथ तत्रैवेत्यादि। तत्रैव जीवकर्त्तृत्वे विषये स्वायत्तं तदिति तत् कर्त्तृत्वं जीवस्य स्वायत्तं तस्य करणाधिपत्वात्। तदेव दर्शयति स्वबुद्ध्येति। न तु काष्ठपाषाणसदृशः शास्त्रेण नियोज्य इत्यर्थः। ईश्वरायत्ते तु कर्त्तृत्वे विधिनिषेधस्थाने तस्यैवाभिषिक्तत्वापत्तिरित्येवमाक्षेपे तत्राहेति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अथेत्यादि—आक्षेप है कि जीवका कर्त्तृत्व रहे किन्तु वह ईश्वराधीन न हो, यह आक्षेप करके उसका समाधान करनेमें यहाँ आक्षेप-सङ्गति द्रष्टव्य है। पुनः

विधि-वाक्योंके अनुसार देखा जाता है कि जीव स्वाधीन होकर कार्य करता है, जब कि अन्तर्यामी ब्राह्मण-वाक्यसे अवगत होता है कि जीव पराधीन होकर कार्य करता है, अतः इन दोनों मतका विरोध है? कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षीके कथनसे ज्ञात होता है कि विरोध होगा क्योंकि दोनों कथनोंमें अर्थ भेद रहनेके कारण विरोध रहता है। इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं—*'स्वर्गकामो यजेत'* इत्यादि विधि-वाक्य अन्तर्यामी ईश्वरकी प्रेरणासे विवक्षित है, अतः विरोध नहीं है। इस विषयपर विचार करके अधिकरणमें कहते हैं—*'अथ तत्रैव'* इत्यादि। 'तत्रैव' का अर्थ है—जीव-कर्त्तृत्व विषयमें भी, *'स्वायत्रं तदिति'* में तद् अर्थात् कर्त्तृत्व, जीवके स्वाधीन है। क्योंकि समस्त इन्द्रियोंका वह वे परिचालक हैं। *'स्वबुद्ध्या'* इत्यादि ग्रन्थ द्वारा वही दिखाते हैं। जीव यदि काष्ठ और प्रस्तरके समान निष्क्रिय होता तो शास्त्र-वाक्य उसे नियोग (आदेश) कर नहीं सकते थे। यही तात्पर्य है किन्तु ईश्वराधीन कर्त्तृत्व रहनेपर विधि-निषेध वाक्य-स्थलोंपर वे ही अभिषिक्त (नियोज्य) हो पड़ेंगे—इस आक्षेपपर *'परात्तु तच्छ्रु :'* इत्यादि सूत्र कहते हैं।

१६—परायत्ताधिकरणम्

जीवका कर्त्तृत्व ईश्वरके अधीन

सूत्र—परात् तु तच्छ्रु

सूत्रार्थ—'तु'—किन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् जीवका कर्त्तृत्व स्वाधीन नहीं है, तब क्या है? 'परात्' यह कर्त्तृत्व परमेश्वरसे ही है, हेतु क्या? 'तच्छ्रु

सूत्रानुवाद—जीवका कर्त्तृत्व परायत्त अर्थात् परमात्मायत्त ही है, यह श्रुतिसे ज्ञात होता है॥ ३९॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्काच्छेदार्थः। तत् कर्त्तृत्वं जीवस्य परात् परेशादेव हेतोः प्रवर्त्तते। कु *'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां'* (तै॰ ३/११/१०) *'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति'* *'एष एव साधु कर्म कारयति'* (कौ॰ब्रा॰ ३/९) इत्यादौ तथा श्रवणात्॥ ३९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'तु' शब्द पूर्वोक्त शङ्काका निवर्त्तक है। जीवका यह कर्त्तृत्व परमेश्वरस्वरूप निमित्त कारणसे प्रवर्त्तित होता है—किस कारणसे? श्रुति इसी प्रकारसे कहती है, यथा—*'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्'* अर्थात् वे परमेश्वर ही जीवोंकी देहमें प्रविष्ट होकर उनके शास्ता (नियन्ता) हैं, *'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति'* अर्थात् वे अन्तरतम पुरुष जीवोंके अन्तरमें रहकर उनका कर्ममें नियोजन करते हैं तथा *'एष एव साधु कर्म कारयति यमेष उन्निनीषति'* जिसका वे उद्धार करना चाहते हैं, उससे साधु कर्म कराते हैं—इत्यादि श्रुतियोंमें जीवोंके प्रवर्त्तक ईश्वर ही हैं, यह सुना जाता है॥ ३९॥

सूक्ष्मा-टीका—परात्त्विति। स्फु

सूक्ष्मा-सार—परात्तु इत्यादि सूत्रका भाष्यार्थ सुस्पष्ट है॥ ३९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः जीव विषयक और एक विचारका उत्थापन करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि जीवके कर्त्तृत्वको स्वाधीन कहना होगा, क्योंकि शास्त्रमें विधि-निषेध बोधक दोनों ही प्रकारके वाक्य जीवके पक्षमें देखे जाते हैं। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि नहीं, नहीं, जीवका कर्त्तृत्व स्वाधीन नहीं है। श्रुतिके प्रमाणोंके आधारपर जाना जाता है कि उसका कर्त्तृत्व ईश्वरके अधीन है।

बृहदारण्यक (३/७/१५-१६) में पाया जाता है—

'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम्। यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥'

ऋषि याज्ञवल्क्यने कहा—हे गौतम! जो समस्त भूतोंमें स्थित रहनेवाले समस्त भूतोंके भीतर हैं, जिन्हें समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिनके शरीर हैं और जो भीतर रहकर समस्त भूतोंका नियमन करते है, वे तुम्हारे आत्मा अन्तर्यामी अमृत हैं। यह अधिभूत

दर्शन है, अब अध्यात्म दर्शन कहा जाता है। जो प्राणमें रहनेवाले प्राणके भीतर हैं, जिन्हें प्राण नहीं जानता, प्राण जिनका शरीर है और जो भीतर रहकर प्राणोंका नियमन करते हैं, वे तुम्हारे आत्मा अन्तर्यामी अमृत हैं।

इसी प्रकारसे कौषीतकीश्रुतिमें है—

'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्निनीषत एव उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नूनूत्सत एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः स म आत्मेति विद्यात् स म आत्मेति विद्यात्।' (कौ०ब्रा० ३/९)

अर्थात् परमात्मा उससे अच्छा कर्म कराते हैं, जिसे ऊर्ध्व लोकमें ले जाना चाहते हैं और उससे बुरा कर्म कराते हैं, जिसे अधोलोकमें ले जाना चाहते हैं, वे ही लोकपाल हैं, वे ही लोकाधिपति (लोकपालोंके अधिपति) हैं, वे ही सर्वेश्वर हैं, वे ही मेरी आत्मा हैं, वे ही मेरी आत्मा हैं, ऐसा जानना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें ध्रुव-स्तुतिमें पाया जाता है—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

(श्रीमद्भा० ४/९/६)

श्रीध्रुवने कहा—जो पुरुष चक्षु आदि सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति आदि धारण करते हैं, जो मेरे अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर मेरी सोयी हुई वाणीको सञ्जीवित करते हैं तथा मेरे हाथ-पैर-नाक-कान-त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियोंको चेतनता प्रदान करते हैं, आप वही सर्वान्तर्यामी पुरुष हैं। आपको नमस्कार है।

श्रीमद्भागवत (१०/८७/३०) में श्रुति-स्तवमें—

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥

अर्थात् हे नित्यस्वरूप! अनन्त जीव यदि स्वरूपतः आपसे उत्पन्न न होकर नित्य एवं सर्वव्यापक होते, तो वे आपके द्वारा शासित नहीं हो सकते थे। आपसे उत्पन्न होनेपर ही उनका शासन सम्भव है। आप अग्नि-स्थानीय हैं और जीव आपसे चिनगारीके रूपमें उत्पन्न होते हैं। अतः आप उनके अपरित्यज्य कारण हैं, नियन्ता हैं और सर्वत्र अन्तर्यामी रूपमें समान भावसे अवस्थित हैं। आपका वह स्वरूप कैसा है, उसे जानना अत्यन्त कठिन है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि मैंने जान लिया है, वे अज्ञानी हैं। उन्होंने आपको यथार्थ रूपमें न जानकर अपनी बुद्धिके विषयको ही जाना है, आप तो उससे परे हैं। साथ ही बुद्धिकी भिन्नताके कारण ही भिन्न-भिन्न मति होती हैं, इसलिए उनकी दुष्टता, एक मतके साथ दूसरे मतका विरोध स्पष्ट ही है। अतएव आपका स्वरूप समस्त मतवादोंसे परे है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्ण कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(श्रीगीता १८/६१)

अर्थात् हे अर्जुन! सर्वान्तर्यामी परमात्मा सभी जीवोंके हृदयमें अवस्थान करते हैं और अपनी माया द्वारा यन्त्रारूढ़की भाँति जीवको संसार-चक्रमें भ्रमण कराते हैं।

इस प्रकार परमेश्वरकी ही नियामकतामें जीव मायायन्त्र (मायाकृत स्थूल-सूक्ष्म शरीर) पर आरूढ़ होकर इस संसारमें घूम रहा है। भगवत्-विमूढ़ जीवोंके अनादि कर्म-संस्कारके अनुरूप माया द्वारा उन्हें स्थूल-सूक्ष्म शरीर प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार,

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।

(श्रीगीता १५/१५)

अर्थात् मैं ही सभी प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीके रूपमें प्रविष्ट हूँ। मुझसे ही जीवोंके कर्मफलके अनुसार स्मृति, ज्ञान और दोनोंकी

अपगति (नाश) होती है। अतएव मैं केवल जगत्व्यापी ब्रह्ममात्र नहीं हूँ, अपितु जीवके हृदयमें स्थित कर्मफल देनेवाला परमात्मा भी हूँ॥ ३९॥

अवतरणिका भाष्य—स्यादेतत्। परेशायत्ते कर्त्तृत्वे विधिनिषेधशास्त्रवैयर्थ्यं स्यात्। स्वधिया प्रवृत्तिनिवृत्तिशक्तस्य शास्त्रविनियोज्यत्वादिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'स्यादेतत्'*—यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि जीवका कर्त्तृत्व ईश्वराधीन है तो विधि-निषेध शास्त्र व्यर्थ हैं क्योंकि जो व्यक्ति निज बुद्धिसे किसी कार्यमें प्रवृत्ति और निवृत्ति करनेमें समर्थ है, शास्त्र उसीको संयत करते हैं, किन्तु पराधीन होनेपर तो वह शासनके अतीत है—ऐसा यदि है, तो इस पर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्यादेतदिति। स्वधियेति। न तु काष्ठादिवत् कृतिशून्यस्येत्यर्थः।

अवतरणिकाभाष्यका टीकानुवाद—*'स्यादेतदित्यादि'* आपत्ति ग्रन्थ है। *'स्वधिया' 'प्रवृत्ति-निवृत्ति शक्तस्येति स्वधिया'*—अपनी बुद्धिके अनुसार। अर्थात् काष्ठादिके समान कृतिशून्य अर्थात् प्रयत्नरहित नहीं।

सूत्र—कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः॥ ४०॥

सूत्रार्थ—'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु'—नहीं जीवकृतधर्म अथवा अधर्मस्वरूप प्रयत्न देखकर ही ईश्वर उससे कार्य कराते हैं, अतएव उक्त दोष नहीं है, इसका कारण क्या है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'विहित-प्रतिषिद्ध-वैयर्थ्यादिभ्यः'—यदि ईश्वर काष्ठ अथवा ढेलेके समान निष्क्रिय जीवको कार्यमें नियुक्त करते तो विधि और निषेध व्यर्थ हो जाते। अतः इन विधि-निषेधकी सार्थकताके लिए तथा निग्रह, अनुग्रह और वैषम्यादि दोषोंके परिहारके लिए ईश्वरकी जीव-कर्मानुसारिणी प्रवर्त्तना है—यह जानना चाहिये॥ ४०॥

सूत्रानुवाद—जीवके द्वारा किये गये जो धर्म-अधर्मरूप प्रयत्न हैं, उनकी अपेक्षा करके ही अन्य जन्ममें परमेश्वर उससे धर्मादि कार्य

कराते हैं। उनकी अनुमतिके बिना जीवात्माकी कार्यक्षमता एवं प्रवृत्ति नहीं हो सकती, विधि-निषेधकी अनिवार्यता एवं प्रभुके निग्रह-अनुग्रहसे इस कथनकी प्रतीति हो सकती है॥ ४०॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दात् शङ्का निरस्यते। जीवने कृतं धर्माधर्मलक्षणं प्रयत्नमपेक्ष्य परेशस्तं कारयत्यतो नोक्तदोषावतारः। धर्माधर्मवैषम्यादेव विषमाणि फलानि पर्जन्यवन्निमित्तमात्रः सन्नर्पयति यथाऽसाधारणस्वबीजोत्पन्नस्य तरुलतादेः पर्जन्यः साधारणो हेतुः। न ह्यसति वारिदे तस्य रसपुष्पादिवैषम्यं सम्भवेत्। नाप्यसति बीजे। तदेवं तत्कर्मापेक्षः शुभाशुभान्यपर्यतीति श्लिष्टम्। तथाच कर्त्तापि परप्रेरितः करोतीति कर्त्तृत्वं जीवस्य न निवार्यते। एवं कु
आदिना निग्रहानुग्रहवैषम्यादिपरिहारोपपत्तिग्रहः। एवं हि विध्यादिशास्त्रस्य वैयर्थ्यं न स्यात्। यदि विधौ निषेधे च परेश एव काष्ठलोष्ट्र
तस्य वाक्यस्य प्रामाण्यं हीयेत कृतिमतो नियोज्यत्वात्। उन्निनीषया साधुकर्मणि प्रवर्त्तनमनुग्रहः अधो निनीषया असाधुकर्मणि प्रवर्त्तनं तु निग्रहः। तौ चैतौ जीवस्य तथात्वेनोपपद्येते वैषम्यादिदोषपरिहारश्च न स्यात्। तस्मात् जीवः प्रयोज्यकर्त्ता परेशस्तु हेतुकर्त्ता तदनुमतिमन्तरासौ कर्त्तुं न शक्नोतीति सर्वमवदातम्॥ ४०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निरासनके लिए है। जीवकृत धर्मात्मक अथवा अधर्मात्मक प्रयत्नोंकी अपेक्षा रखकर ही अर्थात् उनके तद्-तद् कर्मोंके अनुसार भगवान् उससे कर्म कराते हैं। अतएव उक्त दोष अर्थात् विधि-निषेधरूप शास्त्रकी व्यर्थताके दोषका प्रसङ्ग ही नहीं उठता। जीवकी जो विचित्र गति होती है—उसका कारण है उस जीव द्वारा कृत धर्म-अधर्मरूपी विषम कर्म—इनसे उत्थित ही फल भी विषम होते हैं। परमेश्वर निमित्तमात्र रहकर, पर्जन्य (मेघ) के समान इन फलोंको प्रदान करते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पर्जन्यदेव (वृष्टिके अधिपति देवता) अपने-अपने विशेष-विशेष बीजोंसे उत्पन्न तरु-लताओंके लिए (साधारण) कारण हैं—मेघ यदि न रहते तो तरु-लताओंका रसादिगत और पुष्पादिगत वैषम्य (विभिन्नता) सम्भव न होता और यदि बीज न रहते तो तरु-लतादि भी उत्पन्न न होते। ठीक इसी प्रकार जीवके कर्मकी अपेक्षा करके परमेश्वर अच्छे-बुरे फल प्रदान करते हैं और जीवरूप कर्त्ता भी परमेश्वरकी अपेक्षा करके कार्य करता है—यह श्लिष्ट अर्थात् परस्पर सापेक्ष है। अतएव सिद्धान्त

यह है कि जीव कर्त्ता है और परमेश्वरकी प्रवर्त्तनासे प्रेरित होकर कार्य करता है—इसी कारणसे जीवके कर्त्तृत्वका निराकरण नहीं किया गया है—तो फिर इसे स्वीकार किस कारणसे किया गया है—यही कहते हैं—विहितेत्यादि—यहाँ आदि पदसे निग्रह, अनुग्रह एवं वैषम्यादि परिहारकी सङ्गति ग्राह्य है। इन सबके कारण भी ईश्वरको जीवकृत-प्रयत्न सापेक्ष माना गया है और ऐसा होनेपर ही विधि आदि शास्त्रोंकी व्यर्थता नहीं होती। भावार्थ यह है कि परमेश्वर यदि विधि अथवा निषेधमें काष्ठ-पाषाणादिकी भाँति जड़वत् जीवको प्रवृत्त करते, तब इन शास्त्र-वाक्योंकी प्रामाणिकता क्षुण्ण होती, क्योंकि शास्त्र-वाक्य उन्हें ही प्रेरणा देंगे—जो कृतिमान हैं, *'उन्निनीषति यमेष साधु कर्माणि कारयति'* अर्थात् ईश्वरकृत उन्नयनकी (उन्नति) इच्छाके कारण सत्कर्ममें प्रेरणा ही ईश्वरका अनुग्रह है और *'अधोनिनीषति'* अर्थात् अधोलोकमें अवनतिकी उनकी इच्छासे निन्दित (असत्) कर्ममें प्रेरणा उनका निग्रह है, ये दोनों जीवकी काष्ठादिवत् कृतिशून्यताके पक्षमें होनेपर कभी भी सङ्गत नहीं हो सकते हैं और ईश्वरके वैषम्य (पक्षपातित्व) और निघृणता (निर्दयता) दोषका परिहार भी नहीं हो सकता। अतएव जीव प्रयोज्य-कर्त्ता है, जो दूसरोंसे प्रेरित होकर कार्य करता है और ईश्वर प्रयोजक-कर्त्ता (हेतु संज्ञक कर्त्ता) हैं, जो दूसरोंको कार्य कराता है—उनकी अनुमतिके बिना जीव कु
समर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार यह सिद्धान्त निर्दोष है॥ ४०॥

सूक्ष्मा-टीका—समाधत्ते कृतप्रयत्नेति। तस्य तरुलतादेः। तत्कर्मापेक्षो जीवकर्मानुसारी। तथाचेति। करणाधिपत्वात् कर्त्तापीत्यर्थः। तस्य विध्यादिशास्त्रस्य। तथात्वे काष्ठादिवत् कृतिशून्यत्वे। वैषम्यादीति। यदि जीवकर्मापेक्षी ईश्वरो न स्यादित्यर्थः। हेतुकर्त्ता प्रयोजकः। तदन्विति। ईशेच्छां विना जीवः किञ्चिदपि कर्त्तुं नालमित्यर्थः॥ ४०॥

सूक्ष्मा-सार— *'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु'* इत्यादि सूत्र द्वारा समाधान करते हैं। *'न ह्यसति वारिदे तस्येति'* में 'तस्य' का अर्थ है तरुलताओंका। *'तदेवं तत्कर्मापेक्ष इति'*—ईश्वर जीवके कर्मानुसार होकर। *'तथाच कर्त्तापि परप्रेरित इति'*—देह-इन्द्रियादिके अधिपतित्वके कारण कर्त्ता भी। *'तर्हि तस्य वाक्यस्येति'* अर्थात् विधि-निषेध शास्त्र-वाक्योंका, *'तौ*

चेतौ जीवस्य तथात्वे इति' उस निग्रह-अनुग्रहमें जीवकी काष्ठादिके समान कृतिशून्यता होनेपर, *'वैषम्यादि दोषपरिहारश्चेति'*—यदि ईश्वर जीवके कर्मानुसारी न होते—यह तात्पर्य है। हेतुकर्त्ता—हेतु संज्ञक (नामक) कर्त्ता अर्थात् प्रयोजक *'तदनुमतिमन्तरेणेति'*—अर्थात् ईश्वर इच्छाके बिना जीव कु

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई पूर्वपक्ष करे कि जीवका कर्त्तृत्व यदि ईश्वरके अधीन होता, तो विधि-निषेध शास्त्र व्यर्थ हो पड़ते। पूर्वपक्षवादियोंकी इस शङ्काके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि जीवके कृत-प्रयत्नकी अपेक्षासे ही ईश्वर जीवको कार्यमें प्रवर्त्तित करते हैं, इसलिए विधि-निषेधपरक शास्त्र (श्रुति-वाक्य) व्यर्थ नहीं हैं।

भाष्यकारने अपने भाष्य और टीकामें इस सम्बन्धमें युक्तिके साथ विस्तारपूर्वक आलोचना की है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यथा दारुमयी नारी यथा पत्रमयो मृगः।
एवं भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः॥
(श्रीमद्भा॰ ६/१२/१०)

अर्थात् हे मघवन् (इन्द्र)! दारुमयी नारी (कठपुतली) अथवा पत्रमय मृग (पत्तोंसे बना हुआ मृग) स्वेच्छासे नृत्य नहीं कर सकते, किन्तु नर्त्तक (नचानेवाले) की इच्छासे ही नृत्य करते हैं। इसी प्रकार समस्त प्राणी भगवान्के अधीन हैं, कोई भी स्वतन्त्र नहीं है।

देवर्षि नारदने भी ध्रुवसे कहा था—

परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पुरुषः।
दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिम् बुधः॥
(श्रीमद्भा॰ ४/८/२९)

अर्थात् इसलिए हे वत्स ध्रुव! ईश्वरके आनुकूल्य बिना कोई भी उद्यम फलप्रद नहीं हो सकता—यह विचार करके ईश्वरके अनुग्रहसे जो प्राप्त हो जाय, बुद्धिमान व्यक्तियोंका उसीमें ही सन्तुष्ट रहना उचित है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी श्रीकृष्णने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(श्रीगीता १०/१०)

अर्थात् मेरे नित्य संयोगकी अभिलाषासे भजनशील उन लोगोंको मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त हो सकें।

श्रीरामानुजाचार्य पादके श्रीभाष्यमें उद्धृत है—

'तेषामेवानुकम्पार्थ अहमज्ञानजंतमः नाशयाम्यात्म भावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता' इति। तथा—'असत्यं प्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' इत्यादि 'मामात्मपर देहेषु प्रद्विषंतोऽभ्य सूयकाः इत्यादि इत्यन्तमुक्त्वां तानहंद्विषतः क्रूरान् संसारेषुनराधमान् क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु' इत्युक्तम्।

अर्थात् 'अपने भक्तोंपर अनुग्रह करके मैं उनमें आत्मभावसे स्थित होकर, अज्ञानसे उत्पन्न उनके अन्धकारको प्रज्वलित ज्ञान-दीपके द्वारा नाश कर देता हूँ' इत्यादि तथा 'जो यह कहते हैं कि जगत् असत्य, अप्रतिष्ठ और ईश्वररहित है' ऐसे मेरी निन्दा करनेवाले, अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ ईश्वरकी निन्दा करते हैं इत्यादिसे सर्वसाधारण व्यक्तियोंका रूप बतलानेके बाद इन द्वेष करनेवाले क्रूर अशुभ नराधमोंको मैं संसारमें निरन्तर आसुरी योनियोंमें डालता हूँ—इत्यादि विशिष्ट गति कही है।

और भी,

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।

(श्रीगीता १०/८)

मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ, मुझसे ही सभी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं।

श्रीमद्भागवत (११/६/१४) में ही—

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य॥

अर्थात् हे प्रभो! ब्रह्मा आदि जितने भी शरीरधारी हैं, वे सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंके परस्पर विरोधी त्रिविध भावोंकी टक्करसे जीते-मरते रहते हैं। आप उन ब्रह्मा आदि जीवोंके लिए भी कालस्वरूप हैं। उनके जीवनका आदि, मध्य और अन्त आपके अधीन हैं। आप प्रकृति और पुरुषसे भी परे स्वयं पुरुषोत्तम हैं। आपके श्रीचरणकमल हमलोगोंका कल्याण विधान करें।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतका निम्न श्लोक भी आलोच्य है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(श्रीमद्भा० ११/२०/१७)

अर्थात् हे उद्धव! यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभफलोंकी प्राप्तिका मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार-सागरसे पार जानेके लिए यह एक सुदृढ़ नौकाके समान है। शरण-ग्रहणमात्रसे ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका संचालन करने लगते हैं और स्मरणमात्रसे ही मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरको पाकर संसार-सागरसे पार होनेकी चेष्टा नहीं करता, वह आत्मघाती है॥ ४०॥

अवतरणिका भाष्य—पूर्वार्थेस्थेम्ने जीवस्य ब्रह्मांशत्वमुच्यते। द्वा सुपर्णेत्यादीनि (श्वे० ४/६) वाक्यानि श्रूयन्ते। तत्रैक ईशो द्वितीयस्तु जीव इति प्रतीयते। इह संशयः—किमीश एव मायया परिच्छिन्नो जीवः किंवा रवेरंशुरिव तद्भिन्नस्तत्सम्बन्धापेक्षी तस्यांश इति। किं प्राप्तं मायया परिच्छिन्न ईश एव जीव इति। *'घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा। घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपम'* इत्यथर्वश्रुतेः। एवञ्च तत्त्वमस्यादि (छा० ६/८/७) वाक्यान्यनुगृहीतानि स्युः। एवं प्राप्ते पठति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वोक्त विषयकी स्थिरता (निश्चितता) जीवको ब्रह्मांश कहे जानेसे भी प्राप्त होती है। *'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'* (श्वे० ४/६) इत्यादि श्रुति-वाक्य सुने जाते हैं—इससे यह अवगत होता है कि दो पक्षियोंमेंसे एक ईश्वर नामका है और दूसरा जीव नामका है। इस विषयमें संशय यह है कि ईश्वर क्या

माया द्वारा परिच्छिन्न (ससीम) जीव है? अथवा सूर्यकी किरणें जिस प्रकार सूर्यसे भिन्न पदार्थ हैं, फिर भी सूर्य-सम्बन्ध सापेक्ष हैं, उसी प्रकार जीव भी क्या उसी प्रकारसे ब्रह्मका अंश है? आपने क्या सिद्धान्त किया है? इस पर पूर्वपक्षी कहते हैं—माया द्वारा परिच्छिन्न ईश्वर मायाश्रित होकर ससीम जीवरूप धारण करता है। प्रमाणार्थ श्रुति भी है—*'घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा घटो नीयते नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः'* इति अर्थात् जिस प्रकार आकाश घटमें आवृत्त है किन्तु घटको दूसरे स्थानपर ले जानेसे घट ही ले जाया जाता है, आकाश नहीं, उसी प्रकार जीव भी देहोपाधिक ब्रह्म है, घटोपाधिक आकाशके समान उपाधिका अन्यथा भाव होनेपर भी औपाधिक ब्रह्मका अन्यथा भाव नहीं है इस प्रकारसे अथर्वश्रुति कहती है। इसीको स्वीकार करनेसे *'तत्त्वमसि'* (छा॰ ६/८/७)—'वही तू है' (आरूणिके द्वारा श्वेतकेतुके प्रति कहे गये वचन) इत्यादि श्रुति-वाक्योंकी सङ्गति होती है। इस प्रकार पूर्वपक्षीके कथनके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वार्थेस्थेम्ने इत्यादि विध्यादिवाक्ये ब्रह्मप्रेर्यतां जीवस्य विवक्षित्वा तस्य कर्त्तृत्वं ब्रह्मायत्तं यथा स्वीकृतं तथा भेदवाक्ये-ऽशांशिवाक्ये च भेदमंशांशिभावं चौपाधिकं विवक्षित्वा ब्रह्मात्मकत्वमेव तस्य स्वीकार्यमिति दृष्टान्तोऽत्र सङ्गतिः। भेदाभेदवाक्ययोरर्थभेदाद्विरोधे द्वयोः श्रुतित्वे-नादरणीयत्वादंशांशिभावाभ्युपगमे न विरोधो भावीत्यभिप्रायेण न्यायस्य प्रवृत्तिः। पूर्वार्थो जीवो ब्रह्माधीनः करोतीत्येवंरूपस्तस्य स्थेम्ने दार्ढ्यायेत्यर्थः। घटसंवृतमिति। नीयमाने स्थानान्तरं प्राप्यमाणे इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरं चात्रास्ति। *'घटे भिन्ने यथाकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा। एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते तदा'* इति। एवञ्चेति। तत्त्वमस्यादिवाक्यैरीश्वरजीवयोरभेदो बोध्यते। स किल तयोर्भेदे मायोपाधिकृते सत्येव सिद्ध्येत्। यथा घटकरककृते नभोभेदे सति घटादिनाशे सिद्ध एव नभोऽभेदस्तद्वदिति तद्वाक्यानुग्रहो भवतीत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वोक्त अर्थकी दृढ़ताके लिए विध्यादि वाक्योंमें विध्यादि वाक्यमें जीवको ब्रह्मके द्वारा नियोज्य बतलानेके अभिप्रायसे जिस प्रकार जीवका कर्त्तृत्व परमेश्वरके अधीन स्वीकार किया गया है, इसी प्रकार भेद-बोधक वाक्यमें एवं अंशांशि-बोधक वाक्यमें निर्णीत-भेद तथा अंशांशि-भावको औपाधिक

कहकर जीवके ब्रह्मात्मकत्वको स्वीकार किया जा सकता है, यह दृष्टान्त-सङ्गति इस अधिकरणमें ज्ञातव्य है। भेद-बोधक वाक्य एवं अभेद-बोधक वाक्य दोनोंके विषय-भेदके कारण विरोध-विषयमें समाधान यह है कि ये दोनों वाक्य ही श्रुतिस्वरूप हैं, अतएव आदरणीय हैं—अतः अंशांशि भाव ग्रहण करनेमें विरोध रहेगा नहीं। इसी अभिप्रायसे इस अधिकरणका आरम्भ है। *'पूर्वार्थस्थम्ने'* इत्यादिमें पूर्वार्थसे तात्पर्य है—जीव ब्रह्मके (परमेश्वरके) अधीन होकर कार्य करता है, इसकी (स्थेमा) अर्थात् दृढ़ताके लिए *'घटसंवृतमाकाशम्'* इत्यादि 'नीयमाने' अर्थात् घट दूसरे स्थानपर ले जानेसे। इस विषयमें और भी एक श्रुति है यथा—*'घटे भिन्ने यथाकाशः'* इत्यादि जिस प्रकार घट टूट जानेपर भी आकाश पहलेके समान अक्षुण्ण ही रहता है, उसी प्रकार देहके मृत हो जानेपर जीव उस समय ब्रह्ममें मिल जाता है अथवा ब्रह्म हो जाता है। *'एवञ्च तत्त्वमस्यादिवाक्यानि'* इत्यादि—*'तत्त्वमसि'* इत्यादि वाक्योंके द्वारा जीव एवं ईश्वरका अभेद कहा जा रहा है; यह अभेद—यदि ईश्वर एवं जीवका भेद कहा जाय, तब विरोध घटता है; उसका परिहार जीवको मायोपाधिकृत कहनेपर सिद्ध होता है? जिस प्रकार घटाकाश, कमण्डलुका आकाश इत्यादि प्रयोगके लिए आकाशका भेद बोधित होनेपर घटादि नाम घटनेपर आकाशकी सत्ता द्वारा अभेद प्रतिपन्न (प्रमाणित) होता है, इस प्रकार। इस प्रकारसे तत्त्वमस्यादि वाक्योंकी सार्थकता होती है अन्यथा जीव एवं ईश्वरके भेद-वादमें ये सभी वाक्य व्यर्थ होते हैं।

१७—अंशाधिकरणम्

जीवके ब्रह्मांशत्वका विचार

सूत्र—अंशोनानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयत एके॥ ४१॥

सूत्रार्थ—'अंश'—जीव परमेश्वरका अंश उसी प्रकारसे है, जिस प्रकार किरण सूर्यका अंश है। यह जीव ब्रह्मसे भिन्न है, किन्तु वह परमेश्वर-सम्बन्ध-सापेक्षी है। तब जीव परमेश्वरसे भिन्न किस प्रकारसे है? इसका उत्तर है 'नानाव्यपदेशात्'—नाना रूपोंमें उसकी

संज्ञा रहनेके कारण, यथा सुबालश्रुति कहती है—'उद्भवः सम्भवो दिव्य' इत्यादि और स्मृति भी इसी प्रकार कहती है—'गतिर्भूता प्रभुः साक्षी इत्यादि, 'अन्यथा च' और अन्य प्रकारसे 'अपि' भी अर्थात् 'दासकितवादित्वम्'—जीव ब्रह्मका कितवदास है—'एके' वेदकी एक शाखावाले इस प्रकार 'अधीयत'—अध्ययन करते हैं॥ ४१॥

सूत्रानुवाद—जीव ब्रह्मका अंश है—सृष्टि-कर्त्तृत्व एवं सृज्यत्वसे यह बोध होता है कि एक होते हुए भी दोनों भिन्न हैं। 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंमें जो दोनोंकी अभिन्नताका परिचय प्राप्त होता है, इसका कारण है कि उन ब्रह्मकी समस्त जीवोंमें व्यापकता है। वेदकी एक शाखावाले 'जीव ब्रह्मका कितव दास है', इस प्रकारसे अध्ययन करते हैं॥ ४१॥

गोविन्दभाष्य—परेशस्यांशो जीवः, अंशुरिवांशुमतः, तद्भिन्नस्तदनुयायी तत्सम्बन्धोपेक्षीत्यर्थः। कु *'उद्भवः सम्भवो दिव्यो देव एको नारायणो माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायण'* (६/३-४) इति सुबालश्रुतौ *'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्'* (श्रीगीता ९/१८) इत्यादि स्मृतौ च स्त्रष्टसृज्यत्वनियन्त नियम्यत्वाधाराधेयत्वस्वामिदासत्वसखित व-प्राप्यप्राप्तृत्वादिरूपनानासम्बन्धव्यपदेशात्। अन्यथा अन्यया च विधया तद्व्याप्यतयैनं जीवं तदात्मकमेके आथर्वणिका अप्यधीयते। *'ब्रह्मदाशा ब्रह्मदाशा ब्रह्मेमे कितवा'* इति। न ह्येते व्यपदेशाः स्वरूपाभेदे सम्भवेयुः। न हि स्वयं स्वस्य सृज्यादिर्व्याप्यो वा। न वा चैतन्यघनस्य दासादिभावः। तथा सति वैराग्योपदेशव्याकोपात्। न चेशस्य मायया परिच्छेदः तस्य तदविषयत्वात्। न च टङ्कच्छिन्नपाषाणखण्डवत् तच्छिन्नस्तत्खण्डो जीवः, अच्छेद्यत्वशास्त्रव्याकोपात् विकाराद्यापत्तेश्च। तस्मात् तत्सृज्यत्वादिसम्बन्धवांस्तद्भिन्नो जीवस्तदुपसर्ज्जनत्वात् तदंश उच्यते। तत्त्वञ्च तस्य तच्छक्तित्वात् सिद्धम्। तच्च *'विष्णुशक्तिरित्यादौ क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा'* (वि॰पु॰ ६/७/३१) इति स्मृतेः। चन्द्रमण्डलस्य शतांशः शुक्रमण्डलमित्यादौ दृष्टञ्चैतत्। एकवस्त्वेकदेशत्वमंशत्वमित्यपि न तदतिक्रामति। ब्रह्म खलु शक्तिमदेकं वस्तु ब्रह्मशक्तिर्जीवो ब्रह्मैकदेशत्वात् ब्रह्मांशो भवतीति तदुपसृष्टत्वं सुघटम्। घटेत्यादिवाक्यं तुपाधिहानौ तयोः सायुज्यं ब्रुवत् सङ्गतम्। तत्त्वमसीत्येतदपि परस्य पूर्वायत्तवृत्तिकत्त्वादि बोधयति पूर्वोक्तश्रुत्यादिभ्यो न त्वन्यत्। तस्मात् ईशात् जीवस्यास्ति भेदः।स च नियन्तृत्वनियम्यत्वविभुत्वाणुत्वादिधर्मकृतत्वेन प्रत्यक्षगोचरत्वान्नान्यथासिद्धः॥ ४१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीव परमेश्वरका अंश है, वह मायासे परिच्छिन्न होनेके कारण ब्रह्मस्वरूप नहीं है। जिस प्रकार अंशुमाली सूर्यकी किरण सूर्यसे पृथक् होकर भी उसकी अनुयायी है अर्थात् उसके सम्बन्धकी अपेक्षा करती है, इसी प्रकार जीव ईश्वरका अंश है और ईश्वरके साथ सम्बन्धकी अपेक्षा करता है। ऐसा क्यों कहते हो कि जीव परमेश्वरका अंश है? इसका उत्तर सूत्रमें दिया है *'नानाव्यपदेशात्'* अर्थात् उस बातका नाना रूपोंमें यानी पृथक्-पृथक् रूपसे उल्लेख है, यथा सुबालश्रुतिमें कहा गया है—*'उद्भवः'* इत्यादि अर्थात् एक नारायण ही विश्वकी उत्पत्तिके कारण एवं प्रलयकर्त्ता भी हैं। वे ही दिव्य-पुरुष, द्योतनशील अर्थात् चेतयिता, माता—पालक, पिता—शिक्षक, भ्राता—सहायक, निवास—धारक, शरण—रक्षक, सुहृद्—मित्र और गति अर्थात् साधनके द्वारा प्राप्य हैं। स्मृति (श्रीगीता ९/१८) में कहा है—*'गतिर्भर्ता:'* इत्यादि। इसका तात्पर्य है कि वे ही सबकी गति (कर्मफल), भर्त्ता (पति), प्रभु (नियन्ता), साक्षी (शुभ-अशुभ द्रष्टा), निवास (आश्रयस्थल), शरण (रक्षक), सुहृत् (हितकारी), प्रभव (स्रष्टा), प्रलय (प्रलयकर्त्ता), स्थान (आधार), निधान (लय-स्थान), बीज (कारण) और अव्यय (अविनाशी) हैं। इस प्रकार इन समस्त श्रुतियोंमें ईश्वर स्रष्टा हैं, जीव सृज्य है। वे नियन्ता हैं, जीव नियम्य है। वे आधार हैं, जीव आधेय है। वे प्रभु (स्वामी) हैं, जीव उनका दास है। वे परमेश्वर ही जीवके सख्य एवं प्राप्य हैं—जीव उनका प्राप्तिकर्त्ता है—इस प्रकार जीवके ब्रह्मके साथ नाना सम्बन्ध निर्धारित हुए हैं। इसके अतिरिक्त भी अथर्ववेदविद्गण ईश्वरकी व्याप्यताके कारण अन्य प्रकारसे भी ईश्वरात्मक (ईश्वरसे व्याप्त) रूपमें जानते हैं, यथा—कैवर्त्तगण (मल्लाह लोग) ब्रह्म हैं, भृत्यगण (नौकर-चाकर) ब्रह्म हैं, कपटवान द्यूतजीवी भी ब्रह्म हैं—इस प्रकार इन सबका जो पृथक् रूपसे उल्लेख है, वह जीव एवं ईश्वरके स्वरूपतः अभेद रहनेपर सम्भव नहीं हो सकता। कोई भी स्वयंसे स्वयंका सृज्य, नियम्य, आधेय, सेव्य इत्यादि अथवा व्याप्त होता नहीं हैं। कैतव, कितव अर्थात् कपट द्यूतजीवी सभी ईश्वरके दास हैं। 'चैतन्यघनका दास' इत्यादि उक्तियाँ भी अभेद पक्षमें सङ्गत नहीं

हो सकतीं। दोनोंमें अभेद कहनेपर वैराग्य-बोधक शास्त्र (वैराग्यके उपदेश) व्यर्थ (कु

माया द्वारा ईश्वरका परिच्छेद कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वे मायातीत हैं, मायाधीन नहीं, वस्तुतः वे मायाके विषय ही नहीं हैं। जीव एवं ईश्वरके विषयमें यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक बड़े पत्थरका टङ्क अस्त्र (पाषाण-विदारण-कारी कु
विदारित जैसे एक खण्डित अंश होता है, जीव भी उसी प्रकारसे खण्डित एवं ईश्वरसे विच्छिन्न अंश (माया द्वारा द्वैधी भावको प्राप्त) है। क्योंकि श्रुतिमें ब्रह्मको अछेद्य कहा गया है—अतः इस कथनकी असङ्गति होती है और परमेश्वर विकार-रहित परमात्माके विकारादि हो पड़ते हैं। अतएव परमेश्वर सृज्यत्व इत्यादि सम्बन्ध-विशिष्ट जीव परमेश्वरसे भिन्न है। जीव उनका उपसर्जनी भूत, अप्रधान (गौण) अंश है। जीवको जो ईश्वरका उपसर्जनस्वरूप कहा है—इसका कारण है कि जीव ईश्वरकी शक्ति है। शास्त्र प्रमाण हैं, यथा *'विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता', 'क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा'*—परमेश्वर (विष्णु) की शक्ति परा, क्षेत्रज्ञा एवं अपरा (अप्रधाना) है—इत्यादि विष्णु पुराणीय वाक्यादिके अन्तर्गत जीवकी ईश्वरशक्ति-स्वरूपता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त *'चन्द्रमण्डलस्य शतांशः शुक्रमण्डलम्'—'चन्द्रमण्डलका शतांश शुक्रमण्डल'* इत्यादि वाक्यमें 'अंश' शब्दका अर्थ 'उपसर्जन' देखा जाता है। कोई-कोई कहते हैं कि 'एक वस्तुका एकदेश अंश है'—इस कथनसे भी उपसर्जनत्वका लप्त्न अथवा अतिक्रमण नहीं होता। अनुमानसे भी यह सिद्ध है यथा *'जीवो ब्रह्मशक्ति ब्रह्मैकदेशत्वात्'*—अर्थात् ब्रह्मका एकदेश (अंश) होनेसे जीव ब्रह्मकी ही शक्ति है। ब्रह्म अथवा परमेश्वर एक, शक्तिमान, अद्वितीय वस्तु हैं और जीव उनका एक अंश है, इसलिए जीवका ब्रह्मोपसर्जनत्व उत्पन्न होता है ब्रह्मकी शक्तिस्वरूपता अक्षुण्ण है। अब आपत्ति यह है कि *'घटसंवृतमाकाशम्'* इत्यादि वाक्योंमें ब्रह्मके साथ जीवको जो अभिन्न (ब्रह्मके साथ सायुज्य) कहा है, उसकी सङ्गति कैसे होगी? यह भी बताते हैं—देखो, घटादि उपाधिके नाश होनेपर जिस प्रकार आकाश, आकाशमें ही लीन हो जाता है, उसी प्रकार जीवकी

उपाधि (देहादि) के लय होनेपर जीव ब्रह्म-सायुज्यको प्राप्त करता है। *'तत्त्वमसि'* इत्यादि वाक्यकी सङ्गति इस प्रकार है, यथा बादमें निर्दिष्ट 'त्वम्' पदका अर्थ है 'जीव'—यह पूर्वनिर्दिष्ट 'तत्' पदार्थ ब्रह्मायत्तवृत्ति अर्थात् ईश्वरकी अधीन वृत्ति (कार्य) है—यह समझा जाना चाहिये। जीव और ब्रह्ममें अभेद नहीं है। प्रमाणके लिए पूर्वोक्त *'उद्भवः सम्भवो दिव्यः'* इत्यादि श्रुतियाँ हैं। इस प्रकार ईश्वरसे जीवका भेद सिद्ध हुआ। यद्यपि यह भेद अर्थात् विभुत्व-अणुत्वादि धर्मजनितत्व कारण प्रत्यक्षगोचर नहीं होते अर्थात् लौकिक ज्ञानसे सिद्ध नहीं होते तो भी अंशाशित्व (अंश-अंशीत्व) नियम्य-नियामकत्व शास्त्रीय प्रमाणोंके द्वारा वेद्य हैं॥४१॥

सूक्ष्मा-टीका—एवमाक्षेपे पठति अंश इति। अत्रांशशब्देनोपसर्ज्जनीभूता ऽर्थो ग्राह्यस्तथैवोपपत्त्या व्याख्यानात्। व्याख्यान्तरे तु एकवस्त्वेकदेशत्वमंशत्वं व्यक्ती भविष्यति। परेशस्येति। अंशुमतो रवेः, तदनुयायी तदनुगतः, तत्सम्बन्धं तत्सेवकतामपेक्षत इति तद्दास इत्यर्थः। उद्भव इत्यादि। उद्भव उत्पत्तिकरः। सम्भवः प्रलयकरः। माता पालकः। पिता शिक्षकः। भ्राता सहायी। निवासो धारकः। शरणं रक्षकः। सुहृन्मित्रम्। गतिरुपायोपेयभूत इत्यर्थः। अन्यथेति। ब्रह्मव्याप्यतयेत्यर्थः। ब्रह्मदाशा इति। दाशाः कैवर्त्ताः, दासा भृत्याः कितवाः कपटिनो द्यूतजीविन इत्यर्थः। न वा चैतन्येति। कु
पीडितं स्यात् यदि विज्ञानघनं शुद्धं ब्रह्मैव कैवर्त्तादिरूपं भवेदित्यर्थः। तदविषयत्वात् वस्तुतः परिच्छेदागोचरत्वादित्यर्थः। न चेति। टङ्कः पाषाणदारण इत्यमरः। तच्छिन्नो मायया द्वैधीभावं लब्धः। तत्खण्डः ब्रह्मखण्डः। तस्मादिति। तत्त्वञ्चेति तदुपसर्ज्जनत्वम्। तच्चेति तच्छक्तिकत्वम्। अंशशब्दस्योपसर्ज्जनार्थत्वे प्रयोगमाह चन्द्रमण्डलस्येति। त्रिदण्डिनां व्याख्यामिह दर्शयति एकवस्थिति। न तदिति। तदुपसर्ज्जनत्वमंशत्वं नातिक्रमति नोल्लप्स्यतीत्यर्थः। उक्तं व्यूत्पादयति ब्रह्मेति। तदुपसृष्टत्वं ब्रह्मोपसर्ज्जनत्वमित्यर्थः। घटसंवृतमित्यादि-श्रुतेरर्थसङ्गतिमाह उपाधिहानावित्यादिना। तत्त्वमसीति। तदिति पूर्वं त्वमिति तु परम्। तद्भावेनोपादानात् परस्य त्वम्पदार्थस्य जीवस्य पूर्वनिर्दिष्टतत्पदार्थपरमात्माधीन-वृत्तिकत्वं बोधयति न त्वभेदमित्यर्थः। स चेति भेदः। नान्यथासिद्धः लोकज्ञाततया न सिद्धः किन्तु शास्त्रैकज्ञाततयैवेत्यर्थः। शास्त्रेणैव हि नियम्यनियामकत्वादिना स ज्ञायत इत्यर्थः॥४१॥

सूक्ष्मा-सार—इस आपत्तिपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—*'अंशो नाना व्यपदेशादित्यादि'* यहाँ अंश शब्दका अर्थ है—उपसर्जनीभूत

अर्थात् ईश्वरकी शक्ति विशेष जीव। इसी प्रकारसे कहना होगा क्योंकि युक्ति द्वारा यही व्याख्या हुई है। और यदि अंश शब्दका यथाश्रुत (जैसा सुना गया है) अर्थरूप अन्य व्याख्या करनी हो, तो किसी एक वस्तुका एकदेशरूप अंश होता है यह बादमें व्यक्त होगा। *'परेशस्यांशो जीवोंऽशु रिवांशुमतः'* इतिमें 'अंशुमतः की' अर्थात् किरणशाली (अंशुमान) सूर्यकी किरण उसके अनुगत अर्थात् रविके सम्बन्धमें उसकी अधीनताकी अपेक्षा करती है, इसलिए उसकी दास है। उद्भवः इत्यादि श्रुति (सुबालश्रुति ६/३–४) में उद्भवः का अर्थ है उत्पत्तिजनक, 'सम्भवः' का अर्थ है प्रलयकारक, माताका अर्थ है—माताके समान पालक, पिताका अर्थ है—पिताके समान शिक्षादाता, भ्राता अर्थात् भाईके समान सहायक, निरासका अर्थ है धारक अर्थात् आधार, शरणम् का अर्थ है रक्षाकर्त्ता, सुहृदका अर्थ है—मित्र, 'गतिः' का अर्थ है—समस्त साधनाओंकी साध्यवस्तु। सूत्रके अन्तर्गत 'अन्यथा' शब्दका अर्थ है—ब्रह्मकी व्याप्यतारूपमें। प्रथम दाशाः का अर्थ है कैवर्त्त, द्वितीय दासाः पदका अर्थ है—ईश्वरके भृत्य, कितव अर्थात् कपटी द्यूतजीवी। यदि विज्ञानघन शुद्ध ब्रह्मको कैवर्त्तादि स्वरूप किया जाय तो *'न वा चैतन्यघनस्येति'* कु

कैवर्त्त इत्यादिमें वैराग्य बोधक (हेयताबोधक) शास्त्र दुर्बल हो जाते हैं। (अर्थात् चैतन्यघन वस्तुका स्वरूपसे दास-कैतव भावोंका होना सम्भव नहीं है। ऐसा होनेपर वैराग्यका उपदेश कु

है) *'तस्य तदविषयत्वात्'* इतिमें 'तस्य' का अर्थ है—परमेश्वरका, *'तदगोचरत्वात्'* अर्थात् वास्तवमें परिच्छेदके अविषयत्वके कारण। *'न च टङ्काच्छिन्नेति'* में 'टङ्क' का अर्थ है—पाषाणको विदीर्ण करनेवाला टाङ्की नामक प्रसिद्ध अस्त्र-विशेष। अमरसिंह कहते हैं—*'टङ्कः पाषाण दारणः'*। 'तच्छिन्नः' का अर्थ है—माया द्वारा ईश्वरसे द्वैधी भावको प्राप्त। 'तत्खण्डः'—अर्थात् ब्रह्मका खण्ड। *'तस्मात् तत् सृज्यत्वादिति—तत्वञ्च तस्य तच्छक्तित्वात्'* में 'तत्त्वम्' अर्थात् ईश्वरकी उपसर्जनता, 'तच्च' का अर्थ है वह उपसर्जनता अर्थात् ब्रह्मकी शक्तिरूपता। अंश शब्दका उपसर्जन अर्थमें शास्त्रीय प्रयोग चन्द्रमण्डलस्य इत्यादि वाक्यमें दिखाया है। इसी स्थलपर त्रिदण्डी वैदान्तिकोंकी व्याख्या दिखाते हैं—*'एकवस्त्वेकदेशत्वमित्यादि न तदतिक्रामति'* इसका अर्थ

है—'तत्'—वह शक्तिस्वरूप उपसर्जनत्वके अंशत्वका लप्त्न नहीं कर रहे है इसको युक्ति द्वारा स्पष्ट करते हैं—*'ब्रह्म खलु शक्तिमदेकमित्यादि'* तदुपसृष्टत्वं—जीवशक्तिका ब्रह्मोपसर्जनत्व सिद्ध है—यह अर्थ है। *'घट संवृतमाकाशम्'* इत्यादि श्रुतिकी अर्थ 'सङ्गति उपाधिहानौ' इत्यादि वाक्य द्वारा दिखाते हैं। *'तत्त्वमसि'*—इस श्रुतिके अन्तर्गत 'तत्' शब्द पहले उच्चारित है और 'त्वम्' शब्द बादमें कथित है। इसका तात्पर्य है—तत् पदार्थ ईश्वरके सम्बन्धमें और त्वम् पदार्थ जीवके ग्रहणके लिए जानना चाहिये, पूर्व निर्दिष्ट 'तत्' पदार्थसे परमेश्वरके अधीन उसकी वृत्ति अर्थात् स्थिति-कार्य-चेष्टा इत्यादिको जाना जाता है, अभेद नहीं। *'स च नियन्तृत्व नियमात्वेत्यादि'* में 'स च' का अर्थ है—वह भेद। *'प्रत्यक्षगोचरत्वान्नान्यथा सिद्धः'* लोगोंके प्रत्यक्षगोचरत्वके अनुसार सिद्ध नहीं है, यह एकमात्र शास्त्र-बोधितके अनुसार सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि शास्त्र द्वारा ही नियम्य-नियामकत्वादि उक्तियोंसे यह भेद समझा जायेगा॥ ४१ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त विषयको ही दृढ़ीकृत करनेके लिए जीवका ब्रह्मांशत्व कहा गया है। पूर्वपक्षवादी यदि जीवको माया द्वारा परिच्छिन्न ब्रह्म कहते हैं तो, इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि नाना सम्बन्धोंके व्यपदेशके कारण जीवको ब्रह्मका अंश ही कहना होगा। अथर्ववेदाध्यायीगण जीवका जो ब्रह्मात्मकत्वरूप कहते हैं, वह भी ब्रह्मका ही दास, कितवादि जीव रूपमें अंशांशि रूपसे अभिहित है।

भाष्यकारने अपने भाष्य और टीकामें इस सम्बन्धमें बहुत-सी युक्तियों और शास्त्र-प्रमाणोंका उल्लेख किया है।

श्रीमद्भागवत (११/११/४) में द्रष्टव्य है—

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्य विद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः॥

अर्थात् हे महामते! अद्वितीयस्वरूप मेरे अंशसे जीव उत्पन्न होकर अविद्या द्वारा बन्धन प्राप्त करता है और विद्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है।

और भी,

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीड़ौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥
आत्मानमन्यञ्च स वेद विद्वा-
नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥
(श्रीमद्भा० ११/११/६-७)

अर्थात् चेतनस्वरूप होनेके कारण परस्पर सादृश्ययुक्त, कभी भी नहीं बिछुड़नेवाले और ऐक्य मतके कारण परस्पर सखाभावसे अवस्थित जीव और ईश्वररूप दो पक्षी स्वेच्छापूर्वक देहरूपी पीपलके वृक्षपर हृदयरूपी घोसलेमें रहते हैं। उनमेंसे एक अर्थात् जीव पीपलरूपी देह-वृक्षका कर्मफल भोग करता है और दूसरा, अर्थात् ईश्वर, कर्मफलको भोग न कर अपनी ज्ञानशक्तिके प्रभावसे सुख-दुःखसे परे और जीवके साक्षीके रूपमें ही विराजमान रहते हैं। इस प्रकार वह ईश्वर भोक्ता जीवसे बढ़कर पृथक् हैं। (इस प्रकार चेतन होनेके कारण जीव और ईश्वर एक समान हैं, परन्तु एक ईश्वर विभु-चित् हैं और जीव अणु-चित् है। जीव कर्मफलोंका भोक्ता है और ईश्वर उसके साक्षी हैं, अतएव दोनों कदापि एक नहीं हैं, इन दोनोंमें नित्य भेद है।) साथ ही और भी एक भेद यह है कि अभोक्ता ईश्वर तो अपने वास्तविक स्वरूप और जगत्को भी जानते हैं, परन्तु कर्मफल भोक्ता जीव न तो अपने वास्तविक स्वरूपको जानता है और न अपनेसे अतिरिक्तको। इन दोनोंमेंसे अविद्यासे युक्त होनेके कारण जीव नित्य बद्ध और विद्या स्वरूप होनेके कारण ईश्वर नित्य मुक्त हैं, इन दोनोंमें यह नित्य भेद है।

श्रीमद्भगवद्गीता (१५/७) में—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

मेरा ही विभिन्नांश सनातन (नित्य) जीव इस जगत्में प्रकृतिकी उपाधिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको 'ये मेरे हैं' अपने इस अभिमान द्वारा पैरोंको बाँधनेवाली जञ्जीरको स्वीकार करनेकी भाँति आकर्षित करता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

तत्त्व येन ईश्वरेर ज्वलित ज्वलन।
जीवेर स्वरूप यैछे स्फु

(चै॰च॰आ॰ ७/११६)

अर्थात् ईश्वरतत्त्व ज्वलित-ज्वलन-स्वरूप (जलती हुई आग) है। जीवोंका स्वरूप उनके स्फु

और भी,

मायाधीश मायावश ईश्वरे जीवे भेद।
हेन जीव ईश्वर सह कहत अभेद॥

गीताशास्त्रे जीवरूप शक्ति करि माने।
हेन जीवे भेद कर ईश्वरेर सने॥

(चै॰च॰म॰ ६/१६२-१६३)

अर्थात् ईश्वर स्वभावतः मायाके अधीश्वर हैं एवं जीव स्वभावतः अणु-चैतन्यता प्रयुक्त मायावश है। जब इस प्रकारसे स्वभावगत और स्वरूपगत नित्य भेद है, तब किसी भी अवस्थामें यह नहीं कहा जा सकता कि जीवके साथ ईश्वरका अभेद है। पुनः गीता-शास्त्रमें भी जीवको 'शक्ति' कहा है। तब ऐसे मायाधीन, मायावश्य जीवकी अधीश्वर भगवान्से किस प्रकार तुलना हो सकती है?

और भी,

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष्वसजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

(श्वे॰ ४/६, मु॰ ३/१/१)

अर्थात् क्षीरोदशायी पुरुष और जीव उस अनित्य संसाररूप पीपलके वृक्षके ऊपर सखाकी तरह वास करते हैं। इन दोनोंमेंसे एक अर्थात् जीव अपने कर्मके अनुसार उस वृक्षके फलोंको चख रहा

है और दूसरे अर्थात् परमात्मा उन फलोंका भोग न करके साक्षी-स्वरूपसे देख रहे हैं।

इसी प्रकार,

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश,
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

(मु॰ ३/१/२)

जीव और अन्तर्यामी परमात्मा—ये दोनों एक तत्त्व एक ही देहरूप वृक्षपर निवास करते हैं। जीव माया द्वारा मोहित होकर देहात्मबुद्धि वश शोक करता है। जब सद्गुरुकी कृपासे अनन्य भक्तों द्वारा सेवित अपनेसे भिन्न परमेश्वरका दर्शन करता है तथा उनकी महिमा श्रवण करता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है॥४१॥

अवतरणिका भाष्य—अथ वाचनिकमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद जीवके शास्त्रवचन-सम्मत अंशका निदर्शन करते हैं—

सूत्र—मन्त्रवर्णात्॥४२॥

सूत्रार्थ—'मन्त्रवर्णात्'—समस्त जीव ही परमात्माके अंश हैं, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इत्यादि मन्त्रोंसे यही ज्ञात होता है॥४२॥

सूत्रानुवाद—मन्त्र-वर्णोंसे भी यही अर्थ निश्चित होता है कि जीव परमात्माका अंश ही है॥४२॥

गोविन्दभाष्य—*'पादोऽस्य सर्वा भूतानि'* इति मन्त्रवर्णोऽपि जीवस्य ब्रह्मांशत्वमाह। अंशपादशब्दौ तु ह्यनर्थान्तरवाचकौ। इह सर्वाभूतानीति बहुत्वे श्रौते सूत्रे अंशशब्दो जात्यभिप्रायेणैकवचनान्तो बोध्यः। एवमन्यत्रापि॥४२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'* (सम्पूर्ण भूतसमुदाय इनके एक चरणमें हैं, इनके तीन चरण अविकृत रूपसे प्रकाशमय अमृत हैं—छा॰ ३/१२/६)—पुरुषसूक्तके अन्तर्गत यह

वैदिक मन्त्र-वर्ण भी जीवको ब्रह्मका अंश कहता है। श्रुति धृत 'पाद' शब्द और 'अंश' शब्द एक ही अर्थके बोधक हैं—अर्थान्तर अर्थात् अलग अर्थोंके नहीं। इस श्रुतिके *'सर्वाभूतानि'* पदमें जीवोंकी बहुलता-बोधक बहुवचन प्रयुक्त है और *'पादोऽस्य'* में 'पाद' शब्दमें एकवचन प्रयुक्त है तो इसे विशेषण किस रूपमें कहेंगे—यह आशङ्का हो सकती है। तो उत्तर दिया गया है कि इस श्रौत-सूत्रमें 'पाद' शब्दमें एकवचनान्तका प्रयोग जाति-अभिप्रायसे है। इसी प्रकार अन्यत्र भी देखा जाता है—*'नात्माश्रुतेः'* (ब्र॰सू॰ ३/१/१६) *'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'*—जो नित्योंके नित्य, चेतनोंके भी चेतन और अकेले ही अनेकोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं॥ ४२॥

सूक्ष्मा-टीका—मन्त्रवर्णादिति। सर्वा भूतानि सर्वे जीवाः। अस्य ब्रह्मणः। पादोऽंशः॥ ४२॥

सूक्ष्मा-सार— *'मन्त्रवर्णादिति'*—इस सूत्रके भाष्यमें सर्वाभूतानि—समस्त जीव अर्थमें। 'अस्य' अर्थात् उन ब्रह्मका। 'पादः' अर्थात् अंश॥ ४२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार जीवके ब्रह्मांशत्वके प्रतिपादनके लिए मन्त्रवर्णके द्वारा वाचनिक (श्रुति प्रतिपादित) अंशत्वकी स्थापना करते हैं।

श्रीमद्भागवत (२/६/१३-१६) में द्रष्टव्य है—

अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः।
सुरासुरनरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः॥

गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः।
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः॥

अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः।
ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितस्तनयित्नवः॥

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति॥

अर्थात् हे नारदजी! मैं, तुम, तुम्हारे बड़े भाई सनकादि, देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, पक्षी, मृग, सरीसृप, (रेंगनेवाले पशु), गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, भूत-प्रेत, उरग (सर्प), पशु, पितर, सिद्ध, विद्याधर, चारण, वृक्ष, जल-थल, एवं अन्तरिक्षचारी अन्यान्य विविध प्राणी, ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु (पुच्छल तारे), बिजली, मेघ, भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान जो कुछ भी था, है और होगा—सब विराट् पुरुष ही है। इनसे भिन्न किसीकी भी सत्ता नहीं हैं। वे दस अङ्गुलके स्थानमात्रमें अधिष्ठित रहकर इस विश्वको घेरे हुए हैं॥ ४२॥

सूत्र—अपि स्मर्यते॥ ४३॥

सूत्रार्थ—'स्मर्यते' स्मृति वाक्यमें 'अपि' भी जीवको परमेश्वरका अंश कहा है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—'ममैवांशो' इत्यादि—इस मनुष्य-जगत्‌में जीवात्मा मेरा ही अंश है एवं वह नित्य है॥ ४३॥

सूत्रानुवाद—जीवकी पुरुषोत्तमांशताका स्मरण किया जाता है—इसलिए जीवको अंशरूप ही कहा जायेगा॥ ४३॥

गोविन्दभाष्य—*'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन'* (श्रीगीता १५/७) इति श्रीभगवता इह सनातनत्वोक्त्या जीवस्यौपाधिकत्वं निरस्तम्। तस्मात् तत्सम्बन्धापेक्षी जीवस्तदंश इति। तत्कर्त्तृत्वादिकमपि तदायत्तम्। स्मृतिश्च जीवस्वरूपं विशिष्याह। *'ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः। न जातो निर्विकारश्च एकरूपः स्वरूपभाक्। अणुर्नित्यो व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा। अहमर्थोऽव्ययः साक्षी भिन्नरूपः सनातनः। अदाह्योऽच्छेद्य अक्लेद्यः अशोष्योऽक्षर एव च। एवमादिगुणैर्युक्तः शेषभूतः परस्य वै। मकारेणोच्यते जीवः क्षेत्रज्ञः परवान् सदा। दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन'* इति। एवमादीत्यादिपदात् कर्त्तृत्व-भोक्तृत व-स्वस्मै-स्वयं-प्रकाशत्वानि बोध्यानि। प्रकाशः खलु गुणद्रव्यभेदेन द्विभेदः। प्रथमः स्वाश्रयस्य स्फूर्तिः। द्वितीयस्तुस्वपरस्फूर्तिहेतुर्वस्तुविशेषः। स चात्मैव। दीपश्चक्षुः प्रकाशयन् स्वरूपस्फूर्तिञ्च स्वयमेव करोति न तु घटादिप्रकाशवत् तदादिसापेक्षः। तस्मादयं स्वयं प्रकाशः। तथापि स्वं प्रति न प्रकाशते स्वस्मिन् जाड्यात्। आत्मा तु स्वयं परञ्च प्रकाशयन् स्वं प्रति प्रकाशते। अतः स्वस्मै स्वयं प्रकाशः यदसौ चिद्रूप इति॥ ४३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌के *'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'* वाक्यमें सनातनत्व अर्थात् जीवके

नित्यत्व-कथन द्वारा उसका (जीवका) औपाधिकत्व अर्थात् उपाधिनाशाधीन विनश्वरत्व निरस्त हुआ है। अतएव सिद्धान्त यह है कि परमेश्वरका नियम्यत्व—दासत्वादि सम्बन्धाश्रयी (सम्बन्धापेक्षी) जीव उनका ही अंश है और इस जीवका कर्त्तृत्व इत्यादि भी ईश्वराधीन (ईश्वरायत्त) है। स्मृति (पद्मपुराण) में भी विशेष करके जीवका स्वरूप बताया है—*'ज्ञानाश्रयो ... नान्यस्यैव कदाचन'* अर्थात् जीव ज्ञानात्मक (ज्ञानस्वरूप) है और ज्ञान उसका गुण है। जीव चैतन्यमय (देह, इन्द्रियादिका चैतन्य-सम्पादक), प्रकृतिसे भिन्न (परे), जन्मरहित, उपचय-अपचय (अस्ति, जायते इत्यादि) षड्-विकारोंसे रहित, एक-स्वरूप और शरीर-धारी (देह-विशिष्ट) है। वह अणु-परिमाण, नित्य, व्याप्तिशील चिदानन्दमय, अस्मद् शब्दका वाच्य-अर्थस्वरूप (मैं-मैंके रूपमें जो प्रतीत होता है—यथा मैं आत्मा हूँ), अव्यय (नाशरहित), साक्षी, विभिन्न आकृतिसम्पन्न और शास्त्रवत (सनातन) है। वह न तो दाहके योग्य है और न ही छेदनकी वस्तु। वह अक्लेदनीय, अशोषणीय और अक्षरस्वरूप है। इस प्रकारके गुणोंसे विभूषित जीव श्रीहरिके अंश 'ॐ' इस प्रणवके अन्तर्गत 'मकार' द्वारा वाच्य है। क्षेत्रज्ञ होकर भी परवान् अर्थात् सर्वदा ईश्वरके अधीन है। वह श्रीहरिका ही दास है, और किसीका दास कभी भी नहीं है। *'एवमादि'* इस आदि पदसे जीवका कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वप्रकाशत्व (स्वयं प्रकाशमानत्व) गुण ग्राह्य हैं। जगत्में गुण एवं द्रव्य भेदसे प्रकाश दो प्रकारका है। इनमें अर्थात् गुणभेदसे प्रकाश स्व-आश्रयकी स्फूर्ति प्रथम (प्रकाश) है और दूसरा स्वयंके प्रकाश (स्फूर्ति) और दूसरेके प्रकाश (स्व-पर-स्फूर्ति) का हेतुभूत पदार्थ विशेष है—यह पदार्थ आत्मा है। दीप चक्षुको प्रकाशित करता है और स्व-स्वरूपका प्रकाश (स्फूर्ति) भी स्वयं ही करता है। घटादिके प्रकाशको दूसरेकी अपेक्षा रहती है, किन्तु दीपक स्व-प्रकाशके लिए अन्य दीपादिकी अपेक्षा नहीं करता। इसलिए दीप स्वयं-प्रकाश अर्थात् अन्य निरपेक्ष प्रकाश है। ऐसा होनेपर भी दीपक स्वयंको स्वयंमें प्रकाशित नहीं करता, क्योंकि अपने विषयमें वह जड़ है। किन्तु आत्मा ऐसी नहीं है—वह स्वयंके द्वारा दूसरेको प्रकाशित

करके आत्मप्रकाश करती है। अतएव *'स्वस्मै स्वयं प्रकाशः'* आत्मा चित्स्वरूप है, अपने धर्ममें अपना ही प्रकाशक है॥ ४३॥

सूक्ष्मा-टीका—अपि स्मर्यत इति सूत्रेण भगवतेति वृत्तिपदं संबन्ध्यम्। अनुक्तान् जीवधर्मान् भाष्यकृत् संगृह्णाति। स्मृतिश्चेति पाद्ममिति बोध्यम्। ज्ञानाश्रय इति ज्ञानञ्चासावाश्रयश्चेति कर्मधारयात् ज्ञानरूपो धर्मीत्यर्थः। तदेवाह ज्ञानगुण इति। चेतनो देहादेश्चेतयिता अहमर्थोऽस्मच्छब्दवाच्यः शेषभूतोऽंशभूतः हरेरेव दासभूतः। नन्वत्र सर्वेषां जीवानां हरिदासत्वं स्वरूपसिद्धं निर्विशेषञ्च प्रतीतम्, तत उपदेशसंस्कारयोर्वैयर्थ्यमिति चेन्मैवमेतत् तद्दास्याभिव्यञ्जकत्वेन तयोरर्थवत्त्वात्। श्रुतिश्चैवमाह—*'घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते वसति विज्ञानं सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानदण्डेन'* इति। *'यस्य देवे परा भक्तिः'* इत्याद्या च। स्मृतिश्च *'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना'* इत्याद्या। आदिपदग्राह्येषु कर्त्तृत्वादिषु कर्त्तृत्वादिद्वयं प्राक् निर्णीतम्। स्वस्मै स्वयंप्रकाशत्वं व्यूत्पादयति प्रकाशः खल्वित्यादिना। तदादिसापेक्षो दीपाद्यपेक्षी॥ ४३॥

सूक्ष्मा-सार—*'अपि स्मर्यते'*—इस सूत्रमें कर्त्तृपद नहीं है किन्तु भाष्य धृत *'भगवता'* पदके साथ उसका सम्बन्ध करणीय है अर्थात् किया जाना चाहिये। जो जीव-धर्म सूत्रकार द्वारा नहीं कहे गये है भाष्यकार उन समस्त धर्मोंका संग्रह करके कहते हैं—*'स्मृतिश्चेति'*—यह पद्मपुराणसे उद्धृत किया गया है। *'ज्ञानाश्रयः'* पदमें षष्ठीतत्पुरुष समास नहीं है—यदि होता तो जीव ज्ञानस्वरूप है, यह उक्ति असङ्गत होती—इसलिए *'ज्ञानञ्च असौ आश्रयश्च'* जीव ज्ञानस्वरूप है और आश्रयस्वरूप है—इस कर्मधारय समाससे ज्ञानस्वरूप है और पुनः धर्मी भी है—यह अर्थ ग्राह्य है। इसीको बतलाते हैं—ज्ञानगुणः—ज्ञान उसका गुणस्वरूप है चेतनः अर्थात् देह-इन्द्रियादिका चैतन्य-सम्पादक है। अहमर्थः—मैं-मैं कहकर जो प्रतीत होता है, उस 'अस्मद्' शब्दका अर्थ है—मैं आत्मा हूँ। शेषभूतः—परमेश्वरका अंशस्वरूप। श्रीहरिका दास, अन्यका नहीं। अब प्रश्न यह है कि समस्त जीव तो स्वरूपतः श्रीहरिके दास हैं और समस्त जीव निर्विशेषमें हैं—यह प्रसिद्ध है, तब शास्त्रके उपदेश और संस्कारकी आवश्यकता क्या? यह यदि कहते हो तो, ऐसा नहीं है क्योंकि चित्त्का संस्कार और उपदेश दास्यके अभिव्यञ्जक हैं, इसलिये उनकी सार्थकता है। श्रुति

भी इस प्रकार कहती है—*'घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते वसति विज्ञानं सततं मन्थयितव्यम् मनसा मन्थानदण्डेन'* इति अर्थात् जिस प्रकार दूधमें निहित घृत (घी) को मथानी दण्ड द्वारा मथकर प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणीमें विज्ञान ब्रह्म निगूढ़ रूपसे निहित हैं—वे सर्वदा ही मनरूपी मथानी दण्डसे मथित करके प्रकट किये जा सकते हैं। *'यस्य देवे परा शक्तिः'* अर्थात् जिस व्यक्तिकी परमेश्वरमें ऐकान्तिकी भक्ति है, वह ही उन्हें जान सकता है इत्यादि श्रुतिका अभिप्राय भी यही है। स्मृति भी ऐसे ही कह रही है—*'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना'* अर्थात् चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना जिस प्रकार स्व-प्रकाश है, वह किसीके द्वारा भी प्रकाशित नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा भी स्वप्रकाश है इत्यादि वचन है। *'एवमादिगुणैर्युक्तः'* इति यहाँ आदि पदसे गुणसमुदाय ग्राह्य है इनमें कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व—ये दोनों गुण पहले ही सूत्रकार द्वारा निर्णीत किये गये है। (कि वे ब्रह्माधीन है।) *'स्वस्मै स्वप्रकाशत्वम्'* अर्थात् 'स्वयंके द्वारा स्वयंका प्रकाश'—इसे *'प्रकाशः खल्वित्यादि'* वाक्य द्वारा प्रकाशित करते हैं। *'घटादि प्रकाशवत् तदादि सापेक्षः'*—घटादि प्रकाश जिस प्रकार दीपादि—सापेक्ष हैं॥ ४३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति— *'अपि स्मृयते'* सूत्रमें स्मृति-प्रमाणके द्वारा सूत्रस्थ जीवके ब्रह्मांशत्वको प्रमाणित करते हैं। गीतामें उक्त *'ममैवांशो जीवलोके'* श्लोकमें स्वयं श्रीभगवान् द्वारा जीवके सनातन रूपका उल्लेख किये जानेसे जीवका अनित्यत्व स्वयं ही निरस्त हुआ है। इस प्रकार जीव ब्रह्मांश और ब्रह्म-सम्बन्ध-सापेक्षी है और इस प्रकार जीवका कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्वादि ब्रह्माधीन हैं। भाष्यकारने यहाँ पद्मपुराणके वाक्यको उद्‌धृत करके 'जीव ज्ञानाश्रय, ज्ञानगुण, चेतन और प्रकृतिसे अतीत' इत्यादिको उद्धृत करके जीवकी ज्ञानस्वरूपता एवं ब्रह्मांशत्वका स्थापन किया है।

श्रीबलदेव विद्याभूषणपादने अपनी टीकामें *'घृतमिव पयसि ...'* इत्यादि श्रुतिको उद्धृत करते हुए कहा है—जिस प्रकार दूधमें निहित घीको मथानी दण्ड द्वारा प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणीमें विज्ञान ब्रह्म निगूढ़ है, वे सर्वदा ही मनरूपी मथानीसे मथित होनेपर प्रकट किये जा सकते हैं। स्मृतिमें भी कहा है *'यथा न*

क्रियते ज्योत्सना'—चन्द्रकी ज्योत्स्ना जिस प्रकार स्वप्रकाश है, वह किसीके द्वारा प्रकाशित नहीं होती, आत्मा भी उसी तरह 'स्वप्रकाश' है। जिनकी परमात्मामें ऐकान्तिकी भक्ति है, वे ही उन्हें जान सकते हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

एकस्यैव ... तथेतरः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/११/४)

इसकी व्याख्या पूर्वोक्त सूत्र (२/३/४१) में दी गयी है।

इसी प्रसङ्गमें निम्न श्लोक भी आलोच्य है—

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥

(श्रीमद्भा॰ १/७/५)

इसी मायाके द्वारा जीवका स्वरूप आवृत एवं विक्षिप्त हो जाता है। इसी मायासे मोहित होकर वह स्वयंको जड़ातीत होनेपर भी त्रिगुणात्मक मान लेता है और इस जड़-देहमें आत्म-बुद्धि (जड़-शरीरमें 'मैं' का अहङ्कार) करने लगता है। इस जड़-अभिमानके कारण ही अपनेको कर्त्ता और भोक्ता मानकर सांसारिक भोगकी वासना प्राप्त करता है॥४३॥

अवतरणिका भाष्य—प्रसङ्गादिदं विचिन्त्यते। *'एकोवशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* इति श्रीगोपालतापन्यां (पू॰ २३) पठ्यते। स्मृतौ च *'एकानेकस्वरूपाय'* (वि॰पु॰ १/२/३) इत्यादि। अत्रांशिरूपेणैकोऽंशकलारूपेण तु बहुधेत्यर्थः प्रतीयते। तत्र जीवांशान्मत्स्याद्यंशस्य विशेषोऽस्ति न वेति संशये अंशत्वाविशेषात् नास्तीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यह जो प्रसङ्ग विचारित हो रहा है—इसी क्रममें यह भी एक विचार किया जा रहा है कि—*'एकोवशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* (गो॰ता॰पू॰ २३)—एक श्रीकृष्ण ही सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी एवं स्तवनीय हैं, वे एक होकर भी बहुत रूपोंमें प्रकाशित होते हैं—श्रीगोपालतापनी उपनिषदमें यह श्रुति पठित है और स्मृति वाक्य भी देखा जाता है—*'एकानेकस्वरूपाये'* (वि॰पु॰ १/२/३) अर्थात् वे एक होकर भी अनेक स्वरूप हैं—इत्यादि

वाक्योंसे यह अर्थ प्रतीत होता है कि वे अंशीरूपमें एक हैं और अंश कलारूपमें बहुत हैं। अब यहाँ संशय यह है कि मत्स्य अवतारादि रूप अंशका जीव-अंशसे वैशिष्ट्य है कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि नहीं, जब अंश है—तब अंशत्वके साधारण धर्मानुसार मत्स्यादि अवतारोंका जीवसे कोई वैशिष्ट्य नहीं है, अतः अविशेष होनेके कारण भेदाभाव ही प्रतीत होता है। इस प्रकारके मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—प्रसङ्गादित्यादि। अंशप्रसङ्गादप्रकृतविषयस्यापि विचारस्योत्पत्तिः। उपसर्ज्जनत्वमेव जीवस्यांशत्व पूर्वमुक्तं तद्वन्मत्स्याद्यवतारस्यापि तत्त्वमेव तथास्त्विति दृष्टान्तोऽत्र सङ्गतिः। मत्स्यादेरंशत्वबोधकं पूर्णत्वबोधकञ्च वाक्यमस्ति। तयोर्विरोधो न वेति संशये अर्थभेदात् विरोधे प्राप्ते मत्स्याद्यंशत्ववाक्ये सर्वशक्त्यनभिव्यञ्जकत्वमेवांशत्त्वमिति व्याख्यानादविरोध इत्यभिप्रायेण न्यायस्य प्रवृतिः। एक इति। एकः सर्वमुख्यः परम इत्यर्थः। वशी नियन्ता। सर्वगो विभुः। ईड्योऽनन्तगुणत्वात् स्तवनीयः। एकोऽपि सन्नेकत्वमजहदेव बहुधा पुरुषावतार-लीलावतारादिरूपेणावभाति विदुषां प्रतीतिगोचरो भवतीत्यर्थः। स्मृतौ चेति श्रीवैष्णवे चेत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अंश-प्रसङ्गसे अप्रस्तावित विषयका भी विचार उपस्थित हुआ है—पहले कहा गया था कि—ब्रह्मोपसर्जनत्व ही जीवका अंशत्व है अर्थात् परमेश्वरका उपसर्जन जीव तथा अंश है इसी प्रकारसे मत्स्यादि अवतार भी परमेश्वरके उपसर्जन-अंश हैं। अतः अंशत्वके आधारपर ये अवतार भी जीवके समान हों—ऐसी दृष्टान्त-सङ्गति यहाँपर जाननी चाहिये। मत्स्यादि अवतार जो कि परमेश्वरका अंश है—उसका बोधक वाक्य है और वे जो पूर्ण हैं, यह उसका प्रतिपादक वाक्य है। अब संशय यह है कि—दोनों वाक्योंका परस्पर विरोध होगा कि नहीं? पूर्वपक्षीके मतमें दोनोंका अर्थभेद रहनेके कारण विरोध होगा ही। सिद्धान्तीके मतमें मत्स्यादि अवतारोंके अंशत्व-बोधक वाक्यमें अंशत्वका तात्पर्य है सर्वशक्तिका अनभिव्यञ्जकत्व अर्थात् वे सर्वशक्तिमान हैं किन्तु उन सब शक्तियोंका उनमें प्रकाश नहीं है। अतएव पूर्ण होकर भी अंश हैं—इस प्रकारके व्याख्यानके कारण विरोधका अभाव है। इसी

अभिप्रायसे इस अधिकरणकी अवतारणा है। *'एकोवशीत्यादि'*—'एकः' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ परम, वशी अर्थात् नियन्ता, सर्वगः अर्थात् सर्वव्यापी, 'ईड्यः' अर्थात् अनन्त गुणोंके आधार हैं—इसलिए स्तवार्ह अर्थात् स्तुत्य हैं। *'एकोऽपि सन्निति'* अर्थात्—एकरूपत्व त्याग न करके भी, बहुधा—पुरुषावतार रूप, लीलावतरादि—रूप, अवभाति—विद्वानोंके निकट प्रतीयमान होते हैं। स्मृतिवाक्यमें भी अर्थात् विष्णुपुराण में भी।

१८—स्वांशाधिकरणम्

मत्स्यादि अवतारण स्वाशंतत्त्व और जीव विभिन्नांश

सूत्र—प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थ—अंश शब्दसे संज्ञित होनेपर 'परा' मत्स्यादि अवतार 'न एवम्' इस प्रकार अर्थात् जीवके समान अंश नहीं है, इस विषयमें दृष्टान्त है—'प्रकाशादिवत्'—प्रकाशादिके समान ॥ ४४ ॥

सूत्रानुवाद—जिस प्रकारसे जीव परमात्माका अंश है, उस प्रकारसे मत्स्यादि अवतार नहीं, क्योंकि खद्योतके तेजकी तुलना रविके तेजसे नहीं हो सकती ॥ ४४ ॥

गोविन्दभाष्य—अंशशब्दितत्वेऽपि परो मत्स्यादिर्न एवं जीववन्न भवति। तत्र दृष्टान्तमाह प्रकाशेति। यथा तेजोऽंशो रविः खद्योतश्च तेजःशब्दितत्वेऽपि नैकरूप्यभाक्, यथा जलांशः सुधा मद्यादिश्च जलशब्दितत्वेऽपि न साम्यं लभते तद्वत् ॥ ४४ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अंश शब्दसे अभिहित होनेपर भी मत्स्यादि अवतार जीवकी भाँति अंश नहीं हैं। दोनोंमें पार्थक्य है। इस सम्बन्धमें दृष्टान्त दिखा रहे हैं—*'प्रकाशादिवत्'* प्रकाश अर्थात् तेज इत्यादिके समान। जिस प्रकार रवि तेजका अंश है और खद्योत (जुगनू) भी तेजका अंश है—दोनों ही तेज शब्दसे कहे जानेपर भी एकरूप नहीं हैं और जिस प्रकार सुधा और मद्यादि जलांश हैं; जल शब्दसे संज्ञित होकर भी वे परस्पर साम्य प्राप्त नहीं करते, उसी प्रकार जीव एवं मत्स्यादि अवतार परमेश्वरके अंश होकर भी भिन्न-भिन्न धर्मोंको प्राप्त हैं ॥ ४४ ॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रकाशादिवदिति। स्फु

सूक्ष्मा-सार—प्रकाशादिवदित्यादि सूत्र एवं भाष्यार्थ सुस्पष्ट है॥ ४४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जीवके अंशत्वका विचार करते हुए प्रसङ्ग-क्रमसे एक अप्रकृत (अप्रस्तावित) विषयका विचार उपस्थित हुआ है। यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि मत्स्यादि अंशावतारोंसे उपसर्जन अर्थात् अंश जीवको पृथक् न कहकर अंशत्वके अविशेष (साधारणता) के कारण जीव एवं अंशावतारमें अभेद ही कहा जायेगा—तो इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं जी, ऐसा नहीं है, क्योंकि अंश शब्दसे मत्स्यादि अवतारोंका बोध होनेपर वे जीवके सदृश अंश नहीं हैं जैसे कि प्रकाशादि। भाष्यकार दृष्टान्त द्वारा समझा रहे हैं कि खद्योत एवं सूर्य दोनों ही तेजके अंश हैं और सुधा एवं मद्य भी जलके अंश हैं, पर इन्हें एकरूप अथवा एक समान नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार अंशस्वरूप होनेपर मत्स्यादि अवतार-जीवके समान नहीं हो सकते।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः॥
(श्रीमद्भा॰ १/३/२७)

अर्थात् प्रजापतिगण, मुनि, देवगण, मनु, मनुपुत्र, मानव और जितने भी महान् शक्तिशाली हैं, सभी श्रीहरिके अंश हैं, उनकी विभूतिके रूपमें कहे गये हैं।

मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः
क्षौणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः।
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे
आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान्॥
(श्रीमद्भा॰ २/७/१२)

अर्थात् जब चाक्षुष मन्वन्तर अपनी समाप्तिपर था, तब भावी वैवस्वत मनुने भगवान्को मत्स्य रूपमें देखा था। उस समय पृथिवीरूप नौकाके आश्रय होनेके कारण मत्स्यावतारमें वे पृथिवी एवं जरायुज,

अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—इन चार प्रकारके जीवोंके आश्रय स्थल बन गये थे। मन्वन्तरके अन्तमें प्रलयके महाभयङ्कर जलमें भयके कारण मेरे (ब्रह्माके) मुखसे वेद विगलित हुए थे, तब भगवान्ने मत्स्यरूपमें उन वेदोंको धारण किया और उस प्रलय-पयोधि-सलिलमें विहार किया॥ ४४॥

सूत्र—स्मरन्ति च॥ ४५॥

सूत्रार्थ—अंश द्विविध है, स्वांश और विभिन्नांश। उनमें स्वांशपदवाच्य अंशीके सामर्थ्य स्वरूप और स्थितिके अनुसार अंशीके समान शक्ति आदिसे समन्वित, किसी अंशमें अंशीसे वह अणुमात्र भी भिन्न नहीं है। परन्तु विभिन्नांश अल्प शक्ति अर्थात् ईषत् सामर्थ्यसे युक्त है, अतएव स्वयंरूपी श्रीकृष्णके जो समस्त मत्स्यादि अंश हैं, वे जीवके समान नहीं हैं, जीवसे अलग हैं, यह वृतान्त महावराहपुराणमें है॥ ४५॥

सूत्रानुवाद—'स्मरन्ति'—स्मृति-शास्त्रोंमें 'च'—भी यही कहा गया है कि जीव और मत्स्यादि अवतारोंमें साम्यता नहीं है॥ ४५॥

गोविन्दभाष्य—*'स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्वेधांश इष्यते। अंशिनो यत्तु सामर्थ्यं तत्स्वरूपं यथा स्थितिः। तदेव नाणुमात्रोऽपि भेदः स्वांशांशिनोः क्वचित्। विभिन्नांशोऽल्पशक्तिः स्यात् किञ्चित्सामर्थ्यमात्रयुगिति। सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिता'* इति च। अयं भावः। *'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'* (श्रीमद्भा॰ १/३/२८) इत्यादौ कृष्णाख्यस्य वस्तुनः स्वयंरूपस्य ये मत्स्यादयोऽंशाः स्मृताः, न ते जीववत् ततो भिद्यन्ते तस्यैव वैदूर्यादिवत् तत्तद्भावाविष्कारात् सर्वशक्तिव्यक्त्य-व्यक्तिसव्यपेक्षो हि तत्तद्व्यपदेशः। यः कृष्णः कृत्स्नषाड्गुण्यव्यञ्जकोऽंशी स एवाकृत्स्नतद्व्यञ्जको द्व्येकव्यञ्जको वाऽंश कला चेत्युच्यते। यथैकः कृत्स्नषट्शास्त्रप्रवक्ता सर्वविदुच्यते स एव क्वचिदकृत्स्नतद्वक्ता द्व्येकशास्त्रवक्ता च सर्ववित्कल्पोऽल्पज्ञश्चेति। पुरुषबोधिन्यादिश्रुता राधाद्याः पूर्णाः शक्तयो दशमादिस्मृता गुणाश्च सर्वातिशायिप्रेमपूर्णपरिकरत्वद्रुहिणादिविद्वत्तमविस्मापकवंशमाधुर्यस्वपर्यन्त सर्व-विस्मापकरूपमाधुर्यनिरतिशयकारुण्यादयो यशोदास्तनन्धये कृष्ण एव नित्याविभूर्ताः सन्ति न तु मत्स्यादित्वे सतीति तस्यैव तत्तद्भावाविष्कारान्न मत्स्यादेर्जीववत् तत्त्वान्तरत्वं किन्तु तदात्मकत्वमेवेति॥ ४५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—स्मृति अर्थात् महावराहपुराणमें कहा गया है कि परमेश्वरके *'स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इत्यादि'* स्वांश और विभिन्नांश—दो प्रकारके अंश हैं। उनमें परमेश्वर अंशीकी जैसी सामर्थ्य है, जैसा स्वरूप है और जैसी स्थिति है, स्वांशकी भी वही है, स्वांश और अंशीका अणुमात्र भी प्रभेद नहीं है, किन्तु विभिन्नांशसमूह अपेक्षाकृत अल्पशक्तिसम्पन्न है और ईषत् सामर्थ्ययुक्त है। और भी कहते हैं—मत्स्य, कूर्मादि स्वरूप सभी समस्त गुणोंसे पूर्ण हैं और समस्त दोषोंसे रहित हैं। भावार्थ यह है कि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि ये जो अवतार कहे गये हैं, इनमेंसे कोई परमपुरुषका अंश है, कोई अंशका अंश है, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं—इत्यादि उक्तिमें श्रीकृष्ण नामक स्वयंरूप वस्तुके जो मत्स्यादि समस्त अवतार अंश रूपमें वर्णित हुए हैं, वे जीवकी भाँति अंश नहीं हैं। जीव जिस प्रकार स्वयंरूप भगवान् श्रीकृष्णसे भिन्न है, उस प्रकारसे ये अवतारादि नहीं हैं, वे स्वयंरूप श्रीकृष्ण वैदूर्यमणिके समान इन अवतारोंमें तत्-तत् भावोंका आविष्कार करते हैं। सर्वशक्तिकी अभिव्यक्ति (प्रकाश) और अनभिव्यक्तिके (अप्रकाशके) अनुसार ही अंश-कलाका व्यपदेश होता है। जो श्रीकृष्ण हैं, वे समग्र ऐश्वर्यादि षड्गुणोंके अभिव्यञ्जक—अंशी रूपसे अभिहित हैं, वे ही असमग्र षड्गुणोंके व्यञ्जक होकर अर्थात् षड्गुणोंमेंसे दो अथवा एक गुणके व्यञ्जक होकर अंश और कला अथवा अंशांश नामसे उसी प्रकार अभिहित होते हैं, जिस प्रकार एक ही व्यक्तिको समग्र षड्दर्शनका प्रवचनकर्त्ता होनेपर 'सर्ववित्' (सर्वशास्त्रवेत्ता) नामसे कहा जाता है, और वही जब किसी समय असमग्र शास्त्रवेत्ता होता है अथवा दो-एक शास्त्रका वक्ता होता है, तब उसे यथाक्रमसे सर्ववित्-तुल्य और अल्पज्ञ कहा जाता है। पुरुषबोधिनी इत्यादि श्रुतिमें श्रुत है कि श्रीराधा इत्यादि स्वयंरूप भगवान्‌की पूर्णशक्ति हैं और श्रीभागवतके दशम-स्कन्धादिमें वर्णित सर्वातिशायी प्रेमपूर्णपरिपक्वत्व (पूर्णाङ्गत्व अर्थात् स्वयं श्रीकृष्णका आकर्षण इत्यादि करनेके लिए श्रीराधाकी गुणोंकी स्थिति ही उनकी पूर्णताका परिचय है और यह पूर्णता समस्त लक्ष्मियोंके अंशीत्वके कारण हैं), ब्रह्मा इत्यादि सर्वोत्तम ज्ञानियोंका विस्मयजनकत्व, वंशीमाधुर्य,

इतना ही नहीं, स्वपर्यन्त सर्वविस्मयजनक अर्थात् स्वयंसे लेकर सभीको आश्चर्यचकित करनेवाला श्रीभगवान्‌का रूपमाधुर्य निरतिशय कारुण्य इत्यादि गुणसमूह यशोदास्तनपायी श्रीमन्नन्दनन्दन श्रीकृष्णमें नित्य प्रकट होते हैं, किन्तु मत्स्यादि अवतारोंमें उन सबका प्रकाश नहीं होता है। भगवान् श्रीकृष्णमें ही उन-उन भगवद्भावोंका आविष्कार होता है, मत्स्यादि अवतार जीवोंके समान अन्य तत्त्व नहीं हैं, किन्तु तदात्मकस्वरूप ही हैं॥ ४५॥

सूक्ष्मा-टीका—स्मरन्ति चेति महावाराहे इति बोध्यम्। स्वभूतोऽंशः स्वांशो मत्यादिः स्वस्माद्विभिन्नोऽंशस्तु जीवलक्षण इत्येवमंशशब्दार्थो द्विभेदः। नित्यमग्निहोत्रम्। नित्यं ब्रह्मेतिवल्लक्षणभेदो बोध्यः। अंशशब्दस्यार्थभेदादेव तत्र विशेषोऽस्तीत्याह अंशिनो यत्त्विति। अयमिति। एते चेति श्रीभागवते। तत इति स्वयंरूपात् कृष्णादित्यर्थः। अकृत्स्नतद्व्यञ्जक इति स्वनिष्ठं षाड्गुण्यं कार्त्स्न्येनाप्रकटयन्नित्यर्थः। द्व्येकेति। षण्णां मध्ये द्वे एकं वा कार्त्स्न्येन प्रकटयन्नित्यर्थः। पुरुषबोधिनीति। आदिना ऋक्परिशिष्टं ग्राह्यम्। राधाद्या इति। आद्यशब्देन चन्द्रावली ग्राह्या। तदाकर्षकतादिगुणसंहतिश्च श्रीराधायाः पूर्णत्वं सर्वलक्ष्म्यंशित्वात् तत्संहतेरंशित्वञ्च तत्तदंशित्वादिति बोध्यम्। तदेतत् कामाधिकरणभाष्यसूक्ष्मे भाष्यपीठके च द्रष्टव्यम्॥ ४५॥

सूक्ष्मा-सार— *'स्मरस्तीति'* सूत्रके भाष्यमें *'स्वांशश्चाथ'* इत्यादि श्लोक महावराहपुराणके अन्तर्गत है। स्वांश शब्दकी व्युत्पत्ति है—'स्वभूतः'—स्व अर्थात् स्वरूप—अंशीस्वरूप, तस्य अंशः—उनके अंश—ये सभी मत्स्यादि अवतार स्वरूपसे विभिन्न अंश जीवस्वरूप हैं। 'च' इस प्रकारसे अंश शब्दका अर्थ दो प्रकारसे है। जिस प्रकार *'नित्यं अग्निहोत्रम्' 'नित्यं ब्रह्म'*—इस प्रकारकी उक्तिमें नित्यत्वका लक्षणस्वरूप भेद है, उसी प्रकारसे अंश शब्दका भी लक्षणस्वरूप प्रभेद जानना चाहिये। अंश शब्दका अर्थगत प्रभेदसे ही जीव और मत्स्यादि अवतारोंका प्रभेद है—यही *'यत्तु सामर्थ्यम्'* इत्यादि द्वारा बतला रहे हैं। अयं भाव इत्यादि *'एते चांश कला'* इत्यादि श्लोक श्रीभागवतमें कहा गया है। *'न जीववत् ततो भिद्यन्ते इति'* अर्थात् स्वयंरूप श्रीकृष्णसे विभिन्न नहीं हैं, यह अर्थ है। *'स एवाकृत्स्नतद्व्यञ्जक'* इति अर्थात् स्वयंरूप श्रीकृष्णगत जो ऐश्वर्यादि छह गुण हैं उन्हें सम्पूर्ण रूपसे प्रकट न करके। द्व्येकव्यञ्जक इति अर्थात् छह गुणोंमें मात्र दो अथवा एक गुण प्रकट

करके। *'पुरुषबोधिन्यादि श्रुता:'*—पुरुषबोधिनी श्रुति और आदि पदसे ग्राह्य ऋक परिशिष्ट ग्रन्थमें वर्णित। राधाद्याः पूर्णा इति—आद्य पदसे चन्द्रावलीको जानना चाहिये। श्रीराधाकी स्वयंरूप श्रीकृष्णको आकर्षण इत्यादि करनेकी गुण-समुदाय (राशि)-स्थिति भी उनके पूर्णत्वकी परिचायक है और यह पूर्णत्व भी समस्त लक्ष्मियोंके अंशीत्वके कारण है। यह गुण-संहति अथवा गुण-सम्पर्क (गुण-राशि) जो अंशी है, उसे भी उस-उस अंशीत्वके कारण जानें। ये समस्त बातें कामाधिकरण भाष्यकी सूक्ष्मा नामक टीका और भाष्यपीठकमें द्रष्टव्य है॥ ४५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार पुनः प्रस्तुतमें सूत्रमें स्मृतिके प्रमाणके द्वारा पूर्वोक्त सिद्धान्तको दृढ़ता प्रदान कर रहे हैं।

महावराहपुराणमें कहा है—स्वांश एवं विभिन्नांश भेदसे अंश दो प्रकारका है। इनमें मत्स्यादि अवतार स्वांश हैं और जीव विभिन्नांश है। अंशीकी जिस प्रकार सामर्थ्य है, जिस प्रकारसे स्वरूप है और जिस प्रकारकी स्थिति है, उसी प्रकार अर्थात् अंशीके सहित स्वांश भी अभिन्न हैं, लेकिन जो विभिन्नांश जीव हैं, वे अल्पशक्तियुक्त हैं और अंशीसे भिन्न हैं। विस्तृत अलोचना भाष्यमें देखनी चाहिये।

किसी मनुष्यकी देहके एक देशमें चन्दन, अगरु आदिका लेप हो और दूसरे भागमें कीचड़ आदिका लेप बालकों द्वारा परिहासार्थ कर दिया जाय, इसी प्रकार प्रकृतमें परमेश्वरके एक देशमें मङ्गलमय गुणगणादि विविध भूषणोंका योग और देशान्तरमें सर्वदोषसम्पन्न जीव आदिका उनमें संयोग कहा जाय—यह कल्पना ही कैसी वीभत्स है और श्रुति-स्मृतियोंके तात्पर्यमें वज्रपात जैसी है।

श्रीमद्भागवतमें है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकु

(श्रीमद्भा॰ १/३/२८)

अर्थात् पहले कहे गये सब-के-सब भगवान्‌के अंशावतार अथवा कलावतार हैं। प्रत्येक युगमें जब जगत् दैत्योंसे पीड़ित होता है, तब दैत्योंके उपद्रवसे जगत्‌की रक्षा करनेके लिए ये अवतार हुआ करते हैं। किन्तु व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण तो स्वयं-भगवान् (अवतारी) हैं।

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कु

(श्रीमद्भा॰ १/३/२६)

हे शौनकादि ऋषियो! जिस प्रकार अक्षय-सरोवरसे हजारों छोटी-छोटी नदी, नाले निकलते हैं, उसी प्रकार सत्त्व-सागर श्रीहरिसे असंख्य अवतार प्रकट होते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

स्वांश-विभिन्नांशरूपे हञा विस्तार।
अनन्तवैकु

स्वांश-विस्तार-चतुर्व्यूह, अवतारगण।
विभिन्नांश जीव—ताँर शक्तिते गणन॥

(चै॰च॰म॰ २२/८-९)

अर्थात् श्रीकृष्ण स्वांश रूपसे (चतुर्व्यूह और तदवतार रूपसे) तथा विभिन्नांश रूप (जीव रूपसे) विस्तार प्राप्त करके अनन्त वैकु और ब्रह्माण्डोंमें विहार करते हैं। स्वांश रूपसे श्रीकृष्णका स्व-स्वरूपत्व सर्वत्र लक्षित होता है। विभिन्नांश रूपमें जीव भी उनकी शक्तियोंमें परिगणित होते हैं। चतुर्व्यूह अवतारगण स्वांशके अन्तर्गत हैं॥ ४५॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अन्य युक्ति द्वारा विषयमें प्रभेद दिखाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ननु तत्र तत्रांशशब्दस्यार्थभेदः कथं श्रद्धेयस्तत्राह युक्त्यन्तरेणेति। परेशकृतानुज्ञापरिहारकत्वं तद्विरहश्चात्र युक्त्यन्तरम्। तेनांशशब्दस्य तथा तथा इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आक्षेप यह है कि अंश शब्दका अवतार-पक्षमें एक प्रकारका अर्थ है और जीव-पक्षमें अन्य प्रकारका अर्थ है—तो इस प्रकारका भेद श्रद्धास्पद किस प्रकारसे हो सकता है? इसी बातको अन्य युक्ति द्वारा स्पष्ट करते हैं—अन्य युक्ति द्वारा उस अर्थ-भेदको जाना जा सकता है? क्या युक्ति है? वह भी बताया जा रहा है—परमेश्वर कृत अनुज्ञा (प्रेरणा) और उसका परिहार—विषयत्व जीवमें है, मत्स्यादि अवतारोंमें वह नहीं

है यह युक्त्यन्तर अतएव अंश शब्दका वह-वह रूप अर्थ-विशेष धारण करना चाहिये, यह अर्थ है।

जीवतत्त्व और भगवत्-तत्त्वकाभेद

सूत्र—अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ—'अनुज्ञा'—अनुमति अर्थात् साधु अथवा असाधु कर्ममें प्रेरणा और 'परिहार' अर्थात् साधु अथवा असाधु कर्मसे निवृत्ति, जिसे मुक्ति कहा जाता है, ये दोनों 'देहसम्बन्धात्'—जीव ब्रह्मांश होनेपर भी अनादि, अविद्याहीन है, देहसम्पर्कके कारण जीवरूप अंशके अनुज्ञा और परिहार सुने जाते हैं, किन्तु मत्स्यादि अवतारोंका ऐसा नहीं है, उनमें देह सम्बन्धका अभाव है और उनका साक्षात् परेशत्व ही सुना जाता है। इस विषयमें दृष्टान्त है—'ज्यातिरादिवत्'—जैसे चक्षुः स्थित ज्योति—यह सूर्यका अंश होनेपर भी जीवकी देहके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण देह-भेदसे नाना प्रकारकी होती है, नभः सूर्यरूपी अंशी द्वारा अनुग्राह्य और सूर्याधीन होनेसे उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति है, किन्तु आकाशस्थ सूर्यकी ज्योति ऐसा नहीं है—इसी प्रकारसे जीव और मत्स्यादिका प्रभेद जानना चाहिये॥ ४६ ॥

सूत्रानुवाद—जीवका ब्रह्मांशत्व अर्थात् शक्तिमान ब्रह्मका अप्रधानीभूत एकदेशत्व होनेपर भी उसका परेशकृत अनुज्ञा और परिहार है, क्योंकि उसका देहके साथ सम्बन्ध है और मत्स्यादि अवतारोंमें ऐसा नहीं है। उदाहरणके तौर पर ज्योतिः आदि॥ ४६ ॥

गोविन्दभाष्य—सत्यपि ब्रह्मांशत्वेऽनाद्यविद्याविजृम्भितात् देहसम्बन्धात् जीव-रूपस्यांशस्य परेशकृतावनुज्ञापरिहारौ श्रूयेते नैवं मत्स्यादिरूपस्य किन्तु देहसम्बन्धराहित्यं साक्षात् परेशत्वञ्च तस्य श्रूयते, अतो महान् विशेषः। अनुज्ञानुमतिः साध्वसाधुकर्मप्रेरणेति यावत्। *'एष एव साधुकर्म कारयति'* इत्यादि श्रुतेः। परिहारश्च ततो निर्वृतिर्मोक्ष इति यावत्। *'तमेव विदित्वा'* इत्यादि श्रुतेः (श्वे॰ ३/८) तत्र दृष्टान्तमाह—ज्योतिरिति। ज्योतिश्चक्षुस्तस्य यथा सूर्यांशस्यापि देहसम्बन्धात् नानाविधत्वं तदनुग्राह्यत्वं तत्प्रवृत्तिनिवृत्ती च तद्धेतुके एव नैवं खस्थस्य सूर्यांशस्यापि तत्प्रकाशस्य तस्य सूर्यात्मकत्वात् तद्वत्॥ ४६ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीवरूप अंशका ब्रह्मांशत्व रहनेपर भी अनादि अर्थात् चिर-प्रवहमान अविद्याजनित देह-सम्पर्कके कारण परमेश्वर कृत अनुग्रह और परिहार शास्त्रमें सुने जाते हैं, किन्तु मत्स्यादि अवतारोंका ऐसा नहीं है। तब क्या है? मत्स्यादि अवतारोंमें देह-सम्बन्धका अभाव है और उनका साक्षात् परमेश्वरत्व ही सुना जाता है—इसलिए जीव और मत्स्यादि अवतारोंमें महान प्रभेद है। अनुज्ञा शब्दका अर्थ अनुमति है अर्थात् सत्-असत् (साधु-असाधु) कर्ममें प्रेरणा—यहाँ तक अर्थ है। इसका प्रमाण है *'एष एव साधुकर्म कारयति'*—वे परमेश्वर ही उन जीवोंसे उत्कृष्ट कर्म कराते हैं, जिन्हें ऊर्ध्वलोकोंमें ले जाना चाहते हैं इत्यादि, और परिहार शब्दका अर्थ है—उन कर्मोंसे निवृत्ति—वह भी—मुक्ति पर्यन्त, क्योंकि *'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति इत्यादि'* (श्वे॰ ३/८) (उन्हें ही जानकर जीव मृत्यृको पार करता है) इत्यादि श्रुति यही निरूपण करती है। इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—*'ज्योतिरादिवत्'*—जीव नेत्रस्थ ज्योतिः अर्थात् सूर्यके अणुपरिमाण अंशके समान जीव है। बात यह है कि ज्योतिः अर्थात् ज्योतिः पदार्थरूप चक्षु जिस प्रकार सूर्यांश होनेपर भी विभिन्न देहोंके सम्बन्धसे नाना प्रकारसे तदनुग्राह्य होता है अर्थात् विभिन्न आकारोंमें वर्त्तमान रहता है। यह सूर्यकी शक्तिसे ही शक्तिमान है, सूर्यके लिए ही उसकी प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप कार्यकारिता है, किन्तु आकाश स्थित सूर्यके अंशका (नभस्थ ज्योतिका) ऐसा नहीं है, वह महासूर्यका अंश होनेपर भी आकाशस्थ सूर्यका प्रकाश है, अतएव वह सूर्यस्वरूप (सूर्यात्मक) है। इसलिए नेत्रस्थ ज्योति और आकाशस्थ ज्योतिका महान पार्थक्य है, जो स्पष्ट ही प्रतीत होता है—जीव एवं मत्स्यादि अवतारोंका भेद ठीक इसी तरह समझना चाहिये॥ ४६॥

सूक्ष्मा-टीका—अनुज्ञेति। सत्यपीति। ब्रह्मांशत्वे उपसर्ज्जनीभूतशक्तिमद्-ब्रह्मैकदेशत्वे इत्यर्थः। तस्येति मत्स्यादेः। अनुज्ञानुमतिरिति। ततः साध्वसाधुकर्मप्रेरणात्। ज्योतिश्चक्षुरित्यादि। चक्षुरत्र तद्रश्मिपरमाणुः खस्थः प्रकाशस्तु तदनुच्छविरविमण्डल इति बोध्यम्। तद्धेतुके सूर्यहेतुके॥ ४६॥

सूक्ष्मा-सार—*'अनुज्ञापरिहारौ'* इत्यादि सूत्रका सत्यपि ब्रह्मांशत्व इत्यादि भाष्य है। जीवका ब्रह्मांशत्व अर्थात् शक्तिमान ब्रह्मका

अप्रधानीभूत एकदेशत्व रहनेपर भी *'साक्षात् परेशत्वञ्च तस्य इति'* अर्थात् तस्य—उस मत्स्यादि अवतारका अनुज्ञा अर्थात् अनुमति, जीवके अच्छे-बुरे कार्योंमें प्रेरणा—यही तात्पर्य है। ज्योतिचक्षुरित्यादि—चक्षुः—यहाँ सूर्यकी रश्मि परमाणु अर्थमें ग्राह्य है किन्तु आकाशस्थित प्रकाश उस चक्षुकी अनुच्छवि सूर्यमण्डल है—यह जानना चाहिये। तत्प्रवृत्तिनिवृत्ती च तद्धेतुके इति, तद्धेतुके-सूर्यहेतु होनेके कारण सूर्यसे ही प्रवृत्ति-निवृत्ति है॥ ४६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें अन्य युक्तिका प्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि जीव ब्रह्मांश होनेपर भी अविद्याकृत बन्धनोंके कारण अपना शरीर प्राप्त करता है—मत्स्यादि अवतारोंका ऐसा कोई बन्धन नहीं है—यही कारण दोनोंके पार्थक्यको दिग्दर्शित करता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥

(श्रीमद्भा॰ १/११/३८)

अर्थात् जिस प्रकार भगवान्की शरणागत बुद्धि अपनेमें रहनेवाले प्राकृत गुणोंसे लिप्त नहीं होती, उसी प्रकार प्रकृतिके अन्तर्गत प्रपञ्चमें अवस्थित होकर भी श्रीकृष्ण सुख-दुःख आदि प्राकृत गुणोंसे कदापि लिप्त नहीं होते, परमेश्वर या उनकी वस्तुओंका यही ऐश्वर्य है।

और भी प्रभेद यह है कि जीवके साधु-असाधु कार्योंके करनेमें ईश्वरकी प्रेरणा रहती है—यह श्रुतिमें देखा जाता है और उन कर्मोंके परिहारसे जीवको जो मोक्षकी प्राप्ति होती है—वह भी ईश्वरको जाननेपर ही होती है—यह भी श्रुतिमें वर्णित है।

एक प्रभेद यह भी देखा जाता है कि जैसे—ज्योतिर्वस्तु। चक्षु ज्योतिर्वस्तु है—यह सूर्यांश होनेपर भी सूर्यकी अनुग्राह्य (कृपाधीन) है, किन्तु आकाशस्थ सूर्यांश तत्प्रकाशक—सूर्यात्मकस्वरूप ही हैं—ऐसा ही भेद जीव एवं मत्स्यादि अवतारोंमें है। मत्स्यादि अवतार भगवदात्मक स्वरूप हैं और जीव इनसे पृथक् भगवान्का अनुग्राह्यस्वरूप है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यथोल्मुकाद्विस्फु
अप्यात्मत्वेनाभिमताद् यथाग्निः पृथगुल्मुकात्॥
भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२८/४०-४१)

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि चिनगारियोंके साथ जलती हुई लकड़ीके साथ (अपनेसे ही उत्पन्न हुए) धूएँके साथ आपाततः एक रूपमें प्रतीयमान होनेपर भी इन दोनोंसे पृथक् है, उसी प्रकार पञ्चभूत देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीव संज्ञक आत्मासे सर्वोपादानरूप ब्रह्मसंज्ञक द्रष्टा भगवान् नित्य पृथक् हैं।

जीव श्रीभगवान्की अनुग्राह्य वस्तु है—इस विषयमें श्रुति-स्तवमें भी पाया जाता है—

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदिगतोऽस्मृतकण्ठमणिः।
असुतृप्योगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८७/३९)

अर्थात् हे भगवन्! कोई मनुष्य जिस प्रकार कण्ठमें स्थित मणिकी बातको भूल जानेसे उसे अप्राप्य मान लेता है, उसी प्रकार जो योगी-यति अपने हृदयरूप काम-समुदायको जड़से न उखाड़ ले, तो उसके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे रहनेपर भी आप उसके लिए दुष्प्राप्य ही रहते हैं। इन्द्रिय-तर्पणरत ये योगी मृत्युधर्मको जानते नहीं हैं और लोकाराधन (लोगोंको रिझाने), एवं धनार्जनादि कष्टोंके कारण इस कालमें भोग-वैभव-प्रकट भयरूपी दुःख प्राप्त करते हैं और आपका स्वरूप न जाननेके कारण निजधर्मका अतिक्रमण (उल्लप्त्न) कर बैठते हैं और परकालमें आपके द्वारा नियन्त्रित दण्ड-नरक प्राप्ति आदि दुःख प्राप्त करते हैं॥४६॥

सूत्र—असन्ततेश्चाव्यतिकरः॥४७॥

सूत्रार्थ—'असन्ततेः च' और अपूर्णताके कारण भी 'अव्यतिकरः' जीवका और पूर्णस्वरूप मत्स्यादि अवतारोंके साथ साम्य नहीं है॥ ४७॥

सूत्रानुवाद—जीवकी अपूर्णताके कारण भी पूर्णरूप मत्स्यादि अवतारोंके साथ उसका व्यतिकर (मिश्रण) नहीं है॥ ४७॥

गोविन्दभाष्य—जीवस्यासन्ततेरपूर्णत्वादव्यतिकरः। पूर्णेन मत्स्यादिना साम्यं नेत्यर्थः। *'बालाग्रशतभागस्य'* इत्याद्या (श्वे॰ ५/६) श्रुतिर्जीवस्यापूर्त्तिमाह। *'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'* (बृ॰आ॰ ५/१/१) इत्याद्या तु मत्स्यादेः पूर्त्तिम्॥ ४७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीवके अपूर्णत्वके कारण उसका व्यतिकर नहीं है अर्थात् पूर्णस्वरूप मत्स्यादि अवतारके साथ उसका साम्य नहीं है। श्रुतिका कथन है—बालाग्रशतभाग इत्यादि—एक केशके अग्रभागको सौ भागोंमें विभक्त करके पुनः उसीके शतांश करनेपर जो उसका परिमाण होता है, उतना ही परिमाण जीवका है—इस श्रुतिसे जीवकी अपूर्णताका निर्देश प्राप्त होता है। अब मत्स्यादि अवतारोंकी पूर्णता कहते हैं—पूर्णमदः पूर्णमिद् इत्यादि—यह पूर्ण है, यह पूर्ण है इत्यादि बृहदारण्यकश्रुति है॥ ४७॥

सूक्ष्मा-टीका—तत्रैव युक्त्यन्तरं पुनराहासन्ततेरिति॥ ४७॥

सूक्ष्मा-सार—जीव और मत्स्यादि अवतार एक नहीं है, इस विषयमें अन्य युक्ति *'असन्ततेः'* इत्यादि सूत्र द्वारा दिखाते हैं॥ ४७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः सूत्रकार दूसरे एक कारणके द्वारा जीव एवं ईश्वरावतारोंका भेद समझा रहे हैं कि जीव अपूर्ण है और मत्स्यादि अवतार पूर्ण हैं। अतः जीवके साथ इन सब अवतारोंकी समानता नहीं हो सकती।

श्वेताश्वतरोपनिषद (५/९) की श्रुति है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

एक केशके अग्रभागके शतभाग करनेपर उसके शत-शतांश सदृशस्वरूप ही जीवका सूक्ष्मस्वरूप है। जीव चित्कण और संख्यातीत

हैं। वह अपने धर्ममें आनन्त्यका अधिकारी है अर्थात् धर्मतः वह अनन्तत्वको प्राप्त हो सकता है। 'अन्त' अर्थात् मृत्युसे रहित होना ही 'आनन्त्य' अर्थात् मोक्ष है।

ईशोपनिषदमें भी देखा जाता है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्थात् वे परब्रह्म पूर्ण हैं और उनसे प्रकट होनेवाला भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्णसे पूर्णकी ही उत्पत्ति होती है तथा पूर्णका पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही बचता है।

इसी प्रकार—

एकस्मादीश्वरान्नित्याच्चेतनात्तादृशामिथः ।
भिद्यन्ते बहवो जीवास्तेन भेदः सनातनः॥

(प्रमेयरत्नावली ४/५)

अर्थात् एक नित्य और चेतन ईश्वरसे अनेक नित्य और चेतन जीव परस्पर भिन्न हैं। अतः ईश्वरसे जीव सनातन कालसे भिन्न है, यही सिद्धान्त है।

और भी,

जेई मूढ़ कहे—'जीव' 'ईश्वर' हय सम।
सेइ त 'पाषण्डी' हय, दण्डे तारे यम॥

(चै॰च॰म॰ १८/११५)

जो मूढ़ व्यक्ति जीवको ईश्वर मानता है अथवा जीव और ईश्वरको एक समान समझता है—ऐसे पाखण्डियोंको यमराज विविध प्रकारकी यातनाएँ प्रदान करते हैं।

तथा—

यथा समुद्रे बहवस्तरङ्गास्तथा वयं ब्रह्मणि भूरि जीवाः।
भवेत् तरङ्गो न कदाचिदब्धिस्त्वं ब्रह्म कस्माद् भवितासि जीवः॥

(तत्त्वमुक्तावली १०)

अर्थात् हे जीव! जिस प्रकार समुद्रमें असंख्य लहरें हैं, उसी प्रकार मेरे भी चित्समुद्रस्वरूप ब्रह्ममें अनन्त जीव अवस्थित हैं।

जब लहरें कभी भी समुद्र नहीं कही जा सकती, तब भला तुम किस प्रकार स्वयंको ब्रह्म प्रमाणित करोगे?

जीवके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा है—

गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः।
क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात्॥

(श्रीमद्भा॰ ५/११/८)

अर्थात् जीवका मन विषयमें आसक्त होनेपर ही वह संसार-क्लेशका कारण होता है और विषय-भोगोंसे अनासक्ति ही उसकी मुक्तिका हेतु (कारण) है।

और श्रीभगवान्‌के सम्बन्धमें इस प्रकार कहा है—

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम्।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं नमामहे देववरं वरेण्यम्॥

(श्रीमद्भा॰ ८/५/२६)

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—हे देव! आप विकाररहित, सत्यस्वरूप, अनन्त-अनादि, सर्वान्तर्गत, निरूपाधि, मनके अनुगामी एवं वाणीके अविषय, सर्वश्रेष्ठ और वरणीय हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

श्रीभगवान्‌के समस्त रूप ही पूर्ण हैं, एवं अपरिमित सभी जीव अपूर्ण हैं—वे जीव अज्ञानसे आबद्ध होते हैं और उनमेंसे कोई-कोई ज्ञानोदय होनेपर मुक्त होता है।

श्रीमन्महाप्रभुने भी कहा है—

मायातीत परव्योमे सवार अवस्थान।
विश्वे अवतरि धरे 'अवतार' नाम॥

(चै॰च॰म॰ २०/२६४)

अर्थात् मायातीत परव्योम अर्थात् वैकु
स्वरूपोंकी नित्य विद्यमानता है, किन्तु जब वे इस प्राकृत जगत्‌में अवतरित होते हैं, तब उन स्वरूपोंको अवतार कहा जाता है॥ ४७॥

अवतरणिका भाष्य—हेतुं दूषयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अवतार और जीवके साम्यवादमें कहे गये हेतुको सूत्रकार-दोषमय बताते हुए कहते हैं—

सूत्र—आभास एव च॥ ४८॥

सूत्रार्थ—'च' अंशत्वके कारण, जीवांश और मत्स्यादि अंश दोनों समान हैं, इसका प्रतिपादन करनेके लिए जो अंशशब्दित-त्वाविशेषको हेतु कहा गया है, 'आभास एव'—वह आभास अर्थात् सत्प्रतिपक्ष नामक हेतु दोषसे दूषित है।

हेत्वाभाससे तात्पर्य यह है कि अनुमानके वाक्योंमें जो हेतु शुद्ध नहीं रहता, वह शुद्ध अनुमान नहीं करा सकता और फलतः ऐसे अनुमान दोषपूर्ण हो जाते हैं—ऐसे ही अशुद्ध हेतुओंको हेत्वाभास कहा जाता है। हेतु+आभास (प्रतीत होनेवाला) जो हेतु नहीं हो, पर हेतुके समान दिखाये पड़ता हो। उसे हेत्वाभास कहते हैं।

सत्प्रतिपक्ष नामक हेतु-दोष अथवा हेत्वाभास है—जिस हेतुके साध्याभावकी सिद्धिके लिए अन्य हेतु होता है, उसका नाम सत्प्रतिपक्ष है। इस स्थलपर जिस 'अंशत्व' हेतुके कारण जीव एवं अवतारोंको अभिन्न बतानेका प्रयास कर रहे हैं, वह हेतु सत्-प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास दोषसे दूषित है, क्योंकि 'मत्स्यादिः जीव भिन्नः पूर्णत्वात्'—यहाँ पूर्णत्व हेतु ही साध्याभावका (जीव एवं अवतारोंके भेदका) साधक है॥ ४८॥

सूत्रानुवाद—'अंशत्वाविशेषात्' विचारसे जीवका भगवदवतारके साथ जो साम्य स्थापित करनेका प्रयास किया गया है, वह सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभाससे दूषित है॥ ४८॥

गोविन्दभाष्य—अंशशब्दितत्वाविशेषादिति यो हेतुर्मत्स्याद्यंशस्य जीवांशेन साम्यं बोधयितुमुपन्यस्तः सत्वाभास एव सत्प्रतिपक्षाख्यो हेत्वाभास एव। वैषम्यसाधकस्य पूर्त्त्यादेर्हेत्वन्तरस्य सत्त्वात्। चकारो दृष्टान्तसूचनाय। न हि द्रव्यत्वेन पृथिवीनभसोः साम्यपारम्यं साधनीयम्। न वा पदार्थत्वेन भावाभावयोस्तत्। तथाच मत्स्यादावसर्वव्यञ्जकत्वं जीवे तु तदुपसर्ज्जनत्वमंशत्वमिति॥ ४८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पहले जीवको अंश शब्दसे संज्ञित किया गया था और फिर मत्स्यादि अवतारोंको भी अंश शब्दसे संज्ञित किया गया—इसलिए दोनोंमें साम्य है—यह बतानेके लिए आप जो *'अंशशब्दितत्त्वाविशेषात्'* अर्थात् अंश शब्दितस्वरूप हेतु दिखाते हैं,

वह हेतु, हेतु नहीं बल्कि 'सत्प्रतिपक्ष' नामक हेत्वाभास दोषसे दूषित है। इसका कारण यह है कि दोनोंके पार्थक्य (वैषम्य) को साधित (सूचित) करनेवाला 'पूर्णत्वादि हेतु' वहाँ विद्यमान है; बात यह है कि जो हेतु व्यभिचार, विरोध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्धि और बाधरूप हेतु-दोषसे दूषित नहीं है, उस प्रकारका हेतु ही 'सत्' अनुमिति (हेतु व तर्क द्वारा प्राप्त ज्ञान) का कारण है, किन्तु यहाँ *'मत्स्यादिः जीवाभिन्नः अंशत्वात्'*—(मत्स्यादि भी अंश होनेके कारण जीवसे अभिन्न हैं) इस अनुमानमें 'अंशत्व-हेतु' ही सत्प्रतिपक्ष नामक हेतु' दोषसे दूषित है, क्योंकि *'मत्स्यादिः जीवभिन्नः पूर्णत्वात्'*—यहाँ पूर्णत्व हेतु साध्याभावका (जीव-भेदका) साधक है। सूत्रके अन्तर्गत 'च' शब्द दृष्टान्तकी सूचनाके लिए है। दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार *'पृथ्वी नभसोऽभिन्ना द्रव्यत्वात्'*—पृथ्वी और आकाश एक हैं, अभिन्न हैं क्योंकि उनमें 'द्रव्यत्व' (पदार्थत्व) हेतु है। लेकिन यह अनुमान सत्प्रतिपक्ष दोषसे ग्रस्त है, क्योंकि *'पृथिवी नभसो भिन्ना गन्धवत्वात्'* पृथ्वी 'गन्धवत्व' के कारण नभसे भिन्न है—यहाँ 'गन्धवत्व' साध्याभावको (भेद) साधित करनेवाला हेतु है। और भी देखिये—*'अभावोभावतुल्यः पदार्थत्वात्'* इस अनुमानमें 'पदार्थत्व हेतु' सत्प्रतिपक्ष दोषसे दूषित है। यहाँ *'अभावो न भावतुल्यः सत्त्वेना प्रतीयमानत्वात्।'* इस सत् रूपमें 'अप्रतीयमानत्व-हेतु' साध्य भावका साधक है। अतएव देखा जाता है कि 'द्रव्यत्व हेतु' के द्वारा पृथ्वी और आकाशका ऐकान्तिक साम्य साधित नहीं होता और भाव पदार्थ और अभाव पदार्थका साम्य भी 'पदार्थत्व हेतु' के द्वारा साधित नहीं होता। (भाव और अभावकी साम्यता पदार्थत्वके आधारपर नहीं हो सकती।) अतएव सिद्धान्त यह है कि मत्स्यादि अवतारमें सर्वशक्ति है, किन्तु अनभिव्यञ्जित है, जब कि अंशत्व-जीवका अंशत्व ब्रह्मका एकदेशत्व है, जो उपसर्जनी भूत है॥ ४८॥

सूक्ष्मा-टीका—आभास इति। सत्प्रतिपक्षेति। साध्याभावसाधकहेत्वन्तरं यस्यास्ति स सत्प्रतिपक्ष इत्यर्थः। यथा शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद घटवदित्यस्य शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति प्रतिपक्षो हेतुरस्ति तथेह मत्स्यादिरनीशोऽंशत्वात् जीववदित्यस्य मत्स्यादिरीशः पूर्णत्वात् सहस्रशीर्षवदिति प्रतिपक्षो हेतुर्मृग्यः। तथाचेत्यादि।

मत्स्यादेरंशत्वमनभिव्यञ्जितसर्वशक्तित्वं पूर्त्तिश्रवणात्। जीवस्यांशत्वमुपसर्ज्जनीभूत-ब्रह्मैकदेशत्वमणुत्वश्रुतेरित्यर्थः ॥ ४८ ॥

सूक्ष्मा-सार— *'आभास एवम्'* इस सूत्रमें सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभासका वर्णन है। जिस हेतुके साध्याभावका साधक अन्य हेतु रहता है उसका नाम सत्प्रतिपक्ष है। जिस प्रकार *'शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात् घटवत्'*—(शब्द कार्यत्वके कारण अनित्य है जैसे घट) इस अनुमानमें सत्प्रतिपक्ष *'शब्दो नित्यः श्रवणत्वात् शब्दत्ववत्'* (शब्द श्रवणीय होनेके कारण नित्य है। यह 'श्रवणत्व हेतु' साध्यभावका साधक है—इसलिए 'कार्यत्व हेतु' सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास दोषसे दूषित है। इसी प्रकार मत्स्यादिरनीशः (ईश्वरसे भिन्न) अंशत्वात्—इस अनुमानमें अंशत्व हेतुका प्रतिपक्ष (प्रतिहेतु सत्) है। *'मत्स्यादि पूर्णत्वात् सहस्रशीर्षवत्'*—इस अनुमानमें पूर्णत्व हेतु प्रतिपक्ष अनुसन्धेय है *'तथाच मत्स्यादावसर्व-व्यञ्जकत्वमिति'*—मत्स्यादि अवतारोंका अंशत्व है, जिनमें ईश्वरकी समस्त शक्ति अभिव्यञ्जित होती नहीं क्योंकि उनकी पूर्णता श्रुत है और जीवका अंशत्व ब्रह्मका (ईश्वरका) एकदेशत्व है अर्थात् जो उपसर्जनीभूत है, उसका कारण अणुत्व सुना जाता है—यह तात्पर्य है ॥ ४८ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जीव ब्रह्मका अंश है और मत्स्यादि अवतारगण भी उनके अंश हैं, इसलिए पूर्वपक्षवादी जो 'अंशत्वाविशेषात्' विचारसे जीवके साथ भगवदवतारके साम्य-स्थापनका प्रयास करते हैं, वह 'हेत्वाभास' दोषसे दूषित है, जिसका सूत्रकारने वर्त्तमान सूत्रमें उल्लेख किया है। जिस सत्प्रतिपक्ष हेतुकी बात हो रही है, यह हेतु वहीं होता है, जहाँ पूर्व हेतुके समान ही दूसरा हेतु हो, दोनोंमें समान बल होना चाहिये। पूर्वोक्त हेतु, हेतु नहीं, हेत्वाभासमात्र है।

इस विषयमें भाष्यकारका भाष्य, टीका और अनुवाद देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्व सङ्गतैः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१०/३४)

अर्थात् प्राकृत शरीरमें जो सब वीर्य (पराक्रम) असम्भव है, उन सब अनुपम गुणयुक्त वीर्यको मत्स्य, कूर्म इत्यादि विग्रहधारी अवतारोंमें देखकर लोग यह जान सकते हैं कि ये मत्स्य, कूर्मादि अवतार प्राकृत शरीररहित अप्राकृत अवतार हैं।

जीव जो मायाके प्रभावसे नानाविध शरीर धारण करते हैं, उसका भी वर्णन श्रीमद्भागवत (२/९/२) में मिलता है—

बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया।
रममाणे गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते॥

अर्थात् यह माया बहुरूपिणी है। इसके प्रभावसे जीव देव, नरादि, बालक, युवा, वृद्धादि बुहुत प्रकारके विशिष्ट रूपोंमें प्रकाशित होता है। वह मायाके ही गुणोंमें जब पूरी तरह रम जाता है, तब जड़ शरीरमें 'मैं' और शरीर-सम्बन्धी वस्तुओंमें 'मेरा' इस प्रकारका अभिमान करने लगता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

(श्रीगीता ४/७)

हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपनी नित्यसिद्ध देहको प्रकट करता हूँ।

श्रीजीवगोस्वामीने अवतार शब्दकी परिभाषा देते हुए कहा है—'*अवतारश्च प्राकृत वैभवऽवतरणमिति*' अर्थात् वैभवमें भगवान्का अवतरण होना ही अवतार कहलाता है।

श्रीबलदेव विद्याभूषणपादने कहा है—

'*अप्रपञ्चात् प्रपञ्चेऽवतरणम् खल्ववतार*' अर्थात् अप्रकट नित्यधामसे भगवान्के इस प्रापञ्चिक जगत्में अवतरणको अवतार कहते हैं।

इसी प्रकार—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाया सम्भवाम्यात्ममायया॥

(श्रीगीता ४/६)

अर्थात् अजन्मा, अविनाशी एवं समस्त जीवोंका ईश्वर होते हुए भी मैं अपनी योगमायाके द्वारा अपने सच्चिदानन्द स्वरूपका अवलम्बनकर आविर्भूत होता हूँ।

श्रीमद्भागवतमें ही—

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि॥

(श्रीमद्भा॰ ८/२४/५)

अर्थात श्रीशुकदेव गोस्वामी कहते हैं—हे राजन्! भगवान् गौ, ब्राह्मण, देवता, साधुजन, वेद, धर्म और अर्थकी रक्षा करनेकी अभिलाषासे अवतार मूर्त्ति धारण करते हैं॥ ४८॥

अवतरणिका भाष्य—एवं प्रासङ्गिकं समाप्य प्रकृतं चिन्तयति। *'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'* इत्यादीनि वाक्यानि काठकादिषु श्रूयन्ते (कठ॰ २/२/३, श्वे॰ ६/१३, गो॰ता॰पू॰ २४) तत्र नित्यचेतनतया प्रतीता बहवो जीवाः साम्यभाजो न वेति सन्देहे विशेषाप्रतीतेः साम्यभाज इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार प्रासङ्गिक विषयके विचारको समापन करते हुए प्रकरणगत विषयपर विचार करते हैं। कठोपनिषद (२/२/१३) में *'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'*—जो नित्य जीवोंकी नित्यताके हेतु हैं, नित्य वस्तुओंमें परम नित्य हैं अर्थात् श्रेष्ठ नित्य वस्तु हैं, चेतन वस्तुओंमें चैतन्य-सम्पादक अर्थात् चैतन्यदाता मूल चेतन हैं—वे एक होकर भी समस्त जीवोंकी कामना पूर्ण करते हैं—इत्यादि वाक्य सुने जाते हैं। यहाँ संशय यह है कि नित्य और चेतन रूपोंमें प्रतीत होनेवाले जो सभी जीव हैं क्या वे प्रत्येक परस्पर समान हैं अथवा असमान? इस पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब कोई भी वैशिष्ट्य (पार्थक्य) प्रतीत नहीं होता, तब सभी जीव समान हैं, पूर्वपक्षके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अस्य न्यायस्य प्रासङ्गिकत्वात् व्यवहितयोरपि पूर्वोत्तरन्याययोः सङ्गतिः स्यात्। प्राग्यथा जीवानां ब्रह्मोपसर्ज्जनाणुद्रव्यत्वे तारतम्यं नास्ति तथा फलतारतम्यमपि तेषां न स्यादिति दृष्टान्तरूपा सा बोध्या।

ऐहिकामुष्मिकफलतारतम्यवचांसि श्रुयन्ते। तेषां विरोधोऽस्ति न वेति सन्देहे अर्थभेदादस्तीति प्राप्ते एकव्यक्तावेवैकदैव तेषां विरोधो न तु व्यक्तिभेदे कालभेदे वेति व्यवस्थापनादविरोध इत्येतमर्थं हृदि निधाय न्यायं प्रवर्त्तयति एवमित्यादिना। नित्य इति। यो हरिर्नित्यश्चेतन एको नित्यानां चेतनानां बहूनां जीवानां कामान् वाञ्छितानि विदधाति पूरयतीत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—क्योंकि यह अधिकरण प्रासङ्गिक है, अतएव पूर्वापर दोनों अधिकरणोंका विच्छिन्न-भाव रहनेपर भी इन दोनोंकी सङ्गति होगी। इस सङ्गतिको दृष्टान्त-सङ्गति समझना चाहिये अर्थात् जिस प्रकार पूर्वोक्त सभी जीव ब्रह्मोपसर्जनीभूत अणु-परिमाण हैं, द्रव्यत्व विषयमें उनका कोई तारतम्य नहीं है। उसी प्रकार फल-तारतम्य भी नहीं होना चाहिये—यह दृष्टान्त सङ्गति है। जीवोंके ऐहिक एवं आमुष्मिक (पारलौकिक) फलोंके तारतम्य बोधक जो वाक्य-समुदाय श्रुत हैं, उनकी परस्पर असङ्गति है कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—क्योंकि अर्थभेद है अतएव विरोध होगा ही, उत्तरपक्षमें कहते हैं, यदि एक व्यक्तिमें एक ही समयमें विभिन्न फल उक्त होते तो उनका विरोध होता, किन्तु व्यक्तिभेद अथवा कालभेद उक्त होनेसे विरोध रहता नहीं—इस व्यवस्थाके रहनेके कारण विरोध नहीं है। इस विषयको हृदयमें रखकर *'एवम्'* इत्यादि वाक्य द्वारा अधिकरण आरम्भ करते हैं। *'नित्यो नित्यानामित्यादि'* इसका अर्थ है—जो हरि नित्य जीवोंमें नित्य हैं, चेतन-समुदायके चेतन हैं, एक होकर नित्य, चेतन, बहुत-से जीवोंकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं।

१९—अदृष्टानियमाधिकरणम्

सूत्र—अदृष्टानियमात्॥ ४९॥

सूत्रार्थ—अदृष्ट-जीवोंका अदृष्ट नाना प्रकारका है, 'अनियमात्'—क्योंकि अदृष्ट या पूर्व जन्मान्तरोंके कर्म भोगोंका कोई नियम नहीं है॥ ४९॥

सूत्रानुवाद—जीवोंके ऐहिक और पारलौकिक (जागतिक एवं ईश्वरकी उपासना) फलके तारतम्यके अनुसार अदृष्टका कोई नियम न होनेसे उनमें परस्पर समानता नहीं है॥ ४९॥

गोविन्दभाष्य—मण्डुकप्लुत्या नेत्यनुवर्त्तते। नैव ते साम्यभाजः। कु स्वरूपसाम्येऽपि तददृष्टानामनियमात् नानाविधत्वात्। अदृष्टं त्वनादि॥ ४९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सूत्रमें यद्यपि निषेधार्थक 'न' शब्द नहीं है, तो भी *'मण्डूकप्लुति न्याय'* से पूर्व सूत्रसे 'न' पदकी अनुवृत्ति है। अतएव सूत्रका समुदायार्थ है—समस्त जीव साम्य-विशिष्ट अर्थात् परस्पर समान नहीं हैं। कारण क्या है? *'अदृष्टो नियमात्'* अर्थात् जीवोंमें स्वरूपतः साम्य रहनेपर भी अपने अदृष्टके अनियम (एक-सा नियम न होना) अर्थात् विभिन्नताके कारण समस्त जीव परस्पर भिन्न हैं। यदि कहो कि उत्पत्तिके पहले तो अदृष्ट समान हो सकता था, ऐसा भी नहीं है क्योंकि अदृष्ट अनादि है॥ ४९॥

सूक्ष्मा-टीका—अदृष्टेति। तददृष्टानुसारेण तदुपासनानुसारेण चेति बोध्यम्॥ ४९॥

सूक्ष्मा-सार—*'अदृष्टा नियमात्'* इस सूत्रमें उस-उस अदृष्टके अनुसार एवं ईश्वरकी उपासनाके अनुसार—यह जानना चाहिये॥ ४९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कठोपनिषदमें *'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'* (कठ॰ २/२/१३) के अनुरूप ही श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषदमें भी देखा जाता है (श्वे॰ ६/१३) इस स्थलपर पूर्वपक्षवादी यदि कहें कि काठकादिमें वर्णित नित्य, चैतन्य द्वारा प्रतीत जीव परस्पर समान हैं तो इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि ऐसा नहीं है, जीवगण स्वरूपतः समान होनेपर भी अदृष्टके अनियमके कारण अर्थात् जीवका अदृष्ट भिन्न-भिन्न होनेके कारण जीव नाना प्रकारके हैं और फिर अदृष्ट भी तो अनादि है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज।
ससर्ज्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये॥

(श्रीमद्भा॰ ११/३/३)

अब नवयोगीन्द्रोंमेंसे तीसरे योगीन्द्र अन्तरीक्षजीने कहा—हे महाबाहो! आदिपुरुष भगवान् अपने स्वरूपको समझानेके लिए अपनी जिस शक्तिसे सम्पूर्ण भूतोंके कारण होते हैं तथा स्वांशभूत जीवोंके विषय-भोग तथा मोक्षकी सिद्धिके लिए महाभूतोंके द्वारा वे नाना

प्रकारके देव, मनुष्य आदि शरीरोंकी सृष्टि करते हैं, उसी शक्तिको 'माया' कहते हैं।

जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः।
यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३२/३८)

अर्थात् हे माताजी! अविद्याजनित कर्मके कारण जीवकी अनेकों गतियाँ होती हैं; उनमें प्रवेश करता हुआ वह अपने स्वरूपको नहीं पहचान सकता।

जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं,
न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः।
लीलावतारैः स्वयशः प्रदीपकं,
प्राज्वालयत् त्वा तमहं प्रपद्ये॥

(श्रीमद्भा॰ १०/७०/३९)

अर्थात् हे भगवन्! जीव चिरकालसे ही अनर्थकारी एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भटकता रहता है, परन्तु इस देहसे मुक्ति-प्राप्तिके उपायको नहीं जानते। आप उनकी विमुक्तिके लिए विविध लीलावतारोंके द्वारा अपने यशोरूप प्रदीपको प्रज्वलित करते हैं। इसलिए मैं आपकी शरणमें हूँ। मैं आपको प्रणाम करता हूँ।

श्रीमन्महाप्रभुके वाक्य हैं—

कृष्ण भुलि सेइ जीव-अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार दुःख॥

कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।
दण्ड्य जने राजा येन नदीते चुबाय॥

(चै॰च॰म॰ २०/११७-११८)

अर्थात् जीव कृष्णको भूलकर अनादि कालसे ही बहिर्मुख है। इसलिए माया जीवोंको विविध प्रकारके सांसारिक दुःख प्रदान करती है। वह उसे कभी स्वर्गमें ले जाती है तो कभी नरकमें डुबाती है, जिस प्रकार राजा किसी अपराधी व्यक्तिको नदीमें डुबा देता है, उसी प्रकार माया जीवोंको भव-सागरमें डुबा देती है॥ ४९॥

अवतरणिका भाष्य—नन्विच्छाद्वेषादिभिर्वैषम्यं स्यान्नेत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का हो सकती है कि इच्छा, द्वेष इत्यादिके कारण वैषम्य हो सकता है—तो ऐसा नहीं है। यही कहते हैं—

सूत्र—अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्॥ ५०॥

सूत्रार्थ—'च' और 'अभिसन्ध्यादिषु'—इच्छा, द्वेष आदिमें भी, 'एवम्' यह वैचित्र्य ही अदृष्टका हेतु है॥ ५०॥

सूत्रानुवाद—इसी प्रकार अभिसन्धि अर्थात् इच्छा, द्वेष आदिमें भी नियम नहीं है, इसका भी कारण अदृष्ट है॥ ५०॥

गोविन्दभाष्य—तेष्वपि वैचित्र्यहेतुतयाङ्गीकृतेष्वेवं हेत्वन्तरापेक्षापत्तेस्तेऽप्य-दृष्टादेवेत्यर्थः। चकारः प्रतिक्षणवैचित्रीं समुच्चिनोति॥ ५०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इच्छा, द्वेषादिके द्वारा वैषम्य हो जाता है—वैचित्र्यके हेतु रूपमें अङ्गीकृत इन इच्छा द्वेषादिमें भी इस प्रकारके वैचित्र्यके अन्य हेतुकी (हेत्वन्तकी) अपेक्षा आ पड़ती है—इसलिए यहाँ भी अदृष्टको ही हेतु देखा जाता है; सूत्रोक्त 'च' शब्दका अर्थ है—प्रत्येक क्षणमें वैचित्र्यका समुच्चय (संग्रह) अर्थात् प्रत्येक क्षणमें जो वैचित्र्य है, उसका कारण भी अदृष्टको जानना चाहिये॥ ५०॥

सूक्ष्मा-टीका—अभीति अभिसन्धिरिच्छा। आदिना विद्वेषादि। तेऽपि इच्छा-द्वेषादयः॥ ५०॥

सूक्ष्मा-सार—*'अभिसन्ध्यादिषु'* इत्यादि सूत्रमें अभिसन्धिका अर्थ है इच्छा, आदि पदसे विद्वेष इत्यादि ग्राह्य है। *'तेऽप्य-दृष्टादेव'* इति—तेऽपिका अर्थ है—इच्छा, द्वेष इत्यादि भी॥ ५०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि इच्छा और द्वेषादि द्वारा वैषम्य हो सकता है, इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, यह नहीं हो सकता, क्योंकि इन अभिसन्धि आदि अर्थात् इच्छा-द्वेषादिमें भी वैचित्र्यका हेतु अदृष्ट ही है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥
(श्रीमद्भा॰ १०/२४/१३)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पिताजी! इस लोकमें जीव कर्मोंके अधीन होकर जन्म-ग्रहण करते हैं और कर्मोंके आधारपर ही उनकी मृत्यु होती है। कर्मोंसे ही वे सुख-दुःख, भय एवं शुभोंके निमित्तोंको प्राप्त करते हैं।

यथेह देवप्रवरास्त्रैविध्यमुपलभ्यते।
भूतेषु गुणवैचित्र्यात् तथान्यत्रानुमीयते॥
(श्रीमद्भा॰ ६/१/४६)

हे देवश्रेष्ठगण! जिस प्रकार इस स्थानपर गुण-वैचित्र्य (गुणके त्रैविध्य) के कारण प्राणियोंकी (शान्त, भयङ्कर, मूर्ख, सुखी-दुःखी और मध्यवर्त्ती तथा धार्मिक-अधार्मिक और उनके मध्यवर्त्ती) त्रिविध दशाओंसे ग्रस्त पाया जाता है, उसी प्रकार परकालमें भी उनका त्रिविधत्व अनुमित होता है॥ ५०॥

अवतरणिका भाष्य—ननु स्वर्गभूम्यादिप्रदेशवैशेष्यात् वैचित्र्यं स्यान्नेत्याह—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का यह है कि स्वर्ग, भूमि इत्यादि प्रदेशोंके वैशिष्ट्यवश वैचित्र्य हो सकता है तो इसका उत्तर है—ऐसा नहीं है। यही कहते हैं—

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके तृतीय पादके श्रीबलदेवकृत श्रीगोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

सूत्र—प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्॥ ५१॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—'चेत्'—यदि कहो, 'प्रदेशात्'—प्रदेश-विशेषके कारण वैचित्र्य है, इति न—तो ऐसा नहीं है, क्योंकि 'अन्तर्भावात्'—प्रदेश-प्राप्ति

ही अदृष्ट-सापेक्ष है, अतएव अदृष्ट ही उसमें हेतुभावसे अन्तर्भूत है॥ ५१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके तृतीय पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—स्वर्ग, भूमि आदि प्रदेशोंकी प्राप्तिमें भी अदृष्ट ही अन्तर्भावसे विद्यमान है॥ ५१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीय अध्यायके तृतीय पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—तत्प्राप्तेरप्यदृष्टापेक्षत्वेनादृष्टान्तर्भावात्प्रदेशादेकदेशस्थितानामपि वैचित्रीदर्शनाच्च॥ ५१॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे श्रीबलदेवकृतं मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—स्वर्ग, पृथ्वी आदि देशोंकी प्राप्ति भी अदृष्ट-सापेक्ष है। अदृष्ट ही मूल कारण होनेसे इन प्रदेशोंकी प्राप्ति अदृष्टके अन्तर्भूत है। प्रदेशके एकांश (एकदेश) में स्थित व्यक्तियोंका जो वैचित्र्य दिखायी देता है, इसके कारणका भी अदृष्टमें अन्तर्भाव समझना चाहिये॥ ५१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके तृतीय पादके श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रदेशादिति। तत्प्राप्तेः स्वर्गभूम्यादिलाभस्य॥ ५१॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—*'प्रदेशादित्यादि'* सूत्रके भाष्यमें 'तत्प्राप्तेः' इसका अर्थ है—स्वर्गादि भूमि प्राप्तिकी भी अदृष्टमें ही अन्तर्भाव्यता है॥ ५१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके तृतीय पादके मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यानमें श्रीबलदेवकृत सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—स्वर्ग एवं भूमि आदि प्रदेश विशेषको भी उक्त वैचित्र्यका हेतु नहीं कहा जा सकता। इस विषयमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते कि अन्तर्भावके कारण प्रदेश-विशेषको भी विचित्र फलका हेतु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वर्गादिकी प्राप्ति भी अदृष्टके कारण होती है, जहाँ तक कि एक प्रदेशमें अवस्थित व्यक्तियोंका भी वैचित्र्य देखा जाता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः।
अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति॥
(श्रीमद्भा॰ १०/५/३०)

इसमें सन्देह नहीं कि प्राणियोंका सुख-दुःख भाग्यपर निर्भर है। भाग्य ही प्राणीका एकमात्र आश्रय है। जो यह जान लेता है कि जीवनके सुख-दुःखका कारण भाग्य ही है, वह सुख या दुःख प्राप्त होनेपर भी मोहित नहीं होता।

लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत।
यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा॥
(श्रीमद्भा॰ ६/१/५४)

जीव द्वारा किये गये पुण्य-पापात्मक कर्म जब फलोन्मुख होते हैं, तब उन्हें अदृष्ट कहा जाता है। यह अदृष्ट ही जीवके जन्मका मूल-कारण है। उसी अदृष्टको लेकर जीव प्रबल कर्मवासनारूप पिताके समान (पुरुषरूप) अथवा माताके समान (स्त्रीरूप) स्थूल एवं सूक्ष्म देह प्राप्त करता है॥५१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके तृतीय पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



चतुर्थः पादः

मङ्गलाचरणम्

त्वज्जाताः कलितोत्पाताः मत्प्राणाः सन्त्यमित्रभित्।
एतान् शाधि तथा देव यथा सत्पथगामिनः॥

अर्थात् हे देव! हे प्राणसृष्टिरूप लीलामय भगवन्! मेरे प्राण आपसे उत्पन्न हैं, किन्तु मेरी उत्पातग्रस्त चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ और मेरे निश्वास-प्रश्वास इत्यादि प्राणवायु शब्दादि विषयमें अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि आपके प्रति वैमुख्यको साधित करनेवाले कु
चरणोंसे भ्रष्ट कर रही हैं। हे शत्रुतापन! इन दुष्ट प्राणोंको ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे ये सत्पथगामी हों अर्थात् आपके पादपद्मोंमें प्रवण हों।

मङ्गलाचरण टीका—अथैकविंशतिसूत्रकमेकादशाधिकरणकं चतुर्थं पादं व्याख्यातुं सन्मार्गप्रवृत्तिवाञ्छारूपं मङ्गलमाचरन् पादार्थं सूचयति त्वज्जाता इति। हे देव प्राणसृष्टिरूपक्रीडापरेति। दुर्वृत्तजिगीषो इति सर्वाराध्येति वार्थः। त्वज्जाता भवदुत्पन्ना मत्प्राणाः कलितोत्पाताः सन्तः सन्ति वर्त्तन्ते। मत्प्राणा मच्चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि मन्निश्वसितादिवायवश्च कलितः कृत उत्पातो विषयेषूच्चैः पतनं षैस्ते। त्वद्वैमुख्यकरकु
दुष्टान् त्वं तथा शाधि शिक्षय यथा ते सत्पथगामिनस्त्वत्पदप्रवणाः स्युरित्यर्थः। निश्वासादीनामुत्पातित्वं तादृगिन्द्रियधारकत्वादिना बोध्यम्। हे अमित्रभित् शत्रुतापनेति। त्वदीयस्य मे शत्रवस्ते त्वया शासनीया इति भावः। इत्थञ्च प्राणविषया विरुद्धाः श्रुतयोऽत्र पादे सङ्गमनीया इति सूचितम्।

मङ्गलाचरण टीकानुवाद—अब बाईस सूत्र एवं ग्यारह अधिकरणोंसे पूर्ण चतुर्थ पादकी व्याख्या करनेके लिए सत्पथपर चलनेकी प्रार्थना करते हुए मङ्गलाचरण-प्रसङ्गमें चतुर्थपादके प्रतिपाद्य विषयको *'त्वज्जाता'* इत्यादि श्लोक द्वारा सूचित करते हैं। प्रस्तुत श्लोकका अर्थ है—हे

देव! प्राणसृष्टिरूप क्रीड़ापरायण! अथवा दुर्वृत्त जिगीष्य (दुवृत्तको पराजय करनेकी इच्छा रखनेवाले)! अथवा सर्वाराध्य भगवन्! आपसे ही उत्पन्न मेरे प्राण, इन्द्रिय उत्पातग्रस्त हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि मेरी चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मेरे श्वास-प्रश्वासादि वायु कलित-उत्पात अर्थात् शब्दादि विषयोंमें अत्यन्त आसक्त (उन्मत्त) हो पड़े हैं। आपके प्रति वैमुख्यजनक कु

आपके चरणोंसे भ्रष्ट कर रही है। अतएव इन दुष्ट इन्द्रियोंको आप उसी प्रकारसे दमन करें अर्थात् शिक्षा देवें जिससे ये सत्पथगामी हों अर्थात् आपके चरण-परायण हों। निःश्वासादि (प्राणवायु) इसलिए उत्पातकारक हैं क्योंकि ये दुष्ट इन्द्रियोंका धारण-पालन इत्यादि करते हैं। हे अमित्रजित! हे शत्रु-निषुदन! मैं आपका हूँ, इसलिए मेरे इन शत्रुओंका आपको शासन करना होगा। इस प्रकारसे प्राण-विषयमें विरोधी श्रुतियोंकी इस चतुर्थपादमें सङ्गति होगी—यह सूचित होता है—

अवतरणिका भाष्य—भूतविषयः श्रुतिविरोधः परिहृतस्तृतीयपादे। चतुर्थे तु प्राणविषयः स परिह्रियते। गौणमुख्यभेदेन द्विविधाः प्राणाः। गौणाश्चक्षुरादीन्येकादशेन्द्रियाणि मुख्यास्तु प्राणापानादयः पञ्चेति। तेषु गौणाः परीक्ष्यन्ते। *'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'* (मु॰ २/१/३) इत्यादि श्रूयते। किमत्र जीववदिन्द्रियाणामुत्पत्तिरुत खादिवदिति संशये *'असद्वा इदमग्र आसीत् तदाहुः किं तदासीदिति ऋषयो वाव ते असदासीत् तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वाव ऋषय'* (शत॰ब्रा॰ ६/१/१) इत्यत्र ऋषिप्राणशब्दितानामिन्द्रियाणां सृष्टेः प्राक् सत्त्वश्रवणात् जीववदिति प्राप्ते पठति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस अध्यायके तृतीय पादमें पञ्चभूत विषयमें श्रुतियोंके मतनैक्य (मतोंकी अनेकता) का परिहार किया गया था। अब इस चतुर्थ पादमें प्राण-विषयक श्रुतिमें प्रतीत होनेवाले विरोधका परिहार किया जा रहा है। प्राणके दो प्रकार हैं—मुख्य प्राण एवं गौण प्राण। इनमें गौण प्राण हैं—चक्षु इत्यादि ग्यारह इन्द्रियाँ और मुख्य प्राण हैं—प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान। इस प्राण-समुदायमेंसे सर्वप्रथम गौण प्राण-सम्बन्धपर विचार किया जाता है। श्रुति है—*'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'* (मु॰ २/१/३) —इनसे (परमात्मासे) प्राण, मन और इन्द्रियादि उत्पन्न होते हैं। ऐसी

और भी अनेक श्रुतियाँ हैं। यहाँ संशय यह है कि इन इन्द्रियोंकी उत्पत्ति भी क्या जीवके समान है अथवा आकाशादि पञ्चभूतके समान है—इसके समाधानके लिए पूर्वपक्षी कहते हैं—*'असद् वा इदमग्र आसीत्तदाहुः किं तदासीदिति ऋषयो वाव ते असदातीत् तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वाव ऋषयः'* (शतपथब्राह्मण ६/१/१)—सृष्टिके पूर्व यह जगत् असत् (शून्य) ही था—यह ऋषिगण कहते हैं। तो उस समय क्या था? इसके उत्तरमें ऋषियोंने कहा, यह ऋषिवर्ग उस समय असद् रूपमें था। यह ऋषिवर्ग कौन है? इसका उत्तर है—प्राण-समुदाय ही ऋषिवर्ग है। इस श्रुतिमें ऋषि एवं प्राण शब्दसे इन्द्रियसमूह बोधित हो रहा है सृष्टिके पूर्व जीवके समान इन्द्रियोंकी सत्ता प्रतीत होती हैं, इसलिए उनकी उत्पत्ति नहीं है। इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—भूतेत्यादि। पूर्वत्र प्राणादिधारणे स्वरूपेणैव कर्त्तारो जीवास्तुल्यस्वरूपा अपि प्राणेन्द्रियोपकरणवन्तः कर्म चोपासनञ्च कु
तत्फलानि विविधानि भजन्तीत्युक्तम्। तत्प्रसङ्गात् कर्त्रुपकरणानां तेषाञ्च तद्विरोधपरिहारेण निरूपणमिति पूर्वोत्तरयोर्न्याययोः प्रसङ्गसङ्गतिः। प्राणवाक्यविरोध परिहारेण निखिल-प्राणप्रवर्त्तके हरौ तद्वाक्यसमन्वयदृढीकरणादध्यायसङ्गतिः। पूर्वपक्षे वाक्यानां मिथो-विरोधेनाप्रामाण्यात् समन्वयासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तु तेषामविरोधात् तत्सिद्धिस्तदिति ज्ञेयम्। निखिले पादे प्राणवाक्यविरोधपरिहारात् पादसङ्गतिश्च बोध्या। भूतानि खादीनि भूताश्च। स्फु
वाक्यं तु प्राणोत्पत्तिपरम् दृष्टम्। तदनयोर्विरोधसन्देहे भिन्नार्थत्वाद्विरोधे प्राप्ते असद्वा इति वाक्ये ब्रह्मपरतया नीते नास्ति विरोध इत्यभिप्रायेणाह तेष्वित्यादि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वपादमें प्राणादिधारण विषयमें जीवसमूह स्वरूपतः अभिन्न होनेपर भी प्राण, इन्द्रिय इत्यादि उपकरण विशिष्ट (युक्त) जीव तथा कर्म और उपासनाकारी जीव—दोनोंका भेद है, अतः उनका कर्मफल भी भिन्न-भिन्न है—यह बात कही जा रही है। इस प्रसङ्गमें प्राणादिधारणमें कर्त्ता जीवके ये प्राणादि उपकरण हैं—इन्द्रियादिका इस विरोध-परिहार द्वारा निरूपण करना चाहिये—इस प्रकार यहाँ पूर्वापर दोनों अधिकरणोंकी प्रसङ्ग-सङ्गति है और जो अध्याय-सङ्गति है वह प्राण-वाक्य विरोध परिहार द्वारा समस्त प्राणके

प्रवर्त्तक श्रीहरिमें उन-उन श्रुतियोंके समन्वय-विधान एवं दृढ़ीकरणके लिए है। पूर्वपक्षमें श्रुति-वाक्यके परस्पर विरोधके कारण अप्रामाणिकता है, इसलिए समन्वयकी असिद्धि है—यही प्रतिपाद्य है। सिद्धान्त-पक्षमें इसके विरोधके खण्डनके कारण समन्वय-सिद्धि फल है—यह जानना चाहिये। इस चतुर्थ पादमें सर्वत्र प्राणवाक्योंके विरोधका परिहार होनेके कारण पाद-सङ्गति भी जाननी चाहिये। *'भूतानि इति'* में भूतसे तात्पर्य है—पञ्च महाभूत और प्राणिवर्ग। *'असद्व वा इदमग्र आसीत्'* यह श्रुति कहती है—प्राण इन्द्रियादि पहले असत् रूपमें थे अर्थात् उत्पन्न नहीं थे—अतएव यह श्रुति उनकी अनुत्पत्ति बोधक है और *'एतस्माज्जायते प्राणो मनः'* इत्यादि श्रुति-वाक्य प्राणादिकी उत्पत्ति-बोधक है। अतएव इनका विरोध है कि नहीं इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—दोनों श्रुतिका अर्थ भिन्न है—अतएव विरोध होगा। सिद्धान्ती कहते हैं—*'असद् वा इदमग्र आसीत्'*—इत्यादि श्रुतिका तात्पर्य ब्रह्ममें ग्रहण होनेसे विरोध नहीं है—इसी अभिप्रायसे *'तेषु गौणाः परीक्ष्यन्ते'* कहा जा रहा है।

१—प्राणोत्पत्त्यधिकरणम्

प्राणविषय श्रुति-विरोध-परिहार

सूत्र—तथा प्राणाः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—'प्राणाः' जिस प्रकार आकाशादि भूतवर्ग परमपुरुषसे उत्पन्न होते हैं 'तथा' उसी प्रकार अर्थात् इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं॥ १ ॥

सूत्रानुवाद—आकाशादिके समान प्राणोंकी भी उत्पत्ति होती है॥ १ ॥

गोविन्दभाष्य—यथा खादयः परस्मादुत्पद्यन्ते तथा प्राणा इन्द्रियाणि चेत्यर्थः। प्राक् सृष्टेरेकत्वावधारणात् *'मनः सर्वेन्द्रियाणि चैतस्मात् जायन्त'* (मु॰ २/१/३) इति श्रुतेश्च। न च जीवोत्पत्तिवदिन्द्रियोत्पत्तिर्भवितुमर्हति जीवानां चैतन्यरूपाणां षड्भावविकाराभावात्। क्वचित् तदुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी इन्द्रियाणान्तु प्राकृतत्वात् मुख्या सेति। एवं सति ऋषिप्राणशब्दाभ्यां ब्रह्मैव तत्र ग्राह्यं तयोः सार्वज्ञ्यप्राणनाभिधायित्वात्॥ १ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस प्रकार आकाशादि भूतवर्ग परमेश्वरसे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार प्राण अर्थात् इन्द्रियाँ भी उन्हींसे उत्पन्न

होती हैं। *'सदेव सौम्येदगग्र आसीत्'*—इस श्रुतिमें सृष्टिके पूर्व एकमात्र सत्-ब्रह्मकी ही स्थितिका ही निर्णय (अवधारणा) किया गया है और *'मनः सर्वेन्द्रियाणि चैतस्मात् जायन्त'* (मु॰ २/१/३) 'मन इत्यादि समस्त इन्द्रियाँ परमेश्वरसे उत्पन्न होती हैं' इस श्रुतिसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति अवगत होती है, किन्तु जीवकी उत्पत्तिके समान इन्द्रियकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जीव चैतन्यस्वरूप नित्य है, उसमें जन्मादि छह विकार नहीं हैं, तब जो किसी-किसी श्रुतिमें जीवकी उत्पत्ति सुनी जाती है, उसे गौण अथवा लाक्षणिक प्रयोग जानना चाहिये। इन्द्रियाँ प्राकृत (प्रकृतिका कार्य) हैं, इसलिए उनकी उत्पत्ति मुख्य अर्थात् वास्तव है। आपत्ति यह है कि तब पूर्वोक्त श्रुति *('किं तदासीदिति ऋषयो वाव ते असदासीत् तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वाव ऋषय')* (शतपथब्राह्मण ६/१/१) में ऋषि और प्राणकी सत्ताका सृष्टिसे पूर्व वर्णन किसलिए है? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'एवं सतीत्यादि'*—इस प्रकार स्थिर होनेपर अर्थात् इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका निश्चय हो जानेपर ऋषि एवं प्राण दोनों शब्दोंसे ब्रह्म अर्थ गृहीत होता है, क्योंकि परमेश्वरके समान ऋषिकी सर्वज्ञता और प्राणवायुका उनके प्राणनके समान प्राणन अर्थात् जीवन-आधायकत्व कहा गया है॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—तथेति। षड्भावेति। जायते अस्ति वर्द्धते विपरिणमत अपक्षीयते विनश्यति चेति भावविकाराः षट् पठिता यास्केन। ते जीवानां न सन्ति तेषां नित्यचैतन्यत्वादित्यर्थः। इन्द्रियाणास्त्विति। प्राकृतत्वादाहङ्कारिकत्वात्। बाह्येन्द्रियाणि राजसाहङ्कारकार्याणि। अन्तरिन्द्रियं मनस्तु सात्त्विकाहङ्कारकार्यमित्युक्तं प्राक्। सेत्युत्पत्तिश्रुतिः॥ १॥

सूक्ष्मा-सार— *'तथेति'* सूत्रमें *'जीवानां चैतन्यरूपाणां षड्भावविकाराभावात्'* इति भाष्यमें *'षड् भाव'* पदका अर्थ यास्कके अनुसार इस प्रकारसे है—भाव-विकार छह हैं यथा जन्म, सत्य, उपचय (वृद्धि), परिणाम, अपचय (ह्रास), एवं नाश (मरण) ये छह भाव-विकार जीवके नहीं हैं क्योंकि जीव नित्यचैतन्यस्वरूप है। *'क्वचित् तदुत्त्पत्ति श्रुतिरिन्द्रियाञ्तु प्राकृतत्वात् इति'*—प्राकृत अर्थात् अहङ्कारसे उत्पन्न है—इसलिए। बाह्येन्द्रियाणीति—बाह्य इन्द्रियाँ राजस अहङ्कारका कार्य हैं। किन्तु

अन्तरिन्द्रिय अर्थात् मन सात्त्विक अहङ्कारका कार्य है। यह बात पहले भी कही गयी है। *'मुख्या सेति'* 'सा' अर्थात् वही इन्द्रियादिकी उत्पत्ति—श्रुति॥ १॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस चतुर्थपादमें भाष्यकार श्रीमद्बलदेवप्रभु मङ्गलाचरणसे यह ज्ञात कराते हैं कि श्रीभगवान्‌से ही जीवकी चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ उत्पन्न होकर भगवत्-वैमुख्य जनित विषय-प्रवणता द्वारा उस मार्गसे भ्रष्ट होकर विषयमें निरतिशय आसक्त हो रही हैं। अब तो इन दुष्ट इन्द्रियोंको विषयाभिमुखतासे प्रत्याहृत करके श्रीभगवान्‌की सेवामें उन्मुख करनेपर श्रीभगवत्-कृपा और शिक्षाके बिना और कोई उपाय नहीं है—इस प्रकार उनके श्रीचरणोंमें प्रार्थना करना ऐकान्तिक कर्त्तव्य है।

तृतीय पादमें भूतसे सम्बन्धित श्रुति-विरोधको निरस्त किया गया है। इस विषयमें वर्त्तमान चतुर्थपादमें प्राण-विषयक श्रुति-विरोधका परिहार करते हैं। यह चतुर्थ पाद एकादश अधिकरणोंसे समन्वित इक्कीस बाईस सूत्रोंसे ग्रथित है।

'एतस्माज्जायते' इस प्राणविषयक श्रुति प्रसङ्गमें पूर्वपक्षवादियोंका संशय यह है कि इन्द्रियोंका उद्भव क्या जीवकी भाँति है? अथवा आकाशादिकी भाँति? पूर्वपक्षी कहते हैं कि श्रुतिमें पाया जाता है कि सृष्टिके पूर्व जगत् असत् था और भी देखा जाता है कि प्राण ही ऋषि हैं, अतएव प्राण और ऋषि शब्दमें सृष्टिके पूर्व इन्द्रियोंकी सत्ता जीवके समान प्रतीति होनेके कारण इनकी उत्पत्ति स्वीकार नहीं की जा सकती। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि जिस प्रकार आकाशादि पञ्चभूत परमेश्वरसे उत्पन्न हैं, उसी प्रकार प्राणादि इन्द्रियाँ भी परमेश्वरसे उत्पन्न हैं।

इस विषयमें विस्तारपूर्वक आलोचना टीका एवं भाष्यमें देखनी चाहिये।

मुण्डकश्रुति (२/१/३) में है—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

अर्थात् उन नित्यविग्रह सच्चिदानन्दमय पुरुषसे मुख्य प्राण, मन, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय भेदसे समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और समस्त वस्तुओंका आधार पृथ्वी उत्पन्न हुए।

प्रश्नोपनिषदमें प्राप्त है—*'स प्राणमसृजत'* (प्र॰उ॰ ६/४) उन्होंने प्राण उत्पन्न किया। तात्पर्य यह है कि उन ईक्षणकारी परमेश्वरने सर्वाधिकारी हिरण्यगर्भ नामक मुख्य प्राणकी सृष्टि की।

इस प्रकार दोनों ही श्रुतियाँ परमेश्वरसे प्राणकी उत्पत्तिका वर्णन कर रही हैं।

श्रीपाद रामानुजाचार्य कहते हैं *'असत् वा इदमग्र आसीत्'* इत्यादि तैत्तिरीयकश्रुतिमें प्राण शब्दसे परमात्माका निर्देश किया गया है। ये सारे भूत-समुदाय प्राणमें ही प्रवेश करते हैं तथा प्राणोंसे ही निर्गमन करते हैं इत्यादि वाक्यमें प्राण शब्दका अर्थ परमात्मा ही प्रसिद्ध है। *'प्राणा वा ऋषयः'* में कहे ऋषि शब्दसे भी सर्वज्ञ परमात्माको लक्ष्य किया गया है। अचेतन प्राण अथवा इन्दियोंको ऋषि कहना ठीक नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तैजसात्तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन्।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दोर्मेढ्र

(श्रीमद्भा॰ २/५/३१)

तैजस अर्थात् राजस अहङ्कार जब विकारको प्राप्त होता है तब दस इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। पञ्चज्ञानशक्तिरूप बुद्धि एवं पञ्चक्रियाशक्तिरूप प्राण राजस अहङ्कारके कार्य हैं। दस इन्द्रियाँ हैं—श्रोत्र, त्वक्, नासिका, चक्षु, जिह्वा, ये पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ, ये पञ्च कर्मोन्द्रियाँ॥ १॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वृषयः प्राणा इति बहुत्वानुपपत्तिस्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न यह है कि *'ऋषयः प्राणाः'*—इस श्रुति-वाक्यमें यदि ब्रह्ममें तात्पर्य ग्रहीत है तो ब्रह्म तो एक है और

'ऋषयः प्राणाः'—फिर ब्रह्मका यहाँ बहुवचन किस प्रकारसे युक्तियुक्त होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्वसद्वा इत्यादिवाक्ये ब्रह्मपरतया व्याख्याते एकस्मिन् ब्रह्मणि ऋषयः प्राणा इति बहुवचनं कथमुपपद्येत तत्राह—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्रश्न है कि यदि *'असद्वा इदमग्र आसीत्'* इत्यादि श्रुति-वाक्यकी ब्रह्म-तात्पर्यमें व्याख्या की जाती है तो एक ब्रह्ममें *'ऋषयः प्राणाः'* कहकर बहुत्वका प्रतिपादन करना किस प्रकारसे युक्तियुक्त होगा? इस विषयमें उत्तर बतलाते हैं—

सूत्र—गौण्यसम्भवात्॥ २॥

सूत्रार्थ—'गौणी' 'ऋषयः प्राणाः' इत्याति श्रुति गौणी है अर्थात् उसमें जो बहुवचन सुना जाता है, वह लाक्षणिक अभिप्रायसे है। कारण क्या है? 'असम्भवात्'—क्योंकि ब्रह्मका नानात्व हो नहीं सकता, वे एक हैं॥ २॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्ममें बहुवचनका प्रयोग असम्भव है, इसलिए 'प्राणा वा ऋषयः' श्रुतिमें बहुवचनका प्रयोग गौण मानना चाहिये॥ २॥

गोविन्दभाष्य—बहुत्वश्रुतिर्गौणी। कु
तथा च प्रकाशाभिप्रायं तत्र बहुत्वं भविष्यति। एक एवासौ वैदूर्यवदभिनेतृनटवच्च बहुधावभासते। एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम् एकानेकस्वरूपाय (वि॰पु॰ १/२/३) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'ऋषयः प्राणाः'* इस श्रुतिमें जो बहुवचनमें पाठ है, वह लाक्षणिक है, किस कारणसे? कारण ब्रह्मका स्वरूपतः नानात्व नहीं है, अतएव बहुवचन हो नहीं सकता। यदि कहो फिर बहुवचनका प्रयोग किसलिए? इसके उत्तरमें कहते हैं— *'प्रकाशाभिप्रायभ्'* इति—ब्रह्मका प्रकाश बहुत-से रूपोंमें है, यह सोच-विचार करके अर्थात् उसी अभिप्रायसे उनमें बहुत्वका प्रयोग हुआ होगा। परमात्मा एक हैं, किन्तु वैदूर्यमणिके समान तथा अभिनेता नटके समान बहुत-से रूपोंमें प्रतीत होते हैं। श्रुतिमें भी है— *'एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्'*—वे एक होकर भी बहुत-से रूपोंमें दृश्यमान हैं। स्मृति-वाक्यमें भी है,

यथा *'एकानेकस्वरूपाय'* (वि॰पु॰)—जो एक स्वरूप होकर भी अनेक रूपवाले हैं, उन परमात्मा श्रीहरिके लिए नमस्कार है॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—गौणीति तत्रेति ब्रह्मणि। असौ परमात्मा हरिः॥ २॥

सूक्ष्मा-सार—बहुत्व श्रुतिः—गौणीति। ऋषि एवं प्राण शब्दका अर्थ ब्रह्म है, तब जो बहुवचन है, वह गौण अर्थमें प्रयुक्त है—*'प्रकाशाभिप्रायं तत्र बहुत्वं भविष्यति इति'* में 'तत्र' का अर्थ है—उन ब्रह्ममें एक एवासौ इत्यादिमें 'असौ' का अर्थ है—वे परमात्मा श्रीहरि॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी यदि कहते हैं कि ब्रह्म अद्वितीय है, इसलिए *'ऋषयः प्राणाः'* इत्यादिमें जो बहुवचन सुना जाता है, वह अद्वितीय ब्रह्ममें अभेद रूपसे प्रतिपादन करनेसे किस प्रकार युक्तियुक्त होगा? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि यह बहुत्व-श्रुति गौणी अर्थात् लाक्षणिक है। स्वरूपके नानात्वके अभावके कारण बहु अर्थ असम्भव है। ब्रह्म वैदूर्यमणिके समान और अभिनेता नटके समान बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित एवं प्रतिभात होते हैं—इसी कारण ऐसा प्रयोग है। कठोपनिषदमें पाया जाता है—*'एको वशी सर्व-भूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।'* (कठ॰ २/२/१२) अर्थात् जो एक, सबको अपने अधीन रखनेवाले, सम्पूर्ण भूतोंके अन्तरात्मा, अपने एक रूपको ही अनेक प्रकारका कर लेते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः।
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा॥

(श्रीमद्भा॰ २/१०/१३)

अर्थात् हे राजन्! भगवान् नारायणने योगनिद्रासे जगकर अनेक होनेकी इच्छाकी तब अपनी मायासे उन्होंने अखिल ब्रह्माण्डके बीजस्वरूप सोनेके समान अपने वीर्यको तीन भागोंमें विभक्त कर दिया।

अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः॥
(श्रीमद्भा० २/१०/१५)

अर्थात् क्रियाशक्ति द्वारा विविध चेष्टा करनेमें लगे हुए उस पुरुषके हृदयाकाशसे इन्द्रियबल, मनोबल और देहबल प्रकट हुए। तदनन्तर उनसे इन सबका राजा मुख्य प्राण उत्पन्न हुआ॥ २॥

सूत्र—तत् प्राक् श्रुतेश्च॥ ३॥

सूत्रार्थ—'प्राक्'—सृष्टिके पूर्व 'तत्'—एकत्व ही था 'श्रुतेश्च'—क्योंकि श्रुति यही कहती है॥ ३॥

सूत्रानुवाद—सृष्टिसे पूर्व परमेश्वरसे पृथक् रूपमें कु
न था, श्रुतिका यही अवधारण है॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—न च तदानीमनपीताः कतिचित् पदार्थाः स्युस्तैर्बहुत्वोपपत्तिरिति शक्यं शङ्कितुं सृष्टेः पूर्वमेकत्वावधारणश्रवणात्। अतश्च सा गौणीत्यर्थः॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आपत्ति है कि प्रयलकालमें कु
अलीन अथवा अविलीन होकर रहते हैं—उनके द्वारा बहुवचनकी उपपत्ति होगी—यह आशङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि सृष्टिके पूर्व एकत्वका अवधारण सुननेमें आता है अर्थात् एक ब्रह्म ही थे, जैसा कि *'नेह नानास्ति किञ्चन'* (बृ०आ० ४/४/१९), *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* (छा० ६/२/१) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतिपादित होता है। अतएव बहुवचन श्रुतिको गौणी जानना चाहिये॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—तदिति। न चेति। तदानीं प्रलये। अनपीताः अलीनाः। एकत्वेति। यद्यपि जीवास्तद्विग्रहाकृतयश्च नित्यत्वात् तमःशक्तिकहरौ स्वावस्थ-याञ्जभृङ्गन्यायेन प्रतिसर्गे स्थिता न तु खादिवद्विनष्टस्वावस्थतया तथापि तेषां तासां च तस्मात् पृथगप्रकाशात् क्रोडीकृतजीवादिकस्यैक्यादेकत्वावधारणं सिद्धम्। सा बहुत्वश्रुतिः॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार— *'तदिति'* सूत्रके नचेत्यादि भाष्यमें 'तदानीम्' का अर्थ है—प्रलयकालमें, 'अनपीताः' का अर्थ है—ब्रह्ममें अलीन (अविलीन अवस्था) एकत्वावधारण-श्रवणादिति। आपत्ति है कि यद्यपि जीववर्ग

एवं उन परमेश्वरकी विग्रहाकृति (मत्स्यादि अवता) समूह नित्यताके कारण प्रलयमें तमः शक्तिसम्पन्न श्रीहरिमें वैराज सृष्टिमें स्व-स्वरूपमें उस प्रकार अवस्थान करते हैं, जिस प्रकार पद्ममें लीन भ्रमर रात्रिकालमें उसमें स्व-स्वरूपमें स्थित रहता है। किन्तु आकाशादि भूत-वर्गके समान किन्तु स्व-स्वरूप नष्ट होकर नहीं रहते। अतः प्रलयमें बहुत्व अवधृत (निश्चित) होता है—कहेंगे, तो भी उस जीववर्ग और अवतार-आकृतियोंकी सत्ता परमेश्वरसे पृथक् रूपसे प्रकाश न पानेके कारण समस्त जीव और विग्रहाकृतियोंको क्रोड़ीभूत करके अवस्थित श्रीभगवान्के एकत्वके कारण एकत्व-निश्चय सिद्ध है। अतश्च सा इति सा—वही बहुत्वश्रुति—गौणी है—लाक्षणिक प्रयोग है॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी यदि कहते हैं कि सृष्टिके पूर्व कु पदार्थ अ-लीन अवस्थामें रहते हैं, जिनसे बहुवचनकी उपपत्ति हो सकती है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं यह आशङ्का भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सृष्टिके पूर्व एक ब्रह्म ही थे—यह श्रुति है। इसलिए पूर्वोक्त बहुवचन श्रुतिको गौणी ही कहना होगा। यथा—

छान्दोग्योपनिषदमें—*'सदेव सौम्येदमग्र आसीदकमेवाद्वितीयम्'*, अर्थात् हे सौम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। (छा॰ ६/२/१)

कठोपनिषदमें भी—*'नेह नानास्ति किञ्चन'* (कठ॰ २/१/११)। अर्थात् एकमात्र अद्वय ब्रह्मके अतिरिक्त नानारूप कु

ऐतरेयोपनिषदमें—*'ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चन मिषत्'* (ऐ॰ १/१/१), अर्थात् सृष्टिके पूर्व एकमात्र परमेश्वरके बिना और कु

ही थे, सब कु

वस्तु सक्रिय न थी।

श्रीमद्भागवतमें भी—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३२)

अर्थात् सृष्टिके पूर्व एकमात्र मैं ही था। स्थूल, सूक्ष्म और इन दोनोंका कारणभूत प्रधान अथवा प्रकृतिपर्यन्त मुझसे पृथक् रूपमें दूसरा कुछ भी न था। सृष्टिके बाद भी एकमात्र मैं ही हूँ और प्रलयमें भी एकमात्र मैं ही अवशिष्ट रहूँगा।

भगवानेक आसेदमग्र आत्माऽऽत्मनां विभुः॥

(श्रीमद्भा० ३/५/२३)

अर्थात् इस दृश्यमान जगत्‌की सृष्टि होनेसे पूर्व समस्त जीवोंके आत्मस्वरूप एवं ईश्वर एकमात्र भगवान् ही थे।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते॥

(श्रीगीता १०/८)

अर्थात् मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ, मुझसे ही सभी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं।

तथा,

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः॥

(श्रीगीता १०/२)

अर्थात् मैं ही सभी प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका आदि कारण हूँ॥ ३॥

अवतरणिका भाष्य—प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे युक्तिमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—'प्राण' शब्दकी जो ब्रह्मार्थता है, उसमें युक्ति दिखलाते हैं—

सूत्र—तत्पूर्वकत्वाद्वाचः॥ ४॥

सूत्रार्थ—'वाचः' वाक्य अर्थात् सूक्ष्मशक्तिसम्पन्न ब्रह्मसे विभिन्न विषयभूत नामोंका वर्णन है, 'तत्पूर्वकत्वात्'—प्रधान, महत्, अहङ्कार इत्यादि सृष्टिके बाद सृष्टिके हेतु कहे गये हैं—'असद्वा इदमग्र आसीत् प्राणा वाव ऋषयः' श्रुतिमें प्राण शब्दका अर्थ ब्रह्म सुना जाता है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—सृष्टिके पूर्व नामरूपवाला कु
इन्द्रियोंके कार्यका भी अभाव था॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—वाचः सूक्ष्मशक्तिकब्रह्मान्यविषयस्य नाम्नः प्रधानमहदादि-सृष्टिपूर्वकत्वात् तदा नामरूपवतामभावेन तदुपकरणानामिन्द्रियाणामप्यभावात् प्राणशब्दस्तत्र ब्रह्माभिधायीत्यर्थः तद्वेदं तर्हीति (बृ॰आ॰ १/४/७) श्रुतिः सृष्टेः पूर्वं नामरूपिणामभावमाह। तस्मादिन्द्रियाणि खादिवदुत्पन्नानीति॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—वाचः अर्थात् सूक्ष्मशक्तिको लेकर अवस्थित परमेश्वरसे भिन्न जितने भी विषय हैं, वे सब नाम पदसे वाच्य हैं—इस नामकी सृष्टि प्रधान, महत्तत्त्व इत्यादिकी सृष्टिके बाद होनेके कारण प्रलयकालमें नामरूपधारी पदार्थोंकी सत्ता नहीं थी और नामरूपवान पदार्थ सृष्टिके उपकरण इन्द्रियाँ भी न थीं। अतः प्राण-श्रुतिमें कथित प्राण-शब्द ब्रह्मका वाचक है—यह तात्पर्य है। *'तद्वेदं तर्हि'* यह जगत् उस समय अव्याकृत (बिना नाम-रूपका) था इत्यादि बृहदारण्यकीय श्रुति सृष्टिके पूर्व नामरूपवान पदार्थोंकी असत्ता (अविद्यमानता) प्रकाशित करती है। अतएव उक्त श्रुतिमें कहे प्राण शब्दका अर्थ इन्द्रिय नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ भी आकाशादि पञ्चभूतोंके समान ही उत्पन्न हैं॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—तत्पूर्वकत्वादिति। तदा सर्गात् प्राक्। नामेति। तद्वत्ताभावे-नेत्यर्थः॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार—*'तत्पूर्वक त्वादित्यादि'* सूत्रमें *'तदा नामरूपवतामभावेन'* इत्यादि भाष्यमें 'तदा' का अर्थ है—'सृष्टिसे पूर्वमें'। *'नामरूपवतामभावेन'* अर्थात् किसी भी तत्त्वकी नामरूपवत्ता नहीं थी—इसलिए॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब 'प्राण' शब्दके ब्रह्मपरत्वको युक्ति द्वारा स्थापित करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि वाक् अर्थात् सूक्ष्मशक्तिसम्पन्न ब्रह्मसे भिन्न विषयीभूत नामोंके प्रधान, महत्, अहङ्कार इत्यादिका सृष्टिपूर्वकत्व अर्थात् सृष्टिके पूर्व उस समय नामरूपवानोंके अभावके कारण उनके उपकरणभूत इन्द्रियादिका भी अभाव था। इस कारण प्राण शब्दसे ब्रह्मको ही जाना जाता है।

सृष्टिसे पूर्व नामरूपयुक्त पदार्थोंका अभाव होनेके कारण इन्द्रियोंकी उत्पत्ति आकाशादिके समान ही कही गयी है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः।
प्राणस्य हि क्रियाशक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२६/३१)

क्रिया एवं ज्ञान भेदसे इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं। कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय दोनों प्रकारकी इन्द्रियाँ तैजस अहङ्कारसे उत्पन्न हुईं। अतः प्राणोंकी शक्ति क्रिया है और बुद्धिकी शक्ति विज्ञान है।

स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्।
नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः॥
(श्रीमद्भा॰ २/१०/३६)

वे भगवान् परमेश्वर प्राकृत क्रियाओंसे रहित हैं, तौ भी वे ब्रह्माके रूपको धारण करके सक्रिय हो जाते हैं। वाच्य रूपमें वे बहुत प्रकारके रूप धारण करते हैं तथा वाचक रूपमें देव-तिर्यक, मनुष्यादि बहुत प्रकारके नाम, स्वीकार करते हैं। उन नाम एवं रूपोंके अधिकारके अनुरूप क्रिया करते हैं॥ ४॥

अवतरणिका भाष्य—एवमिन्द्रियविषयकं श्रुतिविरोधं निरस्य तत्संख्या-विषयकं तं निरस्यति। *'सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्च्चिषः समिधः सप्तहोमाः सप्तेमे लोका येषु सञ्चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त'* (२/१/८) इति मुण्डके। *'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश'* (बृ॰आ॰ ३/९/४) इति च बृहदारण्यके श्रूयते। तत्र सप्तैव प्राणा उतैकादशेति सन्देहे पूर्वपक्षमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकारसे इन्द्रिय विषयमें श्रुति-विरोध (असङ्गति) का परिहार (निरसन) करके अब इन इन्द्रियोंके संख्या-विषयक विभिन्न मतोंकी सङ्गति दिखा रहे हैं। मुण्डकश्रुति (२/१/८) कहती है—*'सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः सामिधः सप्तहोमाः सप्तेमे लोका येषु संचरन्ति प्राणा गुहाशया निहितासप्त सप्तेति'* अर्थात् उन परमेश्वरसे ही सात प्राण (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि एवं मन) उत्पन्न होते हैं। सप्तार्च्चि अर्थात् सप्त शिखाओंसे

युक्त समिध, सप्त होम और सप्त भुवन (लोक) उत्पन्न होते हैं, जिनमें जीवके साथ प्राण सञ्चरण करते हैं, ये प्राण गुहाशय अर्थात् भू-गोलकमें निहित (निगूढ़ भावसे गुप्त होकर) रहते हैं और प्राणी भेदसे सात-सात संख्याओंमें वर्त्तमान हैं—यह मुण्डकश्रुतिमें पाठ है। बृहदारण्यकोपनिषदमें पाठ है—*'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश'* (बृ॰आ॰ २/९/४) अर्थात् दस प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा जीव-शरीरमें रहते हैं। इन दोनों प्रकारकी विरोधी श्रुतियोंमेंसे क्या ग्रहण किया जाना चाहिये? सप्तसंख्यक प्राण? अथवा आत्माके साथ ग्यारह इन्द्रियाँ (प्राण) इस सन्देहपर सूत्रकार पूर्वपक्षका मत कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेन्द्रियसंख्यानिर्णयाय प्रयतत एवमित्यादिना। आश्रयाश्रयिभावोऽत्र सङ्गतिः। तत्र पूर्वपक्षिणो यदा पञ्चेति श्रुत्यनुसारेण ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसी चेति सप्तैवेन्द्रियाणीत्यर्थः। स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्त्तते तथारूपज्ञो भवत्येकीभवति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न वदति न शृणुते न मनुते न स्पृशतीत्याहुरिति श्रुत्यानुसारात् तु तत्पञ्चकं वाक् च मनश्चेति सप्तैवेति। (बृ॰आ॰ ४/४/१-२) अस्यार्थः—यत्रोत्क्रान्तिदशायां चक्षुरधिष्ठातृदेवः स चाक्षुषशब्दवाच्यः पुरुषो रूपादिविषयव्याप्तिं हित्वावर्त्तते तदायमरूपज्ञो भवति हृदये चक्षुरेकीभवति पार्श्वगांश्च नायं पश्यतीत्याहुरिति। एतदुभयार्थं सप्त प्राणा इत्यनेन श्रावयन्ति येषु सप्तसु लोकेषु जीवेन सह प्राणाः सञ्चरन्ति गच्छन्ति गुहाशया गोलकनिगूढाः। सप्त सप्तेति प्राणिभेदमादाय वीप्सा। सप्तेत्येतदष्टकादीनामुपलक्षणम्। अष्टौ वै ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति इन्द्रियाणि ग्रहाः पुरुषपशुबन्धकत्वात् विषयास्त्वतिग्रहाः रागाद्युत्पादनद्वारेणेन्द्रियाकर्षकत्वात् सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वार्वाञ्चौ (तै॰ ५/१/७१) इति। क्वचिन्नव पठ्यन्ते। द्वे चक्षुषी द्वे श्रोत्रे द्वे नासिके एका वागिति सप्त द्वार्वाञ्चौ पायुपन्थाविति नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमीति क्वचित् पठितम्। एवं नानावाक्यानि दृष्टानि। दशमे इति तु सिद्धान्तवाक्यम्। दश प्राणा बाह्येन्द्रियाणि। आत्मा त्वन्तरिन्द्रियमित्यर्थः। एवमेतेषां वाक्यानां विरोधोऽस्ति न वेति संशये अर्थभेदादस्तीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अब इसके बाद इन्द्रियोंकी संख्या निर्णयके लिए भाष्यकार एवमित्यादि वाक्य द्वारा प्रयत्न करते हैं। यहाँ आश्रय-आश्रयी भाव सङ्गति है अर्थात् इन्द्रियोंको आश्रय करके आश्रित संख्याका निरूपण है इस पर पूर्वपक्षी कहते हैं—यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह—(कठोपनिषद २/३/१०) इस काठक

उक्तिके अनुसार पञ्चज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और मन—ये सात ही इन्द्रिय प्राप्त हैं। श्रुत्यन्तर (अन्य श्रुति) में पाया जाता है यथा *'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो ... स्पृशतीत्याहुः* (बृ॰आ॰ ४/४/१-२) इसका अर्थ है कि जिस समय अर्थात् देहसे प्राण-वायुके उत्क्रमणके समय चक्षुमें अधिष्ठित देवता अर्थात् चाक्षुष शब्द वाच्य पुरुष, पराङ्पर्यावर्तते—रूपादि विषयाक्रमणको छोड़कर लौट आता है, उस समय वह रूप-ज्ञान हीन हो जाता है, उसके चक्षु हृदयके साथ मिलजाते हैं, (चक्षुइन्द्रिय लिङ्गात्मासे एकरूप हो जाती है), पासमें स्थित (बैठे हुए) वह किसीको भी देख नहीं पाता, किसी वस्तुका आघ्राण नहीं कर पाता, जिह्वा द्वारा कोई रसास्वादन नहीं करता, कु

भी नहीं कर पाता—यह पण्डितगण कहते हैं, यह दोनों श्रुतियोंका अर्थ अर्थात् प्राणकी सप्तसंख्या-'सप्तप्राणाः'—इसके द्वारा श्रवण कराते हैं। *'येषु सञ्चरन्ति'* इत्यादि—जिस सप्तलोकमें जीवात्माके साथ प्राण विचरण करते हैं अर्थात् गमन करते हैं, गुहाशयाः—भू-गोलकमें गुप्त रहकर। 'सप्त-सप्त' यह दो बार उक्ति प्राणि-भेदके कारण है, उनचास संख्या अर्थमें नहीं। 'सप्त-सप्त'—यह उक्ति अष्ट-अष्टकी भी बोधक है। यथा श्रुतिमें है—आठ ग्रह हैं, आठ अभिग्रह हैं। ग्रह शब्दका अर्थ है—इन्द्रियवर्ग, इन इन्द्रियोंके द्वारा पुरुषका बन्धन किया जाता है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार जैसे कि पशुको बाँधनेवाले रज्जु (रस्सी) को ग्रह कहा जाता है। अतिग्रह शब्दका अर्थ है—शब्दादि विषय—ये राग-द्वेषकी उत्पत्ति द्वारा इन्द्रियोंको आकर्षण करनेवाला है। पुनः किसी-किसी श्रुतिमें नौ प्राण कहे जाते हैं, जैसे *'सप्तशीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्चौ'* (तै॰ ५/१/७/१) अर्थात् मस्तकपर स्थित दो चक्षु, दो कान, दो नासिका और एक वागिन्द्रिय—ये सात और अधोदेशमें पायु (मलद्वार) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)—इस प्रकारसे ये नौ प्राण (इन्द्रिय) पुरुषमें विद्यमान हैं। किसी श्रुतिमें *'नाभिदशमी'* अर्थात् नाभिको दशम प्राण कहा गया है। इस प्रकार नाना वाक्य दिखायी देते हैं। होनेपर भी *'दशेमे पुरुषे प्राणाः'* (बृ॰आ॰ ३/९/४) इस श्रुतिकी उक्तिके अनुसार दस प्राण हैं—यही सिद्धान्त है। इनमें दस

बाह्येन्द्रिय (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय) हैं और आत्मा अथवा मन अन्तरिन्द्रिय है। इस तरह इन समस्त वाक्योंका परस्पर विरोध अथवा असामञ्जस्य है या नहीं, इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—हाँ विरोध होगा ही क्योंकि दोनोंका अर्थ अलग-अलग है। इस पूर्वपक्षीके मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

२—सप्तगत्यधिकरणम्

संख्यादिविषयक श्रुति-विरोधका निराकरण

सूत्र—सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च॥ ५॥

सूत्रार्थ—'सप्तगतेः' प्राण सात ही हैं, क्योंकि जीवात्माके साथ सात प्राणोंकी ही सञ्चाररूप गति सुनी जाती है 'च' और 'विशेषितत्वात्' श्रुतिमें प्राणोंको ज्ञान संज्ञासे विशेषित किया गया है॥ ५॥

गोविन्दभाष्य—प्राणाः सप्तैव। कु सञ्चाररूपाया गतेः श्रवणात्। *'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्'* इति काठके (२/३/१०) योगदशायां ज्ञानानीति विशेषितत्वाच्च। श्रोत्रादिपञ्चकबुद्धिमनांसि सप्तैव जीवस्येन्द्रियाणि भवन्ति। यानि तु वाक्पाण्यादीनि श्रूयन्ते तेषां जीवेन सह गत्यश्रवणादीषदुपकारमात्रेणेन्द्रियत्वभणितिर्गौणीति॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्राण सात ही हैं; क्यों? कारण यह है कि जीवकी देहसे उत्क्रमणके समय उसके साथ सात प्राणोंका सञ्चरण होता है, यह सुना जाता है। मात्र इतना ही नहीं, कठोपनिषदमें योगीकी योगदशामें वर्णित है—*'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्।'* (कठ॰ २/३/१०) अर्थात् जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ निष्चेष्ट अर्थात् निष्क्रियभावसे अवस्थान करती हैं और बुद्धि मनके साथ कोई काम नहीं करती, इसी अवस्थाका नाम परमगति है—तत्त्वविद्गण ऐसा कहते हैं। इस श्रुतिमें पाँच प्राणोंको ज्ञान शब्दके साथ अभिन्न रूपसे विशेषित किया गया है—इसलिए इस विशेषणके प्रयोगके कारण भी सप्त प्राण ही मानने चाहिये। सिद्धान्त यह है कि कर्ण, चक्षु, नासिका, रसना, त्वक्—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं बुद्धि और मन—ये जीवकी सात

इन्द्रियाँ हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ सुनी जाती हैं, ये जीवके साथ मृत्युकालमें देहसे गति प्राप्त नहीं करतीं, इसलिए उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिये। यदि कहो, तब उन्हें इन्द्रिय क्यों कहा गया है, तो इसका समाधान यह है कि वे भी ईषत् उपकारक हैं, इसलिए उनकी इन्द्रिय संज्ञा लाक्षणिक है। (इन्द्रिय शब्द यौगिक नहीं, अपितु चक्षु इत्यादिमें रूढ़ है।)—यह पूर्वपक्ष कहता है॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—एकदेशिमतेनाह सप्तेति। अत्र हेतुर्गतेरित्यादिः। जीवेन सहेत्यतो लोकान्तरेष्विति बोध्यम्। अत्रैवं केचिद्व्यचक्षते। सप्तैव प्राणाः। कु गतेः। श्रुतौ तेषां सप्तत्वावगमात् विशेषितत्वाच्च। सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा इति शिरोगतसप्तच्छिद्रनिष्ठत्वेन विशेषणाच्चेति॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—*'सप्तगतेः'* इत्यादि सूत्र एकदेशी सम्प्रदायके मतमें कहा गया है। इस विषयमें हेतु है—*'गतेः विशेषितत्वाच्च।' 'जीवेन सह'* (जीवके साथ) इसके बाद *'लोकान्तरेषु'* (अन्यान्य लोकोंमें) यह योजना करनी होगी अर्थात् अन्य लोकोंमें गमन करता है। कोई-कोई व्याख्याकार—इस प्रकारकी व्याख्या करते हैं—प्राण सात ही हैं, किसलिए? क्योंकि सात प्राण परलोकमें गमन करते हैं। श्रुतिमें प्राणवायुकी सप्तसंख्यासे अवगत होनेके कारण और इस सप्तसंख्या द्वारा विशेषित होनेके कारण अर्थात् *'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः'* इस श्रुतिमें उक्त मस्तक स्थित सप्तछिद्रनिष्ट रूपमें विशेषित होनेके कारण प्राण सप्तसंख्यक हैं॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकार इन्द्रिय विषयक श्रुति-विरोधका निराकरण करते हुए उनकी संख्या विषयक श्रुति-विरोधको निरस्त करते हैं—

मुण्डकश्रुति है—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोमाः।
सप्तेमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त॥

(मु॰ २/१/८)

अर्थात् उन परमेश्वरसे मस्तक स्थित सात प्राणवायु अर्थात् दो चक्षु, दो कान, दो नासिका और वागिन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं। इनका कार्य है दर्शन, श्रवण, घ्राण और वाक्योच्चारण—ये इन्द्रियोंके विषयरूप सप्त समिध हैं; सात प्रकारके हवन अर्थात् बाह्य विषयरूप समिधको इन्द्रियरूप अग्निमें निक्षेपरूप क्रिया और इन इन्द्रियोंके वासस्थानरूप सप्त लोक, जिनमें अवस्थान करते हुए इन्द्रियरूप सप्त प्राण अपने आप कार्य करते हैं, निद्राकालमें मनके साथ एक होकर हृदयरूप गुहामें शयन करनेवाले प्राणी भेदसे सात-सातके समुदाय परमेश्वरके द्वारा ही समस्त प्राणियोंमें क्रमसे स्थापित होते हैं।

बृहदारण्यकमें भी पाया जाता है—*'कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुष प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति।'* (बृ॰आ॰ ३/९/४)

अर्थात् शाकल्य—रुद्र कौन हैं? याज्ञवल्क्य—पुरुषमें ये दस प्राण (इन्द्रियाँ) और ग्यारहवाँ आत्मा (मन) ये जिस समय इस मरणशील शरीरसे उत्क्रमण करते हैं, उस समय रुलाते हैं। ये ही रुद्र हैं।

इस स्थलपर प्राण सात हैं अथवा ग्यारह—इस प्रकारके संशयपर पूर्वपक्षीय मतको प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार उत्थापन करते हुए कहते हैं कि प्राण सात ही हैं, क्योंकि जीवके साथ सप्त प्राणोंकी ही सञ्चाररूप गतिके विषयमें सुना जाता है और श्रुतिमें प्राणोंको ज्ञानकी संज्ञासे विशेषित भी किया है।

इस प्रसङ्गमें भाष्यकारकी आलोचना भाष्य और टीकामें देखनी चाहिये। श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

केचित् षड्‌विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम्।
सप्तैके नवषट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे॥
केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२२/२-३)

अर्थात् तत्त्व संख्या प्रसङ्ग निर्णयमें कु

कु

कु

करते हैं। यथा—

१—सप्तप्राणाः—*'सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्'* (मु॰ २/१/८)

(१) चक्षु, (२) घ्राण, (३) रसन, (४) वाक्, (५) श्रोत्र, (६) मन और (७) त्वक्।

२—अष्टौ प्राणाः—(१) घ्राण, (२) रसन, (३) वाक्, (४) चक्षु, (५) श्रोत्र, (६) मन, (७) हस्त और (८) त्वक् इन्द्रियोंको ग्रह और उनके विषयोंको अतिग्रह कहा गया है, क्योंकि विषय इन्द्रियरूपी ग्रहोंके आकर्षक माने गये हैं—*'प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्रहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धान जिघ्रति'* (बृ॰आ॰ ३/२/२)।

३—नव प्राणाः *'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्चौ'* (तै॰सं॰ ५/१/७/१), अर्थात् दो श्रोत्र, दो चक्षु, दो घ्राण, एक वाक्, एक पायु और एक उपस्थ अथवा पायु एवं उपस्थके स्थान बुद्धि एवं मन।

४—दश प्राणाः *'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी'*—नाभिको मिला देनेपर दस प्राण होते हैं।

५—एकादश प्राणाः—*'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः'* (बृ॰आ॰ ३/९/४) अर्थात् पाँच बुद्धिन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा एक मन। मनको आत्मा इसलिए कहा है कि वह इन्द्रियोंको व्याप्त करता है।

६—द्वादश प्राणाः *'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्'* (बृ॰आ॰ २/४/ ११) (१) त्वक्, (२) नासिका, (३) रसन्, (४) चक्षु, (५) श्रोत्र, (६) मन, (७) हृदय, (८) हस्त, (९) पाद, (१०) उपस्थ, (११) वायु, (१२) वाक्।

७—त्रयोदश प्राणाः *'क्वचित् त्रयोदश चक्षुश्च द्रष्टव्यं च'* (बृ॰आ॰ ४/८) उक्त बारह प्राणोंमें अहङ्कार मिला देनेपर तेरह संख्या कही गयी है।

इस प्रकार प्राणोंकी इयत्ता (संख्या) में श्रुतियोंका भेद है॥ ५॥

अवतरणिका भाष्य—एवं प्राप्ते सिद्धान्तयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकारके पूर्वपक्षके स्थिर होनेपर सिद्धान्तका प्रदर्शन करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—एवं प्राप्ते सिद्धान्तमाह—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस प्रकार पूर्वपक्ष स्थिर होनेपर सिद्धान्त-सूत्र कहते हैं।

सूत्र—हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्॥ ६॥

सूत्रार्थ—'तु'—नहीं, 'हस्तादयः' सप्तसंख्याके अतिरिक्त हस्तादिको भी प्राण कहकर मानना होगा, क्योंकि 'स्थिते'—देहके मध्यमें स्थित जीवमें ये उसके भोगके साधन हैं, 'अतो नैवम्' अतएव प्राण सप्तसंख्यक हैं—यह नहीं माना जा सकता॥ ६॥

सूत्रानुवाद—सात ही इन्द्रियाँ नहीं हैं, अपितु ग्यारह हैं, हस्त आदि इन्द्रियाँ भी शरीरमें स्थित जीवके भोगका कार्य सम्पादन करती हैं॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दश्चोद्यनिरासार्थः। हस्तादयः सप्तातिरिक्ताः प्राणा मन्तव्याः। कु
बृहदारण्यके (३/२/८) पठ्यते—*'हस्तौ वै ग्रहः सर्वकर्मणाभिग्रहेण गृहीतः, हस्ताभ्यां कर्म करोति'* इत्यादि। अतः सप्तातिरेकादेव हेतोर्नैवं मन्तव्यं सप्तैवेति किन्तु पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकमन्तरिन्द्रियमित्येकादशैवेन्द्रियाणि ग्राह्याणि। आत्मैकादशे (बृ॰आ॰ ३/९/४) त्यत्रात्मान्तरिन्द्रियं प्रकरणात्। इदमत्र बोध्यम्। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः पञ्च ज्ञानभेदास्तदर्थानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्-चक्षुरसनघ्राणाख्यानि वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च कर्मभेदास्तदर्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। सर्वार्थविषयं त्रिकालवर्त्त्यन्तः-करणमेकमनेकवृत्तिकम्। तदेव सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानचिन्तारूपकार्यभेदात् क्वचिद्भेदेन व्यपदिश्यते मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तञ्चेति। तथाचैकादशैवेन्द्रियाणीति॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द आपत्ति-खण्डनके लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि सातसंख्याके अतिरिक्त हस्त-पदादि भी अन्य इन्द्रियाँ या प्राण हैं। किस प्रकारसे? देहमें अवस्थित जीवमें ये हस्त, पद आदि भी जीवके भोगोंका सम्पादन करते हैं और विभिन्न कार्य करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषदमें इस प्रकार पठित है, यथा *'हस्तौ वै ग्रहः सर्व कर्मणाभिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति'*—हाथ भी एक ग्रह अर्थात् इन्द्रिय है क्योंकि यह हस्त अभिग्रहस्वरूप है, कर्मोंके द्वारा (आकृात) है—कर्मरूप अभिग्रहके द्वारा ग्रहीत होनेके कारण हस्तको ग्रह कहा जाता है। जीव हस्त द्वारा ही कर्म साधन

करते हैं। अतएव सातसे अतिरिक्त हस्तादि इन्द्रियाँ रहनेके कारण प्राणकी संख्यासात मानना उचित नहीं है। क्योंकि पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, एक अन्तरिन्द्रिय (मन) ये ग्यारह इन्द्रियाँ प्राण शब्दसे ग्राह्य हैं। *'आत्मैकादशः'* इस श्रुतिमें जो 'आत्मन्' शब्दका प्रयोग हुआ है, 'आत्मन्' शब्दका अर्थ है—'अन्तःकरण'—मन, क्योंकि इन्द्रिय-प्रकारणमें इसका प्रयोग है। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं। विषय भेदसे ज्ञान-भेद होता है। इसलिए विषयोंसे सम्बन्धित पाँच प्रकारका ज्ञान है—जिसका साधन ये पञ्चज्ञानेन्द्रिय यथाक्रमसे है—कर्ण, त्वक्, चक्षु, रसना और नासिका। वाक्योचारण, आदान (ग्रहण), विहरण (गमन), उत्सर्जन (मलत्याग) और आनन्द—ये पाँच प्रकारके कर्मभेद हैं—जिसका साधन क्रमशः पञ्च कर्मेन्द्रिय—वाक्, हस्त, पद, मलद्वार, और उपस्थ है। अन्तःकरण एक है, जो समस्त विषयको (ज्ञानको) ग्रहण करता है। यह त्रिकालवर्त्ति (भूत, भविष्य एवं वर्त्तमानमें रहनेवाला) एवं अनेक वृत्तियोंसे सम्पन्न अर्थात् दस प्रकारके कार्योंके साक्षी रूपमें वर्त्तमान है। यह अन्तःकरण जब सङ्कल्प करता है, तब उसका नाम मन है, जब अध्यवसाय (निश्चय) करता है, तब बुद्धि, अभिमानकारक होनेसे अहङ्कार और चिन्तात्मकवृत्तिसे चित्त नामसे अभिहित होता है। इस प्रकार कार्य-भेदसे भिन्न-भिन्न स्थलोंपर भिन्न-भिन्न रूपोंमें व्यपदिष्ट होता है। एक ही अन्तःकरणको मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त नामसे उल्लिखित किया जाता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि इन्द्रियाँ एकादशसंख्यक हैं॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—एवं प्राप्ते सिद्धान्तमाह—इस्तादयस्त्विति। ननु वागादीनां जीवेन सह लोकान्तरेषु गतेरश्रवणात् तेषां गौणमिन्द्रियत्वमित्युक्तम्। मैवम्। तमुत्क्रामस्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्तीति सर्वशब्दात् हस्तादीनां सहगतिं विना बन्धकत्वरूपग्रहत्वानुपपत्तेः। सप्त वै शीर्षण्या इत्यत्र सप्तत्वप्रतिपादनं प्रामादिकम्। चतुर्णामेव छिद्रभेदेन सप्ततया वर्णनात्। न खलु तत्र सप्तोद्देशेन प्राणत्वं विहितम्। किन्तु प्राणोद्देशेन छिद्रभेदमात्रेण चतुर्णामेव सप्तत्वमिति। नव वै पुरुषे प्राणा इत्येतदपि वाक्यं पुरुषाकारच्छिद्राभिप्रायमेव न तु प्राणाभिप्रायमित्येतत् सर्वाभिप्रायेणाह किन्तु पञ्चेत्यादि। त्रिकालवर्त्तीति त्रैकालिकेषु दशस्वध्यक्षतया वृत्तिर्यस्य तदित्यर्थः॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार— *'हस्तादयस्तु'* इत्यादि। प्रश्न है—कि देहसे उत्क्रमणकालमें जीवके साथ वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियकी गति सुनी न जानेके कारण उनकी इन्द्रिय संख्या गौण है, यह पहले ही कहा जा चुका है, तब यह सिद्धान्त किस रूपमें सङ्गत है? उत्तर है—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि *'तमुत्क्रामन्तम् सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति'*—जीव जब देहसे ऊर्ध्वकी ओर गमन करता है, तब उसके साथ सभी प्राण उत्क्रमण करते हैं—इस श्रुतिमें 'सर्व' शब्द प्रयुक्त होनेके कारण समस्त इन्द्रियोंका उत्क्रमण अवगत हो रहा है। यदि कहो, केवल ज्ञानेन्द्रियकी अनुगति होती है, तो ऐसा भी नहीं है, यदि हस्तादिके साथ गति नहीं होती है तो उनका बन्धनकारित्वरूप ग्रहत्व रह नहीं सकता। इस *'सप्त वै शीर्षण्याः'* सात इन्द्रियाँ मुखपर स्थित हैं, इस श्रुतिमें जिस सप्तसंख्याका प्रतिपादन किया गया है, वह प्रामादिक है (असावधानता वश कहा गया है अतः दोषयुक्त है)। क्योंकि चक्षु आदि छिद्र-भेदसे चार इन्द्रियोंको ही सप्त कहा गया है। उसमें सप्तसंख्याको उद्देश्य करके प्राणत्वका विधान नहीं है, बल्कि प्राणको उद्देश्य करके छिद्र भेदके कारण चारका ही सप्तत्व विहित है। *'नव वै पुरुषे प्राणाः'*—अर्थात् आत्माके नौ प्राण हैं—यह श्रुति-वाक्य भी पुरुषाकार छिद्राभिप्रायसे है, प्राणाभिप्रायसे नहीं। इस समस्त बातको मनन करके भाष्यकार कहते हैं—पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि इत्यादि। *'त्रिकालवर्त्त्यन्तःकरणमिति'* अर्थात् भूत, भविष्य और वर्त्तमान—तीनों कालके दशविध कार्यमें जिसकी अध्यक्षरूपमें वृत्ति है, वह अन्तःकरणस्वरूप है॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें सिद्धान्त करते हैं कि सप्तसंख्यासे अतिरिक्त हस्तादिको भी प्राण कहकर जीव-शरीरमें स्वीकार करना होगा, क्योंकि वे भी जीवके भोगमें सहायता करते हैं। इसलिए प्राण सप्तसंख्यक हैं—यह कहना समीचीन नहीं। *'सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति'* (बृ॰आ॰ ४/४/२) में 'सर्व' शब्दके बलपर सभी ग्यारह इन्द्रियोंकी प्राप्ति हो रही है।

बृहदारण्यकमें है— *'हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति।'* (बृ॰आ॰ ३/२/८) अर्थात् हस्त ही ग्रह हैं, वे

कर्मरूप अतिग्रहसे गृहीत हैं, क्योंकि प्राणी हस्तसे ही कर्म करता है।

इस प्रकार यदि कहो कि ज्ञानेन्द्रियकी ही अनुगति है, तो ऐसा नहीं है, यदि हस्तादिके साथ गति न हो तो बन्धनकारीत्वरूप ग्रहत्व उसमें रह नहीं सकता। इस बन्धकत्व (ग्रहत्व) का निर्देश तभी सम्भव हो सकता है, जब कि वे मुक्ति-पर्यन्त जीवात्माके उसी प्रकार बन्धन माने जायें जैसे यह छह धातुवाला शरीर।

अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषदमें कहा है—*'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च।'* (प्र०उ० ४/८)

अर्थात् नेत्र और द्रष्टव्य (रूप), श्रोत्र और श्रोतव्य (शब्द), घ्राण और घ्रातव्य (गन्ध), रसना और रसायितव्य (रस), त्वचा और स्पर्शयोग्य पदार्थ, हाथ और ग्रहण करने योग्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य, पायु और विसर्जनीय, पाद और गन्तव्य स्थान ये सभी देहके साथ उत्क्रमण करते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषदमें है— *'त्रीण्यात्मनेऽकु*
तान्यात्मनेऽकु
मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा श्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरिव्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सा। एषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः।' (बृ०आ० १/५/३)

अर्थात् उन्होंने तीन अन्न अपने लिए किये अर्थात् मन, वाणी और प्राण। इन्हें उन्होंने अपने लिए किया। मेरा मन अन्यत्र था, इसलिए मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था, इसलिए मैंने नहीं सुना (ऐसा जो मनुष्य कहता है, इससे निश्चय होता है कि) वह मनसे ही देखता है और मनसे ही सुनता है। काम, सङ्कल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धारणाशक्ति), अधृति, लज्जा, बुद्धि एवं भय—ये सब मन ही हैं। इसीसे पीछेसे स्पर्श किये जानेपर मनुष्य मनसे

जान लेता है। जो कु
यह अभिधेयके पर्यवसानमें अनुगत है (तालु आदिसे व्यक्त होनेवाले वर्णादि शब्द यानी ध्वनि तथा बाजे या मेघादिके कारण होनेवाले तथा और भी जो शब्द हैं, वे वाक् ही हैं, यह अभिधेय-निर्णयके अनुगत है), इसलिए प्रकाश्य नहीं हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन (देहकी सामान्य चेष्टासे सम्बन्ध रखनेवाली वृत्ति) —ये सब प्राण ही हैं। यह आत्मा (शरीर) एतन्मय अर्थात् वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय ही है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिः कर्माण्यङ्गोभयं मनः॥

शब्दः स्पर्शो रसो गन्धे रूपञ्चेत्यर्थजातयः।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्म्मायतनसिद्धयः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२२/१५-१६)

अर्थात् हे उद्धव! श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, नासिका और रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेंद्रियाँ हैं—तथा मन जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों ही हैं। इस प्रकार कु
रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय हैं। इनके परिणामसे आकाशादि पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तीन, नौ, ग्यारह और पाँच—कु
होनेवाले पाँच कर्म—चलना, बोलना, मल त्यागना, पेशाब करना और काम करना ये कर्मेन्द्रियोंके फलमात्र हैं, तत्तन्तर नही अर्थात् इनके द्वारा तत्त्वोंकी संख्या नहीं बढ़ती। इन्हें कर्मेन्द्रियस्वरूप ही मानना चाहिये।

और भी,

भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान् देहानुच्चावचान् विभुः।
भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा॥

(श्रीमद्भा॰ ७/२/४६)

अर्थात् आत्मा पञ्चभूत, दस इन्द्रियाँ, मन और इन सब अवयवोंसे विशिष्ट लिङ्ग-शरीरको उत्कृष्ट-निकृष्ट (ऊँची-नीची) देहोंके साथ सम्बन्धयुक्त होती है तथा स्वरूपावस्थित अपने प्रभाव (तेज) के द्वारा अर्थात् भजनसे यथाकाल इसका त्याग करती है। भजन-बल अथवा स्वरूपानुभूति ही इसका प्रमाण है॥ ६॥

अवतरणिका भाष्य—प्राणानां परिमाणं चिन्तयति। प्राणा व्यापिनोऽणवो वेति संशये दूरश्रवणदर्शनादेवानुभवाद्व्यापिन एवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद अब प्राणोंक परिमाणके सम्बन्धमें विचार करते हैं—प्राण (समस्त इन्द्रियाँ) व्यापक अर्थात् विभु हैं अथवा अणु हैं—इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं, जब दूरवर्त्ती विषयोंके श्रवण, दर्शन इत्यादि अनुभव होते हैं, तब प्राणको व्यापक ही कहा जायेगा। इस प्रकारका पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—प्राणानामिति। अत्रापि प्राग्वत् सङ्गतिः। तत्रैषां तत्र ते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ता इत्यानन्त्यवाक्यं तमुत्क्रामन्तमित्याद्युत्क्रान्ति-वाक्यञ्चास्ति। पूर्वं व्याप्तिवाचकं परन्त्वणुत्ववाचीति। तयोर्विरोधसन्देहेऽर्थभेदाद्विरोधे प्राप्ते पूर्वत्र *'अथ यो ह वैताननन्तानुपास्ते'* (बृ॰आ॰ १/५/१३) इति श्रवणात् बहुफलकोपासनतया तदानन्त्ये नीते नास्ति विरोध इत्यभिप्रायेण न्यायस्य प्रवृत्तिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्राणानामित्यादि भाष्य—इस अधिकरणमें भी पहलेके समान प्रसङ्ग-सङ्गति है। इस विषयमें इन प्राणादिके सम्बन्धमें व्याप्तित्व एवं अणुत्व विषयमें दो प्रकारकी श्रुति है यथा—*'तत्र ते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः'* (बृ॰आ॰ १/५/१३) अर्थात् वे सभी समान हैं और सभी अन्तहीन हैं अर्थात् विभु हैं। (यह विभुत्व बोधक वाक्य हैं) और *'तमुत्क्रामन्तमनूत्क्रामन्तीत्यादि'*—यह उत्क्रमणबोधक वाक्य है। (अणुत्व-बोधक है) इस प्रकार इनमें प्रथम वाक्य व्याप्ति-वाचक है और दूसरा अणुत्व वाचक है। इसलिए उनमें विरोध होनेके कारण संशय उपस्थित होता है—इनमें परस्पर विरोध है कि नहीं? पूर्वपक्षीके मतमें अर्थभेदके कारण विरोध अवश्यम्भावी है क्योंकि आनन्त्य-पक्षमें श्रुति है—*'अथ यो ह वैताननन्तानुपासते'*

जो उन प्राणोंकी अनन्त बोधसे उपासना करता है, इत्यादि श्रवण होनेसे उनकी उपासना बहुत फलदायक है, इसलिए वे अनन्त हैं। इस प्रकारसे तात्पर्य लेनेपर कोई भी विरोध नहीं है, इस अभिप्रायसे इस अधिकरणका आरम्भ है।

३—प्राणाणुत्वाधिकरणम्
प्राणका परिमाण-विचार

सूत्र—अणवश्च॥७॥

सूत्रार्थ—'च' और 'अणवः' ये समस्त इन्द्रियाँ अणुरूप हैं॥७॥

सूत्रानुवाद—प्रकृत प्राण (समस्त इन्द्रियाँ) अणु ही हैं॥७॥

गोविन्दभाष्य—च निश्चये। अणव एवैकादश प्राणाः। उत्क्रान्तिश्रुतेरिति शेषः। दूरश्रवणादिकं तु गुणप्रसारात् सिद्धम्। जीवस्येव शिरोऽङ्घ्रिव्यापित्वम्। एतेन प्राणव्याप्तिवादिनः साङ्ख्या निरस्ताः॥७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'च' शब्द निश्चयार्थ है अर्थात् प्राण निश्चित रूपसे अणु परिमाण है। ये ग्यारह प्राण अणुपरिमाण ही हैं, क्योंकि उनके उत्क्रमणकी उक्ति श्रुत है। जिससे उनका अणुरूपत्व सिद्ध होता है। (*'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति'* (बृ॰आ॰ ४/४/२) उसके (आत्माके) उत्क्रमण करनेपर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करता है, प्राणके उत्क्रमण करनेपर सम्पूर्ण प्राण (इन्द्रिय-वर्ग) उत्क्रमण करते हैं।) सूत्रमें हेतुका उल्लेख न रहनेपर भी 'उत्क्रमण श्रुतेः' इस हेतुपदका अध्याहार करना (सूत्रार्थको पूरा करनेके लिए अनुवृत्त पदको जोड़ना) होगा। तब जो दूरवर्त्ती विषयोंके श्रवणादि हैं, उनका हेतु गुणोंका प्रसारण है। जीव जिस प्रकार अणु-परिमाण होनेपर भी गुण-प्रसादसे मस्तकसे चरण पर्यन्त व्याप्त रहता है, उसी प्रकार प्राण अर्थात् इन्द्रियाँ भी सिरसे पैर तक व्याप्त हैं। इस अणु परिमाणवादसे इन्द्रियों (प्राणों) को व्यापक कहनेवाला सांख्यवादियोंका मत भी खण्डित हो जाता है॥७॥

सूक्ष्मा-टीका—अणवश्चेति। एतेनेति। विभुत्ववादे मथुरास्थितानामपि श्रीरङ्गदर्शनस्पर्शौ स्यातामुत्क्रान्त्यादिविरोधश्च॥७॥

सूक्ष्मा-सार—*'अणवश्चेति'* सूत्रमें एतेनेति भाष्यमें—संख्या-सम्मत विभुत्ववादमें अनुपपत्ति है कि जो मथुरानिवासी भक्त हैं, उनका श्रीरङ्गम् क्षेत्रमें-स्थित श्रीविग्रहका दर्शन और स्पर्श हो सकता है इस प्रकार उत्क्रान्ति इत्यादि श्रुतिका विरोध होता है॥७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पुनः प्राणोंके परिमाणपर विचार करते हैं कि प्राण व्यापी अर्थात् विभु हैं अथवा अणु हैं। इस प्रकारके संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि प्राणको व्यापी ही कहा जायेगा, क्योंकि ये दूरवर्त्ती विषयोंके श्रवण, दर्शनादिका अनुभव करते हैं। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि प्राणसमूह निश्चय ही अणु ही है। ग्यारह प्राण अणु-परिमाण हैं, क्योंकि उनका उत्क्रान्ति विषय सुना जाता है। निकटस्थ व्यक्ति भी इस उत्क्रान्ति आदिको जान नहीं पाता। पूर्वपक्ष विभुत्वको सिद्ध करनेके लिए कहते हैं *'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः'* अर्थात् ये सभी इन्द्रियाँ समान और अनन्त हैं, तो अनन्तता बतानेवाली इस श्रुतिसे उपासना-विधान कहा गया है *'अथ यो ह वैतान न्तानुपास्ते'*—अर्थात् जो इन अनन्त प्राणोंकी उपासना करते हैं। श्रवणके कारण उनकी उपासना बहु-फलदायक है—इसलिए वे अनन्त हैं और इस तात्पर्यमें कोई विरोध नहीं है। दूर-श्रवणादिकी सिद्धि गुणके प्रसारके कारण होती है। जीव जिस प्रकार अणु होकर भी गुणके प्रसारणके कारण मस्तक पर्यन्त व्याप्त रहता है, प्राण भी उसी प्रकार व्याप्त रहते हैं। इस अणुपरिमाणवादके द्वारा प्राण-व्याप्ति-वादी (सांख्यमत-इन्द्रियाँ अहङ्कार तत्त्वका कार्य हैं और अहङ्कारतत्त्व जगन्मण्डल व्यापी है, अतः प्राण (इन्द्रियाँ) सर्वगत (सर्वव्यापी हैं) सांख्य-मत निरस्त हो गया है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।

सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/३/३९)

अर्थात् जगत्में चार प्रकारके जीव होते हैं—अण्डासे पैदा होनेवाले पक्षी-साँप आदि, नालसे बँधे पैदा होनेवाले पशु-मनुष्य, धरतीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्ष-वनस्पति, पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले खटमल आदि। इन सभी जीव-शरीरोंमें प्राणशक्ति जीवके पीछे लगी रहती है। उसी प्रकार सुषुप्ति दशामें जब इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं अर्थात् अहङ्कारमें लीन हो जाती हैं, उस समय विकारके कारण लिङ्ग-शरीररूप उपाधिके अभावमें आत्मा भी निर्विकार रूपमें स्थित रहता है; परन्तु उस समय उसका लय नहीं होता है; क्योंकि सुषुप्तिके अनन्तर जाग्रत् दशामें 'मैं सुखपूर्वक सो रहा था' इत्यादि स्मृति सुषुप्तिकालमें साक्षीके रूपमें वर्त्तमान आत्म-वस्तुका परिचय प्रदान करती है अर्थात् पीछे होनेवाली यह स्मृति ही उस समय भी आत्माके अस्तित्वको प्रमाणित करती है॥७॥

अवतरणिका भाष्य—*'अथैतस्मात् जायते प्राण'* (मु॰ २/१/३) इत्यत्र मुख्यः प्राणः परीक्ष्यते। श्रेष्ठः प्राणो जीववदुत्पद्यते खादिवद्वेति विषये नैष प्राण उदेति नान्तमेतीत्यादि श्रुतेः। *'यत्प्राप्तिर्यत्परित्याग उत्पत्तिर्मरणं तथा। तस्योत्पत्तिर्मृतिश्चैव कथं प्राणस्य युज्यत'* इति स्मृतेश्च जीववदिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब (*एतस्मात् जायते प्राण*) मुख्य प्राणके सम्बन्धमें विचार किया जाता है। मुख्य अर्थात् श्रेष्ठ प्राण जीवके समान परमेश्वरसे उत्पन्न होते हैं अथवा आकाशादि भूतोंके समान उत्पन्न होते हैं। इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—*'नैष प्राण उदेति नास्तमेति'* अर्थात् मुख्य प्राण न तो उत्पन्न होते हैं और न ही विनाशको प्राप्त होते हैं—इस श्रुतिके कारण और *'यत्प्राप्तिर्यत् परित्याग उत्पत्तिर्मरणं तथा। तस्योत्पत्तिर्मृतिश्चैव कथं प्राणस्य युज्यत'*— अर्थात् जिसकी प्राप्ति और जिसका परित्याग है, उसीकी उत्पत्ति और उसीका मरण है अर्थात् देह-ग्रहणका नाम उत्पत्ति है और देह सम्पर्क (सम्बन्ध) त्यागका नाम मृत्यु है। ऐसा होनेपर इस प्राणका जन्म

अथवा मृत्यु किस प्रकारसे युक्तियुक्त है? इस प्रकारसे स्मृति-वाक्य प्राप्त होनेके कारण प्राणकी उत्पत्ति जीवके समान ही कही जायेगी। यह पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर इसके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

४—प्राणश्रेष्ठ्याधिकरणम्

मुख्य प्राणका विचार

सूत्र—श्रेष्ठश्च॥ ८॥

सूत्रार्थ—'श्रेष्ठः'—श्रेष्ठ अर्थात् मुख्य प्राणवायु 'च'—भी आकाशादि भूतके समान उत्पन्न होती है॥ ८॥

सूत्रानुवाद—श्रेष्ठ मुख्य प्राण भी पञ्चमहाभूतोंकी भाँति उत्पन्न होते हैं॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—श्रेष्ठः प्राणोऽपि खादिवदुत्पद्यते *'जायते प्राण'* इति श्रुतेः। स इदं सर्वमसृजतेति प्रतिज्ञानुपरोधाच्चेतिशेषः। एवं सत्यनुत्पत्तिरापेक्षिकी। श्रैष्ठ्यञ्चास्य कायस्थितिहेतुत्वाद्वदन्ति। पृथग्योगकरणमुत्तरचिन्तार्थम्॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अब *'एतस्माज्जायते प्राणः'* (मु० २/१/३) इस श्रुतिमें उक्त श्रेष्ठ प्राणकी भी उत्पत्ति आकाशादि भूतोंके समान उक्त है, क्योंकि 'जायते प्राणः' प्राण उत्पन्न होते हैं—यह बात श्रुति कहती है और *'स इदं सर्वमसृजत्'*—'उन्होंने (परमेश्वरने) इस परिदृश्यमान समस्त जगत्‌की सृष्टि की'—इस प्रकार प्रतिज्ञा-वाक्यकी (जिस वाक्यकी सिद्धि करनी होती है, उसका निर्देश कर देना ही प्रतिज्ञा-वाक्य है) असङ्गतिके परिहारके अनुरोधसे भी प्राणकी आकाशादिवत् उत्पत्ति स्वीकार की जा रही है, अतएव यह अंश भी हेतु रूपमें अध्याहार करनेके योग्य (योजनीय) है। तब जो *'नैष प्राण उदेति नास्तमेति'* प्राणका—यह जो अनुत्पत्ति-बोधक श्रुति-वाक्य है, उसकी सङ्गति क्या? वह भी बताया जा रहा है—जिस प्रकार *'अमृता देवाः'*—देवता अमृत अर्थात् मृत्युहीन हैं, इस वाक्यकी सङ्गति, 'अन्य पदार्थकी अपेक्षा मृत्युहीन हैं'—इस अर्थमें करणीय है, उसी प्रकार इसकी भी अर्थात् प्राणकी अनुत्पत्ति भी आपेक्षिकी रूपमें ज्ञातव्य है। पुनः जो

प्राणका श्रेष्ठत्व है, वह शरीरकी स्थितिके हेतु रूपमें कहा जा रहा है—यह बात आचार्यगण कहते हैं। इस सूत्रका *'अणवश्च'* सूत्रके साथ पृथक् रूपसे संनिवेशका उद्देश्य है—परवर्त्ती सूत्रमें उसकी परीक्षामें उपयोगिता है॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—अथैतस्मादित्यादौ गौणप्राणन्यायवत् प्रसङ्गसङ्गतिर्बोध्या। यत्प्राप्तिरिति। वायुप्राप्तौ प्राणस्यानुपत्तिवाक्यमुत्पत्तिवाक्यं चास्ति। तयोर्विरोधसन्देहेऽर्थभेदाद्विरोधे प्राप्तेऽनुत्पत्तिवाक्यस्यामृता देवा इति वदापेक्षिकानुत्पत्तिपरत्वेन नीतत्वान्नास्ति विरोध इति राद्धान्तः॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार—*'अथैतस्मादित्यादि'* अवतरणिका भाष्य वाक्यमें गौण प्राणके अधिकरणके समान प्रसङ्ग-सङ्गति जानें। *'यत्प्राप्तिरिति'* वायु (प्राण) के देह-ग्रहण विषयमें प्राणका अनुत्पत्ति वाक्य एवं उत्पत्ति वाक्य दोनों ही हैं। अतः उनका विरोध है कि नहीं? इस सन्देहपर पूर्वपक्षीके मतमें विरोध होगा क्योंकि दोनों वाक्योंका अर्थ भिन्न-भिन्न है। सिद्धान्तीके मतमें अनुत्पत्ति वाक्यका जो अनुत्पत्ति तात्पर्य है, वह आपेक्षिकी है, जिस प्रकार *'अमृता देवाः'* इस वाक्यसे बोधित देवताओंके अमृतत्वमें पुनः नाशबोधक वाक्य रहनेके कारण अन्यापेक्षा अमरत्व है, इसी प्रकारसे अतएव विरोध नहीं है, यही सिद्धान्त है॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब *'एतस्मात् जायते प्राणः'* (मु॰ २/१/३) श्रुतिके अनुसार मुख्य प्राणका विचार किया जा रहा है। ये श्रेष्ठ प्राण जीवके समान उत्पन्न हैं, अथवा आकाशादि भूतोंके समान। इस प्रकारके संशय स्थलपर *'नैष प्राण उदेति'* श्रुतिमें मुख्य प्राणकी उत्पत्ति और विनाशको स्वीकार नहीं किया है, पुनः *'यत् प्राप्तिर्यत् परित्यागः'* जिसकी प्राप्ति ही उत्पत्ति है और जिसका परित्याग ही मृत्यु है, इत्यादि वाक्यमें प्राणकी उत्पत्ति और विनाशको असम्भव माना गया है। इस बातके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रेष्ठ अर्थात् मुख्य प्राणवायु भी आकाशके समान उत्पत्ति प्राप्त करता है। उत्पत्तिके निषेधपरक वाक्योंका कहीं भी अभाव नहीं है। यों तो प्राणोंकी उत्पत्ति *'तथा प्राणाः'* (२/४/१) सूत्रसे ही प्रमाणित

थी, पुनः पृथक् सूत्र '*श्रेष्ठश्च*' का प्रयोजन शङ्काके आधिक्यके परिहारके लिए है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः॥

(श्रीमद्भा० २/१०/१५)

क्रियाशक्ति द्वारा विविध चेष्टा करनेमें लगे हुए उस पुरुषके हृदयाकाशसे इन्द्रियबल, मनोबल और देहबल प्रकट हुए। तदनन्तर उनसे इन सबका राजा मुख्य प्राण उत्पन्न हुआ॥८॥

अवतरणिका भाष्य—अथ तस्य स्वरूपं परीक्ष्यते। स किं वायुरेव केवलः किंवा तत्स्पन्दरूपा क्रिया अथवा देशान्तरगतो वायुरिति विचिकित्सा। किं प्राप्तम्? बाह्यो वायुरेवेति। योऽयं प्राणः स वायुरिति (३/१/५) बृहदारण्यकश्रुतेः। वायुक्रिया वा प्राणः उच्छ्वासनिश्वासरूपायां तत्क्रियायां तच्छब्दस्य प्रसिद्धेः। वायुमात्रे तस्याप्रसिद्धेश्चेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद इस मुख्य प्राणके स्वरूपको परीक्षित किया जाता है—यह मुख्य प्राण क्या केवल साधारण वायुस्वरूप ही है? अथवा वायुकी स्पन्दनात्मक क्रिया विशिष्ट है अथवा मुखसे भिन्न देशान्तर अर्थात् अन्य देशमें प्रवाहमान वायु है? इस संशयपर सिद्धान्ती जिज्ञासा करते हैं कि तुम्हारा मत क्या है? तो इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि यह बाह्य वायु ही है अर्थात् देशान्तरमें सञ्चार करनेवाली साधारण वायु ही मुखान्तवर्त्ती प्राण है क्योंकि बृहदारण्यक (३/१/५) में श्रुति है—'*योऽयं प्राणः स वायुः*'—यह जो प्राण कहकर तत्त्व है, वह वायु ही है। अथवा वायु-क्रिया ही प्राण शब्दसे वाच्य है क्योंकि उच्छवास-निःश्वासरूप वायु-क्रिया अर्थमें प्राण शब्दकी प्रसिद्धि है, केवल 'वायु' शब्द मात्रके प्रयोगमें प्राण शब्दकी प्रसिद्धि नहीं है, अतः 'प्राणः कहनेसे जिस किसी भी वायुको न समझा जाय। इस प्रकार पूर्वपक्षीय उक्ति प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथाश्रयाश्रयिभावसङ्गत्या प्राणस्य स्वरूपं विचिन्त्यते। तस्य बाह्यवायुत्वे वायुविकारत्वे च वाक्यमस्ति। तयोर्विरोध-

सन्देहेऽर्थभेदाद्विरोधे प्राप्ते एतस्मादितिवाक्ये वायुतः प्राणस्य पृथङ्निर्द्देशेन विषयभेदात् नास्ति विरोध इति भावेन न्यायस्य प्रवृत्तिः स किमित्यादिना। स इति प्राणः। तत्क्रियायामिति वायुक्रियायाम्। तच्छब्दस्येति तस्येति चोभयत्र प्राणशब्दस्येत्यर्थः।

अवतरणिकाभाष्यका टीकानुवाद—अतः पर आश्रय-आश्रयी रूपमें (प्राणको आश्रय करके उसका स्वरूप आश्रित है—इस प्रकार) सङ्गतिके अनुसार प्राणका स्वरूप विवेचित हुआ है, प्राणकी वायुरूपता विषयमें और वायुक्रियारूपता विषयमें प्रमाण वाक्य हैं, तब इनका विरोध है कि नहीं? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—जब दोनोंका अर्थ भिन्न है, अतः विरोध है ही। इस प्रकारके पूर्वपक्षीय मतके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं—विरोध नहीं है क्योंकि *'एतस्मादित्यादि'* श्रुति-वाक्यमें वायुसे पृथक् प्राणका निर्देश रहनेके कारण विषयका भेद हुआ है, इसलिए विरोधाभाव है? इसी अभिप्रायसे *'स किं वायुरेव'* इत्यादि वाक्य द्वारा इस अधिकरणका आरम्भ हुआ है। 'सः' अर्थात् वही प्राण, उच्छवास-निश्वास रूपायां तत् क्रियायाम् इतिमें 'तत्क्रियायाम्' का अर्थ है—वायु क्रियामें। *'तत् क्रियायाम् तच्छब्दस्य'* इसमें प्रयुक्त 'तत्' शब्दका और *'तस्याप्रसिद्धेश्च'* इसमें प्रयुक्त 'तस्य' पदका अर्थ है 'प्राण शब्दका'।

५—न वायुक्रियाधिकरणम्
मुख्य प्राणका स्वरूप विचार

सूत्र—न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्॥ ९॥

सूत्रार्थ—'न वायु' श्रेष्ठ प्राण साधारण वायु भी नहीं है, 'क्रिये' उच्छ्वासादि क्रियास्वरूप भी नहीं है, 'पृथगुपदेशात्' क्योंकि इसका उल्लेख पृथक् रूपसे है॥ ९॥

सूत्रानुवाद—न वायुमात्र ही है और न उसकी क्रिया ही—प्राण एवं वायु दोनोंका पृथक् रूपसे उल्लेख है॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—श्रेष्ठः प्राणो न वायुर्न च तत्स्पन्दः। कु *'एतस्मात् जायते प्राणः'* इत्यादौ वायोः सकाशात् प्राणस्य पृथगुक्तेः। यदि वायुरेव प्राणस्तर्हि तस्मात् तस्य सा न स्यात्। यदि वा वायुस्पन्दः प्राणस्तदापि वायोः

सकाशात् तत्क्रियारूपस्य प्राणस्य न सा सम्भवेत्। न ह्यग्न्यादेः क्रिया तेन साकं पृथगुक्ता दृश्यते। योऽयं प्राणः स वायुरिति तु वायुरिव किञ्चिद्विशेषमापन्नः प्राणो न तु ज्योतिरादिवत् तत्त्वान्तरमिति ज्ञापनार्थम्। यत्तु सामान्यकरणवृत्तिः *'प्राणाद्या वायवः पञ्च'* (२/३१) इति सांख्यैः सर्वेन्द्रियव्यापारः प्राण इत्युक्तं तन्न एकरूपप्राणस्य विजातीयनानेन्द्रियव्यापारत्वायोगात्॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रेष्ठ प्राण वायु भी नहीं है, उच्छ्वासादि वायु (स्पन्दन) क्रिया भी नहीं है, किस कारणसे? क्योंकि प्राणकी उत्पत्ति श्रुतिमें पृथक् रूपसे उल्लिखित है, यथा *'एतस्माज्जायतेः प्राणः'* इन परमेश्वरसे प्राण उत्पन्न होते हैं—*'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुः'* (मु॰ २/१/३) इत्यादि श्रुतिमें इन्द्रियोंकी उत्पत्तिकी उक्ति द्वारा प्राणकी उत्पत्ति और बादमें वायुकी उत्पत्तिका उल्लेख पृथक् रूपसे किया गया है। यदि प्राण ही वायुस्वरूप होते, तो उन परमेश्वरसे वायुतत्त्व और प्राणकी पृथक् उत्पत्ति न होती। अथवा यदि उच्छवासादि-स्पन्दन क्रिया ही प्राण होती, तो इससे भी वायुसे वायुकी क्रियारूप प्राणकी उत्पत्ति सम्भव होती नहीं, क्योंकि अग्निकी क्रिया अग्निसे पृथग्भूत रूपसे नहीं कही जाती है। तब जो बृहदारण्यककी उक्ति है *'योऽयं प्राणः स वायुः'*—जो यह प्राण है, वह वायु ही है—इसकी उपपत्ति कैसे होगी? वह भी बताया जा रहा है—प्राण वायुस्वरूप है अर्थात् वायुके समान कु
गुणोंको प्राप्त होकर प्राण शब्दसे अभिहित है, किन्तु यह ज्योतिः इत्यादिकी भाँति तत्त्वान्तर कोई भिन्न तत्त्व अर्थात् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है—यही समझानेके लिए इस प्रकार कहा गया है। और जो सांख्यसूत्रमें ईश्वर कृष्णने कहा है, *'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च'* (सां॰का॰ २९) अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामक पञ्चवायु सामान्यकरण वृत्ति अर्थात् समस्त इन्द्रिय-व्यापार ही प्राणस्वरूप है—यह कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि प्राण एकस्वरूपापन्न (प्राणकी वृत्ति एकरूपा) है फिर वह प्राण विजातीय नाना इन्द्रियोंका व्यापार किस प्रकार हो सकता है? यह नहीं हो सकता, अतएव प्राण वायुकी वृत्ति अथवा क्रिया नहीं है॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—नेति। तत्स्पन्द उच्छ्वासादिरूपा वायुक्रिया। तस्मात् तस्येति। तस्मात् वायुतस्तस्य प्राणस्य सा पृथगुक्तिरित्यर्थः। नन्वबाह्यवायुरूपत्ववाक्यस्य का गतिरिति चेत् तत्राह योऽयमिति। यत्त्विति। त्रयाणामपि करणानां सामान्या वृत्तिः। प्राणाद्या इति यत् कपिलेनोक्तं तन्न। तत्र हेतुरेकरूपेति॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार—*'न वायुक्रिये'* इत्यादि सूत्रमें 'तत्स्पन्दः' इति भाष्यका अर्थ है—उच्छवासादि रूप वायुकी क्रिया। *'तस्मात् तस्य सा न स्यात्'* इतिमें 'तस्मात्' शब्दका अर्थ है—वायुसे वायु तत्त्व प्राणकी पृथक् उक्ति होती नहीं। प्रश्न है कि तब प्राणकी बाह्य वायुसे भिन्न जो वायुस्वरूपता कही गयी है, उसकी सङ्गति क्या? यह यदि कहते हो तो इस विषयमें कहते हैं *'योऽयं प्राण'* इत्यादि। *'यत्तु सामान्यकरणवृत्तिः'* (सां०का० २/३१) इत्यादि और तीन इन्द्रियोंका साधारण व्यापार प्राण इत्यादि है, यह जो कपिलने कहा, वह सङ्गत नहीं है क्योंकि हेतु दिखाते हैं—प्राणकी एकरूपा वृत्ति है॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब प्राणके स्वरूपपर विचार किया जा रहा है। प्राण केवल वायु है? अथवा स्पन्दनरूप क्रिया है? अथवा देशान्तरगत वायु है? इस प्रकारके सन्देह स्थलपर पूर्वपक्षीके मतमें बाह्य वायु ही प्राण है, क्योंकि बृहदारण्यकमें देखा जाता है *'यः प्राणः सः वायुः'* (बृ०आ० ३/१/५) 'जो वायु है, वह प्राण है' अर्थात् वायुका कार्य ही प्राण है। किन्तु 'प्राण' कह देनेसे जिस किसी भी वायुको नहीं समझ लेना चाहिये। यद्यपि उच्छ्वास और निःश्वास रूप क्रियामें प्राणकी प्रसिद्धि है—इस प्रकार पूर्वपक्ष करके सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें उत्तर देते हैं कि श्रेष्ठ प्राणका पृथक् रूपसे उपदेश रहनेके कारण यह साधारण वायु अथवा उसका स्पन्दनरूप कार्य भी नहीं है। क्योंकि मुण्डकश्रुतिमें *'एतस्माज्जायते प्राणः'* (मु० २/१/३) कहकर पुनः *'खं वायुर्ज्योतिरापः'* (मु० २/१/३) उल्लेख करते हैं। अतः प्राणका वायुसे पृथक् उल्लेख करनेमें वायु और प्राण पृथक् तत्त्व हैं—यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। तब जो बृहदारण्यकमें है कि *'योऽयं प्राणः स वायुः'* (बृ०आ० ३/१/५) तो इसका तात्पर्य है कि प्राण वायुके समान ही है, किन्तु कु

कारण प्रभेद है। किन्तु ज्योतिः इत्यादिके समान तत्त्वान्तर अर्थात् भिन्न द्रव्य नहीं है—यही समझानेके लिए यह बृहदारण्यकीय श्रुति है; सांख्य-मतमें जो प्राणादि पञ्चवायु सामान्य करणवृत्ति अर्थात् समस्त इन्द्रियका व्यापार कहा गया है तो कहना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि एक प्रकारके प्राण विजातीय नाना इन्द्रियोंका व्यापार नहीं हो सकते।

वास्तवमें तो किसी भी इन्द्रियका कोई ऐसा अनुकूल अवान्तर कार्य उपलब्ध नहीं होता, जिसके द्वारा प्राणनरूप महाकार्यको जन्म हो सके। चक्षु आदिके जो रूप-प्रकाशनादि कार्य हैं, वे प्राणन कार्यके जनक किस प्रकार हो सकते हैं? पुनः यह भी प्रश्न है कि क्या सभी इन्द्रियाँ मिलकर प्राणन कार्य करती हैं अथवा प्रत्येक इन्द्रिय पृथक्-पृथक् कार्य करती हैं? अन्ध, मूक, बधिरादिमें समस्त इन्द्रियाँ होती भी नहीं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

प्राणादभूद् यस्य चराचराणां
प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥

(श्रीमद्भा॰ ८/५/३७)

समस्त चराचर जगत्को तेज, प्राण, मानसिक बल, शारीरिक बल और इन्द्रियबल प्रदान करनेवाली वायु जिनके प्राणोंसे उत्पन्न हुई है। जो चक्रवर्ती सम्राट हैं और बुद्धि, इन्द्रियादिके अधिष्ठाता हम देवतागण दासके समान जिनका अनुसरण करते हैं, वे महाविभूतिशाली परमेश्वर हमारे प्रति प्रसन्न हों।

और भी,

'प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/७/३९)

अर्थात् मैंने शरीरके भीतर रहनेवाले वायु-प्राणवायुसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह आहारमात्रकी इच्छा रखता है और इसकी प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट हो जाता है॥ ९॥

अवतरणिका भाष्य— *'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको जागर्त्ति प्राण एको मृत्युनानाप्तः प्राणः संवर्गो वागादीन् संवृङ्क्ते प्राण इतरान् प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्'* इति बृहदारण्यके पठ्यते। तत्र संशयः—मुख्यः प्राणो जीव एवास्मिन् देहे स्वतन्त्र उत जीवोपकरणमिति। बहुविभूतिश्रवणात् स इव स्वतन्त्र इति प्राप्ते—

अवतरणिकाभाष्यानुवाद—बृहदराण्यकोपनिषदमें पाठ है— *'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको जागर्त्ति, प्राण एको मृत्युनानाप्तः, प्राणः संवर्गो वागादीन् संवृङ्क्ते प्राण इतरान् प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्'* अर्थात् वाक् इत्यादि समस्त इन्द्रियोंके सुप्त रहनेपर एक प्राण ही जागता रहता है। प्राण एक ही है, यह मृत्यु अर्थात् श्रमसे आक्रान्त (ग्रस्त) नहीं होता अर्थात् प्राण-मृत्यु रहित है। प्राण समस्त वाक् इत्यादि इन्द्रियोंको व्याप्त करके रहता है, इसलिए वह संवर्गस्वरूप है। जिस प्रकार माता पुत्रादिकी रक्षा करती है, उसी प्रकार प्राण भी दूसरे प्राणोंकी रक्षा करता है। श्रुतिमें उक्त इस विषयपर संशय यह है कि मुख्य प्राण क्या इस शरीरमें जीवके समान स्वतन्त्र है अथवा जीवके चक्षु आदिके समान उपकरण है अर्थात् सहायक हैं। पूर्वपक्ष कहता है—जब मुख्य प्राणकी बहुत-सी विभूतियोंकी बात सुनी जाती है, तब जीवके समान वह भी स्वाधीन ही है—इस मतके खण्डनके लिए सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथ प्राणस्य जीवोपकरणत्वं दर्शयति सुप्तेष्वित्यादिना। अत्रापि पूर्ववत् सङ्गतिः। सुप्तेष्वित्यादि-वाक्यं प्राणस्य स्वातन्त्र्यं बोधयति प्राणसंवादवाक्यन्तु तस्य जीवोपकारित्वमित्यनयोर्विरोधसन्देहेऽर्थभेदात् विरोधे प्राप्ते सुप्तेष्वित्यादि वाक्यं तस्योपकरणवर्गप्राधान्यमाह न तु तद्वत् स्वातन्त्र्यमित्यर्थोक्तेश्चक्षुरादिवत् तदुपकरणत्वमेव तस्येति नास्ति विरोध इति भावेन न्यायस्य प्रवृत्तिः। मृत्युना श्रमेण अनाप्तोऽग्रस्तः संवृङ्क्ते व्याप्नोति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इसके बाद श्रेष्ठ (मुख्य) प्राणकी जीवोपकरणता 'सुप्तेषु' इत्यादि वाक्य द्वारा दिखाते हैं। इस अधिकरणमें भी पूर्वाधिकरणके समान सङ्गति जाननी चाहिये। *'सुप्तेषु वागादिषु'* इत्यादि वाक्य प्राणकी स्वतन्त्रताका परिचायक है किन्तु प्राणसंवाद वाक्य प्राणके द्वारा जीवके उपकारित्व अथवा उपकरणत्वको सूचित कर रहा है, अतः दो भिन्न उक्तियोंका परस्पर विरोध होगा

कि नहीं—इस संशयके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं—उक्त दोनों वाक्योंका प्रतिपाद्य विषय यदि अलग-अलग है तो विरोध होगा ही। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं सुप्तेषु वागादिषु इत्यादि वाक्य जीवके समान प्राणका स्वातन्त्र्यबोधक नहीं हैं, किन्तु जीवके जितने उपकरण हैं, उनमें प्राणका प्राधान्य है—इसका ही बोधक है। अतएव चक्षु आदिके समान प्राण जीवका उपकरण होनेके कारण कोई विरोध नहीं है, इस अभिप्रायसे इस अधिकरणकी अवतारणा है। *'मृत्युनानाक्रान्त इति'* में 'मृत्युना' का अर्थ है—श्रमके द्वारा *'अनाक्रान्त'* का अर्थ है—ग्रस्त नहीं है। *'वागादीन् संवृङ्क्ते इति'* में संवृङ्क्तेका अर्थ है—व्याप्त करके रहता है।

सूत्र—चक्षुरादिवत्तु तत्सह शिष्ट्यादिभ्यः॥ १०॥

सूत्रार्थ—'तु' ऐसा नहीं है, अर्थात् ऐसी शङ्का मत करना, क्योंकि मुख्य प्राण भी 'चक्षुरादिवत्' चक्षु इत्यादिके समान जीवके करण अर्थात् कार्य-साधन स्वरूप हैं। कारण क्या है? 'तत्सह शिष्ट्यादिभ्यः' क्योंकि प्राणकी विवृत्तिके प्रसङ्गमें चक्षुः इत्यादिके साथ प्राणके जीवके करण रूपमें उपदेश इत्यादि हैं॥ १०॥

सूत्रानुवाद—मुख्य प्राण चक्षुः आदिकी तरह जीवका उपकरण विशेष है। उपकरण भूत इन्द्रियोंके साथ इसकी भी उपकरणता शास्त्रोपदेश (प्राणसंवाद आदि प्रकरणों) से ज्ञात होती है॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्काहानाय। प्राणोऽपि चक्षुरादिवत् जीवकरणमेव। कु
(छा॰ ५/१) समानधर्माणां हि सह शासनं युक्तं बृहद्रथान्तरादिवत्। आदि शब्दात् *'अथयत्र वायं मुख्यः प्राणः'* (छा॰ १/२/७) स एवायं मध्यमः प्राण (छा॰ १/५/२१) इत्यादिना प्राणशब्दपरिगृहीतेष्विन्द्रियेषु विशिष्याभिधानं गृह्यते। संहतत्त्वादि च स्वातन्त्र्यनिराकृतिहेतुः॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निराकरणके लिए है अर्थात् पूर्वपक्षी-मत—'जीवके समान प्राण स्वाधीन हैं' के खण्डनके लिए है। प्राण भी चक्षुः इत्यादि इन्द्रियोंके समान जीवका करण विशेष ही है। इसका कारण? वही कहते हैं—*'तत्सह*

शिष्ट्यादिभ्यः'—क्योंकि प्राणकी विवृत्ति (वर्णन) में 'तत्सह' इन चक्षु आदि जीव-करण (इन्द्रिय) के साथ प्राणका शासन अर्थात् उल्लेख अथवा उपदेश है। शास्त्रीय नियम है कि जो समान धर्मसे युक्त है, उसका ही एक साथ उपदेश युक्तियुक्त है—जिस प्रकार सामवेदकी एक शाखा बृहद्रथान्तरके उद्गीथ प्रकरणमें पठित होनेके कारण वह अन्यान्य सामके समान है उसी प्रकार एक साथ उपदिष्ट होनेसे इसी प्रकार प्राणके भी समानधर्मको जाना जाता है। सूत्रोक्त 'शिष्ट्यादिभ्यः' में आदि पदसे परिगृहीत वस्तु श्रुति भी कहती है—*'अथ यत्र वायं मुख्यः प्राणः'* (छा॰ १/२/७), *'स एवायं मध्यमः प्राणः'* (छा॰ १/५/२१)—अर्थात् जिसमें यह मुख्य प्राण है, वही मध्यम प्राण है—इत्यादि वाक्य द्वारा ज्ञान शब्दसे वाच्य इन्द्रियोंके मध्य प्राण शब्दका विशेष रूपसे अभिधान (उल्लेख) होनेके कारण प्राणको जीवका एक करण मान लिया जाता है। अतः प्राणकी संहत (संघबद्ध रूपमें) कार्य-कारणत्व इत्यादि श्रुति-सम्मत उक्तियाँ उसके स्वातन्त्र्यके निराकरण मात्रके लिए हैं॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—चक्षुरादिवदिति। स्फु

सूक्ष्मा-सार—चक्षुरादिवत् इत्यादि सूत्र—भाष्यार्थ सुस्पष्ट है॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बृहदारण्यकश्रुतिमें वर्णन है कि वागादि समस्त इन्द्रियोंके सुप्त होनेपर एकमात्र प्राण ही जाग्रत रहता है। एकमात्र प्राण ही मृत्युहीन अर्थात् अक्लान्त है। माता जिस प्रकार अपने बच्चेकी रक्षा करती है, प्राण भी उसी प्रकार अन्य प्राणोंकी रक्षा करता है। इस स्थलपर एक संशय यह है कि मुख्य प्राण क्या इस शरीरमें स्वतन्त्र जीव है अथवा जीवका उपकरण अथवा सहायक है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि मुख्य प्राणको जीवके समान स्वतन्त्र मानना होगा। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, चक्षु आदिके समान प्राणको जीवका उपकरण कहना होगा क्योंकि इस प्रकारका अनुशासन है। 'शिष्ट्यादिभ्यः' में शिष्टिका अर्थ है शासन—चक्षु आदि इन्द्रियोंके साथ प्राण-संवादमें इसका (प्राणका) शासन है अर्थात् चक्षुरादि साधनोंकी कक्षा (पंक्ति) में ही यह प्राण

शिष्ट (पठित) है। समान धर्मवाले पदार्थ ही सहशिष्ट होते हैं। 'आदि' शब्दसे तात्पर्य है कि प्राण चक्षुरादिके समान एक साधन मात्र है, पर इसका विशेष रूपसे अभिधान अर्थात् विशिष्ट स्थान है—यह जीवका मुख्य उपकारक है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः।
प्राणस्य हि क्रियाशक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/३१)

क्रिया एवं ज्ञान भेदसे इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं। कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय दोनों प्रकारकी इन्द्रियाँ तैजस अहङ्कारसे उत्पन्न हुईं। अतः प्राणोंकी शक्ति क्रिया है और बुद्धिकी शक्ति विज्ञान है।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकु
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्ज्जितेन्द्रियः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/३३)

अर्थात् पूरक, कु
पूरक—इन प्राणायामोंके द्वारा प्राण वायुके पथ नाड़ियोंका शोधन करे॥ १०॥

अवतरणिका भाष्य—ननु चक्षुरादिवज्जीवोपकरणत्वे प्राणस्याङ्गीकृते तद्वज्जीवोप-कारक्रियापि स्यात् न च तादृशी काचिदस्ति यदर्थमयं द्वादशः प्राणस्ततो न चक्षुरादितौल्यमित्याक्षिप्य समाधत्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि यदि प्राणको चक्षु इत्यादिके समान जीवका उपकरण अङ्गीकार किया जाता है, तो चक्षु इत्यादिमें जिस प्रकार जीवकी उपकार-क्रिया है, उसी प्रकार प्राणमें भी उपकार-क्रिया उपलब्ध होनी चाहिये, किन्तु ऐसी कोई क्रिया तो प्राणमें है नहीं, जिसके कारण इस प्राणको ग्यारह इन्द्रियोंके अतिरिक्त बारहवीं इन्द्रियके रूपमें परिगणित किया (गिना) जा सके। अतः चक्षुः इत्यादि इन्द्रियके समान प्राणका साम्य नहीं है—इस प्रकारका आक्षेप करके सूत्रकार इसका समाधान इस प्रकारसे करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। तद्वत् चक्षुरादेरिव। अकरणेति। जीवोपकारक्रियाविरहितश्चेत् प्राणस्तर्हि देहेऽस्मिन् जीव इव स्वतन्त्रः स इति प्राप्ते उभयोः स्वतन्त्रयोरेकवाक्यत्वाभावेन सद्यो देहोन्मथनप्रसङ्गलक्षणो यो दोषः स न स्यात् देहधारणलक्षणपरमोपकारसत्त्वादिति भावः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—ननु इत्यादि अवतरणिका भाष्यमें *'तद्वज्जीवोपकार क्रियापीति'* में 'तद्वत्' का अर्थ है—चक्षु इत्यादि इन्द्रियके समान प्राणका। *'अकरणत्वाच्च'* इत्यादि सूत्रमें यदि प्राण जीवकी उपकार-क्रियासे विरहित है तो इस देहमें जीवके समान वह प्राण स्वतन्त्र हो जाता है, ऐसा होनेपर वो दोष यह है कि—जीव और प्राण दोनोंमें एकार्थत्वरूप स्वातन्त्रत्व रह नहीं सकता क्योंकि इसके कारण शीघ्र ही देहपातकी सम्भावना हो सकती है किन्तु वह दोष होगा नहीं क्योंकि देहधारणरूप परम उपकार प्राणके द्वारा ही साधित होता है—यही अभिप्राय है।

६—क्रियाऽभावाधिकरणम्

प्राणमें क्रियाका अभाव

सूत्र—अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति॥ ११॥

सूत्रार्थ—'च' यह आक्षेप हो नहीं सकता अर्थात् 'अकरणत्वात्' प्राण अकरण अर्थात् क्रियाहीन हैं, इसलिए जो यह आक्षेप किया गया है, वह सङ्गत नहीं होता। कारण क्या है? क्योंकि शरीर और इन्द्रियके धारणस्वरूप महा-उपकार इसके द्वारा सम्पन्न होता है, इस अभिप्रायसे। 'दोषः' कोई दोष 'न' नहीं है। इसमें प्रमाण दिखाते हैं—'तथाहि दर्शयति'—क्योंकि श्रुति इस प्रकारसे कहती है॥ ११॥

सूत्रानुवाद—करणका अर्थ क्रिया है और क्रिया-राहित्य ही प्राणका हेतु है, इस मुख्य प्राणकी साधनरूप क्रिया नहीं होती—इस प्रकारका आरोप करना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति ही शरीर एवं इन्द्रियोंको धारण करना आदि प्राणकृत विशेष उपकारोंका उल्लेख करती है॥ ११॥

गोविन्दभाष्य—आक्षेपनिरासाय चशब्दः। करणं क्रिया। अक्रियत्वात् जीवोपकारक्रियाविरहात् यो दोषः सम्भाव्यते स न स्यात् शरीरेन्द्रियधारणादि-लक्षणपरमोपकारसत्त्वादितिभावः। हि यतस्तथा छान्दोग्यश्रुतिर्दर्शयति। *'अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरे'* (छा॰ ५/१/६) इत्यादिना। तस्मात् जीवोपकरणमेव मुख्यः प्राणः। जीवस्य कर्त्तृत्वञ्च भोक्तृत्वञ्च प्रति चक्षुरादीनि राजपुरुषवत् करणानि प्राणस्तु राजमन्त्रिवत् सर्वार्थसाधकतया मुख्योपकरणमिति नास्य स्वातन्त्र्यम्॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्द आक्षेपके निराकरणके लिए प्रयुक्त है। करण शब्दसे क्रियाको समझा जाता है। *'अकरणत्वात्'*—जिसका करण अर्थात् क्रिया नहीं है, वही अकरण है। उसका कारण अर्थात् अकरणत्व शब्दका अर्थ है—क्रियाका अभाव अर्थात् निष्क्रियत्व। इस प्राणमें जीवकी उपकार-साधक क्रियाका अभाव है—इस दोषकी सम्भावना नहीं की जा सकती। अभिप्राय यह है कि प्राण चक्षु आदिके समान क्रिया न करे, तो भी शरीर और इन्द्रियोंके धारणादि रूप महा (परम) उपकारत्व उसमें रहता है। *'तथा हि दर्शयति'*—क्योंकि छान्दोग्यश्रुति इस प्रकारका दिग्दर्शन करती है, यथा—*'अथ ह प्राणा अहं श्रेयसे व्यूदिरे'* (छा॰ ५/१/६) अर्थात् इस पर प्राणने कहा—समस्त श्रेयोंकी प्राप्तिके विषयमें मैं ही कारण हूँ। अतएव ज्ञात हुआ कि प्राण मुख्य जीवोपकरण है। राजकर्मचारी जिस प्रकार राजाके कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनोंका ही सम्पादन करता है, चक्षुः इत्यादि इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार जीवके कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्वको सम्पादित करती हैं। प्राणं राजमन्त्रीके समान है जो समस्त विषयोंको साधित करता है, इस सर्वार्थ साधक रूपमें यह मुख्य उपकरण है और इसी कारणसे उसका (प्राणका) स्वातन्त्र्य नहीं है॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—अकरणत्वादिति। अथ हेति। अहं श्रेयसे स्व-स्वश्रैष्ठ्याय प्राणा व्यूदिरे विवादं चक्षुरित्यर्थः। तान् वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथाहमेवैतत् पञ्चधात्मानं विभज्यैतत् बाणमवष्टभ्य विभावयामीत्युक्तं प्राक्। बाणं शरीरम्। अत्र प्राणहेतुका देहादिस्थितिर्विस्फु

सूक्ष्मा-सार—*'अकरणत्वात्'* इत्यादि सूत्रमें *'अथ ह प्राणा अहम् श्रेयसि व्यूदिरे'* (छा॰ ५/१/६) इसका अर्थ है कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ', इस प्रकार श्रेष्ठत्वको लेकर विवाद कर

रही थीं। तब श्रेष्ठ (मुख्य) प्राण ने उनसे कहा, तुमलोग मोहको (अभिमानको) प्राप्त मत होओ अर्थात् भूल मत करो, अपने-अपने श्रेष्ठत्वके अभिमानका त्याग करो। मैं ही पाँच प्रकारसे स्वयंको विभक्त करके इस शरीरको धारण करके इसकी रक्षा करता हूँ—यह बात प्राणने पहले भी कही थी—श्रुतिमें उक्त 'बाण' शब्दका अर्थ है शरीर। श्रुतिमें प्राण द्वारा शरीरादिकी स्थिति स्पष्ट रूपसे प्रकाशित हो रही है।

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई इस प्रकार कहे कि प्राणको चक्षुः आदि इन्द्रियके समान जीवका उपकरण स्वीकार करनेपर चक्षुरादि इन्द्रियोंके समान ही उसकी उपकारक-क्रिया भी रहेगी, किन्तु ऐसी कोई क्रिया तो प्राणमें देखी नहीं जाती, इसलिए प्राणकी बारहवीं इन्द्रियके रूपमें गणना करनी होगी—निष्कर्षतः चक्षुरादि इन्द्रियोंके साथ प्राणकी समानताका यह विचार युक्तियुक्त नहीं है। इस आक्षेपके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि अकरणता (क्रिया-रहितता) के कारण दोष माना नहीं जायेगा—श्रुति यही कहती है।

प्राण विशेष रूपसे देह, इन्द्रियादिके धारण रूपमें परम उपकार करता है। छान्दोग्यमें देखा जाता है—*'अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरे'* (छा॰ ५/१/६)।

अतएव मुख्य प्राण जीवका उपकरण ही है। जीवके कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व कार्यमें नेत्रादि इन्द्रियाँ राजपुरुषके समान करणस्वरूप हैं और प्राण राजाके शरीरके समान सर्वार्थसाधकके रूपमें मुख्य उपकरण है, इसलिए प्राण स्वातन्त्र्यहीन है। देहकी रक्षा प्राणका मुख्य कार्य है। श्रुति कहती है—*'प्राणेन रक्षन्नवरं कु* अर्थात् इस निम्न देहनामक गृहकी प्राण द्वारा रक्षा करता हुआ जीव सोता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

श्रोत्राद्दिशो यस्य हृदश्च खानि
प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥

(श्रीमद्भा॰ ८/५/३८)

अर्थात् जिन भगवान्‌की श्रवणेन्द्रियसे दसों दिशाएँ, हृदयसे इन्द्रियगोलक और नाभिमण्डलसे प्राण, इन्द्रिय, मन, वायु एवं शरीरका आश्रय आकाश उत्पन्न हुआ है, वे महाविभुति सम्पन्न भगवान् मेरे प्रति प्रसन्न हों।

श्रीलचक्रवर्त्तीपादकी टीकामें देखा जाता है—

'नाभ्यां सकाशाद् यत् कीदृशं प्राणः पञ्चवृत्तिञ्च इन्द्रियाणि च आत्मा मनश्च असवो नागकूर्मादयः शरीरञ्च तेषां केतमाश्रयभूतम्।'

अर्थात् जिनकी नाभिसे आकाश उत्पन्न हुआ है, कैसा आकाश? इसपर कहते हैं—जो पञ्च प्राण, इन्द्रिय, मन, नागकूर्मादि पञ्चवायु और शरीर—इन सबका आश्रयभूतस्वरूप है॥ ११॥

अवतरणिका भाष्य—यः प्राणः स वायुः। स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान (बृ॰आ॰ १/५/३) इति श्रुतम्। तत्र किमेते अपानादयः प्राणाद्भिद्यन्ते उत तद्वृत्तय एवेति वीक्षायां संज्ञाभेदात् कार्यभेदाच्च भिद्यन्त इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—श्रुतिमें कहा है कि *'यः प्राणः स वायुः'* (बृ॰आ॰ १/५/३) अर्थात् जो प्राण है, वह वायु है और यह वायु पाँच प्रकारकी है—यथा प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। यहाँ संशय यह है कि ये अपानादि वायु क्या प्राणवायुसे भिन्न हैं अथवा उस प्राणकी अवस्था (वृत्ति) विशेष हैं। इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि नहीं, ये अपानादि वायु प्राणकी वृत्ति नहीं है, क्योंकि इनकी तो अपानादि विभिन्न संज्ञा (नाम) हैं, इनकी कार्यकारिता भी विचित्र है। अतएव संज्ञा भेद और कार्यभेदकी दृष्टिसे ये प्राणसे भिन्न हैं। इस मतपर सिद्धान्ती भाष्यकार श्रीव्यासदेव कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—बाह्यो वायुरेवावस्थान्तरेण प्राणोऽभूदिति चिन्तितम्। अथापानादयो ये चत्वारः श्रूयन्ते ते किं वायोरेवावस्थाविशेषाः प्राणादन्ये भवन्त्युत प्राणस्यैव स्थानान्तरवृत्तेरपानादिरूपत्वमिति चिन्त्यते। यः प्राणः स वायुः पञ्चविध इतिवाक्ये वायुरेव प्राणापानादिपञ्चावस्थः प्रतीतः। प्राणोऽपान इतिवाक्ये तु प्राणवृत्तयोऽपानादयः प्रतीयन्ते। तदनयोर्विरोधसन्देहेऽर्थभेदात् विरोधे प्राप्ते स एष वायुः पञ्चविध इत्यत्र स एष प्राणावस्थां गतो वायुरिति व्याख्यानात् नास्ति विरोध इति भावेन न्यायस्य प्रवृत्तिः। यः प्राण इत्यादिना।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इससे पूर्व बाह्य वायु ही अवस्था-विशेष द्वारा प्राणस्वरूप है, यह विचार किया गया था। अब अपानादि जो अन्य चार वायुका वर्णन सुना जाता है, वे चारों क्या वायुके ही अवस्था-विशेष प्राणसे स्वतन्त्र हैं अथवा प्राण ही स्थान विशेषमें वर्त्तमान होकर अपानादि रूप हो जाते हैं यह विचारित हो रहा है। *'यः प्राणः स वायुः पञ्चविधः'* इति जो प्राण है, वह पाँच प्रकारका है—इस वाक्यमें वायु ही प्राण अपान इत्यादि पाँच प्रकारकी अवस्थाओंसे युक्त है, यह प्रतीत होता है, किन्तु 'प्राणोऽपानः' इत्यादि वाक्यमें अपानादि प्राणकी ही वृत्ति (अवस्था) विशेष प्रतीत होते हैं। तो इस प्रकारसे दोनोंका विरोध है कि नहीं? इस सन्देहपर पूर्वपक्षका मत है—विरोध होगा क्योंकि दोनोंका अर्थ अलग-अलग है। उत्तरपक्षी कहते हैं—*'स एव वायुः पञ्चविधः'*—इस वाक्यकी व्याख्या इस प्रकारसे है—जो यह प्राणावस्थाप्राप्त वायु है, इसमें और विरोध नहीं है, इस अभिप्रायसे इस अधिकरणका आरम्भ *'य प्राणः'* इत्यादि वाक्यसे हो रहा है।

७—मनोवत्पञ्चवृत्याधिकरणम्

सूत्र—पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते॥ १२॥

सूत्रार्थ—'पञ्चवृत्तिः' एक ही प्राण हृदय इत्यादि स्थानोंमें पाँच भागोंमें रहकर विभिन्न कार्य करता है। 'मनोवद्व्यपदिश्यते' जिस प्रकार एक मन काम, सङ्कल्प इत्यादि स्वरूपोंमें विभिन्न नामोंसे संज्ञित होता है, उसी प्रकार प्राण, अपानादि विभिन्न नामोंसे अभिहित होता है॥ १२॥

सूत्रानुवाद—जिस प्रकार काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा आदि मनकी विशेष वृत्तियाँ हैं, उसी प्रकार अपानादि भी प्राणकी पाँच वृत्तियाँ हैं॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—एक एव प्राणो हृदयादिषु स्थानेषु पञ्चधा वर्त्तमानो विलक्षणानि कार्याण्यावहतीति पञ्चवृत्तिः। स एव तथा व्यपदिश्यते। तस्मात् प्राणवृत्तय एव ते न ततो भिद्यन्ते। कार्यभेदनिमित्तः संज्ञाभेदः। स्वरूपभेदस्तु

नास्त्यतः पञ्चस्वपि प्राणशब्दः। *'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान इति। एतत् सर्वं प्राण एव'* इति वचनाच्च। बृहदारण्यके—*'मनोवत् कामः सङ्कल्पो विकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीः'* (१/५/३) इत्येतत् सर्वं मन एवेति। तत्रैव संज्ञाभेदे कार्यभेदेऽपि यथा कामादयो मनसो न भिद्यन्ते किन्तु तस्य वृत्तय एव तद्वत् बहुवृत्तित्वमात्रेणायं दृष्टान्तः। योगशास्त्रे मनोऽपि पञ्चवृत्तिकमुक्तम्। तदभिप्रायेण वा निदर्शनमित्येके॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—एक ही प्राण जीवके हृदय इत्यादि स्थानोंमें रहकर विलक्षण (विभिन्न) कार्य करता है, इसीलिए यह प्राण पञ्चवृत्ति कहलाता है। यह पञ्चवृत्ति प्राण ही अपानादि नामोंसे शब्दित होता है, अतएव ये अपानादि एक ही प्राणकी वृत्ति विशेष हैं—वे प्राणसे भिन्न नहीं हैं। तब जो प्राणके विभिन्न नाम हैं, अर्थात् संज्ञा-भेद हैं वे कार्य-भेदके कारण (निमित्तक) हैं, स्वरूपतः उनमें कोई भेद नहीं है। अतएव पाँचोंकी प्राण-स्वरूपता है—यथा प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। श्रुति भी कहती है—ये सब प्राण ही हैं। बृहदारण्यकमें मनको पृथक्-पृथक् संज्ञाओंसे (नामोंसे) संज्ञित किया गया है, यथा *'मनोवत् कामः सङ्कल्पो इति'* अर्थात् इच्छा, सङ्कल्प, सन्देह, श्रद्धा (शास्त्रार्थमें दृढ़ प्रत्यय), धैर्य, असन्तोष, लज्जा, बुद्धि और भय—ये समस्त मन हैं। इस मन विषयमें विभिन्न संज्ञा (नाम) और विभिन्न कार्य रहनेपर भी जिस प्रकार काम इत्यादि मनसे पृथक् (भिन्न) हीं हैं, किन्तु वे मनकी वृत्ति-विशेष हैं, इसी प्रकार। प्राणादिको भी प्राणकी वृत्ति जानना चाहिये। बहु-वृत्तित्वरूप धर्ममें ही प्राणके साथ मनका दृष्टान्त दिखाया गया है। योगशास्त्रमें—पातञ्जल दर्शनमें मनको पञ्चवृत्तियोंसे सम्पन्न कहा है। कपिल भी मनकी पाँच वृत्तियाँ मानते हैं। इन दोनोंके अनुसार प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये योगशास्त्रके सूत्र (योगशास्त्र १/६) हैं। इस अभिप्रायसे ही प्राणका दृष्टान्त है—कोई-कोई व्याख्याकार ऐसा कहते हैं॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—पञ्चेति। स्फु
कामादिनवकं मनोरूपमित्यर्थः। योगशास्त्रे मनोऽपीत्यर्थः। कपिलेन पतञ्जलिना च मनसः पञ्चवृत्तयः कथिताः। प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय इति तत्सूत्रात्॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार—पञ्चवृत्तिरित्यादि सूत्रमें *'एक एव प्राण इत्यादि अयं दृष्टान्तः'*—यहाँ तक ग्रन्थका अर्थ सुस्पष्ट है। बृहदारण्यकमें (१/५/३) *'मनोवत्'* इत्यादि भाष्यमें काम इत्यादि नौ पदार्थ मनःस्वरूप हैं—यह अर्थ है—*'योगशास्त्रे मनोऽपि'* इसका अर्थ यह है कि कपिल और पतञ्जलि मनकी पाँच वृत्तियाँ बतलाते हैं यथा प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—यह योगशास्त्रका सूत्र है; तदनुसार प्रमाणादि पाँच वृत्तियोंसे अवगत हुआ जा सकता है॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बृहदारण्यकोपनिषदमें देखा जाता है कि *'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत् सर्वं प्राण एव'* (बृ॰आ॰ १/५/३) एक प्राण हृदय इत्यादिमें पाँच प्रकारसे कार्य करता है। पूर्वपक्षवादी यदि कहते हैं कि पूर्व कथित प्राणसे अपानादिको भिन्न स्वीकार करना होगा, क्योंकि इनके संज्ञाभेद और क्रियाभेद दिखायी देते हैं। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि एक ही प्राण हृदयादिमें पाँच प्रकारसे रहकर विभिन्न कार्य करता है। जिस प्रकार मन एक है, फिर भी काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा (सन्देह-ज्ञान) इत्यादि नामोंसे संज्ञित होता है, उसी प्रकार अपानादि भी प्राणकी वृत्ति विशेष हैं। प्राणकी पाँच वृत्ति हैं, यथा निःश्वास ग्रहण करना (प्राणकी), निःश्वास छोड़ना (अपानकी), निःश्वास बन्ध रखकर श्रमसाध्य कार्य करना (व्यानकी), ऊर्ध्व-गमन (उदानकी) और भुक्त द्रव्यको परिपाक करना (पचाना) (समानकी) वृत्ति है। ये सब मुख्य प्राणसे भिन्न नहीं हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः।

(श्रीमद्भा॰ ११/७/३९)

अर्थात् मैंने शरीरके भीतर रहनेवाले वायु-प्राणवायुसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह रूप, रस आदि विषयोंकी अपेक्षाके बिना ही जीवन रक्षाके लिए उपयोगी रूपमें केवलमात्र आहार आदि प्राप्तकर ही सन्तुष्ट हो जाता है, मनस्वी अर्थात् बुद्धिमान पुरुषोंको उसी प्रकार रहना चाहिये।

प्राणापानौ संनिरुध्यात् पूरकु
यावन्मनस्त्यजेत् कामान् स्वनासाग्रनिरीक्षणः॥
(श्रीमद्भा॰ ७/१५/३२)

अर्थात् जब तक मन सङ्कल्प-विकल्पोंको छोड़ न दे, तब तक नासिकाके अग्रभागपर अपनी दृष्टि स्थिर करके पूरक-रेचक-कु द्वारा प्राण एवं अपान वायुकी गतिको रोके॥ १२॥

अवतरणिका भाष्य—श्रेष्ठः प्राणो विभुरणुर्वेति वीक्षायां *'सम एभिस्त्रिभिलोकैः'* (बृ॰आ॰ १/३/२२) इत्यादिश्रुतेर्विभुरिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—श्रेष्ठ प्राण विभु है अथवा अणु है—इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि प्राण विभु है, क्योंकि *'सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः'* (बृ॰आ॰ १/३/२२) अर्थात् प्राण इन तीन लोकोंके समान है—इत्यादि श्रुति द्वारा इस प्राणका विभुत्व स्थिर होता है—पूर्वपक्षीके इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—सम एभिस्त्रिभिर्लोकैरित्यनन्तरं समोऽनेन सर्वेण प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितं सर्वं हीदं प्राणेनावृतमिति वाक्यखण्डो बोध्यः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'सम एभिस्त्रिमिलोकैः'* (बृ॰आ॰ १/३/२२) इसका परवर्ती अंश है यथा—*'समोऽनेन सर्वेण, प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितं सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्'*—इस वाक्यांशको भी लेना चाहिये, ऐसा न करनेपर प्राणके व्याप्तित्व अर्थमें प्रयुक्त विभुत्वसे अवगत नहीं हुआ जा सकता।

८—श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम्
श्रेष्ठ होनेपर भी प्राण अणु-परिमाण

सूत्र—अणुश्च॥ १३॥

सूत्रार्थ—'च' श्रेष्ठ होनेपर भी 'अणुः'—प्राण अणु-परिमाण है॥ १३॥

सूत्रानुवाद—प्राणका प्रभुत्व होनेपर भी प्राण अणु-परिमाणवाला है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—श्रेष्ठोऽप्यणुरेव उत्क्रान्तिश्रुतेः। (बृ॰आ॰ ४/४/२) व्याप्तिश्रुतिस्तु सर्वेषां प्राणिनां प्राणाधीनस्थितिकतया नेया॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रेष्ठ प्राण भी अणु-परिमाण (अति सूक्ष्म) ही है, क्योंकि उसका जीव-देहसे उत्क्रमण सुना जाता है। तब जो *'सम एभिस्त्रिभिः'* इत्यादि श्रुतिमें उसका विभुत्व सुना जा रहा है, इसका उपाय क्या है? वह भी हैं—'व्याप्ति श्रुतिः' इत्यादि द्वारा दिखाते हैं समस्त प्राणियोंकी स्थिति प्राणके अधीन है, अतएव व्याप्ति (शरीरमें उसकी व्यापकता) है। स्वरूपतः प्राण है अणु-परिमाण ही। 'व्याप्ति श्रुति' की इसी प्रकार व्याख्या करनी चाहिये॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—अणुश्चेत्यादि विशदार्थम्॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार—'अणुश्च' इत्यादि सूत्रका भाष्य सुबोध्य है॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस स्थलपर एक और पूर्वपक्ष उत्थापित करते हैं कि ये मुख्य प्राण विभु हैं अथवा अणु? पूर्वपक्षी कहते हैं कि उसे (प्राणको) विभु ही कहना होगा, क्योंकि श्रुतिमें देखा जाता है कि प्राण त्रिलोकके समान है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि यह मुख्य प्राण अणु ही है। भाष्यकारने कहा है कि उत्क्रान्ति श्रुतिके अनुसार प्राणको अणु ही कहा जायेगा, क्योंकि उसकी उत्क्रान्ति आदि है। बृहदारण्यकमें देखा जाता है—*'शरीरदेशेभ्यस्त-मुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति'* (बृ॰आ॰ ४/४/२) मृत्युके समय प्राण देहसे निकल जाता है, उसके साथ अन्य प्राण भी निकल जाते हैं, इसलिए इसे अणु ही कहा जायेगा। उत्क्रमण आदिके वर्णनसे प्राणकी परिमिति निश्चित हो जाती है। *'प्राणे सर्वे प्रतिष्ठितम्'* प्राणमें ही सब स्थित हैं, इसका तात्पर्य यह है कि प्राणीमात्रकी स्थिति ही प्राणाधीन है, यह बात उसकी प्रभुता बतानेके लिए ही है, विभुत्व कहनेके लिए नहीं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु,
प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान्।

दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुन-
र्वक्त्रान्मुकु

(श्रीमद्भा॰ १०/१२/३२)

मस्तकके उसी मार्गसे प्राणोंके साथ-साथ समस्त इन्द्रियाँ भी बाहर निकल आयीं। उसी समय भगवान् मुकु
ग्वाल-बालोंको अपनी अमृतमयी दृष्टिसे पुनः जीवित कर दिया और स्वयं उन्हें साथ लेकर असुरके मुखसे बाहर निकल आये॥ १३॥

अवतरणिका भाष्य—सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको जागर्त्तीत्यादौ मुख्यप्राणस्य प्रवृत्तिः श्रूयते। सप्तेमे लोका येषु सञ्चरन्ति प्राणा (मु॰ २/१/८) इत्यादौ गौणप्राणानाञ्च तत्र तानि सप्राणानि। इन्द्रियाणि स्व-स्वकार्य्याय स्वयं प्रवर्त्तेरन्नुतैषां प्रेरकोऽन्योऽस्ति? स च देवतागणो जीवः परो वेति वीक्षायां स्वयमेव तानि प्रवर्त्तेरन् कार्यशक्तियोगात् देवतागणो वा तत्प्रवर्त्तकोऽस्तु। *'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्'* (ऐ॰ १/२/४) इत्यादि श्रुतेः। जीवो वा तद्भोगसाधनत्वादित्येवं प्राप्ते—

अवतरणिकाभाष्यानुवाद—'समस्त वाक् इत्यादि इन्द्रियोंके सुषुप्तिकालमें निष्क्रिय हो जानेपर एक प्राण ही जागता है अर्थात् सक्रिय रहता है' इत्यादि श्रुतिमें मुख्य प्राणकी प्रवृत्ति अथवा सक्रियत्व सुना जाता है, और भी सुना जाता है कि *'सप्तेमे लोका येषु सञ्चरन्ति प्राणाः'* (मु॰ २/१/८) अर्थात् इन समस्त सप्तलोकोंमें प्राण सञ्चरण करते हैं इत्यादि, इस श्रुतिमें गौण प्राणके सम्बन्धमें भी सुना जाता है कि प्राणके साथ इन्द्रियाँ सप्तलोकोंमें सञ्चरण करती हैं। अब संशय यह है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यके निर्वाहके लिए स्वयं ही प्रवृत्त होती हैं अथवा उन्हें कोई दूसरा प्रेरित करता है, यदि प्रेरक कोई और है तो वह है कौन? क्या वह इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवतागण हैं? जीव हैं? अथवा परमेश्वर हैं? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि प्राणके साथ इन्द्रियाँ स्वयं ही कार्यमें प्रवृत्त होती हैं अथवा कार्यशक्तिके सम्बन्धके कारण देवताओंको उनका प्रवर्त्तक कहा जायेगा क्योंकि इसके मूलमें श्रुति है यथा *'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदि'* (ऐ॰ १/२/४) अर्थात् अग्निने वाक्-स्वरूप होकर मुखमें प्रवेश किया तो देवतागण उसके प्रवर्त्तक हैं अथवा जीव उनका

(इन्द्रियोंका) प्रेरक है क्योंकि वे जीवका भोग-साधन हैं। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—गौणमुख्यभेदेन द्विविधा प्राणा निरूपिताः। प्रसङ्गात् तेषां प्रवृत्तिः किं निमित्तेति प्रसङ्गसङ्गत्या तन्निरूपणम्। प्राणाः प्रवर्त्तन्त इत्येतद्बोधकम् देवगणो जीवगणश्च तत्प्रवर्त्तक इत्येतद्बोधकं परमात्मा सर्वप्रवर्त्तक इत्येतद्बोधकञ्च वाक्यं दृष्टम्। तेषां विरोधसन्देहेऽर्थभेदात् विरोधे प्राप्ते प्राणप्रवृत्तिबोधके देवादिप्रवर्त्तकताबोधके च वाक्ये परमात्मप्रेरितास्ते प्रवर्त्तका भवन्ति इति व्याख्याने नास्ति विरोध इति भावेन न्यायस्य प्रवृत्तिः सुप्तेष्वित्यादिना। अग्निरिति। अग्नेर्वाग्भावस्तदधिष्ठातृत्वमेव नान्यदसम्भवात्। जीवो वेति। स यथा महाराज इत्यादिश्रुतेरितिभावः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्राणका दो प्रकारसे भेद निरूपित हुआ है, एक मुख्य प्राण और दूसरा गौण प्राण। प्रसङ्ग क्रममें यह बात आती है कि इनकी प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टा किसलिए है? इसके उत्तरमें कहते हैं—प्रसङ्ग-सङ्गति द्वारा उनका निरूपण है। एक वाक्य—'प्राण स्वयं प्रवृत्त है'—इसका बोधक है और दूसरा वाक्य 'देवगण और जीवगण इन्द्रियोंके प्रवृत्तिजनक हैं'—इसका प्रतिपादक है। और भी एक वाक्य है—'परमेश्वर सबके प्रवर्त्तक हैं'—इसका ज्ञापक है अतः इन तीनों वाक्योंका विरोध है कि नहीं?—इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—जब इनका अर्थ भेद है तब विरोध होगा ही—इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं—प्राणकी स्वतः प्रवृत्ति बोधक वाक्यमें एवं देवता इत्यादिके प्रवर्त्तकता—बोधक वाक्यमें यदि व्याख्या की जाय कि परमात्मा द्वारा प्रेरित होकर वे प्राण और देवता इन्द्रियोंके प्रवर्त्तक हैं, तब कोई विरोध रहता नहीं है—इसी अभिप्रायसे इस अधिकरणका आरम्भ *'सुप्तेषु इत्यादि'* ग्रन्थ द्वारा हो रहा है; *'अग्निर्वाग भूत्वा'* इत्यादि अग्निकी वाक्रूप प्राप्तिका अर्थ है—वाक्यका ही अधिष्ठातृत्व है—इसके अतिरिक्त अन्य कु नहीं नहीं सकता क्योंकि अग्निकी वाक्रूपता असम्भव है। *'जीवो वा तद् भोगसाधनत्वात्'* इति इसका तात्पर्य है—वह जीव महाराजाके समान सबका सञ्चालन करता है इत्यादि श्रुतिके कारण।

९—ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम्

प्राणका प्रेरक कौन

सूत्र—ज्योतिराद्याधिष्ठानन्तु तदामननात्॥ १४॥

सूत्रार्थ—'ज्योतिराद्याधिष्ठानन्तु' ज्योतिर्मय ब्रह्म ही उनका आदि अधिष्ठान अर्थात् मुख्य प्रवर्त्तक है, क्योंकि 'तदामननात्' उन अन्तर्यामीका प्राण इत्यादिका प्रवर्त्तकत्व श्रुतिमें देखा जाता है। अतएव पूर्वपक्षी की यह आशङ्का ठीक नहीं है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—अग्नि आदि देवताओंका प्राण एवं इन्द्रिय विषयक अधिष्ठान ज्योतिर्ब्रह्मके सङ्कल्पसे होता है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्कानिरासार्थः। ज्योतिर्ब्रह्मैव तेषामाद्यधिष्ठानं मुख्यप्रवर्त्तकम्। कर्त्तरि ल्युट्। कु प्राणेन्द्रियप्रवर्त्तकत्वावगमात्। बृहदारण्यके (३/७/१६) *'यः प्राणेषु तिष्ठन्'* इत्यादिषु देवानां जीवस्य च तत्प्रयोज्यनामेव प्रयोजकता न निवार्यते। स्वतः प्रवृत्तिस्तु न भवेत् जाड्यात्॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'तु' शब्द पूर्वपक्षीकी आशङ्काके निराकरणके लिए प्रयुक्त है। *'ज्योतिर्ब्रह्मैव तेषामाद्यधिष्ठानं मुख्यप्रवर्त्तकम्'* अर्थात् ज्योतिर्मय ब्रह्म ही प्राणादिके मुख्य प्रवर्त्तक हैं। अधिष्ठान शब्द अधिकरण वाच्यमें निष्पन्न होनेसे उसका आश्रय अर्थ होता है, किन्तु अधिष्ठानको कर्त्ता नहीं समझना चाहिये, इसलिए यहाँ 'कर्त्तृवाच्य ल्युट्' प्रत्यय है, जिसका अर्थ है प्रवर्त्तक। किस कारणसे ज्योतिर्ब्रह्म मुख्य प्रवर्त्तक हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'तदामननात्'* अर्थात् अन्तर्यामी ब्राह्मणमें ज्योतिर्मय ब्रह्मको ही प्राण और इन्द्रियका प्रवर्त्तक कहा है। (परमात्मा ही दोनोंके प्रेरक हैं) बृहदारण्यकमें *'यः प्राणेषु तिष्ठन्'* (बृ०आ० ३/७/१६) जो प्राणोंमें रहते हैं, इत्यादि वाक्यमें देवगण (इन्द्रियाधिष्ठात् देवतागण) और जीवगणोंको जो इन्द्रिय-प्रयोजक कहा गया है, वे भी उन ज्योतिर्मय ब्रह्मके प्रयोज्य होनेसे प्रयोजक होते हैं। अतः इसमें इस उक्तिकी कोई असङ्गति नहीं है, किन्तु प्राणादिककी स्वतः प्रवृत्ति (चेष्टा) नहीं होती—क्योंकि वे जड़-अचेतन हैं॥ १४॥

सूक्ष्मा–टीका—ज्योतिराद्यधिष्ठानमिति। तस्यैवेति परमात्मन इत्यर्थः। तत्प्रयोज्यानां परमात्मप्रेरितानाम्। स्वतःप्रवृत्तिस्त्विति प्राणानामिति बोध्यम्॥ १४॥

सूक्ष्मा–सार—*'ज्योतिराद्यधिष्ठानम्'* इत्यादि सूत्रमें *'तस्यैव प्राणेन्द्रियत्यादि'* में 'तस्यैव' का अर्थ है—परमेश्वरका ही। *'तत्प्रयोज्या नामेव प्रयोजकता'* में 'तत् प्रयोज्यानाम्' अर्थात् परमात्मा द्वारा प्रेरित 'स्वतः प्रवृत्तिस्तु' इत्यादि प्राणकी स्वतः प्रवृत्ति (चेष्टा) है, इस प्रकार जानना चाहिये॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः और एक पूर्वपक्ष उपस्थित हुआ है कि क्या इस प्राणका कोई प्रेरक है? अथवा यह स्वयं ही कार्यमें प्रवृत्त होता है? यदि किसी प्रेरकको स्वीकार करते हो तो क्या वे देवगण हैं, अथवा जीव हैं अथवा परमेश्वर हैं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि 'कार्यशक्ति'—योगसे यह स्वतः ही प्रवृत्त होता है, यही कहा जा सकता है अथवा देवताओंको भी प्रेरक कहा जा सकता है, क्योंकि ऐतरेयोपनिषदमें पाठ है—*'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखम् प्राविशत्'* (ऐ॰ २/४) अथवा जीवको भी प्रेरक कहा जा सकता है, क्योंकि यह जीवको भोगोंकी अनुभूति कराता है। इसके उत्तरमें सूत्रकारने सूत्रमें कहा है कि ज्योतिर्मय ब्रह्म ही मुख्य प्रवर्त्तक हैं। ज्योति ब्रह्मका जो प्राण विषयक अधिष्ठान अथवा प्रवर्त्तन है, वह परमात्माके आमनन (अभिमुख्य मनन अर्थात् सङ्कल्प) से होता है।

बृहदारण्यकश्रुतिमें देखा जाता है—

यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद॥ इत्यादि

(बृ॰आ॰ ३/७/१६)

अर्थात् जो प्राणमें रहनेवाले प्राणके भीतर हैं, जिन्हें प्राण नहीं जानता ...।

श्रीमद्भागवत (१२/८/४०) में द्रष्टव्य है—

किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः
संस्पन्दते तमनु वाङ्मनइन्द्रियाणि।
स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्वयोश्च
स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः॥

अर्थात् हे विभो! आपकी प्रेरणासे समस्त प्राणी, ब्रह्मा, महेश्वर एवं हमारे प्राण स्पन्दित होते हैं एवं उन प्राणके स्पन्दनको लक्ष्य करके ही वाक्, मनः और अन्यान्य इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयमें प्रवृत्त हैं, तथापि आप भजनरत पुरुषोंके आत्मबन्धुस्वरूप हैं। मैं आपकी क्या स्तुति करूँ?॥ १४॥

अवतरणिका भाष्य—जीवस्तु तानि भोगार्थमधितिष्ठतीत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—जीव सुख-दुःखादिके भोगके लिए प्राणके साथ इन्द्रियोंका अधिकार अर्थात् अधिष्ठान करता है। यही बात इस सूत्रमें कही जा रही है।

सूत्र—प्राणवत्ता शब्दात्॥ १५॥

सूत्रार्थ—'प्राणवत्ता' प्राणविशिष्ट (युक्त) जीव द्वारा प्राणके साथ इन्द्रियाँ अधिष्ठित होती हैं, क्योंकि 'शब्दात्' इस प्रकारसे श्रुति कहती है॥ १५॥

सूत्रानुवाद—प्राणवान् जीव द्वारा इन्द्रियाँ अधिष्ठित होती हैं अर्थात् प्राणविशिष्ट जीव ही इन सब इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है—यह श्रुतिसे ज्ञात होता है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—प्राणवता जीवेन तानि सप्राणानीन्द्रियाणि संगृह्यन्ते भोगाय। एवं कु *'स यथा महाराजो ज्ञानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्त्तते एवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तत'* (बृ॰आ॰ २/१/१८) इति तत्रैव श्रवणात्। अयमत्र निष्कर्षः। परमात्मनाधिष्ठिता देवा जीवाश्चेन्द्रियाणि अधितिष्ठन्ति। पूर्वे तत्प्रवर्त्तनमात्राय परे तु तैर्भोगाय। तथैव तत्सङ्कल्पादिति॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्राणविशिष्ट जीव द्वारा प्राणके साथ इन्द्रियाँ भोगके लिए संगृहीत होती हैं। इस प्रकारकी उक्तिका क्या प्रमाण है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि शब्द अर्थात् श्रुतिसे यह अवगत होता है। यथा—*'स यथा महाराजोः ... यथा कामं परिवर्त्तते'* (बृ॰आ॰ २/१/१८)। जिस प्रकार महाराज जनपदवासियों (अपने जनपदमें रहनेवाले लोगों) को लेकर अपने राज्यमें इच्छानुसार प्रवृत्त होता है,

उसी प्रकार यह जीवात्मा इस प्राण–समुदायको लेकर अपने अधिष्ठित शरीरमें चेष्टारत रहता है—यह इस श्रुतिमें पठित है। इस विषयमें सिद्धान्त यही है कि परमेश्वर द्वारा अधिष्ठित होकर इन्द्रियाधिष्ठातृ देवतागण और जीव इन्द्रियोंका आश्रय करते हैं। इनमें पूर्वोक्त अर्थात् देवगण इन्द्रियोंके सञ्चालन कार्यमात्रके लिए एवं शेषोक्त (बादमें कहे हुए) अर्थात् जीव इस प्राण द्वारा भोगके लिए इन्द्रियोंका अधिष्ठान (आश्रय) करता है—इस प्रकार परमेश्वरके सङ्कल्पसे ही सब कु घटित होता है॥ १५॥

सूक्ष्मा–टीका—प्राणवतेति। पूर्वे देवाः। परे जीवाः। तैः प्राणैः। तत्सङ्कल्पात् परमात्मसङ्कल्पात्। ननु देवानामिन्द्रियाधिष्ठातृत्वे तेषां तत्साध्यफलभोगापत्तिः। मैवम्। यो यदधितिष्ठति स तत्साध्यं फलं भुङ्क्ते इति व्याप्तेः सारथ्यादौ व्यभिचारात्। नन्वेवं सूर्यादिदेवतानां चक्षुरादीनि के देवा अधितिष्ठेयुः अन्ये सूर्यादयः इति चेन्न अनवस्थानात् प्रमाणाभावाच्च। तस्मान्नारायणस्तेषामधिश्ठातेति बोध्यम्॥ १५॥

सूक्ष्मा–सार—‘*प्राणवत्ता*’ इत्यादि सूत्रके भाष्यमें ‘*पूर्व तत्प्रवर्त्तन मात्रायेति*’ में पूर्वेका अर्थ है ‘इन्द्रियाधिष्ठातृदेवगण’ ‘*परे तु तैर्भोगायेति*’ में परे का अर्थ है—शेषोक्त जीवगण और ‘तैः’ का अर्थ है ‘प्राणोंके द्वारा।’ ‘तथैव तत्सङ्कल्पात्’—इस प्रकारका परमेश्वरका सङ्कल्प रहनेके कारण। इस क्षण आपत्ति यह है कि—देवता यदि इन्द्रियके अधिष्ठाता हैं तो उन देवताओंके इन्द्रियसाध्य दर्शनादि फल–भोग हों तो उसका उत्तर है नहीं, ऐसा नहीं होता क्योंकि जो जिसे अधिष्ठान करके रहता है वह उसके द्वारा निष्पाद्य (निष्पन्न) फल भी प्राप्त करता है इस व्याप्तिका सारथि इत्यादिमें व्यभिचार (पार्थक्य दोनोंका अलग होना) है अर्थात् सारथि रथका अधिष्ठान करता है किन्तु रथ–साध्य देशान्तर प्राप्ति आरोही की होती है। अतएव व्यभिचार–दोषमें अनुमान् दूषित है। प्रश्न है कि सूर्यादि देवताओंमें कोई–कोई देवता–चक्षुः इत्यादि इन्द्रियका अधिष्ठान करके हैं? यदि कहो, अन्य–सूर्यादि, यह कहा नहीं जा सकता, इसमें अनवस्था दोष होता है एवं प्रमाण भी नहीं है। अतएव श्रीनारायण ही उनके अधिष्ठाता हैं। इसमें कोई अनवस्था नहीं है। अन्यथा चक्षु–आदिका प्रवर्त्तक अन्य जो सूर्यका चालक

होगा, उसका एक परिचालक होना आवश्यक है और उसका भी परिचालक आवश्यक है, इस प्रकारसे अनवस्था हो पड़ती है॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार और भी कहते हैं कि प्राणवान जीव द्वारा इन्द्रियाँ अधिष्ठित होती हैं—यह श्रुतिमें पाया जाता है। बृहदारण्यकमें कहा गया है—*'यथा महाराजो जानपदान्गृहीत्वा स्वे जनपदे यथा कामं परिवर्त्ततैवमेवैष'* (बृ॰आ॰ २/१/१८) अर्थात् जिस प्रकार कोई महाराज अपने प्रजाजनोंको लेकर (स्वाधीनकर) अपने देशमें यथेच्छ विचरण करता है, उसी प्रकार परमेश्वर द्वारा अधिष्ठित होकर देवगण और समस्त जीव इन्द्रियोंका आश्रय करते हैं। श्रीपाद रामानुजाचार्य भी कहते हैं—प्राणयुक्त जीवके साथ अग्नि इत्यादि देवगण जो प्राणमें अधिष्ठित रहते हैं—यह सब परमेश्वरके सङ्कल्पसे ही होता है। इन इन्द्रियाभिमानी देवताओं और जीवात्माकी अपने-अपने कार्योंमें परमपुरुष परमात्माकी इच्छाशक्तिकी ही प्रेरणा रहती है। वे आगे कहते है—

'योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।' (बृ॰आ॰ ३/७/५)

अर्थात् जो अग्निमें स्थिर होकर भी अग्निसे भिन्न हैं, अग्नि उन्हें नहीं जानता, अग्नि ही उनका शरीर है, जो अग्निके अन्तर्यामी रूपसे शासन करते हैं, वे अन्तर्यामी परमात्मा अमृत हैं।

इसी प्रकार अन्यत्र भी,

'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यो भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम।'

अर्थात् परमात्माके भयसे वायु बहती है, सूर्य उदित होते हैं, उनके भयसे ही अग्नि, इन्द्र तथा मृत्युसे सब अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं।

तथा,

'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।'

अर्थात् हे गार्गी! इन्हीं अविनाशी परमात्माके शासनमें सूर्य-चन्द्र यथास्थान टिके रहते हैं, टस-से-मस नहीं होते।

इस प्रकार इन इन्द्रियाभिमानी देवताओंका ईश्वराधिष्ठितत्व, ईश्वर-प्रेरितत्व और ईश्वराधीन कार्यकर्त्तृत्व सिद्ध होता है।

स्मृति वचन भी है—*'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'*—हे अर्जुन! सबके हृदयमें स्थित होकर मैं ही सबको प्रेरित करता हूँ।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः।
शेते काम-लवान् ध्यायन् ममाहमिति कर्मकृत्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/२९/२५)

जीव स्वरूपतः निर्गुण है, फिर भी क्षुधा-पिपासादि प्राणधर्म, अन्धत्वादि इन्द्रियधर्म, कामादि मनोधर्मको अपने जीवात्मास्वरूपमें आरोपित करते हुए देहादिमें 'मैं' और 'मेरे' की बुद्धि करके क्षुद्र विषय-सुखोंका चिन्तन करता है और उनके लिए तुच्छ कर्मोंमें प्रवृत्त होकर इस देहमें सौ वर्षों तक पड़ा रहता है॥ १५॥

अवतरणिका भाष्य—न चैतत् कदाचित् व्यभिचरतीत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—उन परमेश्वर द्वारा इन्द्रिय इत्यादिकी प्रेरणा कभी भी व्यभिचरित नहीं होती। यही कहते हैं—

सूत्र—तस्य च नित्यत्वात्॥ १६॥

सूत्रार्थ—'तस्य च'—उन परमात्माके अधिष्ठानका भी 'नित्यत्वात्'—नित्यत्व है॥ १६॥

सूत्रानुवाद—सभीका परमात्माके साथ जो अधिष्ठान है, वह नित्य है, उन्हींके सङ्कल्पसे जीवादि सारे कार्य करते हैं॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—तस्य सर्वकर्मकपरमात्माधिष्ठानस्य तत्स्वरूपानुबन्धित्वेन नित्यत्वात् तत्सङ्कल्पादेव तेषामधिष्ठातृत्वम्। मुख्याधिष्ठातृत्वन्तु तस्यैवेति मन्तव्यम् अन्तर्यामिब्राह्मणात्॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—समस्त कर्मोंके प्रवर्त्तक परमेश्वरका अधिष्ठान उनके परमात्मा-स्वरूपानुबन्धित्वके कारण नित्य है। इसलिए उनके सङ्कल्पसे देवताओंका अधिष्ठातृत्व अर्थात् इन्द्रियादिकी परिचालना

होती है। अधिष्ठातृत्व प्रधान है, किन्तु वह परमेश्वरका ही है, यह जान लेना चाहिये। अन्तर्यामी ब्राह्मणमें यही कहा गया है॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—तस्य चेति। तेषां देवानाम्। तस्यैव परमात्मनः। अन्तर्यामीति। तत्रामृतोऽन्तर्यामीत्यस्य नित्यमन्तर्यामीति व्याख्यानात् उक्तव्याख्यानं सुष्ठु॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार—*'तस्य च नित्यत्वात्'* इस सूत्रके भाष्यमें *'तेषाम् अधिष्ठातृत्वम् इति'* में 'तेषाम्' का अर्थ है 'इन्द्रियाधिष्ठातृ देवतागणोंका' *'मुख्याधिष्ठातृत्वन्तु तस्यैव'* इति में 'तस्यैव' का अर्थ है—परमात्माका ही, *'अन्तर्यामीब्राह्मणदिति'* में 'तत्रामृतोऽन्तर्यामी'—इसकी व्याख्या है नित्य ही अन्तर्यामी है—इस प्रकारकी व्याख्याके कारण कोई असङ्गति नहीं है और यही व्याख्या समीचीन है॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—परमेश्वर द्वारा इन्द्रियोंकी परिचालनामें मुख्य कर्त्तृत्वके विषयमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि परमात्माका अधिष्ठान नित्य है, क्योंकि उनके सङ्कल्पसे ही इन्द्रियाभिमानी देवताओं द्वारा इन्द्रियोंकी परिचालना होती है। इन्द्रियाधिष्ठातृ रूपमें जिन देवताओंका वर्णन मिलता है, वह गौण है, मुख्य कर्त्तृत्व परमात्माका ही है। अन्तर्यामी ब्राह्मणमें भी यही बात कही गयी थी, वह भी पूर्व वर्णित हुई है।

श्रुति कहती है—*'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्'*—अर्थात् उसकी रचना कर उसीमें प्रविष्ट हो गये, उसमें प्रवेश करके सत् और त्यत् हुए।

स्मृतिमें भी कहा है—*'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।'* (श्रीगीता १०/४२)

अर्थात् मैं अपने एकांशसे इस समस्त जगत्को धारण करके अवस्थित हूँ।

प्रस्तुत श्लोकको टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकु जो कहा है, उसका सार है—'अधिष्ठानत्वको विशेष भावसे धारणकर, अधिष्ठातृत्वके कारण अधिष्ठित होकर, नियन्ताके रूपमें इसे अधीनकर, व्यापकत्वके रूपमें व्याप्त होकर, कारणत्वके रूपमें सृष्टि करके मैं अवस्थित हूँ।'

इसी कारण उनका अनुप्रवेश स्वरूपानुबन्धि (वास्तविक रूपसे अभिन्न रूपवाला) कहा गया है।

बृहदारण्यकीय श्रुति है—*'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् ... आत्मान्तर्याम्यमृतम्।'* (बृ०आ० ३/७/१५)

अर्थात् जो समस्त भूतोंमें स्थित हैं, वे तुम्हारी आत्मा अन्तर्यामी अमृत हैं।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण ओजः सहो बलम्।
विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णुमधीश्वरम्॥

त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृष्टानामपि यच्च सत्।
कालः कलयतामीशः पर आत्मा तथात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०/५६/२६-२७)

अर्थात् ऋक्षराज जाम्बवानने कहा—प्रभो! मैं समझ गया कि आप वही हैं, जो समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप हैं। इन प्राणियोंमें जो इन्द्रिय बल, हृदय बल और देह बल है—आप ही उसके स्वरूपभूत हैं। आप ही पुराणपुरुष, सर्वान्तर्यामी और विष्णु (सर्वव्यापक) हैं। आप ब्रह्मादिसे लेकर इस सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करनेवाले हैं। जितनी भी सृष्ट वस्तुओंके मध्य जो सत् है, इसके भी कारण आप ही हैं। इसलिए आप पुराणपुरुष रूपमें और यम इत्यादि संहारकर्त्ताओंके भी काल महाकाल कहलाते हैं। आप ही प्रभावशाली परमेश्वरके रूप हैं। और समस्त जीवोंके अन्तर्यामी भी आप ही हैं॥ १६॥

अवतरणिका भाष्य—अथ पूर्वस्मिन् विषये विमर्शान्तरम्। तत्र प्राणशब्दिताः सर्वे इन्द्रियाण्युत श्रेष्ठेतरे इति संशये प्राणशब्दबोध्यत्वात् जीवोपकारित्वाच्च सर्व इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब पूर्ववर्ती विषयपर अन्य प्रकारसे विचार-विमर्श किया जा रहा है। इसमें संशय यह है कि प्राण शब्दसे संज्ञित समस्त प्राण क्या इन्द्रिय हैं? अथवा श्रेष्ठ प्राणसे भिन्न अन्य प्राण-वर्ग हैं। इस पर पूर्वपक्षीय कहते हैं कि प्राण शब्द द्वारा ज्ञात

(बोध) होनेके कारण और जीवके उपकारी होनेके कारण समस्त प्राण ही इन्द्रिय हैं—इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथाश्रयाश्रयिभावसङ्गत्या गौणमुख्ययोः प्राण-योर्विशेषं वक्तु
बोधयति। एतस्मादिति वाक्यस्तु तयोरन्यत्वम्। तदेतयोर्विरोधसंशयेऽर्थभेदात् विरोधे प्राप्ते हन्तास्यैवेति वाक्ये वागादीनां तदधीनवृत्तिकत्वेन तदनन्यत्वप्रतिपादनादविरोध इति भावेन न्यायस्य प्रवृत्तिः तत्रेत्यादिना।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अब इसके बाद आश्रय-आश्रयीरूप सङ्गति द्वारा प्राणके गौण एवं मुख्य दोनों प्रभेद बतलानेके लिए 'अथ' इत्यादि प्रबन्धके द्वारा प्रयत्न करते हैं। *'हन्ताऽतास्यैव सर्वे रूपम् असाम'*—अच्छा, हम सब भी इसीके (प्राणके) रूप हो जायँ (बृ॰आ॰ १/५/२१) इत्यादि श्रुति-वाक्य गौण एवं मुख्य दोनों प्राणोंका अभेद सूचित कर रहा है—पुनः *'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'* (मु॰ २/१/३) (इन्हीं परमेश्वरसे प्राण, मन, इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है) यह श्रुति-वाक्य दोनोंका भेद बता रहा है—ऐसी अवस्थामें दोनों श्रुति-वाक्योंका विरोध है कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—हाँ, विरोध होगा क्योंकि दोनोंका अर्थ भिन्न-भिन्न है; सिद्धान्तपक्षी इस पर कहते हैं *'हन्तास्यैव'* इत्यादि श्रुति-वाक्यमें वाक् इत्यादि इन्द्रियोंके ईश्वराधीन वृत्तिरूप एकधर्म होनेके कारण दोनों प्राण अभिन्न हैं, अतः कोई विरोध नहीं है, इसी अभिप्रायसे तत्र इत्यादि प्रबन्ध द्वारा इस अधिकरणका आरम्भ हुआ है—

१०—इन्द्रियाधिकरणम्

सूत्र—त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्॥ १७॥

सूत्रार्थ—'त इन्द्रियाणि'—प्राण शब्द द्वारा संज्ञित ये प्राणमात्र ही मुख्य प्राणसे भिन्न इन्द्रियस्वरूप हैं, प्राणमात्र ही इन्द्रिय किस प्रकारसे हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—'तद्व्यपदेशात् अन्यत्र'—'एतस्मात् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुतिमें मुख्य प्राणसे पृथक् अन्य प्राणमें इन्द्रियत्व सुना जाता है, 'श्रेष्ठात्'—श्रेष्ठ प्राणसे भिन्न अन्य प्राणमें इन्द्रिय शब्दका उल्लेख है॥ १७॥

सूत्रानुवाद—ये वाक् आदि इन्द्रियाँ मुख्य प्राणकी वृत्ति नहीं हैं। इनका श्रुतिमें भिन्न रूपसे उपदेश है—अर्थात् उन परमात्मासे प्राण, मन तथा समस्त इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसा पृथक् रूपसे व्यवहार हुआ है॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—ते प्राणशब्दिताः श्रेष्ठेतरे एवेन्द्रियाणि। कु एतस्मादित्यादिश्रुतौ (मु॰ २/१/३) मुख्यप्राणादितरेषु श्रोत्रादिष्विन्द्रियत्ववचनात्। *'इन्द्रियाणि दशैकञ्च'* (श्रीगीता १३/६) इत्यादिस्मृतौ च तथा *'प्राणो मुख्यः सत्वनिन्द्रियम्'* इति श्रुत्यन्तराच्च॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्राण शब्द द्वारा शब्दित श्रेष्ठ प्राणसे पृथक् प्राणमात्र ही इन्द्रिय हैं। किस कारणसे? *'तद्व्यपदेशात्'* इति क्योंकि *'एतस्माद्'* इत्यादि श्रुतिमें मुख्य प्राणसे भिन्न अपर प्राणका श्रोत्र इत्यादि इन्द्रिय रूपमें पृथक् उल्लेख है और *'इन्द्रियाणि दशैकञ्च'* (श्रीगीता १३/६) इत्यादि स्मृति-वाक्यमें भी प्राण शब्दका अर्थ दस इन्द्रियाँ और एक मन—ये एकादश तत्त्व (इन्द्रियाँ) हैं। तथा *'प्राणो मुख्यः स तु अनिन्द्रियमिति'* अर्थात् प्राण शब्दसे वाच्य वह मुख्य प्राण है, इन्द्रिय नहीं, यह अन्य श्रुतिमें पाया जाता है॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—त इन्द्रियाणीति स्फु

सूक्ष्मा-सार—त इन्द्रियाणि इत्यादि सूत्र और भाष्यार्थ सुस्पष्ट हैं॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पूर्ववर्त्ती विषयपर अन्य प्रकारसे विचार उत्थापित किया जा रहा है कि इस स्थलपर प्राण शब्द इन्द्रियमात्रका ही ज्ञान कराता है? अथवा मुख्य प्राणसे पृथक् अन्य प्राणसमूहका ज्ञान कराता है। पूर्वपक्षवादी यदि कहते हैं कि प्राण शब्दसे बोधित होनेके कारण एवं जीवकी उपकारिताके कारण समस्त इन्द्रियोंको ही प्राण शब्दसे जानना होगा। इसके उत्तरमें सूत्रकार इस सूत्रमें कहते हैं कि प्राण शब्दके द्वारा संज्ञित होनेसे इन इन्द्रियोंको मुख्य प्राणसे पृथक् जानना चाहिये। इसका कारण मुण्डकश्रुतिमें पढ़ा जाता है—*'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'* (मु॰ २/१/३) यहाँ मुख्य प्राणसे भिन्न अन्यत्र प्राण शब्दका व्यपदेश (कथन) रहनेसे इन्द्रिय

शब्दका उल्लेख ही स्वीकार करना होगा। चक्षु आदि दस और मन—इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियाँ हैं और पाँच इनके विषय हैं। इनकी प्रवृत्ति प्राणाधीन है, इसलिए इनके लिए प्राण शब्दका प्रयोग गौण है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

भूतमात्मेत्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः॥
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्विसर्गः पौरुषः स्मृतः॥

(श्रीमद्भा॰ २/१०/३)

अर्थात् सत्त्वादि तीनों गुणोंके परिणामसे परमेश्वरसे आकाशादि पञ्चभूत, शब्द-स्पर्शादि पाँच तन्मात्राएँ, चक्षु, कर्णादि ग्यारह इन्द्रियाँ, महत्-तत्त्व एवं अहङ्कारकी उत्पत्ति होती है उसका नाम 'सर्ग' है। और विराट् पुरुष द्वारा रचित ब्रह्मासे स्थावर-जङ्गम तक जो विश्वकी चराचर सृष्टि है, उसका नाम 'विसर्ग' है॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—ननु *'हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेत्येतस्यैव सर्वे रूपमभवन्'* इति च बृहदारण्यकात् (१/५/२१) मुख्यप्राणस्य वृत्तिभेदानन्यान् प्राणानवधारयामस्तत् कथमुक्तव्यवस्थेति तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति है कि बृहदारण्य (१/५/२१) में है *'हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेत्येतस्यैव सर्वे रूपमभवन'* अर्थात् 'अहे, हम सब भी (इन्द्रियाँ) इसी प्राणके रूप हो जायें और फिर *'अस्यैव सर्वे रूपमभवन्'*—यह निश्चय करके वे इसी प्राणके ही रूप हो गयीं—इन दोनों वाक्योंसे हमें पता चलता है कि अन्यान्य प्राण मुख्य प्राणकी वृत्ति विशेष हैं, तब पूर्वोक्त व्यवस्था किस प्रकार सम्भव हो सकती है? अर्थात् भेद-सिद्धान्त किस प्रकार हुआ? इसका समाधान करते हैं—

सूत्र—भेदश्रुतेः॥ १८॥

सूत्रार्थ—भेदश्रुतेः—इन्द्रिय, प्राण, मन इत्यादिका भेद सुने जानेसे मुख्य प्राण इन्द्रियसे भिन्न तत्त्व हैं॥ १८॥

सूत्रानुवाद—वाक् इत्यादि इन्द्रियोंकी वृत्ति मुख्य प्राणके अधीन हैं, अतएव मुख्य प्राण और इन्द्रियोंमें भेद है—यह श्रुति कहती है॥ १८॥

गोविन्दभाष्य— *'प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'* (मु॰ २/१/३) इति प्राणादिन्द्रियाणां भेदश्रवणात् तत्त्वान्तराणि तानीत्यर्थः। न च भेदश्रुतेर्मनसोऽनिन्द्रियत्वं शङ्क्यम्। *'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि'* (श्रीगीता १५/७) इति *'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि* (श्रीगीता १०/२२) *इति च स्मृतेः'*॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'*—उन परमेश्वरसे प्राण, मन और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुए, इस श्रुतिमें प्राणसे इन्द्रियोंका भेद सुने जानेके कारण यह स्पष्ट ही है—इन्द्रिय प्राणसे अन्य (पृथक्) तत्त्व है। यदि कहा जाय कि *'मनः सर्वेन्द्रियाणि च'*—इस श्रुति-वाक्यमें मनका भी पृथक् उल्लेख रहनेके कारण इसे इन्द्रिय नहीं कहा जा सकता, तो भाई! ऐसी आशङ्का मत करो, क्योंकि *'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि'* (श्रीगीता १५/७) इस श्रुति-वाक्यमें मनको छठवीं इन्द्रिय कह करके निर्देश किया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें ही श्रीभगवान् कहते हैं—*'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि'* (श्रीगीता १०/२२) 'इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ'—इन सब उल्लेखके कारण मनको इन्द्रिय कहा गया है॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—ननु हन्तेति। हन्तेदानीं सर्वे वयं वागादयोऽस्यैव मुख्यप्राणस्य रूपमसामेत्याशिषं दत्त्वा तस्यैव रूपमभवन्नित्यर्थः पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते तु तदधीनवृत्तयो बभूवुरित्यर्थो बोध्यः। न च भेदश्रुतेरिति। अन्तरिन्द्रियत्वाद्विशेषात् सेत्यर्थो ज्ञेयः॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार— *'ननु हन्तेत्यादि'*—इसका अर्थ है 'अहो! हम वाक् इत्यादि समस्त प्राण उस मुख्य प्राणका रूप प्राप्त करें'—ऐसी प्रार्थना पूर्ण होनेपर वे समस्त ही मुख्य प्राण रूप हो गयीं। यह पूर्वपक्षका स्वपक्षमें अभेद-प्रतिपादनमें प्रमाण है। सिद्धान्त-पक्षमें इसकी व्याख्या अन्य प्रकारसे है यथा—वाक् इत्यादि मुख्य प्राणके अधीन वृत्तिसम्पन्न हो गये, अतएव दोनोंका भेद है। *'न च भेदश्रुतेर्मनसोऽनिन्द्रियत्वमिति'*—मनके अन्तरिन्द्रियत्वरूप विशेषको लेकर पृथक् उक्ति कही गयी है—यह जानना चाहिये॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बृहदारण्यकश्रुतिमें कहा है—*'हस्तास्यैव सर्वे रूपमसाम्येति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्स्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति'* (बृ॰आ॰ १/५/२१) अच्छा! हम सब भी इसीके रूप हो

जायँ—यह निश्चय करके वे सब इसीके रूप हो गयीं। अतः वे इसीके नामसे 'प्राण' इस प्रकार कही जाती हैं। इस श्रुतिका आश्रय करके यदि कोई कहे कि मुख्य प्राणकी वृत्तिभेद रूपसे यदि अन्यान्य प्राणका अवधारण (निश्चय) किया जाता है कि पूर्वोक्त विचार किस प्रकारसे युक्तियुक्त हो सकता है? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं—इनके तत्त्वान्तर (दूसरे तत्त्व) के निर्णय-प्रसङ्गमें भेद-श्रुति भी प्राप्त होती है।

मुण्डकोपनिषदमें कहा है—

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'

(मु॰ २/१/३)

श्रीमद् बलदेव प्रभुने अपने प्रमेय-रत्नावली ग्रन्थमें लिखा है—

प्राणैकाधीन-वृत्तित्वाद् वागादेः प्राणता यथा।
तथा ब्रह्माधीन वृत्तेर्जगतो ब्रह्मतोच्यते॥

(प्रमेय-रत्नावली ४/६)

अर्थात् जिस प्रकार वाक् आदि इन्द्रियाँ प्राणके अधीन होनेसे प्राण शब्दसे कही जाती हैं, इसी प्रकार यह जगत् ब्रह्माधीन वृत्तिके कारण ब्रह्म शब्दसे कथित होता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र।

(श्रीमद्भा॰ ११/३/३५)

अर्थात् हे नरेन्द्र! देह, इन्द्रिय, प्राण, हृदय—ये सब जिनके बलपर सञ्जीवित होकर अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं, उन्हें ही परमात्मा संज्ञक परमतत्त्व रूपसे जानना चाहिये॥ १८॥

सूत्र—वैलक्षण्याच्च॥ १९॥

सूत्रार्थ—'वैलक्षण्याच्च' स्वरूपतः और कार्यतः भी मुख्य प्राण और इन्द्रियोंमें ऐक्य नहीं है॥ १९॥

सूत्रानुवाद—मुख्य प्राणसे अन्य इन्द्रियोंमें वैलक्षण्य होनेसे भी इन्द्रियाँ तत्त्वान्तर (अन्य तत्त्व) हैं॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—सुप्तौ प्राणस्य वृत्त्युपलम्भो न तु श्रोत्रादीनाम्। तस्य देहेन्द्रियधारणं तेषान्तु ज्ञानकर्मसाधनत्वमिति स्वरूपतः कार्यतश्च वैसादृश्यात् तानि तथा। मुख्यप्राणरूपता चैषां तदधीनवृत्तिकत्वादिना व्यपदिश्यते यथा ब्रह्मरूपता जीवानाम्॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सुषुप्तिकालमें मुख्य प्राणकी वृत्ति (चेष्टा) उपलब्ध होती है, किन्तु श्रोत्रादि इन्द्रियका ऐसा नहीं होता, मुख्य प्राण देह और इन्द्रियादिको धारण करते हैं। इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्मका साधन हैं—इस प्रकारसे स्वरूपतः और कार्यतः यह वैसादृश्य (सादृश्य-अभाव अथवा विरुद्ध धर्म) रहनेके कारण इन्द्रियाँ मुख्य प्राणस्वरूप नहीं हैं, पदार्थान्तर (भिन्न पदार्थ) हैं। तब जो वाक् इत्यादि इन्द्रियोंको मुख्य प्राणस्वरूप कहा गया है, वह मुख्य प्राणकी अधीन वृत्तिसे युक्त होनेके कारण है; ठीक वैसे ही जैसे जीवकी ब्रह्मस्वरूपताका कथन ब्रह्माधीनवृत्तिमत्ताके कारण है॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—वैलक्षण्यादिति। तथेति तत्त्वान्तराणीत्यर्थः। एषामिति वागादीनाम्॥ १९॥

सूक्ष्मा-सार—*'वैलक्षण्यात्'* इस सूत्रके भाष्यमें *'वैसादृश्यात्'*—तानि तथा इतिमें तथा अर्थात् अन्य तत्त्व। *'मुख्य-प्राण-रूपता चैषां इति'* में 'एषाम्' का अर्थ है वाक् इत्यादि इन्द्रियोंका॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त सिद्धान्तको सुदृढ़ करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें अन्य एक हेतु भी दिखाते हैं कि स्वरूपतः और कार्यतः वैलक्षण्यके कारण मुख्य प्राणसे इन्द्रियोंका पार्थक्य जाना जा सकता है। इस विषयमें भाष्यकारने जिन युक्तियोंका प्रदर्शन किया है, उन्हें देखा जाना चाहिये।

पूर्वोक्त वर्णनके आधारपर मुख्य प्राणसे अन्य इन्द्रियोंकी विलक्षणताके आधार निम्न रूपमें प्राप्त होते हैं—

१—सुप्तावस्थामें वाक् आदि इन्द्रियाँ सुप्त रहती हैं, जब कि श्वास-प्रश्वासके रूपमें प्राण जाग्रत रहता है।

२—इस (सुप्त) अवस्थामें इन्द्रियाँ मृत्युसे व्याप्त रहती हैं और प्राण मृत्युसे अग्रस्त रहते हैं।

३—नेत्रादि एवं मन सहित इन्द्रियाँ विषय-ग्रहणमें हेतु हैं, वे स्वरूपतः और कार्यतः ज्ञान-कर्मका साधन हैं, जबकि प्राण शरीर और इन्द्रियोंके धारण एवं पातनका हेतु है।

४—इन्द्रियोंकी श्रवण, आलोचन—देखना आदि ज्ञानोत्पादन असाधारण वृत्तियाँ हैं, जब कि इन सभी इन्द्रियोंमें प्राणकी परिस्पन्दरूप असाधारण वृत्ति है।

५—प्राणाधीन धारकताके कारण इन्द्रियोंमें प्राण शब्दका प्रयोग होता है, जब कि इन्द्रियाँ प्राणस्वरूप हैं, इसलिए इनमें प्राणशब्दका प्रयोग है। प्राणस्वरूप होनेसे तात्पर्य है—शरीर स्थानीय होना अर्थात् मुख्य प्राणके अधीन रहकर इनकी प्रवृत्ति होना।

६—देहके स्वास्थ्य और अस्वास्थ्यपर इन्द्रियोंके स्वास्थ्य और अस्वास्थ्यकी निर्भरता ही इन्द्रियगत देहाधिष्ठानता है।

७—इन्द्रियोंमें प्राणात्मकताका अभिधान भाक्त (औपचारिक) है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः॥

(श्रीमद्भा० ११/३/३९)

अर्थात् जगत्में चार प्रकारके जीव होते हैं—अण्डासे पैदा होनेवाले पक्षी-साँप आदि, नालसे बँधे पैदा होनेवाले पशु-मनुष्य, धरतीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्ष-वनस्पति, पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले खटमल आदि। इन सभी जीव-शरीरोंमें प्राणशक्ति जीवके पीछे लगी रहती है। उसी प्रकार सुषुप्ति दशामें जब इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं अर्थात् अहङ्कारमें लीन हो जाती हैं, उस समय विकारके कारण लिङ्ग-शरीररूप उपाधिके अभावमें आत्मा भी निर्विकार रूपमें स्थित रहता है; परन्तु उस समय उसका लय नहीं होता है; क्योंकि सुषुप्तिके अनन्तर जाग्रत् दशामें 'मैं सुखपूर्वक सो रहा था' इत्यादि स्मृति सुषुप्तिकालमें साक्षीके रूपमें वर्त्तमान आत्म-वस्तुका परिचय

प्रदान किया करती है अर्थात् पीछे होनेवाली यह स्मृति ही उस समय आत्माके अस्तित्वको प्रमाणित करती है॥ १९॥

अवतरणिका भाष्य—भूतेन्द्रियादिसमष्टिसृष्टिर्जीवकर्त्तृता च परस्मादित्युक्तम्। इदानीं व्यष्टिसृष्टिः कस्मादिति परीक्ष्यते। छान्दोग्ये तेजोऽवन्नसृष्टिमभिधाय उपदिश्यते—*'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति। सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्'* (छा॰ ६/३/२-४) इति। इह नामरूपव्याक्रिया जीवकर्त्तृका स्यादुतेशकर्त्तृकेति विचिकित्सायां जीवकर्त्तृकेति प्राप्तम्। अनेन जीवेन प्रविश्य व्याकरवाणीति तथा प्रत्ययात्। न च सहार्थेयं तृतीया, सम्भवन्त्यां कारकविभक्त्यामुपपदविभक्तेरन्यायत्वात्। न च करणार्था, सत्यसङ्कल्पेश्वरकार्ये जीवस्य साधकतमत्वाभावात्। न च प्रवेशो जीवकर्त्तृकोऽस्तु व्याक्रिया त्वीश्वरकर्त्तृका, क्त्वाप्रत्ययेनैककर्त्तृकत्वबोधनात्। न चैतस्मिन् पक्षे व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषानुपपत्तिः, चारेणानुप्रविश्य परसैन्यं सङ्कलयानीतिवदुपपत्तेः। न चैतत् कपोलकल्पनं विरिञ्चो वा इदं विरेचयति विदधाति ब्रह्मा वाव विरिञ्च एतस्माद्धीमे रूपनामनीति श्रुत्यन्तरात् *'नामरूपञ्च भूतानामित्यादिस्मरणाच्च।'* (वि॰पु॰ १/५/६४) तस्मात् जीवकर्त्तृका सेति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इससे पूर्व क्षिति आदि पञ्चभूतोंकी, इन्द्रियादि समष्टिकी सृष्टि और जीवका कर्त्तृत्व परमेश्वरसे होता है यह बतलाया गया था। अब वयष्टि-सृष्टि किससे होती है—इस विषयको परीक्षित (आलोकित) किया जा रहा है। छान्दोग्योपनिषदमें अग्नि, जल और अन्नकी सृष्टि कही गयी है—यथा—*'सेवं देवतैक्षत ... त्रिवृतमेकैकामकरोत्'* (छा॰ ६/३/२-३-४) इसका अर्थ है—इन सृष्ट अग्नि, जल, अन्न और असत् शब्दके द्वारा संज्ञित ब्रह्म देवताने ध्यान (सङ्कल्प) किया—अहे! मैं इन तीन देवताओंके अर्थात् द्योतमान अग्नि, जल और पृथ्वीके मध्य जीवात्म रूपसे प्रवेश करके नामरूप अभिव्यक्त करूँ इन समस्त अग्नि इत्यादि तीन देवताओंमेंसे एक-एक देवताको त्रिवृत्-त्रिवृत् अर्थात् तीन-तीन रूपों द्वारा तीन-तीन प्रकारका करूँ, इस सङ्कल्पके बाद उन्हीं ब्रह्मदेवता (परमेश्वर) ने अग्नि इत्यादि इन तीन देवताओंको जीवशक्ति-विशिष्ट स्व-स्वरूपसे उनमें प्रवेश होकर नामरूपकी अभिव्यक्ति की और अग्नि इत्यादि उन्हीं तीन-तीन देवताओंमेंसे प्रत्येकको त्रिवृत्-त्रिवृत् किया—तो इस

छान्दोग्योपनिषदसे उद्धृत श्रुतिमें अभिहित नामरूपकी अभिव्यक्ति क्या जीव द्वारा है? अथवा परमेश्वर द्वारा। इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि इसे जीव द्वारा ही समझना चाहिये क्योंकि *'जीवे नात्मनानुप्रविश्य व्याकरवाणि'* अर्थात् जीवात्मरूपमें इनमें प्रवेश करके नामरूपमें व्याकृत (अभिव्यक्त) करूँ—इस सङ्कल्पके कारण यह जाना जाता है। यदि कहो 'अनेन जीवेन'—इस जीव शब्दके उत्तरमें तृतीया विभक्ति कर्त्तृ अर्थमें नहीं है अर्थात् जीव द्वारा प्रवेश और नामरूपका प्रकाश इस प्रकारका अर्थ नहीं है किन्तु सहार्थमें तृतीया अर्थात् जीवात्माके साथ परमात्माने प्रवेश करके नामरूप अभिव्यक्ति की—इस प्रकारसे अर्थ है। यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि सहार्थमें तृतीया उपपद विभक्ति है अर्थात् 'सह' यह अध्याहृत उपपद योगमें विभक्ति है और कर्त्तामें तृतीया कारक विभक्ति है, जहाँ कारक-विभक्ति सम्भव है, वहाँ उपपद विभक्ति असङ्गत है उसका कोई औचित्य भी नहीं है। वैयाकरणोंके मतमें *'उपपद विभक्तेः कारक विभक्तिर्गरीयसी'* उपपद विभक्तिसे कारक 'विभक्ति प्रबल है। सङ्गति-रक्षणके लिए यदि कहो 'जीवेन' इस पदमें करणमें तृतीया कहें अर्थात् जीवके द्वारा अथवा जीव सहायमें जीव कर्त्तृकमें प्रवेश करके इस प्रकार सङ्गति करें तो ऐसा भी नहीं है। सत्यसङ्कल्प परमेश्वरके कार्यमें जीव प्रधान उपकारक अथवा सहाय हो नहीं सकता। बात यह है कि जिनकी इच्छामात्रसे समस्त सृष्टि हुई है, उनके कार्यमें अन्यकी अपेक्षा रह नहीं सकती। इसमें यदि पुनः शङ्काकी जाय कि प्रवेश-क्रियामें जीव कर्त्ता रहे और नाम रूपाभिव्यक्तिमें परमेश्वरको कर्त्ता कहें तो यह भी सङ्गत नहीं है क्योंकि दोनों क्रियाओंका जब एक कर्त्तृत्व होता है तब 'क्त्वाच' प्रत्यय होता है, इस प्रकारका वैयाकरणानुशासन है। यदि यहाँ प्रवेश क्रियाका कर्त्ता-जीव एवं व्याकृति क्रियाका कर्त्ता परमेश्वर है तो विभिन्न कर्त्तृत्वके कारण 'क्त्वाच' प्रत्ययकी अनुपपत्ति होगी। यदि कहो 'जीवेन' कर्त्तामें तृतीया होनेपर 'व्याकरवाणि' क्रियापदमें उत्तम पुरुषका प्रयोग असङ्गत है तो ऐसा भी नहीं है *'चारेणानुप्रविश्य परसैन्यं सङ्कल्पयामि'*—गुप्तचर द्वारा शत्रु राज्यमें प्रवेश करके मैं शत्रुसैन्यकी गणना (आँकड़ा प्राप्त) करूँ इत्यादि वाक्यके

समान उपपत्ति होगी। और यह हमारा मत स्वकपोल-कल्पित भी नहीं है क्योंकि अन्य श्रुति है *'विरिञ्चो वा ... रूपनामनी इति'* (वि॰पु॰ १/५/६४) ब्रह्मा (पद्मयोनि) ही इस परिदृश्यमान जगत्की सृष्टि करते हैं, पालन करते हैं, ब्रह्मा ही विरिञ्च पदके अभिधेय हैं, इन विरिञ्चसे ही नामरूप अभिव्यक्त हुआ है। स्मृति-वाक्य भी है यथा *'नाम रूपञ्च भूतानाम्'* इत्यादि—उन विरिञ्चने समस्त वस्तुओंका नामरूप व्यक्त किया। अतएव जीव द्वारा ही सृष्टि कही (नामरूप-व्याक्रिया) जायेगी—इस पूर्वपक्षके मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नामरूपभेदादिन्द्रियप्राणयोर्भेद इति पूर्वमुक्तम्। तत्प्रसङ्गान्नामरूपव्याक्रिया किंकर्त्तृकेति प्रसङ्गसङ्गत्यारभ्यते। भूतेन्द्रियादीति। प्रधानादि-पृथिव्यन्तानां प्राणानाञ्च सृष्टिः साक्षात् परेशादिति तदभिध्यानादित्यनेन निर्णीतम्। तत्रात्रिवृत्कृतभूतसृष्टिस्तद्धेतुकेति निःसन्देहमवगतम्। अथ त्रिवृत्कृतभूतभौतिकोत्पादने श्रुतिविरोधो निरस्यः। तथाहि आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहितेति वाक्यं तद्व्याक्रियां परेशहेतुकामाह हन्ताहमिति वाक्यन्तु जीवहेतुकाम्। अनेन जीवेनानुप्रविश्य व्याकरवाणीत्युक्तेस्तथैवार्थावभासात्। चारेण परसैन्यं प्रविश्य सङ्कलयामीत्यत्र राज्ञः साक्षात् सङ्कलनकर्त्तृत्वं न प्रतीतम् किन्तु चारस्यैवेति। किञ्च विरिञ्चो वेति गौपवनश्रुत्याप्येतत् परिपुष्टं तस्माज्जीवकर्त्तृका सेति। इत्थमेतयोर्विराधसंशये अर्थभेदात् विरोधस्य प्राप्तौ हन्ताहमित्यादिवाक्ययुग्मेऽपि वक्ष्यमाणरीत्या परेशकर्त्तृकतया तस्य व्याख्यानादविरोध इति भावेन न्यायस्य प्रवृत्तिः कस्मादिति। चतुमुर्खाख्यात् जीवविशेषात् परेशात् वेत्यर्थः। सेयमिति। सा सृष्टतेजोऽवन्नासच्छब्दिता ब्रह्मदेवता पुनरैक्षत। अत्रिवृत्कृतैस्तैस्तेजोऽवन्नैर्भूतर्व्यवहारासिद्धिं वीक्ष्य त्रिवृत्कृतैस्तैर्व्यवहारार्हभूत-भौतिकोत्पादनाय पुनर्विचारयाञ्चकारेत्यर्थः। ईक्षाप्रकारमाह हन्तेत्यादिना। ईमास्तिस्त्रो देवता द्योतमानानि तेजोऽवन्नानि अनेन जीवेन जीवशक्तिमता तद्व्यापिना वात्मना स्वेनैवाहमनुप्रविश्य त्रिवृतमिति त्रिभीरूपैर्वृत् वर्त्तनं यस्यास्ताम् इत्येवं विचार्यात्मनैव ताः प्रविस्य तासामेकैकां तथा कृतवानित्यर्थः। इहेति। नामरूपयोः संज्ञामूर्त्त्योर्व्याक्रिया निर्मितिः। अनेनेति। अत्र जीवकर्त्तृके प्रवेशव्याकरणे प्रतीते चारेण प्रविश्येत्यादिवाक्ये प्रवेशसङ्कलने यथा चारकर्त्तृके। न चेति। अनेन जीवेनेति तृतीया सहार्था न मन्तव्या। तत्र हेतुः सम्भवन्त्यामिति। यदुक्तम्—उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्वलीयसीति। न च करणार्थेति। साधकतमं करणमिति करणलक्षणं पाणिनिना स्मृतम्। तादृशकरणतया जीवेऽङ्गीकृते हरेः सत्यसङ्कल्पत्वं व्याहन्येतेत्यर्थः। क्त्वाप्रत्ययेनेति। समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले इति पाणिनिसूत्रम्। एककर्त्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले वर्त्तमानात् धातोः क्त्वा स्यादिति

तस्यार्थः। तथाच व्याकरणविरोधापत्तिरितिभावः। न चैतस्मिन्निति। एतस्मिन् जीवकर्त्तृत्वपक्षे करवाणीति कथमुत्तमपुरुषः तस्यास्मद्युपपदे प्रयोगादिति न च वाच्यम्। तत्र हेतुश्चारेणेति। तत्रानुप्रवेशसङ्कलने चारकर्त्तृके एव राजन्युपचरिते तथा जीवकर्त्तृके एव ते हरावुपचरितव्ये इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—नाम और रूप भेदके कारण इन्द्रिय और प्राणोंका प्रभेद है—यह पहले ही कहा गया है। इसी प्रसङ्गमें नामरूपकी अभिव्यक्तिका कर्त्ता कौन है? इस प्रश्नात्मक प्रसङ्ग-सङ्गतिके अनुसार इस अधिकरणका आरम्भ भूतेन्द्रियादि इत्यादि वाक्यसे आरम्भ हो रहा है। प्रधानसे पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वकी और प्राणसमूहकी सृष्टि साक्षात् (सीधे-सीधे) परमेश्वरसे है—यह तदभिध्यानादित्यादि ग्रन्थ द्वारा सिद्धान्त किया गया है। इसमें अत्रिवृत्कृत भूत-सृष्टि उन परमेश्वरसे है—यह निःसन्देह अवगत होता है। अतः त्रिवृत्कृत भूत और भौतिक सृष्टि-विषयमें श्रुतिका जो विरोध उपस्थित हुआ है, उसका निराकरण किया जाना चाहिये। उसका प्रकार दिखा रहे हैं—*'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता'* (छा॰ ८/१४/१) —यह वाक्य इस नामरूपकी अभिव्यक्ति परमेश्वरसे बतला रहा है पुनः 'हन्ताहम्' इत्यादि वाक्य जीवको व्याक्रियाका हेतु बतला रहा है क्योंकि उसमें *'अनेन जीवेनानुप्रविश्य व्याकरवाणि'* (छा॰ ६/३/२) में इस जीव रूपमें पाञ्चभौतिक देहमें प्रवेश करके नाम एवं रूपको व्याकृत करूँ—इस प्रकारसे उक्ति रहनेके कारण जीव द्वारा व्याकृतिरूप अर्थ प्रकाशित हो रहा है। जिस प्रकार राजा मनमें सोचता है कि 'मैं चर (गुप्तचर) द्वारा शत्रुओंमें प्रवेश करके सैन्य-सङ्कलन करूँगा।' इस कथनमें राजाका साक्षात् रूपसे सङ्कलन-कर्त्तृत्व प्रतीत नहीं होता, बल्कि चरका ही होता है, पुनः एक और बात है, 'विरिञ्चोवा' इत्यादि गौपवनश्रुति द्वारा यह मत परिपुष्ट हो रहा है, अतएव जीव द्वारा नामरूप व्याक्रिया है—इस प्रकारसे इन दोनों मतमें विरोध है कि नहीं? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—जब दोनों श्रुतियोंका अर्थ भिन्न है तो विरोध होगा ही, इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं 'हन्ताहम्' इत्यादि दोनों वाक्योंकी जो व्याख्या की जायेगी, तदनुसार परमेश्वर द्वारा सृष्टि है—इस व्याख्यानके कारण विरोध नहीं रहेगा। इसी अभिप्रायको लेकर इस अधिकरणका आरम्भ है। *'कस्मादिति*

परीक्ष्यते' इति भाष्यमें—चतुर्मुख नामक (ब्रह्मा) जीव-विशेषसे अथवा परमेश्वरसे व्यष्टि-सृष्टि है—यह परीक्षित (विवेचित) हो रहा है। *'सेयं देवतैक्षत'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—'सा' अर्थात् उन सृष्टि, अग्नि, जल, पृथ्वी और असत् शब्दसे संज्ञित ब्रह्मदेवताने, पुनः सङ्कल्प (ध्यान) किया, पूर्ववर्णित त्रिवृत्करण शून्य अग्नि, जल पृथ्वीरूप भूत द्वारा लौकिक व्यवहारकी असिद्धि देखकर त्रिवृत्कृत उन समस्त भूतों द्वारा व्यवहारोपयोगी भूत और भौतिक उत्पादनके लिए पुनः विचार किया। किस प्रकारसे ईक्षण अर्थात् विचार किया, वह 'हन्त' इत्यादि श्रुति-वाक्य द्वारा कहते हैं। *'इमास्तिस्रो देवताः'* अर्थात् द्योतन-विशिष्ट चैतन्यमय अग्नि, जल और पृथ्वी ये तीन, अनेन जीवेन—जीवशक्ति-विशिष्ट आत्मा द्वारा अथवा जीव व्यापी स्व-स्वरूप द्वारा उनमें प्रवेश करके वे समस्त देवताओंको त्रिवृत् अर्थात् तीन आकारका जिनका वृत्-वर्त्तन-कार्यकारिता है—इस प्रकार विचार करके स्वयं उनमें प्रवेश करके अग्नि, जल, पृथ्वी प्रत्येकको त्रिवृत् अर्थात् त्रिरूपसम्पन्न इस प्रकारसे किया? *'इह नामरूपव्याक्रिया इति'*—इस विषयमें संज्ञामूर्त्तिका अर्थात् नाम एवं रूपकी व्याक्रिया-निर्मिति, *'अनेन जीवेन इति'*—इस वाक्यमें जीव द्वारा भूत-त्रयमें प्रवेश और निर्मितिसे अवगत हुआ जा सकता है। *'चारेण प्रविश्य'* इत्यादि वाक्यमें जिस प्रकार राजाके चर द्वारा दूसरे राज्यमें प्रवेश एवं सैन्य गणनां प्रतीत होती है, इसी प्रकार। *'न च सहार्थेयं तृतीया इति'*—'जीवेन' इस पदमें सहार्थमें तृतीया नहीं कही जाती क्योंकि कारक विभक्तिकी सम्भावना रहनेपर उपपद विभक्ति न्याय-सङ्गत नहीं है कारण अनुशासन है। उपपद विभक्तिसे कारकविभक्ति प्रबल है। करण कारक तृतीया विभक्ति कहनेसे भी चलता नहीं है क्योंकि महर्षि पाणिनि ने *'साधकतमं करणम्'* (पा॰सू॰ १/४/४२) इस प्रकारसे करण लक्षण बतलाया है, यदि जीवको अपने साधकतम करण रूपमें स्वीकार करते हैं तो श्रीहरिका सत्यसङ्कल्पत्व व्याहत होता है। *'क्त्वा-प्रत्ययेनेति' समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले'* (पा॰सू॰ ३/४/२१) दो क्रियाओंका एक कर्त्ता होनेपर पूर्व क्रियाके आनन्त्र्य-स्थलपर प्रथम क्रियावाचक धातुके उत्तरमें क्त्वाच् (कत्वा) प्रत्यय होता है,

इस प्रकारसे पाणिनि सूत्र रहनेके कारण व्याकरण क्रियाके कर्त्तामें (ईश्वरमें) उत्तम पुरुषके प्रयोगकी अनुपपत्ति है क्योंकि प्रवेश क्रियाका कर्त्ता जीव है, अतएव क्त्वा प्रत्ययके अनुरोधसे उसे ही व्याकरण क्रियाका कर्त्ता कहना होगा किन्तु ऐसा कहनेपर तो प्रथम पुरुषका प्रयोग हो पड़ता है? यदि कहो, जीव-कर्त्तृत्व स्वीकार करनेपर धातुमें उत्तम पुरुषका प्रयोग असङ्गत है क्योंकि अस्मत् शब्द उपपद रहनेपर उत्तम पुरुषका विधान है—यह भी कहा नहीं जा सकता, इस विषयमें कारण है— *'चारेणानुप्रविश्येत्यादि'* राजा चर द्वारा परसैन्यमें प्रवेश करके शत्रुसैन्यकी गणना करते हैं इस वाक्यमें जिस प्रकार उत्तम पुरुषकी उपपत्ति है, उसी प्रकारसे होगा अर्थात् वहाँ जिस प्रकार चर द्वारा प्रवेश और सङ्कलन राजामें आरोपित है, उसी प्रकार जीव द्वारा ही वह प्रवेश और व्याकृति श्रीहरिमें आरोपित कही जायेगी—यही पूर्वपक्षीका तात्पर्य है।

११—संज्ञामूर्त्तिक्लप्त्यधिकरणम्

व्यष्टि-सृष्टिका विचार

सूत्र—संज्ञामूर्त्तिक्लप्तिस्तु त्रिवृत् कु

सूत्रार्थ—'संज्ञामूर्त्तिक्लप्ति'—नामरूपकी सृष्टि (विस्तृति) 'तु'—भी 'त्रिवृत् कु

कार्य है, जीवका नहीं 'उपदेशात्' सेयं देवतैक्षत (उन देवताने सङ्कल्प किया) इत्यादि श्रुति-वाक्योंमें यही उपदिष्ट है॥ २०॥

सूत्रानुवाद—नामरूपका व्याकरण (अभिव्यञ्जन) तीनों तत्त्वोंका मिश्रण करनेवाले परमेश्वरसे ही सम्भव है, 'सेयं देवतैक्षत' इत्यादि श्रुतियोंमें यही बताया गया है॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—तुशब्दादाक्षेपो व्यावृत्तः। संज्ञामूर्त्ती नामरूपे तयोः क्लृप्तिर्व्याक्रिया त्रिवृत्कु

तत्क्लृप्तिनिगदात्। त्रिवृत्करणनामरूपव्याकरणयोरेककर्त्तृकत्वेनोक्तेरित्यर्थः। त्रिवृत्-करणञ्चोक्तम्—त्रीण्येकैकं द्विधा कु

योजयेच्च त्रिरूपता। पञ्चीकरणस्योपलक्षणमेतत्। न च त्रिवृत्कृतिश्चतुर्मुखस्य

शक्या वक्तु
तस्मिन्नण्डेऽभवद्ब्रह्मा सर्वलोकपितामह इत्याद्या। तस्मात् सेयमित्यत्र नामरूप-व्याकृतित्रिवृत्कृत्योरेककर्त्तृकत्वं विवक्षितं न तु पौर्वापर्यम् अर्थक्रमेण पाठक्रमस्य बाधात्। पूर्वा त्रिवृत्कृतिरुत्तरा तु नामरूपव्याकृतिरिति। न चात्रिवृत्कृतैस्तेजोऽवन्नैरण्डोत्पत्तिः, अत्रिवृतां तेषां तत्रासामर्थ्यात्। तथाहि स्मृतिः। (श्रीमद्भा॰ २/५/३२-३३) *'यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः। यदायतननिर्माणे न शेकु*
चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः। सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यद' इत्याद्या। इह पञ्चीकरणमुक्तम्। तच्चेत्थं बोध्यम्। विभज्य द्विधा पञ्चभूतानि देवस्तदर्द्धानि पञ्चाब्धिभागानि कृत्वा तदन्येषु मुख्येषु भागेषु तत्तन् नियुञ्जन् स पञ्चीकृतिं पश्यति स्म। अन्नमशितं त्रेधा विधीयत (छा॰ ६/५/१) इत्यादौ तु पृथिव्यादेरेकैकस्य त्रेधा परिणामो वर्ण्यते न तु त्रिवृत्कृतिः। न चानेन जीवेनेति (छा॰ ६/३/२) जीवस्य नामरूपनिर्मातृत्वं बोधयेदिति वाच्यम्। आत्मना जीवेनेति सामानाधिकरण्येन जीवशक्तिमतस्तद्व्यापिनो ब्रह्मण एव तत्त्वाभिधानात्। एतेन विरिञ्चो वा इत्यादिकं व्याख्यातम्। एवञ्च प्रविश्योत्तमपुरुषयोरकष्टता मुख्यार्थता च स्यात्। तथाच प्रवेशव्याकरणयोरेककर्त्तृकता च। तस्मादीशकर्त्तृकैव तद्व्याकृतिः। *'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते'* इति तैत्तिरीयकाच्च॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वपक्षीके आक्षेपके समाधानके लिए प्रयुक्त है। संज्ञामूर्त्ती—अर्थात् नाम और रूप—उनकी क्लप्ति अर्थात् व्याक्रिया—अभिव्यक्ति अग्नि इत्यादिके त्रिवृत्कारी परमेश्वरका कार्य है, जीवका नहीं। किस कारणसे? *'उपदेशात्'*—क्योंकि श्रुतिमें उन परमेश्वरकी इसी प्रकारकी नामरूप व्याक्रियाकी उक्ति है। तात्पर्य यह है कि त्रिवृत्-करण एवं नामरूप व्याक्रिया—इन दोनोंका एक ही कर्त्ता 'क्त्वा' प्रत्यय द्वारा निर्दिष्ट हुआ है। त्रिवृत्-क्रिया किस प्रकारकी है? उसे भी श्रीमद्भागवतमें (२/५/३२-३३) बताया गया है—यथा अग्नि, जल और पृथ्वी—इन तीन भूतोंको लेकर उनमेंसे एक-एकको पहले दो समान भागोंमें विभक्त करें, बादमें एक स्थानपर आधे-आधे तीन भागोंको रखकर दूसरे तीन आधे भागोंमेंसे प्रत्येकके ही दो भाग करते हुए उनके मुख्यार्द्धका एक-एक भाग छोड़कर अन्य दोनों अर्द्धांशोंको उनके साथ एकत्र-योग करनेपर त्रिवृत्करण सिद्ध होता है। उदाहरणस्वरूप बतलाते हैं—पृथ्वीके पहले दो भाग करके उसके एक अर्द्धांशको पुनः दो भागोंमें विभक्त करके उसके (उस एक अर्द्धांशके) साथ इस अर्द्धांशको लेकर—इसी प्रकारकी प्रक्रियासे

निष्पन्न जलीय एक अर्द्धांशके अर्द्धांशका योग करें एवं आग्नेयके भी इसी प्रकारसे अर्द्धांशके अर्द्धांशको पूर्वमें पृथक् रूपसे स्थापित पृथ्वीकी अर्द्धांशसे योजना करें तो पृथ्वी त्रिवृत् होगी। पृथ्वीका जो अगृहीत दो अर्द्धांशका अर्द्धांश है, उसे जल एवं अग्निके अर्द्धांशसे योग करनेपर त्रिवृत्तेज होगा। इसी प्रकार जलके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये। फलस्वरूप पृथ्वीका अर्द्धांश और जल एवं अग्निके एक-एक पाद योगसे त्रिवृत् पृथ्वी, इसी प्रकार अग्नि और जल त्रिवृत् होते हैं। यह त्रिवृत्करण पञ्चीकरणका उपलक्षण है अर्थात् पञ्जीकरण प्रक्रियाको भी इसी प्रकारसे जानना चाहिये। चतुर्मुख ब्रह्माजीके द्वारा इस त्रिवृत्करणका होना कहा नहीं जा सकता। कारण उन विरिञ्चिकी उत्पत्ति स्वयं ही त्रिवृत्कृत्त अग्नि, जल एवं अन्न (पृथ्वी) से निर्मित ब्रह्माण्डसे हुई है। यथा स्मृति-वाक्य है—*'तस्मिन्नण्डेऽभवद् ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः'* इत्यादि इस त्रिवृत्कृत अग्नि, जल, पृथ्वी निर्मित अण्डसे सर्वलोक-स्रष्टा ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं। अतएव सिद्धान्त यह है कि *'सेयं देवतेमास्तिस्रः'* इत्यादि श्रुतिमें उक्त नामरूपव्याकृति और त्रिवृत्करण—इन दोनोंका एक ही कर्त्ता है, 'क्त्वाच्' प्रत्ययके द्वारा यही विवक्षित हुआ है, किन्तु दोनों क्रियाओंका पौर्वापर्य कहा नहीं गया है। यद्यपि शाब्दक्रममें (पाठक्रममें) ऐसा देखा जाता है, ऐसा होनेपर भी शाब्दक्रमसे आर्थक्रमकी प्रबलताके कारण शाब्दक्रम बाधित होता है। फलस्वरूप पहले त्रिवृत्करण एवं बादमें नामरूपका प्रकाश—यही कहना चाहिये था। यह कहना चाहिये था। इस प्रकारके पौर्वापर्यके निर्देशमें युक्ति भी है, यथा अत्रिवृत्कृत अग्नि, जल, पृथ्वी द्वारा ब्रह्माण्डोत्पत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि त्रिवृत्रहित अग्नि, जल और पृथ्वीकी ब्रह्माण्डके निर्माणमें सामर्थ्य नहीं है। यह वर्णन श्रीमद्भागवतमें (स्मृतिमें) भी प्राप्त है, यथा—*'यदैतेऽसङ्गताभावा ... ससृजुहर्यदः'*—श्रीभगवान्ने कहा, हे ब्रह्मवित्-प्रधान उद्धव! जब ये सब पञ्चभूत, इन्द्रिय, मन एवं सत्त्व, रज और तमोगुण प्रभृति स्वतन्त्र रूपसे शरीर (अण्ड) निर्माणमें समर्थ नहीं हुए, तब श्रीभगवान्की शक्तिसे प्रेरित होकर वे सब परस्पर (पञ्चीकरण प्रकारसे) मिलित हुए और प्रधान एवं गुणभावको प्राप्त होनेपर विश्वकी सृष्टि हुई,

इत्यादि। इसीको पञ्चीकरण कहा गया है। यहाँ यह जानें कि जैसे आकाश इत्यादि पञ्चभूतोंमेंसे प्रत्येकको ही उन श्रीहरिने पहले दो भागोंमें विभक्त किया, इन पाँचोंके अर्द्धांशको पृथक् रूपसे एक ओर रख दिया और दूसरे पाँच अर्द्धांशोंको दूसरे स्थानपर रखा, बादमें दो भागोंमें विभक्त उन पञ्चभूतोंके पाँच खण्डोंमेंसे प्रत्येकको पुनः चार खण्डोंमें विभक्त किया। इसके बाद इन चार भागोंमें विभक्त पाँचों अर्द्धांशोंके एक अंशको लेकर मुख्य अर्द्धांश (मुख्य अर्द्ध) से योग करके उन देवने (श्रीहरिने) पञ्चभूतोंका पञ्चीकरण देखा। किन्तु भुक्त (भक्षित) अन्नको तीन भागोंमें रखा जाता है। इत्यादि वाक्यमें पृथ्वी इत्यादिमेंसे प्रत्येकके ही तीन प्रकारके परिणाम वर्णित व्यक्त हुए हैं, वहाँ त्रिवृत्करणकी अभिव्यक्ति नहीं है। आपत्ति यह है कि यदि कहो, *'अनेन जीवेन'* इत्यादि श्रुति-वाक्य द्वारा जीवका नामरूप कर्त्तृत्व ज्ञात होता है, तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि *'आत्मना जीवेन'* इस प्रकारका उल्लेख रहनेके कारण दोनोंका सामानाधिकरण्य ज्ञात होता है, इससे जीवशक्ति समन्वित उन जीवव्यापक ब्रह्मका ही नामरूपकर्त्तृत्व कहा गया है। इससे *'विरिञ्चो वा'*—ब्रह्मा—पद्मयोनिने नामरूप व्याकृति (अभिव्यक्ति) की इत्यादि वाक्यकी भी व्याख्या हो गयी है अर्थात् विरिञ्चि—शक्तिमान् परमेश्वरने नामरूप व्यक्त कर दिया—इस प्रकारकी व्याख्यासे सारे विरोधोंकी मीमांसा हो चुकी है। इस प्रकारकी व्याख्या होनेपर 'प्रविश्य'—प्रवेश क्रिया और *'नामरूपे व्याकरवाणि'*—इस उत्तम पुरुषके प्रयोगमें कोई कष्ट कल्पना और नहीं है एवं मुख्यार्थता भी रक्षित हुई है। इस प्रकारसे प्रवेश-क्रिया और व्याकृति-क्रियाकी एककर्त्तृकता भी निर्धारित होती है। अतएव सिद्धान्त यह है कि नामरूपकी व्याकृति-अभिव्यक्ति-परमेश्वरके द्वारा ही सम्पन्न होती है। तैत्तिरीयोपनिषदमें भी इसी प्रकारसे वर्णन है यथा *'सर्वाणि-रूपाणि ... यदास्ते'* अर्थात् सर्वज्ञ श्रीहरि समग्र रूपसे अर्थात् देवता, मनुष्य, तिर्यक् इत्यादिका शरीर निर्माण करके और उनके नामोंकी स्थापना (सृष्टि) करके अर्थात् नामरूप-विशिष्ट शरीरोंकी सृष्टि करके अपने विभिन्नांशस्वरूप जीवोंके द्वारा वाक्यको प्रकाश करते हुए अवस्थान करते हैं॥ २०॥

सूक्ष्मा–टीका—संज्ञेति। त्रिवृत् तेजोऽवन्नानां त्रैरूप्येण वर्त्तनं तत् कु
हरेरित्यर्थः। त्रीण्येकैकमित्यस्यार्थः। त्रीणि तेजोऽवन्नानि प्रत्येकं द्विधा कु
एकतस्त्रीण्यर्द्धानि न्यस्येदेकतस्त्रीण्यर्द्धानीत्यर्थः। अथैकतमानि त्रीण्यर्द्धानि प्रत्येकं द्विधा कु
योजयेत् तदा प्रत्येकं त्रिरूपता स्यात्। यस्यार्द्धस्य द्वौ भागौ कृतौ तत्सम्बन्धि मुख्यमर्द्धं त्यक्त्वान्यदीययोर्मुख्यार्द्धयोर्योजयेदिति यावत्। इत्थञ्च त्रित्वसंख्यासमावेशः। मुख्यार्द्धं स्थूलार्द्धमिति। तस्मिन्निति श्रीभागवते। अत्रिवृतामिति। तत्राण्डोत्पादने। यदेति श्रीभागवते। यदा एते असङ्गता अमिलिता आसन् अतएव यदा आयतनस्य शरीरस्य निर्माणे न शेकु
समष्टिव्यष्ट्यात्मकं शरीरं ससृजुरिति। इहेत्युक्तस्मृतौ। विभज्येत्यस्यार्थः। स देवो हरिः पञ्चभूतान्यादौ द्विधा विभज्य तेषां पञ्चार्द्धान्येकतः स्थापयति अन्यानि पञ्चार्द्धानि त्वेकतः। अथ तदर्द्धानि तेषां द्विधा विभक्तानां पञ्चानां भूतानाम् पञ्चखण्डानि पुनरब्धिभागानि प्रत्येकं चतुःखण्डानि कृत्वा तत्तच्चतुर्द्धा विभक्तं पञ्चानामर्द्धानामेकतममर्द्धं तदन्येषु मुख्येषु स्थूलेषु युञ्जन् क्षिपन् सन् स देवः पञ्चानां भूतानां पञ्चीकृतिं प्रत्येकं पञ्चरूपतां पश्यति स्म अद्राक्षीत्। यस्यार्द्धस्य चत्वारः खण्डाः कृतास्तदीयात् स्थूलार्द्धादन्येषु स्थूलार्द्धेष्वित्यर्थः। अन्नमिति। पुरुषेणाशितमन्नं त्रेधा परिणमते पुरीषं मांसं मनश्चेति। तेन पीता आपस्त्रेधा परिणमन्ते मूत्रं लोहितं प्राणाश्चेति। तेनाशितं तेजोऽग्न्यादिदीपकं घृतादि त्रेधा परिणमते अस्थि मज्जा वाक् चेति। अत्र मनसोऽन्नभक्षणे स्वास्थ्यमात्रेण तत्कार्यत्वं प्राणस्य जलाधीनस्थितिमात्रेण जलकार्यत्वं वाचो ज्ञानानुकूलत्वसाम्येन तेजःकार्यत्वं चेति बोध्यम्। सर्वाणीति। धीरः सर्वज्ञो हरिः सर्वाणि रूपाणि देवमनुष्यादिशरीराणि विचित्य निर्माय नामानि च तेषां कृत्वा नामरूपभाजो जीवानुत्पाद्येत्यर्थः। तैर्निजविभिन्नांशैरभिवदन् वाचं प्रकाशयन्नास्त इत्यर्थः॥ २०॥

सूक्ष्मा–सार—'त्रिवृत्' अर्थात् अग्नि, जल और पृथ्वी प्रत्येककी ही तीन रूपोंमें स्थिति है, उसका सम्पादन करनेवाले श्रीहरि हैं। 'त्रीण्येकैकम्'—इसका अर्थ है कि तेज, जल, पृथ्वी—इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके ही पहले दो भाग करें, एक ओर इन तीनों अर्द्धांशोंको रखें, बादमें दूसरे तीन अर्द्धोंमेंसे प्रत्येकको ही अर्थात् दो भागोंमें विभक्त करके उनमेंसे एक अर्द्ध जो उनका मुख्य अर्द्ध है, उसे छोड़कर अन्य दो अर्द्धोंको योग करें अर्थात् जोड़ दें। इस प्रकारसे करनेपर प्रत्येकका ही त्रिवृत् होगा। जिस अर्द्धके दो भाग किये गये थे, उसके ही मुख्य अर्द्धको छोड़कर दूसरेके दो अर्द्धोंको जोड़

दें, इस प्रकारसे त्रिक् संख्याकी व्यवस्था होगी। मुख्यार्थ अर्थात् स्थूलार्द्ध। *'तस्मिन्नण्डेऽभवद् ब्रह्मेत्यादि'* श्लोक श्रीमद्भागवत (२/५/३२-३३) से उद्धृत है। *'अत्रिवृतां तेषां तत्रासामर्थ्यात्'* इतिमें तत्रका अर्थ है—ब्रह्माण्डोत्पादन-विषयमें। यदायतन-निर्माणे इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतीय (२/५/३२) है। जब ये पदार्थ परस्पर अमिलित थे, इस कारणसे उस समय आयतन-शरीर निर्माणमें समर्थ नहीं थे। सदसत्त्वं अर्थात् प्रधान और अप्रधान रूप। उपादाय अर्थात् लेकर। उभयं-समष्टि और व्यष्टिमय शरीरकी सृष्टि करनेपर। इह-यह श्रीभागवत-स्मृति-वाक्य है। *'विभज्य द्विधा'* इत्यादि श्लोकका अर्थ है यथा—उन देव श्रीहरिने सर्वप्रथम क्षिति आदि पञ्चभूतोंको दो भागोंमें विभक्त करके और उनके पाँच अर्द्धोंको एक स्थानपर स्थापित कर दिया, दूसरे पाँच अर्द्धोंको दूसरे स्थानपर रख दिया। पश्चात् उन आधोंको अर्थात् दो भागोंमें विभक्त उन पञ्चभूतोंको पाँच खण्डोंमें पुनः अब्धिभागानि अर्थात् प्रत्येकके चार खण्ड कर दिये। इसके बाद इन चार भागोंमें विभक्त पाँचों अर्द्धांशोंके एक अर्द्धको लेकर उससे पृथक् मुख्य स्थूलार्द्धका योग करके उन देवने पञ्चभूतका पञ्चीकरण अर्थात् प्रत्येक भूतकी पञ्चरूपताको देखा। जिस अर्द्धांशके चार खण्ड हुए थे, उसके ही स्थूलार्द्धसे भिन्न अन्य स्थूलार्द्धमें इस प्रकारसे अर्थ है। अन्नमाशितमित्यादि वाक्यमें पृथ्वी इत्यादिके एक-एकका तीन रूपोंमें परिणाम वर्णित हुआ है अर्थात् जीव द्वारा भक्षित अन्न ही पुरीष (मल), मांस और मन—इन तीन रूपोंमें परिणत होता है। इसी जीव द्वारा पान किया हुआ जल ही मूत्र, रक्त और प्राण इन तीन रूपोंमें परिणति प्राप्त करता है। उसके द्वारा भक्षित तेज अर्थात् अग्नि इत्यादिका दीपक-घृतादि अस्थि, मज्जा एवं वाक् रूपमें परिणाम प्राप्त होता है। इस विषयमें यह प्रणिधानके योग्य है कि अन्न-भक्षणमें मनकी सूक्ष्मता मात्रमें ही परिणति है, प्राणकी केवल जलधीन स्थिति ही जलकी परिणति है, वाक्यकी ज्ञानानुकलत्वनुकूल-धर्मसाम्यमें अग्निकार्यता जाननी चाहिये। *'सर्वाणि रूपाणि'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—धीर-सर्वज्ञ श्रीहरि देव-मनुष्यादि शरीरोंका निर्माण करके और उनका नामकरण करके

अर्थात् नामरूप-विशिष्ट शरीरोंका उत्पादन करके अपने विभिन्नांश जीवके द्वारा वाक्य प्रकाश करते हैं॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पहले यह कहा गया था कि भूत, इन्द्रियादि—समष्टिकी सृष्टि एवं जीवका कर्त्तृत्व भी परमेश्वर द्वारा होता है—अब व्यष्टि-सृष्टि किससे निष्पन्न होती है, इसपर विचार किया गया है।

छान्दोग्योपनिषदमें देखा जाता है—

'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्। (छा॰ ६/३/२-३)

उन इन देवताने ईक्षण किया, 'मैं इस जीवात्म रूपसे इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेश कर नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ। और उनमेंसे एक-एक देवताको त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ' ऐसा विचार कर उन देवताने इस जीवात्म रूपसे ही उन तीन देवताओंमें अनुप्रवेश कर नामरूपका व्याकरण किया।

और भी कहा गया है—

'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्'

(छा॰ ६/३/४)

अर्थात् उस देवताने उनमेंसे प्रत्येकको त्रिवृत्-त्रिवृत् किया।

इस स्थलपर एक संशय यह है कि इस नाम और रूपकी अभिव्यक्ति जीव द्वारा है? अथवा परमेश्वर द्वारा? पूर्वपक्षी कहते हैं कि यह अभिव्यक्ति जीव द्वारा ही निर्णीत है। इस सन्दर्भमें पूर्वपक्ष द्वारा उत्थापित युक्तियोंका खण्डन करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि उक्त नाम और रूपकी सृष्टि त्रिवृत्कारी परमेश्वरसे ही निष्पन्न है—श्रुतिमें यही उपदेश है।

जो परमात्मा 'त्रिवृत्करण' क्रियासम्पन्न करते हैं, वे ही नाम और रूपकी सृष्टि करते हैं—यह कार्य जीव द्वारा सम्भव नहीं हो सकता।

तैत्तिरीयश्रुतिके प्रमाणके आधारपर देखा जाता है कि सर्वज्ञ श्रीहरि ही देव-मनुष्यादि समस्त शरीरोंकी सृष्टि करते हैं, उनके नामोंकी

सृष्टि करते हुए अपने विभिन्नांश जीवोंके द्वारा वाक्य प्रकाशित करते हुए अवस्थान करते हैं।

यदि नामरूपात्मक जगत्के व्याकरणकी सामर्थ्य जीवमें होती, तो प्रलयमें भी उसमें कर्त्तृत्वकी सामर्थ्य होती और ऐसा होता तो प्रलयका अभाव ही होता। ब्रह्माजीकी उत्पत्ति त्रिवृत्कृतभूत निर्मित ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके बाद है! त्रिवृत्करणपूर्वक ही नामरूप व्याकरण है। नामरूप व्याकरणके बिना तेज, जल, अन्न इत्यादि नामोंका निर्देश हो नहीं सकता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः।
यदायतननिर्माणे न शेकु
तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः।
सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः॥

(श्रीमद्भा॰ २/५/३२-३३)

कारणकी सृष्टि बतलाकर अब कार्यकी सृष्टि बतला रहे हैं। हे ब्रह्मविदोंमें श्रेष्ठ नारदजी! ये समस्त पञ्चभूतेन्द्रिय, मन एवं सत्वादि गुण इत्यादि तत्त्व पहले अमिलित अर्थात् पृथक्-पृथक् थे, इसलिए शरीर निर्माणमें असमर्थ थे। तदनन्तर भगवान्की प्रेरणासे उनकी संयोगकारिणी शक्तिने इन सबमें प्रविष्ट होकर इनका अङ्गाङ्गिभावसे योग करा दिया। इन्होंने परस्पर संयुक्त होकर मुख्य एवं गौण (कार्य एवं कारण) रूपको स्वीकार करते हुए व्यष्टि-समष्टिरूप पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड दोनोंकी सृष्टि की।

इस प्रकार त्रिवृत्करणका जो उपदेश है, उसका कारण है कि शुश्रूषु श्वेतकेतुके लिए पूर्ववर्त्ती त्रिवृत्करणका उपदेश सुबोध्य न था, इसलिए उसे त्रिवृत् कृतभूत कार्य आदिका त्रिवृत्करण बतलाया गया था॥ २०॥

अवतरणिका भाष्य—अथ मूर्त्तिशब्दितो देहः परीक्ष्यते। शरीरं पृथिवीमप्यतीतिश्रुतेः पार्थिवो देहः अद्भ्यो हीदमुत्पद्यते आपो वाव मांसमस्थि च भवत्यापः शरीरमाप एवेदं सर्वमिति श्रुतेराप्यः सः अग्नेर्देवयोन्या इत्यादि

श्रुतेस्तैजसश्च। इह भवति संशयः। देहः पार्थिव आप्यस्तैजसश्च स्यादुत सर्वोऽपि त्र्यात्मक इति त्रैविध्यश्रवणादनिर्णयेन भाव्यमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद मूर्त्ति संज्ञासे संज्ञित देह-विषयक विवेचना करते हैं। श्रुति है—*'शरीर पृथिवीमप्येति'*—शरीर पृथ्वीको ही प्राप्त होता है अतएव देह पार्थिव है और एक श्रुति है *'अदभ्यो हीदमित्यादि'*—जलसे यह शरीर उत्पन्न होता है, जल ही मांस और अग्नि रूपमें परिणत होता है। जल ही शरीर है और जल ही यह समस्त स्वरूप है। इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि शरीर 'आप्य' है अर्थात् जलका विकाररूप है। 'अग्नेर्देवयोन्याः' इत्यादि श्रुतिसे देहका तैजसरूप अवगत होता है। अतएव यहाँ संशय यह है कि देह पार्थिव है? अथवा जलीय है? अथवा तैजस है? अथवा त्रिरूपात्मक है? तीन प्रकारकी श्रुति होनेके कारण अनिर्णय हो सकता है। इस पूर्वपक्षके मतके ऊपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—प्रसङ्गसङ्गत्या मूर्त्तिशब्दितस्य देहस्य विशेषोदर्श्यते। देहस्य क्वचित् पार्थिवत्वं क्वचिदाप्यत्वं क्वचित् तैजसत्त्वञ्च श्रुतम्। तासां श्रुतीनां विरोधोऽस्ति न वेति सन्देहे भिन्नार्थत्वादस्तीति प्राप्ते तत्र तत्रापि तदन्यांशयोर्न्यग्भावेनावस्थितेः प्रतिपादनादविरोध इत्याशयेनाधिकरणस्य प्रवृत्तिरथेत्यादिना। शरीरं कर्त्तृ। अद्भ्य इति कौण्डिन्यश्रुतिः। इदं शरीरम्। इह वीक्षा। कस्यचिद्देहः पार्थिवः कस्यचिदाप्यः कस्यचित् तैजसो भवतीत्येवं सिद्धान्तः किंवा सर्वेषां देहास्त्रिरूपा इति भावः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्रसङ्ग-सङ्गतिके अनुसार मूर्त्ति शब्दसे शब्दित देहका विशेषत्व प्रदर्शित हो रहा है। किसी श्रुतिमें देहका पार्थिवत्व प्रतिपादित है, किसी श्रुतिमें जलीयत्व है और किसी श्रुतिमें तैजसत्व श्रुत हुआ है। इन सब श्रुतियोंका विरोध है कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—भिन्न अर्थोंको प्रतिपादन करनेमें विरोध होगा ही, सिद्धान्ती कहते हैं—उन-उन स्थलोंपर अन्य दो अंशोंकी अप्रधान रूपसे स्थिति प्रतिपादित होनेके कारण विरोध नहीं है। इसी अभिप्रायसे इस अधिकरणका *'अथ इत्यादि'* वाक्य द्वारा आरम्भ हो रहा है। *'शरीरं पृथिवीमप्येति'* इस श्रुतिमें स्थित 'शरीरम्' पद कर्त्तृपद और *'अद्भ्योहीदं उत्पद्यते'* इत्यादि वाक्य कौण्डिन्यश्रुतिसे उद्धृत है। *'आप एवेदं सर्वम्'* इति में इदम् का अर्थ है शरीर, 'इह'

का अर्थ है—इस विषयमें, संशय हो रहा है। सिद्धान्ती कहते हैं कि किसीका शरीर पार्थिव है, और किसीका जलीय है और किसीका तैजस है अथवा सभीका देह त्रिरूप है—यही भावार्थ है।

मूर्त्ति शब्दित देहका विचार

सूत्र—मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—'मांसादि' देहके मांसादि 'भौमम्' भूमिके कार्य हैं, 'इतरयोः' इसी प्रकार जलका कार्य रक्त और अग्निका कार्य अस्थि 'च' भी जान लेना चाहिये, 'यथा शब्दम्' गर्भोपनिषदीय श्रुतिके आधारपर ये सब स्वीकरणीय हैं॥ २१ ॥

सूत्रानुवाद—मांसादि (विष्ठा, मन इत्यादि) भौम ही कहलायेंगे, उसी प्रकार रक्त और अस्थिको जलीय एवं आग्नेय (तैजस) समझ लेना चाहिये—यही वेदान्त रीति है॥ २१ ॥

गोविन्दभाष्य—मांसाद्येव देहस्य भौमं भूमेः कार्यं भवति। तथेतरयोर्जलतेजसोश्च कार्यमसृगस्थ्यादिकं तत्रास्ति। तदेतत् यथाशब्दमभ्युपेयम्। शब्दश्च *'यत् कठिनं सा पृथिवी यद्द्रवं तदापो यदुष्णं तत्तेज'* इति गर्भोपनिषत्। तथा च सर्वो देहस्त्रिरूपः सिद्धः॥ २१ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पार्थिव देहके मांस इत्यादि भौम अर्थात् पृथ्वीके कार्य हैं तथा जल एवं अग्नि—इन दोनों भूतोंका कार्य यथा क्रमसे रक्त और अस्थि इत्यादि हैं, वे भी इसी देहमें हैं। अतएव शब्दानुसार अर्थात् श्रुतिके अनुसार ये स्वीकार करना होगा। शब्द यह है यथा—*'यत् कठिनं सा पृथिवी'*—जो कठिन है, वही पृथ्वी है, जो द्रव्यात्मक है, वह जल है, जो उष्णस्पर्शयुक्त है, वह तेज अथवा अग्नि है, इत्यादि गर्भोपनिषदमें कहा गया है। अतएव सिद्धान्त यह है कि पार्थिव देहमात्र ही त्रिरूप है अर्थात् पृथ्वी, जल और अग्नि रूपी है॥ २१ ॥

सूक्ष्मा-टीका—मांसादीति। यथाशब्दमिति श्रुत्यनुसारेणेत्यर्थः॥ २१ ॥

सूक्ष्मा-सार—'मांसादि' इस सूत्रमें उक्त 'यथाशब्दम्' का अर्थ श्रुतिके अनुसार है॥ २१ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब मूर्त्ति शब्दित देहकी परीक्षा (विवेचना) की जा रही है। किसी श्रुतिमें शरीरको पार्थिव, किसी श्रुतिमें जलीय और किसी श्रुतिमें इसका तैजसत्व कहा गया है। इस विषयमें सन्देह हो सकता है कि क्या यह देह पार्थिव है? अथवा जलीय है? अथवा तैजस है? या त्रिरूपात्मक है? इस सन्देहका निराकरण करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि इस शरीरके मांसादि पार्थिव हैं (मांसादि अर्थात् पुरीष-मांस-मन पार्थिव विकार हैं), रक्त जलका कार्य है (अर्थात् मूत्र-रक्त-प्राण जलीय विकार हैं) और अस्थि तैजस (अग्निका कार्य) है (अर्थात् अस्थि (हड्डी), मज्जा और वाणी तैजस विकार हैं)।

छान्दोग्यश्रुति है—

अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति।
(छा॰ ६/५/४)

अर्थात् हे सौम्य! यह मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है।

और भी स्पष्ट किया गया है—

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठ स्तन्मनः॥' (छा॰ ६/५/१)

अर्थात् भुक्त अन्न तीन प्रकारका हो जाता है। उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग होता है, वह मल हो जाता है, जो मध्यम भाग है, वह मांस हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वह मन हो जाता है।

इसी प्रकार,

'आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः॥' (छा॰ ६/५/२)

अर्थात् पिया हुआ जल तीन प्रकारका हो जाता है। उसका स्थूलतम भाग मूत्र, मध्यभाग रक्त और सूक्ष्मतम भाग प्राण हो जाता है।

तथा,

'तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्॥' (छा॰ ६/५/३)

अर्थात् भुक्त (घृतादि) तेज तीन प्रकारका हो जाता है। उसका स्थूलतम भाग हड्डी, मध्यम भाग मज्जा और सूक्ष्मतम भाग वाक् हो जाता है।

इस प्रकार श्रुतिके आधारपर सूत्रकी व्याख्या की गयी, जिससे यह स्थिर होता है कि समस्त देह ही त्रिरूपात्मक है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

त्वक्चर्ममांसरुधिर-मेदोमज्जास्थिधातवः ।
भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः॥
(श्रीमद्भा॰ २/१०/३१)

अर्थात् वैराज पुरुषके शरीरमें भूमि, जल एवं तेजसे त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, एवं अस्थि—ये सात धातुएँ उत्पन्न हुईं। उनमें आकाश, जल एवं वायुसे प्राण वायु आविर्भूत हुई॥ २१॥

अवतरणिका भाष्य—ननु सर्वं चेद्भूतभौतिकं त्रिरूपं तर्हि किं निमित्तोऽयं व्यपदेश इदं तेज इमा आप इयं पृथिवीति तैजसमाप्यं पार्थिवञ्च शरीरमिति। तत्राह—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादे
श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न उठता है कि यदि समस्त भूत और भौतिक पदार्थ त्रिरूपात्मक हैं तो ऐसा होनेपर यह अग्नि है, यह जल है, यह पृथ्वी है और भौतिक सम्बन्धसे यह शरीर तैजस है, यह जलीय है, यह पार्थिव है—ये संज्ञाएँ किसलिए हैं? संज्ञा क्या है? इस प्रकारके भेदका व्यपदेश किस कारणसे है? इस प्रकारके भेदका व्यपदेश किस कारणसे है? इस विषयपर श्रीमन्व्यासदेव समाधान करते हैं—

सूत्र—वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः॥ २२॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादे
सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—'तु'—यह शङ्का करना मत, सर्वत्र भूत-भौतिक त्रिरूपता रहनेपर भी किसी स्थलपर किसी भूतके 'वैशेष्यात्' वैशिष्ट्य अर्थात् आधिक्यके कारण 'तद्वादः' ये पार्थिवादि कथन होते हैं॥ २२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके चतुर्थ पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—विशेषका भाव वैशेष्य कहा जाता है। वैशेष्यका अर्थ है भावका आधिक्य—पृथ्वी आदिमें इसका दर्शन होनेसे पार्थिवादि उक्त कथन कहे गये हैं॥ २२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीय अध्यायके चतुर्थ पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—शङ्काच्छेदाय तु-शब्दः। सत्यपि सर्वत्र त्रैरूप्ये क्वचित् कस्यचिद्भूतस्य वैशेष्यादाधिक्यात् तद्वाद इत्यर्थः। पदाभ्यासोऽध्यायपूर्त्तये॥ २२॥

वर्द्धस्व कल्पाग समं समन्तात्
कु
त्वदङ्गसङ्कीर्णिकराः परास्ता
हिंस्रा लसद्युक्तिकु

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादे श्रीबलदेवकृतं मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द शङ्काके निराकरणके लिए है अर्थात् इस तरहकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये यद्यपि पृथ्वी आदि भूतोंकी और पार्थिव देहादिकी सर्वत्र त्रिरूपता है तो भी कहीं-न-कहीं, कभी-न-कभी, किसी-न-किसी भूतका वैशेष्य अर्थात् विशेषत्व अथवा आधिक्य है—इसी कारण पार्थिवादि कथन है। सूत्रमें 'तद्वादः' 'तद्वादः' शब्दका दो बार प्रयोग अध्यायकी समाप्तिकी सूचनाके लिए है। इस प्रकारसे अविरुद्ध श्रुतियोंका ब्रह्ममें अर्थात् सर्वेश्वरमें समन्वय सिद्ध हुआ।

द्वितीय अध्यायकी समाप्तिपर भाष्यकार एक श्लोकमें श्रीभगवान्के निकट प्रार्थना करते हैं कि बहिर्मुख सांख्यादि शास्त्ररूप हिंस्र कण्टक-लताएँ भगवत्-विषयक तत्त्व-बोधमें जो प्रतिबन्धकता कर

रही थीं, उनका युक्तियों रूप कु
अतएव हे कल्पतरो! भगवन्! आप सर्वतोभावसे प्रसारित होकर शरणागतोंके तापोंका हरण कीजिये॥ २२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके चतुर्थ पादके
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—वैशेष्यादिति। सर्वत्रेति। त्रिश्वपि भूतेषु त्रिविधेषु देहेषु चेत्यर्थः। तथा वादस्तादृशो व्यवहारः सङ्गच्छते इत्यर्थः। तदेवमविरुद्धानां श्रुतीनां समन्वयः सर्वेश्वरे सिद्धः॥ २२॥

इत्थं षट्पञ्चाशदधिकैकशतसूत्रकेण चतुःपञ्चाशदधिकरणकेन द्वितीयाध्यायेन भगवत्समन्वयप्रतिकूलान् परपक्षान् निरस्य सहर्षो भाष्यकृत् उपकारीव भगवन्तं प्रत्युपकारं याचते वर्द्धस्वेति। हे कल्पाग! कल्पतरो! समं यथा स्यात् तथा समन्तात् सर्वतस्त्वं वर्द्धस्व। ततः किं तत्राह। आश्रितानां तापक्षतिं कु
मे वृद्धिः पूर्वं किं नासीत् तत्राह त्वदङ्गेति। हिंस्रावृतस्य ते कु
इदानीं तच्छेदात् ते घनपलाशिता सर्वतः प्रसारश्च स्यादेवेति भावः। हिंस्राः कण्टकजडिताः लताविशेषाः भगवद्विमुखाः सांख्यादयश्च। तापः सूर्यकृतः आध्यात्मिकादिदुःखञ्चेति।

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—वैशेष्यादित्यादि सूत्रमें *'सत्यपि सर्वत्रेति'*—तीन भूतमें और त्रिविध देहमें। तद्वाद इत्यर्थ इति—वह वाद अर्थात् उस प्रकारका व्यवहार सङ्गत हुआ है। अतएव इस प्रकारसे अविरुद्ध श्रुतियोंका ब्रह्ममें अर्थात् सर्वेश्वरमें समन्वय सिद्ध हुआ॥ २२॥

इस प्रकार एक सौ छप्पन (१५६) सूत्रात्मक और चौवन (५४) अधिकरणसे समन्वित द्वितीय अध्यायके द्वारा वेदान्त-वाक्योंके ब्रह्ममें समन्वयके प्रतिकूल प्रतिवादियोंको निरस्त करके परम हर्षसे युक्त भाष्यकार उपकारी व्यक्ति जिस प्रकार प्रत्युपकारकी आशा करता हो, उसी प्रकार भगवान् श्रीहरिके निकट प्रार्थना करते हैं कि—हे कल्पाग! हे कल्पतरो! आप समस्त विषयोंमें समान भावसे वृद्धि प्राप्त करें अर्थात् विजयी होवें। वृद्धि-प्राप्तिका फल क्या है? वही कहते

हैं—इससे आश्रितजनोंके तापका निवारण हो। यदि कहो, पहले क्या हमारी वृद्धि नहीं थी। इस पर कहते हैं हिंस्रगणों (प्रतिवादीगणों) से आवृत्त रहनेके कारण आपकी वृद्धि किस प्रकारसे सम्भव है? अब इन हिंस्रोके छिन्न-भिन्न हो जानेसे आपके निविड़ (घने) पत्तोंमें पूर्णताका ही सर्वतोभावसे प्रसारण होगा। हिंस्र शब्दका अर्थ है—कण्टकाङ्कीर्ण लता विशेष अर्थात् भगवत्-विमुख सांख्यवादीगण। ताप शब्दका अर्थ—सूर्यकृत सन्ताप और आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—ये तीन प्रकारके ताप।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके चतुर्थ पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब और एक पूर्वपक्ष उठा रहे हैं कि यदि समस्त भूत-भौतिक पदार्थ ही त्रिरूप हैं तो यह पार्थिव है, यह जलीय है, यह तैजस है—इस प्रकारके संज्ञाभेदका कारण क्या है? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि समस्त पदार्थ त्रिरूपात्मक होनेपर भी किसी-किसीका आधिक्य होनेके कारण इस प्रकारका व्यपदेश है। तात्पर्य यह है कि त्रिवृत्करण द्वारा प्रत्येक तीन रूप होते हुए भी एक-एकमें अन्न, जल और तेज आदि भावोंका आधिक्य है अर्थात् हरेक भूतमें ही आधा भाग अपना और आधेमें अन्य दो भूत हैं। अपने अधिक भागकी विशेषताको लेकर ही प्रत्येक भूत व्यवहृत होता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

विशेषस्तु विकु
परान्वयाद्रसस्पर्श-शब्दरूपगुणान्वितः ॥
(श्रीमद्भा॰ २/५/२९)

अर्थात् जलके विकारसे पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वीका स्वाभाविक गुण है गन्ध। पृथ्वीका आकाश, वायु, तेज एवं रूप और रस—ये चारों गुण भी विद्यमान रहते हैं।

समाप्तिपर भाष्यकार एक श्लोक श्रीभगवान्‌के निकट प्रार्थना करते हैं कि बहिर्मुख सांख्यादि शास्त्ररूप हिंस्र कण्टक लता भगवत्-विषयक, तत्त्वबोध जो प्रतिबन्धकता कर रही थी, उनका ही युक्तिरूप कु द्वारा छेदन किया गया है। अतएव हे कल्पतरो! भगवन्! आप सर्वतोभावसे प्रसन्न होकर शरणागतोंका ताप हरण कीजिये॥ २२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्‌ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके चतुर्थ पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥

द्वितीय अध्याय समाप्त॥



ज्ञातं काणभुजं मतं परिचितैवान्वीक्षिकी शिक्षिता
मीमांसा विदितैव सांख्यसरणिर्योगे वितीर्णा मतिः।
वेदान्ताः परिशीलिताः सरभसं किं तु स्फु
धारा काचन नन्दसूनुमुरली मच्चित्तमाकर्षति॥

(श्रीपद्यावलीधृत श्रीसार्वभौमवाक्य)

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यजी कहते हैं कि कणाद ऋषि प्रणीत वैशेषिक शास्त्रके मतका मुझे अच्छा ज्ञान है। गौतममुनि प्रणीत न्याय शास्त्रसे भी मैं अच्छी तरहसे परिचित हूँ। जैमिनि ऋषि प्रणीत पूर्वमीमांसा शास्त्रकी शिक्षा भी मैंने भली प्रकारसे प्राप्त की है। कपिलदेव प्रणीत सांख्य-शास्त्रके मार्गको भी मैंने अच्छी तरहसे जान लिया है। पतञ्जलि महर्षि रचित योग-शास्त्रमें भी मैंने अपनी बुद्धिको खूब लगाया। भगवान् श्रीवेदव्यास प्रणीत उत्तरमीमांसात्मक वेदान्त-शास्त्रका भी मैंने विशेष रूपसे अनुशीलन किया, अर्थात् मैंने विधिपूर्वक छहों शास्त्रोंका अध्ययन किया, किन्तु मेरा मन किसी भी शास्त्रमें आकृष्ट नहीं हुआ। परन्तु क्या करूँ, अब तो माधुर्यधारामयी नन्दगोपकु
मुँह लगी मुरली नामकी कोई दूती हठात् मेरे चित्तको अपनी ओर आकर्षित कर रही है!

विषधर-कणभक्ष-शङ्करोक्ती-र्दशबल-पञ्चशिखाक्षपादवादान् ।
महदपि सुविचार्य लोकतन्त्रं भगवदुपास्तिमृते न सिद्धिरस्ति॥

(श्रीपरमात्मसन्दर्भ ७१ अनु॰ धृत श्रीनृसिंहपुराण वाक्य)

अर्थात् इसलिए श्रीनृसिंहपुराणमें श्रीयमराजने कहा है—विषधर (पतञ्जल), कणभक्ष (कणाद-भाष्य), शङ्करोक्ति (मायावाद), दशबल (बुद्ध), पञ्चशिख (सांख्य), अक्षपाद (गौतम)—इनके श्रेष्ठ ग्रन्थोंका एवं लोकतन्त्रका सम्यक् विचार करनेपर निष्कर्ष यही निकलता है कि श्रीभगवान्की उपासनाके बिना जीवको अभीप्सित वस्तु—परम श्रेयकी प्राप्ति नहीं होती।

सम्बन्धतत्त्वात्मक
द्वितीय अध्यायकी अधिकरण सूची



द्वितीय अध्यायकी सूत्र-सूची

(वर्णानुक्रमानुसार)

द्वितीय अध्यायके प्रथम पादसे चतुर्थ पाद तक

(प)

(भ)

